॥ वृत्तालये स भगवान् जयतीह साक्षात् ॥

भगवान श्रीस्वामिनारायण की परावाणी

॥ श्रीवचनामृतम् ॥

(हिन्दी अनुवाद)

:: प्रकाशक ::

श्रीस्वामिनारायण मन्दिर, संस्थान-वड़ताल

॥ वृत्तालये स भगवान् जयतीह साक्षात् ॥

भगवान श्रीस्वामिनारायण की परावाणी

॥ श्री वचनामृतम् ॥

:: अनुवाद एवं सम्पादन ::

स्वामी पूर्णवल्लभदास

शास्त्री अमृतवल्लभदास

दक्षिण विभाग वड़ताल श्रीलक्ष्मीनारायण देव
गद्दी के सनातन धर्ममार्तण्ड
प.पू.ध.धु. १००८ आचार्य श्रीराकेशप्रसादजी महाराज की
आज्ञा से

:: प्रसिद्धकर्ता ::

वड़ताल मेनेजींग ट्रस्टी बोर्ड की ओर से
मुख्य कोठारी डो. शास्त्री संतवल्लभदासजी स्वामी (Ph.D., D.Litt)
वड़ताल-संस्थान

श्रीवचनामृतम् (हिन्दी अनुवाद)

प्रकाशक तथा सर्व हक्क :

© No one can use any part of this translated book in any form without written permission.

श्री स्वामिनारायण मन्दिर, संस्थान-वड़ताल
मु.पो. वड़ताल, तहसील-नड़ीयाद, जनपद-खेड़ा
पीन : ३८७३७५ (गुजरात)

प्रकाशन तिथि : सं. २०७७, चैत्र शुक्ल नवमी (श्री हरिजयंती)

संस्करण : प्रथम

प्रत : १०००

सौजन्य की ओर से बिक्री मूल्य : ₹ १००

प्राप्तिस्थान :
श्री स्वामिनारायण मन्दिर, वड़ताल-३८७३७५.
फोन : ०२६८-२५८९७२८/७२६

मुद्रक : श्रीजी आर्ट, अहमदावाद
फोन : (०७९) २६४४१५२२, (मो.) ७६०००२६६८६, ९८७९६०६६८६
E-mail : shreejiart@gmail.com,
Web : www.shreejiarts.org

॥ वृत्तालये स भगवान् जयतीह साक्षात् ॥

सादर समर्पणम्

परात्परं परब्रह्म पूर्णब्रह्म सनातनम् ।
सर्वावतारिणं स्वेष्टं स्वाश्रितजनतारकम् ।
भक्तिधर्मात्मजं नित्यं स्वामिनारायणं प्रभुम् ।
वन्दे श्रीसहजानन्दं वेदवेदाङ्गवन्दितम् ॥

जो असीम करुणा के सागर हैं,
सदैव कल्याणैकतान हैं,
अशरण शरण हैं,
अपने आश्रितजनों के दुःख को तनिक भी नहीं सह पाते हैं,
जिनके अंग-अंग में करुणा रस भरा है
ऐसे करुणामूर्ति हैं, केवल जीवों के कल्याण के लिए ही
इस धरा पर अवतरित हुए और अनन्त अवतारों के धर्ता हैं,
सदा-सर्वदा-सर्वतः अतिशय समर्थ हैं,
अनन्त मुक्तों एवं अक्षरधाम के स्वामी हैं,
निरतिशय स्वतन्त्र हैं फिर भी भक्तवत्सल हैं
एसे 'वचनामृत' ग्रन्थ के प्रबोधक पूर्ण पुरुषोत्तम
भगवान श्री स्वामिनारायण महाप्रभु के
पावन चरणों में यह **'हिन्दी अनुवाद'**
सेवापुष्प को सादर समर्पण करता हूँ।

– सत्संग कृपाभिलाषी
सा. पूर्णवल्लभदास

॥ श्री स्वामिनारायणो विजयतेतराम् ॥

सनातन धर्मधुरंधर आचार्य श्री १००८ श्री राकेशप्रसादजी महाराजश्री

श्री लक्ष्मीनारायण देव दक्षिण देश गादी

संस्थान : वडताल - पीन : ३८७ ३७५

आचार्य जा.र.नं.

आशीर्वाद पत्र

दिनांक : २१ अप्रैल २०२१

चैत्र शुक्ल नवमी (रामनवमी - हरिजयंती)

वि.सं. २०७७

वड़तालवासी श्रीलक्ष्मीनारायण देव एवं आराध्य इष्टदेव श्रीहरिकृष्ण महाराज के चरण कमल से श्रीलक्ष्मीनारायण देव गद्दी के पीठाधिपति प.पू.ध.धु. १००८ आचार्य महाराज श्रीराकेशप्रसादजी का भाव से जय श्री स्वामिनारायण।

धर्मदेवात्तदा भक्तादहं नारायणो मुनिः ।
जनिष्ये कौशले देशे भूमौ हि सामगो द्विजः ॥
(वासुदेव माहात्म्य :- १८-४३)

'**वचनामृत**' भगवान श्रीस्वामिनारायण की परावाणी है । जिसे स.गु. श्रीमुक्तानन्द स्वामी, स.गु. श्रीगोपालानन्द स्वामी, प्रकाण्ड पण्डित स.गु. श्रीनित्यानन्द स्वामी, और जिन्होंने केवल श्रीहरि की प्रसन्नता के लिए आजीवन पूर्णपुरुषोत्तम भगवान के दिव्य चरित्र सदैव लिखने का कार्य किया, ऐसे स.गु. श्रीशुकानन्द स्वामी ने भगवान श्रीस्वामिनारायण के मुखकमल से निकले हुये वचनरूपी अमृत का दैवी जीवों को कृपावशात् पान कराने हेतु भिन्न - भिन्न स्थान, समय, वातावरण तथा श्रीहरि के भाव और उनके वस्त्र परिधान, पुष्प, अलंकार से सुशोभित उनकी दिव्य मूर्ति का विस्तृत वर्णन तथा श्रीहरि के कृपा, आदेश, उपदेशात्मक ऐवं करुणावचन इत्यादिक को संगृहीत कर के सम्पादित किया गया है, जो मूल श्रीस्वामिनारायण संप्रदाय की बहुत बड़ी सेवा है ।

भगवान श्रीसहजानन्द स्वामी द्वारा स्थापित श्रीमद् उद्धव संप्रदाय (श्रीस्वामिनारायण संप्रदाय) में मूलरूप से **श्रीमद् सत्संगिजीवन** (यह ग्रंथ श्रीहरि के जन्म से अन्तर्धान होने तक की सभी लीलाओं से भरपूर है, जो उनकी उपस्थिति में त्रिकालज्ञ महामुनि स.गु श्रीशतानन्द स्वामी द्वारा रचा गया है। जो संप्रदाय का मुख्य मान्य ग्रंथ है) **श्रीशिक्षापत्री** (सर्वजीवहितावह यह पत्री संप्रदाय की आचार संहिता है। जिसका आलेखन स्वयं पूर्णपुरुषोत्तम भगवान श्रीस्वामिनारायण ने वड़ताल में किया है।) **श्रीवचनामृत्** (श्रीस्वामिनारायण संप्रदाय का अद्भूत अद्वितीय दार्शनिक एवं आध्यात्मिक ग्रंथ) **श्रीभक्तचिंतामणि** (श्रीहरि के दिव्य लीला-चरित्रों का पद्यात्मक काव्य संग्रह, जिसके रचयिता वैराग्यमूर्ति स.गु.श्रीनिष्कुलानन्द स्वामी हैं।) और **देश विभाग का लेख** (जिसे भगवान श्रीस्वामिनारायण ने वरताल एवं अहमदाबाद देश 'गद्दी' की और 'आचार्य पद' की स्थापना के अवसर पर सभा में बैठे सभी नन्द संतों, ब्रह्मचारी, पार्षदों, गृहस्थ भक्तों की उपस्थिति में श्रीहरि ने निर्देश किया कि, दोनों देशों की व्यवस्था के आधीन रहकर आचार्य प्रवर, सन्तों एवं भक्तों नियमों का अनुशीलन करें। जिस से श्रीहरि द्वारा स्थापित उद्धव संप्रदाय की व्यवस्था सुचारुरूप से अनंत पीढ़ीयों तक चलती रहे) इन शास्त्रों, ग्रंथो की रचनायें एवं 'लेख' का आलेखन श्रीहरि के समकालीन समय में हुआ अतः इनका महत्व तत्पश्चात जिन शास्त्रों की रचनायें हुई उनकी बनिस्बत (तुलना में) मूल संप्रदाय में अत्याधिक है।

वचनामृत वेदों के गहन से गहन तत्त्वबोध का सरलीकरण है। मोक्षभागी जीवात्मा के अल्पायु एवं अल्प बुद्धि होने के बावजूद उपासना के जटिल से जटिल मार्ग में सरल मार्गदर्शन यह ग्रन्थ प्रदान करता है। यह सद्ग्रन्थ धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष की सिद्धि प्रदान करता है। जो प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक (भगवान श्रीहरि सभा में विराजमान हैं और संतों-मुक्तों की सभा में मैं भी उपस्थित हूँ और उनके वचनरूपी अमृत का पान कर रहा हूँ) इस ग्रंथ का अध्ययन करता है, वह मुमुक्षु पूर्णकाम हो जाता है।

वचनामृत गढ़डा मध्य ४५ में श्रीहरि मुमुक्षुजनों को वचनामृत कहने का दिव्य हेतु समझाते हैं "**आप सभी मेरे कहलाते है। तो यदि मैं तत्परता रखकर आप सब को नियम में न रखूं और आप सब कुछ गफ़लतता**

से रहते हों, तो हमसे नहीं देखा जाता । इसलिए जो-जो मेरे कहलाते हैं, उनमें मुझे एक तिलमात्र कसर नहीं रहने देनी है । मुझे तो आप सभी एकदम सावधान रहिए; यदि जरा भी गफ़लतता रखोगे तो आपका पैर नहीं टिकेगा । मुझे तो आप सभी भगवान के जो भक्त हैं, उनके हृदय में किसी प्रकार की वासना तथा किसी प्रकार का अयोग्य स्वभाव, उसे नहीं रहने देना है । और माया के तीन गुण, दश इन्द्रियाँ, दश प्राण, चार अन्तःकरण, पञ्चभूत, पञ्चविषय तथा चौदह इन्द्रियों के देवता; उनमें से किसी का संग नहीं रहने देना है । इन सभी मायिक उपाधियों से रहित सत्तामात्र ऐसी जो आत्मा है, तद्रूप होकर भगवान की भक्ति करें ऐसे सभी को करने हैं । परन्तु किसी भी प्रकार का माया का गुण नहीं रहने देना है ।''

जिस तरह देवाधिदेव भगवान श्रीहरि ने असुरों का उच्छेद (नाश) करके अमर होने हेतु पात्रभूत अमरों को अमृतपान कराया था, उसी तरह परमकृपालु श्रीहरिने आसुरी सम्पत्ति का नाश कर संसाररूप महासर्प के तीव्र विष का निवारण कर अमर करने के लिए पात्रभूत दैवी सम्पत्तिवाले श्री मुक्तानन्द स्वामी आदि आश्रित जनों को इस अमृत का पान कराया है । जिसका आस्वादन कर अनेक दैवी जीव अमर होकर आनन्दमय परमात्मा के परमानन्द का अनुभव प्राप्त कर चुके हैं, कर रहे हैं और करेंगे । इस प्रकार प्रत्येक वचन रूप अलौकिक अमृत का पान कर कौन रसिकजन तृप्त (पूरी तरह से संतुष्ट) हो पायेगा ? '**भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्**' इस प्रकार कोई भी तृप्त नहीं ही हो पायेगा । अतः इस प्रबन्ध (ग्रन्थ) का नामाभिधान '**वचनामृत**' हुआ है वह यथार्थ है । (वचनामृत भूमिका-लि.शा.स्वा.श्री हरिजीवनदासजी - वड़ताल संस्थान ।)

वचनामृत संपादन कार्यकाल नवेम्बर १८१९ से जुलाई १८२९ तकरीबन १० वर्ष का रहा । वचनामृतों की पुनरुक्ति न हो इसका भी प्रयास किया गया । संस्कृत और गुजराती भाषा में हस्त लिखित प्रतियों की प्रतों को तैयार किया गया, बाद में छपाई के द्वारा बीते वर्षो में अनेक आवृत्तियाँ हुई । सने २०१९ में वड़ताल में हुआ वचनामृत द्विशताब्दि महोत्सव पर अंग्रेजी, मराठी, कन्नड़

एवम् पुनः हिन्दी में प्रकाशित करने का विचार संस्था में प्रस्तुत हुआ । कुछ वर्ष पूर्व हिन्दी में वचनामृत का प्रकाशन हुआ था परन्तु भाषाकीय न्यूनता के चलते वड़ताल के विद्वान् नव युवान, साधुगुण सें सम्पन्न शा.स्वा.श्री पूर्णवल्लभदासजी ने पुनः अनुवाद करने का प्रस्ताव स्वीकारा और गुजराती प्रकाशित प्रतियों–संदर्भो को ध्यान में रखकर मूलरूप से भगवान श्रीसहजानन्द स्वामी के मत, विचार, सैधान्तिक रूप से ज्यों का त्यों के न्याय से, बड़ी इमानदारी और कार्य कुशलता से एवं काशी के विद्वान् पण्डितों से भी विचार–विमर्श कर २०० वर्ष पूर्व गुजरात के सौराष्ट्र–काठीयावाड़ प्रान्त में दूर–सुदूर गाँव में भोले भक्तों को उस समय गुजराती भाषा में प्रचलित शब्द (लोकोक्ति) वाक्य रचनायें, उदाहरण, बोली, पहनावा, खान–पान, आतिथ्य–सत्कार आदि प्रचलित बोली का वर्तमान समय में हिन्दी में अनुवाद करना और उसे यथायोग्य न्याय करना मुश्किल कार्य था, मगर पूर्णवल्लभ स्वामीजी ने जहाँ तक हो सके श्रीजीमहाराज के मुखकमल से निकले प्रासादिक वचनों–शब्दों को हिन्दी भाषा के अनुरूप समांतर (जस का तस) रखने के साथ उनके अर्थो को न्याय देने का विनम्र प्रयास किया है। प्रस्तुत प्रथम आवृत्ति में पाद टिप्पणी, दिनांक, वर्ष, वार एवम् चित्रों के माध्यम से वचनामृत में निर्दिष्ट वस्त्र, पुष्प, अलंकार, वाद्य, सभा, बैठक, स्थान इत्यादि को दर्शाने का प्रयास किया गया है । साथ में अनुक्रमणिका, विषयानुसार अनुक्रमणिका एवं विस्तृत परिशिष्ट का समावेश किया गया है । अतः हिन्दी भाषी पाठक वर्ग से निवेदन है की इन परिशिष्ट और पाद टिप्पणी के संदर्भों को अवश्य ही देख लें ।

हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है, हमारा गौरव है, भगवान श्रीस्वामिनारायण का जन्म उत्तर भारत के गोण्डा जनपद के छपिया नामक गाँव में दिनांक २ अप्रैल सन १७८१ सरयूपारीण ब्राह्मण कुल में हूआ था। ११ वर्ष की आयु में अयोध्या से निकल कर खुले पाँव पूरे भारत वर्ष की यात्रा करते हुए उन्हों ने उत्तर से पूर्व की ओर बढ़ते हुए बाद में दक्षिण और अंत में पश्चिमी छोर पर स्थित गुजरात के एक छोटे से गाँव लोअेज में यात्रा पूर्ण की । पीपलाणा गाँव में गुरुदेव श्रीरामानन्द स्वामीजी का मिलन हुआ और जेतपुर में श्रीहरि का गद्दी पट्टाभिषेक हुआ और उनका 'श्रीसहजानन्द स्वामी' नामाभिधान धारण हुआ । पूरे गुजरात में सोरठ, कच्छ, काठियावाड़, हालार, झालावाड़, चरोतर, कानम, (मध्य

गुजरात), वाकळ, दक्षिण गुजरात आदिक स्थानों में निरन्तर विचरण कर के भक्तों के आत्यंतिक कल्याण का मार्ग सुगम हो' इसलिए अपने दिव्य वचनामृतों द्वारा कल्याण का मार्ग सरल किया । यह तो दिशामात्र है, सद्. गोपालानन्द स्वामी आदि नन्द संतो ने विस्तृत वर्णन वचनामृत के उपोद्‌धात प्रकरण में दर्शाया है। हिन्दी भाषी प्रदेशों में निरंतर मांग के चलते वचनामृत का **हिन्दी भाषा में अनुवाद** करने का विनम्र प्रयास किया गया है। श्रीजीमहाराज के मत, सिद्धान्त, उपदेशों एवं करुणा वचनों से भरपूर इस ग्रंथ का लाभ अधिक से अधिक भक्तजन उठायें ऐसी शुभभावना प्रगट करते हैं ।

प्रस्तुत कार्य में पूर्णरूप से स्वामी श्री पूर्णवल्लभदासजी को धन्यवाद देते हैं। उनके साथ सहयोग देने वाले सभी भक्तों को हमारी ढेर सारी शुभकामनायें। इस प्रकाशन कार्य में मूर्धन्य विद्वान् स्वामी श्रीज्ञानप्रकाशदासजी ने अन्तिम भाग में आद्योपान्त अवलोकन करके इस अनुवाद को विशुद्ध किया है, जो गौरव की बात है। 'वड़ताल विहारी श्रीहरिकृष्ण महाराज, श्रीलक्ष्मीनारायण देव, जुनागढ़ निवासी श्रीराधारमण देव, धोलेरा निवासी श्रीमदनमोहनजी महाराज, गढपुरपति श्रीगोपीनाथजी महाराज, अहमदाबाद एवं भुजनगर निवासी श्रीनरनारायण देव और भगवान श्रीस्वामिनारायण के कुलदेव साळंगपुर निवासी श्रीकष्टभंजनदेव हनुमानजी महाराज सभी प्रभुप्रेमी भक्तजनो का मंगल करते रहे' ऐसी उनके चरणों में प्रार्थना है । 'पूर्णपुरुषोत्तम भगवान श्रीस्वामिनारायण सभी का आत्यंतिक कल्याण करते रहें, ऐसी शुभ प्रार्थना के साथ हमारा भाव से जय श्रीस्वामिनारायण ।

सनातन धर्म धुरंधर १००८ आचार्य महाराज
श्रीराकेशप्रसादजी महाराज
श्रीस्वामिनारायण मन्दिर
वड़ताल संस्थान, गुजरात

श्री निलकण्ठ ! हरिकृष्ण ! हरे ! दयालो, स्वामिन् ! परात्परवराक्षर धामवासिन् ॥
हरिप्रसाद ! पुरुषोत्तम ! धर्मपुत्र ! नारायण सुखनिधिं प्रणमाम्यह त्वाम् ॥

श्रीहरिकृष्ण महाराज - वरतालधाम

वरताल में नीमवृक्ष के नीचे विराजमान एवं 'वचनामृत' का पान कराते श्रीजीमहाराज

श्रीलक्ष्मीनारायण देव - वडतालधाम

आदि आचार्य श्रीरघुवीरजी महाराज

विद्यमान आचार्य श्रीराकेशप्रसादजी महाराज

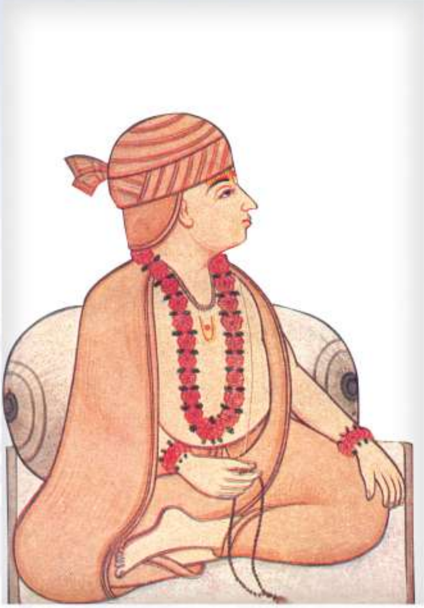

सद्गुरु श्रीमुक्तानन्द स्वामी

व्याचख्यौ व्याससूत्रं व्यतनुत
भगवत्स्वामिनारायणस्य
स्तोत्रं छन्दोमयं यो ह्यकुरुत
भगवद्वाक्सुधासङ्ग्रहं च ।
आत्मज्ञानादिपूर्णं गुरुरिति
भगवान् मन्यते यं मुनीन्द्रं
तं मुक्तानन्दमीडे शमदम-
निलयं साधुगोष्ठीगरिष्ठम् ।।

सद्गुरु श्रीनित्यानन्द स्वामी

चक्रे नित्यं कथां यः प्रकट-
भगवतः सन्निधाने मनोज्ञां
यस्मै प्रादात्प्रसन्नो निजधृत-
वसनादीन्यसौ पूर्णकामः ।
जेता यः पण्डितानां जगति
विवदतां देवताचार्यवक्ता
नित्यानन्दं मुनीन्द्रं तमनुदिन-
महं नौमि भक्तिप्रधानम् ।।

सद्‌गुरुश्रीगोपालानन्द स्वामी

योऽसावष्टाङ्गयोगे जनिसम-
समयं पूर्वसंस्कारभूम्ना
सिद्धिं प्राप्तो भवाब्धिं प्रभवति
मनुजो यस्य तर्तुं प्रसादात् ।
यस्त्रय्यन्तप्रसिद्धं भजति हि
सहजानन्दपादारविन्दं
गोपालानन्दनामा स जयतु
सततं योगिवर्याग्रगण्यः ।।

सद्‌गुरुश्रीशुकानन्द स्वामी

कार्ये लेखादिके यो भवति
भगवतो हस्ततुल्यः सदा यः
छायेवाहर्निशं च श्रयति
भगवतः पार्श्वमेव प्रणम्रः ।
यं भूयश्चावतीर्णं शुकमिह
जगदुर्यो गुणेभ्यो व्यतीतो
येन ग्रन्थाः प्रणीता बुधजन-
महितास्तं शुकानन्दमीडे ।।

दादाखाचर का निवासस्थान, नीमवृक्ष - गढ़पुर

जीवाखाचर का
निवासस्थान
सारंगपुर

वस्ताखाचर का
निवासस्थान
कारियाणी

सुराखाचर का निवासस्थान लोया

भक्तराज श्रीझीणाभाई का निवासस्थान पञ्चाला

अहमदाबाद मन्दिर

वरताल मन्दिर

॥ वृत्तालये स भगवान् जयतीह साक्षात् ॥

अनुवादकीयम्

''तस्य ह वैतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः'' (बृहदाराण्यकोपनिषद् २-४-१०) सनातन वैदिक धर्मों में वेदों की महिमा अपरंपार है, वेदों को समस्त सृष्टि का मूल माना गया है। वे समस्त वेद अपौरुषेय हैं, अर्थात् वेद किसी की कृति-रचना नहीं है, किसी के बने बनायें नहीं हैं, वे तो भगवान के श्वासभूत हैं, अनादि हैं। प्राचीन परंपरा अनुसार जिस अलौकिक वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण या अनुमान आदि प्रमाणों से नहीं होता है, उसका ज्ञान वेदों से होता है। इस विषय को स्पष्ट करने में एक श्लोक प्रसिद्ध है,

प्रत्यक्षेणाऽनुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते ।
तमर्थं वेदयन् वेदः तस्मात् वेदस्य वैदता ॥

सभी प्रमाणों में 'शब्द प्रमाण' को ही सर्व से अधिक माना गया है। सभी आचार्यों में व्यासजी सर्वोत्तम हैं। **'वेदान् व्यस्तवान् इति व्यासः'** उन्होंने सुगमता के लिए वेदों का विभाग किया इसलिए उन्हें 'वेद व्यास' कहते हैं। सभी आचार्यों ने वेद व्यास का ही अनुसरण किया है। वे व्यासजी कहते हैं, **''शब्दमूलत्वात्''** (ब्र.सू. २-१-२७), **''शास्त्रयोनित्वम्''** (ब्र.सू. १-१-३) **'अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्'** (महा. भीष्म. ५-१२) एवं महामुनि सद्. मुक्तानन्द स्वामी ने भी कहा है, **'वयं हि श्रुतिप्रामाण्यशरणा न युक्तिं बहु मन्महे'** इससे ज्ञात होता है कि, वेद मूलक सभी सनातन वैदिक धर्मों-सम्प्रदायों में शब्द प्रमाण को अर्थात् शास्त्र प्रमाण को ही सर्वोत्कृष्टरूप से स्वीकार किया गया है।

जिस तरह से वेद अपौरुषेय हैं, उसी तरह भगवान श्री स्वामिनारायण द्वारा प्रबोधित ये **'वचनामृत'** भी अपौरुषेय हैं। साक्षात् परब्रह्म के मुखकमल से

प्रकट हुए, इसलिए इन वनचामृतों को **'परावाणी'** भी कहते हैं। वेदों के विषय में कहा गया है कि, **'स्वत: प्रामाण्यं वेदानाम्'** अर्थात् वेद अपने आप स्वत: प्रमाणभूत हैं, उन्हें प्रमाणित करने के लिए किसी के प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। यदि किसी अन्य का प्रमाण लिया जाये तो उन वेदों का उपहास किया कहलाता है। ठीक उसी तरह ये वचनामृत भी अपने आप स्वत: प्रमाणभूत हैं, उन्हें प्रमाणित करने के लिए किसी के प्रमाण की नितान्त आवश्यकता नहीं है। कौन ऐसा मूर्ख होगा जो सूर्य को देखने के लिए दीपक प्रज्वलित करेगा !

ये **'वचनामृत'** परब्रह्म भगवान श्री स्वामिनारायण महाप्रभु एवं उनके साधर्म्य को प्राप्त हुए अक्षरमुक्तों का दिव्य संवाद हैं। ब्रह्म-परब्रह्म का श्रेयस्कर यह संवाद मुमुक्षु आत्माओं के लिए अमृत संजीवनी है। श्रीहरि के इस वचन रूप अमृत का पान करके बहुत सी दैवी आत्मायें अमर हो गयीं, वे अमर-अक्षर पद को प्राप्त हो गए। ऐसा कहने में नितान्त अतिशयोक्ति नहीं होगी कि, ''ऐसा कोई प्रश्न नहीं है, जिसका समाधान वचनामृत ग्रन्थ में न हो'' यह ग्रन्थ सम्पूर्ण एवं अन्तिम है। इससे अतिरिक्त कोई ज्ञेय विषय अवशेष नहीं रहता। **'एकेन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति'** इस न्याय से इस ग्रन्थ को पूर्णत: जान लेने से अन्य कुछ जानना अवशिष्ट नहीं रहता। इस ग्रन्थ को जानने में अन्य ग्रन्थ पुष्टिरूप जरूर होते हैं, यह हमारी अन्धश्रद्धा नहीं अपितु अतिश्रद्धा है। इस ग्रन्थ के सेवन करने का फल मायाजन्य सभी विकारों-भावों से विनिर्मुक्त होकर अन्तिम प्राप्य ऐसे परमात्मा की अनायास-अल्पआयास प्राप्ति होती है।

इस ग्रन्थ का सम्पादन चार सद्‌गुरु सन्तों ने किया है। जो त्रिकालदर्शी, सर्वशास्त्र मर्मज्ञ, सकल विद्या सम्पन्न एवं परमात्मा के साधर्म्य को पूर्णरूप से प्राप्त हुए थे, ऐसे अनन्त गुणों से विभूषित थे। उन्होंने इस ग्रन्थ का आलेखन, संकलन एवं सम्पादन किया है, जिसे स्वयं भगवान श्री स्वामिनारायण महाप्रभु

ने आद्योपान्त देखकर प्रमाणित किया है। प्रभु की यह लीला मुमुक्षुओं की श्रद्धा एवं विश्वास को दृढ़ करने के लिए है।

यह वचनामृत ग्रन्थ तत्कालीन समय में तीन भाषाओं में लिखा गया है। जिसका मूल गुजराती भाषा है। गुजराती भाषा में चार सद्‌गुरुओं ने सम्पादित किया और सुधा समान श्रीहरि के वचन ग्रन्थ के स्वरूप में गुम्फित हुए। दूसरी संस्कृत पद्य में सद्. श्री शतानन्द स्वामी ने 'श्रीहरिवाक्यसुधासिन्धु' नाम से रचना की। कुछ अंशो में यह ग्रन्थ विशिष्टरूप से रचा गया है। तीसरा सद्. श्री आधारानन्द स्वामी द्वारा विरचित हिन्दी भाषा का विराट् ग्रन्थ 'श्रीहरिचरित्रामृत सागर' है, इसमें इन वचनामृतों को पद्य (दोहा-चोपाई) में समाविष्ट किया है। किन्तु इस ग्रन्थ में पूर्णतः वचनामृतों का समावेश नहीं है।

सन् २०१९ में वड़ताल संस्थान द्वारा आयोजित 'श्रीवचनामृत द्विशताब्दि महोत्सव' के पूर्वकाल में 'श्रीहरि के कल्याणकारी वचनामृतों का हिन्दी भाषा में अनुवाद करके प्रकाशन किया जाय,' ऐसा विचार वरताल गद्दी स्थान पीठाधिपति प.पू.ध.धु. १००८ आचार्य श्री राकेशप्रसादजी महाराज ने प्रकट किया। उनकी प्रबल विभावना आज इस ग्रन्थ के स्वरूप में साकारित हुई। प्रारम्भ के समय में मेरा अनुमान कुछ अलग था, चार से पाँच महीनों में अनुवाद का परिष्कार एवं प्रकाशन हो पायेगा, किन्तु जैसे-जैसे इस सेवाकार्यो में प्रवृत्त होने लगा तब वास्तविकता का ख्याल आने लगा कि, इस कार्य को सम्पन्न करने में दो वर्ष भी कम हैं। दूसरा कारण यह भी रहा कि, पहले कराया अनुवाद में हमें आमूल परिवर्तन करना पड़ा, जिससे समय में विलंब हुआ।

अनुवाद के प्रारम्भ में सर्व अवतारों के अवतारी, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान श्रीस्वामिनारायण एवं इस ग्रन्थ के सम्पादक चार सद्‌गुरुओं का भी मैंने मंगलाचरणरूप में स्मरण किया, उनकी हृदय से प्रार्थना की, इन वचनामृतों पर आपका पूर्ण अधिकार है, मात्र अधिकार नहीं अपितु इन वचनामृतों का यथार्थ

रहस्य आपके अलावा दूसरा कौन जानने में समर्थ है ? मैं तो अल्पज्ञ, अल्पमति हूँ, तीन गुणों से वश हूँ, कहीं आपके कहने का तात्पर्य अनुपपन्न न हो जाये, कुछ भी अंश में आपकी **परावाणी** का अर्थविपर्यय न हो जाये, इस तरह की बल-बुद्धि की उनसे याचना की । अनुवाद के समय जब कठिनाईयाँ आती थी तब मन में श्रीहरि का स्मरण करता था, उस समय अन्तर्यामी परमात्मा प्रकाश करते थे । श्रीहरि की कृपा, चार सद्‌गुरुओं के आशिष एवं पू. महाराजश्री के प्रेरणा बल से इस ग्रन्थ का अनुवाद एवं प्रकाशन निष्पन्न हुआ । शुरू से ही मन में एक भावना रहती थी कि, श्रीहरि के प्रसादीभूत शब्दों का ही अधिकतर उपयोग किया जाये, क्योंकि उनके द्वारा किया गया उपदेश ही जीवों के हृदय को प्रकाशित करने में समर्थ है, हमारे शब्द तो बलहीन एवं द्विधा उत्पन्न करते हैं । हमें यथार्थ निश्चय नहीं होने से हमारे शब्द भी अयथार्थ ही कहलाते हैं। अनुवाद करते वक्त बहुत से अच्छे-अच्छे एवं प्रभाव दिखानेवाले रोचक शब्द मिलने लगे, किन्तु वे बोध कराने में निरर्थक थे । इसलिए यहाँ प्रसादीभूत शब्दों की ही प्राधान्यता दी गई है । पिछले सातसौ-आठसौ वर्षों में भारत वर्ष की अधिकतर भाषाओं पर उर्दू या अरबी का भी कुछ प्रभाव रहा है । जसे आज सभी भाषाओं में English का मिश्रण हो चुका है । गुजराती वचनामृत में भी ऊर्दू शब्दों का प्रयोग मिलता है, इशक (इश्क), पादशाह, मुलक (मुल्क), मुहब्बत, सोहबत आदि । एक मात्र अंग्रेजी शब्द 'गवर्नर' का प्रयोग मिलता है ।

वचनामृत की भाषा गुजराती है, किन्तु वह दोसौ वर्ष पुरानी शैली में है। बहुत से पढ़े-लिखे व्यक्तियों को मैंने देखा है, जो वचनामृत पढ़ने में कठिनाई महसूस करते हैं । इस बात का ध्यान रखते ही हिन्दी अनुवाद में सरलता का आग्रह रखा गया है । प.पू. आचार्य महाराजश्री की भी ऐसी भावना थी कि वचनामृत का तात्पर्य कहीं छूट न जाय और भाषा सरल हो तो युवा वर्ग भी इससे लाभान्वित होंगे । गुजराती वचनामृत की भाषा शैली का इस अनुवाद में अनुसरण किया गया है । इसकी एक अनोखी मधुरता है, रसज्ञों के लिए

आस्वाद्य भी है और अर्थ बोधन कराने में यह शैली अतीव उपयुक्त है । अन्त में कहा जाय कि, 'गुजराती मूल वचनामृत का शब्दशः अनुवाद करने का विनम्र प्रयास किया है,' फिर भी सुज्ञ जिज्ञासु एवं मुमुक्षुओं को जहाँ यथार्थ रहस्य जानने का अवसर या संशोधनात्मक स्थिति आये तब गुजराती वचनामृत एवं संस्कृत वचनामृत (श्रीहरिवाक्यसुधासिन्धु) का आश्रय लेना उचित होगा, क्योंकि यह अनुवाद तो मूल वचनामृत का हिन्दी में किया गया विनम्र प्रयास है ।

''मद्रूपमिति मद्वाणी मान्येयं परमादरात्'' (शिक्षापत्री २०९) श्रीहरि के इस वचन अनुसार परमात्मा की वाणी परमात्मा का वाङ्मय स्वरूप है । परावाणी स्वरूप श्रीहरि की सेवा में प.पू. आचार्य महाराजश्री ने समय-समय पर प्रेरणाबल दिया है, उनके प्रति सविनय कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ । सम्प्रदाय के वरिष्ठ विद्वान् प.पू. सद्. श्रीज्ञानप्रकाशदासजी स्वामी (गांधीनगर), उन्होंने इस प्रकाशन के अन्तिम चरण में अपना अमूल्य समय प्रदान करके इस नूतन अनुवाद का परिष्कार किया है, जो मेरे लिए कृपाप्रसाद है । वरताल मन्दिर के चेरमेन प.पू. श्रीदेवप्रकाशदासजी स्वामी एवं कोठारी श्रीसन्तवल्लभदासजी स्वामी एवं प.पू. धर्मजीवनदास स्वामी ने यथोचित मार्गदर्शन दिया है, उनका भी आभारी हूँ । अनुवाद से लेकर प्रकाशन तक सभी कार्यों में जो विनम्रभाव से सहायरूप बने है, ऐसे स्वामी अमृतवल्लभदासजी एवं डॉ. चन्द्रशेखर करंदीकर (वड़ोदरा), प.भ. श्री गिरीशभाई (वड़ताल), प.भ. श्री वसन्तभाई परीख (वड़ताल), हिरेन पटेल, रोनक पटेल, व्रज पटेल, ध्रुव सताणी, श्रीजी आर्ट प्रिन्टर के कोम्प्यूटर टाईपीस्ट श्रीमान् प्रणव शेठ (जैन) इत्यादि नामी-अनामी जिन्हों ने इस सेवा कार्य में योगदान दिया है, वे सभी भगवान श्री स्वामिनारायण, इस ग्रन्थ के सम्पादक चार सद्गुरुओं, प.पू. आचार्य महाराजश्री एवं वड़ताल धाम के वरिष्ठ संतो के आशीर्वाद एवं प्रसन्नता के अधिकारी हैं । 'उनका सर्व प्रकार से मङ्गल हो,' ऐसी वरतालवासी श्रीहरिकृष्ण महाराज, श्रीलक्ष्मीनारायण देव आदि समस्त देवों के चरणों में प्रार्थना करता हूँ ।

इस ग्रन्थ में भाषाकीय अशुद्धियाँ का निवारण करने के लिए बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय के प्रो. आचार्य श्री शिवराम शर्माजी जो साहित्य के विद्वान् एवं भक्त हृदयी हैं, एवं अहमदाबाद के प्रदीप शर्माजी, जिन्होंने अपना समय इस सेवा कार्य में दिया है और सराहनीय प्रयास किया है, उनके प्रति में अन्तःकरण पूर्वक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ ।

प्रभु कृपा से यह सेवायज्ञ सम्पन्न हुआ है । इसमें कहीं भी त्रुटियाँ हैं वे सभी मेरी अल्पबुद्धि का ही परिणाम हैं और जो श्रेयस्कर है वह सभी श्रीहरि एवं सन्तो का ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं है । 'सुज्ञ वाचकगण त्रुटियाँ को क्षमा करे और श्रेयस्कर अमृत का पान करें' यही प्रार्थना है । 'यह सब श्रीहरि का है, उन्होंने किया-करवाया है,' ऐसी सन्मति सदा बनी रहे, तभी मान आदि दोषों से रक्षा होगी, इसके लिए सभी के चरणों में प्रार्थना.

— साधु पूर्णवल्लभदास

दिनांक : २१ अप्रैल, २०२१,

चैत्र शुक्ल नवमी, संवत्-२०७७

॥ वृत्तालये स भगवान् जयतीह साक्षात् ॥

प्रकाशकीयम्

अपनी सनातन संस्कृति में आचार एवं विचार का प्रतिपादन द्रष्टिगोचर होता है । हमारे महापुरुषों ने जितना आचार परतन्त्रता का प्रतिपादन किया हैं उतना ही विचार स्वातन्त्र्य का । विचार स्वातन्त्र्य के परिपाक स्वरूप से अथवा रुचिवैचित्रता के कारण एकाधिक विचारदर्शन का आविष्कार हुआ । इसमें षड्दर्शन प्रमुख माने जाते हैं ।

१. सांख्य के प्रमुख प्रवर्तक महिर्ष कपिल है । इसमें प्रमुखरूप से सृष्टिरचना एवं पुरुष-प्रकृति की विवेचना हुई है । छः अध्याय और ४५१ सूत्र के द्वारा महर्षि कपिल ने इसका बोध दीया है । प्रकृति से लेकर स्थूल-भूत पर्यन्त सारे तत्त्वों की संख्या की गणना की जाने से इसे सांख्य दर्शन कहते है । २४ तत्त्वों का स्वरूपज्ञान होने के बाद पुरुष-प्रकृति की जिज्ञासा होती है। २५ वाँ तत्त्व आत्मा है । यह सांख्य का सार है ।

२. योग के जनक महिर्ष पतंजलि माने जाते हैं । 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' सूत्र से योग का स्वरूप ज्ञात होता है । यम-नियमादि अष्टांगयोग साधना का फल चित्तवृत्ति का निरोध है । योगग्रंथ में ईश्वरीय तादात्म्य की अनुभूति का वर्णन नही है । ओंकार का माहात्म्य है । परिणामतः आष्टांग योग की साधना के बावजूद वह आनन्द नहि मिलता जो एक भक्त प्राप्त करता है ।

३. न्याय के जनक महर्षि गौत्तम माने जाते हैं । न्याय शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त होता है परन्तु दार्शनिक साहित्य में न्याय वह साधन है जिसकी सहायता से किसी प्रतिपाद्य विषय की सिद्ध या किसी सिद्धान्त का निराकरण होता है - महिर्ष गौतम षोडश तत्त्व विवेचन के साथ अपना पक्ष रखते है । उनका मानना हैं कि 'तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः'।

४. वैशेषिक के उद्गाता महिर्ष कणाद हैं । न्याय और वैशेषिक दर्शन में भेद नहिवत् है । कणाद के वैशेषिक दर्शन की गौतम के न्याय-दर्शन से भिन्नता इस बात में है कि इसमें छब्बीस के बजाय ७ ही तत्त्वों का विवेचन है । इस दर्शन में विशेष पदार्थ का सूक्ष्मता से निरूपण किया गया है । इसलिए इसका नाम वैशिषक दर्शन है ।

५. पूर्व मीमांसा के प्रवर्तक महर्षि जैमिनि हैं। धर्म कर्म प्रतिपादन इसमें मुख्य है। 'अथातो धर्मजिज्ञासा' से मीमांसा का प्रारम्भ होता है। मीमांसा में ज्ञानार्जन के लिए प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि का प्रतिपादन किया गया है। इस दर्शन के अनुसार वेद अपौरुषेय, नित्य एवं सर्वोपरि हैं और वेद प्रतिपादित अर्थ को ही धर्म कहा गया है।

६. वेदान्त (उत्तर मीमांसा) के जनक महर्षि बादरायण माने जाते हैं। धर्म कर्म जगत् जिज्ञासानन्तर ब्रह्म जिज्ञासा होती हैं, 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'' से जीव शिवत्व की ओर गति करता है। जगत् से जन्म-मरण से मुक्त होकर ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग उत्तर मीमांसा मैं मीलता है। अत: षट् दर्शन में इसी को प्रमुख माना जाता हैं क्योंकि वेदान्त अर्थात् वेद का गलितार्थ इसीमें स्फुरित हुआ है।

समस्त दर्शन ग्रंथ या ग्रंथकारों का लक्ष्य एक होने के बावजूद भी वाद विवादों के फलस्वरूप अनेक पथ प्रचलित हुए। प्रत्येक आचार्यों का विचार आध्यात्मिक ऊर्जा प्रदान करता है तथापि ज्ञानानुसार प्राप्ति का प्रतिपादन है। वेदान्त दर्शन में द्वैत-अद्वैत-द्वैताद्वैत - विशिष्टाद्वैत-जैसी शाखाएं हैं। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्यादि आप्तपुरुषों के द्वारा प्रवर्तित एवं प्रस्थापित हैं। सभी आचार्य हमारे सनातन परंपरा के संरक्षक हैं। तथापि सब की रुचि पृथक् पृथक् है, यह भी सत्य है। ''पूर्व में जो आचार्य हो गये हैं, उन्हें पृथक् - पृथक् रुचि है। उनमें शंकर स्वामी का अद्वैत ज्ञानांश प्रधान दिखाई देता है। तथा रामानुज का ऐसा मत है कि '......एसे जो पुरुषोत्तमनारायण उनकी उपासना जीव करें' इस तरह से रामानुज की समझ दिखाई देती है। तथा वल्लभाचार्य को केवल भक्ति पर बहुत निष्ठा प्रतीत होती है। और इन सभी आचार्योंने अपने ग्रन्थों में प्रसंग के अनुसार अन्य वार्ताए लिखी हैं, लेकिन किसी न किसी प्रकार से अन्त में तो अपनी रुचि पर जाते हैं।'' (वचनामृत लोया-१४)

एसी स्थिति में अल्पमति हम क्यां निर्णय कर सकते है ? आत्मश्रेय के लिये किस पथ पर चले, यह प्रश्न प्रत्येक मुमुक्षु के हृदय में उपस्थित होता है। इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने में ही आयुष पूर्ण हो जाती है और यदि हमें जो मार्ग मिला उसे स्वीकार करके चलते हैं तो यह निश्चित है कि हम जिस उम्मीद के साथ अध्यात्म यात्रा पर है, उस यात्रा की फलश्रुति हमारे ज्ञान से अधिक नहीं होंगी। अत: हमारा ज्ञानमार्ग परिमार्जित एवं परिशुद्ध होना चाहिए। आज हम निश्चित और निश्चिंत है क्योंकि जिस ज्ञानमीमांसा की ओर चल रहे हैं वह वेदवेदान्तवेद्य स्वयं

परब्रह्म परमात्मा भगवान श्री स्वामिनारायण द्वारा प्रबोधित है । एवं अल्पज्ञानीओं के लिए सर्वज्ञ जैसा फलप्रदान करने में समर्थ हैं । क्योंकि सभी शास्त्र के सार स्वरूप है । "यह वार्ता जो हमने कही है, वह कैसी है ? तो वेद, शास्त्र, पुराण आदिक जो-जो कल्याण के लिए पृथ्वी पर शब्द मात्र है, उन सबका हमनें श्रवण करके उनका सार निकालकर यह वार्ता कही हैं । वह परम रहस्य है और सार का भी सार है । पूर्वकाल में जिसे-जिसे मोक्ष की प्राप्ति हुई है, और अब जो-जो प्राप्त होंगे और वर्तमान में जो-जो मोज्ञ के मार्ग पर चल रहे हैं, उन सभी के लिए यह वार्ता है, वह जीवनडोरीरूप है ।" (वचनामृत गढडा मध्य २८) इस से अधिक प्रमाण हम कहा प्राप्त करेंगे । अतः इस वचन में विश्वास और श्रध्धा के साथ इस ग्रन्थ का आध्यत्मिक आनन्द प्राप्त करना है ।

वस्तुत : यह बात पढने में जीतनी सरल लगती हैं, उतनी सरल है नहीं। जबतक स्वयं ज्ञानी-सनातनी वेदान्ती आदि ग्रंथियाँ रहती हैं तबतक इस ग्रंथ में प्रतिति नहि होती है और यदि होती भी है तो स्वमतानुसार बोधग्रहण करेंगे, स्वकल्याण कारक नहीं । यह अध्यात्म जगत् का सबसे बडा रहस्य है । यदि पूर्वजन्म के सुकृतवशात् यद्वा महापुरुष की कृपा से कोई ईदमित्थम् मान लेता है तो उसके काम तमाम हो जाते हैं । क्योंकि जो मोक्षपद प्रदाता है वही जो मोक्षमार्ग की स्पष्टता कर सकता है उसे दूसरा कोई नही कर सकता । अतः जो पुण्यात्मा परब्रह्म भगवान श्रीस्वामिनारायण में कंचित् भी प्रतीति रखता है, उसके लिए यह ग्रंथ माया से मुक्त होने के लिए विशल्यकरणी औषधि का काम करता है और मुक्ति के लिए चिन्तामणि का काम करता है ।

यह ग्रंथ मौलिक रूप से भगवान स्वामिनारायण द्वारा उपदिष्ट एवं महामुनि मुक्तानन्दजी, योगिराज गोपालानन्दजी, पण्डितराज नित्यानन्दजी एवं शुकानन्दजी द्वारा गुर्जरगिरा में संपादित हैं तथापि सबके लिए उपयुक्त मानकर संस्कृत - व्रज (दोहा चोपाई) हिन्दी, अंग्रेजी आदि भाषाओं में अनुवाद किया गया है । आज हम आप हिन्दी प्रेमियों को यह ग्रंथ प्रदान कर रहे हैं । पूर्ववर्ती सभी सारस्वत पुरुषों का प्रयास सराहनीय है । किन्तु अनुवाद अनुवाद होता है । मूलभाषा एवं भाव की द्रष्टि से यह अनुवाद उत्तमोत्तम है । यहाँ भाषा के साथ साथ वक्ता के तात्पर्य का सबसे अधिक ध्यान रखा हैं, यही बात अनुवाद की गुणवत्तामें चारचांद लगा देती हैं । श्रीगोलोकविहारी महाराज - सार्द्ध शताब्दी महोत्सव - भूलेश्वर मन्दिर के

पुण्यावसर पर पू.शास्त्री सूर्यप्रकाशदासजी स्वामी द्वारा हिन्दी वचनामृत प्रकाशन का बीजारोपण हुआ । वचनामृत द्विशताब्दी के अवसर पर प्रस्तुत ग्रंथ पर वडताल में राष्ट्रीय सेमिनार संपन्न हुआ। हमारे स्नेही सारस्वत डो.बलवंत जानी - राजकोट के मित्र डो.कट्टीमणीने दक्षिणी भाषाओं में अनुवाद करने-कराने का विचार प्रस्तुत किया। यहीं से इस कार्य का प्रारम्भ हुआ। हमारे आत्मीय कर्मठ प्रो. हरेन्द्र भट्ट साहेब एवं पूज्य श्रीलालजी भगत - ज्ञानबाग की निगरानी में डो.हमीर सर ने गुजराती से हिन्दी भाषान्तर किया, भाषान्तर हुआ। सब प्रसन्न हुए। जब प्रेसकोपी तैयार हुई तब सारस्वत श्रद्धेय संतवर्य शास्त्रीजी श्रीज्ञानप्रकाशदासजी स्वामी - गांधीनगर जैसे बुजुर्ग संतोने भाषा के साथ साथ भाव को नजरसमक्ष रखकर के कार्य करने का सुझाव दिया। यह कार्य परिश्रम के साथ साथ समयसाध्य था। तथापि वर्तमान पीठाधिपति प.पू.ध.धू. १००८ आचार्य श्रीराकेशप्रसादजी महाराजश्री ने निजी तौर पर वक्त निकाल कर परिश्रम किया और करवाया। स्वयं अनुदित वचनामृत का गहन अभ्यास करके, ५०० से ज्यादा शब्दों की सूची तैयार करके, अनुवाद में उन पर गौर करने को कहा। पार्षद श्रीलालजी भगत ने यथोचित सूचन-सहयोग किया। यद्यपि यह प्रकाशन निर्धारित समय से ज्यादा देरी से चल रहा था तथापि मौलिकता की आशा से सतत प्रेरणा एवं मार्गदर्शन से उच्च शिक्षाविद की भूमिका प्रदान की। परिणामतः सतत शास्त्रीय प्रवृत्तियों में दिलचस्पी रखनेवाले स्वामी पूर्णवल्लभदास एव अमृतवल्लभदास का अथाह परिश्रम सफल हुआ। वचनामृत एवं भाषा के विख्यात साहित्यकार तज्जज्ञ पुरुषों के सहारे अनुवाद का संशोधन किया गया। रूढ गूढ एवं देहाती गुजराती शब्दों का भावनात्मक हिन्दी अनुवाद के साथ कार्य पूर्ण करने का श्रेय पूर्णवल्लभदास स्वामी एवं अमृतवल्लभदास स्वामी को मिला, यह उनकी विद्या की सार्थकता का अवसर है। सबकी उलाहना सुनकर भी धैर्य के साथ भक्तिस्वरूप श्रम कीया है। हम हृदय से उन दोनों को साधुवाद प्रदान करते हैं और प.पू.सद्.शास्त्रीजी श्रीज्ञानप्रकाशदासजी स्वामी - गांधीनगर एवं प.पू.सद्. श्रीज्ञानजीवनदासजी स्वामी - कुंडलधाम; दोनों महापुरुषो ने आद्योपांत अभ्यास करके क्षति निवारण के साथ साथ अनुवाद के लिए भूरि भूरि आशिष प्रदान किया है। और इस अनुवाद कार्य में मेरे द्वारा संपादित एवं द्विशताब्दी के अवसर पर प्रकाशित (संवत् : २०७५) गुजराती ग्रंथ को नजर समक्ष रखा गया है। अनुक्रमणिका, विषयानुक्रमणिका, परिशिष्ट आदि भी उसी प्रत के अनुसार ही हुआ है। अतः यह

अल्पश्रम से दीर्घफलप्रद हुआ है । परिशिष्टों में पू.श्यामवल्लभ स्वामी तथा वर्णन अनुसार चित्र तैयार करने में संप्रदाय के प्रसिध्ध पेन्टर श्री फतेसिंहभाई वाला एवं श्री अरविंदभाई डुंगराणी ने पूर्व में अथाक् परिश्रम किया है । अत: उनका यहां पर स्मरण करना अनुचित नहीं है ।

आज महगांई के वक्त में ईम्पोर्टेड पेपर - रंगीन चित्रादि से सुसज्ज नयनरम्य ग्रंथ आपके करकमल में पहुंचा है । उसका संपूर्ण श्रेय आर्थिक सौजन्य के नाम जाता है । इस ग्रंथ प्रकाशन का आर्थिक सहयोग सद्गुरुराज श्रीगोपालानन्द स्वामीजी की शिष्य परंपरा के वरिष्ठ सद्.संत प.पू.सद्. श्रीज्ञानजीवनदासजी स्वामी - कुंडलधाम के सेवक अक्षरनिवासी प.पू. श्रीअचलस्वरूपदासजी स्वामी की पुण्यस्मृति में, श्रीस्वामिनारायण मन्दिर कुंडलधाम और कारेलीबाग बडौदा मन्दिर द्वारा प्राप्त हुआ है । उनका भी सहृदय आभार व्यक्त करते हैं ।

अंत में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि - गढ़डा मध्य - ५८ वें वचनामृत अनुसार यह संप्रदाय का पोषक ग्रंथ है । हमारे अध्यात्म जीवन की उपलब्धियों के आधार पर संप्रदाय का मूल्यांकन होता रहता है और इस ग्रंथ में सबसे अधिक हमारे अध्यात्म जीवन की मौलिक चर्चाए हुइ हैं । फलत: साधक की साधनाए निर्विघ्न एवं सद्यफलप्रद होती है ।

अंत में यही प्रार्थना है कि जहां-जहां उपदेश वचन हैं वे सब हमारे लिए हैं और जहां-जहां महिमा वचन हैं, वे सब श्रीहरिजी के आश्रित जनों का है, ऐसी द्रढता हो, यही फल इस ग्रंथ प्रकाशित करने का मिले, ऐसी आकांक्षा के साथ जय श्री स्वामिनारायण ।

चेयरमैन
प.पू. कोठारीश्री देवप्रकाशदासजी स्वामी
वडताल मेनेजींग ट्रस्टी बोर्ड

मुख्य कोठारी
शास्त्री श्रीसंतवल्लभदास (Ph.D., D.litt)
वडताल मन्दिर

साभार सौजन्य

आराध्य इष्टदेव वृत्तालयविहारी,
अनन्तमुक्तों के उपास्य, भक्तवांछाकल्पतरु,
श्रीहरिकृष्ण महाराज एवं महाप्रतापी **श्रीलक्ष्मीनारायण देव**
आदि देवों की प्रसन्नता के लिए,
महासमर्थ योगैश्वर्यमूर्ति सद्‌गुरुराज **श्रीगोपालानन्द स्वामीजी**
की शिष्य परंपरा के वरिष्ठ सन्त
प.पू.सद्. श्रीज्ञानजीवनदासजी स्वामी - कुण्डलधाम
के सेवक **अक्षरनिवासी प.पू. श्रीअचलस्वरूपदासजी स्वामी**
की पुण्यस्मृति में,
श्रीस्वामिनारायण मन्दिर **कुण्डलधाम** एवं
कारेलीबाग मन्दिर बड़ौदा द्वारा;
इस ग्रन्थ प्रकाशन में आर्थिक सौजन्य प्राप्त हुआ है ।
अतः हम पू.स्वामीजी का हृदय से आभार व्यक्त करते है ।

साधु श्यामवल्लभदास

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पेज नं.
★	'श्रीवचनामृत उपोद्घात प्रकरणम्'	०१
	श्रीगढ़पुर प्रथम प्रकरणम्	
१.	अखण्डवृत्ति का	३१
२.	तीन प्रकार के वैराग्य का	३४
३.	लीलाचरित्र का स्मरण करते रहने का	३५
४.	नारदजी के जैसी ईर्ष्या करने का	३६
५.	ध्यान के आग्रह का	३७
६.	विवेकी - अविवेकी का	३७
७.	अन्वय-व्यतिरेक का	३८
८.	इन्द्रियों की क्रिया को भगवान तथा सन्त की सेवा में रखने का	३९
९.	भगवान के बिना दूसरे किसी की इच्छा न रखने का	४०
१०.	कृतघ्नी का - सेवकराम का	४१
११.	वासना का तथा एकान्तिक भक्त का	४३
१२.	तत्त्वों के लक्षण का तथा उत्पत्ति का	४३
१३.	बरगद-पीपल की डाली को दूसरे स्थल पर बोने का	४८
१४.	अन्ते या मतिः सा गतिः का	५०
१५.	ध्यान करने में कायर न होने का	५३
१६.	विवेक का	५४
१७.	सत्संग में कुसंग का - हिम्मत रहित बात न करने का	५५
१८.	विषय खण्डन का - हवेली का	५६
१९.	आत्मनिष्ठा आदिक गुणों को परस्पर अपेक्षा का	६२
२०.	अज्ञानी का - अपने स्वरूप को देखने का	६४
२१.	एकान्तिक धर्मवाले का - अक्षर के दो स्वरूप का	६५
२२.	स्मृति बिना गाया वह न गाया जैसा, उसका	६८

२३. पानी का घड़ा बहाने का — स्थिति में रहने का ७०
२४. ज्ञान की स्थिति का — माहात्म्यरूपी खटाई का ७२
२५. बीस मोट के प्रवाह का ७५
२६. सच्चे रसिक भक्त का — निर्गुणभाव का ७९
२७. भगवान अखण्ड निवास करके रहे, ऐसी समझ का ८१
२८. अर्ध जली हुई लकड़ी का — बढ़ने-घटने का ८४
२९. धर्मादिक का बलवृद्धि होने का —
प्रारब्ध, कृपा और पुरुषप्रयत्न का ८५
३०. संकल्प के दंश लगने का ८७
३१. निश्चय से बड़प्पन का ८९
३२. घोंसला और खूंटे का ९१
३३. मूढ़ता, प्रीति और समझदारी का ९५
३४. भगवान द्वारा चाबी(यंत्र चलाने) भरने का ९७
३५. कल्याण के लिए प्रयत्न का ९९
३६. कंगाल के दृष्टान्त से सच्चे त्यागी का १०१
३७. देशवासना का, ग्यारह पदवी का १०२
३८. बनियें के खाते का (रोजनामें का) १०५
३९. विकल्प-निर्विकल्प स्थितिवाले का १०९
४०. सविकल्प-निर्विकल्प समाधि का १११
४१. एकोऽहं बहु स्याम्' का । ११३
४२. विधि-निषेध का ११५
४३. चार प्रकार की मुक्ति का ११८
४४. दहकते दाग का - अंगरचना का १२०
४५. साकार-निराकार का १२३
४६. आकाश की उत्पत्ति और लय का १२४
४७. चार प्रकार की निष्ठावाले के लक्षण का १२८
४८. चार प्रकार के कुसंगी का १३१
४९. अन्तर्दृष्टि का १३२
५०. कुशाग्र बुद्धिवाले का १३३

५१.	हीरे से हीरे का छेदन होने का	१३५
५२.	चार शास्त्रों द्वारा भगवान को जानने का	१३७
५३.	बढ़ने-घटने का	१४०
५४.	भागवत धर्म के पोषण का - मोक्ष के द्वार का	१४१
५५.	भजन, स्मरण तथा वर्तमान की दृढ़ता का	१४२
५६.	पोला (खोखला) पत्थर का	१४३
५७.	मोक्ष के असाधारण कारण का	१४८
५८.	देह, कुसंग और पूर्व संस्कार का, बड़े को जाने वैसा होता है	१५०
५९.	असाधारण स्नेह का	१५२
६०.	एकान्तिक धर्म की प्राप्ति का — वासना टालने का	१५४
६१.	बलि राजा का	१५६
६२.	सत्य-शौचादिक गुण प्राप्त होने का	१५९
६३.	निश्चय का - तत्त्वों से भगवान को जानने का	१६२
६४.	शरीर-शरीरी का, स्वामी-सेवकभाव का	१६७
६५.	ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और इच्छाशक्ति का	१७०
६६.	शास्त्र के शब्दछल का - चतुर्व्यूह की बात का	१७४
६७.	सत्पुरुष के गुण आने का	१७७
६८.	अष्ट प्रकार की प्रतिमा तथा सन्त में अखण्ड निवास करने का	१७८
६९.	दुष्ट के तथा साधु के धर्म का	१८१
७०.	काकाभाई का - चोर को कांटा लगने का	१८२
७१.	भगवान का स्वरूप अक्षरधाम सहित विराजमान है, उसका	१८८
७२.	माहात्म्य सहित निश्चय का	१९१
७३.	काम जीतने का - निर्वासनिक होने का	१९७
७४.	समझदारी आपत्तिकाल में परख में आती है, उसका	२०५
७५.	इकहतर पीढियों के उद्धार का	२०६
७६.	क्रोधी, ईर्ष्यावाला, कपटी तथा मानी का	२०८
७७.	ज्ञान की आड़ में धर्म को मिथ्या न करने का	२०८
७८.	देशकालादिक की प्रधानता का	२११

श्रीसारंगपुर प्रकरणम्

१.	मन जीतने का	२२४
२.	भगवान की मूर्ति में स्नेह होने का	२२७
३.	श्रवण, मनन, निदिध्यास और साक्षात्कार का	२३३
४.	आत्मा-अनात्मा के विवेक का	२३६
५.	अन्वय-व्यतिरेक का	२३८
६.	एक अवस्था में दो-दो अवस्थाओं का – चार प्रकार की वाणी का	२४१
७.	नैमिषारण्य क्षेत्र का	२४५
८.	ईर्ष्या के रूप का	२४६
९.	युग के धर्म प्रवर्तन होने का – स्थान का	२४७
१०.	आत्मदृष्टि-बाह्यदृष्टि का - पाँच जूते का	२४९
११.	पुरुषप्रयत्न का	२५१
१२.	आत्मा के विचार का	२५४
१३.	निश्चय टलने - न टलने का	२५६
१४.	प्रमाद और मोह का	२५८
१५.	मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा का	२६३
१६.	नरनारायण के तप का	२६६
१७.	मुक्त के भेद का – इमली की टहनी का	२६८
१८.	खारभूमि का	२७०

श्री कारियाणी प्रकरणम्

१.	कीट-भँवरी का	२७७
२.	शापित बुद्धि का	२८४
३.	शुकमुनि बड़े साधु है - मनुष्य बाह्य प्रकृति से नहीं पहचाना जाता, उसका	२८६
४.	जीव और साक्षी के जानपने का	२८९

५. अवतार धारण करने के प्रयोजन का २९१
६. मत्सरवाले का २९२
७. चोट के वैराग्य का — आत्यन्तिक कल्याण का २९५
८. सगुण-निर्गुण स्वरूप का २९८
९. भैंसे की तरह द्वेष का ३०१
१०. नाड़ी देखने का — तप का ३०३
११. प्रेम के लक्षण का ३०६
१२. कारण शरीर टालने का - इमली के बीज का ३०९

श्रीलोया प्रकरणम्

१. क्रोध का - सम्पूर्ण सत्संग होने का ३१५
२. विश्वासी, ज्ञानी, शूरवीर और प्रीतिवाले का ३२१
३. माहात्म्यज्ञान सहित निश्चयवाले का ३२४
४. भगवान में कुतर्क हो,
तो माया को तैर गए नहीं कहलाता, उसका ३२७
५. इन्द्रियाँ-अन्तःकरण जीतने का ३३०
६. संग शुद्धि का ३३४
७. इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और अनुभव पहुँचने का ३४१
८. इन्द्रियों की चंचलता टालने का -
अपने अंग के शब्द ग्रहण करने का ३४८
९. धर्मादिक चारों को उत्पन्न होने के हेतु का ३५४
१०. निर्विकारी रहने का ३५५
११. सत्पुरुष और असत्पुरुष की समझ का ३६३
१२. छः प्रकार के निश्चय का, सविकल्प-निर्विकल्प निश्चय का ३६६
१३. देशकाल से पराभव न हो, उसका ३६८
१४. रुचि का ३७२
१५. नली तथा गाय के दृष्टान्त से आत्मदर्शन का ३७६

१६. वासना कुण्ठित और निर्मूल होने का ३८२
१७. स्तुति-निन्दा का ३८५
१८. निश्चय का ३९०

श्रीपञ्चाला प्रकरणम्

१. बुद्धिवाले का - विचार को प्राप्त होने का ३९८
२. सांख्य-योग का ४०३
३. मुनिबावा का -
मोक्ष के उपयोग में आये उसे बुद्धि कहते है, उसका ४१०
४. मनुष्यभाव में दिव्यभाव का ४१६
५. मानीपना और निर्मानीपना कहाँ उचित ? ४२४
६. उपासना की दृढ़तावाले का - कल्याण होने का ४२५
७. नट की माया का ४२७

श्रीगढ़डा मध्य प्रकरणम्

१. मोह उदय होने का ४३४
२. जल की धारा का ४४०
३. रसिकमार्ग और आत्मज्ञान का ४४३
४. माहात्म्य तथा श्रद्धा से अखण्ड चिन्तन होता है,
फटी लंगोटी और तुंबडी का ४४६
५. पतिव्रता और शूरवीरता का ४४९
६. हूंडी का, चित्त के स्वभाव का ४५०
७. दरिद्र का ४५३
८. एकादशी का, ज्ञानयज्ञ का, अन्तर्दृष्टि का ४५४
९. स्वरूपनिष्ठा का - अवतार जैसे जाने तो द्रोह होने का ४५९
१०. निश्चयरूप गर्भ के जतन का ४६२
११. कर्ममात्र भक्तिरूप होने का ४६८
१२. राजनीति का ४७०

१३.	तेज का	४७३
१४.	निर्विकल्प समाधि का (अडीग निश्चय का)	४७९
१५.	स्वभाव के साथ शत्रुता रखने का	४८१
१६.	स्वरूपनिष्ठा तथा धर्मनिष्ठा का	४८३
१७.	भगवान के स्वरूप में तत्त्वो का - स्थितप्रज्ञ का	४८७
१८.	नास्तिक और शुष्क वेदान्ती का	४९१
१९.	शुष्कवेदान्ती के ग्रन्थ से दिलगीर होकर पत्र लिखने का	४९४
२०.	समाधिनिष्ठ की ज्ञानशक्ति तथा इन्द्रियों की शक्ति कैसे वृद्धि होती है ? उसका	४९६
२१.	मुद्दे का	४९९
२२.	दो सेना का - नरनारायण स्थापित करने का	५०२
२३.	लू तथा हिम का	५०५
२४.	सांख्य और योगनिष्ठा का	५०७
२५.	वासना युक्त त्यागी और वासना रहित गृहस्थ का	५०८
२६.	भक्ति में अन्तरायरूप होते आत्मज्ञानादिक को न्यून करने का	५१०
२७.	मलिन वासना न रहे तब बड़े सन्त प्रसन्न होते हैं, उसका	५१२
२८.	जीवनडोरी का - दयालु प्रकृति का	५१५
२९.	भगवान में आसक्तिवाले के लक्षणों का	५१८
३०.	सुवर्ण और स्त्री; बन्धन न करे, उसका	५१९
३१.	मनन द्वारा ब्रह्म का संग करने का	५२०
३२.	थूहर के पेड़ का - निर्विघ्न भक्ति का	५२३
३३.	निष्कामी वर्तमान का	५२५
३४.	तत्त्व जड़ है या चैतन्य ? उसका	५२९
३५.	ज्वार की खान का (जीव के कल्याण के लिए चार बातें)	५३१
३६.	अखण्ड वृत्ति के चार उपाय का	५३४
३७.	स्वभाविक प्रकृति टालने का- ज्ञानी भी प्रकृति जैसा आचरण करता है, उसका	५३६

३८.	मांचा भगत का – प्रवेश का	५३७
३९.	स्वाभाविक गुण रहने का	५३९
४०.	एक दण्डवत् प्रणाम अधिक करने का	५४२
४१.	मानरूपी हड्डी का	५४४
४२.	सगुण–निर्गुणपना अक्षर में है, उसका	५४५
४३.	ब्रह्मस्वरूप प्रीति का	५४६
४४.	दैवी–आसुरी जीव के लक्षण का	५४७
४५.	इक्यावन भूतों की टोली को निकालने का	५४८
४६.	मरणडोरी का, एकान्तिक धर्म में से पतन होने का	५५१
४७.	पाताल तक पृथ्वी फटने का	५५२
४८.	"वन्दु" कीर्तन का – सन्त के मध्य में जन्म धारण करने का	५५५
४९.	कथा–कीर्तनादिक में तृप्ति न होने का	५५७
५०.	रहस्य का – जगत की वासना का	५५७
५१.	आत्मसत्तारूप रहनेवालों के लक्षण का	५५९
५२.	त्यागी तथा गृहस्थ की शोभा का	५६०
५३.	अपना अवगुण न सूझता हो, वह ही मोह है, उसका	५६२
५४.	सभी साधनों से सत्संग अधिक कहा है, उसका – गोखर का – आत्मबुद्धि का	५६३
५५.	सोनी की पीढ़ी का	५६४
५६.	कुसुम्भी वस्त्र का	५६७
५७.	छिपकली के दृष्टान्त का– बिल्ली जैसे भक्त का	५६९
५८.	सम्प्रदाय की पुष्टि का	५७२
५९.	परम कल्याण का	५७३
६०.	विक्षेप टालने का – पक्ष रखने का	५७५

६१.	नियम, निश्चय और पक्ष का	५७७
६२.	आत्मनिष्ठा, पतिव्रतापन, और दासत्व का	५७९
६३.	बल प्राप्त होने का	५८५
६४.	पुरुषोत्तम भट्ट के प्रश्न का	५८७
६५.	कुतर्कबुद्धिवाले का	५९०
६६.	सदगुरुओं से प्रश्नो का – गोला हाथ में लेने का	५९१
६७.	गंगाजलवाले कुआँ का	५९६

श्रीवरताल प्रकरणम्

१.	निर्विकल्प समाधि का	६०१
२.	चार शास्त्र से भगवान को जानने का – कानदासजी के प्रश्न का	६०४
३.	चार प्रकार के महापुरुष का	६०८
४.	फुहारा का	६११
५.	भगवान में माया न समझने का – समान सेवा का	६१३
६.	चीमनरावजी के प्रश्न का	६१६
७.	दैवी–आसुरी जीवों के लक्षण का – अन्वय–व्यतिरेक का	६२०
८.	मकड़ी की लार का	६२२
९.	भगवान का निर्गुण सुख कैसे ज्ञात हो ? उसका	६२४
१०.	जीव का कल्याण होने का	६२५
११.	जीव के नाश का, सत्पुरुष में स्नेह, वही आत्मदर्शन का साधन, उसका	६२७
१२.	महिमा सहित निश्चय का	६२९
१३.	ब्रह्म व्यापक हों, तो मूर्तिमान कैसे कहलाता है ?	६३२
१४.	विमुख जीव जिन्हें धर्मी जानते हैं वे धर्मी नहीं हैं, तथा जिन्हें पापी जानते हैं वे पापी नहीं हैं	६३५

१५. दैवी-आसुरी होने के हेतु का ६३६
१६. बड़े आदमी के साथ मेल नहीं खाता, उसका ६३७
१७. ज्ञानी जितेन्द्रिय है, उसका ६३८
१८. अवश्यरूप से वार्ता जानने का ६४१
१९. भक्त होने का - अविवेक का ६४६
२०. जनक जैसी समझ का ६४७

श्रीअहमदाबाद प्रकरणम्

१. चमत्कारिक ध्यान का ६५३
२. नहा-धोकर पूजा करने का ६५५
३. बरगद की बरोह का - उपशम का ६५७

श्रीगढडा अन्त्य प्रकरणम्

१. ज्ञान तथा स्नेह के अंग का ६६३
२. सभी अर्थ सिद्ध होने का - प्रकट गुरुरूप हरि का ६६६
३. दया और स्नेह का ६६९
४. बाधितानुवृत्ति का ६७२
५. माहात्म्ययुक्त भक्ति का ६७५
६. जीव और मन की मित्रता का ६७८
७. वज्र की कील का ६८०
८. सदैव सुखी रहने का ६८१
९. जानपनारूप द्वार का ६८३
१०. वृन्दावन और काशी का ६८५
११. सीताजी के जैसी समझ का ६८८
१२. करामात का ६९०
१३. विपरीत देशकाल में एकान्तिक धर्म रहने का ६९२
१४. कायस्थ के अविवेक का - लंबकर्ण का ६९५

१५.	मरहमपट्टी अनुकूल होने का	७०२
१६.	पतिव्रता के प्रण का	७०४
१७.	भरतजी के आख्यान का	७०६
१८.	वासना जीर्ण होने का	७०७
१९.	त्यागी के दो कुलक्षण का	७०९
२०.	स्वभाव, प्रकृति या वासना का	७११
२१.	सोने के तार का - धर्म में भक्ति के समान गौरवता का	७१२
२२.	सखी-सखा के भाव का	७१६
२३.	मानसी पूजा का	७१९
२४.	सोलह साधन का - ज्ञानांश के वैराग्य का	७२२
२५.	श्रीजी की प्रसन्नता का - यथार्थ भक्त का	७२६
२६.	मन-इन्द्रियों को दबाकर रहते हो, ऐसे सन्त का	७२८
२७.	किसी भी प्रकार की अँटी नहीं रखने का	७३१
२८.	भगवान के मार्ग से पतन होने का	७३५
२९.	बीस-बीस वर्ष के दो हरिभक्त	७३९
३०.	पांच वार्ता के अनुसंधान का	७४२
३१.	छाया के दृष्टान्त से ध्यान का	७४४
३२.	माहात्म्य की आड़ में पाप करने का	७४६
३३.	चार वस्तु से बुद्धि में फर्क न हो, उसका	७४८
३४.	भगवान में ही वासना रहने का	७५२
३५.	प्रकृति मरोड़ने का - भक्त के द्रोह से भगवान के द्रोह का	७५४
३६.	कल्याण के असाधारण साधन का	७५९
३७.	दरिद्रता में भी प्रथम की चीजें याद आये, उसका	७६१
३८.	सांख्यादिक का - सदैव सुखी रहने का	७६४
३९.	विशल्यकरणी औषधि का	७६५
★	भूगोल-खगोल का वचनामृत	७७४

परिशिष्ट विभाग

१.	वस्त्रालंकारों की जानकारी	७८२
२.	वस्त्र-शृंगार का परिचय	७८८
३.	बैठक परिचय	७९०
४.	संगीत के वाद्यों-वादित्रों का परिचय	७९२
५.	ग्रन्थों के सन्दर्भों का संग्रह	७९७
६.	कीर्तन-पदों का संग्रह	८०३
७.	स्थल-समय परिचय	८१३
८.	काल (समय) दर्शन	८१४
९.	संवत् अनुसार वचनामृत का कोष्ठक	८१५
१०.	ब्रह्माण्ड की रचना	८१६
११.	अष्ट आवरण से पर अक्षर	८१७
१२.	उत्पत्ति सर्ग	८१८
१३.	पुरुषोत्तमनारायण का आगमन कब हुआ ?	८१९
१४.	वचनामृत के स्थल निर्देश	८२०
१५.	तिथि तारीख संदर्भ	८२२

i i i

विषयानुक्रमणिका

भगवान का निश्चय

– निश्चय किसे कहेंगे................ ग.म.१४
– दृढ़ निश्चय का रूप .... ग.प्र.६२, ...ग.म.१४, वर.१
– भगवान का निश्चय किसके द्वारा होता है........................ ग.म.१४
– राजा के रूपमें एवं साधु के रूपमें भगवान के अवतार जानने के लक्षण...............................व.१०
– भगवान का अड़ग निश्चय शास्त्र से ही होता है..................सा.१३
– भगवान का मूल स्वरूप और मनुष्य स्वरूप जानकर निश्चय करना................................पंचा.४
– भगवान मनुष्य जैसे होते है उसका कारण.........................पंचा.४
– भगवान के अवतार की मूर्तियाँ दिव्य एवं ऐश्वर्य शक्ति से युक्त होती है....................लोया.१८, पंचा.७
– भगवान के प्रगट मनुष्य स्वरूप की महिमा (ऐश्वर्य)...................ग.प्र.४२, ...ग.प्र.५६, ७१, ७८ ....कारि.८, ग.म.१३, ४-४९, वर.१३
– भगवान में दोष देखनेवाले को पाप............................ग.प्र.२४
– भगवान में देहभाव तो योगमाया से है.........................पंचा.७
– भगवान में मनुष्य भाव ठहरानेवाले मूर्ख है.........ग.प्र.५६, पंचा.७, लोया.१८
– भगवान की जन्म एवं देह छोड़ने की रीति...............लोया.१८
– मायिक इन्द्रियाँ, अन्त:करण से अमायिक भगवान का निश्चय एवं दर्शन कैसे होता हैं ?...ग.प्र.५१, कारि.१
– भगवान का अड़ग निश्चय कैसे होता हैं..................ग.प्र.६३-७०
– भगवान का निश्चय होने का अनुक्रम.............................कारि.१
– इन्द्रियों में, अंत:करण में और जीव में निश्चय है, उसे कैसे जाने ?........कारि.१
– जीव में होनेवाला निश्चय उत्तम है....कारि.१
– उत्तम, मध्यम एवं कनिष्ठ, सविकल्प एवं निर्विकल्प निश्चय के भेद का कारण................लोया.१२
– कनिष्ठ निश्चय उत्कृष्ट हो पायें, उसका उपाय.....................लोया.१२
– निश्चयवाले के लक्षण, समझ एवं बर्ताव ....लोया.१८, ग.प्र.९, ६३, ६६, ७८
– माहात्म्य सहित निश्चयवाले के लक्षण ....ग.प्र.७५, लोया.३
– माहात्म्य सहित निश्चयवाले की समझ ....ग.प्र.५६, ग.प्र.७२, वर.१२
– प्रत्यक्ष भगवान में दिव्य साकारपना की निष्ठा के लक्षण..........पंचा.७, कारि.७
– दृढ़ निष्ठा की सिद्धदशा का लक्षण..कारि.७
– भगवान के दृढ़ निश्चय का फल ..ग.प्र.९, २४, ३१, ५९, ६२, ६३, ७२, ..७७, ७८, कारि.७ लोया.३,६ वर.१, १२, ...ग.म.१०, १३, १४, १७, ६१

– सिद्धियाँ, परिपक्व निश्चयवाले को ही आती है..........................ग.प्र.६१
– कैसा निश्चय टल जाता है..........सारं.१३
– माहात्म्य जानने के बावजूद निश्चय में से पतन होने का कारण......ग.अं.२८
– निश्चय में डगमगाहट होने का और न होने का हेतु....................ग.म.५९
– अपरिपक्व निश्चयवाले के लक्षण एवं समझ.............लोया.१८, पंचा.४, ...ग.प्र.६३,७१,७२, ७५
– निश्चय में अपरिपक्वतावाले को न्युनता एवं कल्याण में विघ्न .... ग.प्र.२४, ...ग.प्र.३४, ६३, ७२, ७३
– निश्चयवाला हो फिर भी किसके मुख सें ग.म.१४, २४ वर.१, १२
– भगवान की बात भी न सुनें ... ग.प्र.९, ...वर.१२
– निश्चय ही नहीं है, ऐसा किसे कहा जाय ?..................ग.प्र.६६, ६८
– निश्चय में संशय होने का एवं न होने का हेतु.....................पंचा.४
– निश्चय में संशयवाले को न्यूनता....लोया.१८, ...पंचा.७
– प्रगट भगवान को दिव्य समझने का फल................वर.५, पंचा.७, ग.म.१७
– निश्चय होने पर भी शुभ गुण क्यों नहीं आते है ? .... ग.प्र.६२
– निश्चय होने पर भी कृतार्थपना क्यों माननें में आता नहीं है ?..........ग.प्र.२४
– दंभपूर्वक नियम एवं निश्चय है, उसे कैसे जाने ?..........लोया.५, वर.५
– दंभपूर्वक निश्चय श्रीहरि को स्वीकृत नहीं है ?................ .ग.अं.२६
– कौनसा संकल्प, निश्चय और नियम में से गिराये और कौनसा संकल्प न गिराये ?........लोया.५
– उत्तम, मध्यम एवं कनिष्ठ तीन प्रकार सें भगवान के ज्ञान का स्वरूप.......लोया.१
– निश्चयवाले को धर्म की आवश्यकता........................ .ग.प्र.७७

भगवान का स्वरूप एवं महिमा

– भगवान और मुक्त अक्षरधाम में सदादिव्य साकार है...ग.प्र.४, २१, ६३, ७१ ....पंचा. ७, लो.१४, वर.९, १२, ...ग.म.५०, ६४, ग.अं.७, ३०, ३१, ३६
– भगवान के अनादि मूल स्वरूप का वर्णन..........पंचा.४, लो.१८, ग.म.१३
– भगवान संबंधित अलौकिक सुख का वर्णन.......पंचा.१,४, लो.१८, ग.म.१३, ...सारं.१, वर.९, ग.अं.२७, २८, ३९
– भगवान सभी के कारण है....ग.प्र.५१, ६३, ...लो.२
– भगवान सभी के कर्ता है .... का.१०, ...ग.म.२१, वर.२
– भगवान सभी से समर्थ है....ग.प्र.६३,७२, ...का.१, लो.१,२,७ पंचा.२,४ ग.म.३१
– भगवान कार्य-कारणरूपसे कैसे रहे है ? ....ग.प्र.४१,६३, कारि.८, लोया.७, पंचा.७
– भगवान को अवतार धारण करने का प्रयोजन ....कारि.५, ग.म.१९, ४६
– अवतार धारण करने का प्रकार...ग.प्र.६३
– वैराजपुरुष द्वारा अवतार की समझ..ग.म.३१

– भगवान अक्षरधाममें रहते हुए ही अनंत जगह पर अनंतरूप में दर्शन देते है.....लो.४,१८, ग.म.४२,६४ अं.३७
– भगवान की अन्तर्यामिरूपसे ... वर.१३ व्यापकता .... ग.म.१०, ...ग.म.३१, ४५,ग.प्र.४५, ६३, का.४, ...लो.४, १५, वर.४, ग.अं.४
– भगवान का कर्मफल प्रदातापना ....सारं.६, ग.प्र.१३,६५, ग.म.२१, ...वर.६, ग.अं.३७
– भगवान का सगुण-निर्गुणपना ....का.८, ग.प्र.६६, ग.म.३१
– भगवान का अन्वय-व्यतिरेकपना ....ग.प्र.७, सारं.५, वर.७
– भगवान का अद्वितियपना.......लोया.१३, ...पंचा.२, ग.अं.३७
– नारायण को लेकर ही दूसरे में बडप्पन कही जाती है .... लोया.१३
– भगवान की महिमा अपार है... ग.म.६७, ...ग.अं.३७
– नारायण को मुक्त समान कहने का पाप..................लोया.१३, कारि.१०
– भगवान कर्ता, अकर्ता एवं अन्यथाकर्ता है ....ग.म.२१, लोया.१३, १७, प्र.५,५६
– भगवान का आत्मा एवं अक्षर से विलक्षणपना............ग.प्र.६४
– भगवान सबके आत्मारूप रहे है..........ग.प्र.६४, लोया.१०, कारि.८
– भगवान का माया से निर्लेपपना....ग.म.१७, ...ग.म.६५, कारि.८, लोया.१३
– भगवान मे ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और ईच्छाशक्ति कैसे समझे ?..........ग.प्र.६५
– भगवान में अनेक कला रही है...ग.अं.३९
– मन-वाणी से पर एवं अगोचर ऐसे भगवान के प्रत्यक्ष दर्शन का हेतु...ग.प्र.७८
– भगवान की प्रतिमा तथा संत में भगवान अखण्ड रहे है ? .... ग.प्र.६८
– परमेश्वर का ही अतिशय बल का समय.................................वर.६
– भगवान की महिमा अधिक अधिक कैसे जाननें में आए ?...........सारं.१७
– भगवान के स्वरूप का सम्पूर्ण ज्ञान कब होता है ?......ग.प्र.५२, वर.२
– भगवान की महिमा किसके द्वारा जानने में आती है...........ग.प्र.१, २१
– भगवान की महिमा का कैसे विचार करें ? ....सारं.९, ग.प्र.५६, ग.अं.३५
– भगवान की महिमा समझने की सच्चे भक्त की रीति............ग.अं.३२
– भगवान की एवं संत की महिमा अखंड है, उसे कैसे जाने ?.....ग.अं.१४
– भगवान की महिमा समझनेवाला कैसे समझता है तब धर्म में रहा जाय ?............ग.म.४, ग.अं.२६
– कैसी महिमा, धर्म पालन करने में अंतरायरूप है ?................ग.अं.२६
– महिमावाले को भी दोष पीड़ा कीये बिना नहीं रहते.............सारं.१४
– भगवान सम्बन्धी सुख को कौन पाता है ?..................ग.अं.२८
– भगवान की महिमा जानने से फल ....ग.प्र.२४, ग.प्र.५६,५७,५८,७३,७८ ....ग.अं.२८, कारि. १,८,९,१० ....लोया.१,१७,१०,१६, पंचा.१ ....ग.म.४,१६,५७, वर.२, सारं.१,५

– भगवान की महिमा समझने में खामी हो तो न्यूनता..........ग.प्र.२४,२५ ......ग.प्र.५६,७८, ग.म.४,लोया.१६,१७
– भगवान को सर्व कर्ता न जानने से न्यूनता (पाप).....................वर.२, कारि.१०
– पंडित को भगवान की महिमा समझ में न आने का हेतु.........वर.११
– भगवान की महिमा समझनेवाले भक्त को धर्म की आवश्यकता....ग.अं.३२
– महिमा का आश्रय लेकर कमजोर बात करनेवाले को प्रायश्चित......ग.प्र.१७
– भगवान की महिमा को जानी ही नहीं हैं, ऐसा कब तक कहा जाय ? ....ग.म.४, ग.अं.२८

उपासना

– उपासना का रूप.........ग.प्र.४०, ग.अं.३५
– उपासना किसे करनी ?..........ग.म.३९
– साकार स्वरूप की उपासना करने की श्री हरि की आज्ञा................ग.म.३९
– उपासना की आवश्यकता.....ग.प्र.५६,६१, ...ग.अं.३६, ग.म.३५
– कौनसे स्वरूप की उपासना करें ? लो.१२, १४, ग.अं.३०, ग.म.३,५०, अं.३८
– उपासना में पतिव्रतापन की दृढ़ता ....ग.म.१९, लो.११, ग.अं.१६
– उपासना दृढ़ कैसे होती जाती है ?...सारं.१७
– उपासना के बलवाले की समझ...ग.प्र.५६
– दृढ़ आश्रयवाला कैसे रहें ?........ग.अं.७
– उपासना की पुष्टि का हेतु.........ग.म.२७
– दंभी उपासनावाला कौन ?........ग.प्र.५२
– उपासना बिना के संग का त्याग करने की श्रीहरि की आज्ञा ..... कारि.१०
– उपासना की दृढ़तावाले को फल प्राप्ति..................पंचा.७, ग.अं.७
– संशयवाले को न्युनता..............पंचा.७
– उपासना के योग्य और अयोग्य भेद की समझ......................वर.१८
– साकार निष्ठा, साकार स्वरूप का प्रतिपादन (निरूपण)....ग.प्र.४५, ६४,७१, ...ग.म.१०, पंचा.७, वर.२
– साकार स्वरूप में आशंकाओं का समाधान ......ग.प्र.४५, ग.प्र.६४, ७१, ६६, कारि.७
– साकार की परिपक्व निष्ठावाले का लक्षण..........................पंचा.७
– साकार निष्ठा किसके द्वारा प्राप्त होती है............................ग.प्र.६४
– भगवान के स्वरूप संबंधित मूर्ख की समझ................................पंचा.७
– साकार की निष्ठावाले की महत्ता एवं उसे फल......................ग.प्र.३७,६४, ...ग.म.३९, ग.म.१०, वर.२
– साकार की निष्ठा रहित (निराकार की निष्ठावाला) को न्युनता ....ग.प्र.३७, ६४, ७१, लोया.१६, ...ग.म.३९,. ग.म.९, वर.१

भगवान में स्वामी-सेवकपना

– अक्षरधाम में मुक्त भगवान की सेवा में रहते है..........ग.प्र.२१,६३,६४, ...ग.अं.२२, ३८
– अक्षरधाम में नारायण एवं मुक्तमें भेद.......लोया.१३, १५, ग.म.६७
– नारायण को मुक्त समान कहनेवाले को पाप तथा उसके संग का निषेध...अं.३७, ...कारि.१०, कारि.१०, लोया.१३

– श्रीहरि को अवतारी समझने की आवश्यकता.........ग.म.९,१३ ग.अं.३६
– अवतारी को सर्वोपरी समझने की रीति-भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल में सर्व आश्चर्य के कर्ता प्रगट भगवान (श्रीजीमहाराज) हैं...ग.प्र.२७
– श्रीकृष्णावतार में सर्वोपरीपना का कारण कहकर प्रगट भगवान को (श्रीजीमहाराज को) सर्वोपरी एवं सर्व के कारण कहे है.............पंचा.६
– वासुदेव की उपासना से पुरूषोत्तम की उपासना अधिक है......पंचा.६, लोया.१२
– श्रीमद् भागवत में कहे जो वासुदेव उनके भी कारण श्रीजीमहाराज है ....ग.प्र.६६, ७८, ग.म.३९,६४, पं.६, ...ग.अं.३८, सारं.१
– सर्व अवतार के कारण अक्षरातीत पुरुषोत्तम नारायण (श्रीजीमहाराज) है ।.....ग.प्र.७८, ...वर.१२, ग.म.१३
– परोक्षपन से कही हुई उपासना की बात..................................पंचा.१
– भगवान के अक्षरधाम की प्राप्ति, दूसरे धाम की प्राप्ति से दुर्लभ है...सारं.११
– श्रीजीमहाराज अक्षरातीत पुरुषोत्तमनारायण अवतारी है......ग.प्र.२४,३१, ...कारि.८, ग.म.२, १३, २१, २८, ...ग.अं. ३१, ३५, ३६
– श्रीजीमहाराज के प्रति अवतारीपना की, निष्ठावाले को फल...........ग.प्र.५७,७८, ...पंचा.६, ग.म.९,१३, ग.अं.३५,
– अवतारीपना की बातो की विशेष महिमा और उस वार्ता समझने की श्रीहरिकी आज्ञा....ग.म.९,१३
– भगवान का अवतारी स्वरूप यथार्थ समझ में आया हो, उनके लक्षण
– स्वरूपनिष्ठामें खामीवाले को न्यूनता............................ग.म.९,१३
– स्वरूपनिष्ठा के बल का प्रताप.....ग.म.९
– स्वरूपनिष्ठा के आगे धर्म को गौण कहने का हेतु..................ग.म.९
– स्वरूपनिष्ठा रखने से धर्मनिष्ठा दृढता से रहेगी ग.म.१६
– श्रीहरि के सभी अवतार पूजनीय है ....ग.अं.३८, ग.प्र.३, ग.म.३५,६४

भगवान का सम्बन्ध तथा निवास

– भगवान का सम्बन्ध हुआ, कब कहा जाय.................... ग.प्र.६२
– भगवान का साक्षात् सम्बन्ध किसे है .... ग.अं.२७
– भगवान का सम्बन्ध कब होता है...ग.म.८
– भगवान के सम्बन्ध का फल (ऐश्वर्य).............................ग.प्र.६१
– भगवान के सम्बन्ध को पाता है वह निर्गुण है.........ग.म.८,१४, वर.१८
– भगवान के सम्बन्ध से सुख की प्राप्ति होती है.................................पंचा.१
– भगवान कैसे भक्त में निवास करके रहते ह ....ग.प्र.६८, प्र.२७, ५६, ग.अं.३५
– जिसके हृदय में भगवान का निवास हो, उसका सामर्थ्य..................... ग.प्र.२७

सत्संग

– सत्संग की महत्ता.....ग.अं.२, ग.म.९,५४
– निष्कामभाव से एवं आत्मसत्तारूप होकर सत्संग करने की आवश्यकता . ग.प्र.७०, ...ग.अं.२१

– सत्संग में वृद्धि कौन पाता है
............ग.प्र. १,६,२८,५३, ग.म.२६
– सत्संग दृढ़ कैसे रहता है......ग.प्र.५४,७८,
.....................लो.५,१७ ग.अं.१४,२१
– सत्संग प्रधान कैसे रहता है........ग.अं.२
– थोडी बुद्धिवाला सत्संग में दृढता से
कैसे रहता है....................... ग.अं.१४
– सभी साधनों से सत्संग अधिक जानने
में आया हो उनके लक्षण........ग.म.५४
– सत्संग पर प्रीति हो, उसके लक्षण...ग.प्र.५७
– सम्पूर्ण सत्संग हुआ किसे कहते है ?...लो.१
– सत्संग में बड़ा करने योग्य कौन ?
...ग.प्र.३१,३८,४१ ग.म.६१, वर.३,२०
– सत्संग होने के बाद दुर्लभ में
दुर्लभ साधन..........................लो.६
– सत्संग में प्रीति न होने के,
कम होने के और दृढ़ न रहने
के कारण......ग.प्र.१, ६, २८, ५३, ७८
.......................लो. ५, १७, म.२६
– अधिक बुद्धिवाला हो फिर भी
सत्संग से विमुख क्यों हो जाता है ?
.....................................ग.अं.१४
– सत्संग प्रधान क्यों नहीं होता ?....ग.अं.२
– सत्संग में आकर दूसरे पदार्थ में
स्नेह क्यों रहता है.................ग.अं.२
– अविवेक टालकर सत्संग में
बडप्पन पाने का उपाय............ग.प्र.६
– सत्संग में पडा रहा है फिर भी
पशु जैसा किसे जानें............ग.प्र.२१
– सत्संग का फल............ग.प्र.३०,७०,
..........................सा.९,१७,२१ म.९
– युवा अवस्थावाला कैसे रहे तो
उसका सत्संग पार उतरता है.....ग.अं.३२
– किसे सत्संग में से बाहर कर
दिया जाय ?.......................ग.प्र.१८
– सत्संग का दृढ़ पक्ष हो उसे फल...ग.प्र.७८
– सत्संग का पक्ष न हो उसे न्यूनता...ग.प्र.७८
– सत्संग में रहने पर भी
अक्षरधाम को कौन नहीं पाता है ?...ग.म.९
– सत्संगी किसे कहा जाय ? ..... ग.अं.३९
– परिपक्व सत्संगी के लक्षण.......ग.प्र.७६,
................कारि.९, ग.म.९, ग.अं.२१
– सत्संगी फिर भी विमुख..........ग.प्र.७६,
...........................वर.१८, ग.म.६०
– सत्संगी फिर भी आधा विमुख.....का.९,
.....................................ग.म.२६
– कैसा सत्संगी विमुख हो
जाता है ?............ग.प्र.७८, ग.अं.१२
– त्यागी तथा गृहस्थ सत्संगी को
अवश्य ही जानने की वार्ता........वर.१८
– अयोध्यावासी का ध्यान रखना......अम.३

कल्याण

– जीव का कल्याण कैसे होता है....वर.१०
– भगवान एवं संत की प्राप्ति,
वहीं परम कल्याण है ग.म.५९
– कल्याण के असाधारण साधन. ग.अं.३६
– कल्याण का मुद्दा ग.म.२१
– कल्याण का परम कारण...........का.१०
– कल्याण की रीति.......ग.म.२१,३२,७१
– एक भगवान के आश्रय से ही
कल्याण कैसे समझे ? ग.म.६६
– कल्याण का सुगम मार्ग..........ग.म.३५

– कल्याण की कहां इच्छा रखें ?.....सारं.७
– कल्याण के सभी साधन जिसमें आ जाय, ऐसा साधन...............वर.४
– कल्याण का एक बलवान साधन..ग.म.१२
– कल्याण के तीन अंग............ग.म.६२
– कल्याण की ईच्छा रखनेवाले को कैसे रहना ?.........ग.प्र.७८, सारं.१०, ...ग.म.१०,१२,१८,२७,४५,५९ ....वर.११, ग.अं.७,१२,
– कल्याण के मार्ग में जीवनडोरीरूप वार्ता ग.म.२८
– भक्त में स्नेहवाले का कल्याण होता है...............ग.प्र.७५, ग.अं.२७
– कल्याण के मार्ग में विघ्न किसे नहीं होता ?.................ग.अं.११,१२
– कल्याण के साधन में विघ्न....ग.अं.३६
– कल्याण के मार्ग में भेद का कारण...............................लोया.४
– किसका कल्याण नहीं ही होगा ?.........................ग.म.५९,६०
– बहुत बुद्धिवान होने पर भी कल्याण के मार्ग पर क्यों नहीं चल सकता ?..................... ग.प्र.३५
– थोडी बुद्धिवाला कल्याण के जतन में से क्यों पीछे हटता नहीं है........ग.प्र.३५
– कल्याण के जतनवाला कुशाग्रबुद्धिवाला है................ग.प्र.५०

आत्यन्तिक कल्याण (मोक्ष)

– आत्यन्तिक कल्याण किसे कहते है ?.........................कारि.७
– आत्यन्तिक कल्याण के चार साधन........................ग.प्र.१९
– मोक्ष का द्वार कैसे खुलें ?........ग.प्र.५४
– मोक्ष का हेतु (उपाय).....ग.प्र.५७, ७८, ...ग.म.६२
– मोक्षमार्ग के लिए जीवनडोरीरूप वार्ता ग.म.२८
– कैसे ज्ञान से आत्यंतिक मोक्ष होता है ?............................लो.७
– भगवान की प्राप्ति का एक बड़ा साधन .... लोया.१६
– आत्यंतिक मोक्ष के पांच साधन.........................सारं.११
– अक्षरधाम में भगवान की सेवा पाने के सोलह साधन .... ग.अं.२४
– मोक्ष के जतनवाले को स्वभाव जीतने का विचार.................ग.म.१५
– आत्यंतिक कल्याण की ईच्छा रखनेवाले को विषय की निवृत्ति का विचार................................ग.म.२
– मुक्त कौन होता है ? .... ग.प्र.१८
– आत्यंतिक मोक्ष पाने में बाधारूप खामियां...............सारं.११, ग.म.९,४६

भगवान का भक्त

– भगवान का भक्त कब होता है....वर.१९
– भगवान के भक्त के लक्षण ग.प्र.१९, २२, ३२, ४९, ७२, ५०, ५८ वर.५ ग.म. १०, २६, ३८, ४४, ५७, ६०, ६५ ग.अं. ३३, २५,
– भगवान के दास के लक्षण.......ग.प्र.१४
– उत्तम, मध्यम एवं कनिष्ठ भगवान के भक्त के लक्षण..................ग.प्र.७२
– सत्-असत् के विवेकवाले भक्त के लक्षण..........................ग.प्र.६,१६

– हरिभक्त में बड़ों के लक्षण......ग.प्र.३१,४१ ....वर.२०
– भगवान के भक्त को कैसे रहना है ? ग.प्र.४, १२,१८, २१,३२, ५६,७२,७४ ....ग.म.२२,२६,५६,५७,६०६२, ...लो.४, वर.१६, अं. १,१३,२३,३२
– भक्त को आत्मज्ञान और माहात्म्यज्ञान की आवश्यकता.....ग.प्र.२५
– परिपक्व हरिभक्त होने के उपाय...ग.प्र.५८
– भक्त ब्रह्मरूप हो और फिर भी भगवान एवं भगवान के भक्त के प्रति दया-स्नेह रहता है..............ग.अं.३
– सत्तारूप में रहा हुआ ऐसा जो निर्गुण भक्त, उसे भगवान में स्नेह होता है......................ग.म.४३
– भक्त को भगवान में निर्गुणभाव से स्नेह करने की समझ....ग.म.५७, पंचा.३
– भगवान के भक्त की क्रिया भक्तिरूप है और मोक्ष के लिए होती है............................ग.म.११
– भक्त को अविद्यारूप माया सुखदायी है..........................लो.१०
– भक्त को इस लोक-परलोक में सदा सुखी रहने के लक्षण......ग.अं.८, ३८, ...ग.म.४०
– भगवान के भक्त को सुख-दुःख क्यों आते हैं ?.........ग.प्र.३४, ग.म.६२
– भक्त की साधनदशा और सिद्धदशा के लक्षण................ग.म.१
– पूर्वजन्म के भगवान के भक्त के लक्षण ग.म.५९
– नयें आदरवाले (प्रारम्भवाले) भक्त के लक्षण ग.म.५९
– कैसे भक्त को देशकालादि से भी पराभव नहीं हता ?.............लो.१३, ग.प्र.२३, ...ग.म.२४,३०, वर.२०, ग.अं.२६
– भक्त को रसिकमार्ग के द्वारा भगवान को भजने की रीति.......ग.म.३, ...ग.अं.२२
– भक्त को आत्मज्ञान कैसे समझना है...........................ग.म.३
– सच्चे और झूठे रसिक भक्त के लक्षण .... ग.प्र.२६
– निष्काम भक्त के लक्षण .... ग.प्र.४३, ...ग.अं.२५,२८
– निष्काम भक्त को प्राप्ति.........ग.अं.५, ...ग.प्र.४३
– सकाम भक्त के लक्षण .... ग.प्र.३४
– सकाम भक्त को प्राप्ति.......ग.अं.५,२५
– भक्तपना में न्यूनता....ग.प्र.२४,४९,७२,५६ ....ग.म. ३८, २६, ६०, ग.अं.२२
– दंभी भक्त के लक्षण .... ग.प्र.२५
– कायर भक्त के लक्षण ग.म.२२
– प्राकृत भक्त के लक्षण...ग.प्र.१४,२१, ३८, ...ग.अं.२४,३३
– बिल्ली जैसे भक्त के लक्षण......ग.म.५७
– अविवेकी भक्त के लक्षण.....ग.प्र.६, २६, ...वर.१९
– कैसी समझ रखनेवाले भक्त का, कभी भी संग न करें ? .... ग.अं.३२
– कैसा भक्त सदा दुःखी रहता है ?.ग.अं.८,३८
– कैसे लक्षणवाले हरिभक्त के साथ श्रीहरि को बनती नही है ?.......ग.प्र.७६

– आत्मनिष्ठा एवं वैराग्यवाला भक्त, प्रमीभक्त से श्रेष्ठ है................सारं.१५
– ब्रह्मरूप होकर भगवान को भजते है, वे मायिक उपाधिवाले ऐसे प्रीतिवाले से श्रेष्ठ है..............................अम.२
– स्नेह से भगवान में जुड़ा हुआ हो वह क्रोध एवं भय से जुड़ा हुआ हो, उससे श्रेष्ठ है .... ग.अं.१४
– भगवान के भक्त का अंतकाल में कल्याण ही होता है.........ग.प्र.१४,७७, ...लो.३, अं.४
– भगवान के भक्त को जीते जी क्या प्राप्ति होती है ग.म.६६
– भगवान के भक्त को देह छोडने के बाद कौनसी प्राप्ति होती है ?.ग.प्र.१,१२,२१ ....ग.म.३१,६६, अं.१०,२२
– भक्त को स्वामी-सेवकभाव रहता है............................ ग.म.६७

एकान्तिक भक्त

– एकान्तिकपना किसे कहते है ?.....लो.६
– एकान्तिक भक्त के लक्षण..... ग.प्र.११, ग.प्र. १५, १९, २१,३८,४७,६०,६६, लो.६ ....ग.म.१,९,२२,३८, ४८, ५५, ६५ ....वर.३, अं.३३,
– एकान्तिक का धर्म, एकान्तिक से ही प्राप्त होता है .... ग.प्र.६०
– परम एकान्तिक के लक्षण.............वर.३
– एकान्तिक भक्त की भगवान को वश करने की रीति.............................ग.प्र.६१
– धर्म, वैराग्य, आत्मज्ञान एवं महिमा सहित भक्तिमें से किसी समय गीरे नहीं उनके लक्षण................ ग.म.१५
– एकान्तिक को भगवान बिना दूसरी कुछ ईच्छा नहीं रखने सम्बन्धि समझ ग.म.२२
– काल, कर्म के योग से, नियम बाहर रहना पड़े, तो भी एकान्तिकपना रहे, ऐसे भक्त के लक्षण............ ग.अं.१३
– एकान्तिक को भगवान या संत का अभाव आता है, यही मरण है...ग.म.४६
– बहुत बड़े हो, उसमें कसर दिखाई देने का कारण.............ग.अं.१४, लो.६
– एकान्तिक के दृढ़ प्रसंग का फल ....ग.प्र. ५४,६० सा.७, ग.म.१४
– भगवान में अभी प्रवेश रहा हो, ऐसे एकान्तिक भक्त के लक्षण...ग.अं.३३
– एकान्तिक भक्त को प्राप्ति..... ग.प्र.२१, ...ग.म.३८, ग.अं.३३
– एकान्तिक भक्त किसे नहीं कहा जाय............................वर.१

धर्म

– धर्म उत्पन्न होने का हेतु...........लो.९
– धर्म की प्रवृत्ति का कारण.......सारं.१३
– वर्णाश्रम के धर्म की स्थापना सप्तर्षि आदि भी करते हैं.......सारं.१०, कारि.५, ...ग.म. २७,४५,४६, ग.अं.२१,
– धर्म का प्रतिपादन......ग.प्र.१८,४४,५३,७६ ग.प्र.७७,७८ लो.१,४, पंचा.१, ग.अं.३१
– धर्म में कब रहा जाय ?.........ग.म.३५, ...ग.अं.२९
– धर्मवाले के लक्षण.......सा.१०, ग.अं.८
– एक रखने से सभी धर्म रहते है, ऐसा धर्म सम्बन्धित एक साधन....लो.६

– आपतकाल में भी धर्म में से डिग न जाय, उसके लक्षण.......... ग.प्र.५४, ...अं.२४,२६
– धर्म पालने में बाधारूप दो अंग....ग.अं.२६
– आत्मनिष्ठा एवं भगवान की महिमावाला कैसे समझता है, तो धर्म में रहा जाय....ग.अं.२६, ग.म.४
– कितना भी बड़ा हो तो भी संगदोष से धर्ममें से गिरता है .... ग.प्र.१८, ...ग.म.३०, ३५ ग.अं.२४,३३
– केवल वर्णाश्रम के धर्म का फल............ग.अं.२१, ग.म.२१
– हिंसामय और अहिंसामय धर्म तथा उनके फल के प्रकर............ ग.प्र.६९
– स्वधर्म न हो, उसे न्यूनता ...... ग.प्र.१९, ...सारं.९, लो.१, ग.म.३५
– अकेले स्वधर्म से न्यूनता....ग.प्र.१९, २५ ....ग.म.३५
– दंभयुक्त वर्तमान हो, उसे कैसे जाना जाय ?.................लो.५
– कौनसा घाट धर्ममें से गिराये और कौनसा घाट न गिराये ?............लो.५
– स्वरूपनिष्ठा के आगे धर्म को गौण कहने का हेतु......................ग.म.९
– धर्मवाले को भगवान के दर्शन न होने का हेतु........................वर.१४
– अधर्मी के लक्षण...................सा.१०

निष्कामी वर्तमान

– निष्कामी वर्तमान की महत्ता..........लो.६
– निष्कामी वर्तमान श्रीहरि को अतिशय प्रिय है ? ग.म.३३
– निष्कामी वर्तमान के भंगसे श्रीहरि अतिशय नाराज होते है
– निष्कामी वर्तमान अतिशय दृढ़ होने के उपाय.....ग.प्र.७३, ग.म.३३

आज्ञा-नियम

– नियम पालना, यह परिपक्व सत्संगी के तीन अंगोमें पहला अंग है...... ग.म.६१
– नियम में रहने की आवश्यकता ग.म.३५,५१
– नियम में रहने का फल.............लो.५ ....ग.म.१६, ५१, ग.अं.३४
– नियम में न रहे उसे न्यूनता......ग.प्र.३४ ....ग.म.१६
– नियम की शिथिलता श्रीहरि को प्रिय नहीं है .... ग.अं.२६
– आज्ञा पालने का महत्त्व......ग.प्र.३१, ७३, ...लो.४,६
– भगवान की आज्ञा कब न पाले....लो.६, ...सा.९
– वचन किस प्रकार से ठेले ?........सा.२

आत्मनिष्ठा

– आत्मनिष्ठा को कैसे जाने........ग.प्र.४४ ....सा.१,४,१२, लो.१०, पंचा.३, ...ग.म.३५, ५५, ५७ ग.अं.२२,३९
– आत्मनिष्ठावाले के लक्षण........ग.प्र.४७, ...ग.म.६२
– आत्मा-अनात्मा के विवेक का कारण .... ग.प्र.५६
– आत्मसत्तारूप में रहने की आवश्यकता....................... ग.अं.२१

– आत्मसत्तारूप में रहते है, उनके लक्षण ग.म.५७
– आत्मनिष्ठा का फल.........ग.प्र.२५,६१, ...सा.१,१४,१५, लो.६,१७ ....ग.म.२,३२,३५ अम.२, ...ग.अं.१,२०,३९
– आत्मनिष्ठा न हो, उसे न्यूनता ....ग.प्र.१९,२५,६१ सा.१५, लो.६, ...ग.म.६५, ग.अं.१,२१,३९
– समझ की कसरवाले को न्यूनता ....ग.प्र.४४, सा.४, पं.३, अं.३३
– आत्मनिष्ठा में न्यूनतावाले को प्राप्ति में खामी.................................सा.११
– किसे आत्मनिष्ठा रखे बिना रहती है ? .... ग.अं.२२
– गुण का मान, यह आत्मनिष्ठा में खामी है ? .... ग.प्र.५६
– आत्मनिष्ठावाले को किसकी अपेक्षा है ?...........ग.प्र.६१, ग.म.६५
– केवल आत्मनिष्ठावाले को न्यूनता ....ग.प्र.१९, ग.म.६५, ग.अं.३
– सत्तारूप में रहा ऐसा जो निर्गुण भक्त, उसे भगवान में प्रीति होती है ?...ग.म.४३
– जीवात्मा, ब्रह्मरूप हो जाय फिर भी भगवान और भक्त में दया और स्नेह रहता है........................ग.अं.३
– देह का एवं आत्मा का भेद जानने के बाद देहाभिमान होता है या फिर कैसा ?..........................सा.२
– मोक्ष के लिए ब्रह्मज्ञान कैसे समझें ? ग.म.३,३०,५०
– कैसे ब्रह्मज्ञानी को मोक्षमार्ग में से गिरा हुआ जाने ?.........लो.७, ग.म.३

(वैराग्य)

– वैराग्य का रूप........ग.प्र.४४, ग.म.९०
– वैराग्य की उत्पत्ति का हेतु....ग.प्र.१२, ५६, ...लो.९, कारि.७ ग.अं.१४,३९,
– नाश न हो ऐसे वैराग्य की उत्पत्ति का हेतु.........ग.प्र.७३, सा.१८ ....ग.अं.२४,
– वैराग्यनिष्ठा के लक्षण .... ग.प्र.४७
– उत्तम, मध्यम एवं कनिष्ठ वैराग्य के लक्षण.....................ग.प्र.२, लोया.१
– वैराग्यवान को करने का अखण्ड विचार ग.म.५५
– वैराग्यवान एवं धर्मवाला किसे जाने ?.......................ग.अं.९
– वैराग्य का फल.....सा.१, का.७, ग.अं.१
– वैराग्य न हो, उसे न्यूनता.....ग.प्र.१९, ३४, ...ग.म.७, ग.अं.१
– केवल वैराग्यवाले को न्यूनता .. ग.प्र.१९, ...ग.म.६५
– कैसा वैराग्य नाश होता है ?..कारि.७, सा.१८
– वैराग्यवान को भी पदार्थ स्फूरते है...ग.म.६
– वैराग्य है, ऐसा कब पता चले ?...ग.प्र.७४
– मंद वैराग्यवाले को कैसे रहना ?...ग.अं.२९, ...ग.म.१६
– वैराग्यहीन को विकार टालने का उपाय.................................ग.म.७

(भक्ति)

– भक्ति का रूप..................ग.प्र.४०, ...ग.म.१०, वर.१७
– भक्ति के उत्पत्ति के हेतु...ग.प्र.१२, लो.९
– भक्ति का प्रतिपादन......कारि.९०, लो.७, ...ग.म.१८,१९,६५,६६, ग.अं. ३०,३५,३९

– भक्ति का दुर्लभपना और भक्ति ही परमपद है ग.म.१०
– भक्ति किसे करनी ? .... ग.अं.३९
– भक्ति किस तरह करनी ? ...... ग.अं.६, ...ग.म.२८,३२,४१,५२
– भक्तिवाले के लक्षण....ग.प्र.१५, ग.म.१०
– भक्तिवाले को कैसे रहना है ?...ग.प्र.६१, ...पंचा.३, ग.म.३२ ग.अं.३३,
– भागवतधर्म और भक्ति एक ही है...ग.अं.२१
– भागवतधर्म निष्ठावाले के लक्षण .... ग.प्र.४७
– भागवतधर्म का पोषण कैसे होता है ?.......................... ग.प्र.५४
– भक्ति की वृद्धि कैसे होती है ?..ग.प्र.५८
– भक्ति अचल कैसे रहे ?.........ग.प्र.७८
– भक्तिनिष्ठा के लक्षण.............ग.प्र.४७
– एकान्तिक भक्ति के लक्षण........पंचा.३
– पतिव्रता की भक्ति के लक्षण . ग.प्र.२६, ...लो.११, ग.म.१,५,६२ ग.अं.१६
– माहात्म्य सहित भक्ति का महत्व और उसके लक्षण..........................वर.३
– माहात्म्य सहित भक्ति होने का उपाय.........................वर.३, ग.अं.५
– दासत्व भक्ति के लक्षण ग.म.६२
– प्रत्यक्ष की भक्ति यही कल्याण का कारण है ग.म.३२
– भक्ति किसकी करें ? ग.म.१९
– भक्ति की प्रधानता......ग.म.१०,२६,२७
– भक्ति में कब विघ्न न हो ? ....ग.म.३२,६५, ग.अं.५,२१,३३
– भक्ति में कब विघ्न होता है ?.....सा.५, ग.अं.८,३३,३६ लो.४
– श्रवणभक्ति को श्रेष्ठ कहने का हेतु....................ग.अं.२४, कारि.१२
– कौनसे अंग में रहकर भक्ति करनी ?..............ग.अं.१४,१५ लो.८
– कौनसा भक्त कथा-कीर्तन नहीं करता है, तो भी श्रेष्ठ है ?...... ग.प्र.७८
– भगवान की कथा आदि में स्नेह होने का और न होने का हेतु.....ग.प्र.७८
– दासभाव एवं सखाभाव की भक्तिमें एक ही प्रकार है.................ग.अ.२२
– भक्ति में से गिरने के दो प्रकार...ग.अं.२८
– भक्तिवाले को धर्म की आवश्यकता ....ग.प्र.१९, ७७ ग.म.३५
– भक्ति करते हुए पाप होता है, वह वज्रलेप होता है.................अं.२२
– ज्ञान और भक्तिवाला कैसे समझे तो धर्मभंग नहीं होगा................ ग.अं.२६
– भक्ति करते हुए अपराध हो जाय तो भूल जीव की ही है...............ग.अं.६
– आत्मदर्शन होने के बाद भक्ति में गौणवृत्ति हो जाय, उस खोट टालने का उपाय ग.म.६६
– भक्ति का फल .... ग.प्र.१४, ...कारि.१-६, ग.अं.१६,२१
– महिमा सहित भक्ति का फल......ग.प्र.६१ ....सा.५, ग.अं.११,
– प्रेमलक्षणा भक्ति का फल ..... ग.प्र.५६, ...ग.अं.२२
– भक्ति रहित को न्यूनता.....ग.प्र.१९, सा.५, ...लो.७, ग.म.६५
– भक्तिवाले को दूसरे गुण की न्यूनतासें प्राप्ति में खामी........ ग.प्र.१९

प्रकट भगवान और संत

- प्रकट भगवान और संत ही कल्याणकारी ....ग.म.३२, वर.१०,१८ ग.अं.३६,
- प्रत्यक्ष भगवान की प्राप्ति, वह ही परमपद है..................ग.म.८
- प्रकट भगवान और संत दिव्य है ग.प्र.६३-७१-७३-७८ लो.११, ग.म.४७
- प्रगट की प्रतीति के लिए श्रीहरि का आग्रह..........................ग.अं.२,२१
- प्रत्यक्ष भगवान की महिमा सहित निश्चय की आवश्यकता............ग.म.२
- प्रकट भगवान और संत के योग से ही संस्कार होते है.....व.१९, ग.अं.२
- प्रकट भगवान का अलौकिक सामर्थ्य................................वर.६
- प्रकट भगवान के सम्बन्ध से निर्गुणता............................ ग.म.१३
- प्रकट भगवान को दिव्य समझने का फल.......................गम.६६, वर.५
- प्रत्यक्ष भगवान की प्रतीति एवं आश्रय का फल..............ग.अं. २,७
- प्रत्यक्ष में प्रतीति न हो, उसे न्यूनता.....................ग.अं. २,७
- प्रकट भगवान और मायिक आकार में फर्क................ग.प्र.२४, ग.म.१३,४९
- प्रकट भगवान मे दोष देखनेवाले को पाप................................ग.प्र.२४

भगवान का आश्रय

- आश्रय का रूप......................वर.५
- दृढ़ आश्रय के तीन भेद के रूप...ग.प्र.३३
- आश्रय का महत्व......ग.प्र.३३, ग.म.६६
- भगवान को मूर्तिमान समझकर आश्रय करना ग.म.१०
- अचल आश्रयवाले की समझ....ग.म.१७
- दृढ़ आश्रयवाला इस तरह रहें.......अं.३७
- आपतकाल में भी आश्रय न डिगे, उसके लक्षण....................... ग.अं.३५
- दृढ़ आश्रय का फल..............ग.अं.७
- पंडित को आश्रय बिना न्यूनता.....वर.११
- भगवदाश्रय के बल का प्रताप......ग.म.९

भगवान के चरित्र

- भगवान के चरित्र कहने-सुनने की श्रीहरि की आज्ञा.........ग.प्र.३, ग.म.३५
- परमहंसों को भी रसिक चरित्र गाना-सुनना.........ग.प्र.७२,७३, ग.म.१०
- चरित्रयुक्त कीर्तन गाना-सुनना, भगवान के चरित्र मे संशय न हो ऐसी समझ.............ग.प्र.७८, ग.म.१७
- सभी चरित्र दिव्य-कल्याणकारी जाने ....ग.प्र.७२, ग.म.१०
- चरित्र का सांप्रदायिक शास्त्र, वह पुष्टि का हेतु ग.म.५८
- लीलाचरित्र स्मृति का फल...........ग.प्र.३, ...ग.म.३५
- चरित्रों को दिव्य जानने का फल....ग.म.१०
- भगवान के आचरण जैसा आचरण करता है, वह विमुख................व.१८
- चरित्र मे दोष दिखाई दे, वही माया है ग.म.६५
- चरित्र में दोष देखनेवाला अधर्मी....ग.म.५३

भगवान में प्रीति

- प्रीति का लक्षण.....ग.प्र.४४,५७, का.११, ...ग.म.५६-५७, ग.अं.१४

– प्रीति करनी यह सभी शास्त्र का सिद्धान्त है......................... ग.अ.३९
– प्रीति होने का कारण......ग.प्र.८,४४,५९, ...ग.अं.३९
– भगवान में प्रीति करने की समझ ....ग.प्र.७८, वर.१६
– ब्रह्मस्वरूप होकर प्रीति करनी ....ग.म.४३, ५७, पंचा.३
– विषयसुख के लिए की गई प्रीति ठीक नहीं..........................पंचा.३,
– स्नेह के अंगवाले के लक्षण.......ग.अं.१
– दृढ़ आसक्तिवाले के लक्षण......ग.म.२९
– भगवान में स्नेह किसे होता है....ग.म.३३
– तीव्र वेगसे स्नेह होने का उपाय.....लो.१०, ...ग.म.२९, अं.२३
– भक्ति में अधिक सामर्थ्य ग.म.१०
– भगवान और भक्त को परस्पर स्नेह होने का उपाय.................सा.२
– दृढ़ प्रीतिवाले की समझ .... ग.अं.१३
– दृढ़ प्रीति न होने का कारण ... ग.प्र.४४, ...ग.अं.२
– अनिष्ट कर्म के पाशवाले को दृढ़ प्रीति का उपाय .... ग.अं.१४
– महिमावाले की प्रीति जानने का उपाय ....ग.प्र.५९, लो.२, ग.म.९, ग.प्र.४२
– प्रीति से वैराग्य-विवेक की प्राप्ति...ग.अं.१४
– समझदारी बिना की प्रीतिवाले को खामी ....सा.१, १५, १८
– गोपीयां की प्रीति समझदारीवाली थी ....सा.१५
– किसकी प्रीति नाश नहीं हो पाती ? ....सां. १५-१८
– वैराग्य बिना के प्रेमी को रहने की रीति.................................सा.१५
– कौनसा स्नेह नाश हो सकता है......सा.२
– प्रीतिमें विघ्न ग.म.५६
– भगवान बिना अन्यत्र प्रीति करनेवाला तुच्छबुद्धि........................... ग.म.५७
– भगवान बिना अन्यत्र स्नेह करनेवाले को न्यूनता .... ग.अं.१७

भगवान के स्वरूप में वृत्ति

– भगवान में वृत्ति रखने की आज्ञा ....ग.प्र.२१,२२,२३
– मूर्ति में वृत्ति स्थिर होने का उपाय....ग.प्र.२२
– मूर्ति का चिन्तन करने का विवेक ....ग.प्र.२१,२३
– अखण्डवृत्ति के उपाय ....ग.प्र.१८,२५,३०,३४,४९ कारि.९
– मूर्ति में वृत्ति किसकी रहती है ? ....ग.प्र.३४, ग.म.४,३६
– अखण्ड वृत्तिवाले के लक्षण ... ग.म.४८
– अखण्डवृत्ति का फल.........ग.प्र.१, ग.प्र. २३,२४,२५,२६ ग.म. ४,३६,४८,५९
– अंतकाल में मूर्ति की स्मृति का उपाय.................................ग.प्र.३
– अखण्डवृत्ति क्यों रहती नहीं है ? ....ग.प्र.४,३४,४९
– अखण्डवृत्ति न रहे, गउसे क्या करना ग.म.४८
– अखण्डवृत्ति बिना न्यूनता...........प्र.२३
– मूर्ति बिना दूसरा चिन्तन पाप.....ग.अं.१७, ...ग.म.४८,४९

भगवान का ध्यान

– ध्यान का प्रतिपादन......ग.प्र. ५,१५,३२ ....ग.म.१८, पंचा.२, ग.अं.१३
– किसे ध्यान करना है ?....ग.म.१९, लो.११
– ध्यान कब करें.....ग.प्र.३२, सा.९, लो.१०
– रजोगुण-तमोगुण रहते हो, उसे क्या करना.......................सा.९
– ध्यान करनेवाले को संकल्प टालने का उपाय........................सा.१२, लो.६
– ध्यान करनेवाला आत्म स्वरूप रहे....................................वर.८
– ध्यान करनेवाले योगी को मूर्ति धारण करने की रीति.......................वर.४
– ध्यान करनेवाले योगी को निद्रा......वर.८
– ध्याता को प्रत्यक्ष एवं अक्षरधामस्थ मूर्ति की एकता.................. ग.अं.३१
– चमत्कारी ध्यान अम.३,
– ध्यान का फल........ग.प्र.५, कारि.१, १२, ...लो. ५,१८ ग.म.३५, ग.अं.३७

संत महिमा

– संत महिमा कैसे समझे...ग.प्र. ६३,६८,७८ ....सा.७, ग.म.२१,५९
– जिस संत के हृदय में भगवान रहे है, उनके लक्षण.......ग.प्र.२७,५६ ग.अं.३५
– संत के आश्रय से कल्याण..... ग.म.५९, ...वर.४,१०
– सत्पुरुष के प्रसंग का फल .... ग.प्र.४४, ...ग.अं.२
– भगवान की तरह सेवा करने योग्य संत .... ग.अं.२६
– भगवान और संत की समान सेवा का फल..................................वर.५
– संत महिमा से दोष निवृत्ति.....लो.१६,१७, ...अं.२८
– संत सेवा की दुर्लभता ग.म.५९
– संत सेवा का फल....ग.म.२५,६३ ग.अं.३५
– संत के द्रोह का पाप....वर.१४, ग.अं. ३५
– संत में आत्मबुद्धि की आवश्यकता ग.म.५४
– संत के साथ स्नेह एवं उसका फल ग.म.५९
– संत के गुण से पुण्य...............वर.१४
– संत के अवगुण से विमुख..........लो.१
– संत को प्रसन्न करने का फल...ग.प्र.५८
– संत को अप्रसन्न करने का पाप ग.म.४५, वर.११
– संत की महिमा प्रतिदिन अधिक कैसे जानने में आये .... ग.प्र.७८
– संत की महिमा अखण्ड कैसे रहे....ग.अं.१४
– पंडित को संत महिमा के अभाव का कारण................................वर.११
– संत की मर्यादा नहीं रखता है उसे .... ग.प्र.६८
– संत-श्रीहरि की प्राप्ति, फिर भी कल्याण में डगमगाहट का कारण ग.म.५९
– सभी संतों को स्नेह कैसे रहे......ग.प्र.७८

संत समागम

– संत का रूप .... ग.प्र.७८
– संत समागम की महत्ता......ग.प्र.१४,१८, ...ग.अं.१
– संत समागम की श्रेष्ठता (महत्ता)....सा.७
– संत समागम आश्चर्य समान कैसे रहे ....सा.७, लो.६, ग.म.४८, ग.अं.१

– कैसे संत का संग करे.....लो.४, ग.अं.३१
– संत की कैसी कुत्सित वाणी अमृत समान पान करनी............लो.६
– बाल एवं यौवन अवस्थावाले किसका संग रखें .... ग.अं.१४
– कैसे साधु की बात नहीं सुननी और संगत नहीं रखनी...........लो.६, ग.प्र.९
– कैसे साधु का संग न करें..........लो.६, ...ग.अं.११,१२,३२
– संत समागम का फल.........ग.प्र२१,७०, ...सा.७,१८
– संत समागम करने पर भी मलिन स्वभाव क्यों आता है.......सा.१८
– समागम में रहने पर भी, वृद्धि न होने का कारण.............लो.४

महापुरुष

– बड़े पुरुष के लक्षण............ ग.म.४९
– सत्पुरुष में स्नेह यही आत्मदर्शनादि का साधन है.........................वर.११
– सत्पुरुष के प्रसंग का फल .... ग.म.४४, ...ग.अं.२,५
– अतिशय बड़े हो, उनमें कसर जानने में आने का कारण.....................ग.अ.१४, लो.६
– बड़े पुरुष के गुण ग्रहण करने का और उसे निर्दोष समझने का फल...प्र.७३,सा.८
– बड़े पुरुष में दोष देखने का पाप...सा.१८
– बड़े पुरुष की प्रसन्नता का फल....ग.म.२७
– बड़े पुरुष के कोप से जीव आसुरी हो जाता है.................ग.म.२७, वर.१५
– बड़े पुरुष प्रसन्न कैसे हो....... ग.प्र.१८, ...ग.म.२७
– बड़े पुरुष की सेवा का फल.. ग.प्र.५५, ...ग.म.७, ४५,५९, ग.अं.३

भक्त की महिमा

– भगवान के भक्त का माहात्म्य कैसे समझे......का.७, लो.१६, ग.अ.२७
– भगवान के भक्त के साथ दृढ़ प्रीति जोड के रखे.........ग.म.६०, ग.अं.१३,३७
– भगवान के भक्त की सेवा का फल...........ग.म.२८, ग.म.६३, सा.२
– भगवान के भक्त को द्रोह का पाप .....ग.प्र.७१, ग.म.२८,४०,६३, ग.अं.२२
– भगवान के भक्त में स्नेहवाले का कल्याण होता है.......ग.अं.२७, ग.म.५७
– भगवान के भक्त के साथ वैर करनेवाला नरकमें जाता है....ग.म.६०
– भगवान के भक्त का अवगुण लेने का पाप .... ग.अं.२२
– भगवान के भक्त का पक्ष रखने का प्रताप...............................ग.म.६०
– भगवान और भगवान के भक्त की महिमा तथा पक्ष.............ग.म.६०,६१, ...ग.अं.२१,२२
– भगवान के भक्त को वादविवाद करके जीतने का पाप .... ग.अं.२१
– भगवान के भक्त पर कुदृष्टि करने का पाप वज्रलेप होता है............ ग.अं.१२
– नर-नारी आपसमें (परस्पर) माहात्म्य समानता से समजें..............ग.अं.२४
– भगवान के भक्त की महिमा, भक्त हो वही जानते है......... ग.म.१७
– भगवान के भक्त के आश्रय का फल .... ग.अं.६२

- भगवान के भक्त में आत्मबुद्धि का फल .... ग.अं.११

गृहस्थ

- अतिश्रेष्ठ गृहस्थ के लक्षण, सच्चे गृहस्थ हरिभक्त की समझ, गृहस्थ में बड़ो के लक्षण ग.म.६१
- गृहस्थ को आज्ञा.........ग.प्र.३८, ग.म.३५,
- गृहस्थ को शोभारूप और दूषणरूप..........................ग.म.५२
- कैसे गृहस्थ को प्राकृत भक्त कहते है............................ ग.अं.२४
- गृहस्थ को भगवान में अखण्डवृत्ति रखने की समझ......................का.७
- गृहस्थ बलवान न हो उसे रहने की रीति...................................का.७
- गृहस्थ को दिनभर में हुआ पाप, कैसे भस्म होता है ग.म.६२
- कैसे गृहस्थ पर भगवान अति प्रसन्न होते है.............................. ग.म.२५
- गृहस्थ को जीवनमोक्ष का उपाय....ग.म.६२
- निर्वासनिक गृहस्थ की देह छोड़ने के बाद गति................................ग.म.२५

त्यागी (साधु)

- सच्चे त्यागी के लक्षण.....का.३,ग.म.२३
- साधु को कैसे रहना है......सा.७, का.३,१० ....लो.१४, ग.म.२
- त्यागी को आचरण की खामी से न्यूनता.................का.७, ग.म.४७,६०
- साधुमें कौनसे गुण अखण्ड रहते है, और कौनसे गुण आते-जाते रहते है, एसे है................................सा.१२
- त्यागी को पदार्थ की सेवा द्वारा भगवान को प्रसन्न करने में बाधा...का.१०
- त्याग किसे कहते है........म.५७, लो.१४
- एकादश स्कंध में कहे हुए संत के तीस लक्षण आने के उपाय.......ग.प्र.७८
- त्यागी को इस लोक-परलोक में सुख का हेतु........................का.१०
- बड़ो को भी स्त्री-धनादिक पदार्थ के संग का दोष बाधा बनता..........प्र.१८, ...म.३०,३५ अं.२४,३३
- सुवर्ण और स्त्री किसे बंधन नहीं करते.............................म.३०
- स्त्री-धन आदि पदार्थ से बचने का उपाय.................................अं.३३
- त्यागी को प्रवृत्तिमार्ग में रहते हुए निर्विकार रहने का उपाय.............वर.१७
- निवृत्ति मार्गवाले त्यागी से, सेवा के लिए प्रवृत्तिवाला त्यागी श्रेष्ठ है..............ग.प्र.३१, वर.७
- वासनावाले त्यागी से वासनावाला गृहस्थ बहुत श्रेष्ठ है................ग.प्र.१४
- विषयभोग में वृत्तिवाले सांख्ययोगी से वैसी वृत्तिवाला गृहस्थ अच्छा......ग.अं.२७
- सवासनिक त्यागी और निर्वासनिक गृहस्थ की गति में अधिक न्यूनता...म.२५
- भगवान के निश्चय बिना के त्यागी की गति................................ग.म.१४
- संसार त्याग किसे करना .... ग.अं.२७
- मंद वैराग्यवाला त्यागी कैसे धर्म में रह सके .... ग.अं.२७
- संत में न्यूनाधिकपना रहने का कारण.................................लो.८

– साधु को रखने की रीति............म.४७
– त्यागी में बड़ों के लक्षण......प्र.२७, ६१, ...का.३
– साधु की महिमा..........सा.१०, म.२२
– बीमार साधु की सेवा और कृतघ्न का त्याग .... ग.प्र.१०
– कैसे त्यागी को प्राकृत भक्त कहा जाय...................ग.प्र.१४, ग.प्र.३६
– कैसे त्यागी पर भगवान अति प्रसन्न होते है..........ग.प्र.१४, म.३३, वर.१७

अवगुण ग्रहण

– हरिभक्त का अवगुण न लेने की श्रीहरिनी आज्ञा......................अं.२१
– अवगुण आया ऐसा कब कहा जाय..................................म.४४
– अवगुण कब लिया जाय...........अं.६१
– अवगुण आने का हेतु (और अवगुणमें से द्रोह होता है) ....म.४४, लो.१,१६,१७ ग.अं.३७
– श्रीहरि का किसे अवगुण आता है...अं.१७
– सुज्ञ को भी अवगुण आने का हेतु..लो.१८
– अवगुण लेनेवाले मूर्ख के लक्षण....लो.८
– अवगुण लेने का पाप.........म.३६,३८
– अवगुण न आने के उपाय (हेतु) .... का.७, लो.१७, ग.अं.१
– अवगुण आया हो उसे टालने के उपाय.................................लो.१
– अवगुण न लेनेवाले की धर्म और वैराग्यवालो से विशेषता और अवगुण लेनेवाले के संग का निषेध ....अं.११,१२
– भगवान मे अवगुण कौन ठहराता है...लो.१८

गुण ग्रहण

– हरिभक्त का गुण कैसे लिया जाय....म.२६
– गुण लेनेवाले का अतिशय प्रीति सहित समागम करे.................अं.११
– गुण लेनेवाले का फल.......ग.प्र.६,२८, ...लो.३, म.३८
– गुण न ले; उसे न्यूनता..............लो.५

द्रोह

– द्रोह न करने की श्रीहरिकी आज्ञा....म.४०, ...अं.३२
– द्रोह किस वजह से होता है......लो.१६,१७, ...म.१.४०
– द्रोह होने का श्रीहरि को डर........म.६०, ...लो.१६, अं.२२,
– द्रोह का पाप....................प्र.६२,७१ ....म.२७,२८,६३ अं.१२,२२,४०
– भक्तादिक का द्रोह करनेवाले पर श्रीहरि का कटाक्ष..............म.२४, ६०
– साधु के द्रोह का अधिक पाप का कारण................................अं.३५
– गरीब के द्रोह का पाप .... ग.प्र.६२, ...वर.११
– द्रोहबुद्धि कैसे टले..................अं.२२
– द्रोह का पाप कैसे नाश हो.........म.४०, ...अं.२२,

सेवा

– भगवान के भक्त की सेवा करने की श्रीहरि की आज्ञा...........म.२४, अं.१२
– सेवा का महत्व (गौरव).....म.२४,६२,६३,
– मान, ईर्षा रहित और श्रद्धा सहित सेवा करें........................म.४१, ५२

– सच्चे सेवक के लक्षण..............अ.१
– सेवा किससे होती है.................म.४०
– सेवा बहुत पुण्यवाले को मिलती है.....म.५९

सेवावाले का माहात्म्य

– सेवा का फल.......म.२३, २८, ४०, ६३
– मनुष्य भक्त की सेवा अंगीकार करने का भगवान का हेतु...... ग.प्र.१८, ...ग.म.५५, ग.अं.२१
– भगवान और उत्तम भक्त की समान सेवा करने का फल..........वर.५
– कैसे संत भगवान की तरह सेवा करने योग्य है.......................अं.२६
– कैसे साधु की सेवा से भगवान की सेवा समान फल होता है..........अं.३५

देह और देह के सम्बन्धी

– देह के सम्बन्धी में प्रीति न रखने की आवश्यकता........अं.३७, १२
– सम्बन्धी में स्नेह का फल...म.३२,३९,५९ ....अं.१
– अहं-ममत्व की निवृत्ति का उपाय म.३२, ३५
– अहं-ममत्व की निवृत्ति का फल ....म.३७, अं.३७
– देह और देह के सम्बन्धी में स्नेहवाले को न्यूनता...............म.४४, ...अं.१२,२४,३३,३८
– सम्बन्धी में स्नेहवाले त्यागी को न्यूनता..............................अं.१९

वासना

– वासना का रूप....................अं.१०
– वासनावाले का लक्षण.............अं.१८
– वासना टालने की आवश्यकता.....सा.११
– वासना टालना यह साधन बड़ा है...ग.प्र.६०
– वासना टालने के उपाय........सा.५, म.२५, ...ग.अं.३४
– वासना टालने की रीति........ग.प्र.३४,६०
– मन से निर्वासनिक होने की आवश्यकता..................ग.प्र.१८,३८
– वासना निर्मूल होने का उपाय......लो.१६
– इस देह से ही कसर मिट जाने का उपाय....................,.सा.११
– वासना का जोर कब तक रहता है.....अं.१८
– निर्वासनिक होने की बात किसे समझ में आती है.................ग.प्र.१८
– निर्वासनिकता किसके द्वारा प्राप्त होती है.............................ग.प्र.३८
– निर्वासनिक पुरुष के लक्षण.........अं.१८
– वासना निर्मूल हो गई हो, उनके लक्षण........................लो.१६
– वासना कुंठित हुई हो, उनके लक्षण........................लो.१६
– वासना कुंठित न हुई हो, उनके लक्षण........................लो.१६
– निर्वासनिक की महत्ता..............म.५०
– निर्वासनिकपना में अपरिपक्वतावाले को कैसे समझना और कैसे रहना........सा.४
– सवासनिक भक्त की गति..........सा.११
– विषयवासनावाले त्यागी की गति...म.२५
– निर्वासनिक गृहस्थ को प्राप्ति.......म.२३

मायिक पंचविषय

– पंचमात्रा के लक्षण .... ग.प्र.१२
– विषय अंत:करण से अलग है........म.२

- विषय की उत्पत्ति बाह्य इन्द्रियां द्वारा होती है..............................म.२
- विषय बिना जीव नहीं रह सकता है....अम.३
- मायिक पंचविषय का सुख कैसा है ....पं.१, अं.२७,२८,३९
- विषय का बल..............लो.१७, म.१
- पंचविषय मोह का कारण है.........म.१
- विषय में आसक्ति होने से परमेश्वर में प्रीति नहीं होती है......अं.१४
- विषय में प्रीतिवालो को विशेष न्यूनता ....लो.६, म.१,५६, अं.१३,२८
- विषयमें से आसक्ति टालने का विचार.......................म.४७, अं.१४
- मन निर्विषयी होने का बड़ा साधन....का.१२
- पंचविषय जीतने का विशेष कारण नियम है.............................म.१६
- विषय की निवृत्ति के उपाय.........सा.१, ...म.१,२,१३, लो.१०,१७, अं.२२
- उत्तम विषय की अतिशय तुच्छता हो जाय, ऐसा विचार.........पं.१
- विषय में से इन्द्रियां-अन्तःकरण को वापस मोड देने की समझदारी.......पं.३
- स्त्रीआदि पदार्थ में से प्रीति टालने की समझ............................म.४७,५७
- पंचविषय का अभाव हो, उसके लक्षण................लो.१७, म.१
- पंचविषय जन्म, मरण के हेतु कब नहीं होते..............................अ.३
- पंचविषय को भोगने में सार असार का विभाग और उसका फल.........ग.प्र.१८
- विषय में कैसे भक्त लिप्त हो जाते है............................ग.प्र.१८
- विषय भोगने की ईच्छा होने और न होने का हेतु...................ग.प्र.७०
- विषय भोगने की ईच्छा न हो, उसका उपाय....ग.प्र.७०, ग.म.६३, अम.३
- विषय के संकल्प की लड़ाई होती रहती है,उसकी गति.......ग.प्र.७०, वर.१
- विषय में आसक्तिवाले को न्यूनता..ग.म.४७
- विषय में आसक्तिवाले को सुख तो कभी भी नहीं होता...ग.अं.८,३८
- विषय को देखकर अविकारी रहे, उसे हीं साधु जाने................ग.म.२३
- जितेन्द्रिय पुरुष के लक्षण..........सा.१
- विषय को तुच्छ किये हो, उसे फल...............का.११, ग.अं.२८

(मान)

- मान का रूप.........लो.१४, ग.अं.२७
- निर्मानी होने की आवश्यकता.. ग.प्र.५६, ...ग.म.४१, ग.अं.१२,२६
- मान में से दूसरे दोष पैदा होते है....सा.८, ...लो.१६, वर.११, ग.अं.२७,प्र.७६
- मानी को न्यूनता..........लो.१४,अम.३, ...ग.अं.२१,२७,२८
- मान टालने का उपाय...लो.१६, १७, अं.२८
- गुण का मान टालने के उपाय....ग.प्र.५६
- सत्संग का योग मिलने पर भी मान-ईर्षा रहने के कारण............पं.३
- निश्चय के बावजूद शुभ गुण न आने का और मान, ईर्ष्या बढती रहने का कारण...........पं.३, ग.अं.२८
- किस जगह मान रखना और किस जगह नहीं रखना.......लो.६, पं.५

- बड़े पुरुष का सभा में सम्मान करने की श्रीहरि की आज्ञा ग.म.६१

कामादिक दोषों

- काम-क्रोधादिक दोषों उत्पन्न होने का कारण...............................सा.१८
- संत समागम करने पर भी मलिन स्वभाव आने का कारण............सा.१८
- अनिष्ट स्वभाव नष्ट हो जाय, ऐसा एक श्रेष्ठ विचार...............म.१५
- काम, क्रोधादिक के जोर को हटाए, ऐसा विचार..........................म.२७
- काम, क्रोधादि सभी विकार टालने का उपाय............प्र.५८, सां.१८, का.१२, ...लो.१६, अं.२,२४
- कामादि के योग से धीरज न डिगे उसका उपाय........................अं.२१
- युवावस्थावाले को मलिन स्वभाव टालने के उपाय.....................सा.१८
- प्रौढ अवस्थावाले को मलिन स्वभाव उत्पन्न होने का हेतु, उसे टालने का उपाय.................................सा.१८
- स्वभाव टालने का मूर्ख के उपाय...सा.१८
- अनिष्ट स्वभाव रखना नहीं है, फिर भी क्यों रहते है.................म.७
- वैराग्यहीन के विकार कैसे टले.........म.७
- कामादिक दोषों नास्तिकता के हेतु है...प्र.६८

काम

- काम का रूप....................ग.प्र.७३
- वीर्य की उत्पत्ति किससे है.........ग.प्र.७३
- वीर्य सात धातु अन्तर्गत धातु है, वह काम का रूप कैसे है........ग.प्र.७३
- वीर्य सूक्ष्मदेह के साथ ही रहता है...ग.प्र.७३
- कामदेव का बल कब वृद्धि पाता है..ग.प्र.७२
- काम के मंद, मध्यम और तीव्र वेग के कारण..................लो.८,१० ग.अं.४
- काम व्याप्त हुआ है, वह कैसे जानने में आए............लो.८
- मंद, मध्यम और तीव्र वेग के लक्षण..............................लो.१०
- कामी तो सत्संगी ही नहीं है......ग.प्र.७६
- कामी को न्यूनता...........प्र.७८, लो.१, ...म.४६, अं.२८,३८
- कामी पर श्रीहरि की अप्रसन्नता.....म.३३
- यौवन अवस्था में काम मंद पड़ने का उपाय.................................लो.४
- काम जीतने का उपाय....लो.१, म.१,३३
- स्त्री के प्रति विकार न हो, ऐसा ज्ञान.............................लो.१०
- कामादिक का बीज न रहे, ऐसा एक साधन....................वर.२०
- किसके कामादिक टलते नहीं है........प्र.३८, ...म.२, अं.२१
- समझदार को भी कुसंग करने से कामादिक बाधा करते है...........वर.२०
- काम को जीत लिया, ऐसा कब कहा जाय.............ग.प्र.७३

क्रोध

- क्रोध का..............................लो.१
- क्रोध उत्पत्ति का हेतु.................सा.८, ...म.१, अं.१४,३४
- क्रोध का निषेध......................लो.१
- क्रोध न करने की श्रीहरि की आज्ञा.....म.२७

– क्रोधी को न्यूनता..............म.४०, ४६
– क्रोधी पर श्रीहरि को अभाव.....लो.१, १४
– क्रोधादिक के जोर को हटाए ऐसा विचार..........................म.२७
– क्रोधादिक स्वभाव टालने का उपाय...................सा.१८, अं.२८,३४
– श्रीहरि को क्रोध कब आता है......म.२७
– कैसा क्रोध साधु को बाध नहीं करता................................अं.३४
– कैसा क्रोध साधु को दूषणरूप है...अं.३४
– जरा सा क्रोध आकर टल जाय, वह भी अतिशय दु:खदायी है.........लो.१
– दुर्वासादिक मुक्त हुए है, तो भी तामसी क्यों रहे है..........................सा.१८

लोभ

– लोभ नर्क का द्वार है.............ग.प्र.७८
– लोभ में से द्रोह होता है............म.४०
– लोभ कैसे नाश होता है..............लो.३
– लोभी को न्यूनता.....म.४०, अं.२८,३३,३८
– निर्लोभी की बड़ाई और उसे प्राप्ति........................म.६१,६२

मोह

– मोह का रूप......................म.१,५३
– मोह उदय होने का कारण............म.१
– मोह की निवृत्ति का उपाय...........म.१
– निर्मोही की महत्ता....................म.१
– निर्मोही कौन हो सकता है...........म.१
– निर्मोही धीरे धीरे हुआ जाता है.......म.१

मत्सर

– मत्सरवाले के लक्षण................का.६
– मत्सर उत्पत्ति का हेतु...............का.६, ...सा.८, वर.११
– मत्सर टालने का उपाय.............का.६
– मत्सर रहित पर श्रीहरि की प्रसन्नता....का.६

ईर्ष्या

– ईर्ष्या का रूप...............प्र.७२, सा.८
– ईर्ष्या न करने की श्रीहरि की आज्ञा....प्र.४
– मान में से ईर्ष्या प्रवृत्त होती है.......सा.८, ...व.११, अं.२७
– कैसी ईर्ष्या करें.......................ग.प्र.४
– ईर्ष्यावान को न्यूनता और उस पर श्रीहरि को अभाव......म.२८,७० ....लो.१४, अं.२७
– भगवान का निश्चय फिर भी शुभ गुण न आने का और मान-ईर्ष्या बढती रहने का कारण...........................पं.३,अं.२८

कपट

– कपटी के लक्षण......................लो.५
– कपट कैसे पहचाने....................लो.५
– कपटी से नुकसान............ग.प्र.३५,७९

दंभ

– दंभ का रूप.........................अं.२६
– दंभ से वर्तमान एवं निश्चय हो, उसे कैसे परखा जाय.................लो.५
– दंभी को न्यूनता......................म.३९
– दंभी ज्ञानी और दंभी भक्त के लक्षण

स्वभाव (प्रकृति)

– प्रकृति का रूप......................अं.२०
– अच्छी-बूरी प्रकृति की उत्पत्ति के हेतु.......................लो.८
– स्वभाव टालने की आवश्यकता... ....अं.२७,३३

– स्वभाव टालने से टलता है.........सा.१८
– स्वभाव टालने के उपाय......अं.२४, २७
– न टले ऐसी प्रकृति टालने का उपाय.................................म.३७
– हाल का स्वभाव कैसे जाने..........लो.८
– पूर्व का स्वभाव कैसे जाने...........लो.८
– प्रकृति पहचान ने की रीति.........अं.३५
– प्रकृति को मरोडने से समस्या के भेद.......................अं.३५
– प्रकृति के वश न रहे उस पर श्रीहरि को स्नेह रहता है............अं.२४
– चंचल स्वभाववाले को शांत होने का उपाय........................लो.८
– शांत स्वभाववाले को चंचल होने का उपाय........................लो.८

घाट-संकल्प

– संकल्प के डंख बैठने या न बैठने के हेतु.......................ग.प्र.३०
– संकल्पों की निवृत्ति का उपाय....ग.प्र.३०
– ध्यान करते समय संकल्प के तरंग उठते है उसे कैसे टाले.............लो.९
– संकल्प किसके आगे कहकर टाले..ग.प्र.३८
– कैसे संकल्प धर्म और निश्चय में से गिराते है और कैसे संकल्प नहीं गिराते.............................लो.५

प्रारब्ध (पूर्वसंस्कार)

– प्रारब्ध किसे जाने.................ग.प्र.२९
– प्रारब्ध कर्म अवश्य भोगने पड़ते है ....प्र.२,६३,७३, पं.७, म.१३, ...अं.१३,२८,२९,३७
– प्रारब्ध का दु:ख कब कम होता है या टलता है..............ग.प्र.५८
– पूर्व संस्कार के बल को देशकालादिक आठ रहने देते नहीं है..........म.२७,४५
– पूर्वकर्म से देशकालादिक पलटते नहीं है, और केवल कर्म का प्रतिपादन करनेवाले नास्तिक है....ग.प्र.७८
– पूर्व के शुभ-अशुभ बलवान संस्कार को कैसे जाने..............अं.१०
– पूर्व संस्कार का बल................सा.९, ...म.२९,४४,५९, अं.१०, लो.८
– पूर्व के पाप (मलिन संस्कार) कैसे टलते है.........................म.४५
– पूर्व का पुण्य कब नाश होता है.....म.४५
– भगवान का भक्त प्रारब्ध किसे जानें...अं.१३
– पूर्वजन्म के कर्म का जोर भगवान के भक्त को कब तक रहता है ?......अं.१८

कर्म और उसका फल

– भगवान जीव को कर्मफल भुगतने के लिए तरह तरह के देह को प्राप्त कराते है............................ग.म.२१
– कर्म और उसके फल का विवेक..म.११,४५
– जीव अपनी ईच्छा से कर्म के फल को भोग नहीं सकता (कर्मफल प्रदाता परमेश्वर जीव को कर्म का फल भूगवाते हैं)....म.२१, अं.३७

देशकालादि आठ

– देशकालादिक का बल.............लो.१०, ...म.२७,३२,५१, अं.२४
– देशकालादिक से भगवान के भक्त को कबतक विघ्न है..................प्र.२३
– देशकालादिक से भी कैसे पुरुष को पराभव नहीं.............लो.१३, म.२४,३०, ...अं.११,२९

– देशकालादिक पूर्वकर्म से फिरते नहीं है .... ग.प्र.७८
– शुभ-अशुभ देशकालादिक का कारण पुरुष है.....................ग.प्र.५९
– देशकालादिक विषम हो तो क्या करें............................ लो.६,१०
– शुभ एवं अशुभ देशकालादिक का योग हुआ, ऐसा कैसे जानने में आता है................................म.५१
– अनिष्ट देशकालादिक के योग से भी दृढ़ता न टलने का हेतु............ग.प्र.५५
– पवित्र देशकालादिक का योग फिर भी बुद्धि मलिन होने का कारण .... ग.अं.१४
– विषम देशकाल से भी विपरीत मति न हो, उसके लक्षण.........लो.१७
– संग का रूप .... ग.प्र.७८
– अच्छे और बूरे संग का बल........म.३५
– शुभ अशुभ काल का बल, शुभ अशुभ क्रिया का बल....म.२७,४५,६१
– परमेश्वर का बल..................ग.प्र.५६
– सत् और असत् शास्त्र का बल.....म.१९
– कैसा देश, काल, संग एवं क्रिया का सम्बन्ध भगवान की आज्ञा से भी न करें..................................लो.९

विधि-निषेध

– विधि-निषेध सत्य है....ग.प्र.४२, ग.म.६
– ज्ञानी को भी कर्म लागु होता है तथा विधि-निषेध की सत्यता के प्रत्यक्ष प्रमाण..........................म.६
– विधिनिषेध को गलत कहनेवाले को नास्तिक जाने और उसका संग न करें..................................म.६

शास्त्र

– शास्त्र की महत्ता....................सा.१३
– शास्त्र की सत्यता............म.६.२७,३०
– कौन से शास्त्र को सुने और अध्ययन (पठन) करे और कौनसे शास्त्र का त्याग करे.......का.१०, ...लो.६, म.३५,
– कौनसा शास्त्र अपने संप्रदाय को पुष्टि करता है.........................म.५८
– शास्त्र का श्रवण सत्पुरुष से ही करे...........................लो.११
– आंठ सत्शास्त्र में ग्रहण करने योग्य और त्याग करने योग्य क्या है ?..............................लो.८
– वासुदेव माहात्म्य ग्रंथ श्रीहरि को प्रिय है................................म.२८
– शास्त्र की प्रतीति नहीं है वह नास्तिक है...................म.६, अं.१३
– चार प्रकार के कुसंगी के संग का निषेध..............................ग.प्र.४८
– सबसे अधिक कुसंग................म.१८
– कुसंग का बल......................सा.१८
– सत्संग में कुसंग..................ग.प्र.१७

स्त्री प्रसंग

– स्त्री पुरुष को परस्पर प्रसंग न करनेरूप नियम में रहने की आवश्यकता................म.१६,३५,५१

– स्त्री पुरुष के परस्पर सहवास से विकार होने के हेतु........पं.३, ग.म.३५
– स्त्री का प्रसंग, दर्शन और मन के निषेध के लिए श्रीहरि की आज्ञाएं.....लो.६, ...अं.२४
– स्त्री के प्रसंग से काम की उत्पत्ति होती है .... ग.प्र.७२
– स्त्री आदि के बाह्य सम्बन्ध से विषय की उत्पत्ति होती है............म.२
– कैसे भी बडे को, स्त्री के प्रसंग में रहने से निर्दोष रहा नहीं जाता....म.३०,३५, ...अं.२४,३३
– स्त्री के संग से भगवान के भक्त को कहां तक विघ्न है..................लो.१३
– सोना और स्त्री किसे बंधन नहीं करता...........................म.३०
– स्त्री का प्रसंग रखनेवाले को सुख तो कभी भी नहीं होता है..............अं.३८
– सत्संग में कुवासना बांधता है, वह पाप वज्रलेप होता है..........अं.२२

पक्ष

– भगवान के भक्त का पक्ष रखने की श्रीहरि की आज्ञा......................म.५
– पक्ष कैसा रखे..........म.६०,६१, अं.७
– पक्ष रखता है, वही पूर्ण भक्त कहलाता है......................म.६०,६१
– श्रीहरि को भक्त का पक्ष कैसा रहता है...........म.२८,६० अं.२१
– भगवान के भक्त का पक्ष रखने का प्रताप.................................म.६०
– पक्ष न हो उसके लक्षण ओर उसकी गति..................................म.६०
– विमुख का पक्ष रखनेवाला विमुख होता है...............................लो.५

पुरुष प्रयत्न

– पुरुष प्रयत्न किसे जाने.............प्र.२९
– पुरुष प्रयत्न कल्याण के लिए सभी साधन में बड़ा साधन है......म.१२
– पुरुष प्रयत्न से कितना काम होता है...............................सा.११
– पुरुष प्रयत्न संपूर्ण होने के बाद भगवान की कृपा के पात्र होते है और आत्यंतिक मोक्ष को पाते है.......सा.११
– पुरुष प्रयत्न मे (पांच अंगमें) न्यूनता की गति......................सा.११

भगवान का द्रोह

– भगवान का द्रोह किसे कहते है......म.९
– भगवान के स्वरूप के द्रोह का पाप ....प्र.७१, का.१०, म.७,१८

भगवान की कृपा

– भगवान की कृपा से हुआ ऐसा कब जाने.............................प्र.२७
– परमेश्वर की कृपा से कितना काम होता है...............................सा.११
– भगवान की कृपा किस पर होती है...सा.११
– परमेश्वर की कृपासे विकार तुरन्त टलते है, और भगवान के स्वरूप मे वृत्ति अखण्ड रहती है........... म.७, ३६
– परमेश्वर के प्रताप से क्या क्या होता है......................प्र.७३, सा.१६
– साधन के बलवाले से भगवान के प्रतापके बलवाले की श्रेष्ठता...........ग.प्र.३७,५६

भगवान की प्रसन्नता

– भगवान को अति प्रसन्न करने के साधन............प्र.२१,अं.२९,म.२५,२८
– भगवान को प्रसन्न करने के उपाय ....प्र.१८,५६,७८, का.६,१० ....म.१,२८ अम.३, अं.२५,३०
– समग्र साधन करने से जैसे भगवान प्रसन्न हो ऐसा भगवान को प्रसन्न करने का एक साधन.....ग.प्र.३३
– कैसे भक्त श्रीहरि को प्यारे है म.१,२१,३३,५०
– भगवान की प्रसन्नता का फल......म.४५
– भगवान कब अप्रसन्न होते है ....म.२८,३३ अं.२२.
– भगवान को अप्रसन्न करने का पाप...म.४५
– कौनसा वचन भगवान प्रसन्न होते हो तो भी न माने और न मानने से अप्रसन्न होते हो तो होने दे.........लो.६

आत्मनिष्ठा और वैराग्य

– आत्मनिष्ठा और वैराग्य से क्या क्या होता है.........सा.१५, अं.१,३
– आत्मनिष्ठा और वैराग्य रहित हो उसे न्यूनता...............सा.१५, म.६६, अं.१,
– आत्मज्ञान और वैराग्यवाले को भी भक्ति की अपेक्षा है........................म.६५

आत्मनिष्ठा और भगवान का माहात्म्य

– आत्मनिष्ठा और भगवान के महात्म्यज्ञान से क्या क्या होता है. ....सा.१,१० अं.३९
– यह ज्ञान कब सिद्ध होता है........अं.३९
– यह ज्ञान किसे रुचिकर और फलदायक है.......................अं.३९
– आत्मा और परमात्मा के स्वरूप के ज्ञान रहित को न्यूनता...............सा.११

पूर्णकामपन

– पूर्णकामपना किस से होता है......ग.प्र.२५, ...लो.२, म.१,९,६२,
– कैसे रहे तो पूर्णकामपना में न्यूनता न रहे.................ग.प्र.२४,२५
– सदेह कृतार्थपना किसे मानने में आता है......लो.२, अं.७, म.२८,४८,६२
– पूर्णकामपना में न्यूनता रहने के हेतु............................लो.१, म.५९

॥ वृत्तालये स भगवान् जयतीह साक्षात् ॥

श्रीवचनामृतम्
उपोद्घात प्रकरणम्

पातुं धर्ममधर्ममुत्खनयितुं श्रीभक्तिधर्माङ्गतो
जातायोत्तरकोसलेषु दयया सर्वेश्वरेशाय च ।
तृप्तिं वाक्यसुधारसैर्विदधते नैजैर्निजानां मुहुस्
तस्मै श्रीहरये नमोऽस्तु सहजानन्दाय सद्वर्णिने ॥१॥
ज्ञानेन धर्मेण युतां विरक्त्या माहात्म्यबोधेन च यो निजस्य ।
प्रवर्तयामास भुवि स्वभक्तिं स श्रीहरिर्नोऽस्तु मतिप्रदाता ॥२॥
अज्ञानसंज्ञं गहनान्धकारं निजाश्रितस्वान्तगुहागतं यः ।
अपाहरज्ज्ञानदिवाकरः श्रीधर्माङ्गजन्मा जयति प्रभुः सः ॥३॥
प्रोक्तानि यानीह वचोऽमृतानि श्रीस्वामिना तेन निजाश्रितेभ्यः ।
तेषां लिखामः कतिचित्तदीयतुष्ट्यै यथाबुद्धि यथाश्रुतश्च ॥४॥
तत्रादौ श्रीहरेस्तस्य जन्मादि चरितं शुभम् ।
कथयामः समासेन तदीयानन्ददायकम् ॥५॥

श्रीगोलोक के मध्यस्थित भगवान का अक्षरधाम है। वह कैसा है ? जो कोटि-कोटि सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि के समान प्रकाशमान है, तथा दिव्य है, तथा अत्यन्त श्वेत है तथा सच्चिदानन्दरूप है। जिसे ब्रह्मपुर कहते हैं, अमृतधाम कहते हैं, परमपद कहते हैं, अनन्त-अपार कहते हैं, ब्रह्म कहते हैं, चिदाकाश कहते हैं; ऐसा जो अक्षरधाम हैं, उसमें जो श्रीकृष्णभगवान हैं वे

सदैव विराजमान हैं । वे कैसे हैं ? तो जिन्हें पुरुषोत्तम कहते हैं, वासुदेव कहते हैं, नारायण कहते हैं, परमात्मा कहते हैं, ब्रह्म कहते हैं, परब्रह्म कहते हैं, ईश्वर कहते हैं, परमेश्वर कहते हैं, विष्णु कहते हैं । और फिर वे भगवान कैसे हैं ? तो क्षर-अक्षर से पर[१] हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वकर्ता हैं, सर्वके नियन्ता हैं, सर्वके अन्तर्यामी हैं, समस्त कारणों के कारण हैं, निर्गुण हैं, स्वयं प्रकाशमान हैं, स्वतन्त्र हैं तथा ब्रह्मरूप ऐसे जो अनन्तकोटि मुक्त, उनको उपासना करने योग्य हैं । तथा अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों की जो उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयरूप लीला है जिनकी, ऐसे हैं । प्रकृतिपुरुष, काल, प्रधानपुरुष और महत्तत्वादिक जो अपनी शक्तियाँ, उनके प्रेरक हैं । अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के राजाधिराज हैं । सदा किशोरमूर्ति हैं, तथा कोटि-कोटि कन्दर्प[२] समान सुन्दर हैं, तथा नवीनमेघ के समान श्यामवर्ण है जिनका, ऐसे हैं । और अमूल्य एवं दिव्य ऐसे जो विविध प्रकार के वस्त्रों तथा आभूषणों से युक्त हैं, कान में मकराकृति कुण्डल धारण किये हैं, अपने मस्तक पर विविध प्रकार के रत्नों से जडित जो मुकुट, उसे धारण किये हैं । शरदऋतु के कमल की पंखुडियों के समान नुकीले नेत्रकमल है जिनके, वैसे हैं । और सुखद ऐसा जो सुगन्धिमान चन्दन, उससे चर्चित है अंग जिनके, वैसे हैं । तथा मधुर स्वरों से बंसी को बजाते हैं । तथा राधिकाजी और लक्ष्मीजी ने जिनकी पूजा की है । मूर्तिमान ऐसे जो सुदर्शनादिक आयुध तथा नन्द-सुनन्द एवं श्रीदामादिक जो असंख्य पार्षद हैं, उन्होंने जिनकी सेवा की हैं । कोटि-कोटि सूर्य-चन्द्र समान प्रकाश से युक्त है मूर्ति जिनकी, वैसे हैं । अनन्तकोटि ऐसे जो कल्याणकारी गुण, उनसे युक्त हैं । धर्म, ज्ञान एवं वैराग्यादिक जो ऐश्वर्य तथा अणिमादिक जो सिद्धियाँ, उनसे सेवित हैं चरणकमल जिनके, वैसे हैं । मूर्तिमान ऐसे चारों वेदों ने जिनकी स्तुति की हैं । वासुदेवादिक जो चतुर्व्यूह तथा केशवादिक जो चौबीस मूर्तियाँ तथा जो वाराहादिक अवतार, इन सभी के धर्ता[३] हैं ।

१. नियन्ता, प्रकाशक, अगोचर इत्यादि २. कामदेव ३. धारण करनेवाले

ऐसे जो श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम भगवान हैं, वे अपने समग्र ऐश्वर्य से युक्त होते हुए पृथ्वी पर एकान्तिक धर्म के प्रवर्तन के लिए तथा अपने एकान्तिक भक्त जो धर्म, भक्ति एवं मरीच्यादिक ऋषि, उनकी रक्षा करने के लिए, उन्हें सुख देने के लिए, अनेक जीवों के कल्याण के लिए एवं अधर्म का उच्छेद करने के लिए कौसल देश में प्रकट हुए ।

अब वे भगवान जिस तरह से प्रकट[१] हुए हैं, उसे संक्षेप से कहते है:- एक समय मरीच्यादिक ऋषि बदरिकाश्रम में श्रीनरनारायण भगवान के दर्शन करने के लिए आये थे । इस बात को सुनकर धर्मदेव भी अपनी पत्नी जो मूर्ति, उनके सहित श्रीनरनारायण के दर्शन करने आये । फिर उन ऋषियों की सभा में उद्धव के सहित बैठे जो श्रीनरनारायण ऋषि थे, उनका दर्शन करके श्रीनारायण से आदर प्राप्त हुए धर्मदेव उस सभा में बैठे[२] । मरीच्यादिक ऋषियों द्वारा श्रीनारायण ऋषि के समक्ष प्रथम कही थी जो भरतखण्ड के वृत्तान्त की वार्ता, उसे श्रीनारायण ऋषि के मुखारविन्द से एकाग्रचित्त होकर धर्मदेव सुन रहे थे तथा ऋषि एवं उद्धव, वे भी उन वार्ता को एकाग्रचित्त होकर सुन रहे थे ।

उस समय कैलास पर्वत से जो दुर्वासा ऋषि थे, वे नारायण ऋषि के दर्शन करने आये । उनका किसीसे सन्मान नहीं हुआ, इसलिए उन दुर्वासा ऋषि ने इन धर्मादिक सभी को शाप दिया कि 'मेरे अपमान को करनेवाले आप सभी भरतखण्ड में मनुष्य जन्म को धारण करोगे और वहाँ असुरों से अपमान को एवं कष्ट को प्राप्त करोगे ।' ऐसे शाप को सुनकर धर्मदेव ने बहुत प्रकार के विनय युक्त वचनों से उन्हें शान्त किया । तब वे दुर्वासा ऋषि बोले कि 'आप सभी श्रीनारायण ऋषि की बात सुनने में आसक्त थे, इसलिए मुझे नहीं देखा और मेरा सम्मान नहीं हुआ, इसका मुझे ख्याल नहीं था, इसलिए मैंने आपको शाप दे दिया; किन्तु मेरे इस शाप का तो निवारण नहीं होगा, परन्तु इस शाप के साथ मैं आप पर अनुग्रह करता हूँ कि 'हे धर्मदेव ! आप तथा

१. अवतरित २. आसन ग्रहण किया ।

यह आप की पत्नी मूर्ति, दोनों ब्राह्मण के कुल में मनुष्य देह धारण करोंगे और वहाँ ये नारायण ऋषि आपके पुत्र होंगे, वे आपको तथा इन ऋषियों को मेरे शाप से मुक्त करायेंगे तथा असुरों के कष्ट से आप सभी की रक्षा करेंगे।' ऐसा कहकर दुर्वासा ऋषि तो वापस कैलास पर्वत में चले गए ।

फिर श्रीनारायण ऋषि धर्मादिक सभी के प्रति कहने लगे कि ''बिना अपराध आपको जो शाप हुआ, उसे यदि में टालना चाहूँ तो मैं समर्थ हूँ तो यह शाप टल जाता है, परन्तु इस समय भरतखण्ड में कलियुग के बल को पाकर अधर्म और असुरों की बहुत वृद्धि हुई है । उनके नाश के लिए मेरी इच्छा से ही यह शाप हुआ है, उसे मैंने स्वीकारा है, इसलिए हे धर्म ! मैं आपका पुत्र होकर उन असुरों का तथा अधर्म का नाश करूँगा और आप सभी की रक्षा करूँगा एवं पृथ्वी पर एकान्तिक धर्म का प्रवर्तन करूँगा । इसलिए आप कोई चिंता न करें, और आप सभी पृथ्वी पर मनुष्य का देह धारण कीजिए।'' ऐसे वचन सुनकर एवं श्रीनारायण ऋषि को नमस्कार करके धर्मादिक सभी जो थे वे मनुष्य देह धारण करने के लिए पृथ्वी पर जाने लगे ।

अब धर्म तथा मूर्ति जिस तरह प्रकट हुए है, उसे[१] कहते हैं, कौसल देश में ईटार[२] नामक पुर[३] है । उसमें सर्यूपारीण ब्राह्मण सामवेदी पाण्डे **बालशर्मा** नामके रहते थे । उनको **भाग्यवती** नामक जो उनकी पत्नी थी, उससे संवत् १७९६ (सत्रह सौ छियानवे) कार्तिक शुक्ला-११ एकादशी के दिन मध्याह्न के बाद धर्मदेव प्रकट[४] हुए । पिता ने विधि के अनुसार उनके जातकर्मादिक संस्कार किये और बारहवें दिन 'देवशर्मा' ऐसा नाम धारण कराया । और वही कौसल देश में ही छपैया[५] नामक गाँव में तिवारी **कृष्णशर्मा** नामक ब्राह्मण से **भवानी** नामक जो उनकी पत्नी, उससे मूर्ति ने[६] संवत् १७९८ (सत्रह सौ अट्ठानवे) कार्तिक शुक्ला-१५ पूर्णिमा के दिन सायंकाल को अवतार लिया । वे दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगीं और श्रीकृष्णभगवान की अतिशय भक्ति करने लगीं, इसलिए **भक्ति** ऐसे नाम से

१. उनकी कथा २. इकहटपुर ३. गाँव, छोटा नगर ४. जन्म धारण किया ५. छपिया ६. भक्ति ने

विख्यात हुयीं । फिर भक्ति के पिता कृष्णशर्मा ने अपनी पुत्री भक्ति का धर्म के अवतार देवशर्मा के साथ यथाविधि विवाह संपन्न कराया, तथा अपने जमाई का अपने गाँव में अपने घर निवास करवाया । वह देवशर्मा, भक्ति नामक अपनी पत्नी के साथ गृहस्थाश्रम के जो धर्म थे उनका आश्रय करते हुए श्रीकृष्णभगवान की भक्ति करने लगे । वे स्वयं अति दृढ़तापूर्वक धर्म में रहने लगे । उसे देखकर सभी लोग तो उन्हें **धर्म** ऐसे नाम से ही पुकारने लगे ।

फिर[१] उन धर्म-भक्ति को असुरों से अतिशय कष्ट हुआ । उसके निवारण के लिए धर्म-भक्ति वृन्दावन में जाकर मरीच्यादिक ऋषियों के साथ श्रीकृष्णभगवान की आराधना करने लगे । उससे वे भगवान उन पर प्रसन्न हुए और अपने अक्षरधाम में जैसे स्वयं सदा विराजमान हैं, वैसा अपना दर्शन देकर, धर्म-भक्ति के प्रति कहने लगे कि हे धर्म-भक्ति ! आपको कष्ट देनेवाले जो असुर हैं, उन्हें मैंने पूर्वकाल में कृष्णावतार में मार दिये थे, अतः मुझ पर उन्हें वैर हैं, इसलिए वे आपको मेरे समझकर पीड़ा देते हैं । उन असुरों के नाश के लिए मैं नारायण ऋषि के रूप से तुम्हारे यहाँ प्रगट होकर "**हरिकृष्ण**" नाम से विख्यात होऊँगा और आपकी तथा ऋषियों की असुरों के कष्ट से रक्षा करूँगा, तथा आपको दुर्वासा के शाप से मुक्त करूँगा और असुरों तथा अधर्म का विच्छेद करूँगा और पृथ्वी पर एकान्तिक धर्म का प्रवर्तन करूँगा । ऐसा कहकर श्रीकृष्ण भगवान अन्तर्धान होकर धर्म के हृदयकमल में विराजमान हो गए । तत्पश्चात् धर्म-भक्ति अतिशय आनन्दित होते हुए अपने गाँव आकर श्रीकृष्ण भगवान की भक्ति करने लगे । इस प्रकार धर्म पर भगवान प्रसन्न हुए, इसलिए सभी जन उन्हें '**हरिप्रसाद**' नाम से पुकारने लगे ।

श्रीहरि का प्राकट्य तथा बाललीला

इसके बाद कई माह बीतने पर उन हरिप्रसादजी से भक्ति द्वारा श्रीकृष्ण भगवान संवत् १८३७ (अट्ठारह सौ सैंतीस) चैत्र शुक्ला ९ (नवमी) के दिन जब रात्रि दश घड़ी बीती तब प्रकट हुए । उस समय हरिप्रसादजी के घर पर

१. कालान्तर में

बड़ा उत्सव हुआ । इन्द्रादिक देव जय-जय शब्द करते हुए एवं दुन्दुभि को बजाते हुए पुष्पों की वर्षा करने लगे । अप्सरायें नृत्य करने लगीं, गन्धर्व गान करने लगे तथा मुनि आशीर्वाद देने लगे । देवता एवं साधुजनों के जो मन, वे अति प्रसन्न होने लगे और असुरों के जो मन, वे तत्काल त्रस्त(१) होने लगे। उस गाँव में रहनेवाली जो स्त्रियाँ, वे मंगलगान गाने लगीं और बालरूप ऐसे जो हरि, उनको आशिष देने लगीं । उस समय पर मन्द, सुगंधित एवं शीतल ऐसी वायु चलने लगी । तारागणों सहित आकाश अतिशय निर्मल हो गया । उसके बाद वे हरिप्रसादजी, अपने पुत्र का जातकर्म ब्राह्मणों से यथाविधि करवाकर ब्राह्मणों को बहुत प्रकार के दान देने लगे ।

फिर जन्म से छठवें दिन कोटरा आदि बालग्रह बालस्वरूप ऐसे जो भगवान, उन्हें मारने के लिए आये । जिन्हें भगवान ने अपनी दृष्टिमात्र से जलाकर भगा दिये । जब भगवान तीन माह, ग्यारह दिन के हुए तब मार्कण्डेयऋषि ब्राह्मण वेष में हरिप्रसाद के घर पधारे । तब हरिप्रसादजी ने उन ऋषि का अतिशय सम्मान करके और उन्हें ज्योतिषी मानकर कहने लगें कि 'आप हमारे पुत्र का नामकरण करिए' । फिर वे ऋषि प्रसन्न होकर नामकरण करते हुए बोले कि 'हे हरिप्रसादजी ! यह आपके पुत्र आपकी समस्त आपत्तियों को हर लेंगे(२) और जो लोग उनके आश्रित होंगे उनकी समस्त आपत्तियों को हर लेंगे । तथा कर्क राशि में इनका जन्म है, इसलिए इनका '**हरि**' ऐसा नाम होगा । और फिर ये जो आपके पुत्र हैं, उनके देह का वर्ण कृष्ण(३) है, तथा अपने आश्रितजनों के मन को अपनी मूर्ति की ओर आकृष्ट(४) कर लेंगे तथा चैत्र माह में जन्म है, इसलिए ये '**कृष्ण**' ऐसे नाम से विख्यात होंगे । ये दोनों नाम अलग-अलग हैं, तो भी इन दोनों को साथ मिलाकर '**हरिकृष्ण**' ऐसा इनका तीसरा नाम भी होगा । ये आपके पुत्र त्याग, ज्ञान, तप, धर्म एवं योग इन पाँच गुणों से युक्त होकर तो शिवजी जैसे होंगे, इसलिए '**नीलकण्ठ**' ऐसे नाम से लोक में प्रसिद्ध होंगे । ये जो आपके पुत्र हैं, उनके हाथ में पद्म का

१. भयभीत २. दूर करेंगे ३. बादल जैसा श्याम रंग । ४. आकर्षित करेंगे, खींच लेंगे ।

चिह्न हैं तथा पैर में वज्र, ऊर्ध्वरेखा और कमल के चिह्न हैं, इसलिए ये आपके पुत्र लाखों मनुष्यों के नियन्ता होंगे । ये आपके पुत्र कल्याणकारी ऐसे अनन्त गुणों से युक्त होंगे तथा आपकी समग्र कष्टों से रक्षा करेंगे । ऐसा कहकर विराम लेनेवाले मार्कण्डेय ऋषि को हरिप्रसादजी ने बहुत दक्षिणा, मूल्यवान नये वस्त्र तथा आभूषण दिये । वे ऋषि एक दिन वहाँ रुककर प्रयाग तीर्थ की यात्रा करने के लिए चल पड़े । हरिप्रसादजी तथा भक्तिमाता, अपने पुत्र के गुणों को सुनकर अति प्रसन्न हुए । श्रीहरि अपनी बाललीलाओं से अपने माता-पिता को तथा सम्बन्धिजनों को बहुत आनन्द कराते हुए बालचन्द्र की तरह बड़े होने लगे । फिर हरिप्रसादजी ने अपने पुत्र को पाँचवें माह में प्रथम बार पृथ्वी पर बैठायें, और छठवें माह में प्रथमबार अन्नप्राशन[१] करवाया, सातवें माह में कान छिदवायें । और तीसरा वर्ष प्रारम्भ हुआ तब चौल संस्कार जो गर्भ के बाल कटवाना, उसे करवाया । उसी ही दिन मायावी कालीदत्त नामक असुर, भगवान को मारने के लिए आया, उसे भगवान ने अपनी दृष्टिमात्र से मोहित कर दिया, तो वह वृक्ष से टकरा-टकरा कर मृत्यु को प्राप्त हुआ ।

उसके बाद हरिप्रसादजी असुरों के उपद्रव से छपैया गाँव का त्याग करके अपने परिवार के साथ अयोध्यापुरी में निवास करके रहने लगे । वहाँ हरिप्रसादजी अपने पुत्र को पाँचवें वर्ष में प्रथम 'अक्षर पढ़ना' सिखाने लगे । आठवें वर्ष में कीमती सामग्री इकट्ठी करके अपने पुत्र का यज्ञोपवीत संस्कार किया । तथा वे श्रीहरि अपने पिता से यज्ञोपवीत को प्राप्त करके नैष्ठिक ब्रह्मचारी के धर्म में रहते हुए वेदाध्यन करने लगे; उन्होंने अपने पिता से वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास, धर्मशास्त्र इन सभी ग्रन्थ का स्वयं अध्ययन करके तथा श्रवण करके उन सभी का जो रहस्य, उसे यथार्थ जान लिया । उन सभी में से स्वयं ने चार 'सार' निकाले । उसमें से श्रीमद्भागवत पुराण से तो '**पञ्चमस्कन्ध**' तथा '**दशमस्कन्ध**' यह सार निकाला तथा स्कन्दपुराण से '**वासुदेवमाहात्म्य**' यह सार निकाला, और इतिहास जो महाभारत, उससे '**भगवद्गीता**', '**विदुरनीति**'

१. अन्न ग्रहण

एवं '**विष्णुसहस्त्रनाम**' ये सार निकाले तथा सभी धर्मशास्त्रों से '**याज्ञवल्क्यस्मृति**' यह सार निकाला । इस तरह इन चार सारों को निकालकर उसका गुटका[१] लिखवाकर वे अपने पास नित्य रखते थे । वे श्रीहरि जन्म से लेकर जब ग्यारह वर्ष के हुए तब अपनी माता जो भक्ति थीं, उन्हें धर्म, ज्ञान एवं वैराग्य सहित भक्ति का उपदेश देकर दिव्यगति प्रदान की और दुर्वासा के शाप से मुक्ति दिलाई । उसके बाद कुछ माह बीतने के बाद श्रीहरि ने अपने पिता हरिप्रसादजी को अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान देकर दिव्यगति प्राप्त कराई और दुर्वासा के शाप से मुक्त करायें ।

वन विचरण

इस तरह भक्ति-धर्म दिव्यगति को प्राप्त करके फिर दिव्यदेह से निरन्तर उन श्रीहरि के पास रहने लगे । उस दिन के बाद वे श्रीहरि अपने स्वजनों से पूछे बिना ही नित्यस्नान के बहाने तीव्र वैराग्य के वेग से अपने घर का त्याग करके स्वयं अकेले ही उत्तर दिशा की ओर तप करने के लिए चल पड़े । वे स्वयं कैसे हैं ? तो बहिर्वासस् सहित जो कौपीन, उसे धारण किया है, और मृगचर्म धारण किया है, पलाश का दण्ड धारण किया है, श्वेत यज्ञोपवीत धारण किया है, कण्ठ में तुलसी की दोहरी माला धारण की है, और टीका[२] सहित जो ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक का चिह्न, उसे धारण किया है, मस्तक पर जटा धारण की है, और कमर में मुंजकी मेखला धारण की है । हाथ में जपमाला, कमण्डलु, भिक्षापात्र तथा वस्त्र की जलछन्नी इतनी वस्तुयें धारण की हैं । और शालग्राम तथा बालमुकुन्द का बटुवा धारण किया है, तथा चार सार का जो गुटका, उसे कन्धे[३] पर धारण किया है । ऐसी वेशभूषा धारण किए हुए श्रीनीलकण्ठ ब्रह्मचारी सरयू नदी को तैरकर[४] उत्तर दिशा की ओर चलने लगे। चलते-चलते कुछ दिनों के बाद हिमालय पर्वत की तलहटी में जो एक अति विशाल वन था, वहाँ आ पहुँचे । फिर वहाँ से चले तो कई दिनों के बाद

१. हाथ में रह पाये ऐसा छोटे कद का पुस्तक २. कुङ्कुम चन्द्रक
३. बाहु पर बाजुबन्द की तरह ४. पार करके

हिमालय पर्वत पहुँचे । उस पर्वत में चलते हुए कई दिनों के बाद मुक्तनाथ आकर उग्र तप किया । उस तप से सूर्यनारायण को प्रसन्न किए । वहाँ कुछ माह रहकर फिर वहाँ से दक्षिण दिशा की ओर चले, तो हिमालय पर्वत की तलहटी में एक महा घोर(१) वन आया, उस वनमें बारह माह तक विचरण करते रहे । श्रीनीलकण्ठ ब्रह्मचारी ने उस वन में वट वृक्ष के नीचे बैठे हुए एवं तप कर रहे गोपाल योगी को देखा । उन योगी के पास रहकर अष्टांग योग सीखते हुए वे एक वर्ष तक रुके । और उन योगी को अपने स्वरूप का ज्ञान दे कर उन्हें सिद्धगति प्राप्त कराई । फिर वहाँ से उत्तर दिशा में चलकर श्रीनीलकण्ठ ब्रह्मचारी आदिवाराह नामक तीर्थ पहुँचे । वहाँ से चलकर वे बंगाल देश में सीरपुर नामक नगर में आये; उस नगर का सिद्धवल्लभ नामक राजा महाधार्मिक था । उसकी प्रार्थना को स्वीकार कर श्रीनीलकण्ठ ब्रह्मचारी वर्षा ऋतु के चार माह तक वहाँ रहे । उन्होंने वहाँ उस नगर में रहनेवाले काली तथा भैरव के उपासक, जिन्हें सिद्ध होने का अभिमान है ऐसे असुर के मद(२) को दूर किया; और अपने सेवक गोपालदास नामक साधु की असुरों के अभिचार(३) से अपने सामर्थ्य से रक्षा की । उस नगर में वेद, शास्त्र, पुराणों का अध्ययन जिसने किया है, वैसा तैलंगदेश का कोई ब्राह्मण था । उसने उस राजा से हस्ती(४) आदि का महादान लिया था, जिससे वह ब्राह्मण जो गौरवर्ण का था, किन्तु वह श्यामवर्ण का हो गया । फिर वह ब्राह्मण अपने पापों की शान्ति के लिए श्रीनीलकण्ठ ब्रह्मचारी की शरण में आया । उन्होंने उसे अपने सामर्थ्य से उन पापों से मुक्त किया, तब काला मिटकर पहले जैसा गौरवर्ण का हो गया । वहाँ से चलकर श्रीहरि कामाक्षीदेवी के निकट कोई एक गाँव में पहुँचे । उस गाँव में महाकाली का उपासक एक ब्राह्मण था । वह अपने गाँव में जो कोई साधु तथा ब्राह्मण तीर्थयात्री आते थे, उन्हें अभिचार से जीतकर अपना शिष्य बना ले, ऐसा अभिमानी था, उस ब्राह्मण ने आकर श्रीहरि पर अपना तन्त्र-मन्त्र-अभिचार सम्बन्धी जो बहुत सामर्थ्य था, उसका कुप्रयोग किया; परन्तु

१ भयानक, जहाँ सूर्यप्रकाश का भी प्रवेश न हो सके ऐसा २. अभिमान, घमंड
३. तान्त्रिक दुष्प्रयोग ४. काला हाथी, आदि

उससे श्रीहरि कुछ भी प्रभावित नहीं हुए । उलटा उन्होंने अपने सामर्थ्य से उस ब्राह्मण का समग्र मद उतारकर अपना आश्रित बना लिया । फिर श्रीहरि वहाँ से चलते हुए नवलखा पर्वत पहुँचे, उस नवलखा पर्वत पर नौ लाख सिद्धों के स्थान है, नौ लाख स्थानों पर अग्नि की ज्वाला निकलती है तथा पानी के कुण्ड हैं । उस पर्वत पर रहे जो सिद्ध, उन्हें अपना दर्शन देकर वे उस पर्वत से उतरकर बालवाकुण्ड नामक तीर्थ में आये । वहाँ से चलकर श्रीहरि गंगासागर के संगम पर पहुँचकर, वहाँ स्नान करके फिर उस समुद्र की खाड़ी को जहाज[१] में बैठकर पार करके कपिलाश्रम पहुँचे । वहाँ प्रतिदिन कपिलजी के दर्शन करते हुए एक माह तक रहे । वहाँ से चलकर वे जगन्नाथपुरी गए । वहाँ कुछ माह तक निवास करते हुए पृथ्वी के भाररूप ऐसे जो असंख्यात असुरों को आपस में बैर कराकर युद्ध से[२] उनका विनाश करा दिया । बादमें श्रीनीलकण्ठ ब्रह्मचारी वहाँ से दक्षिण दिशा की ओर चले तो आदिकूर्म नामक तीर्थ में पहुँचे। वहाँ से महावन में चलते हुए मानसपुर आये । उस पुर का सत्रधर्मा नामक राजा था, वह श्रीहरि का आश्रित हुआ । उन्होंने उस राजा के द्वारा असुरों का पराभव करवाया । वहाँ से चलकर श्रीनीलकण्ठ ब्रह्मचारी वेंकटाद्रि पहुँचे । वहाँ से शिवकांची एवं विष्णुकांची पहुँचे । वहाँ से श्रीरंगक्षेत्र में जाकर दो माह तक रहे । वहाँ वैष्णवों के साथ संवाद करते हुए उनमें फैले हुए दुराचार का अपने प्रताप से त्याग करवाया । वहाँ से चलकर श्रीहरि सेतुबन्ध नामक तीर्थ पहुँचकर, तथा समुद्र में स्नान करके नित्य रामेश्वर महादेव के दर्शन करते हुए दो माह तक वहाँ रहे । वहाँ से प्रस्थान करके सुंदरराज नामक विष्णु का दर्शन करके वहाँ से चलते हुए मार्ग में एक घोर[३] वन आया, उस वन में पाँच दिन तक चलते रहे, किन्तु कुछ अन्न-जल प्राप्त नहीं हुआ । फिर छठवें दिन मध्याह्न समय वन में एक कुआँ आया, उसमें से कमण्डल से जल निकालकर स्नान किया और फिर वट के वृक्ष के नीचे बैठकर अपना नित्यविधि करते हुए शालग्राम की सेवा करने लगे । शालग्राम को पात्र में रखकर कमण्डल की

१. जलयान २. आपसीयुद्ध से ३. सघन, भयानक

धारा से स्नान कराने लगे तो जितना पानी चढ़ाया[१] उतना शालग्राम पी गए । ऐसे करते करते पाँच-सात कमण्डल पानी चढ़ाया उसे वे पी गए । वे जल पीकर तृप्त हो गये हैं, ऐसा जानकर उन शालग्राम का चन्दनादिक से पूजन किया । और ऐसा विचार करने लगे कि 'शालग्राम को इतनी प्यास लगी थी तब भूख भी जरूर लगी होगी, परन्तु अपने पास कुछ नैवेद्य अर्पण करने के लिए नहीं है, इसलिए विष्णु को क्या खिलायेंगे ?' ऐसा विचार कर रहे थे, तब इतने में शिवजी तथा पार्वती नन्दी पर सवार होकर कार्पटिक[२] के वेष में वहाँ आकर पहले से ही उपस्थित थे । उन्होंने श्रीनीलकण्ठ ब्रह्मचारी को इस तरह शालग्राम की पूजा करते हुए देखकर, उन्हें सत्तू और नमक दिया। उस सत्तू को जल में घोलकर विष्णु को नैवेद्य अर्पण करके स्वयं भोजन किया। फिर वहाँ से चलकर श्रीनीलकण्ठ ब्रह्मचारी भूतपुरी पहुँचे; और वहाँ स्थापित रामानुजाचार्य की प्रतिमा का दर्शन एवं पूजन करके वहाँ से कुमारिकाक्षेत्र[३] पहुँचे । वहाँ से पद्मनाभ पहुँचे । वहाँ से जनार्दन गए । वहाँ से आदिकेशव नामक विष्णु के दर्शन करके वहाँ से मलयाचल नामक कुलगिरि पहुँचे । वहाँ साक्षीगोपाल नामक विष्णु के दर्शन करते हुए पाँच दिन तक रहे । और वहाँ से चलते हुए श्रीनीलकण्ठ ब्रह्मचारी पंढरपुर पहुँचे । वहाँ विट्ठलनाथ नामक विष्णु के दर्शन करते हुए दो माह तक रहे । विट्ठलनाथ को गले मिलकर वहाँ से चले तो दण्डकारण्य आये । दण्डकारण्य की प्रदक्षिणा करके नासिकपुर आये। वहाँ त्र्यम्बकेश्वर महादेव के दर्शन करके तापी नदी पहुँचे । वहाँ से चलकर नर्मदा नदी पार करके, मही नदी आये । मही को पार करके तथा साबरमती नदी को पार करके भाल देश को लांघकर भीमनाथ आये । और वहाँ से चलते हुए श्रीनीलकण्ठ ब्रह्मचारी गोपनाथ नामक शिवजी के दर्शन करके, पंचतीर्थ करते-करते मांगरोल बंदरगाह पहुँचे । इस तरह तीर्थयात्राएँ करते हुए श्रीहरिकृष्ण भगवान जिन-जिन तीर्थस्थानों में स्वयं गए, उन-उन तीर्थों

१. सींचा, अभिषेक किया २. तीर्थसेवी सन्यासी जो जीर्ण वस्त्र धारी होते हैं ।

३. कन्या कुमारी

में रहा जो अधर्म, उसका उच्छेद किया और एकान्तिक धर्म की स्थापना की; और उन-उन तीर्थ में रहनेवाले लोगों को अपना दर्शन देकर तथा उनका अन्न-जलादिक ग्रहण करके उन्हें संसारिक बन्धन से मुक्त कराया ।

वहाँ से चले हुए श्रीनीलकण्ठ ब्रह्मचारी संवत् १८५६ (अठारह सौ छप्पन) श्रावण कृष्णा ६-षष्ठी के दिन लोजपुर में पधारे । लोजपुर में उद्धव के अवतार श्रीरामानन्द स्वामी के शिष्य मुक्तानन्द स्वामी आदिक साधु, उनको देखें । उन्हें साधु लक्षणों से युक्त श्रीकृष्णभगवान के भक्त जानकर, उनके साथ स्वयं रहने लगे । कुछ माह वहाँ रहकर फिर वहाँ से उन साधुओं के साथ चले, तो गिरनार पर्वत की छाया में पीपलाणा गाँव में रहनेवाले नरसिंह महेता नामक ब्राह्मण के घर में विराजमान श्रीरामानन्द स्वामी के दर्शन संवत् १८५६ (अठारह सौ छप्पन) में ज्येष्ठ कृष्णा १२-द्वादशी के दिन किये । वे स्वामी कैसे हैं ? तो गौर एवं पुष्ट[१] है मूर्ति जिनकी ऐसे हैं, और श्वेतवस्त्र पहने हैं, तथा नैष्ठिक ब्रह्मचारी का वेष धारण किये हैं । ऐसे स्वामी को साष्टांग[२] नमस्कार करके और भेट के उनके पास बैठे । फिर वे स्वामी तो श्रीनीलकण्ठ ब्रह्मचारी को देखकर बहुत आनन्दित हुए । और उनके समस्त वृत्तान्त को पूछा। तब श्रीनीलकण्ठ ब्रह्मचारी अपना जन्मस्थान, कुल, माता-पिता, गोत्र, वेद, प्रवर, गुरु तथा इष्टदेव आदि सभीको यथावत् कहने लगे । अपना जो वैराग्य, स्वयं ने जैसे स्वजनों का त्याग किया, स्वयं जैसे वन में निवास करके रहे, स्वयं ने जिस तरह विविध प्रकार की तपश्चर्या की, तथा स्वयं ने जैसे अष्टांग योग सिद्ध किया, तथा स्वयं ने जैसे तीर्थयात्राएँ की, तथा उन तीर्थों में रहे जो पाखण्डी गुरुओं को स्वयं ने जैसे पराजित किया; इत्यादिक जो समस्त अपना वृत्तान्त था उसे अनुक्रम से विस्तारपूर्वक कहा । तब उन बातों को[३] सुनकर स्वामी तो अतिशय प्रसन्न हुए और श्रीनीलकण्ठ ब्रह्मचारी के प्रति बोले कि "हे ! ब्रह्मचारी आप तो हमारे अपने है; क्योंकि, आपके पिता जो धर्म, उन्होंने प्रथम प्रयागक्षेत्र में हमसे ही भागवती दीक्षा ली थी तथा हमारी आज्ञा

१. गोरा रंग और सुदृढ़ २. दण्डवत् प्रणाम ३. सारे वृत्तान्त को

से मुमुक्षुजनों को धर्म सहित श्रीकृष्ण भगवान की भक्ति का उपदेश करते हुए कौसल देश में रहते थे । उन धर्म के आप पुत्र हैं, और गुणों से तो अपने पिता से भी अधिक हैं" । इस तरह के स्वामी के वचनों को सुनकर श्रीनीलकण्ठ ब्रह्मचारी अतिशय प्रसन्न होकर स्वामी के पास रहने लगे । संवत् १८५७ (अठारह सौ सत्तावन) कार्तिक शुक्ला-११ एकादशी के दिन उन स्वामी से भागवती दीक्षा ग्रहण की । तब उन स्वामी ने उनका नाम '**सहजानन्द**' तथा दूसरा नाम '**नारायणमुनि**' रखा । वे अतिशय प्रीतिपूर्वक उन स्वामी की सेवा करने लगे । वे स्वामी सर्व साधुगुणों से सम्पन्न एवं अति समर्थ ऐसे नारायणमुनि को जानकर और अपनी जो धर्मधुर थी उसे नारायणमुनि को सौंपकर, संवत् १८५८ (अठारह सौ अठ्ठावन) मार्गशीर्ष शुक्ला-१३ त्रयोदशी के दिन देह त्याग करके पुनः बदरिकाश्रम में गए और दुर्वासा के शाप से मुक्त हो गए ।

सत्संग विचरण

श्रीसहजानन्द स्वामी अपने गुरु की देह क्रिया यथाविधि सम्पन्न करके धर्म की धुरा को वहन करने लगे । श्रीरामानन्द स्वामी के आश्रित जो साधु, ब्रह्मचारी एवं गृहस्थ थे, उनका सत्शास्त्रों के उपदेश से पोषण करने लगे । उन्हें अपना अलौकिक प्रताप दिखाकर उनके चित्त को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया । उसके बाद स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज अपने शिष्य जो त्यागी साधु तथा ब्रह्मचारी तथा कई गृहस्थ सत्संगियों से आवृत्त होते हुए सोरठ, हालार, कच्छ, झालावाड़, काठियावाड़, भाल, गुजरात इत्यादिक सभी प्रदेशों में अपने प्रताप का विस्तार करते हुए तथा धर्म, ज्ञान एवं वैराग्य से युक्त भक्ति का प्रवर्तन कराते हुए, अधर्म का उच्छेद करते हुए और अधर्मी पाखण्डी असुरांश गुरुओं का पराभव करते हुए विचरण करने लगे ।

श्रीजीमहाराज ने जिन-जिन देशों[१] में विचरण किया, उन-उन देश के बहुत से लोग श्रीजीमहाराज के अलौकिक ऐश्वर्य को देखकर आश्रित होने लगे, और श्रीजीमहाराज का प्रकट प्रमाणरूप से भजन करने लगे । श्रीजीमहाराज

१. प्रदेशों

उन लोगों के उत्साह के लिए, और उनकी बुद्धि की दृढ़ता के लिए विभिन्न प्रकार के ऐश्वर्यों का समाधि से साक्षात्कार कराते थे। इनमें से बहुत से लोगों को तो गोलोक के मध्य जो अक्षरधाम, उसमें लक्ष्मी, राधिका और श्रीदामादिक पार्षदों सहित श्रीकृष्णरूप में अपने दर्शन दिये। कई लोगों को तो वैकुण्ठलोक में लक्ष्मी तथा नन्द-सुनन्दादिक पार्षद सहित विष्णुरूप में अपने दर्शन दिये। कई लोगों को तो श्वेतद्वीप में निरन्नमुक्त सहित महापुरुषरूप में अपने दर्शन दिये। कितनों को तो अव्याकृतधाम में लक्ष्मी आदिक शक्तियाँ और पार्षदों सहित भूमापुरुषरूप में अपने दर्शन कराये। कितनों को तो बदरिकाश्रम में मुनिमण्डल सहित नरनारायण के रूप में अपने दर्शन दिये। कितनों को तो क्षीरसमुद्र में लक्ष्मी तथा शेषनाग सहित योगेश्वररूप में अपने दर्शन दिये। कई लोगों को तो सूर्यमण्डल में हिरण्यमय पुरुष के रूप में अपने दर्शन देते थे। कई लोगों को तो अग्निमण्डल में यज्ञपुरुषरूप में अपने दर्शन देते थे। कितने लोगों को तो वे प्रणवनाद नामक नाद को तत्काल सुनवाते थे। कितने लोगों को तो कोटि-कोटि सूर्यसमान अपने तेज को दिखाते थे। कितनों को तो वे जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति से पर, सच्चिदानन्द है लक्षण जिनका, और दृष्टा है नाम जिनका, ऐसे जो ब्रह्म, उस रूप में अपने दर्शन देते थे। कई मनुष्यों को तो ब्रह्माण्ड के आधार और पुरुषसूक्त में वर्णित विराटपुरुष के रूप में अपने दर्शन दिये। कितने लोगों को तो वे भूगोल एवं खगोल में रहनेवाले देवताओं के स्थानक तथा ऐश्वर्य को दिखाते थे। कई लोगो को तो आधार[१] आदिक षट्चक्र में स्थित गणेश आदि देवताओं को पृथक्-पृथक् दिखाते थे। कभी-कभी तो सौ-सौ कोस दूर रहे ऐसे जो अपने भक्त, उन्हें प्रत्यक्षप्रमाण से अपना दर्शन देते थे। कभी-कभी तो दूरवर्ती स्थानों में रहनेवाले अपने भक्तों ने अपने घरों में श्रीजीमहाराज की प्रतिमा के आगे अर्पण किये हुए नैवेद्य को अपने भक्तों को विस्मित करते हुए ग्रहण[२] करते थे। कभी-कभी तो देहत्याग कर रहे अपने भक्तों को

१. आधार(मूलाधार), स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, ब्रह्मरंध्र २. भोजन

अपने धाम में ले जाने की इच्छा करते हुए, वहाँ स्वयं आकर उन भक्तों के गाँव में रहनेवाले दूसरे भक्तों और अभक्तों को भी अपना साक्षात दर्शन देते थे । इस तरह से मुमुक्षु अथवा अमुमुक्षुजनों को अपने अलौकिक ऐश्वर्य को दिखाते थे, ऐसे श्रीसहजानन्दजी महाराज को देखकर, अतिशय विस्मित हुए ऐसे हजारों मनुष्यों अपने-अपने मत तथा गुरु का त्याग करके श्रीजीमहाराज का अनन्य आश्रय करके प्रकट प्रमाणरूप से भजन करने लगे ।

इसके बाद बहुत से मत मतान्तरवादी, श्रीजीमहाराज के पास विवाद करने के लिए आये, परन्तु वाद-विवाद से श्रीजीमहाराज को जीतने में कोई भी समर्थ नहीं हुए । वे सारे मतवादीलोग श्रीजीमहाराज के अलौकिक ऐश्वर्य-प्रताप को देखकर तथा नमस्कार करके बोले कि 'हे महाराज ! आप तो परमेश्वर हैं, इसलिए हमारे जो इष्टदेव हैं उनके दर्शन हमें कृपा करके कराइए ।' इस तरह उनके प्रार्थनावचन सुनकर, उन सभीको बैठाकर अपने प्रताप से उन्हें तत्काल समाधि करवाई । उन सभीने श्रीजीमहाराज के दर्शन मात्र से खींच गए है नाड़ी-प्राण जिनके, ऐसी स्थिति में अपने-अपने हृदय में अपने-अपने इष्टदेव के रूप में श्रीजीमहाराज के दर्शन किये । इनमें जो वल्लभकुलाश्रित वैष्णव थे तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के थे तथा माध्व सम्प्रदाय के थे, वे तीनों[१] तो गोपियों के समूह से घिरे हुए और वृन्दावन में रहकर बाललीलाएँ करने से मनोहरमूर्ति ऐसे श्रीकृष्ण भगवान के स्वरूप में देखने लगे । रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायी नन्द, सुनन्द, विश्वक्सेन तथा गरुड आदिक पार्षद सहित लक्ष्मीनारायण के रूप में उन्हें देखने लगे । रामानन्दियों ने उन्हें सीता-लक्ष्मण और हनुमान सहित दिव्य सिंहासन पर विराजमान श्रीरामचन्द्रजी के रूप में देखे। शंकराचार्य के मतावलंबियों[२] ने उन्हें ब्रह्मज्योति के रूप में देखे। शैवों ने उन्हें पार्वती और प्रमथगणों सहित शिवजी के रूप में देखे। जो सूर्यनारायण के उपासक थे, वे तो सूर्यमण्डल में स्थित हिरण्यमय पुरुष के रूप में देखने लगे। जो गणपति के उपासक थे वे तो महागणपति के रूप में देखने लगे। जो देवी के उपासक थे वे तो देवीरूप में देखने लगे । जो जैन थे वे लोग

१. तीनों सम्प्रदायों के अनुयायियों २. मत-सम्प्रदाय के अनुयायी

तो तीर्थंकर के रूप में देखने लगे । और जो यवन[१] थे वे तो पैगम्बर रूप में देखने लगे । इस प्रकार से समाधि से अपने-अपने इष्टदेव के रूप में श्रीजीमहाराज को देखकर तथा सभीके कारण समझकर, अपने मत-मतान्तरों[२] का त्याग करके श्रीजीमहाराज का दृढ़ आश्रय करने लगे और प्रकटप्रमाण भजन करने लगे । इस प्रकार से श्रीसहजानन्दजी महाराज अपने प्रताप से जीव के मूल अज्ञान का नाश करते हुए पृथ्वी पर नष्टप्राय एकान्तिक धर्म का अच्छी तरह से स्थापन करने लगे ।

उन्होंने अपने धनवान भक्त गृहस्थ सत्संगियों द्वारा बहुत से अन्नक्षेत्र करवाये; तथा हिंसा रहित विष्णुयाग, महारुद्र तथा अतिरुद्र आदि यज्ञ कराये। उन यज्ञों में हजारों ब्राह्मणों को मिष्ट अन्न से तृप्त किये; और उन ब्राह्मणों को बहुत प्रकार के दान दिलवायें । वे साधु, ब्राह्मण और देवतोओं को पूजन और भोजन से बार-बार तृप्ति कराते थे । तथा अधर्म एवं पाखण्ड का बार-बार उच्छेद करते थे । श्रीजीमहाराज ने स्वयं जहाँ-जहाँ विचरण किया, वहाँ- वहाँ के अपने भक्तजनों को वर्णाश्रम का धर्म, आत्मज्ञान, वैराग्य, अपने स्वरूप का ज्ञान तथा माहात्म्य सहित अपनी भक्ति के बहुत प्रकार के भेदों का विस्तार पूर्वक यथार्थ रूप से वर्णन किया। इस तरह प्रतिदिन अपने भक्तजनों को आनन्द कराते हुए श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा नगर में अपने भक्त अभय[३] नामक राजा, उनकी पुत्रियां एवं उनके पुत्र; इन सभीकी भक्ति से वश होकर उनके घर स्वयं निवास करने लगे । वहाँ रहकर वे जन्माष्टमी, रामनवमी, प्रबोधिनी एकादशी, होली और अन्नकूट आदि उत्सवों के दिनों में मूल्यवान सामग्रियाँ मंगवाकर बड़े उत्सव करवाते थे । इन उत्सवों में परमहंस, ब्रह्मचारी तथा देश-विदेश के जो हरिभक्त सत्संगी, श्रीजीमहाराज के दर्शन के लिए बार-बार आते थे, वे अनेक प्रकार के वस्त्र, आभूषण, चन्दन, पुष्प इत्यादिक पूजा की सामग्रियों से श्रीजीमहाराज की पूजा करते थे । इन उत्सवों में श्रीजीमहाराज

१. मुस्लिम २. मार्ग, पन्थ, सम्प्रदायों ३. अेभल खाचर

विविध प्रकार की भोजन सामग्रियाँ बनवाकर हजारों साधुओं को तथा ब्राह्मणों को बहुत प्रकार से बार-बार तृप्त करते थे ।

तिल-चिह्न वर्णन

ऐसे श्रीसहजानन्द स्वामी महाराज की मूर्ति के जो चिह्न, उसे प्रथम लिखते हैं : श्रीजीमहाराज के दोनों चरणारविन्द के तलवों में ऊर्ध्वरेखाएँ हैं, वे कैसी हैं ? जो अंगूठों के पास की ऊँगलियों के दोनों ओर निकली हुई हैं, और एड़ी के दोनों ओर निकली हुई हैं । और दायें पैर के अंगूठे के निचले भाग में[१] ऊर्ध्वरेखा से मिलता[२] हुआ जव का चिह्न है । उनके दाहिने पैर के तलवे में ऊर्ध्वरेखा के दोनों ओर कमल, अंकुश, ध्वज, अष्टकोण, वज्र, स्वस्तिक, जम्बूफल के चिह्न हैं । दाहिने पैर के अंगूठे के नाखून में एक खड़ी लाल रेखा का चिह्न है, और वही अंगूठे के बाहर के भाग में एक तिल है । उस अंगूठे की पासवाली ऊँगली के अंगूठे की ओर के भाग में एक तिल है । दायें पैर की आखरी ऊँगली के बाहरी भाग में नाखून के पास एक तिल है । बायें पैर की ऊर्ध्वरेखा के बायें किनारे दो श्याम चिह्न पास-पास में हैं, और उन ऊर्ध्वरेखा के समीप में ही फन के तने में एक व्योम का चिह्न है । बायें पैर के तलवे में ऊर्ध्वरेखा की दोनों ओर धनुष, कलश, मत्स्य, त्रिकोण, गोपद, अर्धचन्द्र के चिह्न हैं । दोनों पैरों के तलवे लाल[३] हैं, दोनों पैरों के अँगूठों और ऊँगलियों के नाखून रक्तिम (लाल) हैं और उठे हुए, और तेजस्वी हैं । दोनों पैरों के अँगूठे तथा ऊँगलियों पर सूक्ष्म सूक्ष्म[४] कोमल रोम के चिह्न हैं । दोनों पैरों के अंगूठे और उनके पास की दोनों ऊँगलियों पर पादुका[५] के घिसने के चिह्न हैं । तथा दोनों पैरों के बाहर के टखनों पर तथा उनसे नीचे की ओर आसन के घिसने के चिह्न हैं । दायें पैर के टखने से पाँच अंगुल ऊपर नली पर एक छोटा तिल हैं । उस पैर की जांघ के बाहर की ओर एक बड़ा चिह्न है । बायें पैर के टखने से पाँच अंगुल[६] ऊपर नली पर एक बड़ा तिल है । उसके ऊपर पास में ही एक छोटा तिल है । उसी पैर के घुटन के बाहर की ओर एक चिह्न

१. मूल में, तलवे में २. स्पर्शता हुआ ३. रक्तिम ४. छोटे-छोटे
५. खडाऊँ ६. तसु (एक प्रकारका नाप, Inch)

है। कटिभाग[१] में दोनों ओर धोती पहनने से घिसाई के श्याम चिह्न है। सदा शीतल उदर पर त्रिवलि पड़ती है। गहरी एवं गोलाकार नाभि के दोनों ओर तिल है। उसमें दायीं ओर तो नाभि के किनारे पर तिल है, तथा बायीं ओर नाभि से थोड़ी दूरी पर है। और दायीं कोख पर एक बड़ा तिल है, और उसके पास एक छोटा तिल है। नाभि से ऊपर दो अंगुल दूर तीन तिल हैं, उनमें दो नलियों के ऊपर एक-एक है, तथा एक बीच में है। उस बीच के तिल से दो अंगुल ऊपर एक तिल है। बांयीं ओर कोख से ऊपर तथा बगल के नीचे चार बड़े तिलों की एक खड़ी शृंखला है, उसके पास बाहर की तरफ चार छोटे तिलों की दूसरी एक खड़ी शृंखला है। हृदय के भाग पर रोम का श्रीवत्सचिह्न है, तथा छाती के बीच अर्धचन्द्राकार पांच अंगुल चौड़ा और थोड़ा रक्तिम एक बड़ा चिह्न है, वह दायीं ओर कुछ विशेष उपसा हुआ है। इस चिह्न के बीच थोड़े बायीं ओर एक बड़ा तिल है। इस तिल सें बायीं ओर दो अंगुल की दूरी पर एक तिल है। उससे बायीं ओर दो अंगुल के अन्तर पर बायें स्तन से ऊपर एक तिल है। दोनों स्तनों के ऊपर दो छाप के चिह्न हैं। दायीं भुजा के पास में भीतर की ओर सीधी पंक्ति से[२] चार तिल हैं। दायीं भुजा में मूल भाग से तीन अंगुल नीचे एक छाप का चिह्न है; उस छाप के चिह्न के पास बाहर की ओर छोटे चार तिल हैं। दाहिनी कोहनी से नीचे तथा कलाई से ऊपर दो तिल हैं। दाहिने हाथ की अनामिका के मूल से ऊपर अर्धअंगुली दूर एक छोटा तिल है। बायीं भुजा के मूल से तीन अंगुल नीचे एक छाप का चिह्न है। बायीं कोहनी से दो अंगुल नीचे हाथ के ऊपरी भाग में एक तिल है। बायें हाथ के अँगूठे के पास की उँगली तथा बीच की उँगली, उन दोनों के बीच एक तिल है। उस अँगूठे के पास की उँगली के नाखून के पास भीतर की ओर एक छोटा तिल हैं। और बायें हाथ के पहुँचों के ऊपर एक तिल है। दोनों हाथों के नाखून रक्त हैं, उपसे हुए और तेजस्वी हैं। उन नाखून के अग्रभाग अति तीक्ष्ण हैं। दोनों हाथों के तलवे रक्तिम हैं। उन तलवों

१. कमर २. सीधे क्रम से

में जो रेखाएँ हैं वे कुछ श्याम दिखाई देती हैं। दोनों हथेलियों के मूल से ऊपर आठ अंगुल उपर दो छाप के चिह्न हैं। दोनों कोहनियां श्याम हैं। कण्ठ के गड्ढे के बीच एक तिल है। उस तिल से थोड़ी ही दूर एक छोटा तिल है, ठोड़ी[१] के नीचे एक तिल है। बायें कंधे से दो अंगुल नीचे पीठ पर एक रोम सहित एक बड़ा तिल है। इस तिल से नीचे एक तिल है, और फिर उससे नीचे दूसरा तिल है। रीढ़ की बायीं ओर गर्दन से दो अंगुल नीचे एक तिल है। दायीं भुजा व स्कन्ध के सन्धिभाग पर एक छोटा तिल है। रीढ़ की दायीं ओर पीठ के मध्यभाग में चार तिल हैं। नासिका के पास दाहिनी ओर एक बड़ा तिल है। उस तिल से उपर और आँख के कोने से नीचे पास में ही एक छोटा तिल है। दोनों नेत्रों के नीचे की एवं ऊपर की पलकों के ऊपर और नीचे छोटी-छोटी शिकन[२] पड़ती हैं। नासिका के ऊपर चेचक के छोटे-छोटे चिह्न हैं। मुख में दायीं और नीचे की पहली डाढ़ में श्याम चिह्न है। जिह्वा कमलपत्र के समान लाल है। बायें कान के भीतर श्यामबिन्दु का चिह्न है। विशाल और उठे हुए ललाट में तिलक के आकारवाली दो खड़ी रेखाएँ हैं। ललाट में दाहिनी ओर बालों से नीचे एक चिह्न है। दाहिने कान की बूटी पर एक छोटासा तिल है। तालु के ऊपर एक बड़ा तिल है। और शिखा से आगे पास में ही एक तिल है। शिखा के पीछे दाहिनी ओर तीन तिल हैं। इनके अलावा दूसरे भी छोटे-छोटे अनेक तिल शरीर में कई हैं। श्रीजीमहाराज की मूर्ति अतिशय रूप, सुन्दरता एवं मधुरता से युक्त है। वह मूर्ति पुष्ट और अतिशय शोभायमान है। उस मूर्ति का दर्शन करनेवाले जो भक्तजन हैं, उनके मन तथा नेत्र दोनों को हर लेनेवाली वह मूर्ति है। वह मूर्ति घनश्याम है और शान्त स्वभाव से युक्त है। और दुर्गपत्तन[३] में स्थित श्रीगोपीनाथजी की प्रतिमा जितनी ऊँची है उतनी ही ऊँची श्रीजीमहाराज की मूर्ति है। श्रीजीमहाराज की मूर्ति के कर, चरण आदिक सभी अंग सामुद्रिक शास्त्र में जैसे कहे हैं वैसे

१. दाढ़ी २. झुर्रियाँ ३. गढ़डा गाँव

हैं। इस प्रकार से श्रीजीमहाराज की मूर्ति के चिह्नों को अपनी स्मृति के अनुसार लिखा गया है ।

स्वाभाविक चेष्टा

अब श्रीजीमहाराज की स्वाभाविक चेष्टाओं को लिखते हैं। श्रीजीमहाराज को प्रतिदिन रात्रि की पीछली चार घड़ी अथवा तीन घड़ी शेष रहे तब जागकर दातून करने का स्वभाव है। इसके बाद स्नान करके धुले हुए सूखे सूक्ष्म वस्त्र से शरीर पोंछकर, खड़े होकर, पहनने के वस्त्र को दोनों जांघो के बीच इकट्ठा करके उसे दोनों हाथों से निचोड़ ने के बाद जांघों और पैरों को पोंछकर, वे धुले हुए सूक्ष्म तथा घट्ट श्वेतवस्त्र को अच्छी तरह से कसकर पहनते हैं। श्वेत वस्त्र पहनने की रुचिवाले श्रीजीमहाराज, इसके बाद दूसरा धुला हुआ सूक्ष्म श्वेत वस्त्र को ओढ़कर चाखड़ीयाँ[१] पहनकर अपना नित्यविधि करके भोजन के लिए पधारते हैं। पवित्र भोजन के लिए बैठने के स्थान पर जाकर आसन पर विराजते हैं। जब भोजन के लिए बैठते हैं तब ओढ़ने के वस्त्र को कान के पीछे हटाकर, दोनों कानों को खुला रखकर भोजन करने बैठते हैं। भोजन के लिए बैठते हैं तब पूर्व अथवा उत्तर की ओर मुख रखकर बायें पैर से पालथी लगाकर तथा दाहिने पैर को खड़ा रखकर, उसके ऊपर दाहिने हाथ की कोहनी रखकर भोजन करते हैं। भोजन करते-करते बीच में बार-बार पानी पीने का स्वभाव है। भोजन करते समय जो-जो खाद्य-व्यञ्जन अच्छा स्वादिष्ट लगे, उसे वे अपने मनभावन अन्य कोई श्रेष्ठ हरिभक्त को दिलाते हैं। भोजन करते-करते डकार लेकर पेट पर हाथ फेरने का स्वभाव है। कभी-कभी तो वे किसी भक्त पर प्रसन्न होते हुए अपनी प्रसादी का थाल उसे देते हैं या दिलाते हैं। यदि साधुओं को परोसना हो तब बाये कंधे पर खेस डालकर और उस खेस के छोर को कमर पर कसकर बाँध के परोसते हैं। जब परोसते हैं तब लड्डू-जलेबी आदि खाद्य व्यञ्जनों का बार-बार नाम लेते हुए पंक्ति में बार-बार फिरते हैं। साधु-हरिभक्तों को भोजन कराने में और परोसने में उनकी श्रद्धा,

१. खडाऊँ

आदर और प्रसन्नता बहुत है । श्रीजीमहाराज कभी-कभी वर्षाऋतु तथा शरदऋतु में दुर्गपत्तन के पास घेला नदी के जल को निर्मल जानकर साधु तथा सत्संगियों के साथ स्नान करने पधारते हैं। उस नदी के जल की प्रशंसा करते हुए अपने भक्तजनों को आनन्द प्रदान करते हुए, उन भक्तजनों के साथ बहुत प्रकार से जल-क्रीडायें करते हैं । जल में जब डुबकी लगाते हैं तब अपने कान, नेत्र तथा नाक को दोनों हाथों के अंगूठों और ऊँगलियों से दबाये रखते हैं; तथा डुबकी लगाकर काफी समय के बाद जब बाहर निकलते हैं तब अपने मुखारविंद पर दाहिना हाथ फिराकर कुल्ला करने का स्वभाव है। कभी-कभी तो नदी के प्रवाह के बीच में खड़े रहकर साधुओं से तालियाँ बजवाकर कीर्तन करवाते हैं और स्वयं भी उनके साथ ताली बजाते हुए उत्साह सहित कीर्तन गाते हैं । जब जल में स्नान करने के लिए प्रवेश करते हैं तथा स्नान करके बाहर निकलते हैं तब अपने प्रिय कोई सबल[१] भक्तजन के हाथ को अपने हाथ से पकड़ते हैं। और अपने दर्शन से हर्ष युक्त मुखवाले अपने भक्तजनों के सहित नदी के जल से बाहर निकलकर नदी के तट पर खड़े रहते हुए पहले कही गई रीति के अनुसार पहने वस्त्रों को निचोड़कर और शरीर को पोंछकर सफेद खेस को अच्छी तरह कसकर पहनते हैं। फिर मस्तक पर सफेद फेंटा बाँधते है; और मस्तक पर जब फेंटा बाँधते हैं तब फेंटे के छोर की कलगी रखके बाँधते हैं। फेंटा के एक घुमावदार पेच से भृकुटी को दबाकर बाँधते हैं। इसके बाद सफेद खेस को बायें कंधे पर डालकर और उस खेस के छोर को कटी के साथ कसकर बाँधते हैं। सुन्दर कीमती घोड़ी या घोड़े पर सवार होकर, अपने हजारों भक्तजनों से चारों ओर से घिरे हुए तथा अपने दर्शन करते हुए भक्तजनों के नेत्रों को आनन्दित करते हुए अपने विश्राम स्थान[२] पर पधारते हैं। श्रीजीमहाराज स्वयं जब चलते हैं तब सफेद पिछौरी[३] अथवा सफेद खेस को बायें कंधे पर आड़ रखकर दाहिने हाथ को हिलाते हुए चलते हैं। कभी रुमाल से युक्त दाहिने हाथ को हिलाते हुए चलते हैं; कभी बायें हाथ को

१. बलवान २. किनारे ३. उतारा, निवास ४. ओढ़ने की सफेद मोटी धोती, पच्छेवाड़ा

कमर पर रखकर दाहिने हाथ में रुमाल लेकर उस दाहिने हाथ को हिलाते हुए चलते हैं । श्रीजीमहाराज का सहज ही जल्दी[१] चलने का स्वभाव है । और जब स्वयं चलते हैं तब उनके पीछे चलनेवाले भक्तजन दौड़ते हैं, तब बड़ी मुश्किल से उनके साथ चल पाते हैं । वे इस तरह से शीघ्रगति से चलते हैं। जब स्वयं खडाऊँ पहनकर चलते हैं, तब खड़ाऊँ से चट-चट शब्द होते हैं। कभी तो स्वयं किसी कार्य को करने के लिए तत्पर होकर खड़े रहे हों, या धीरे-धीरे चलते हों, तब अपने दाहिने हाथ की मुट्ठी को बन्द करके उसे अपनी दायीं जाँघ पर धीरे-धीरे मारने का स्वभाव है । कभी-कभी बहुत मनुष्यों की भीड़ इकट्ठी होती है और धूल उड़ती है, तब अपनी नासिका और मुखारविन्द पर रुमाल रख देते हैं । कभी तो वे ढोलिया[२] पर बैठते हैं, और कभी तो चद्दर बिछी गद्दी पर बैठते हैं, कभी तो गद्‌दी पर बैठते, तो कभी गलीचे[३] पर बैठते हैं, तो कभी ढोलिया पर रखे हुए तकिया पर बैठते हैं । जब बैठते हैं तब कभी तो पालथी लगाकर बैठते हैं; तो कभी वस्त्र से घुटनों को बाँधकर बैठते हैं, वे जब-जब बैठते हैं तब अक्सर तो तकिये का टेका[४] लेकर बैठते हैं । कभी तो स्वयं ढोलिया पर अथवा आसन पर बैठे हुए तकिये का टेका लेकर अपने पैर को सीधा[५] करके पैर के ऊपर पैर रखकर बैठने का उनका स्वभाव है । कभी तो स्वयं बैठे हुए बायें चरणारविन्द की ऊर्ध्वरेखा के ऊपर अपने दाहिने हाथ की ऊँगली को खड़ी घुमाते हैं । और कभी तो अपनी जीभ को एक ओर के दांतों के तले दबाकर बैठने का सहज स्वभाव है । कभी तो स्वयं बैठे हुए अपनी गर्दन को दोनों ओर मरोड़ के चटकाना[६] बजाते हैं। कभी तो अपने भक्तजनों से अपनी पीठ को दबवाते हैं तब छाती के नीचे तकिया रखकर दबवाते हैं । श्रीजीमहाराज जहाँ-जहाँ सहजभाव से बैठे हों तब वहाँ तुलसी की माला से जप करते हैं । कभी चेष्टा[७] करते हुए उस माला को दोहरी करके दो-दो मनके एक साथ फेरते है । और कभी तो वार्ता[८] करते

१. शीघ्र, उतावले २. उत्तम प्रकार का पलंग ३. बिछौना ४. आधार
५. लंबा ६. कड़ाक ध्वनि ७. मस्ति, खेल ८. ज्ञानवार्ता

हुए उस माला को इकट्ठी करके दोनों हाथों की हथेलियों के बीच रखकर घिसते हैं। कभी तो माला न होने पर अपने हाथों की ऊँगलियों के पोरों को गिनते हैं। कभी तो नेत्रकमलों को बन्द करके ध्यान करते हुए बैठते है, कभी तो नेत्रकमल को खुले रखकर ध्यान करते हुए बैठते हैं। और कभी तो ध्यान करते हुए चौंककर जग जाते हैं। कभी तो अपने आगे साधुगण जब वादित्र[१] को बजाकर कीर्तन गाते हैं तब स्वयं ध्यान करते हुए बैठते हैं। कभी तो चुटकी बजाते हुए उन साधुओं के साथ गाने लगते हैं। कभी तो साधु जब ताली बजाके कीर्तन गाते हैं तब उनके साथ स्वयं ताली बजाके कीर्तन गाते हैं। कभी तो अपने आगे जब साधु वाद्य बजाकर कीर्तन गाते हो, तथा अपने आगे कथा वाचन हो रहा हो तथा स्वयं अपने भक्तजनों के आगे बातें करते हों तब वे खिसककर उनके नजदीक जाते हैं। जब कथा वाचन करवाते हों तब बार-बार 'हरे' ऐसे शब्द का उच्चारण करते हैं। और अन्य जो-जो क्रियाएं करते हों उनमें भी उस कथा के अनुसंधान से कभी तो अचानक 'हरे' ऐसे शब्द का उच्चारण करते हैं और जब उनकी स्मृति होती है तब अपने पास बैठे भक्तजनों को देखकर मंद-मंद हँसने लगते हैं। कभी तो स्वयं प्रसन्नता से वार्ता[२] करते हों अथवा कथा करवाते हों अथवा कीर्तन कराते हों अथवा किसी विचार में बैठे हों, तब यदि कोई बीच में भोजन करने की बात पूछने आते हैं या कोई पूजा करने के लिए आते हैं या हार चढ़ाने के लिए आते है तब उन पर बहुत रुष्ट हो जाते हैं।

कभी तो वे अपने भक्तजनों की सभा में बैठे हुए धर्म, ज्ञान, वैराग्य से युक्त भक्ति विषयक जो-जो बातें हैं, उन्हें अपने भक्तजन के आगे करते हैं। और कभी तो योग, सांख्य, पञ्चरात्र, वेदान्त इत्यादिक जो शास्त्र हैं, उनके रहस्य की बातें करते हैं। और कभी तो अपने भक्तजनों की सभा में बैठे हुए उन भक्तजन के आगे धर्मादिक सम्बन्धी वार्ता कहते हैं तब वे प्रथम अपनी दोनों भुजाओं को ऊपर उठाकर, ताली बजाकर, सब को शान्त[३] करके वार्ता

१. वाद्य २. कथावार्ता, ज्ञानवार्ता ३. एकाग्र

करते हैं। कभी तो बहुत भक्तजनों के समूह की बड़ी सभा हुई हो और उनके आगे धर्मादिक सम्बन्धी वार्ता करनी हो, तब दूर बैठनेवालों को भी सुनाई दे, इसलिए स्वयं खड़े होकर और ताली बजाकर सभीको शान्त रखकर वार्ता करते हैं। कभी तो वार्ता करने में एकाग्रचित्त होने से अपने ओढ़ने का वस्त्र खिसक जाता है, उसका भी ध्यान नहीं रहता, ऐसा उनका स्वभाव है। कभी तो अपने भक्तजनों की सभा में बैठे हुए अपने मुखारविन्द के समीप बैठे जो साधु तथा हरिभक्त, उन्हें परस्पर प्रश्न-उत्तर करवाते हैं। उसमें यदि कोई कठिन प्रश्न पूछते हैं तब उसका उत्तर न मिले तो सभी को आनन्द कराते हुए स्वयं उत्तर करते हैं। कभी तो वे वार्ता करते-करते पुष्पगुच्छ को अथवा किसी बड़े पुष्प को दोनों हाथों से मसल देते हैं। कभी तो वे बातें[१] करते हुए अपने रुमाल के छोर को मरोड़ते हैं ऐसा उनका सहज स्वभाव है। कभी तो उत्सव में विभिन्न देशों से आये हुए अपने भक्तजनों द्वारा प्रीतिपूर्वक की गई बड़ी पूजा-अर्चना को वे अंगीकार करते हैं। कभी तो उत्सव के अवसर पर उनकी पूजा करने के लिए बहुत से भक्तजन इकट्ठे होकर आते है, तब उनके द्वारा चढ़ाये गए जो पुष्पहार, उन्हें वे अपने दोनों हाथों से ग्रहण करते हैं, तथा चरणारविन्द से ग्रहण करते हैं तथा छड़ी से ग्रहण करते हैं। कभी तो वे अपने दर्शनमात्र से अपने भक्तजनों को समाधि कराते हैं, और कभी तो उस समाधि से तत्काल उठाते हैं। कभी तो वे जब सभा में बैठे हो तब यदि किसी भक्तजन को अपने पास बुलाना हो तब नेत्रकमलों के इशारों से अथवा अंगूठे के पास की ऊँगली के इशारे से उस भक्त को बुला लेते हैं। कभी तो मोगरा आदि पुष्पों के हार को या नींबू आदि फलों को शीतल जानकर अपनी आँखों पर बार-बार लगाते हैं। कभी तो वे स्वयं भगवत्कथा करवाके सुनते हैं, अथवा वे स्वयं कथा करते हैं, अथवा स्वयं भगवद् वार्ता करते हैं, अथवा कीर्तन गान करावाके उनके साथ स्वयं गाते हैं; अथवा मन्दिर करवाते हैं, अथवा साधु-

१. कथावार्ता

ब्राह्मणों को भोजन करावाते है। इत्यादि सत्कर्म किये बिना कभी भी खाली[१] न रहना, ऐसा उनका स्वभाव है। वे स्वयं भक्ति-धर्म सम्बन्धी जो-जो कार्य का आरम्भ करते हैं, उन्हें सम्पन्न[२] करने में उनको शीघ्रता बहुत हैं। जब उन्हें छींकना हो तब पहले से ही अपने रुमाल को खोजकर उसे अपने मुखारविन्द के आगे रखकर दूरी तक सुनाई दे इस तरह उच्च स्वर से छींकते हैं। जब- जब ऐसी छींक लेते हैं, तब दो-तीन इकट्ठी छींक लेते हैं। जब वे जम्हाई लेते हैं तब **'हरि हरि हरि'** ऐसे शब्द का उच्चारण करते हुए, अपने हाथों से नेत्रकमलों को दो तीन बार मसलते हैं। और निष्काम भक्तों ने की अपनी जो सेवा उसमें है रुचि जिन्हें, ऐसा अपना स्वभाव है। यदि कुछ विनोद करके अतिशय हँसते हैं, तब हाथ से अपने रुमाल को मुखारविंद के आगे रखकर हँसते हैं। कभी तो देशान्तर से अपने पास आये जो साधु तथा स्वयं को प्रिय जो भक्तजन, उन्हें देखकर प्रसन्न होते हुए तुरन्त खड़े होकर उन्हें बाहों में लेकर भेटते हैं तथा उनसे उन-उन देशों के समाचार पूछते हैं। कभी तो उत्सवों में अपने पास रहनेवाले और बाद में अपनी आज्ञा से परदेश में जाने वाले साधु को प्रसन्न होकर भेटते हैं। कभी तो अपने भक्तजनों पर प्रसन्न होकर उनके मस्तक पर अपने दोनों हाथ रखते हैं। कभी तो प्रसन्न होकर किसी भक्तजन के हृदय[३] पर अपने चरणारविन्द को धारण कराते हैं[४]। कभी तो अपनी आज्ञा को तत्काल पालन करने में इच्छुक होकर तत्पर हुआ जो कोई भक्तजन तथा अपनी आज्ञा का अच्छी तरह पालन करके आया जो कोई भक्तजन, उन्हें देखकर उनपर प्रसन्न होते हुए उनके हृदय पर अपने चरणारविंद देते हैं। कभी तो किसी भक्तजन पर प्रसन्न होकर उसे अपनी प्रसादी-पुष्प के हार देते हैं, तथा तुर्रे-बाजूबन्द देते हैं, तथा अपने वस्त्र-आभूषण देते हैं। अतिशय उदार है स्वभाव जिनका ऐसे जो श्रीजीमहाराज, वे अपने को अतिशय प्रिय हो ऐसा जो पदार्थ, वह बहु मूल्यवान हो तो भी उसे देने का मन में संकल्प करते हुए तत्काल उसे सत्पात्र को दे देते हैं, किन्तु देर नहीं

१. निष्क्रिय २. समाप्त, पूर्ण ३. छाती ४. चरण से अंकित करते हैं।

लगाते हैं, ऐसा उनका स्वभाव हैं । कभी तो अपने हाथ-पैर की ऊँगलियों को मरोड़कर चटकाना[१] बजाते हैं । कभी तो अपने पास बैठे भक्तजनों से अपने हाथ-पैर की ऊँगलियों को मरोड़वाकर चटकाना बजवाते हैं । कभी तो किसी प्राणी[२] को दु:खी देखकर अथवा सुनकर तुरन्त दयायुक्त होकर '**राम, राम, राम**' इस तरह बोलने का उनका स्वभाव हैं । और फिर कभी तो हर किसी मनुष्य को दु:खी देखकर, दया से अपने चित्त में खिन्न होते हुए उस पर प्रसन्न होकर, 'उस मनुष्य का दु:ख टल जाये', इस तरह से अन्न-वस्त्रादिक पदार्थ देकर उपकार करते हैं । कभी तो, किसीको कोई मारता हो, उसे देखकर दया से उन्हें न देख पाते हुए तत्काल हुँकार करके उनका निवारण करते हैं । कभी तो अपने सामने कोई किसी साधु का अथवा किसी हरिभक्त का निम्न वचन[३] बोलता है तो उसे सुनकर उस पर वे स्वयं रुष्ट हो जाते हैं और उसका अनादर करके उसे डाँटते हैं । कभी तो अपने शरीर में कोई कसर हो तब वे अपने बायें हाथ की ऊँगली से दाहिने हाथ की नाड़ी को देखते हैं । और स्वयं जब सभा में से उठते हैं तब '**जय सच्चिदानन्द**' अथवा '**जय स्वामिनारायण**' ऐसा कहकर साधुओं को नमस्कार करके उठने का उनका स्वभाव है । जब स्वयं प्रस्थान के लिए मार्ग में घोड़े पर सवार होकर चलते हैं, तब कभी तो लीला करके घोड़े की गर्दन पर अपना एक पैर लम्बा रखकर घोड़े को चलाते हैं । और शयन[४] करते हैं तब प्रथम जगते हुए हाथ की ऊँगलियाँ को खड़ी करके ललाट पर तिलक करने की चेष्टा करके घुमाते हैं। और सोने के समय अपनी माला मांग के उसे दाहिने हाथ में लेकर जप करते हुए सोते हैं । जब वे स्वयं शयन करते हैं तब अपने मुखारविन्द को खुला रखकर सोने का स्वभाव है । जब वे गहरी नींद सोते हैं तब कीसी से थोड़ासा स्पर्श होते ही तत्काल[५] जग जाते हैं और कौन है ? ऐसा उसे पूछते हैं ।

---

१. कड़ाक ध्वनि ३. जीव ४. निन्दा वचन, बुरा-भला
५. निद्राधीन होने से पूर्व । ६. अचानक, हड़बड़ी

इस तरह से श्रीजीमहाराज की जो स्वाभाविक चेष्टाएं हैं, उसे अपनी स्मृति के अनुसार लिखी है । और अन्य भी कितनी ही चेष्टाएँ हैं, ऐसे जो श्रीजीमहाराज, उन्होनें श्रीगढ़डा में रहते हुए अपने भक्तजनों के संशय को टालने के लिए स्वधर्म, आत्मज्ञान, वैराग्य, निजस्वरूप का ज्ञान और अपनी माहात्म्य सहित भक्ति, ये पाँच वार्ता सें सम्बन्धित जो वचनामृत कहे हैं, तथा वहाँ से अन्य गाँवों में जाकर जो वचनामृत कहे हैं, उनमें से कई दिनों के जो वचनामृत हैं, उन्हें श्रीजीमहाराज के एकान्तिक भक्तों की प्रसन्नता के लिए अपनी स्मृति और बुद्धि के अनुसार लिखते हैं ।

समासत:[१] प्रोक्तमिदं चरित्रं श्रीधर्मसूनोरिह यो मनुष्य: । पठिष्यति श्रोष्यति वापि भक्त्या स लप्स्यते वै पुरुषार्थसिद्धिम् ॥

॥ इति श्रीउपोद्‌घात प्रकरणम् ॥

१. श्रीधर्मपुत्र श्रीहरि का यह चरित्र (जीवन चरित्र) यहाँ यथार्थत: कहा गया है, उसे जो मनुष्य भक्तिपूर्वक बांचेगा अथवा सुनेगा भी तो वह निश्चित ही चारों पुरुषार्थ की सिद्धियों को प्राप्त करेगा ।

श्रीगढ़डा प्रथम प्रकरणम्

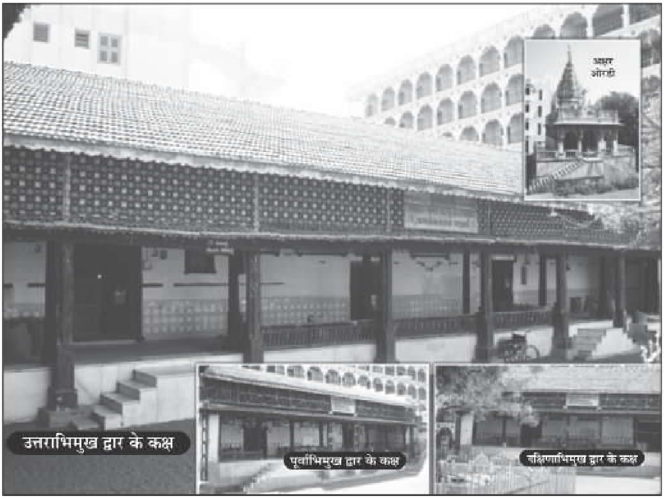

दादाखाचर का निवासस्थान

श्रीगढ़डा प्रथम प्रकरणमें

''भगवान के जिस भक्त को

भगवान का निश्चय माहात्म्य सहित हो,
और सन्त का तथा सत्संगी का माहात्म्य बहुत जानता हो,
और उस भक्त का कर्म कठिन हो
एवं काल भी कठिन हो,
तो भी उस भक्त को
ऐसी भक्ति का अतिशय बल है,
जिससे काल और कर्म;
ये दोनों मिलकर उसका
अनिष्ट नहीं कर सकते ।
और जिसे भगवान तथा
भगवान के सन्त के प्रति यदि निष्ठा में
कुछ फर्क हो
तो भगवान उसका अच्छा करना चाहें,
तब भी अच्छा नहीं होता है ।

– गढ़डा प्रथम ॥७२॥

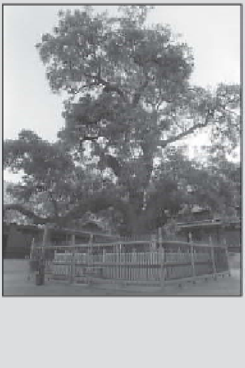

गढ़पुरधाम

श्रीस्वामिनारायण भगवान जिसे अपना घर समझकर २९ वर्ष तक रहे थे ऐसे 'गढ़डा' के पवित्रनाम मात्र से ही हम पावन होते हैं ।

नवखण्ड धरा पर यह धाम सर्वोपरि है । यहाँ की गली-गली में ही नहीं, इस धरा के कण-कण में परब्रह्म के अलौकिक स्पंदनों की अनुभूति का एहसास केवल स्मरण करने से होता है, सम्प्रदाय का कोई भी ऐसा शास्त्र नहीं है जिसमें 'गढ़पुर' नाम का उल्लेख न हो ।

इस गढ़पुर की धरा पर दासत्व के आदर्श दादाखाचर और लाडुबा-जीवुबा जैसे निष्काममूर्ति भक्तों के प्रेमधागे से बँधन में रहे श्रीहरि नित्य परमहसों के साथ ज्ञान गोष्ठी करते थे, भक्तों के साथ प्रश्न-परिप्रश्नों में जुड़ते थे और 'यावत् चन्द्रदिवाकरौ' मोक्ष के अमूल्य रसायण समान वचनामृतों की वर्षा होती थी ।

श्रीहरि के निवासभूत इस गढ़डा में दादाखाचर का दरबारगढ़ (राजभवन), अक्षरभवन, श्रीगोपीनाथजी देव मन्दिर एवं मन्दिर में विराजमान समान आकार की गोपीनाथजी की मूर्ति, लक्ष्मीवाड़ी, राधावाड़ी और जिनके स्मरणमात्र से ही जन्म-जन्मांतर के कल्मष (पापों) का नाश होता है, ऐसी उन्मत्त गङ्गा (घेला नदी) जैसे अनेक पावन स्थान हैं ।

श्रीगढ़डा प्रथम प्रकरणम्

निजैर्वचोऽमृतैर्लोकेऽतर्पयद्यो निजाश्रितान् ।
प्रीतो नः सर्वदा सोऽस्तु श्रीहरिर्धर्मनन्दनः ॥

वचनामृत १ : 'अखण्डवृत्ति का'

*संवत्[१] १८७६ के मार्गशीर्ष शुक्ल ४ चतुर्थी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन[२] में साधुओं के निवास स्थान पर रात्रि[३] के समय पधारे थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख साधु तथा देश-देश[४] के हरिभक्तों की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''सभी साधनों[५] में कौन सा साधन कठिन है ?'' तब सभी ब्रह्मचारी, साधु तथा गृहस्थ; उन्होंने अपनी समझ के

---

* दि. २१-११-१८१९, रविवार

१. उत्तर और पश्चिम भारत में ''उज्जैन'' के राजा विक्रमादित्यने ''विक्रम संवत्'' की शुरूआत की थी। उत्तर भारत में इस संवत्सर का नया वर्ष चैत्र शुक्ला प्रतिपदा से प्रारम्भ होता है, और पश्चिम (गुजरात) में कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा से नया वर्ष प्रारम्भ होता है। फिर भी राजस्थान के कुछ प्रांत में और गुजरात के सौराष्ट्र-कच्छ प्रदेश में आषाढ़ शुक्ला १ प्रतिपदा से नया वर्ष शुरू होता है। इसलिए ''आषाढ़ी संवत्'' मानने में आता था और इस ''वचनामृत'' ग्रन्थ में भी उसी तरह ही मास-तिथि निर्दिष्ट किये हैं, न कि कार्तिकी संवत्।

२. छोटी रीयासत के राजा का शाही निवास स्थान, जिसे 'दरबारगढ़' कहते है।

३. वासुदेवनारायण की संध्या आरती होने के बाद।

४. देश-देशान्तर के, अलग-अलग प्रदेशों के - प्रांत के।

५. भगवान की प्रसन्नता के कारणभूत स्वधर्म, तप आदि उपाय।

अनुसार उत्तर किया, किन्तु[१] न हुआ। फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "लीजिए, हम उत्तर करते हैं कि **भगवान के स्वरूप में मन की अखण्ड[२] वृत्ति रखना, इससे कोई साधन कठिन नहीं है।** जिस मनुष्य के मन की वृत्ति भगवान के स्वरूप में अखण्ड रहती है, उसे इससे दूसरी अधिक प्राप्ति शास्त्र में नहीं कही है; **क्योंकि, भगवान की जो मूर्ति है, वह तो चिंतामणि के समान है।** जैसे चिंतामणि किसी पुरुष के हाथ में हो, वह पुरुष जिन-जिन पदार्थों का चिन्तन करता है, वे-वे प्राप्त होते हैं, उस तरह भगवान की मूर्ति में जिसके मन की वृत्ति अखण्ड रहती है, वह तो जीव, ईश्वर, माया और ब्रह्म के स्वरूप[३] को यदि देखने की इच्छा रखता है, तो तत्काल देखता है तथा वैकुण्ठ, गोलोक, ब्रह्ममहोल; इत्यादिक जो-जो भगवान के धाम हैं, उन्हें भी देखता है। इसलिए **भगवान के स्वरूप में अखण्ड वृत्ति रखना, उससे कोई कठिन साधन भी नहीं है और उससे कोई बड़ी प्राप्ति भी नहीं है।"**

फिर हरिभक्त शेठ गोवर्धनभाई[४] ने श्रीजीमहाराज के प्रति प्रश्न पूछा कि "जिसे भगवान की माया कहते हैं, उसका रूप क्या है?" फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "**भगवान के भक्त को भगवान की मूर्ति का ध्यान करते समय जो पदार्थ[५] बीच में आकर आवरण[६] करता हो, उसे माया[७] कहते हैं।"**

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि "भगवान का भक्त जब पञ्चभूत के देह का त्याग करके भगवान के धाम में जाता है, तब वह कैसे देह को प्राप्त होता है?" तब श्रीजीमहाराज बोले कि "धर्मकुल का आश्रित जो भगवान का भक्त है, वह भगवान की इच्छा से ब्रह्ममय देह[८] को प्राप्त होता है। और जब देह का त्याग करके भगवान के धाम के प्रति जाता है, तब कोई तो गरुड़ पर बैठकर जाता है और कोई तो रथ पर बैठकर जाता है और

१. यथार्थ २. तैलधारावत् अविच्छिन्न ३. पृथक् पृथक् ४. मांगरोल के व्यापारी भक्त ५. स्त्री, पुत्र-धनादिक ६. बाधा ७. माया से देहादिक में अहंममता होती है, जिससे स्त्री आदि पदार्थ का संकल्प होता है, जो अंतरायरूप होने से अखण्ड ध्यान नहीं होता। ८. दिव्य चैतन्यमय

कोई तो विमान पर बैठकर जाता है । इस तरह भगवान के भक्त भगवान के धाम में जाते हैं, उन्हें योगसमाधिवाले हैं, वे प्रत्यक्ष देखते हैं ।''

फिर हरिभक्त ठक्कर हरजी[१] ने श्रीजीमहाराज को पूछा कि ''कुछ लोग तो बहुत दिनों तक सत्संग[२] करते हैं, फिर भी उन्हें जैसी अपने देह तथा देह के सम्बन्धी में गाढ़ प्रीति है, वैसी सत्संग में गाढ़[३] प्रीति नहीं होती है, उसका क्या कारण है ? ।'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''उसे भगवान का माहात्म्य सम्पूर्ण जानने में नहीं आया है । और जिन साधु के संग से भगवान का माहात्म्य परिपूर्ण जानने में आता है, वे साधु जब अपने स्वभाव[४] पर बात करते हैं तब उस स्वभाव को छोड़ नहीं सकता है, और **बात करनेवाले उन साधु का अवगुण[५] लेता है, उसी पाप[६] से सत्संग में गाढ़ प्रीति नहीं होती है ।** क्योंकि, अन्य स्थल[७] में जो पाप किये हो, वे सन्त के संग से नष्ट हो जाते हैं और सन्त के प्रति[८] जो पापों करता है, वे पाप तो एक सन्त के अनुग्रह[९] बिना दूसरे किसी साधन[१०] से टलते नहीं हैं । उसे शास्त्र में कहा है कि

अन्यक्षेत्रे कृतं पापं तीर्थक्षेत्रे विनश्यति ।
तीर्थक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति ।।[११]

इसलिए सन्त का अवगुण यदि न लें, तो उसे सत्संग में दृढ़ प्रीति होती है ।''

।। इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ।।१।।

---

१. गढ़पुर के निवासी **२.** भगवान, सत्पुरुष, सद्धर्म और सत्शास्त्र, इन चारों का संग । **३.** दृढ़, गहरी **४.** माहात्म्यज्ञान में विरोधी काम, लोभ आदि । **५.** ये तो अविवेकी हैं, एकदेशी ज्ञानवाले हैं, दीर्घदर्शी नहीं हैं, व्यवहार को जानते नहीं हैं, केवल बातचीत करने में चतुर हैं इत्यादि । **६.** अवगुणरूप **७.** ''**अन्यक्षेत्रे**''...इस श्लोक का तात्पर्यार्थ है । **८.** अवगुण ग्रहणरूप

९. 'जिसका अपराध किया हो, उसे ही प्रसन्न करने से उस पाप से शुद्ध होता है, दूसरे प्रायश्चित्तादिक उपाय से नहीं ।' ऐसा स्मृति में कहा है । **१०.** प्रायश्चित्तादिक ।

११. अन्यक्षेत्र में जो पाप किये हो, वे तमाम पाप तीर्थक्षेत्र में नाश हो जाते हैं । और तीर्थक्षेत्र में किया हुआ पाप वज्रलेप हो जाता है । अर्थात् जैसे वज्र का प्रहार व्यर्थ नहीं जाता वैसे तीर्थ का पाप नाश नहीं होता । (स्कंदपुराण)

वचनामृत २ : 'तीन प्रकार के वैराग्य का'

संवत्* १८७६ के मार्गशीर्ष शुक्ल ५ पंचमी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में रात्रि के समय विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द की समक्ष साधुओं तथा देश-देश के हरिभक्तों की सभा बैठी थी ।

तब मयाराम भट्ट[१] ने श्रीजीमहाराज के प्रति प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज! उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ; यह तीन प्रकार का जो वैराग्य है, उसका क्या लक्षण है ? उसे कहिए ।'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''**उत्तम वैराग्य** जिसे है, वह परमेश्वर की आज्ञा से अथवा अपने प्रारब्धकर्म के वश होकर व्यवहार में रहता हो, परन्तु उस व्यवहार में जनक राजा की तरह लिप्त नहीं होता । और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध; ये पांच प्रकार के जो उत्तम विषय हैं, वे अपने प्रारब्ध कर्म के अनुसार प्राप्त होते हैं, उन्हें भोगता है, किन्तु, प्रीति से रहित उदास होकर भोगता है । वे विषय उसे लिप्त नहीं कर पाते, उसका त्याग गौण नहीं होता और उन विषयों में निरन्तर दोष को देखता रहता है,[२] विषय को शत्रु जैसा जानता है और **सन्त, सत्शास्त्र तथा भगवान की सेवा का निरन्तर संग रखता है ।** देश, काल, संग आदिक यदि कठिन हो जाये तो भी उनकी जो ऐसी समझ, वह गौण[३] नहीं होती है, उसे उत्तम वैराग्यवाला कहते हैं। जिसे **मध्यम वैराग्य** हो, वह भी उत्तम ऐसे जो पंचप्रकार के विषय हैं, उनको भगता है, लेकिन उनमें आसक्त नहीं होता है। यदि देश, काल, संग कठिन प्राप्त हो जाये, तो विषय में बँध जाता है और वैराग्य मन्द हो जाता है, उसे मध्यम वैरागवाला कहते हैं । और जो **कनिष्ठ वैराग्यवाला** है, उसे सामान्य[४] और दोष से युक्त पंचविषय यदि प्राप्त हो जाये और उनको

---

* दि. २२-११-१८१९, सोमवार

१. माणावदर गाँव के ब्राह्मण भक्त । **२.** दोष का अनुसंधान रखता है ।

३. ढीली **४.** साधारण- क्षुद्र - अल्प

भोगता है, तो उनमें बँधता नहीं है, यदि उत्तम पंचविषय प्राप्त हो जाये और उनको भोगता है, तो उनमें बँध जाता है, उसे मन्द वैराग्यवाला कहते हैं ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥२॥

वचनामृत ३ : 'लीलाचरित्र का स्मरण करते रहने का'

संवत्* १८७६ के मार्गशीर्ष शुक्ल ६ षष्ठी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में रात्रि के समय विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द की समक्ष मुनियों तथा देश-देश के हरिभक्तों की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसे भगवान की मूर्ति अन्तर में[१] अखण्ड[२] दिखाई देती हो, उसे भी **भगवान ने जिन-जिन अवतार में जिन-जिन स्थानक में जो-जो लीलाएँ की हो, उन्हें स्मरण करके रखें और ब्रह्मचारी, साधु तथा सत्संगी के साथ स्नेह रखें और उन सभी का स्मरण रखें ।** वह किस लिए कि कदापि देह छोड़ते वक्त[३] भगवान की मूर्ति विस्मृत हो जाये, तो भी भगवान ने जिन स्थानों में लीलाएँ की हों, उनकी यदि स्मृति हो जाये या सत्संगी का स्मरण हो आये या ब्रह्मचारी तथा साधु की स्मृति हो जाये तो उनके योग से भगवान की मूर्ति का भी स्मरण हो आता है और वह जीव बड़ी पदवी[४] को प्राप्त करता है और उसका बहुत अच्छा[५] होता है। इसलिए हम बड़े-बड़े विष्णुयाग करते हैं, जन्माष्टमी और एकादशी आदिक व्रतों का प्रतिवर्ष उत्सव करते हैं और उनमें ब्रह्मचारियों, साधुओं, सत्संगियों को एकत्र करते हैं । यदि कोई पापी जीव हो और उसे भी यदि अन्त समय में उनकी स्मृति हो जाये तो उसे भगवान के धाम की प्राप्ति होती है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥३॥

---

* दि. २३-११-१८१९, मंगलवार

१. हृदय में **२.** निरन्तर, तीन अवस्था में । **३.** देहान्त समय पर, मृत्यु समय

४. भगवान का धाम **५.** उत्कृष्ट श्रेय

वचनामृत ४ : 'नारदजी के जैसी ईर्ष्या करने का'

संवत्* १८७६ के मार्गशीर्ष शुक्ल ७ सप्तमी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख साधु तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''भगवान के भक्त परस्पर ईर्ष्या[१] न करें।'' तब आनन्दानन्द स्वामी बोले कि ''हे महाराज ! ईर्ष्या तो रहती है ।'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''ईर्ष्या करनी हो तो नारदजी के जैसी करें । जैसे एक बार नारदजी और तुंबरु; वे दोनों वैकुण्ठ में लक्ष्मीनारायण के दर्शन करने गए थे । तब लक्ष्मीनारायण के सन्मुख तुंबरु ने गान किया, उससे लक्ष्मीजी तथा नारायण, दोनों ने प्रसन्न होकर तुंबरु को अपने वस्त्र-आभूषण दिए । तब नारदजी को तुंबरु से ईर्ष्या आई कि 'मैं तुंबरु के जैसी गानविद्या सीख लूँ और भगवान को प्रसन्न करूँ ।' फिर नारदजी गानविद्या सीखने लगे और भगवान के सन्मुख गाने लगे । तब भगवान ने कहा कि 'आपको तुंबरु के जैसा गाना नहीं आता है ।' तब फिर शिव पर तप करके शिव से वर प्राप्त करके गानविद्या सीखकर भगवान के सन्मुख गाने लगे, तब भी भगवान उनकी गानविद्या पर प्रसन्न नहीं हुए । इस तरह सात मन्वन्तर[२] तक गानविद्या सीखे और भगवान के सन्मुख गान किया, फिर भी भगवान प्रसन्न नहीं हुए । फिर तुंबरु के पास गानविद्या सीखे और श्रीकृष्ण भगवान के पास द्वारिका में गाने लगे, तब श्रीकृष्ण भगवान प्रसन्न हुए और अपने वस्त्र-अलंकार नारदजी को दियें; तब नारदजी ने तुंबरु के साथ ईर्ष्या छोड़ दी । इसलिए ईर्ष्या करनी हो तो ऐसी करें कि '**जिससे ईर्ष्या हो, उनके जैसे गुण को ग्रहण करें और अपने अवगुणों का त्याग करें । ऐसा न हो सके और जिस ईर्ष्या से**

---

* दि. २४-११-१८१९, बुधवार

१. स्वयं के समान दूसरे किसीका उत्कर्ष सहन न हो वह । २. दो अरब सोलह करोड़ वर्ष ।

भगवान के भक्त का द्रोह होता हो, ऐसी ईर्ष्या का तो भगवान के भक्त सभी प्रकार से त्याग करें ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥४॥

वचनामृत ५ : 'ध्यान के आग्रह का'

संवत्*१ १८७६ के मार्गशीर्ष शुक्ल ८ अष्टमी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''राधिका के सहित जो श्रीकृष्ण भगवान हैं, उनका ध्यान करें और उस ध्यान करते समय मूर्ति हृदय में न दिखाई दे तो भी ध्यान करें; किन्तु कायर होकर उस ध्यान को छोड़ न दें । इस तरह के जो आग्रह रखनेवाले हैं, उन पर भगवान की बड़ी कृपा(१) होती है, और उनकी भक्ति से भगवान उनके वश हो जाते हैं ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥५॥

वचनामृत ६ : 'विवेकी - अविवेकी का'

संवत्*२ १८७६ के मार्गशीर्ष शुक्ल ९ नवमी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले की ''इस सत्संग(२) में जो विवेकी(३) है, वह तो दिन-प्रतिदिन अपने में अवगुणों को देखता है । और भगवान तथा भगवान

*१ दि. २४-११-१८१९, बुधवार

*२ दि. २५-११-१८१९, गुरुवार

१. अपनी मूर्ति के दर्शन देने की । **२.** उद्धव अवतार सद्. श्री रामानन्द स्वामी द्वारा स्थापित इस उद्धव संप्रदाय में । **३.** सत्-असत् का ज्ञानवाला

के भक्त में गुण को देखता है । भगवान तथा साधु उसके हित के लिए जो कठोर वचन कहते हैं, उन्हें अपना हितकारी मानता है, उसे दुःख नहीं लगाता है, वह तो दिन प्रतिदिन सत्संग में बड़प्पन[१] को प्राप्त होता है । और जो अविवेकी है, वह तो ज्यों-ज्यों सत्संग करता है तथा सत्संग की बात सुनता है, त्यों-त्यों अपने में गुण ठहराता है । भगवान तथा सन्त; जब उसका दोष दिखाकर उसके आगे बात[२] करते हैं, तब उस बात को मान[३] के कारण उलटा[४] लेता है और बात को करनेवाले का[५] अवगुण लेता है, वह तो दिन-प्रतिदिन न्यून[६] होता जाता है और सत्संग में प्रतिष्ठाहीन हो जाता है । इसलिए **अपनेमें जो गुण का मान है, उसका त्याग करके, शूरवीर होकर भगवान और भगवान के सन्त में विश्वास रखता है, तो उसका अविवेक टल जाता है और वह सत्संग में बड़प्पन को[७] प्राप्त होता है ।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥६॥

वचनामृत ७ : 'अन्वय-व्यतिरेक का'

संवत्* १८७६ के मार्गशीर्ष शुक्ल १० दशमी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के आगे साधु तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''शास्त्र में जहाँ-जहाँ अध्यात्मवार्ता[८] आती है, वह किसीकी[९] समझ में नहीं आती और भ्रमित हो जाते हैं । इसलिए ये अध्यात्मवार्ता जैसी हैं वैसी यथार्थरूप से हम कहते हैं, उसे सभी सुनिये कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण; इन तीनों देहों में एकात्मरूप से[१०] जो रहना, वह

* दि. २६-११-१८१९, शुक्रवार

१. महानता २. उपदेश ३. अहंकार वश ४. विपरीत ५. उपदेशक सन्त का ६. सद्गुण रहित ७. सद्गुणों से महानता को । ८. आत्मा-परमात्मा के स्वरूपज्ञान निरूपण की बात । ९. विद्वानों को भी १०. स्थूल आदि देह को ही अपना स्वरूप मानकर ।

उस जीव का अन्वयपना[१] है; और इन तीनों देहों से पृथक्‌रूप से[२] सत्तामात्र[३] जो कहना, वह जीव का व्यतिरेकपना[४] है। विराट, सूत्रात्मा और अव्याकृत इन तीनों शरीरों सहित जो ईश्वर को कहना, वह ईश्वर का अन्वयपना है; और इन तीनों शरीरों से पृथक् एवं सत्तामात्ररूप से कहना, वह ईश्वर का व्यतिरेकपना है। माया और माया के कार्य जो अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड; उनमें व्यापकरूप से जो अक्षरब्रह्म को कहना, वह उसका अन्वयपना है; और उन सभी से व्यतिरेक सच्चिदानन्दरूप से जो अक्षरब्रह्म को कहना, वह उनका व्यतिरेकपना है। तथा अक्षरब्रह्म, ईश्वर, जीव, माया और माया के कार्य जो ब्रह्माण्ड; इन सभीमें श्रीकृष्ण भगवान को जो अन्तर्यामीरूप से कहने और नियन्तारूप से कहने, **वह उन भगवान का अन्वयपना है;** और इन सभीसे पृथक्‌रूप से अपने गोलोकधाम में जो ब्रह्मज्योति, उसमें रहे हैं, ऐसा जो कहना, **वह उन भगवान का व्यतिरेकपना है।** और वे **पुरुषोत्तम भगवान, अक्षरब्रह्म, माया, ईश्वर, और जीव; ये जो पाँच भेद[५] हैं, वे अनादि[६] हैं।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥७॥

वचनामृत ८ : 'इन्द्रियों की क्रिया को भगवान तथा सन्त की सेवा में रखने का'

संवत्* १८७६ के मार्गशीर्ष शुक्ल ११ एकादशी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढडा स्थित दादाखाचर के राजभवन में विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख साधु तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

---

* दि. २७-११-१८१९, शनिवार

१. स्थूल आदि देह वह ही मैं हूँ, ऐसा देह आदि में एकत्वभाव। **२.** चिद्रूपपना, स्वयंप्रकाशपना और अछेद्य-अभेद्यपना इत्यादि **३.** तीन देह, तीन गुण आदि मायिक भाव से पर ज्ञानस्वरूप। **४.** भिन्नता-देह आदि से अलगपना। **५.** स्वरूपतः एवं स्वभावतः परस्पर भिन्नता। **६.** नित्य, औपाधिक नहीं।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''इन्द्रियों की जो क्रिया है, उसे यदि श्रीकृष्ण भगवान और उनके भक्त की सेवा में रखा जाये, तो अन्तःकरण शुद्ध[१] होता है और अनन्त काल के जो पाप जीव को लगे हैं, उनका नाश हो जाता है । और यदि इन्द्रियों की वृत्तियों को जो स्त्री आदिक के विषय में प्रवृत्त कराता[२] है, तो उनका अन्तःकरण भ्रष्ट[३] हो जाता है और कल्याण के मार्ग से पतन हो जाता है । इसलिए शास्त्र में जिस प्रकार से विषय को भोगने का कहा है, उस प्रकार से नियम में रहकर विषय का भोग करें, परन्तु शास्त्र की मर्यादा का उल्लंघन करके भोग न करें । और साधु का संग रखें और कुसंग का त्याग करें । **जब वह कुसंग का त्याग करके साधु का संग करता है, तब उसे देह के प्रति जो अहंबुद्धि है, उसकी निवृत्ति हो जाती है और देह के सम्बन्धी के प्रति जो ममत्वबुद्धि है, उसकी निवृत्ति हो जाती है और भगवान में असाधारण प्रीति होती है और भगवान के बिना अन्य में वैराग्य होता है ।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥८॥

वचनामृत ९ : 'भगवान के बिना दूसरे किसी की इच्छा न रखने का'

संवत्* १८७६ के मार्गशीर्ष शुक्ल १२ द्वादशी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''श्रीकृष्ण भगवान का प्रत्यक्षभाव से निश्चय किया हो और उनकी भक्ति करता हो और उनका दर्शन करता हो, तो भी जो अपने को पूर्णकाम नहीं मानता है और उसके अन्तःकरण में न्यूनता[४]

*दि. २८-११-१८१९, रविवार
१. राग द्वेषादि दोषों से रहित ।
२. लगाता है, जोड़ता है । ३. राग आदि दोषवाला ४. अपूर्णता, खालीपना

रहती हो कि 'गोलोक, वैकुण्ठादिक धाम में यही के यही भगवान का जो तेजोमय रूप है, वह मुझे जब तक दिखाई नहीं दिया है, तब तक मेरा परिपूर्ण कल्याण नहीं हुआ है।' इस तरह का जिसे अज्ञान हो, उसके मुख से भगवान की बात भी न सुनें। और जो प्रत्यक्ष भगवान में दृढ़ निष्ठा रखता है, उनके दर्शन से ही स्वयं को परिपूर्ण मानता है, दूसरा कुछ चाहता न हो, उसे तो भगवान स्वयं बलपूर्वक[१] अपने धाम में जो अपने ऐश्वर्य है और अपनी जो मूर्तियाँ हैं, उन्हें दिखाते हैं। इसलिए **जिसे भगवान में अनन्य निष्ठा हो, वह प्रत्यक्ष भगवान के बिना दूसरे किसी की इच्छा न करें।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥९॥

वचनामृत १० : 'कृतघ्नी का - सेवकराम का'

संवत्* १८७६ के मार्गशीर्ष शुक्ल १३ त्रयोदशी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''हम वेंकटाद्रि से सेतुबन्ध रामेश्वर जा रहे थे, वहाँ एक सेवकराम नामक साधु था। उसने श्रीमद् भागवतादिक पुराण पढ़े थे। वह मार्ग में चलते बीमार हुआ। उसके पास हजार रुपये की सोनामहोरे थी, लेकिन सेवा करनेवाला कोई नहीं था, इसलिए रोने लगा। 'फिर हमने उसे कहा कि किसी प्रकार की चिन्ता न करें, आपकी सेवा हम करेंगे।' फिर गाँव के बाहर एक केले की बगिया थी, उसमें एक वट का वृक्ष था, उस वट के वृक्ष पर हजार भूत रहते थे। परन्तु वह साधु तो चल सके ऐसा रहा नहीं और अतिशय बीमार था, उस पर हमें अतिशय दया आयी। फिर उस जगह हमने उस साधु को केले के पत्ते लाकर हाथ एक ऊँची शय्या कर दी।

* दि. २९-११-१८१९, सोमवार

१. जबरन, इच्छा न हो तो भी।

उस साधु को रक्तातिसार[१] था, उसे हम धोते थे और चाकरी करते थे। वह साधु अपने को जितना चाहिए उतना हमारे पास शक्कर[२], मिसरी, घी, अन्न; उसे अपने रुपये देकर मंगवाता था, उसे हम लाकर पकाकर खिलाते थे और हम बस्ती में जाकर भोजन पा लेते थे । किसी दिन तो हमे बस्ती में अन्न मिलता नहीं था, तब हमें उपवास होता था, फिर भी किसी दिन उस साधु ने हमें ऐसा नहीं कहा कि 'हमारे पास द्रव्य है, तो हम दोनों के लिए रसोई करिए और आप भी हमारे साथ भोजन करिए ।' फिर इस तरह सेवा करते-करते वह साधु दो महीनों में कुछ स्वस्थ हुआ । फिर सेतुबन्ध रामेश्वर के मार्ग में चले, तब उसका बोझ[३] एक मन[४] था, उसे वह हमसे उठवाता था और स्वयं तो एक माला लेकर चलता था । वह देह[५] से भी स्वस्थ तथा एक सेर[६] घी खाकर पचा पाये ऐसा समर्थ हुआ, तो भी बोझ हमसे उठवाता था और स्वयं ऐसे ही[७] चलता था । और हमारी प्रकृति तो ऐसी थी कि 'बोझ के नाम पर तो एक रुमाल भी नहीं रखते थे ।' किन्तु उसे साधु जानकर हम उसका एक मन का बोझ उठाकर चलते थे । इस प्रकार उस साधु की हमने चाकरी करके स्वस्थ किया, परन्तु उस साधुने हमें एक पैसाभर[८] भी अन्न नहीं दिया । फिर हमने उसे कृतघ्नी जानकर उनके संग का त्याग किया । **इस तरह जो मनुष्य किये हुए कृत्य[९] को जानता न हो, उसे कृतघ्नी जानें । और किसी मनुष्य ने कुछ पाप किया, और उसने उस पाप का यथाशास्त्र प्रायश्चित कर लिया हो, और फिर उसे उस पाप से युक्त जो कहता है, उसे भी उस कृतघ्नी जैसा पापी जानें ।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥१०॥

---

१. जिसमें खून के साथ दस्त होता है । २. चीनी ३. भार ४. बीस कीलो जीतना ५. शरीर
६. आधा कीलो ७. बिना किसी बोझ का ८. पैसे के भार बरोबरी ९. उपकार

वचनामृत ११ : 'वासना का तथा एकान्तिक भक्त का'

संवत्*[१] १८७६ के मार्गशीर्ष शुक्ल १४ चतुर्दशी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि **"हे महाराज ! वासना का क्या रूप है ?"** तब श्रीजीमहाराज बोले कि "पूर्व में जिन विषयों का भोग किया हों, और देखे हों, और सुने हों; उनकी अन्तःकरण में जो इच्छा रहती है, उसे वासना कहते हैं। तदुपरान्त जो विषय भोगने में न आये हों, उनकी अन्तःकरण में जो इच्छा रहती हैं, उसे भी वासना कहते है ।"

तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि "हे महाराज ! भगवान का एकान्तिक भक्त किसे कहते है ?" तब श्रीजीमहारज बोले कि **"जिसे भगवान के बिना दूसरी कोई वासना न हो और स्वयं को ब्रह्मरूप मानकर भगवान की भक्ति करता हो, वह एकान्तिक भक्त कहलाता है ।"**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥११॥

वचनामृच १२ : 'तत्त्वों के लक्षण का तथा उत्पत्ति का'

संवत्*[२] १८७६ के मार्गशीर्ष शुक्ल १५ पूर्णिमा के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख साधु तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि "जगत के कारण ऐसे जो पुरुष, प्रकृति, काल और महत्तत्वादिक चौबीस तत्त्व हैं; इनके स्वरूप को जब वह जीव जान

*१ दि. ३०-११-१८१९, मंगलवार

*२ दि. १-१२-१८१९, बुधवार

लेता है, तब अपने में रही जो अविद्या[१] और उसके कार्य ऐसे जो चौबीस तत्त्व; उनके बन्धन से मुक्त होता है ।''

तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज ! उनके स्वरूप कैसे जानने में आते है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''उनके स्वरूप तो उनके लक्षण को जानने से जानने में आते है । उन लक्षणों को कहते हैं कि प्रकृति के नियन्ता, प्रकृति से विजातीय,[२] अखण्ड,[३] अनादि,[४] अनन्त,[५] सत्य,[६] स्वयंज्योति,[७] सर्वज्ञ, दिव्यविग्रह[८] समग्र आकारमात्र की प्रवृत्ति के कारण तथा क्षेत्रज्ञ[९] ऐसे **पुरुष** हैं । और जो **प्रकृति** है, वह त्रिगुणात्मिका[१०] है, जड़चिदात्मिका[११] है, नित्य है, निर्विशेष[१२] है, महदादिक समग्र तत्त्व तथा जीवमात्र; उनका क्षेत्र है और भगवान की शक्ति है । गुणसाम्य[१३] तथा निर्विशेष ऐसी जो माया; उसका जो क्षोभ[१४] करता है, उसे **काल** कहते हैं ।''

अब महत्तत्वादिक जो तत्त्व है, उनके लक्षण कहते हैं, उसे सुनिये, चित्त को तथा महत्तत्त्व को अभेदरूप से जानें । महत्तत्व में सूक्ष्मरूप से समग्र जगत रहा है और स्वयं निर्विकार है, प्रकाशमान है, स्वच्छ है, शुद्धसत्त्वमय[१५] है और शान्त है । अब **अहंकार का लक्षण** कहते हैं कि अहंकार जो है, वह त्रिगुणात्मक[१६] है और भूतमात्र, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, देवता तथा प्राण; इन सभी के उत्पत्ति का कारण है । और इसमें शान्तपना, घोरपना एवं विमूढपना[१७] है । अब **मन का लक्षण** कहते हैं कि मन जो है, वह स्त्री आदिक पदार्थ की जो समग्र कामनाएँ हैं, उनकी उत्पत्ति का क्षेत्र है और संकल्प-विकल्परूप

---

१. माया २. स्वरूप-स्वभाव से प्रकृति से विलक्षण ३. जिसका खण्ड-भाग नहीं है । ४. जिसका आदि-उत्पत्ति नहीं है । ५. जिसका अन्त-नाश नहीं है । ६. तीन काल में भी जिसके स्वरूप में क्षोभ नहीं है । ७. स्वयं प्रकाशरूप, दूसरे के अधीन प्रकाश नहीं है । ८. अमायिक शरीरवाला ९. माया और उसके कार्य को जाननेवाला १०. सत्व, रज और तम, ये तीन गुण जिसमें रहे हुए हैं, वह । ११. माया स्वयं जड़ है, फिर भी जीव और ईश्वर, ये दोनों चित् तत्त्व उससे जुड़े होने से जड़-चिदात्मका कही जाती है । १२. कारण अवस्था में पृथिव्यादि विशेष रहित । १३. सत्वादि तीन गुण के उद्भव-अभिभवरूप वैषम्य रहित । १४. गुण की विषमता
१५. रजोगुण और तमोगुण के अंश रहित शुद्ध सत्वगुणमय । १६. सात्विक, राजस, तामस
१७. शान्तत्व, घोरत्व, विमूढत्व

है, समग्र इन्द्रियों का नियन्ता है। अब **बुद्धि का लक्षण** कहते हैं कि बुद्धि में पदार्थमात्र का ज्ञान रहता है और समस्त इन्द्रियों में जो विशेष ज्ञान है, वह बुद्धि को लेकर है। बुद्धि में संशय, निश्चय, निद्रा और स्मृति ये रहे हैं। और **श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ;** ये जो दस इन्द्रियाँ है, उनका लक्षण तो यह है कि अपने-अपने विषय में प्रवृत्त होना।

अब **पञ्चमात्रा**[१] **के लक्षण** कहते हैं; इनमें **शब्द का लक्षण** तो यह है कि शब्द जो है, वह अर्थमात्र का आश्रय[२] है, व्यवहारमात्र का कारण है, बोलनेवाले की जाति तथा स्वरूप; उनका द्योतक है; आकाश में रहने का धर्म है, और आकाश की मात्रा[३] है और श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने में आता है; ये शब्द का लक्षण है। अब **स्पर्श का लक्षण** कहते हैं कि स्पर्श है वह वायु की तन्मात्रा[४] है और कोमलता, कठोरता, शीतलता, उष्णता और त्वचा द्वारा ग्रहण करने का गुण; यह स्पर्श का स्पर्शत्व[५] है। अब **रूप का लक्षण** कहते है कि पदार्थमात्र के आकार को बोधित[६] करा देना, उन पदार्थों में गौणरूप से रहने का धर्म, उन पदार्थों की रचना से परिणामवाला, तेजतत्त्व की तन्मात्रात्मकता और चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने का धर्म, यह रूप का रूपत्व[७] है। अब **रस का लक्षण** कहते हैं कि मधुरता, तिक्तता, कषायता, कड़वापन, खट्टापन, खारापन और जल की तन्मात्रात्मकता और रसना इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने का धर्म; यह रस का रसत्व[८] है। अब **गन्ध का लक्षण** कहते हैं कि सुगन्धता, दुर्गन्धता, और पृथ्वी की तन्मात्रात्मकता और घ्राण इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने का धर्म; यह गन्ध का गन्धत्व[९] है।

अब **पृथ्वी का लक्षण** कहते है कि सभी जीवमात्र को धारण करने का धर्म, लोकरूप से स्थानकता,[१०] आकाशादिक जो चार भूत, उनके विभाग

१. पंचमहाभूत के कारणरूप शब्दादि पांच के। २. वाचक ३. असाधारण गुण
४. पांच तत्त्वों का शुद्ध एवं सूक्ष्मरूप। ५. लक्षण ६. ज्ञान करा देना
७-८-९. लक्षण १०. स्थानकभाव, आश्रयदाता

करने का धर्म, समग्र भूतप्राणिमात्र के शरीर को प्रकट करने का धर्म; यह पृथ्वी का लक्षण है । अब **जल का लक्षण** कहते है कि पृथिव्यादिक द्रव्य का पिण्डीकरण करने का धर्म, पदार्थ को कोमल करने का धर्म, भिगोने का धर्म, तृप्ति करने का धर्म, प्राणिमात्र को जीवन प्रदान करने का धर्म, तृषा की निवृत्ति करने का धर्म, ताप को निवारण करने का धर्म, और बहुपना; यह जल का लक्षण है । अब **तेज का लक्षण** कहते है कि प्रकाशरूपता और अन्नादिक को पचाने का धर्म, रस को ग्रहण करने का धर्म, काष्ठ को तथा हुतद्रव्यादिक[१] को ग्रहण करने का धर्म, शीत को हरण करने का धर्म, शोषण करने का धर्म, क्षुधा[२] एवं तृषा;[३] यह तेज का लक्षण है । अब **वायु का लक्षण** कहते है कि वृक्षादिक को कम्पन करानेवाला और तृणादिक को एकत्र करनेवाला, और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध; ये जो पञ्चविषय हैं उन्हें श्रोत्रादिक पञ्च इन्द्रियों के प्रति प्राप्त कराने का धर्म, सभी इन्द्रियों की आत्मरूपता;[४] यह वायु का लक्षण है । अब **आकाश का लक्षण** कहते है कि समग्र जीवमात्र को अवकाशप्रदान करने का धर्म, भूतप्राणिमात्र के जो देह है, उनके आन्तरिक व्यवहार तथा देह के बाहर का व्यवहार; उनकी कारणता और प्राण, इन्द्रियाँ एवं अन्तःकरण; इन सभी का स्थानकपना; यह आकाश का लक्षण है । इस प्रकार चौबीस तत्त्व, प्रकृति, पुरुष और काल; उनके लक्षणों को यदि जान ले, तो वह जीव अज्ञान से मुक्त होता है ।

ये जो सभी तत्त्व हैं, उनकी उत्पत्ति जाननी चाहिए । उस उत्पत्ति को कहते हैं कि अपने धाम में रहे एसे जो श्रीकृष्ण भगवान, उन्होंने अक्षरपुरुषरूप से माया में गर्भ को धारण किया था तब उस माया से अनन्तकोटि जो प्रधान और पुरुष, वे उत्पन्न हुए । वे प्रधानपुरुष कैसे हैं ? तो अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के कारण हैं । उनके अन्तर्गत एक ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के कारण जो प्रधानपुरुष हैं, उसे कहते है कि प्रथम पुरुषोत्तम ऐसे जो श्रीकृष्णभगवान,

१. यज्ञ आदि में होमनेवाले जो तिल इत्यादि । २. भूख ३. प्यास

४. आत्मभाव, आत्मत्व, कार्यशक्ति प्रदातारूप ।

उन्होंने पुरुषरूप से प्रधान में गर्भ को धारण किया। फिर उस प्रधान से महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ और महत्तत्त्व से तीन प्रकार के अहंकार की उत्पत्ति हुई। उनमें सात्त्विक अहंकार से मन और इन्द्रियों के देवता उत्पन्न हुए और राजस अहंकार से दस इन्द्रियाँ, बुद्धि एवं प्राण उत्पन्न हुए और तामस अहंकार से पञ्च भूत और पञ्च तन्मात्रा;[१] उत्पन्न हुए। इस प्रकार से ये सभी तत्त्व उत्पन्न हुए।

पश्चात् उन परमेश्वर की इच्छा से प्रेरित होकर अपने-अपने अंश से ईश्वर तथा जीव के देह का सर्जन किया। उन **ईश्वर के देह तो विराट्, सूत्रात्मा और अव्याकृत हैं और जीव के देह तो स्थूल, सूक्ष्म और कारण हैं।** विराट् नामक ईश्वर का जो देह; उसका द्विपरार्ध काल पर्यन्त[२] आयुष्य है। उस विराट्पुरुष के एक दिन में चौदह मन्वन्तर[३] होते हैं। जितना उनका दिन रहता है, उतनी ही रात्रि रहती है। जब तक उनका दिन रहता है तब तक त्रिलोकी की स्थिति रहती है और जब उनकी रात्रि होती है, तब त्रिलोकी का नाश होता है, **उसे निमित्त[४] प्रलय कहते हैं।** जब उस विराट्पुरुष का द्विपरार्ध काल समाप्त होता है तब उस विराट्देह का सत्यादिक लोक सहित नाश होता है। महदादिक जो चौबीस तत्त्व, प्रधान-प्रकृति और पुरुष ये सभी महामाया में लीन[५] हो जाते हैं; **उसे प्राकृत प्रलय कहते हैं।** वह महामाया जब अक्षरब्रह्म के प्रकाश में लीन होती है, जैसे दिन में रात्रि लीन होती है; उसी प्रकार लीन होती है, **उसे आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं।** देव, दैत्य तथा मनुष्यादिक के जो देह हैं, उनका जो क्षण-क्षण प्रति नाश होता है, **उसे नित्य प्रलय** कहते हैं। इस प्रकार से विश्व की जो उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय, उन्हें जो जान ले[६] तो जीव को संसार के प्रति वैराग्य होता है और भगवान में भक्ति होती है। जब उन सभी ब्रह्माण्डों का प्रलय होता

१. जिन्हें सूक्ष्मभूत कहते हैं, उनके द्वारा वे पांच स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं।

२. **द्विपरार्धः**- मृत्युलोक की समय गणना के अनुसार ३१,१०,४०,००,००,००,००० वर्ष

३. एक मनु ३०,८५,७१,४२८ वर्ष राज करता है, ऐसे चौदह मनु राज्य शासन करते हैं। संक्षेप में विराट के एक दिन में चौदह मनु बदल जाते हैं।

४. 'दैनंदिन' शब्द से भी कहा जाता है। ५. लय ६. समझ ले

है तब सभी जो जीव हैं, वे तो माया में रहते है और भगवान के जो भक्त है, वे तो भगवान के धाम मे जाते हैं ।''

तब फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''उन भगवान का धाम कैसा है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''**उन भगवान का धाम तो सनातन है, नित्य है, अप्राकृत है, सच्चिदानन्द है, अनन्त है और अखण्ड है ।** उसे दृष्टान्त से कहते है, जैसे पर्वत-वृक्षादिक सहित तथा मनुष्य, पशु, पक्षी आदिक की जो आकृतियाँ, उनसे सहित ऐसी जो यह समग्र पृथ्वी, वह काँच की[१] हो, और आकाश में स्थित जो समग्र तारागण, वे सभी सूर्य हो, फिर उन सभी के तेज से समस्त आकृतियों सहित शीशे की पृथ्वी जैसी शोभायमान होती है, वैसी शोभा से युक्त भगवान का धाम है । ऐसा जो भगवान का धाम है, उसे भगवान के भक्त समाधि में देखते हैं और देह त्याग करने के बाद उन तेजोमय जो भगवान का धाम है, उसे प्राप्त होते हैं ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥१२॥

वचनामृत १३ : 'बरगद-पीपल की डाली को दूसरे स्थल पर बोने का[२]'

संवत्* १८७६ के मार्गशीर्ष कृष्ण १ प्रतिपदा के दिन रात्री के समय श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के समीप में नीम के वृक्ष के नीचे चबूतरे पर पलंग[३] बिछाकर विराजमान थे । उन्होंने लाल सुरवाल[४] पहना था और लाल मिरजई[५] पहनी

* दि. २-१२-१८१९, गुरुवार

१. शीशे की **२.** रोपण करने का **३.** ढोलिया = उत्तम प्रकार का पलंग, जो सूत की पट्टीओं से बना होता है, गुजरात के सौराष्ट्र प्रान्त में इसका प्रचलन है, जिसे 'ढोलिया' कहते है । **४.** सुरवाल पायजामा जैसा होता है, घुंटनो के उपर का भाग खुला रहता है और नीचे से एकदम चिपका रहता है । जिसे सूथना-सूथनी भी कहते हैं । सौराष्ट्र प्रदेश के गाँवों में सुरवाल पहनने का प्रचलन है । **५.** पुरुष के उपरके भाग में पहनने का सीला हुआ वस्त्र, जो कमर तक ही लम्बा रहता है, जो अंगरखा जैसा होता है । यह बिना बाँह एवं बाँह सहित दो प्रकार की होती है । उसे सौराष्ट्र में 'डगली' कहते है ।

थी और मस्तक पर सुनहरी शेला[१] बाँधा था, कमर में सुनहरी शेला कसा था, कण्ठ में मोतियों की मालाएँ पहनी थी, पाग में मोती के तुर्रे[२] झुल रहे थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज को नित्यानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''देह-देह के प्रति जीव एक है या अनेक हैं ? यदि एक कहेंगे तो बरगद, पीपल आदिक जो वृक्ष हैं, उनकी डालियाँ काटकर दूसरे स्थान पर लगाते हैं[३], तब वैसे का वैसा ही वृक्ष होता है। तो एक जीव दो प्रकार से हुआ या दूसरे जीव ने प्रवेश किया ? और कहेगें कि 'वह तो वही ही जीव है,' तब जीव तो अखण्ड है और अच्युत है, वह कैसे कटा ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''लीजिए, उसका उत्तर करते हैं कि श्रीकृष्ण भगवान हैं, उनकी पुरुष तथा प्रकृति; ये दो शक्तियाँ हैं, वे जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय, इनके कारण हैं । उन पुरुष-प्रकृतिरूप जो अपनी दो शक्तियाँ हैं, उनका ग्रहण कर के स्वयं ने विराट्रूप को धारण किया । और वे विराट्रूप जो भगवान हैं, उन्होंने प्रथम ब्राह्मकल्प[४] में तो अपने अंग से ब्रह्मादिक स्तम्ब पर्यन्त[५] समग्र जीवों का सर्जन किया और पाद्मकल्प[६] में तो उन भगवान ने ब्रह्मारूप से मरीच्यादिक का सर्जन किया । कश्यप तथा दक्षरूप से देव, दैत्य, मनुष्य और पशु-पक्षी आदिक समग्र स्थावर जंगमरूप जो जीव हैं, उनका सर्जन किया । **ऐसे जो श्रीकृष्ण भगवान, वे पुरुष-प्रकृतिरूप जो अपनी शक्तियाँ है, उनके सहित ही जीव-जीव के प्रति अन्तर्यामीरूप से रहे हैं । जिस जीव ने जैसा कर्म किया है, उस जीव को वैसे देह की प्राप्ति कराते हैं** । वह जीव है, उसने पूर्वजन्म में कई कर्म तो सत्त्वगुण प्रधान होकर किये हैं, कई कर्म तो

१. शेला=उत्तम प्रकार की नक्सीदार किनारीवाला खेस या बहुमूल्यवाला लंबा वस्त्र २. लटकन ३. बोते है ४. विराट् पुरुष की आयु द्विपरार्धकाल तक है । प्रथम परार्ध के प्रथम दिवस को ब्राह्मकल्प कहते है । (भा. ३/११/३३-३४) ५. तृण-वेली तक
६. प्रथम परार्ध के अंतिम दिन को पाद्मकल्प कहते है । (भा. ३/११/३५)

रजोगुण प्रधान होकर किये हैं, और कई कर्म तो तमोगुण प्रधान होकर किये हैं; उन कर्मों के अनुसार उस जीव को भगवान उद्भिज्ज[१] जाति के जो देह, जरायुज[२] जाति के जो देह, स्वेदज[३] जाति के जो देह, और अण्डज[४] जाति के जो देह; उन्हें प्राप्त कराते हैं, सुख-दुःखरूप जो कर्म के फल, उसे प्राप्त कराते हैं। उस **जीव के कर्म के अनुसार उसके देह से दूसरे देह का सर्जन करते हैं**[५] । जैसे 'कश्यप आदिक प्रजापति के देहों से अनेक जाति के देह का सर्जन किया है,' उसी तरह वे भगवान ही अन्तर्यामीरूप से समग्र जीव-जीव के प्रति रहते हुए, जिस देह से जिस तरह उत्पन्न होने की रीति हो, उसी तरह दूसरे देह को उत्पन्न कराते हैं। परन्तु जिस जीव से दूसरे देह को उत्पन्न कराते हैं, वह जीव ही अनेकरूप से हो जाये, ऐसा नहीं है। यह तो **जिस जीव को जिसके देह से उत्पन्न होने का कर्मसम्बन्ध प्राप्त हुआ हो, उस जीव को उसी के द्वारा उत्पन्न कराते हैं**[६] ।'' ॥

इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥१३॥

वचनामृत १४ : 'अन्ते या मतिः सा गतिः' का

संवत्* १८७६ के मार्गशीर्ष कृष्ण २ द्वितीया के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर आगे नीम वृक्ष के नीचे पलंग पर दक्षिण की ओर मुखारविन्द किये विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर सफेद पाग बाँधी थी, श्वेत खेस पहना था तथा सफेद चद्दर ओढ़ी थी और पीले पुष्प के तुर्रे पाग में विराजमान थे, दो कान पर पीले पुष्प के गुच्छ विराजमान थे, उस गुच्छ के ऊपर गुलाब के पुष्प विराजमान थे, कण्ठ में पीले पुष्प के हार विराजमान थे और दायें हाथ में सफेद सेवती का पुष्प घुमा रहे थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देशदेश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

---

* दि. ३-१२-१८१९, शुक्रवार

१. वृक्ष, लता आदि **२.** मनुष्य, पशु आदि **३.** खटमल, पिस्सू आदि **४.** पक्षी, सर्प आदि **५.** उत्पन्न करते हैं। **६.** जन्म धारण करवाते हैं।

तब श्रीजीमहाराज ने मुनि के प्रति प्रश्न पूछा कि ''एक हरिभक्त है, वह संसार का त्याग करके निकला है, वह अति तीव्र वैराग्यवाला तो नहीं है, देह[१] से तो वर्तमान का यथार्थ पालन करता है और मन में थोड़ी-थोड़ी संसार की वासना रही है, उसे विचार द्वारा मिथ्या कर देता है, ऐसा एक त्यागी भक्त है, और उसे भगवान का निश्चय भी दृढ़ है । और फिर दूसरा गृहस्थ भक्त है, उसे भी भगवान का निश्चय दृढ़ है और आज्ञा होने से घर में रहा है और संसार से उदास है । और जितनी त्यागी को जगत में वासना है उतनी उस गृहस्थ को भी वासना है । ये दोनों भगवान के जो भक्त हैं, उनमें कौन श्रेष्ठ है ?'' तब मुक्तानन्द स्वामी बोले कि ''वह त्यागी भक्त श्रेष्ठ है ।'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''वो तो विकलता[२] से अपने आप त्यागी वेश धारण करके निकला है, वह किस तरह से श्रेष्ठ है ? और गृहस्थ तो आज्ञा से घर में रहा है, वह किस तरह से न्यून है ?'' तब श्रीजीमहाराज के प्रश्न का मुक्तानन्द स्वामी ने बहुत प्रकार से समाधान किया, परन्तु समाधान हुआ नहीं । फिर मुक्तानन्द स्वामी बोले कि ''हे महाराज ! आप उत्तर करिए ।'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''त्यागी[३] हो और उसे अच्छी तरह से खाने को मिले और यदि कच्ची[४] मतिवाला हो, तो पुनः संसार की वासना हृदय में उदय[५] होती है अथवा अति दुःख आ पड़े तो भी पुनः संसार की वासना उदय होती है । ऐसे त्यागी से तो गृहस्थ अति श्रेष्ठ है, क्योंकि, गृहस्थ भक्त को जब दुःख आ पड़े अथवा बहुत सुख मिलता है तब वह ऐसा विचार करता है कि 'शायद मुझे इस में बँधन हो जाये !' ऐसा समझकर वह संसार से उदास रहता है। इसलिए **त्यागी तो वह सच्चा है कि 'जिसने संसार का त्याग किया और पुनः सांसार की वासना रहे ही नहीं ।'** गृहस्थ तो वासनावाले त्यागी से बहुत श्रेष्ठ है, यदि गृहस्थ के धर्म का पालन होता हो तो; परन्तु गृहस्थ के धर्म तो बहुत कठिन हैं । अनन्त प्रकार के सुख-दुःख आ पड़े, तब सन्त की सेवा में से और धर्म में से मन को इधर उधर विचलित न होने दें, और ऐसा समझता

१. शरीर २. उद्विग्नता से, उद्वेग होने से ३. मंद वैराग्यवाला ४. अपरिपक्व बुद्धिवाला ५. उत्पन्न

हो कि '**सन्त का समागम मिला है, वह तो मुझे परम चिंतामणि तथा कल्पवृक्ष मिला है । धन, दौलत, पुत्र, पुत्री ये तो सभी स्वप्नतुल्य हैं और सच्चा लाभ तो सन्त का समागम मिला है, वह ही है ।**' ऐसा समझता है, और चाहे कितना ही भारी दुःख आ पड़े, परन्तु उससे विचलित न हो जाये[१] । ऐसा जो गृहस्थ है, वह अति श्रेष्ठ है । और **सब से अधिक तो भगवान का भक्त होना, वह बहुत कठिन है और भगवान के भक्त का समागम मिलना, बहुत दुर्लभ है ।**'' ऐसा कहकर उस विषय पर श्रीजीमहाराज ने भगवान तथा सन्त की महिमा के मुक्तानन्द स्वामी रचित कीर्तन[२] का गान करवाया ।

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''श्रुति में ऐसा कहा है कि '**अन्ते या मतिः सा गतिः**'[३] इस तरह कहा है कि 'अन्तकाल के समय भगवान में मति रहती हो, तब गति[४] होती है और न रहती हो तो नहीं होती है;' ऐसा इस श्रुति का अर्थ प्रतीत होता है । तब जो भक्ति की हो, उसका क्या विशेष[५] है ?'' पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''**जिसे साक्षात् भगवान की प्राप्ति हुई है, उसे अन्तकाल में स्मृति रह पाये अथवा न रह पाये तब भी उसका अकल्याण नहीं होता, उसकी तो भगवान रक्षा करते हैं ।** भगवान से जो विमुख हैं, वे तो बोलते-चलते हुए देह का त्याग करते है; तो भी उनका कल्याण नहीं होता, वे मरने के बाद यमपुरी में जाते हैं । और कितने पापी कसाई हों, वे बोलते-चलते हुए देह का त्याग करते हैं, और भगवान का भक्त हो, और उसकी यदि अकाल मृत्यु हुई हो, तो इसलिए क्या उसका अकल्याण होगा ? और उस पापी का क्या कल्याण होगा ? नहीं ही होगा । तब उस श्रुति का अर्थ इस प्रकार करें कि '**अभी जैसी उसे मति है, वैसी अन्तकाल में गति होती है ।**' इसलिए वह जो भक्त है, उसकी

१. सत्संग में मन्द श्रद्धा न हो जाये २. परिशिष्ट ६ पेज नं. ८०३ पर देखो ३. जैसी मति है वैसी अन्तकाल में गति होती है । (हिरण्यकेशीय शाखाश्रुति) ४. ऊर्ध्वगति ५. लाभ

मति में ऐसा रहा है कि 'मेरा कल्याण तो हो चुका है,' तो उसका कल्याण अन्तकाल में हो ही रहा है। और जिसे सन्त की प्राप्ति नहीं हुई है, और भगवान के स्वरूप की भी प्राप्ति नहीं हुई है, उसकी मति में तो ऐसा रहता है कि' मैं अज्ञानी हूँ और मेरा कल्याण नहीं होगा', तो जैसी उसकी मति है, वैसी उसकी अन्तकाल में गति होती है। और जो भगवान के दास हुए हैं, उन्हें तो कुछ करना शेष रहा नहीं है। उनके दर्शन से तो दूसरे जीव का कल्याण होता है, तो फिर उनका कल्याण हो जाये, उसमें क्या कहना ? परन्तु **भगवान का दासत्व आना तो बहुत कठिन है,** क्योंकि, **भगवान के जो दास हो, उनके तो ये लक्षण हैं कि 'देह को मिथ्या जानता हो, अपनी आत्मा को सत्य जानता हो, अपने जो स्वामी हैं, उनके भोग करने योग्य जो पदार्थ हैं, उन्हें स्वयं भोगने की इच्छा ही न करता हो, और अपने स्वामी की इच्छा का त्याग करके विपरीत दूसरा आचरण करता ही न हो; ऐसा हो, वह हरि का दास कहलाता है।**' और जो हरि का दास हो और देहरूप से रहता हो, वह तो प्राकृत भक्त कहलाता है।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥१४॥

वचनामृत १५ : 'ध्यान करने में कायर न होने का'

संवत्* १८७६ के मार्गशीर्ष कृष्ण ३ तृतीया के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढडा स्थित दादाखाचर के राजभवन में विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख सभी साधु तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज ने इस प्रकार वार्ता कही कि ''जिसके हृदय में भगवान की भक्ति हो, उसे ऐसी वृत्ति रहती है कि 'भगवान तथा सन्त, वे मुझे जो-जो वचन कहेंगे वैसे ही मुझे करना है;' ऐसी उसके हृदय में हिम्मत रहती है। और 'इतना वचन मैं मान पाउँगा और इतना नहीं मान पाउँगा, 'ऐसा

* दि. ४-१२-१८१९, शनिवार

वचन तो भूल से भी कहता न हो । और फिर भगवान की मूर्ति को हृदय में धारण करना[१], उस में शूरवीरता रहती है, मूर्ति धारण करते-करते यदि धारण न हो सके, तो भी कायर न हो जाये और नित्य नवीन[२] श्रद्धा रखता है, मूर्ति धारण करते समय जब अनिष्ट घाट-संकल्प होने लगें और वे[३] हटाने पर भी हटते न हो, तो भगवान की बड़ी महिमा समजकर स्वयं को पूर्णकाम मानकर, उस संकल्प को मिथ्या करता रहता है और भगवान के स्वरूप को हृदय में धारण करता रहता है । यदि उसे धारण करते-करते दश वर्ष हो जायें, अथवा बीस वर्ष हो जायें, अथवा पच्चीस वर्ष हो जायें, अथवा सौ वर्ष हो जायें, तब भी कायर होकर भगवान के स्वरूप को धारण करना, उसे छोड़ता नहीं है; क्योंकि, श्रीकृष्ण भगवान ने गीता में कहा है कि '**अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।**'[४] इसलिए ऐसे ही ऐसे भगवान का ध्यान करता रहता है । ऐसा जिसे रहता हो, उसे एकान्तिक भक्त कहते हैं ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥१५॥

वचनामृत १६ : 'विवेक का'

संवत्* १८७६ के मार्गशीर्ष कृष्ण ४ चतुर्थी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख साधु तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज ने इस प्रकार वार्ता कही कि ''भगवान के जिस भक्त को सत्[५]-असत्[६] का विवेक[७] हो, वह तो जो-जो अवगुण[८] अपने में रहे

---

* दि. ५-१२-१८१९, रविवार

१. ध्यान करना **२.** उत्तरोत्तर अधिक-अधिक **३.** संकल्प **४.** अनेक जन्म से भगवान सम्बन्धी साधना करके सिद्ध हुआ ऐसा जो योगी वह परगति अर्थात् भगवान के धाम को प्राप्त होता है। (गीता. ६/४५) **५.** काल आदि से अन्यथाभाव (परिणाम आदि) न पानेवाले आत्मा-परमात्मा आदि । **६.** काल आदि से अन्यथाभाव को पानेवाले माया और उसका कार्य इत्यादि । **७.** पृथक् पृथक् विवेचन करके उन-उनके स्वरूप को जानना । **८.** लोभ आदि दोष ।

हैं, उनको जानता है और विचार करके उनका त्याग कर देता है । और सन्त में अथवा किसी सत्संगी में जरासा अवगुण अपने को दिखता हो, तो उसका[१] त्याग कर देता है और उनके जो गुण हैं, उनका ही ग्रहण करता है । परमेश्वर[२] में तो उसे कोई अवगुण दिखता ही नहीं है । भगवान तथा सन्त; वे जो-जो वचन कहते हैं, उसे परम सत्य करके मानता है, परन्तु उन वचनों में संशय नहीं करता है । सन्त यह कहें कि 'तुम देह, इन्द्रिय, मन, प्राण से भिन्न हो, और सत्य हो और उन्हें जाननेवाला हो, और ये देहादिक सभी असत्य है,' ऐसे वचन कहते हैं, उन्हें सत्य मानकर उन सभी से भिन्न आत्मरूप होकर रहता है, परन्तु मन के घाट[३] के साथ सम्मिलित न हो जायें । और **जिससे स्वयं को बन्धन होता है तथा स्वयं को एकान्तिक धर्म में जिनसे खोट[४] आती है, ऐसे जो पदार्थ तथा कुसंग[५], उन्हें परख के रखता हो और उनसे दूर ही रहता हो, उनके बन्धन में न आता हो,** और जो सद्विचार[६] हों उसका ग्रहण करता हो तथा जो असद् विचार हो उसका त्याग करता हो; इस तरह से जो रहता है, तब जाना जाये कि उसे विवेक है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥१६॥

वचनामृत १७ : 'सत्संग में कुसंग का - हिम्मत रहित बात न करने का'

संवत्* १८७६ के मार्गशीर्ष कृष्ण ५ पंचमी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार का कक्ष है उसमें कथा[७] वाचन करवा रहे थे । उन्होंने सफेद खेस पहना था तथा सफेद चद्दर ओढ़ी थी तथा सफेद पाग बाँधी थी, पीले पुष्प की माला पहनी थी, पीले पुष्प का तुर्रा पाग में लगाया था और अति प्रसन्नता से विराजमान थे ।

---

* दि. ६-१२-१८१९, सोमवार

१. अवगुण का २. नराकृति ऐसे भी । ३. संकल्प ४. त्रुटी ५. अशुभ देश आदि आठ ६. एकान्तिक धर्म में पुष्टि हो ऐसा ।

उस समय मुक्तानन्द स्वामी तथा गोपालानन्द स्वामी आदिक साधुओं को बुलाया और श्रीजीमहाराज उन सभी के प्रति बोले कि ''हमारे सत्संग में कुसंग का थोड़ा भाग शेष रहा जाता है, उसे आज निकालना है और यह प्रकरण ऐसा चलाना है कि सभी परमहंस, सांख्ययोगी तथा कर्मयोगी सभी सत्संगी में प्रवर्तमान हों। तो सत्संग में कुसंग, क्या है ? तो जो 'बात को करनेवाले हिम्मत रहित बात करते हैं; वह सत्संग में कुसंग है। वे किस तरह से बात करते हैं ? तो, ऐसा कहते हैं कि 'भगवान के जो वचन[१] हैं, उनका यथार्थ पालन कौन कर सकता है ? और वर्तमानधर्म[२] का भी यथार्थ पालन कौन कर सकता है ? इसलिए जितना पालन हो सके, उतना पालन करते हैं, और भगवान तो अधमउद्धारण हैं, तो कल्याण करेंगे;' और फिर ऐसी बात करते हैं कि 'भगवान के स्वरूप को जो हृदय में धारण करना, वह कहीं अपने धारण करने से धारण नहीं होता है, वह तो भगवान जिसे दया करके धारण करवाते हैं, वे धारण कर सकते हैं।' इस तरह से हिम्मत रहित बात करके धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति; इत्यादि जो भगवान की प्रसन्नता के साधन हैं, उनमें से दूसरे को शिथिल कर देते हैं। इसलिए अब आज से **अपने सत्संग में कोई भी ऐसी हिम्मत रहित बात न करें, सदा हिम्मत सहित ही बात करें। ऐसी हिम्मत रहित जो बात करता है, उसे तो नपुंसक जानें। और ऐसी हिम्मत रहित बात जिस दिन हो जाये, तो उसी दिन उपवास करें।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥१७॥

वचनामृत १८ : 'विषय खण्डन का - हवेली का'

संवत्* १८७६ के मार्गशीर्ष कृष्ण ६ षष्ठी के दिन रात्री का पिछला प्रहर बाकी था तब स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के

* दि. ८-१२-१८१९, बुधवार **१.** ज्ञान-वैराग्य सहित नवधा भक्ति करने योग्य।
२. नियम धर्म - त्यागी-गृही के अलग-अलग पञ्च वर्तमान (पाँच नियम), त्यागी के - निर्मान, निष्काम, निर्लोभ, नि:स्वाद, नि:स्नेह। गृहस्थ के, दारु, मांस, चोरी, व्यभिचार, वटाल प्रवृत्ति न करें-करायें।

राजभवन में पश्चिमी द्वार के कक्ष के बरामदे के आगे चौक में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे ।

तब परमहंसों तथा सत्संगियों को बुलाया और बहुत देर तक तो स्वयं विचार करते रहे फिर बोले कि ''एक बात कहते हैं, उसे सुनिये ।'' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज बोले कि ''मेरे मन में तो ऐसा होता है कि बात न कहूँ, किन्तु आप हमारे हैं, इसलिए मन में ऐसा होता है कि कहना ही है । जो **यह बात है, उसे समझकर जो उसके ही अनुसार रहते हैं, वे ही मुक्त**[१] **होते हैं।** उसके बिना तो चार वेद, षट् शास्त्र, अठारह पुराण और भारतादिक[२] इतिहास हैं; उनको पढ़ने से तथा उनके अर्थ को जानने से अथवा उनके श्रवण से भी मुक्त नहीं होते हैं । उसी बात को कहते हैं, उसे सुनिये कि '**बाहर तो चाहे कितनी भी उपाधि**[३] **हो, परन्तु उसका यदि मन में संकल्प**[४] **न हो, तो उसका हमें खेद**[५] **नहीं है ।** और अन्तर में यदि पदार्थ का लेशमात्र[६] संकल्प हो जाये, तो जब उसका त्याग करते हैं, तब शान्ति होती है;' **ऐसा हमारा स्वभाव है ।** इसलिए हमने हृदय में विचार किया कि 'भगवान के भक्त के हृदय में विक्षेप[७] होता है, उसका कारण तो क्या है?' फिर जब मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के सामने देखा तब तो वे अन्तःकरण भी उद्वेग का कारण नहीं है । अन्तःकरण में तो भगवान के स्वरूप के निश्चय का बल अथवा आत्मज्ञान का बल; उनके योग से अन्तःकरण को लापरवाही[८] रहती है कि **'भगवान मिले हैं, तो अब कुछ करना रहा नहीं है', ऐसी लापरवाही**[९] **रहती है, इतना ही अन्तःकरण का दोष है । और अधिक दोष तो पञ्च ज्ञान इन्द्रियों का है ।** उनका भेद[१०] कहते है कि 'यह जीव जो विविध प्रकार का भोजन करता है, उन भोजन-भोजन प्रति भिन्न-भिन्न स्वाद हैं और भिन्न-

१. अनादि अज्ञानरूप माया के बँधन से । २. महाभारत, रामायण आदि
३. सुवर्ण के अलंकार आदि अनेक रमणीय वस्तुओं का योग । ४. भोगने की इच्छा ।
५. दुःख ६. रंचमात्र, जरासा, सामान्य ७. मोक्ष के साधन का अनुसंधान नहीं, वह ।
८-९. गफ़लत, ढ़िलाई १०. विस्तार सहित

भिन्न गुण[१] हैं। उस भोजन को जब खाता है, तब उनके गुण अन्तःकरण में तथा शरीर में प्रवृत्त होते हैं। यदि लीलागर भांग[२] पी ले और वह प्रभु का भक्त हो, तो भी लीलागर भांग के कैफ[३] से वर्तमान[४] का ख्याल नहीं रहता है, और प्रभु के भजन करने का भी ख्याल नहीं रहता है; उसी तरह अनन्त प्रकार के जो आहार हैं, उनके गुण भी लीलागर भांग की तरह ही अनन्त प्रकार के हैं, उनकी गिनती करने पर भी अन्त नहीं आता है। उसी तरह ही वह जीव श्रोत्र द्वारा अनन्त प्रकार के शब्द को सुनता है, उन शब्दों के भी अनन्त प्रकार के गुण भिन्न-भिन्न हैं। तो जैसा शब्द सुनता है वैसा ही अन्तःकरण में गुण प्रवृत्त होता है; जैसे कोई हत्यारा जीव हो अथवा कोई पुरुष व्यभिचारी हो अथवा कोई स्त्री व्यभिचारिणी हो, अथवा जो लोक तथा वेद की मर्यादा का लोप करके रहता हो ऐसा कोई भ्रष्ट जीव हो, उनकी जो बातें सुनना, वह तो जैसे लीलागर भांग पीने अथवा शराब पीने जैसी हैं; इसलिए उन बातों को सुननेवालों के अन्तःकरण को भ्रष्ट कर देता है, और भगवान का भजन-स्मरण तथा वर्तमान उनकी विस्मृति करा देता है। उसी तरह ही त्वचा के स्पर्श भी अनन्त प्रकार के हैं और उनके गुण भी भिन्न-भिन्न अनन्त प्रकार के हैं, उनमें पापी जीव का जो स्पर्श है, वह ही भांग-शराब जैसा है; इसलिए उन स्पर्शों को करनेवाला जो हरिभक्त है, उसकी भी सुध बुध[५] को भुला देता है। उसी तरह ही रूप भी अनन्त प्रकार के हैं और उनके गुण भी अनन्त प्रकार के भिन्न भिन्न हैं; कोई भ्रष्ट जीव हों और यदि उसका दर्शन हुआ हो तो जैसे लीलागर भांग तथा शराब पीने सें बुरा होता है, उसी ही तरह उस पापी के दर्शन करनेवाले का भी अनिष्ट ही होता है और बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। उसी ही तरह गन्ध भी अनन्त प्रकार की है और उनके गुण भी अनन्त प्रकार के हैं। यदि पापी जीव के हाथ का पुष्प अथवा चन्दन उनकी यदि सुगन्ध ली जाये, तो जैसे

---

१. शुभाशुभ २. हरे पत्तो से बनी हुई भांग, हरे रंग की भांग जो अधिक प्रभावी रहती है।
३. नशा ४. पञ्च वर्तमान ५. होश हवास, भान, मोक्ष का अनुसंधान।

लीलागर पीने से बुद्धि भ्रष्ट होती हैं उसी ही तरह बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है । इस प्रकार **जैसे बुरे के योग से जीव की बुद्धि भ्रष्ट होती है, वैसे ही परमेश्वर अथवा परमेश्वर के सन्त, उनके योग से**[१] **जीव की बुद्धि शुभ होती है। और यदि जीव की बुद्धि भ्रष्ट हो तो भी भगवान और सन्त के शब्द को सुनने से उत्तम होती है;** उसी ही तरह उनके स्पर्श से भी मति उत्तम होती है । यदि वर्तमान की मर्यादा से बड़े सन्त का स्पर्श न हो सके तो उनके चरण की रज लेकर शिर पर चढ़ाये, उससे पवित्र हो जाता है । उसी ही तरह **बड़े सन्त के दर्शन से भी पवित्र होता है, परन्तु वर्तमान रखकर दर्शन करें । उसी ही तरह उन बड़े की प्रसादी ग्रहण करने से भी पवित्र होते हैं । उसमें भी वर्णाश्रम की मर्यादा परमेश्वरने निर्धारित की है, उस मर्यादा को रखकर प्रसादी ग्रहण करें;** और जिसे ग्रहण करने का निषेध हो, उसे मिश्री[२] की प्रसादी कराके प्रसादी ग्रहण करें । वैसे ही उन बड़े पुरुषों को चढ़े पुष्प-चन्दन, उसकी सुगन्ध लेने से भी बुद्धि निर्मल होती है । इसलिए उन पञ्च विषय को समझे बिना जो उपभोग करेगा और सार-असार का विभाग नहीं करेगा, वह नारद-सनकादिक जैसा होगा, उसकी भी बुद्धि भ्रष्ट हो जाएगी, तो जो देहाभिमानी है और उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाये, उसमें क्या कहना ? इसलिए इन पञ्च इन्द्रियों को योग्य-अयोग्य विचार करे बिना जो निरंकुश स्वतन्त्र छोड़ देंगे, उसका अन्तःकरण भ्रष्ट हो जाएगा । **पञ्च इन्द्रियों द्वारा जीव जो आहार करता है, वह आहार यदि शुद्ध करेगा तो अन्तःकरण शुद्ध होगा, और अन्तःकरण शुद्ध होगा तो भगवान की अखण्ड स्मृति बनी रहेगी ।** यदि पञ्च इद्रियों के आहार में से एक इन्द्रिय का आहार मलिन होता है, तो अन्तःकरण भी मलिन हो जाता है । इसलिए भगवान के भक्त को भगवान के भजन में जो कोई विक्षेप हो आता है, उसका कारण तो पञ्च इन्द्रियों के विषय ही है, किन्तु अन्तःकरण नहीं है ।

---

१. संग से २. शक्कर

और **यह जीव है वह जैसी**[१] **संगति**[२] **करता है वैसा**[३] **उसका अन्तःकरण होता है ।** तो जब वह जीव विषयी जीवों की सभा में बैठा हो और उस जगह भी सुन्दर सात मंज़िल की हवेली हो, उस हवेली में काच के सुन्दर बड़े आईने लगे हों, सुन्दर बिछौने बिछे हुए हों, उसमें विविध प्रकार के आभूषणों तथा वस्त्रों को पहनकर विषयी जन बैठे हों, शराब के शीशे लेकर परस्पर पिलाते हों, कितने तो शराब के शीशे भरे हुए पड़े हों, वेश्याएँ थेई-थेईकार कर रही हों, विविध प्रकार के बाझे[४] बजते हों, उस सभा में जाकर जो जन[५] बैठता है, उस समय में उसका अन्तःकरण[६] दूसरी तरह[७] का हो जाता है । और तृण की झोंपडी हो, उसमें फटी गूदड़ीवाले परमहंसों की सभा बैठी हो और धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति सहवर्तमान भगवद्वार्ता हो रही हो, उसी सभा में जाकर जो जन[८] बैठता है, तब उस समय उसका अन्तःकरण[९] दूसरी तरह[१०] का हो जाता है । इसलिए सत्संग और कुसंग के योग से जैसा अन्तःकरण होता है, उसे यदि विचार करके देखता है, तब जानने में आता है, किन्तु मूढ़[११] को तो कुछ पता चलता नहीं है । इसलिए यह बात है, वह नितान्त[१२] मूर्खता से पशुवत् रहता हो, उसे तो समझ में नहीं आती है, और जो कुछ विवेकी है, और भगवान का कुछ आश्रित है, उसे तो यह वार्ता तुरन्त समझ में आ जाती है; इसलिए परमहंस तथा सांख्ययोगी हरिजन तथा कर्मयोगी हरिजन; ये सभी कुपात्र मनुष्य की संगति न करें । और **सत्संग होने से पहले**[१३] **तो चाहे कैसा भी कुपात्र जीव हो, तो भी उसे नियम धारण कराके सत्संग में लें, किन्तु सत्संग में आने के बाद कुपात्रता रखता हो, वह स्त्री अथवा पुरुष; जो हो, उसे सत्संग से बहार निकाल दें और यदि न निकाल दिया जाय तो उसमें से बहुत अनिष्ट होता है ।** 'जैसे जिस अंगुली को सर्पने काट लिया हो अथवा कुष्ठ[१४] का रोग हुआ हो,

---

१. शुभ-अशुभ २. संग ३. शुद्ध-अशुद्ध ४. वादित्र ५. धर्मनिष्ठ भक्तजन ६. निर्विकार ऐसा भी ७. विषयमय ८. दूराचारी भी ९. काम आदि वासनाओं से दूषित ऐसा भी । १०. शुद्ध ११. मूर्ख १२. एकदम, बिलकुल, सर्वथा १३. प्रथम १४. किड़िया‍रा, वल्मीक रोग

उतना अंग यदि तुरन्त काट दिया जाये तो स्वयं[१] स्वस्थ रहता है,' उसका लोभ करता है तो अधिक बिगाड़ होता है । उस तरह जो कुपात्र जीव दिखाई दे, तो उसका तत्काल त्याग करें । यह हमारा वचन है उसे मेहरबानी करके सभी अवश्य रखें, तो हम समझेंगे कि आप सब ने हमारी सभी सेवा की । और हम भी आप सभी को आशीर्वाद देंगे और आप पर बहुत प्रसन्न होंगे, क्योंकि; आपने हमारा पुरुषार्थ सफल किया है । और भगवान का धाम है, वहाँ हम सब साथ में रहेंगे । और यदि इस प्रकार[२] नहीं रहोगे तो आप की और हमारी बहुत दूरी हो जाएगी तथा भूत का या ब्रह्मराक्षस का देह मिलेगा और हैरान हो जाओगे । जो कुछ भगवान की भक्ति की होगी, उसका फल तो भटकते-भटकते किसी काल में प्रगट होगा, तब भी हमने जो बात कही है, उसके अनुसार रहोगे तब फिर मुक्त होकर भगवान के धाम में जाओगे।

और **यदि कोई हमारी देखा देखी[३] करोगे, तो उसका तो जरूर अनिष्ट होगा;** क्योंकि; हमारे हृदय में तो नरनारायण प्रकट विराजमान हैं, और मैं तो अनादिमुक्त[४] ही हूँ, किन्तु किसी के उपदेश से मुक्त नहीं हुआ हूँ । और मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार उनको तो मैं पकड़ लेता हूँ; जैसे सिंह बकरे को पकड़ता है उसी तरह उन अन्तःकरण को मैं पकड़ता हूँ और दूसरे को तो वे अन्तःकरण देखने में भी आते नहीं हैं । इसलिए हमारी देखा देखी करके, ऐसा मानता हो कि उपाधि में रहकर शुद्धता से रहेंगे, वह तो नारद-सनकादिक जैसा हो, उससे भी नहीं रहा जाता, तो दूसरे की क्या बात कहे? **अनन्त मुक्त हो गए और अनन्त होंगे, उसमें उपाधि में[५] रहकर निर्लेप रह पाये, ऐसा कोई हुआ नहीं है और होगा भी नहीं और अभी भी कोई भी नहीं है और कोटि कल्प तक साधन करके भी ऐसा होने में कोई समर्थ नहीं है ।** इसलिए, हमने जो बताया है, उसके अनुसार रहोगे तो श्रेय होगा । और हम किसी को स्नेह से बुलाते हैं, वह तो उनके जीव के कल्याण

१. शरीर से २. संतसमागम, इन्द्रियों का नियमन और असाधु का त्याग । ३. अनुकरण
४. तीनों काल में भी माया के सम्बन्ध से रहित । ५. उन-उन विषयों के प्रसंग में ।

के लिए बुलाते हैं अथवा स्नेह से किसी के सामने देखते हैं अथवा कोई उत्तम भोजन कराते हैं, उसे ग्रहण करते हैं अथवा कोई पलंग बिछा देते हैं, उस पर बैठते हैं अथवा कोई वस्त्र-आभूषण तथा पुष्प की मालायें इत्यादिक जो-जो पदार्थ ले आते हैं, उन्हें अंगीकार करते हैं, वह तो उनके जीव के श्रेय करने के लिए करते हैं, परन्तु हमारे सुख के लिए नहीं करते हैं; और यदि हमारे सुख के लिए करते होंगे तो हमें **श्रीरामानन्द स्वामी की सौगंध हैं ।** इसलिए ऐसा विचार करके कोई हमारी देखा देखी न करें, **पञ्च इन्द्रियों का आहार है, उसे अतिशय शुद्धता से रखें, यह हमारा वचन जरूर ही जरूर मानें ।** और यह बात तो सभी को समझ में आये ऐसी सुगम है, इसलिए सभी के समझ में तुरन्त आ जाएगी, इसलिए सत्संग में अतिशय प्रवर्तन कराइयेगा, उसमें हमारी बहुत प्रसन्नता है ।'' ऐसी बात करके 'जय सच्चिदानन्द' कहकर श्रीजीमहाराज अपने निवास पर पधारे ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥१८॥

वचनामृत १९ : 'आत्मनिष्ठा आदिक गुणों को परस्पर अपेक्षा का'

संवत्* १८७६ के पौष शुक्ल १ प्रतिपदा के दिन श्रीजीमहाराज संध्या समय श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''इस सत्संग में अपने आत्यन्तिक कल्याण की इच्छा रखनेवाला जो भक्तजन, उसे अकेली आत्मनिष्ठा से ही आत्यन्तिक कल्याणरूप अपना कार्य सम्पन्न नहीं होता है, तथा अकेली प्रीति जो प्रेम सहित नौ प्रकार की भक्ति करना, उससे भी वह कार्य सम्पन्न नहीं होता है तथा अकेला जो वैराग्य है, उससे भी वह कार्य सम्पन्न नहीं होता है, तथा अकेला

* दि. १७-१२-१८१९, शुक्रवार

जो स्वधर्म उससे भी वह कार्य सम्पन्न नहीं होता है; इसलिए ये **आत्मनिष्ठा आदि जो चारों गुण, उन्हें सिद्ध करना हैं । क्योंकि ? उन चारों गुणों को तो एक-दूसरे की अपेक्षा है ।** अब उन चारों गुणों को जो एक दूसरे की अपेक्षा है, उसे कहते हैं, उसे सुनिए कि आत्मनिष्ठा तो हो, किन्तु यदि श्रीहरि में प्रीति न हो, तो उस प्रीति से हुई जो श्रीहरि की प्रसन्नता, उससे ही प्राप्त करने योग्य ऐसा बड़ा ऐश्वर्य, 'जो माया के गुण से पराभव न हो पाये ऐसा बड़ा सामर्थ्य', उसे वह भक्त प्राप्त नहीं होता है । और श्रीहरि में प्रीति हो, किन्तु यदि आत्मनिष्ठा न हो तो देहाभिमान के योग से उस प्रीति की सिद्धि नहीं होती है । और श्रीहरि में प्रीति तथा आत्मनिष्ठा; ये दोनों हो, परन्तु यदि दृढ़ वैराग्य न हो तो मायिक पञ्चविषय में आसक्ति होने से उन प्रीति एवं आत्मनिष्ठा की सिद्धि नहीं होती है । और वैराग्य तो हो, फिर भी यदि प्रीति एवं आत्मनिष्ठा न हो, तो श्रीहरि के स्वरूप सम्बन्धी जो परमानन्द, उसकी प्राप्ति नहीं होती है । और स्वधर्म तो हो, तो भी यदि प्रीति, आत्मनिष्ठा और वैराग्य, ये तीनों न हो, तो भूर्लोक, भुवर्लोक और ब्रह्मा के भुवन पर्यन्त जो स्वर्गलोक, उनसे बहार गति नहीं होती है, अर्थात् ब्रह्माण्ड को भेदकर माया के तम[१] से पर ऐसा जो श्रीहरि का अक्षरधाम, उस की प्राप्ति नहीं होती है । और आत्मनिष्ठा, प्रीति और वैराग्य; ये तीन हों, तो भी यदि स्वधर्म न हो, तो इन तीनों की सिद्धि नहीं होती है । इस तरह आत्मनिष्ठा आदिक जो चार गुण, उन्हें एक-दूसरे की अपेक्षा है । इसलिए भगवान के एकान्तिक भक्त के समागम से जिस भक्त में ये चारों गुण अतिशय दृढ़ता से रहते हैं, उस भक्त के सभी साधन सम्पूर्ण हुए और उसे ही एकान्तिक भक्त जानें । इसलिए **जिस भक्त को चारों गुणों में से जिस गुण की न्यूनता हो, वह भगवान के एकान्तिक भक्त की सेवा-समागम करके उस न्यूनता को टालें ।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥१९॥

---

१. गाढ़ अंधकार

वचनामृत २० : 'अज्ञानी का - अपने स्वरूप को देखने का'

संवत्* १८७६ के पौष शुक्ल २ द्वितीया के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कक्ष के बरामदे में गद्दी-तकिया बिछवाकर विराजमान थे । उन्होंने सफेद पाग सिर पर बाँधी थी, उस पाग में पीले पुष्पों का तुर्रा विराजमान था, कण्ठ में पीले पुष्पों का हार विराजमान था, दोनों कान में सफेद और पीले पुष्पों के गुच्छ विराजमान थे, सफेद शाल(चौफाल)(१) ओढ़ी थी, काली किनारीवाला खेस पहना था और कथा-वाचन करा रहे थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिजन की सभा बैठी थी ।

तब स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज बोले कि "सुनिये, सभी को एक प्रश्न पूछते हैं ।" तब सभी हरिभक्तों ने हाथ जोड़कर कहा कि 'पूछिए !' तब श्रीजीमहाराज बोले कि "अज्ञानी में अतिशय अज्ञानी तो कौन है ?" फिर तो सब सोचने लगे, परन्तु उत्तर नहीं कर पाये । तब श्रीजीमहाराज बोले कि "लीजिए, हम ही उत्तर करते हैं ।" तब सभी ने प्रसन्न होकर कहा कि "हे महाराज ! आपसे ही यथार्थ उत्तर होगा । इसलिए कहिए ।" फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "इस देह में रहनेवाला जो जीव है, वह रूप को देखता है तथा कुरूप को देखता है, तथा बाल, यौवन और वृद्धपन को देखता है । ऐसे अनन्त पदार्थों को देखता है, **परन्तु देखनेवाला स्वयं अपने आपको देखता नहीं है । केवल बाह्य दृष्टि से पदार्थों को देखता रहता है; परन्तु स्वयं अपने आपको नहीं देखता है, वह ही अज्ञानियों में अतिशय अज्ञानी है ।** जिस प्रकार नेत्र से अनन्त प्रकार के रूपों के स्वाद को लेता है, उसी ही तरह श्रोत्र, त्वक्, रसना, घ्राण इत्यादिक सभी इन्द्रियों से विषयसुख को भोगता है और

---

*दि. १८-१२-१८१९, शनिवार

१. चौफाल-शाल, चौबिस हाथ लंबा वस्त्र, जो चारों ओर फैला रहता है, इसलिए चौफाल कहते है, जिसका प्रचलन सौराष्ट्र के गाँवों में है ।

जानता है; परन्तु **स्वयं अपने सुख को भोगता नहीं है, और स्वयं अपने रूप को जानता नहीं है, वह ही सभी अज्ञानियों में अतिशय अज्ञानी है और वह ही पागलों में अतिशय पागल है और वह ही मूर्खों में अतिशय मूर्ख है और वह ही सभी नीचों में अतिशय नीच है ।''**

तब शुकमुनि ने आशंका की कि ''अपने स्वरूप को देखना, वह क्या अपने हाथ में है ? और यदि अपने हाथ में हो, तो जीव क्यों अतिशय अज्ञानी बना रहे ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''**जिसको सत्संग हुआ है, उसे तो अपनी जीवात्मा का दर्शन अपने हाथ में ही है ।** किसी दिन उसने अपने स्वरूप को देखने का प्रयास[१] किया और न देखा ? वह जीव माया के अधीन होता हुआ परवश होकर तो स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में अन्तर्दृष्टि कर के जाता है, किन्तु स्वयं अपने आप किसी भी दिन अपने स्वरूप को देखने के लिए अन्तर्दृष्टि नहीं करता है । और जो भगवान के प्रताप का विचार करके अन्तर्दृष्टि करता है, वह तो अपने स्वरूप को अतिशय उज्ज्वल प्रकाशमान देखता है । उस प्रकाश में[२] प्रत्यक्ष ऐसे जो पुरुषोत्तम भगवान, उनकी मूर्ति को देखता है और नारद-सनकादिक जैसा सुखी भी होता है । **इसलिए हरिभक्त को तो जितनी कसर रहती है, उतनी अपने आलस्य के कारण रहती है ।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥२०॥

वचनामृत २१ : 'एकान्तिक धर्मवाले का - अक्षर के दो स्वरूप का'

संवत्* १८७६ के पौष शुक्ल ३ तृतीया के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में संध्या के समय पूर्वी द्वार कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने काले पल्ले का खेस पहना था और सफ़ेद शाल (चौफाल) ओढ़ी थी, सफेद पाग मस्तक पर बाँधी थी और पूर्व की ओर

*दि. १९-१२-१८१९, रविवार **१.** उद्यम, साधना **२.** अन्तर्गत

मुखारविन्द कीये विराजमान थे। और अपने आगे साधु झाँझ, पखावज लेकर कीर्तन गान कर रहे थे और अपने मुखारविन्द के आगे साधु तथा देश-देश के सत्संगियों की सभा बैठी थी।

फिर उन सभी को श्रीजीमहाराज ने शान्त किया[१] और ऐसे बोले कि "सभी सुनिये, एक बात करते हैं।" ऐसा कहकर बहुत देर तक तो नेत्रकमल को बन्द करके विचार करते रहे और फिर बोले कि "जिस हरिभक्त के मन में भगवान को अति प्रसन्न करने की इच्छा हो, उन भगवान को प्रसन्न करने का तो यह उपाय है कि **अपने-अपने वर्णाश्रम का जो धर्म है, उसमें अचल निष्ठा तथा आत्मनिष्ठा की अतिशय दृढ़ता तथा एक भगवान के बिना दूसरे सभी पदार्थों में अरुचि[२] तथा भगवान के प्रति माहात्म्य सहित ऐसी निष्काम भक्ति, इन चार साधनों से भगवान की अतिशय प्रसन्नता होती है। ये जो चार साधन हैं, उन्हें एकान्तिक धर्म कहते हैं।** ऐसे एकान्तिक धर्मवाले जो भक्त हैं, वे इस समय में अपने सत्संग में कई हैं। और जो भगवान के भक्त हों, वे खाते, पीते, नहाते, धोते, चलते, बैठते, सभी क्रियाओं में भगवान की मूर्ति का चिंतन करें। जब अन्तर में कोई विक्षेप न हो, तब तो भगवान का चिंतन करें और भगवान की मूर्ति के सामने देखते रहें। यदि अन्तर में संकल्प-विकल्प का विक्षेप हो जाय, तो देह, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, देवता, विषय; इन सभीसे अपना स्वरूप भिन्न समझें और जब संकल्प का विराम हो जाये, तब भगवान की मूर्ति का चिंतन करें। इस देह को तो अपना स्वरूप न मानें और देह के जो सम्बन्धी हैं, उन्हें अपने सम्बन्धी न मानें, क्योंकि, यह जीव है, वह चौरासी लाख प्रकार के देहों को पूर्व में धारण करके आया है। जगत में जितनी स्त्रियाँ हैं, उन सभी के पेट से जन्म लिए हैं तथा जगत में जितनी कुत्तियाँ, जितनी बिल्लियाँ, जितनी बंदरियाँ इत्यादिक जो-जो चौरासी[३] में जीव हैं, उन सभी के पेट से कई बार जन्म लिए हैं। इस जगत में जितने प्रकार की स्त्रियाँ हैं, उनमें से कौनसी उसने स्त्री

१. कीर्तन गान का विराम करवाया। २. अप्रीति, अभाव ३. लखचौरासी

नहीं की ? सभी को अपनी स्त्रियाँ की है; उसी तरह ही उस जीवने स्त्री का देह धारण कर करके जगत में जितने प्रकार के पुरुष हैं उन सभी को अपने पति किया है; इसलिए जैसे उन चौरासी लाख प्रकार के सम्बन्धों को अभी नहीं मानते हैं तथा चौरासी लाख प्रकार के देहों को अपना देह नहीं मानते है, वैसे ही **इस देह को अपना स्वरूप न मानें, और इस देह के सम्बन्धियों को अपने सम्बन्धी न मानें;** क्योंकि, चौरासी लाख प्रकार के देह धारण किये, जब उनका सम्बन्ध नहीं रहा, तो इस देह का सम्बन्ध भी नहीं ही रहेगा। इसलिए देह–गृहादिक सभी पदार्थों को असत्य जानकर तथा देह, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण; उनसे पृथक् अपना स्वरूप जानकर तथा अपने धर्म में रहकर भगवान की निष्काम भक्ति करें और दिन प्रतिदिन **भगवान का अतिशय माहात्म्य समझ में आये, इसलिए साधु का संग निरन्तर रखें ।** जो इस प्रकार नहीं समझता तथा केवल देहाभिमानी एवं प्राकृत मतिवाला है और वह यदि सत्संग में पड़ा रहा है, तो भी उसे पशु जैसा जानें। इस सत्संग में तो भगवान का बड़ा प्रताप है, उससे पशु का भी कल्याण होता है, तब मनुष्य का कल्याण हो जाये, इसमें कैसे आश्चर्य कहा जाय ? परन्तु उसे भगवान का यथार्थ एकान्तिक भक्त नहीं कहा जाता। एकान्तिक भक्त तो जिसकी प्रथम कही ऐसी समझ हो, उसे ही कहते है।

ऐसा **जो एकान्तिक भक्त है, वह देह का त्याग कर के सभी माया के भावों से मुक्त होकर, अर्चिमार्ग[१] से भगवान के अक्षरधाम को प्राप्त होता है। उस अक्षर के दो[२] स्वरूप हैं। एक तो निराकार[३] एकरस चैतन्य है, उसे चिदाकाश कहते हैं, ब्रह्ममहोल कहते हैं; और वे अक्षर**

---

१. भगवान के धाम का जो मार्ग है, उसे अर्चिमार्ग कहते है, उसे दूसरे शब्दो में देवयान और ब्रह्मपथ भी कहते है। उस मार्ग में प्रथमपर्व में अर्चि (अर्चा–पूजा करनेवाला) आता है, इसलिए उसका अर्चिमार्ग नाम पड़ा है। इस मार्ग से गए हुए इस संसार मे वापस नहीं आते है। इस मार्ग का वर्णन छान्दोग्योपनिषद् में तथा गीता में किया है।

२. धाम–तेज निराकार और दिव्यदेह। ३. धामरूप

दूसरे[१] रूपसे पुरुषोत्तमनारायण की सेवा में रहते हैं । उस[२] अक्षरधाम को प्राप्त हुआ जो भक्त, वह भी अक्षर[३] के साधर्म्यपन[४] को प्राप्त होता है और भगवान की अखण्ड सेवा में रहता है । उस अक्षरधाम में श्रीकृष्ण पुरुषोत्तमनारायण, वे सदा विराजमान हैं और उस अक्षरधाम में अक्षर के साधर्म्यपन[५] को प्राप्त हुए ऐसे अनन्तकोटि मुक्त रहे हैं । वे सभी पुरुषोत्तम के दासभाव से रहते हैं और पुरुषोत्तमनारायण, उन सभी के स्वामी हैं और अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के राजाधिराज हैं । इसलिए **अपने सभी सत्संगियों को तो ऐसा ही निश्चय करना है कि 'हमें भी वे अक्षररूप जो मुक्त हैं, उनकी पंक्ति में शामिल होना है और अक्षरधाम में जाकर अखण्ड भगवान की सेवा में उपस्थित[६] रहना है । किन्तु नाशवान एवं तुच्छ ऐसा जो मायिक सुख, उनकी इच्छा नहीं रखनी है और उनमें किसी ठिकाने लुभाना नहीं है;'** ऐसा दृढ़ निश्चय रखकर निरन्तर भगवान की एकान्तिकी भक्ति करनी है । भगवान का अतिशय माहात्म्य यथार्थ समझकर भगवान के सिवा दूसरे जो स्त्री-धनादिक सभी पदार्थ, उनकी जो वासना है, उसे जीते जी ही टाल दे । यदि भगवान के सिवा दूसरे पदार्थ की वासना रह गई हो और उसका देहान्त हो जाये और उसे भगवान के धाम में जाते वक्त यदि मार्ग में सिद्धियाँ दिखाई दें, तो वह भगवान का त्याग करके उन सिद्धियों में लुब्ध हो जाता है, तब उसे बड़ा विघ्न होता है; इसलिए सभी पदार्थों की वासना टालकर भगवान को भजें ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥२१॥

वचनामृत २२ : 'स्मृति बिना गाया वह न गाया जैसा, उसका'

संवत्* १८७६ के पौष शुक्ल ४ चतुर्थी के दिन मध्याह्न समय श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार कक्ष के

* दि. २०-१२-१८१९, सोमवार

१. दिव्याकार में सेवक । २. निराकार तेजरूप । ३. दिव्याकार । ४. समानगुण, ऐश्वर्यादि । ५. धामरूप ६. हजूर

बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र पहने थे और पाग में फूल का तुर्रा लगा रखा था, दोनों कान ऊपर पुष्प के गुच्छ धारण किये थे, कण्ठ में गुलदावदी के पुष्प का हार पहना था और पूर्व की ओर मुखारविंद किये विराजमान थे और अपने मुखारविन्द की आगे परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और परमहंस कीर्तन गान कर रहे थे ।

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "सुनिये, एक बात करते हैं ।" तब सभी परमहंस गाना रखकर बात सुनने के लिए तत्पर हुए । तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "**मृदंग, सारंगी, सरोद, ताल इत्यादिक वादित्र बजाकर कीर्तन गाना, उसमें यदि भगवान की स्मृति न रहती हो तो उनका किया गान तो न गाने जैसा है ।** भगवान का विस्मरण करके तो जगत में कितने ही जीव गाते है तथा वादित्र बजाते हैं, परन्तु उससे उनके मन में शान्ति नहीं आती है । इसलिए **भगवान के कीर्तन गाना, नामरटण करना तथा नारायण धुन करना इत्यादिक जो-जो करना है, उसे भगवान की मूर्ति का स्मरण रखके ही करें ।** भजन करने बैठता है तब तो भगवान में वृत्ति रखता है और जब भजन में से उठकर दूसरी क्रिया को करता है तब यदि भगवान में वृत्ति नहीं रखता, तो उसकी वृत्ति भजन में बैठता है तब भी भगवान के स्वरूप में स्थिर नहीं होती है । इसलिए फिरते-चलते, खाते-पीते सभी क्रियाओं में भगवान के स्वरूप में वृत्ति रखने का अभ्यास करें, तो उसे जब भजन में बैठता है तब भगवान में वृत्ति स्थिर होती है । जिसे भगवान में वृत्ति रहने लगती है, उसे तो कामकाज करते भी रहती है । जिसे लापरवाही रहती है, उसे तो भजन में बैठता है, तब भी भगवान में वृत्ति नहीं रहती है । इसलिए सावधान होकर भगवान के स्वरूप में वृत्ति रखने का अभ्यास भगवान के भक्त करें ।" इतनी बात करके श्रीजीमहाराज बोले कि "अब कीर्तन गाइए ।"

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥२२॥

वचनामृत २३ : 'पानी का घड़ा बहाने का – स्थिति में रहने का'

संवत्* १८७६ के पौष शुक्ल ५ पंचमी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । श्रीजीमहाराज ने सिर पर सफेद फेंटा(१) बाँधा था तथा श्वेत अंगरखा पहना था तथा सफेद सुरवाल पहना था तथा कमर पर कसुंबल शेला बाँधा था और अपने मुखारविन्द के आगे परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब करुणा करके परमहंसों के आगे श्रीजीमहाराज बात कहने लगे कि "**वासुदेव माहात्म्य नामक जो ग्रन्थ है, वह हमें अतिशय प्रिय है;** क्योंकि, भगवान के भक्त को भगवान को भजने की जो रीति है, वह सभी उस ग्रन्थ में कही है । भगवान के जो भक्त हैं, वे दो प्रकार के हैं । उनमें एक को भगवान का निश्चय तो यथार्थ है, परन्तु वह देहात्मबुद्धि सहित भगवान का भजन करता है । और दूसरा तो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति; इन तीनों अवस्थाओं तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण; इन तीनों देहों से पर और अपने स्वरूप को चैतन्यरूप मानता है और अपने उस स्वरूप में भगवान की मूर्ति को धारण करके भगवान का भजन करता है । फिर तीनों अवस्थाओं से और तीनों शरीरों से पर जो अपना स्वरूप, उसे अतिशय प्रकाशमान देखता है । उसी प्रकाश में भगवान की मूर्ति जैसी प्रकट प्रमाण है, वैसी अतिशय प्रकाश से युक्त दिखती है; वह इस प्रकार की स्थितिवाला होता है । इस प्रकार की स्थिति जब तक नहीं हुई है, तब तक भगवान का भक्त हो, तो भी उसके सिर पर विघ्न है । यदि ऐसी स्थिति में शिवजी नहीं रहते थे, तो वे मोहिनी स्वरूप में मोहित हो गए, ऐसी स्थिति में ब्रह्मा नहीं रहते थे, तो सरस्वती को देखकर मोहित हो गए, ऐसी स्थिति में नारदजी नहीं रहते थे, तो विवाह करने का मन

---

* दि. २१-१२-१८१९, मंगलवार

१. सूक्ष्म, घने एवं महीन वस्त्र को गोलाकार मोटी रस्सी की तरह पेच लेकर बाँधी जानेवाली आंटीदार पाग ।

हुआ और इन्द्र तथा चन्द्रादिक को यदि ऐसी स्थिति नहीं थी, तो उन्हें कलंक लगे । और जो भगवान का भक्त हो, किन्तु यदि ऐसी स्थिति को प्राप्त न हुआ हो, तो भगवान में भी उसे प्राकृतभाव का आरोपण[१] हो जाता है । जैसे राजा परीक्षित ऐसा भक्त नहीं था तो उसे रासक्रीडा सुनकर श्रीकृष्ण भगवान में संशय हुआ और शुकजी यदि ऐसे भक्त थे तो उन्हें किसी भी प्रकार का संशय नहीं हुआ । जो ऐसा भक्त हो, वह तो ऐसा समझता है कि 'मुझे कोई दोष नहीं छू सकता है तथा वह दोष किसी प्रकार की बाधा नहीं कर सकता है । तब जिनके भजन से मैं ऐसा हुआ, ऐसे जो भगवान हैं, उनमें तो कोई मायिक दोष क्यों ही हो ? ऐसा दृढ़ता पूर्वक समझता है ।' ऐसा जो भगवान का भक्त है, वह भगवान की मूर्ति में जब वृत्ति को रखता है तब उन वृत्ति के दो विभाग होते हैं । उनमें एक वृत्ति तो भगवान के स्वरूप में रहती है और दूसरी तो जो भजन करनेवाला है, उसमें रहती है । भगवान के स्वरूप में जो वृत्ति रहती है, वह प्रेम से युक्त रहती है, और भजन को करनेवाले में जो वृत्ति रहती है, वह तो विचार से युक्त रहती है । वह वृत्ति तो जो भजन को करनेवाला है, उसमें भगवान के भजन बिना दूसरे जो-जो घाट-संकल्प होते हैं, उन सभी को मिथ्या कर देती है तथा उन भजन करनेवाले में जो दोष है, उन सभी को मिथ्या कर देती है; इस तरह से उनकी वृत्ति भगवान में अखण्ड रहती है । जो घड़ी दो घड़ी तो एकाग्र चित्त से बैठकर भगवान का भजन करता है और थोड़ी देर में तो मूर्ख सी चेष्टा करता फिरता रहता है, उसे तो ऐसी स्थिति नहीं होती है । जैसे पानी का घड़ा भरकर एक जगह बहाके आते हैं, फिर तो दूसरे दिन अथवा तीसरे दिन उसी जगह पर पानी का घड़ा बहाने से वहाँ पानी का पोखर[२] नहीं भरता है; क्योंकि, पहले दिन का पानी पहले दिन सूख जाता है और पिछले दिन का पिछले दिन सूख जाता है । और यदि अँगुली जैसी छोटी सी पानी की धारा अखण्ड बहती हो, तो पानी का बड़ा तालाब भर जाता है । उस तरह **खाते-पीते, चलते-फिरते तथा शुभ क्रिया**

१. ठहराया जाता है । २. छोटा तालाब

में तथा अशुभ क्रिया में सभी काल में भगवान में अखण्ड वृत्ति रखें। पश्चात् इस तरह भगवान में अखण्ड वृत्ति रखते-रखते ऐसी दृढ़ स्थिति होती है ।''

इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥२३॥

वचनामृत २४ : 'ज्ञान की स्थिति का – माहात्म्यरूपी खटाई का'

संवत्* १८७६ के पौष शुक्ल ६ षष्ठी के दिन संध्या समय में श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने सिर पर सफेद फेंटा बँधा था और श्वेत खेस पहना था तथा गरम पोस की लाल मिरजई पहनी थी, और सफेद शाल(चौफाल) ओढ़ी थी और अपने मुखारविंद के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज परमहंसों के प्रति बोले कि ''जिस तरह ज्ञान से(१) स्थिति(२) होती है, उसे कहते हैं । **वह ज्ञान कैसा है ? तो प्रकृतिपुरुष से पर है, और जब ज्ञान में स्थिति होती है तब प्रकृतिपुरुष तथा प्रकृतिपुरुष का जो कार्य है, वह कुछ नजर(३) में नहीं आता है । उसका नाम 'ज्ञानप्रलय(४) कहालाता है,** और जिसे ऐसी स्थिति होती है, उसे एकरस चैतन्य भासता है। उसमें एक भगवान की मूर्ति ही रहती है, परन्तु दूसरा कोई आकार नहीं रहता है। कभी तो उस प्रकाश में भगवान की मूर्ति भी नहीं दिखती है, अकेला प्रकाश ही दिखाई देता है । कभी तो प्रकाश भी दिखाई देता है और भगवान की मूर्ति भी दिखाई देती है; उसे ज्ञान से हुई स्थिति जानें। **जैसी भगवान की मूर्ति प्रगट दिखाई देती है, उन मूर्ति में अखण्ड वृत्ति रहती हो, तो उससे ऐसी स्थिति होती है ।** जिसे जैसी भगवान की महिमा समझ में आयी हो, उनके हृदय में उतना ही प्रकाश होता है, और उतना ही उसे प्रणव

*दि. २२-१२-१८१९, बुधवार

१. आत्मा-परमात्मा के साक्षात् यथार्थ अनुभवरूप । २. भगवत् स्वरूप में मन का निश्चलरूप से रहने योग्य । ३. दृष्टि ४. ज्ञानस्थिति को 'ज्ञानप्रलय' शब्द से भी कहा जाता है ।

तथा नाद सुनाई देता है। जिसे जितना भगवान का निश्चय तथा महिमा समझ में आती है, उसे उतने अशुभ संकल्प बन्द हो जाते हैं। **जब भगवान का निश्चय यथार्थ होता है और यथार्थ महिमा समझ में आती है तब उसे अशुभ संकल्पमात्र टल जाते हैं।** जैसे नींबू का एक टुकड़ा चूसा हो तो थोड़े-थोड़े दाँत खट्टे हो जाते हैं, परन्तु हलके-हलके से चने चबाये जा सकते हैं; और यदि पुरा नींबू चूस लिया हो तो चने नहीं चबाये जाते, और मूंग का दाना बड़ी मुश्किल से चबा पाते हैं। यदि बहुत नींबू चूस लिए हो तो पकाया हुआ भात भी नहीं चबा पाते। **उसी तरह भगवान का निश्चय तथा माहात्म्यरूपी खटाई जिसे चढ़ गई हो, उनकी चार अन्तःकरण और दश इन्द्रियारूप जो दाढ़े, वे सभी खट्टी हो जाती हैं।** तब वह जीव मनरूप अपनी दाढ़ से विषय के संकल्परूपी चने को चबाने में समर्थ नहीं होता है; उसी तरह ही चित्तरूप अपनी दाढ़ से विषय का चिन्तन करने में समर्थ नहीं होता है, उसी तरह ही बुद्धिरूप अपनी दाढ़ से निश्चय करने में समर्थ नहीं होता है, उसी तरह ही अहंकाररूप अपनी दाढ़ से विषय सम्बन्धी अभिमान करने में समर्थ नहीं होता है, उसी तरह ही पञ्च ज्ञानइन्द्रिय और पञ्च कर्मइन्द्रियरूप जो दाढ़ें हैं, उन दाढ़ो से उन-उन इन्द्रियों के विषयरूप जो चने हैं, उसे चबाने में समर्थ नहीं होता है। और जिसे भगवान का यथार्थ निश्चय न हो और भगवान की यथार्थ महिमा समझ में न आयी हो, उनके जो इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण, वे अपने-अपने विषय से यथार्थरूप से निवृत्त नहीं होते हैं। **भगवान का जो स्वरूप है, वह तो माया तथा माया के जो गुण, उनसे पर है और सभी विकार से रहित है, लेकिन वे जीव के कल्याण के लिए मनुष्य जैसे दिखाई देते हैं। उन भगवान में जो अल्प मतिवाले हैं, वे जिस-जिस तरह के दोष आरोपित करते[१] हैं, पर उन भगवान में तो एक भी दोष नहीं है, किन्तु आरोपण करनेवाले की बुद्धि में से वे दोष किसी भी काल में टलनेवाले नहीं हैं।** उसमें जो भगवान को कामी समझता है, वह स्वयं

१. ठहराते हैं, कल्पना करते हैं।

अत्यन्त कामी हो जाता है, जो भगवान को क्रोधी समझता है वह स्वयं अत्यन्त क्रोधी हो जाता है, जो भगवान को लोभी समझता है वह स्वयं अत्यन्त लोभी हो जाता है, जो भगवान को ईर्ष्यावान समझता है वह स्वयं अत्यन्त ईर्ष्यावान हो जाता है, इत्यादिक जो-जो दोष भगवान में आरोपित[१] करते हैं, वह तो जैसे सूर्य के सामने धूल का झोला भरकर फेंकते हैं, तो वह अपनी आँख में पड़ती है, उसी तरह भगवान में जिस प्रकार का दोष आरोपित करता है, वह दोष अपने को दुःख देता है । **अपने में चाहे कितने ही बुरे स्वभाव हों, और यदि भगवान को अतिशय निर्दोष समझता है, तो स्वयं भी अतिशय निर्दोष हो जाता है ।''**

पश्चात् ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि ''किसी विषय में भी अपनी इन्द्रियाँ आकर्षित न[२] होती हों, और अन्तःकरण में भी अनिष्ट संकल्प न होते हों, और भगवान का निश्चय भी यथार्थ है, तो भी अपूर्णता रहती है और अन्तर सूना रहता है, उसका क्या कारण है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''यह भी हरिभक्त में बड़ी खोट है कि अपना मन स्थिर हुआ है और भगवान का निश्चय भी अतिशय दृढ़ है, तब भी हृदय में अतिशय आनन्द नहीं आता है कि 'मैं धन्य हूँ और मैं कृतार्थ हुआ हूँ और इस संसार में जो जीव हैं, वे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, आशा, तृष्णा; उस में परेशान होते फिरतें है और त्रिविध ताप में रात-दिन जलते हैं । मुझे तो प्रकट पुरुषोत्तम ने करुणा करके अपने स्वरूप का ज्ञान कराया है, काम-क्रोधादिक सभी विकारों से रहित किया है और नारद-सनकादिक जैसे सन्त के समागम में रखा है, इसलिए मेरा बड़ा भाग्य है ।' ऐसा विचार नहीं करता है और आठों प्रहर अतिशय आनन्द में नहीं रहता है, यह बड़ी खोट है । जैसे 'बालक के हाथ में चिंतामणि दिया हो, उसका उसे माहात्म्य नहीं है, इसलिए उसे उसका आनन्द नहीं है,' उस तरह **भगवान पुरुषोत्तम मिले हैं और उनका अन्तर में आठों प्रहर कैफ रहता नहीं है कि 'मैं पूर्णकाम हुआ हूँ ।' ऐसा नहीं समझता है, यह हरि**

१. ठहराते २. खींचती न हों ।

के भक्त में बड़ी खोट है । और जब किसी हरिभक्त का दोष दिखाई दे तब ऐसा समझे कि इसका स्वभाव तो सत्संग के योग्य नहीं है, फिर भी उसे यदि सत्संग मिला है और वह यदि जैसा तैसा है, फिर भी सत्संग में पड़ा रहा है, तो उसका पूर्वजन्म का अथवा इस जन्म का संस्कार भारी है, तब ऐसा सत्संग मिला है ।' ऐसा समझकर उसका भी अतिशय गुण ग्रहण करें ।'' ऐसी वार्ता करके श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहकर अपने निवास में पधारे ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥२४॥

वचनामृत २५ : 'बीस मोट[१] के प्रवाह का'

संवत्* १८७६ के पौष शुक्ल ७ सप्तमी के दिन प्रभात के समय श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में परमहंस के आवास पर पधारे थे । उन्होंने सफ़ेद खेस पहना था, सफ़ेद शाल ओढ़ी थी, सफेद फेंटा बाँधा था, पश्चिमी बरामदे में पूर्व की ओर मुखारविन्द किये विराजमान थे और अपने मुखारविन्द के आगे परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज कृपा करके बोले कि 'स्वधर्म से युक्त ऐसा जो भगवान का भक्त है, उसके अन्तर में तो स्वयं को यथार्थ पूर्णकामता मानने में नहीं आती है, और वह **पूर्णकामता तो आत्मनिष्ठा तथा भगवान के माहात्म्य का ज्ञान; उनसे ही होती है । इन दोनों में जितनी न्यूनता[२] रहती है, उतनी पूर्णकामता में न्यूनता रहती है ।** इसलिए दो साधनों को तो भगवान के भक्त दृढ़ता से साधें[३] । इन दोनों में जितनी खामी रहती है उतनी तो समाधि में भी बाधक होती है । अभी हमने एक हरिभक्त को समाधि कराई थी, तो उसे तेज अतिशय दिखाई दिया; उस तेज को देखकर चीखने लगी और कहा

---

* दि. २३-१२-१८१९, गुरुवार **१.** चमड़े का बड़ा थैला जिसके द्वारा खेत सींचने के लिए कुएँ से पानी नीकाला जाता है, चरसा । **२.** कमी **३.** सम्पन्न करें, सिद्ध करें ।

कि 'मैं जल रही हूँ।' इसलिए समाधिवाले को भी आत्मज्ञान का जरूर काम पड़ता है। जो अपना स्वरूप आत्मा न समझकर देह को मानता है, तो उसे बहुत कमी[१] रह जाती है। और हमने उस हरिभक्त को समझाया कि 'तेरा स्वरूप तो आत्मा है, देह नहीं है। यह लाड़कीबाई नाम तथा भाट का देह तो तुम नहीं हो। अछेद्य[२], अभेद्य[३], ऐसी जो आत्मा, वह तेरा स्वरूप है।' पश्चात् हमने उसे समाधि कराके कहा कि 'गणपति के स्थानक में चार पंखुड़ीवाला कमल है, वहाँ जाकर तेरा स्वरूप देख।' जब समाधिवाला गणपति के स्थानक में जाता है तब वहाँ नाद सुनाई देता है तथा प्रकाश दिखाई देता है। उससे पर ब्रह्मा के स्थानक में जाता है तब उससे नाद भी अधिक सुनाई देता है तथा प्रकाश भी उससे अतिशय अधिक दिखाई देता है; और उससे पर विष्णु के स्थानक में जाता है तब उससे अतिशय नाद सुनाई देता है; और उससे तेज भी अतिशय दिखाई देता है। इसी तरह जैसे-जैसे ऊँचे-ऊँचे स्थानक में जाता है, वैसे-वैसे अधिक नाद सुनाई देता है और अधिक-अधिक प्रकाश दिखाई देता है। इस प्रकार समाधि में अतिशय तेज दिखाई देता है और अतिशय नाद होता है और जब कड़ाके[४] अतिशय होते है, तो चाहे कितना ही धीरजवान हो, तब भी उसमें कायरता आ जाती है। ऐसे तो अर्जुन भगवान के अंश थे और महाशूरवीर थे, तो भी भगवान का विश्वरूप देखने में समर्थ नहीं हुए, तब ऐसा बोले कि 'हे महाराज ! इस रूप को देखने मैं समर्थ नहीं हूँ, इसलिए आपका जैसा प्रथम रूप था वैसा आपका दर्शन कराइए।' इस तरह ऐसे समर्थ को भी समाधि में जब ब्रह्माण्ड फट जाये ऐसे कड़ाके होते हैं और जैसे समुद्र मर्यादा उलंघन करता है, ऐसे तेज के समूह दिखाई देते हैं, तब धैर्य नहीं रहता है, इसलिए देह से अपना स्वरूप भिन्न समझना चाहिए। ऐसी **जो समाधि होती है, उनके दो भेद हैं। एक** तो प्राणायाम से प्राण का निरोध[५] होता है, उसके साथ चित्त का भी निरोध हो

१. अपरिपक्वता, न्यूनता, खोट २. काटा न जा सके ३. भेदा न जा सके
४. महा ध्वनिनाद ५. स्थिरता

जाता है और **दूसरा** प्रकार यह है कि चित्त के निरोध से प्राण का निरोध होता है। तो चित्त का निरोध कब होता है ? तो **जब सभी जगह से वृत्ति टूटकर एक भगवान में वृत्ति जुड़ जाये।** और उन भगवान में वृत्ति कब जुड़ जाये? तो **जब सभी जगह से वासना टूटकर एक भगवान के स्वरूप की वासना हो जाये, तब वह वृत्ति किसीके हटाने से भगवान के स्वरूप में से पीछे नहीं हटती है।** जैसे कोई कुआँ हो, और उस पर बीस मोट चलते हों और उसका प्रवाह अलग-अलग चलता हो, तब उन प्रवाहों में बल नहीं होता, और यदि उन बीसों मोट का प्रवाह एकत्रित किया जाये तो नदी के जैसा अतिशय बलवान प्रवाह होता है, तो किसी के हटाने पर पीछे नहीं हटता है; उसी तरह जिसकी वृत्ति निर्वासनिक हो जाती है, तब उसका चित्त है वह भगवान के स्वरूप में जुट जाता है(१)। जिसके चित्त में संसार के सुख की वासना हो, उसे तो श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा अनन्त प्रकार के जो शब्द हैं, उनमें अलग-अलग वृत्ति फैल जाती है; उसी तरह त्वचा इन्द्रिय द्वारा हजारों प्रकार के जो स्पर्श हैं, उनमें अलग-अलग वृत्ति फैल जाती है, उसी तरह नेत्र इन्द्रिय की वृत्ति तो हजारों प्रकार के जो रूप हैं, उनमें फैल जाती हे, उसी तरह रसना इन्द्रिय की वृत्ति तो हजारों प्रकार के जो रस हैं, उनमें फैल जाती है, उसी तरह नासिका इन्द्रिय की वृत्ति तो अनन्त प्रकार के जो गन्ध हैं, उनमें फैल जाती है, उसी तरह कर्म इन्द्रियों की वृत्तियाँ भी अपने-अपने विषय में हजारों प्रकार से फैल जाती हैं। इस तरह दसों इन्द्रियों द्वारा उसका जो अन्तःकरण है, वह हजारों प्रकार से फैल गया है। तो जब चित्त उन भगवान का चिंतन करता रहे और मन उन भगवान का ही संकल्प करता रहे और बुद्धि उन भगवान के स्वरूप का ही निश्चय करती रहे और अहंकार तो मैं आत्मा हूँ और भगवान का भक्त हूँ,' ऐसा ही अभिमान रखे, तब उसकी एक वासना हुई जानें।

प्राण से जो चित्त का निरोध होता है, वह तो अष्टांगयोग के द्वारा होता है। वह अष्टांगयोग तो यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा

१. लग जाता है।

और समाधि; ये जो आठ अंग हैं, उनसे युक्त है । अष्टांगयोग तो साधनरूप है, उसका फल तो भगवान में निर्विकल्प समाधि है। तो जब ऐसी निर्विकल्प समाधि होती है तब प्राण के निरोध से चित्त का निरोध होता है । यदि चित्त निर्वासनिक होकर भगवान में जुड़ता है, तो उस चित्त के निरोध से प्राण का निरोध होता है। इसलिए जैसे अष्टांगयोग को साधने[१] से चित्त का निरोध होता है, उस तरह भगवान के स्वरूप में जुड़ जाने से चित्त का निरोध होता है । इसलिए **जिस भक्त की चित्तवृत्ति भगवान के स्वरूप में जुड़ गई है, उसे अष्टांगयोग बिना साधे सिद्ध हो गया है ।** इसलिए हमने कहे जो आत्मनिष्ठा और भगवान के माहात्म्य का ज्ञान; इन दोनों साधन को दृढ़ता से रखें; और वर्तमान धर्म है, वह तो भगवान की आज्ञा है, तो अवश्य रखें । जैसे ब्राह्मण का धर्म है कि नहाना-धोना और पवित्रता पूर्वक रहना, तो किसी भी दिन शूद्र के घरका पानी पिये ही नहीं; **उसी तरह जो सत्संगी हों वे भगवान की आज्ञा में फर्क होने ही न दें ।** क्योंकि, भगवान की आज्ञा का वह पालन करता है, तो उस पर भगवान प्रसन्न होते हैं । भगवान का माहात्म्यज्ञान तथा वैराग्य सहित आत्मज्ञान इन दोनों की अतिशय दृढ़ता रखें और अपने में पूर्णकामता समझें कि 'अब मुझे कोई न्यूनता नहीं रही है; ऐसा समझकर निरन्तर भगवान की भक्ति करें। **उस समझ के कैफ[२] से उन्मत्त भी न हों और अपने में अकृतार्थता भी न मानें ।** यदि अकृतार्थता मानता है तो उस पर जो ऐसी भगवान की कृपा हुई, तो जानते है कि क्षार भूमि में बीज बोया तो उगा[३] ही नहीं और यदि उन्मत होकर जैसा-तैसा करने लगे तो, जानते हैं कि अग्नि में जो बीज डाला तो जल गया। इसलिए हमने जैसा कहा वैसे जो समझता है, उसे किसी प्रकार की न्यूनता नहीं रहती है।'' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज अपने आसन पर[४] पधारे ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥२५॥

---

१. सिद्ध करने से २. उन्माद ३. अंकुरित ४. निवास स्थान

वचनामृत २६ : 'सच्चे रसिक भक्त का – निर्गुणभाव का'

संवत्* १८७६ पौष शुक्ल ११ एकादशी के दिन मध्याह्न समय श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सिर पर सफेद पाग बाँधी थी, सफेद खेस धारण किया था, श्वेत शाल(चौफाल) ओढ़ी थी, दोनों कानों पर गुलादावदी के बड़े-बड़े दो पुष्प धारण किए थे तथा पुष्प का तुर्रा पाग में लगाया था और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और परमहंस ताल-पखावज लेकर कीर्तन गाते थे।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि "अब कीर्तन गाना विराम करें और **हम यह एक वार्तारूपी**[१] **जो कीर्तन कहते हैं उसे सुनें।**" फिर परमहंसों ने कहा कि "हे महाराज! बहुत अच्छा, आप बात करिए"।" तब श्रीजीमहाराज बोले कि "भगवान के रसिक[२] कीर्तन गाते-गाते यदि एक भगवान के स्वरूप में ही रस[३] प्रतीत हो तो ठीक है, और यदि भगवान के स्वरूप के बिना किसी दूसरी[४] जगह पर रस प्रतीत हो जाये, तो उसमें बड़ी खोट[५] है, क्योंकि, उस भक्त को जिस तरह भगवान के शब्द में स्नेह होता है और उन शब्द में रस प्रतीत होता है, उसी ही तरह गीत-वादित्र[६] के शब्द में अथवा स्त्री आदिक के शब्द में रस प्रतीत होता है और स्नेह होता है; इसलिए उस भक्त को अविवेकी जानें। भगवान अथवा भगवान के सन्त, उनके वचनों में जैसा रस प्रतीत होता है, वैसा ही अन्य विषय के शब्दों में रस प्रतीत होता है; ऐसी जो मूर्खता है, उसका त्याग करें, और ऐसी मूर्खता का त्याग करके एक भगवान के शब्दों से ही सुख मानें। इस प्रकार का जो रसिक भक्त है, वह सच्चा[७] है। तथा जैसे शब्द, वैसे ही स्पर्श भी एक भगवान का ही चाहे[८] और अन्य स्पर्श को तो काला सांप तथा जलती अग्नि जैसा समझे तब वह रसिक भक्त

* दि. २७-१२-१८१९, सोमवार।

१. कथारूपी २. शृंगार रसमय। ३. प्रेम ४. स्त्री आदि ५. अपने कल्याण सें भ्रष्टतारूप।
६. गाने-बजाने ७. यथार्थ ८. इच्छा रखे।

सच्चा है। 'उसी तरह रूप भी भगवान का देखकर परम आनन्द पायें, किन्तु अन्य रूप को तो जैसा नरक का ढेर तथा सड़े हुए कुत्ते जैसा जानें, वह रसिक भक्त सच्चा है। उसी तरह रस भी भगवान के महाप्रसाद का हो, उससे परम आनन्द पायें, परन्तु दूसरे विविध प्रकार के रसों के स्वाद से आनन्दित न हों, वह रसिक भक्त सच्चा है। उसी तरह भगवान को समर्पित तुलसी-पुष्प के हार तथा विविध प्रकार की सुगंधवाले इत्र-चन्दनादिक की सुगन्ध को ग्रहण करने से परम आनन्दित हों, किन्तु किसी अन्य विषयी जीव ने शरीर में इत्र-चन्दनादिक चर्चित किये हो अथवा पहने हुए पुष्प के हारों की सुगन्ध से प्रसन्न ही न हों। इसी तरह **भगवान सम्बन्धी पञ्चविषयों में जो अतिशय प्रीतिवाला हों और जगत सम्बन्धी पञ्चविषयों में अतिशय अभाववाला रहता है, वह रसिक भक्त सच्चा है।** रसिक भक्त होकर जिस तरह भगवान सम्बन्धी विषय के योग से आनन्द पाता है, उसी तरह यदि वह अन्य विषय सम्बन्धी शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध के योग से जो आनन्दित होता है, तो वह झूठा रसिक भक्त है, क्योंकि जैसे भगवान के सम्बन्ध में आनन्दित हुआ, उसी तरह विषयों में भी आनन्दित हुआ।' इसलिए इस प्रकार की रसिकता को तथा ऐसी उपासना को मिथ्या कर दें, क्योंकि, भगवान तो कहीं झूठे नहीं है, किन्तु उसका भाव झूठा है। जैसे अन्य पदार्थों को समझा, उनके जैसे ही भगवान को भी जाने है, इसलिए उसकी भक्ति तथा उसकी रसिकता को मिथ्या कही है। जैसे स्थूल देह और जाग्रत अवस्था में पञ्चविषयों का विवेक कहा है, वैसे ही सूक्ष्मदेह तथा स्वप्नावस्था में सूक्ष्म पञ्चविषय रहते हैं। तो स्वप्न में जब भगवान की मूर्ति को देखकर उन भगवत् सम्बन्धी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से जैसा आनन्द मिलता है, वैसे का वैसा ही यदि अन्य पञ्चविषयों को देखकर स्वप्न में आनन्द मिलता है तो उस भक्त की रसिकता मिथ्या है। स्वप्न में केवल भगवान के सम्बन्ध से ही आनन्द प्राप्त करता हो, और अन्य विषयों में वमन किये हुए अन्न की तरह अभाव रहता

हो, तो वह रसिक भक्त सच्चा है । और यदि ऐसा न जानता हो, तो जो भगवान स्वप्न में दिखे, वे तो सच्चे है, परन्तु उस भक्त को तो जैसे भगवान में प्रेम है वैसा अन्य विषयों में प्रेम है, इसलिए उसकी समझ मिथ्या[१] है । जो **एक भगवान के स्वरूप में लुब्ध[२] रहता हो तथा अन्य विषयों में आसक्ति न रहती हो, वह समझ सच्ची है ।** जब केवल भगवान का ही चिन्तन[३] रहता है तब चिन्तन करते-करते शून्यभाव को प्राप्त होता है तब उस भक्त को भगवान की मूर्ति के बिना पिण्ड-ब्रह्माण्ड कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता । फिर ऐसे शून्य में भगवान की मूर्ति को देखते-देखते प्रकाश हो आता है और उस प्रकाश में भगवान की मूर्ति दिखाई देती है । इसलिए इस प्रकार **केवल भगवान के स्वरूप में प्रीति हो, वही पतिव्रता की भक्ति है ।** हम भी जब आप लोग रसिक कीर्तन गाते हैं तब आँखे बन्द करके विचार करते हैं, तो ऐसा ही विचार करते हैं । हमारा विचार थोड़ा ही है, किन्तु उस विचार में भगवान के बिना अन्य कुछ भी टिक नहीं सकता है । भगवान के स्वरूप में ही रसिक प्रीति है, उसमें यदि कोई विषय बीच में आये तो उसका शिर कट जाये ऐसा हमारा बलवान विचार है । जिस प्रकार आप लोग कीर्तन लगाये रखते हैं, उसी प्रकार हमने भी यह बात कही, इतना यह[४] कीर्तन लगाये रखा है, उसे आपको बता दिया ।" इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने अपने मिष[५] से अपने भक्तों के लिए यह बात कह दिखाई ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥२६॥

वचनामृत २७ : 'भगवान अखण्ड निवास करके रहे, ऐसी समझ का'

संवत्* १८७६ के पौष शुक्ल १२ द्वादशी के दिन श्रीजीमहाराज सूर्योदय के पूर्व श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में परमहंसों की जगह पर पधारे थे । उन्होंने सिर पर सफेद फेंटा बाँधा था, श्वेत शाल (चौफाल) ओढ़ी थी,

*दि. २८-१२-१८१९, मंगलवार

१. झूठी २. आसक्त ३. स्मरण ४. वार्तारूपी ५. निमित्त, माध्यम

खेस पहना था और चबूतरे पर पश्चिम की ओर मुखारविंद किये विराजमान थे और अपने मुखारविन्द के आगे[१] परमहंस की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज आधी घड़ी तक तो अपनी नासिका के अग्रभाग की ओर देखते रहे और फिर बोले कि ''परमेश्वर को भजने की इच्छा तो सभीको है, किन्तु समझ में भेद[२] रहता है । इसलिए जिसकी इस तरह की समझ हो, उसके हृदय में भगवान समस्त प्रकार से निवास करके रहते हैं । उसका विवरण[३] यह है कि जो ऐसा समझता है कि 'यह पृथ्वी जिनकी रखी हुई स्थिर रहती है और डोलाने से डोलती है, यह तारामण्डल जिनके द्वारा रखा हुआ अधर[४] रहता है, जिनके बरसाने से मेघ बरसते हैं, जिनकी आज्ञा से सूर्य-चन्द्र उदय-अस्त होते हैं, चन्द्रमा की कला बढ़ती-घटती है, बिना बाँध का समुद्र जिनकी मर्यादा में रहता है, जल के बिन्दु में से मनुष्य उत्पन्न होते हैं, और उनको हाथ, पैर, नाक, कान इत्यादिक दस इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, आकाश में उपर ही जल रखा है और उसमें गड़गडाहट और बिजली होती हैं; ऐसे अनन्त आश्चर्यं हैं, वे सभी मुझे मिले ऐसे जो भगवान, उनके किये ही होते हैं,' ऐसा समझता हो, परन्तु **प्रकट प्रमाण जो भगवान, उनके अलावा अन्य कोई इन आश्चर्यों का करनेवाला है, ऐसा न मानें । 'पूर्व में जो-जो अनन्त प्रकार के आश्चर्य हुए हैं, तथा अभी जो हो रहे हैं तथा भविष्य में होंगे, वे सभी मुझे मिले ऐसे जो प्रत्यक्ष भगवान, उनके द्वारा ही होते हैं', ऐसा समझता है** । और फिर स्वयं ऐसा ही समझता हो कि चाहे कोई मुझ पर धूल डाले, चाहे कोई कैसा भी अपमान करे, चाहे कोई हाथी पर बैठाये और चाहे कोई नाक-कान काटकर गधे पर बैठाये, उसमें मुझे समान भाव है । जिसे रूपवती ऐसी युवति स्त्री अथवा कुरूपवान स्त्री अथवा वृद्धा स्त्री में तुल्यभाव रहता है; तथा सुवर्ण का ढेर हो या पत्थरों का ढेर हो, उन दोनों को जो तुल्य[५] समझता है; **इस प्रकार के ज्ञान, भक्ति, वैराग्य आदिक अनन्त शुभगुणों से युक्त जो भक्त हैं, उनके हृदय में भगवान निवास करते हैं । फिर वह**

१. सन्मुख २. फर्क ३. विक्ति, प्रकार ४. अवकाश में ५. एक समान

भक्त भगवान के प्रताप से अनन्त प्रकार के ऐश्वर्यों को प्राप्त होता है तथा असंख्य जीवों का उद्धार करता है । ऐसा सामर्थ्यवान होने पर भी वह अन्य जीवों के मान-अपमान को सहन करता है, यह भी बड़ा सामर्थ्य है; क्योंकि समर्थ होते हुए सहन करना;[१] **वह किसीसे नहीं हो पाता । जो इस तरह सहिष्णुता रखते हैं, उन्हें अति बड़े जाने** । वे तो समर्थ कैसे हैं ? तो उनके नेत्रों से भगवान देखते हैं, इसलिए ब्रह्माण्ड में जितने जीव-प्राणी हैं, उन सभीके नेत्रों को प्रकाशवान करने में समर्थ होते हैं । और उनके पैरों से भगवान चलते हैं, इसलिए ब्रह्माण्ड में सभी जीवों के पैरों में चलने की शक्ति का पोषण करने में वे समर्थ होते हैं; इसी तरह उन सन्त की समस्त इन्द्रियों में भगवान रहे है, इसलिए वह सन्त तो ब्रह्माण्ड में समस्त जीवों की इन्द्रियों को प्रकाश करने में समर्थ होते हैं । **इसलिए वह सन्त तो समस्त जगत के आधाररूप हैं,** वे तुच्छ जीव का अपमान सहते हैं, उनकी यही अतिशय महत्ता[२] है । जो इस प्रकार की क्षमावाले हैं वे ही अति बड़े हैं । जो आँखे दिखाकर अपने से गरीब को डराता है और मन में समझता है कि 'मैं बड़ा हो गया हूँ, लेकिन वह बड़ा नहीं है । अथवा सिद्धता दिखाकर लोगों कों डराते हैं, ऐसे जो जगत के जीव हैं, वे भगवान के भक्त नहीं हैं, वे तो माया के जीव हैं और यमपुरी के अधिकारी हैं । ऐसे लोगों का जो बड़प्पन है, वह संसार के मार्ग में है । जैसे संसार में जिसे सवारी के लिए घोड़ा न हो, उससे जिसको घोड़ा हो वह बड़ा, और जिसको एक घोड़ा हो, उससे जिसको पाँच घोड़े हों वह बड़ा, इस तरह जैसे-जैसे जिसको अधिक सम्पत्ति होती है वैसे संसार-व्यवहार में वह बहुत बड़ा कहलाता है, परन्तु परमेश्वर भजने में वह बड़ा नहीं है । जिसकी मति ऐसी हो कि 'यह स्त्री तो अतिशय रूपवती है, और यह वस्त्र तो बहुत अच्छा है, और यह मंजिल[३] तो बहुत अच्छी है,' और यह तुम्बड़ा[४] तो अतिशय अच्छा है, और यह पात्र[५] तो अतिशय अच्छा

---

१. धीरज रखना, अन्य के अपराध को क्षमा करना २. बड़प्पन ३. मेड़ी
४. लकड़ी का जलपात्र ५. भोजनपात्र

है,' इस प्रकार के जो गृहस्थ तथा भेखधारी,[१] वे सभी तुच्छ बुद्धिवाले हैं। तब आप कहेंगे कि उनका कल्याण होगा या नहीं होगा? **तब कल्याण तो पामर जैसा सत्संग में हो उसका भी होता है, परन्तु पहले बताई ऐसी जो साधुता, वह उसमें किसी दिन नहीं आती है तथा पहले बताए गए सन्त के गुण भी ऐसे में नहीं आते हैं; क्योंकि वह पात्र नहीं हुआ है।'** इस प्रकार वार्ता करके 'जय सच्चिदानन्द' कहकर श्रीजीमहाराज दादाखाचर के राजभवन में अपने निवासस्थान पर पधारे ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥२७॥

वचनामृत २८ : 'अर्ध जली हुई लकड़ी का – बढ़ने-घटने का'

संवत्* १८७६ पौष शुक्ल १४ चतुर्दशी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के कक्ष के पास का जो कक्ष, उसके बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किये हुए थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख साधुओं की भोजन की पंक्ति हुई थी ।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि ''जो सत्संगी सत्संग में से पिछड़ने[२] वाला हो, उसे असद्वासना की वृद्धि होती है, और उसे प्रथम तो दिन-प्रतिदिन सत्संगी मात्र का अवगुण आता[३] है । वह अपने अन्तर में ऐसा समझता है कि 'सभी सत्संगी तो नासमझ हैं और मैं समझता हूँ ।' इस प्रकार सभीसे अधिक अपने को समझता है और रात-दिन अपने हृदय में जलता[४] रहता है । दिन में किसी भी जगह चैन से नहीं बैठ पाता, रात में सोये तो नींद भी नहीं आती है, क्रोध तो कभी भी मिटता ही नहीं है, आधी जली हुई लकड़ी की तरह सुलगता[५] रहता है । ऐसी जिसकी दशा रहती हो, तब उसे ऐसा समझे कि 'वह सत्संग में से गिरनेवाला है ।' जो

*दि. ३०-१२-१८१९, गुरुवार

१. त्यागी वेषधारी **२.** पीछे हटने **३.** दोष दिखाई देता **४.** बेचैन

५. जो अधिकतर धुंआ निकालती है, और दूसरों की आंखे जलाती है ।

ऐसा हो, और वह जितने दिन सत्संग में रहता है, फिर भी उसके अन्तर में किसी भी दिन सुख नहीं होता और अन्त में पिछड़ जाता[१] है ।

और सत्संग में जिसकी वृद्धि होनेवाली हो, उसे शुभवासना की वृद्धि होती है, तब उसे दिन-प्रतिदिन हृदय में सत्संगी मात्र का गुण ही आता है और सभी हरिभक्तों को बड़ा समझता है तथा अपने को न्यून समझता हैं । उसके हृदय में आठों प्रहर सत्संग का आनन्द छाया रहता है । जब ऐसे लक्षण हो जायें तब समझे कि 'शुभवासना की वृद्धि हुई है ।' जैसे-जैसे अधिक-अधिक सत्संग करता है, तैसे-तैसे अधिक-अधिक उसे समास[२] होता है तथा अतिशय महत्ता को प्राप्त होता है ।'' इस प्रकार श्रीजीमहाराज बात करके 'जय सच्चिदानन्द' कहकर अपने आसन पर पधारे ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥२८॥

वचनामृत २९ : 'धर्मादिक का बलवृद्धि होने का – प्रारब्ध, कृपा और पुरुषप्रयत्न का'

संवत्* १८७६ पौष शुक्ल १५ पूर्णिमा के दिन संध्या के समय श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने श्वेत खेस पहना था, सफेद चद्दर ओढ़ी थी, मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी और पुष्पों के हार पहने थे, पाग में श्वेत पुष्पों का तुर्रा लटक रहा था और अपने मुखारविन्द के आगे साधु तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''प्रश्न पूछिए । तब गोपालानन्द स्वामी ने पूछा कि ''धर्म, ज्ञान, वैराग्य सहित भक्ति का बल किस प्रकार से वृद्धि को प्राप्त होता है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''उसके चार उपाय हैं; एक तो पवित्र देश, दूसरा पवित्र काल, तीसरी शुभक्रिया और चौथा सत्पुरुष का

*दि. ३१-१२-१८१९, शुक्रवार

१. न्यून हो जाता है, घट जाता है । २. लाभान्वित, सन्तृप्त, लाभ

संग । उनमें क्रिया का सामर्थ्य[१] तो थोड़ा है और देश, काल तथा संग विशेषरूप से कारण हैं; क्योंकि, यदि पवित्र देश हो, पवित्र काल हो और आप जैसे सन्त का संग रहता हो, तो वहाँ क्रिया शुभ ही होती है । और यदि सिंध जैसा अशुभ[२] देश हो तथा अशुभ काल हो और वेश्याओं[३], भडुवों[४] या मद्यपान-मांस भक्षण करनेवालों का संग हो जाये, तो क्रिया भी अशुभ ही हो जाती है । इसलिए पवित्र देश में रहें और **अशुभ काल चलता हो तो वहाँ से इधर-उधर खिसक जायें और संग भी प्रभु के भक्त एवं पञ्चवर्तमान से युक्त ऐसे ब्रह्मवेत्ता साधु का ही करें । तब परमेश्वर की भक्ति का बल हरिभक्त को अतिशय वृद्धि को प्राप्त होता है ।** इस प्रश्न का यह उत्तर है ।''

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज ! किसी हरिभक्त का अन्तर प्रथम तो मलिन-सा रहता हो और बाद में अतिशय शुद्ध हो जाता है, तो उसे पूर्व के संस्कार[५] के कारण ऐसा हुआ ? या भगवान की कृपा से ऐसा हुआ ? या उस हरिभक्त के पुरुषप्रयत्न से[६] हुआ ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''पूर्व के संस्कार से, जो अच्छा या बुरा होता है, वह तो सभी जगत के जानने में आता है । जैसे भरतजी को मृग[७] में आसक्ति हुई, ऐसे ठिकाने पर प्रारब्ध को लिया जाता है, अथवा कोई कंगाल हो और उसे बड़ा राज्य मिल जाये, ऐसा होता है वह तो सभी जगत के जानने में आता है, तब उसे तो प्रारब्ध जानें ।'' फिर श्रीजीमहाराज ने अपनी बात कही कि ''हमने जो-जो साधन किये थे, उनमें किसी भी तरह से देह जीवित ही न रह पायें, लेकिन उनमें भी देह जीवित रह गया, उसे प्रारब्ध[८] कहते हैं । वह क्या ? तो हम श्रीपुरुषोत्तमपुरी[९] में रहते थे, तब कई मास तक वायुभक्षण करके रहे थे ।

१. कारण में प्रधानता २. अपवित्र ३. वेश्या ४. अपनी स्त्री के द्वारा व्यभिचार करवा के उस आय से जीनेवाला पति यानी भँडौआ (भड़वा) ५. पूर्वजन्म में संपादन किया हुआ और इस देह की उत्पत्ति का कारणभूत ऐसा प्रारब्धकर्म इस प्रश्नोत्तर में संस्कार शब्द से कहा हुआ जाने । ६. पुरुषार्थ से ७. हिरण शिशु ८. भगवान को प्रारब्धकर्म का सम्बन्ध नहीं है तथापि मनुष्यनाट्य के अनुकरण से ऐसा कहते है । ९. जगन्नाथपुरी ।

तीन-चार कोस के चौड़े पटवाली एक नदी थी, उसमें एकबार शरीर बहता हुआ छोड़ दिया था । शीतकाल, ग्रीष्मकाल और वर्षाकाल में छाया के बिना एक कौपीन धारण करके रहते थे । झाड़ी में बाघ, हाथी तथा जंगली भैंसा के साथ फिरते थे । ऐसे-ऐसे अनेक विकट स्थानों में भ्रमण किया तो भी किसी तरह देह नहीं छूटी; तब ऐसे ठिकाने पर तो प्रारब्ध को समझें । जैसे सांदीपनी नामक ब्राह्मण का पुत्र नरक से मुक्त हुआ और फिर पाँच वर्ष के ध्रुवजी जब भगवान की स्तुति करने लगे, तब वेदादिक के अर्थों की सहज ही स्फुरणा हुई । **इस तरह अतिशुद्ध भाव से प्रसन्न हुए भगवान की इच्छा से तथा उन भगवान के वरदान से अथवा अतिशुद्ध भाव से प्रसन्न हुए भगवान के एकान्तिक साधु के वरदान से जो पवित्र बुद्धि हो जाती है, उसे भगवान की कृपा जानें ।** और पवित्र साधु का संग करें तथा स्वयं अपने विचार से जो पवित्र हो जाये, उसे तो पुरुषप्रयत्न कहते हैं ।'' इस प्रकार बात करके श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहके हँसते-हँसते[१] अपने आसन पर पधारे ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥२९॥

वचनामृत ३० : 'संकल्प के दंश लगने का'

संवत्* १८७६ पौष कृष्ण १ प्रतिपदा के दिन संध्या के समय श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के पास उत्तराभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने सफेद खेस पहना था, श्वेत चद्दर ओढ़ी थी, सिर पर सफेद फेंटा बाँधा था तथा श्वेत पुष्पों के हार पहने थे, दोनों कानों में श्वेत पुष्पों के तुर्रे लटक रहे थे, सफेद फूलों के बाजूबन्द पहने थे और अपने

---

*दि. १-१-१८२०, शनिवार

१. श्रीहरि ने मनुष्यलीलारूप अपने प्रारब्ध की बात कही तब किसी ने उन्हें प्रारब्धवश मान लिया हो उसके मर्म में हास्य किया हो, ऐसा जानने में आता हैं ।

मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और मुनिमण्डल कीर्तनगान कर रहा था ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि "अब तो प्रश्न-उत्तर करिए ।" तब श्रीजीमहाराज के प्रति दीनानाथ भट्ट ने पूछा कि "हे महाराज ! किसी समय तो हजारों संकल्प[१] होते हैं, किन्तु उनका मन में दंश[२] बैठता नहीं है और किसी समय तो अल्प संकल्प होने पर भी उनका मन में दंश बैठ जाता है, उसका क्या कारण है ? और भगवान के भक्त के लिए मन के उन संकल्पों की निवृत्ति होने का क्या उपाय है ?" तब श्रीजीमहाराज बोले कि "उसका कारण तो गुण है । वह[३] जब तमोगुण प्रधान हो और उसमें संकल्प होते हैं तब सुषुप्ति जैसी अवस्था रहती है । इसलिए उसमें संकल्प का दंश बैठता नहीं है । जब सत्वगुण रहता है तब प्रकाश जैसा रहता है, और उस समय जो-जो संकल्प होते हैं, उन्हें विचार करके मिथ्या[४] कर देते हैं, इसलिए उस संकल्प का भी दंश बैठता नहीं है । जब रजोगुण प्रवृत्त रहता है, तब जो संकल्प होते हैं, उनका मन में दंश बैठता है । इसलिए दंश बैठता है और नहीं बैठता, उसका कारण तो गुण की वृत्ति है । बुद्धिमान हो तो इस बात का विचार करके जिस समय संकल्प होते हैं उन समय उस संकल्प के सामने देखेता है तो अपने में जो गुण प्रधानरूप से प्रवृत्त हो रहा हो, उसे जानता है । घड़ी ब-घड़ी तथा पल-पल में जो सूक्ष्म संकल्प होते हैं, वे तो किसी को जानने में नहीं आते हैं । आप जैसा कोई बुद्धिमान हो, तो दिनभर में दो-तीन-चार स्थूल संकल्प होते हैं, वे उनके जानने में आते हैं । जिस गुण की प्रधानता से अपने में संकल्प होते हैं, उनके सामने दृष्टि रखे और **सत्संग में भगवान की जो वार्ता होती है उसे धारण करें एवं विचार किया करे तो इस सत्संग का प्रताप ऐसा है कि जिस गुण के संकल्प होते हो, उन संकल्पों की उन्हें निवृत्ति हो जाती है और निरुत्थान[५] होकर परमेश्वर के स्वरूप का अखण्ड चिन्तन**

१. मायिक विषयभोग सम्बन्धित संकल्प । २. वासना के स्वरूप में परिणत नहीं होता । ३. गुण ४. असत्य ५. स्थिर, संशय रहित, फिर कभी भगवान बिना दूसरा संकल्प न हो, वह ।

होता है । सत्संग बिना तो अन्य कोटि साधन करता है तो भी उसे संकल्प की तथा रजोगुण आदिक गुण की निवृत्ति नहीं होती । यदि निष्कपट भाव से सत्संग करता है एवं परमेश्वर की बात को धारण करता है - विचार करता है तो इन मलिन संकल्पों का नाश होता है । इसलिए सत्संग का प्रताप तो अतिशय बड़ा है । जो अन्य साधन हैं, वे कोई सत्संग के तुल्य नहीं हो पाते; क्योंकि, किसी भी साधन से जिन संकल्पों की निवृत्ति नहीं होती है, उनकी निवृत्ति सत्संग में होती है । इस कारण से **जिन्हें रजोगुण सम्बन्धी मलिन संकल्प टालने हों, वे मन, कर्म तथा वचन से निष्कपट भाव से सत्संग करें, तो सत्संग के प्रताप से उन संकल्पों की निवृत्ति हो जाएगी ।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥३०॥

वचनामृत ३१ : 'निश्चय से बड़प्पन का'

संवत्* १८७६ पौष कृष्ण २ द्वितीया के दिन संध्या के समय श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवास पर पूर्वाभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में गद्दी-तकिया बिछवाकर विराजमान थे । उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किये थे ।

उस समय योगानन्द मुनि ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! भगवान के दो भक्त हैं, उनमें से एक तो निवृत्ति(१) पकड़कर बैठा रहता है और किसी को भी वचन से दुःखी नहीं करता है, और एक तो परमेश्वर अथवा परमेश्वर के भक्त की अन्न, वस्त्र, पुष्पादिक से सेवा करता रहता है, किन्तु वचन से किसीको(२) दुःख पहुँचता है । इस प्रकार के दोनों भक्तों में से कौन सा भक्त श्रेष्ठ है ? फिर श्रीजीमहाराज ने इसका उत्तर नहीं किया और मुक्तानन्द स्वामी तथा ब्रह्मानन्द स्वामी को बुलवाकर उन्हें यह प्रश्न सुनाया और फिर कहा कि ''इसका उत्तर आप कीजिए । तब इन दोनों ने उत्तर किया कि '**वचन से किसी**

*दि. २-१-१८२०, रविवार **१.** यहाँ निवृत्ति शब्द से भगवत् सेवा सम्बन्धी क्रिया का भी त्याग अभिप्रेत है । **२.** भगवान अथवा भक्त की सेवा के लिए ही दूसरे हर किसी भगवद्भक्त को ।

को दुःख पहुँचता है, किन्तु भगवान अथवा सन्त की सेवा करता है, वह श्रेष्ठ है, और जो निवृत्ति में रहता है और किसी को दुःख नहीं पहुँचाता, किन्तु उससे भगवान की तथा सन्त की कोई सेवा नहीं हो पाती, उसे असमर्थ जैसा समझें । और जो टहल-चाकरी करता है उसे तो भक्तिवाला कहते हैं; वह भक्तिवाला श्रेष्ठ है ।''

फिर श्रीजीमहाराज ने कहा कि ''यह उत्तर सही किया। ऐसी भक्तिवाला जो हो और भगवान के वचन में दृढ़ता से रहा हो, किन्तु उसमें कोई ही छोटा-सा[१] दोष दिखाई पड़े, उसे देखकर उसका अवगुण लेना यह बड़ी खोट[२] है। यदि इस तरह दोष देखा जाये तब तो जीवों के कल्याण के लिए परमेश्वर ने देह धारण किया हो, उनमें भी दोष देखनेवाले को खोट[३] दिखाई तो देती है, और भगवान के बहुत बड़े भक्त में भी खोट[४] दिखाई तो देती है । उस दोष को देखनेवाले ने जो खोट[५] निकाली, उससे परमेश्वर के अवतार अथवा सन्त वे क्या कल्याणकारी नहीं हैं ? वे तो कल्याणकारी ही हैं, किन्तु जिसकी उलटी[६] बुद्धि है उसे उलटा ही दिखाई देता है। जैसे शिशुपाल ऐसा ही कहता था कि पाण्डव तो वर्णसंकर हैं और पाँच पुरुषों ने एक स्त्री रखी, इसलिए वे अधर्मी भी हैं । तथा कृष्ण भी पाखण्डी हैं; क्योंकि, जब जन्म हुआ तब से प्रथम तो उसने एक स्त्री का वध किया, इसके बाद बगुला मारा, बछड़ा मारा और मधुमक्खी का छत्ता उखाड़ा इसलिए उसे मधुसूदन कहते हैं । लेकिन उसने कहीं मधु नामक दैत्य को नहीं मारा है। फिर वर्णसंकर ऐसे जो पाण्डवों ने उसको पूजा, इससे क्या वह भगवान हो गया ? इस प्रकार भगवान और भगवान के भक्त का अवगुण आसुरी बुद्धिवाले शिशुपाल ने लिया, परन्तु भगवान के भक्त थे, उन्हों ने ऐसा अवगुण कुछ नहीं लिया । इसलिए इस प्रकार का जिसे अवगुण आता है उसे आसुरी बुद्धिवाला जानें ।''

---

१. जरा सा २. क्षति, कमी ३. कमी, भगवान अथवा उनके भक्त की सेवा में प्रेरणा देने के लिए किसी को कहे हुए कठिन शब्दरूप दोष । ४. कमी, दोष
५. कमी, क्षति, दोष, भगवान के दिव्य चरित्रों में मायिकभाव । ६. विपरीत

तब पुनः उस मुनि ने प्रश्न किया कि ''हे महाराज ! प्रभु के बड़े जो भक्त होते हैं, उनका तो अवगुण नहीं आता, परन्तु जैसा-तैसा हरिभक्त हो उसका अवगुण तो आ सकता तो है । तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जैसे[१] आप समझते हैं, वैसे छोटाई[२] और बड़ाई[३] नहीं है । **बड़ाई तो प्रत्यक्ष भगवान के निश्चय से तथा उन भगवान की आज्ञा में रहने से है ।** और यह दो बात जिसमें न हो, और वह कैसा भी व्यावहारिकरूप से बड़ा हो, तो भी वह छोटा ही है । प्रथम कही ऐसी बड़ाई तो आज अपने सत्संग में सभी हरिभक्तों में है; क्योंकि, आज जो सभी हरिभक्त हैं, वे ऐसा समझते हैं कि 'अक्षरातीत ऐसे जो भगवान पुरुषोत्तम, वे हमें प्रत्यक्ष मिले हैं और हम कृतार्थ हुए हैं ।'' ऐसा समझकर प्रत्यक्ष भगवान की आज्ञा में रहते हुए उन भगवान की भक्ति करते हैं । इसलिए ऐसे जो हरिभक्त, उनका थोड़ा सा देहस्वभाव[४] देखकर उनका अवगुण न लें । और जिसे अवगुण लेने का स्वभाव हो, उसकी तो आसुरी बुद्धि हो जाती है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥३१॥

वचनामृत ३२ : 'घोंसला और खूंटे का'

संवत्* १८७६ पौष कृष्ण ३ तृतीया के दिन प्रातःकाल श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमाभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने श्वेत खेस पहना था, सिर पर श्वेत पाग बाँधी थी, सफेद चद्दर ओढ़ी थी, ललाट पर केसर की चर्चा[५] की थी, सफेद पुष्पों का हार पहना था, पाग में सफेद पुष्पों का तुर्रा झूल रहा था और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और मुनि कीर्तन गान कर रहे थे ।

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''सुनिये, एक प्रश्न करते हैं ।'' तब मुनि तथा हरिभक्तों ने कहा कि ''हे महाराज ! पूछिए ।'' पश्चात् श्रीजीमहाराज बहुत

*दि. ३-१-१८२०, सोमवार **१.** व्यवहार दृष्टि से छोटापन - बड़ापन **२.** न्यूनता **३.** महत्ता, बड़प्पन **४.** देह के दोष और थोड़ी सी कठोर भाषा इत्यादि स्वभाव । **५.** अर्चा

देर तक विचार करके बोले कि ''इस संसार में जो विषयी जीव हैं, वे पञ्चविषय के बिना रह नहीं सकते, तो जैसे इन विमुख जीवों को पञ्चविषय हैं, उसी तरह हरिजन[१] को भी पञ्चविषय हैं, परन्तु उनमें भेद है । वह भेद कैसा है ? तो विषयी जीव तो भगवान बिना अन्य ग्राम्य[२] विषय को भोगते हैं, और भगवान के भक्त के लिए तो भगवान की कथा सुनना, यही श्रोत्र का विषय है, भगवान के चरणारविन्द का स्पर्श करना अथवा सन्त के चरण की रज का स्पर्श करना, यह त्वचा का विषय है, भगवान अथवा सन्त के दर्शन करना यह नेत्र का विषय है, भगवान का प्रसाद लेना तथा भगवान के गुण गाना, यह जिह्वा का विषय है, और भगवान को चढ़ाये ऐसे जो पुष्पादिक, उनकी सुगंध लेना, यह घ्राण[३] का विषय है । इस प्रकार विमुख और हरिभक्त के विषय में भेद है। और **इस प्रकार के विषय के बिना तो हरिभक्त से भी नहीं रहा जाता। नारद-सनकादिक जैसे अनादि मुक्त हैं, उन्हें भी ऐसे पञ्चविषय के बिना नहीं रहा जाता; वे समाधि में बहुत समय रहते हैं, किन्तु उस समाधि में से निकलकर भगवान के कथा, कीर्तन, श्रवणादिक विषय को भोगते हैं ।** जैसे पक्षी अपने घोंसले को छोड़कर दाना-पानी जुटाने के लिए निकलते हैं, और चारा चरने के बाद रात्रि के समय अपने-अपने घोंसले में जाकर विराम करते हैं, परन्तु अपने-अपने स्थान को किसी दिन भूलकर दूसरों के ठिकाने पर नहीं जाते हैं; **उसी तरह भगवान के भक्त हैं वे भगवान की कथा, कीर्तन श्रवणादिक ऐसा जो चारा, उसे चरने के बाद अपना घोंसला जो भगवान का स्वरूप, उसमें जाकर विराम करते हैं ।** और तो, पशु-पक्षी सभी जीव जैसे अपना-अपना चारा चरने के बाद अपने-अपने स्थानों में जाकर विराम करते हैं, उसी तरह मनुष्य भी जो-जो कार्य रहते हैं, उनके लिए देश-विदेश जाते हैं, परन्तु जब अपने घर वापस आते हैं तब शान्ति पूर्वक बैठते हैं । ये सभी दृष्टान्त-सिद्धान्त कहे । उन पर आप सभी हरिभक्तों से हम प्रश्न पूछते हैं कि जिस प्रकार विमुख जीव ग्राम्य पञ्चविषय में बँधे

१. भगवद् भक्त २. लौकिक, जगत सम्बन्धी ३. नासिका

हुए हैं और उन विषयों के बिना पल मात्र रहा नहीं जाता, उस तरह आप सभी भगवान की कथा-वार्ता के श्रवणादिकरूपी जो विषय हैं, उनमें दृढ़ता से जुड़कर उनके विषयी हुए हो कि नहीं ? और दूसरा प्रश्न पूछते हैं कि **'जैसे पक्षी चारा चरने के बाद अपने घोंसले में आते हैं, उसी तरह क्या आप सब भगवान का कथा-कीर्तनादिकरूपी चारा करके वापस भगवान के स्वरूपरूपी घोंसले में विराम करते हैं ?** या अन्यत्र जहाँ-तहाँ विराम करते हैं ? और फिर, जैसे बँधुआ पशु[१] चरागाह में चरने के बाद शाम को अपने खूंटे पर आता है, और जो आवारा[२] पशु होता है, वह खूंटे पर नहीं आता, वह तो जिस-तिस का खेत चर कर जहाँ-तहाँ बैठता रहता है, फिर कोई उसे लाठी मारता है या बाघ आए तो उसे मार डालता है, उसी तरह क्या आप बँधुआ पशु की तरह अपने खूंटे पर आते हैं ? या आवारा पशु की तरह किसी का खेत चरकर जहाँ-तहाँ बैठकर विराम करते हैं ?' इन सभी प्रश्नों के उत्तर जो बड़े-बड़े हैं वे अपने अन्तर में विचार करके करें ।'' फिर मुनि तथा हरिभक्त सभी अलग-अलग बोले कि ''हे महाराज ! भगवान की कथा-कीर्तनादिक के विषयी भी हुए हैं और भगवान की मूर्तिरूपी घोंसला तथा खूंटों को छोड़कर दूसरे ठिकाने रहते भी नहीं है ।'' इस बात को सुनकर श्रीजीमहाराज बहुत प्रसन्न हुए ।

और फिर उसी दिन मध्याह्न के ढलते समय श्रीजीमहाराज दादाखाचर के राजभवन के बीच नीमवृक्ष के तले पलंग पर विराजमान थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और स्वयं श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के सन्मुख विराजमान थे तथा मुनि कीर्तन गान कर रहे थे ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''अब तो प्रश्न-उत्तर करिए ।'' तब दीनानाथ भट्ट तथा ब्रह्मानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''किसी समय तो भगवान के भक्त के हृदय में आनन्द से भगवान का भजन स्मरण होता है तथा भगवान

१. पालतु पशु २. निरंकुश

की मूर्ति का चिन्तन होता है और किसी समय अन्तर विक्षिप्त हो जाता है एवं भजन–स्मरण का सुख नहीं आता है, इसका क्या कारण है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''उसे भगवान की मूर्ति को धारण करने की युक्ति आती नहीं है।'' तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''किस तरह से युक्ति जानी जाये ? तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''युक्ति तो यह है कि जब अन्तःकरण में गुण का प्रवेश होता है, तो जब सत्वगुण प्रवृत्त रहता है तब अन्तःकरण निर्मल रहता है, तथा भगवान की मूर्ति का भजन–स्मरण सुखपूर्वक होता है,'' और जब रजोगुण प्रवृत्त रहता है तब अन्तःकरण विक्षिप्त हो जाता है, और घाट–संकल्प बहुत होते हैं तथा भजन–स्मरण सुख से नहीं हो पाता। जब तमोगुण प्रवृत्त रहता है तब तो अन्तःकरण शून्य हो रहता है, **इसलिए भजन करनेवाला गुण को पहचानें**[१] **। और जिस समय सत्वगुण प्रवृत्त रहता है उसी समय भगवान की मूर्ति का ध्यान करें,** और जब तमोगुण प्रवृत्त रहता हो तब कोई संकल्प नहीं होता और शून्य–सा रहता है, उस समय भी भगवान का ध्यान न करें। जब रजोगुण प्रवृत्त रहता है तब घाट–संकल्प बहुत से होते हैं, इसलिए उस वक्त भगवान का ध्यान न करें। और उस समय तो ऐसा समझना कि मैं तो संकल्प से भिन्न हूँ और संकल्प को जाननेवाला हूँ तथा मुझ में तो अन्तर्यामीरूप से पुरुषोत्तम भगवान सदैव विराजमान रहते[२] हैं। जब रजोगुण का वेग मिट जाये तब भगवान की मूर्ति का ध्यान करें। और रजोगुण प्रवृत्त रहता है तब संकल्प बहुत होते हैं, उन संकल्पों को देखकर उद्विग्न[३] नहीं होना है; क्योंकि, अन्तःकरण तो छोटा बालक, बंदर, कुत्ता तथा बच्चे को खेलानेवाले के जैसा[४] है। इस अन्तःकरण का स्वभाव ऐसा है कि वह बिना प्रयोजन कुचेष्टा[५] करता रहता है। **इसलिए जिसे भगवान का ध्यान करना हो, उसे अन्तःकरण के संकल्प को देखकर अकुलाना नहीं है,** और अन्तःकरण के संकल्प को मानना भी नहीं है, तथा स्वयं को व अपने

१. जानें २. ऐसा जानकर उच्च स्वर में भगवान के नाम का उच्चारण करें।
३. अकुलाना ४. चंचल स्वभाववाला है। ५. चेनचाला, नखरा

अन्तःकरण को पृथक् मानें और अपनी आत्मा को अलग मानकर भगवान का भजन करें ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥३२॥

वचनामृत ३३ : 'मूढ़ता, प्रीति और समझदारी का'

संवत्* १८७६ पौष कृष्ण ५ पंचमी के रोज, दिन का अंतिम प्रहर था, तब श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के पास के कक्ष के बरामदे में पूर्वाभिमुख मुखारविन्द किये पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने सफेद खेस धारण किया था, सफेद चद्दर ओढ़ी थी, सिर पर कुसुम्बी रंग के पल्लेवाला रेंटा बाँधा था । अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

उस समय मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''भगवान को प्रसन्न करने के अनेक प्रकार के साधन(१) शास्त्रों में कहे गए हैं, परन्तु उन सभी में से ऐसा कौनसा एक बलवान साधन है, जो सभी साधन करने से जैसे भगवन प्रसन्न होते है, वैसे एक साधन से भगवान प्रसन्न हो जाये ? तो ऐसा एक उपाय बताइए ।'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''एक ही साधन से भगवान प्रसन्न होते हैं, उसे कहते हैं, उसे सुनिये कि **भगवान का जो दृढ़ आश्रय(२) वह ही एक सभी साधनों में बड़ा साधन है, उससे भगवान प्रसन्न होते हैं ।** और वह आश्रय अति दृढ़ होना चाहिए, जिसमें जरा भी पोलापन(३) न रह पायें । उस आश्रय में तीन(४) भेद हैं । एक मूढ़ता(५) से भगवान का आश्रय होता है, जो अति मूढ़ हो, उसे ब्रह्मा जेसा यदि आश्रय से डगमगाये तो भी वह नहीं डगमगाता । दूसरा प्रकार यह है कि भगवान में जो प्रीति(६) हो, उससे भगवान का दृढ़ आश्रय होता है । तो जिसे दृढ़

* दि. ५-१-१८२०, बुधवार **१.** धर्म, ज्ञान, वैराग्य आदि । **२.** महाविश्वासपूर्वक आश्रय । **३.** भगवान बिना दूसरे उपाय का अवलंबन (सहारा) । **४.** आश्रय तो एक ही है, लेकिन तीन प्रकार से होता है, इसलिए ''आश्रय में तीन भेद हैं'' ऐसा कहा है । **५.** सत्शास्त्र और सत्पुरुष के वचन में प्रह्लाद आदि की तरह केवल दृढ़ विश्वास से । **६.** व्रजवासियों की तरह ।

प्रीति हो, वह परमेश्वर के सिवा दूसरे पदार्थ में बलजबरन प्रीति करने लगे तब भी नहीं होती है; इस प्रकार दृढ़ प्रीति से भगवान का दृढ़ आश्रय कहलाता है । तीसरा प्रकार यह है कि जिसे बुद्धि[१] विशाल हो, वह भगवान के सगुण[२]- निर्गुण[३]भाव तथा अन्वय-व्यतिरेक[४]भाव को समझता हो, तथा भगवान की माया से जो-जो सर्ग[५] हुआ है उसे समझता हो, पृथ्वी पर भगवान के जो अवतार होते हैं उनकी रीति[६] को समझता हो और जगत की उत्पत्ति के समय भगवान जिस प्रकार अक्षररूप[७] से रहते हैं, पुरुष-प्रकृतिररूप से रहते हैं, विराटपुरुषरूप से रहते हैं, ब्रह्मादिक प्रजापतिरूप से रहते हैं तथा जीवों के कल्याण के लिए नारद-सनकादिकरूप से रहते हैं, उन सभी रीतियों को समझ लेता हो और पुरुषोत्तम भगवान को सभी से पर[८] एवं निर्विकार समझता हो । इसी तरह जिसकी दृष्टि पहुँचती हो, उसे बुद्धि से भगवान का दृढ़ आश्रय है, जो दूसरे[९] के टालने से टलता नहीं है, और अपने टालने से भी टलता नहीं है । एवं भगवान मनुष्य देह को ग्रहण करके समर्थरूप से अथवा असमर्थरूप से रहते हों, तो उसे देखकर उसकी बुद्धि में भ्रान्ति नहीं होती ।''

ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज बोले कि ''कहें तो आपसे एक प्रश्न पूछें।'' तब मुक्तानन्द स्वामी बोले कि ''पूछिए महाराज ! तब यह पूछा कि हमने कहे जो तीन अंग, उसमें से आपका कौन सा अंग है ? और ये तीनों अंग भगवान के भक्त में मिश्रित होते हैं, फिर भी उनमें जो अंग प्रधान होता है,

---

१. नारद-सनकादिक की तरह । २. ज्ञान, आनन्द आदि दिव्यगुणों से युक्त । ३. मायिकगुण से रहित । ४. सातवें वचनामृत में कहा हैं । ५. सर्जन ६. गीता में ''बहूनि मे व्यतीतानि'' इस श्लोक से प्रारम्भ करके ''जन्म कर्म च मे दिव्यम्'' इस श्लोक तक पांच श्लोक में कहा है ।
७. जड़ चैतन्य सर्व जगत भगवान का शरीर है, उसमें स्वयं भगवान उसकी आत्मा (धारक, नियन्ता, एवं स्वामी, शेषी) रूप से रहे हैं, इसलिए अक्षरादिरूप से स्वयं ही रहे हैं, ऐसा कहते है। ''यस्याक्षरं शरीरं'', ''यस्य पृथ्वी शरीरं'', ''तत्सर्वं वै हरेस्तनुः'', ''इदं हि विश्वं भगवान्'' इत्यादि श्रुतिस्मृति में वैसा कहा है। ८. स्वरूप, स्वभाव, गुण, विभूति इत्यादि से श्रेष्ठ। ९. शुष्क वेदान्ती आदि कोई मतवादी से ।

वह उसका अंग कहलाता है । तो मूढ़ता, प्रीति तथा समझदारी[१], इन तीनों अंगों में से आपका अंग कौन सा है ?'' फिर मुक्तानन्द स्वामी तथा ब्रह्मानन्द स्वामी बोले कि, ''हमारा तो समझदारी[२] का अंग है ।'' और दूसरे साधुओं ने भी जिसे जो अंग थे वे बताए ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥३३॥

वचनामृत ३४ : 'भगवान द्वारा चाबी[३] भरने का'

संवत्* १८७६ पौष कृष्ण ११ एकादशी के दिन प्रातःकाल में श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर दक्षिण की ओर मुखारविन्द किये विराजमान थे । उन्होंने सफेद खेस पहना था, श्वेत शाल (चौफाल) ओढ़ी थी, सिर पर सफेद पाग बाँधी थी, फूलों के हार पहने थे, पाग में पुष्पों के तथा मोती के तुर्रे लटकते रखे थे, दोनों कानों के उपर पुष्पों के गुच्छ लगा रखे थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के सत्संगी की सभा बैठी थी और मुनि वाद्य लेकर कीर्तन गा रहे थे ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''कीर्तन विराम करके प्रश्न-उत्तर करिए।'' तब ब्रह्मानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''समस्त सुखों के धाम और सभी से पर ऐसे परमेश्वर हैं; उनमें जीव की वृत्ति नहीं जुड़ती[४], और मायिक ऐसे जो नाशवंत तुच्छ पदार्थों में जीव की वृत्ति जुड़[५] जाती है, उसका क्या कारण है ?'' फिर उसका उत्तर मुक्तानन्द स्वामी करने लगे किन्तु नहीं हो सका, तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''इस प्रश्न का उत्तर सुनिये, हम करते हैं कि जिस दिन से परमेश्वर ने इस जगत की सृष्टि की है, उसी दिन से ऐसी ही कल[६] चड़ा रखी[७] है कि परमेश्वर को फिर से परिश्रम न करना पड़े तथा संसार की जो वृद्धि करनी है, वह अपने-आप होती रहे, ऐसा चक्कर चला रखा है । इसलिए **सहज ही स्त्री में पुरुष को प्रीति होती है और पुरुष में स्त्री को प्रीति होती**

*दि. १२-१-१८२०, बुधवार **१.** ज्ञान **२.** ज्ञान **३.** यंत्र चलाने **४.** लगती, चिपकती **५.** लगती, चिपकती **६.** चाबी, घड़ी की तरह **७.** चाबी भर रखी

है तथा उस स्त्री से उत्पन्न हुई प्रजा में भी सहज ही प्रीति होती है; तो यह स्नेहरूप ही भगवान की माया है । उस माया के प्रवाह में जो बहता नहीं है, उसकी वृत्ति भगवान के स्वरूप में रहती है । इसलिए जो भगवान का भक्त है, वह मायिक पदार्थों में दोष बुद्धि रखकर वैराग्य को प्राप्त करें और भगवान को सर्व सुखमय(१) जानकर भगवान में वृत्ति रखें । और यदि मायिक पदार्थों में वैराग्य नहीं रखता है तथा भगवान के स्वरूप से अलग हो जाता है तो शिव, ब्रह्मा तथा नारद आदिक जैसे समर्थ मुक्त हो तो वे भी मायिक पदार्थों में बह जाते हैं । इसलिए जो भगवान को छोड़कर मायिक पदार्थों का संग करता है तो जरूर उसमें जीव की वृत्ति जुड़ जाती(२) है, इसलिए परमेश्वर के भक्त परमेश्वर के सिवा दूसरे ठिकाने प्रीति न रखें ।''

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''अब मुक्तानन्द स्वामी की प्रश्न करने की बारी आई है, तो प्रश्न करिए ।'' तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''जीव को भगवान(३) की प्राप्ति होना, वह अतिदुर्लभ(४) है, और भगवान की जो प्राप्ति हुई, तब उससे दूसरा बड़ा लाभ भी नहीं है और उससे आनन्द भी दूसरा नहीं है, फिर ऐसे बड़े आनन्द को छोड़कर तुच्छ पदार्थों के लिए क्यों क्लेश को पाता है ? यह प्रश्न है ।'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''लीजिए, इसका उत्तर हम करते हैं कि **परमेश्वर के वचन को छोड़कर जब जहाँ-तहाँ जाता है(५) तब क्लेश को पाता है । और यदि वचन में रहता है, तो जैसा भगवान का आनन्द है वैसे आनन्द में रहता हैं और भगवान के वचन का जितना जो लोप करता है, उतना उसे क्लेश होता है ।** इसलिए त्यागी को जो-जो आज्ञा की है, वैसे ही त्यागी रहें और गृहस्थ को जिस तरह आज्ञा की है उसी तरह गृहस्थ रहें, और उसमें जितना फर्क पड़ता है,(६) उतना क्लेश होता है । और त्यागी हो वे अष्टप्रकार से स्त्री का त्याग रखें, तब उनका ब्रह्मचर्य व्रत पूरा कहलाता(७) है, और उसमें से जिन को जितना फर्क पड़ता है(८) उन्हें

१. आनन्दमय २. चिपक जाती ३. साक्षात् ४. यज्ञ, तप, दान आदि से भी । ५. इधर उधर भटकता है, डीगता है । ६. कमी-त्रुटी रहती है ७. सम्पूर्ण कहलाता है ८. कमी रहती है ।

उतना क्लेश[१] होता है । और गृहस्थ को भी ब्रह्मचर्य कहा है कि जो परस्त्री का त्याग रखें तथा अपनी स्त्री का भी व्रत के दिन त्याग रखें, और ऋतुकाल में स्त्री का संग करें; इत्यादिक जो-जो त्यागी को तथा गृहस्थ को नियम कहें हैं, उनमें जितना जिसे फर्क पड़ता है[२] उतना उसे क्लेश होता है । और भगवान से जो विमुख जीव हैं, उन्हें जो सुख-दु:ख आते हैं वे तो अपने कर्म से आते हैं, और जो भगवान के भक्त हैं, उन्हें जितना दु:ख होता है, वह तुच्छ पदार्थों के लिए भगवान की आज्ञा का लोप करने से होता है, और जितना सुख होता है, वह भगवान की आज्ञा का पालन करने से होता है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥३४॥

वचनामृत ३५ : 'कल्याण के लिए प्रयत्न का'

संवत्* १८७६ पौष कृष्ण १२ द्वादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीम के वृक्ष के नीचे पलंग पर पूर्व की ओर मुखारविन्द किये विराजमान थे । उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि की सभा तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज मुनियों के प्रति बोले कि ''आप प्रश्न पूछिए, या हम पूछें ?'' तब मुनियों ने कहा कि ''हे महाराज ! आप पूछिए ।'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''कोई पुरुष है, उसमें अल्प बुद्धि[३] है, तो भी अपने कल्याण के लिए जो प्रयत्न करना है, उससे पीछे नहीं हटता और कोई दूसरा पुरुष है, जिसमें बुद्धि[४] तो बहुत है तथा बड़े-बड़े की भी गलती[५] निकाले ऐसा है, फिर भी वह कल्याण के मार्ग पर नहीं चलता है, इसका क्या कारण है?'' तब मुनि उत्तर करने लगे, किन्तु श्रीजीमहाराज ने आशंका की तो उत्तर नहीं हुआ । फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''लीजिए, हम उत्तर करते हैं कि उसमें

---

*दि. १३-१-१८२०, गुरुवार

१. दु:ख २. कमी रहती है । ३. शास्त्र तथा व्यवहार की ४. शास्त्र तथा व्यवहार की ५. दोष

बुद्धि तो अधिक है, परन्तु उसकी बुद्धि दूषित[१] है, इसलिए वह कल्याण के मार्ग पर नहीं चल सकता है । जैसे भैंस का बढ़िया दूध हो, उसमें शक्कर मिलाई[२] गयी हो, और उसमें सर्प की लार गिर पड़ी, तो वह शक्कर और दूध था वह जहर हो गया, फिर उसे जो पी ले तो उसके प्राण निकल जाते हैं; उसी तरह बुद्धि तो अधिक है, किन्तु उसने किसी बड़े सन्त का अथवा परमेश्वर का अवगुण लिया है, उस अवगुणरूप जो दोष उसकी बुद्धि में आया है, वह सर्प की लार के समान है, इसलिए वह तो कल्याण के मार्ग पर कैसे चल पायें ? यदि जो कोई उसके मुख की बात सुनता है, तो उस सुननेवाले की बुद्धि भी सत्संग में से पिछड़ जाती है और ऐसी दूषित बुद्धिवाला जहाँ-जहाँ जन्म लेता है, वहाँ-वहाँ भगवान का अथवा भगवान के भक्त का द्रोह ही करता है । जिसकी बुद्धि इस प्रकार दूषित न हों और वह यदि जो थोड़ी ही हो तो भी वह अपने कल्याण के लिए प्रयत्न करता हुआ पीछे नहीं हटता ।''

तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज ! वह कोई दिन भगवान के सन्मुख होता है या नहीं होता ?'' तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि ''वह तो कभी भी भगवान के सन्मुख होता ही नहीं है ।''

तब फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज ! किसी भी प्रकार से ऐसी आसुरी बुद्धि न हो जाये, उसका उपाय जो हो, उसे कहिए ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''**एक क्रोध, दूसरा मान, तीसरी ईर्ष्या, चौथा कपट इन चारों[३] को परमेश्वर के साथ तथा सन्त के साथ न रखें, तो कोई दिन उसकी आसुरी बुद्धि नहीं होती है** । और इन चारों में से किसी एक को यदि रखता है तो जैसे जय-विजय बहुत ही सुज्ञ[४] थे तो भी सनकादिक के साथ मान के कारण वैकुण्ठलोक में से उनका पतन हो गया और आसुरी बुद्धि हो गयी, उसी तरह उसकी भी आसुरी बुद्धि हो जाती है । और जब आसुरी बुद्धि होती है, तब भगवान और भगवान के भक्त के जो

१. भगवान अथवा भक्त के अवगुण से । २. घुली

३. दोषों को ४. मनीषी, चतुर, बुद्धिमान

गुण होते हैं, वे दोष जैसे दिखाई पड़ते हैं और वह जहाँ-जहाँ जन्म लेता है वहाँ-वहाँ या तो शिव का गण होता है और कोई दैत्य का राजा होता है और वैरभाव से परमेश्वर का भजन करता है।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥३५॥

वचनामृत ३६ : 'कंगाल के दृष्टान्त से सच्चे त्यागी का'

संवत्* १८७६ के पौष कृष्ण १३ त्रयोदशी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीम के वृक्ष के नीचे चबूतरे पर पलंग बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कण्ठ में श्वेत तथा पीलें पुष्पों के हार धारण किये थे, दोनो कानों पर श्वेत पुष्पों के गुच्छ लगाये थे, पाग में पीले पुष्पों का तुर्रा लटक रहा था, कर्णिकार के लाल पुष्पों का गुच्छा(१) रखा था और दाहिने हाथ में सफेद फूलों का गोला(२) घुमा रहे थे। इस प्रकार की शोभा को धारण करते हुए और अपने भक्तजनों को आनन्दित करते हुए विराजमान थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसने संसार छोड़ दिया हो और त्यागी का भेख(३) धारण किया हो, उसे परमेश्वर के स्वरूप के बिना असत्य पदार्थ में प्रीति रहती हो, तो उसे कैसा समझें ? तो 'जैसे बड़े साहूकार(४) मनुष्य के आगे कंगाल आदमी हो,' वैसा समझें। जैसे कंगाल मनुष्य को पहनने के लिए वस्त्र न मिलता हों और वह कूड़े के ढेर में से दाने को बिनकर खाता हो, वह स्वयं अपने आपको पापी समझता है, और दूसरे साहूकार लोग भी उसे पापी समझते हैं कि 'इसने पाप किये होंगे, जिससे इसे अन्न-वस्त्र नहीं मिलता है;' उसी तरह जो त्यागी होकर अच्छे-अच्छे जो वस्त्रादि पदार्थों का संग्रह करके रखता है और उनकी तृष्णा भी बहुत रखता है तथा धर्म, ज्ञान,

*दि. १३-१-१८२०, गुरुवार

१. तुर्रा २. गेंद ३. वेष ४. बड़े धनी

वैराग्य एवं भक्ति में प्रीति रहित है, ऐसा जो त्यागी, उसे तो जो बड़े एकान्तिक साधु हैं, वे कंगाल मनुष्य की तरह पापी समझते हैं। क्योंकि, यदि वह पापी है तो उसको धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति में प्रीति नहीं होती है और परमेश्वर के बिना अन्य पदार्थ में प्रीति होती है। **और जो त्यागी हो, उसे तो कचरा और कंचन[१] यह दोनों समान रहते हैं। और 'यह पदार्थ अच्छा है और यह पदार्थ खराब है,' ऐसी तो समझ ही नहीं होती और एक भगवान में ही प्रीति रहती है, वही सच्चा त्यागी है।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥३६॥

वचनामृत ३७ : 'देशवासना का, ग्यारह पदवी का'

संवत्* १८७६ के पौष कृष्ण १४ चतुर्दशी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीम के वृक्ष के नीचे पलंग पर पश्चिम की ओर मुखारविन्द किये विराजमान थे। उनके शिर पर सफेद पाग विराजमान थी, उस पाग में पीले पुष्पों का तुर्रा विराजमान था, दोनों कानों पर सफेद पुष्पों के गुच्छे विराजमान थे, कण्ठ में पीले तथा श्वेत पुष्पों का हार विराजमान था, सफेद चद्दर ओढ़ी थी, श्वेत खेस पहना था और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जो नासमझ[२] हो और उसने भेख[३] धारण किया हो, तो भी उसे जहाँ-जहाँ अपनी जन्मभूमि हो, उस से स्नेह नहीं टलता है।'' इतना कहकर फिर अपनी जांघ में बाल्यावस्था में जो वृक्ष की ठूँठ लगी थी, उसे सभी को दिखाई और बोले कि 'इस चिह्न को जब हम देखते हैं तब वह वृक्ष और तालाब का स्मरण हो आता है। इसलिए जन्मभूमि और अपने सगे सम्बन्धिजनों को हृदय से विस्मृत कर देना, वह बड़ा कठिन

---

*दि. १४-१-१८२०, शुक्रवार

१. सुवर्ण २. तीव्र वैराग्यपूर्वक आत्मज्ञान से रहित। ३. त्यागी वेश

है । इसलिए, जिन-जिन को जन्मभूमि तथा देह के सम्बन्धिजनों का स्मरण न होता हो, वे बोलें और जो लज्जावश नहीं बोलेंगे उन्हें श्रीनरनारायण की कसम है ।'' फिर सभी मुनि जैसा जिसको रहता था वैसे बोले । उसे सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि ''जब स्वयं को आत्मारूप[१] मानते हैं तब उस आत्मा की जन्मभूमि कौनसी ? और उस आत्मा का सम्बन्धी कौन ? और उस आत्मा की जाति भी कौनसी ? यदि सम्बन्ध लेना हो तो पूर्व[२] में चौरासी लाख जाति के देह को धारण किये हैं, उन सभी का सम्बन्ध समान जानें । उन सम्बन्धियों के कल्याण की इच्छा करनी हो तो सभी की इच्छा करें । इस मनुष्य देह में आये तब चौरासी लाख जाति के जो माँ-बाप, वे अज्ञानवश जैसे भूल गए हैं, उसी प्रकार इस मनुष्य-शरीर के जो माँ-बाप हैं, उन्हें ज्ञान से विस्मरण कर दें । हमें तो किसी भी सगे सम्बन्धी के साथ स्नेह नहीं हैं । तथा जो हमारी सेवा करते हों और उनके हृदय में यदि परमेश्वर की भक्ति न हो, तो उनसे प्रीति करने पर भी नहीं हो पाती है । **और यदि नारदजी जैसा गुणवान हो, और उसमें भगवान की भक्ति न हों, तो वह हमें प्रिय[३] नहीं है ।** जिसके हृदय में भगवान की भक्ति हो और ऐसा समझता हो कि जैसे[४] प्रकट भगवान पृथ्वी पर विराजमान हैं और जैसे उन भगवान के[५] भक्त भगवान के समीप में विराजमान हैं, वैसे के वैसे[६] ही जब आत्यन्तिक प्रलय होता है तब भी रहते हैं, और 'ये भगवान और भगवान के भक्त सदा साकार ही हैं,' ऐसा समझता हो, और चाहे कैसे भी वेदान्ती[७] के ग्रन्थ सुने, फिर भी भगवान और भगवान के भक्त को निराकार समझता ही न हों, और ऐसा समझता हो कि 'यह भगवान के बिना दूसरा कोई जगत का कर्ता है ही नहीं' और ऐसा समझे कि '**भगवान के बिना सूखा पत्ता भी हिलने में समर्थ नहीं है; ऐसी जिसे भगवान में साकार भाव की दृढ़ प्रतीति हो और वह जैसा-तैसा हो**[८]

---

१. जड़ शरीर आदि से विलक्षण, सच्चिदानन्दरूप । २. जन्म ३. रुचिकर ४. साकार
५. साकार ६. साकार ही ७. शुष्कज्ञानी ने किया हुआ । ८. लौकिक दृष्टि से अल्पज्ञ ।

तो भी वह हमें प्रिय[१] है । उस के पर काल, कर्म तथा माया का हुक्म नहीं चलता । और यदि उसे दण्ड देना हो तो भगवान स्वयं देते हैं, किन्तु दूसरे किसी का[२] उस पर हुक्म नहीं है । ऐसी निष्ठा न हों और वह यदि त्याग-वैराग्य से युक्त हो, तो भी उसका हमारे हृदय में प्रभाव[३] नहीं होता। जिसके हृदय में भगवान की ऐसी निष्ठा अचल हो, और वह चाहे जितने शास्त्र सुने अथवा चाहे किसी का संग करे, तो भी भगवान में अपने को जो साकारभाव की निष्ठा है, वह नहीं टलती और तेज के बिम्ब[४] जैसे निराकार भगवान को कभी समझे ही नहीं । **ऐसी निष्ठावाले जो सन्त हैं, उनके चरण की रज को तो हम भी सिर पर चढ़ाते हैं, और उन्हें दुःखी करने पर मन में डरते हैं तथा उनके दर्शन को भी चाहते हैं[५] ।** और ऐसी निष्ठा बिना के जो जीव हैं, वे अपने साधनों के बल से अपना कल्याण चाहते हैं, परन्तु परमेश्वर के ऐसे प्रताप से अपने कल्याण की इच्छा नहीं करते हैं । ऐसे जो जड़मतिवाले पुरुष हैं, वे तो जैसे बिना नौका के अपने बाहुबल से समुद्र को तैरने को चाहते हैं, ऐसे मूर्ख हैं । और जो भगवान के ऐसे प्रताप से अपना कल्याण चाहते हैं वे तो जैसे नाव में बैठकर समुद्र पार करने को इच्छते हैं, वैसे समझदार हैं । **भगवान के स्वरूप के ऐसे जो ज्ञानवाले हैं, वे सभी देह[६] को छोड़कर भगवान के धाम में चैतन्य की ही मूर्ति होकर भगवान की हजूर[७] में रहते हैं ।** और ऐसी निष्ठा जिसको न हो और उसने दूसरे साधन यदि किये हैं तो वह अन्य देवता के लोक में रहता है । **और जो भगवान के ऐसे यथार्थ भक्त हैं, उनका दर्शन तो भगवान के दर्शन के तुल्य है । उनके दर्शन से अनेक पतित जीवों का उद्धार होता है, ऐसे ये बड़े हैं।''** इस प्रकार की वार्ता करके श्रीजीमहाराज ने कहा कि ''कीर्तन गाइए ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥३७॥

---

१. रुचिकर २. यमराज आदि का । ३. गिनती ४. तेज का समूह ।

५. इच्छते हैं । ६. शरीर ७. निरन्तर सेवामें ।

वचनामृत ३८ : 'बनियें के खाते का'

संवत्* १८७६ के माघ शुक्ल १ प्रतिपदा के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में संध्या के समय अश्वशाला के बरामदे में गद्दा बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत खेस पहना था, सिर पर लाल पल्ला का सफेद फेटा बाँधा था, डोरी बँधा हुआ अंगरखा पहना था, श्वेत शाल ओढ़ी थी और अपने मुखारविन्द के सन्मुख साधु तथा देश–देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

उस समय श्रीजीमहाराज सभी हरिभक्तों के सामने देखकर बहुत देर तक विचार करते रहे और फिर ऐसा बोले कि "सुनिये, बात करते हैं कि जो सत्संगी हों, वे जबसे अपने को सत्संग हुआ हो तबसे अपने मन की जाँच–पड़ताल करें कि 'प्रथम के वर्ष में मेरा मन ऐसा था और बाद में ऐसा था तथा इतनी भगवान की वासना थी और इतनी जगत की वासना थी।' इस प्रकार वर्ष–प्रतिवर्ष का लेखाजोखा पर विचार करें और अपने मन में जगत की जितनी वासना बाकी[१] रह गयी हो, उसे थोड़ा–थोड़ा करके निरन्तर टालें[२]। जो ऐसा विचार न करता हो और सभी को इकट्ठा करता रहे, तो उसकी वह वासना टलती नहीं है। जैसे बनियें के घर खाता खोला हो, उसे यदि महिने– महिने की चुकती कर दे तो देने में कठिनाई नहीं पड़ती और वर्ष पर्यन्त का इकट्ठा करता रहे तो चुकाना बहुत कठिन पड़ता है; उसी तरह निरन्तर विचार करें। और मन तो जगत की वासनाओं से वासित हुआ है, जैसे फूलों से तिल वासित[३] हो जाता है, उसी तरह मन को भगवान के जो चरित्र, उसे महिमा सहित जो नित्य स्मरणरूपी फूल है, उसमें वासित करें। **भगवान के चरित्ररूपी जाल में मन को फंसा[४] के रखें तथा भगवान के संकल्प मन में करते रहें।** एक

---

*दि. १६-१-१८२०, रविवार।

१. शेष **२.** मिटायें **३.** एक प्रक्रिया द्वारा फुल की सुगंध को तिलहन में अथवा तेल में रूपान्तरित करके अत्तर बनाया जाता है। वैसे मन में भगवान के चरित्र की सुवास (सुगंध) को निरन्तर स्मरण द्वारा एकरस करना। **४.** उलझा

संकल्प मिटा कि दूसरा करें, दूसरा मिटा कि तीसरा करें, इसी ही प्रकार मन को निवृत्त[१] न रहने दें ।'' ऐसा कहके फिर भूत का दृष्टान्त विस्तार पूर्वक कहा ।

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''इस प्रकार भगवान के जो चरित्र तथा वार्ता तथा दर्शन; वे एक दिन के यदि स्मरण करने लगे तो उनका पार नहीं आता है, तो सत्संग हुआ, तब दस-पन्द्रह वर्ष हुए हो, तब उनका तो पार ही नहीं आता । 'उसे इस तरह से स्मरण करें कि 'इस गाँव में इस प्रकार महाराज तथा परमहंसों की सभा हुई थी और इस तरह महाराज की पूजा हुई थी और इस तरह वार्ता हुई थी,' इत्यादिक जो भगवान के चरित्र हैं उनका बार-बार स्मरण करें । जो अधिक न समझता हो उसे तो ऐसा करना वह ही श्रेष्ठ उपाय है, इसके समान दूसरा कोई नहीं है । तब आप कहेंगे कि 'थोड़ा अन्न खाएँ तथा बहुत उपवास करेंगे' तो हम ऐसा नहीं कहते हैं । वह तो जिस प्रकार जिसके नियम कहे हैं, उसी तरह सामान्यरूप से रहें और करने का तो यह हमने आपको जो कहा है, वह है । हमने तो ऐसा माना है कि **मन निर्वासनिक होना चाहिए और देह से चाहे जितनी प्रवृत्ति हो, और उसका मन यदि शुद्ध है तो उसका अति अनिष्ट नहीं होता** तथा बाह्य जगत में तो उस प्रवृत्तिवाले का अनिष्ट जैसा प्रतीत होता है । जिसे मन में वासना हो और वह बाहर से अच्छी तरह से निवृत्तिपरायण रहता हो तो उसका बाह्य जगत में तो अच्छा दिखता है, परन्तु उसके जीव का अत्यन्त अनिष्ट होता है; क्योंकि, मन में जैसे संकल्प रहे हैं, वैसे ही मृत्यु के समय पर स्फुरणा हो आती है । जैसे भरतजी को अन्तकाल में मृग के बालक की स्फुरणा हुई तब वे मृग के आकार में बन गए । प्रथम राज्य का त्याग किया था और ऋषभदेव भगवान तो उनके पिता थे तो भी ऐसा हुआ; इसलिए, **मन से निर्वासनिक रहना, यह हमारा मत है ।** और जो उपावास किये जाते हैं, उससे देह दुर्बल होती है तब मन दुर्बल होता तो है, परन्तु जब देह पुष्ट होती है तब फिर मन पुष्ट हो जाता है।

१. खाली

इसलिए देह से त्याग और मन से त्याग, वे दोनों साथ में होना चाहिए। **जिसे मन में भगवान के संकल्प होते हों और जगत के संकल्प न होते हो, वह अपने सत्संग में बड़ा है, और जो ऐसा न हो, वह छोटा है।** गृहस्थ भी देह से व्यवहार करें, किन्तु मन से तो त्यागी की तरह ही निर्वासनिक रहें और भगवान का चिन्तन करें। व्यवहार तो भगवान की आज्ञा होने से करें। मन का त्याग सच्चा न हो तो जनक जैसे राजा राजकाज करते थे और मन तो बड़े योगेश्वर के समान था। इसलिए मन से किया जो त्याग, वही उचित है। और अपने मन में जो बुरे संकल्प होते हों, उसे कहें, परन्तु जैसे 'कुत्ते का मुख कुत्ता चाटे', 'सर्प के घर पराया साँप, मुँह चाटकर लौटा आप' और विधवा के पास सौभाग्यवती[१] स्त्री जाये तब वह कहती है कि 'आओ बाई मुझ जैसी तू भी हो जा'; उसी तरह अपने समान जिसे बुरे संकल्प होते हो, उसके पास जो घाट-संकल्प कहना, वह तो इन दृष्टान्तों के समान[२] है। **इसलिए संकल्प किस को कहे ? तो जिसके मन में कभी भी जगत सम्बन्धी बुरा संकल्प न होता हो ऐसा बलवान हो, उसके पास कहें।** इस प्रकार संकल्प न होते हों, ऐसे भी बहुत होते हैं, उनमें से भी ऐसे को संकल्प कहे कि वह संकल्प सुनकर उन संकल्प पर बात करता हो, तो जब तक उस कहनेवाले का संकल्प टल न जाये तब तक बैठते-ऊठते, खाते-पीते, सभी क्रियाओं में बात करता रहे। तथा उसे संकल्प टालने में कैसी तत्परता हो ? तो जैसे अपने संकल्प को टालने की तत्परता हो ऐसी तत्परता रहती हो, ऐसे के पास संकल्प को कहें। जिसके आगे संकल्प कहते हैं और वह इस प्रकार तो बात न करता हो और स्वयं आलसी हो तो कौनसा समास[३] होगा? इसलिए इस प्रकार अपने मन का संकल्प कहकर उस संकल्प को मिटाकर अपने मन में केवल भगवान के संकल्प करते रहें और जगत के सुख से निर्वासनिक हो जायें। एकादशी का उपवास करने का क्या लक्षण है ? तो

१. सधवा, सुहागिन, विवाहित २. इस तरह संकल्प टालने के बजाय बढ़ते है।
३. आध्यात्मिक पोषण, लाभ-प्राप्ति।

दस इन्द्रियों तथा ग्यारहवें मन को अपने-अपने विषय में से निकालकर भगवान में जोड़ दें, इसी को एकादशी का व्रत किया कहलाता है । **ऐसा व्रत तो भगवान के भक्त निरन्तर करें ।** इस तरह जिसका मन निर्वासनिक न हो और देह से व्रत-तप करता रहे तो भी उसका अतिशय अच्छा नहीं होता है। इसलिए भगवान का जो भक्त है, वह अपने-अपने धर्म में रहकर उन भगवान का माहात्म्य समझकर अपने मन को निर्वासनिक करने का नित्य अभ्यास करे।'' ऐसी वार्ता[१] कही ।

फिर श्रीजीमहाराज ने दूसरी वार्ता कही कि ''**सच्चा त्यागी किसे कहा जाये ? तो 'जिस पदार्थ का त्याग किया, उसका फिरसे कभी भी मन में संकल्प भी न हो, जैसे विष्ठा**[२] **का त्याग किया है उसका फिर से संकल्प नहीं होता है, उसी तरह संकल्प न हो ।** वहाँ शुकजी के प्रति नारदजी द्वारा कहा हुआ श्लोक है कि '**त्यज धर्ममधर्मं च**'[३] और इस श्लोक का हार्द[४] यह है कि 'एक आत्मा के सिवा दूसरे जो-जो पदार्थ हैं उनका त्याग करके केवल आत्मारूप से रहें और भगवान की उपासना करें।' उसे पूर्ण त्यागी कहते हैं । तथा जो गृहस्थ हरिभक्त हैं, वे तो जैसे जनक राजा ने कहा कि यह मेरी मिथिला नगरी जलती है, परन्तु उसमें मेरा कुछ भी नहीं जलता है। वहाँ श्लोक है कि '**मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन**[५] ।' ऐसा समझता हुआ घर में रहता हो, वही गृहस्थ हरिभक्त सच्चा कहलाता है। और इस तरह का जो त्यागी न हो और इस तरह का जो गृहस्थ न हो, वह तो प्राकृत भक्त कहालाता है । पहले कहा ऐसा जो हो, वह तो एकान्तिक भक्त कहलाता है'' । इस प्रकार वार्ता कही ।

फिर बड़े आत्मानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि ''देह, इन्द्रियाँ, तथा अन्तःकरण तथा देवता से भिन्न जो जीवात्मा है, उसका स्वरूप

---

१. बात २. मल ३. महाभारत शान्तिपर्व ३१६/४० ४. रहस्य, मर्म

५. महाभारत शान्तिपर्व १२/१७/१८, १७१/५६, २६८/४

किस प्रकार से है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''संक्षेप में इसका उत्तर करते हैं कि देह तथा इन्द्रियादिक के स्वरूप का जो वक्ता है, वह सभी के स्वरूपों को अलग-अलग करके श्रोताओं को समझाता है। वह जो समझानेवाला वक्ता है, उन देह आदिक सभी का प्रमाण करनेवाला और जाननेवाला है और उन सभी से पृथक् है, उसी को ही जीव कहते हैं। जो श्रोता है वह देहादिक के रूप को अलग-अलग समझता है, उन्हें प्रमाणित करता है, उन्हें जानता है और इन सभी से भिन्न है, उसी को ही जीव कहते हैं। इस प्रकार से[१] जीव के स्वरूप को समझने की रीति है।'' इस प्रकार वार्ता कही।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥३८॥

वचनामृत ३९ : 'सविकल्प-निर्विकल्प स्थितिवाले का'

संवत्* १८७६ के माघ शुक्ल ३ तृतीया के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीम वृक्ष के तले चबूतरे पर पलंग बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत खेस पहना था, सफेद चद्दर ओढ़ी थी, शिर पर श्वेत पाग बाँधी थी, तथा पीले पुष्पों के तुर्रे पाग में लटक रहे थे, कानों पर श्वेत एवं पीले पुष्पों के गुच्छे लगा रखें थे और कण्ठ में पीले पुष्पों के हार पहने थे, और अपने मुखारविन्द के सन्मुख सभी मुनि तथा देश-देश के हरिभक्तों की सभा बैठी थी।

---

*दि. १८-१-१८२०, मंगलवार

१. देह, इन्द्रियाँ, मन, प्राण और बुद्धि आदि के ज्ञाता, प्रमाता, दृष्टा, श्रोता, वक्ता, घ्राता, मन्ता, बोद्धा और कर्तारूप से जानने में आता है वह जीवात्मा है। उस प्रकार से ही देह आदि से आत्मा अलग जाना जा सकता है और उसका रूप भी वही है। उसे श्रुतिस्मृति में कहा है - ''**अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा एष हि द्रष्टा श्रोता रसयिता घ्राता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः**'', **इदं शरीरं कौन्तेय ! क्षेत्रमित्यभिधीयते । एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ देहेन्द्रियमनः प्राणधीभ्योऽन्योऽनन्यसाधनः । नित्यो व्यापी प्रतिक्षेत्रमात्मा भिन्नः स्वतः सुखी ॥** इत्यादि, इतना ही तात्पर्य है।

तब श्रीजीमहाराज ने आये हुए एक वेदान्ती[१] ब्राह्मण से प्रश्न पूछा कि ''आप एक ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं और उस के बिना जीव, ईश्वर, माया और जगत, तथा वेद, शास्त्र, पुराण उन सभी को मिथ्या[२] कहते हैं, यह बात हमें समझ में नहीं आती, और मानने में नहीं आती है; इसलिए आपसे पूछते है, उसका उत्तर करिए । उसे वेद, शास्त्र, पुराण, स्मृति[३] तथा इतिहास[४] के प्रमाणों के साथ करिए, किन्तु किसी कल्पित ग्रन्थ के वचन से करेंगे तो हम उसे नहीं मानेंगे । और यदि व्यासजी के वचन से करेंगे तो हमारे मानने में आयेगा, क्योंकि, हमें व्यासजी के वचन में दृढ़ प्रतीति[५] हैं ।'' फिर वह वेदान्ती अनेक प्रकार की युक्तियाँ लाकर उत्तर करने लगा, परन्तु श्रीजीमहाराज ने उसमें आशंका की, इसलिए उस प्रश्न का समाधान नहीं हुआ । तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''सुनिये इस प्रश्न का उत्तर हम करते हैं कि वह तो परमेश्वर को भजकर हुए जो मुक्त, उनकी स्थिति के दो भेद है । जैसे मेरु पर्वत के पर खड़े पुरुष, वे तो जो, उस मेरु से पास जो सभी पर्वत तथा सभी वृक्ष और उन पर्वत-वृक्षों का आधार ऐसा जो पृथ्वी का तल, उन सभी को पृथक्-पृथक्रूप से देखते हैं; **उसी तरह सविकल्प समाधिवाले जो ज्ञानी मुक्त हैं, वे तो जीव, ईश्वर, माया तथा उनके आधार जो ब्रह्म उन सभी को पृथक्-पृथक्रूप से देखते हैं ।** और फिर जैसे लोकालोक पर्वत पर खड़े जो पुरुष, वे तो उस लोकलोक पर्वत से पास में रहते जो पर्वत तथा वृक्ष, उन सभी को एक पृथ्वीरूप में ही देखते हैं, परन्तु पृथक्-पृथक् रूप से नहीं देखते हैं; **उसी तरह निर्विकल्प समाधिवाले जो महामुक्त; वे तो जीव, ईश्वर, माया उनको एक ब्रह्मरूप से ही देखते हैं, किन्तु पृथक्रूप से नहीं देखते हैं ।** उस तरह दो प्रकार की स्थितिवाले मुक्त हैं । उनकी स्थिति के योग से उन सभी की सत्यता कहलाती है तथा असत्यता भी कहलाती है । और

---

१. परब्रह्म को निराकार और निर्गुणभाव से प्रतिपादन करनेवाले शुष्कज्ञानी को वेदान्ती शब्द से संकेत किया हुआ है, ऐसा जाने । २. सीप में चांदी का आभास होता है, वैसे आभासित - वृथा ।
३. धर्मशास्त्र ४. महाभारत ५. आस्था, श्रद्धा, विश्वास

सविकल्प स्थितिवाले के वचन वेद, शास्त्र, पुराण आदिक में आते हैं, वे उन सभी को सत्य कहते हैं; और निर्विकल्प स्थितिवाले के जो वचन, वे उन सभी को असत्य कहते हैं। परन्तु कहीं वे सभी असत्य नहीं है, ये तो उन्हें निर्विकल्प स्थिति के बल से दिखाई नहीं देते, इसलिए असत्य कहते हैं। जैसे सूर्य के रथ में जो बैठे हों उन्हें रात्रि नहीं होती, परन्तु जो पृथ्वी पर रहते हैं, उन्हें रात-दिन हैं, उस प्रकार निर्विकल्प स्थितिवालों के मत में, ये सभी नहीं हैं, किन्तु दूसरों के मत से तो ये सभी हैं। इस प्रकार ब्रह्मनिरूपण करने से तो शास्त्रों के वचनों में पूर्वापर बाध[१] नहीं आता। यदि ऐसा न करें तो पूर्वापर बाध आता है। उस बाध[१] को तो न समझता हो तथा इस प्रकार की स्थिति को भी प्राप्त न हुआ हो और केवल शास्त्रों में से सीखकर वचन मात्र से एक ब्रह्मपना का प्रतिपादन करता हो तथा गुरु, शिष्य, जीव, ईश्वर, माया, जगत तथा वेद, पुराण, शास्त्र इन सब को कल्पित कहता हो, वह तो महामूर्ख है और अन्त में नारकी[२] होता है।" ऐसा कहकर बोले कि "यह हमने बात कही है, उसमें आपको आशंका होती हो तो बोलिए ? 'तब वह वेदान्ती ब्राह्मण बोला कि 'हे महाराज! हे प्रभु ! हे स्वामिन् ! आप तो परमेश्वर हैं और जगत के कल्याण के लिए प्रकट हुए हैं। तो आपने जो उत्तर किया, वह यथार्थ है, उसमें आशंका के लिए कोई स्थान नहीं है।" इतना कहकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और अपनी असमझ का त्याग करके श्रीजीमहाराज का आश्रित हुआ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥३९॥

वचनामृत ४० : 'सविकल्प-निर्विकल्प समाधि का'

संवत्* १८७६ के माघ शुक्ल ४ चतुर्थी के दिन प्रातःकाल में श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीम के पैड़ के नीचे पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत खेस पहना

*दि. १९-१-१८२०, बुधवार **१.** अर्थ की असंगति, परस्पर विरोध। **२.** नरक का अधिकारी।

था, सफेद चद्दर ओढ़ी थी, सिर पर श्वेत पाग बाँधी थी, पाग में पीले पुष्पों का तुर्रा लटक रहा था, कण्ठ में पीले पुष्पों का हार पहना था और अपने मुखारविन्द के सन्मुख सभी मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज को मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! सविकल्प समाधि किसे कहते हैं और निर्विकल्प समाधि किसे कहते हैं ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसे भगवान के स्वरूप में स्थिति हुई हो, उसे अशुभ वासना तो नहीं होती, और शुभ वासना रही हो कि 'मैं नारद, सनकादिक तथा शुकजी जैसा हो जाऊँ अथवा नरनारायण के आश्रम में जाकर उन आश्रम के मुनियों के साथ रहकर तप करूँ अथवा श्वेतद्वीप में जाकर तप करके श्वेतमुक्त जैसा हो जाऊँ । इस प्रकार का जिसे विकल्प रहता हो, उसे सविकल्प समाधिवाला कहते हैं ।'' और जिसे इस तरह का विकल्प न हो तथा **अक्षरब्रह्म के साधर्म्यभाव को प्राप्त करके केवल भगवान की मूर्ति में ही निमग्न रहता हो, उसे निर्विकल्प समाधिवाला कहते हैं ।**

मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! भक्ति में और उपासना में तो कौन सा भेद है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥(१)

इस प्रकार नौ प्रकार(२) से जो भगवान की भक्ति करनी, उसे भक्ति कहते हैं । और उपासना तो उसे कहते हैं कि भगवान के स्वरूप में सदा साकारपने(३) की दृढ़ निष्ठा हो, और स्वयं जो भजन करनेवाला, वह ब्रह्मरूप हो जाये तो भी वह निष्ठा कभी भी न जायें, कैसे भी निराकार को प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थ को सुने, तो भी भगवान के स्वरूप को सदा साकार ही समझे और शास्त्र में चाहे कैसी भी बात आए किन्तु स्वयं तो भगवान के साकार स्वरूप का

१. श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दासत्व, सख्य और आत्मनिवेदन; यह नौ प्रकार की भक्ति है । (भाग. ७/५/२३) २. प्रीतिपूर्वक ३. साकारभाव की

ही प्रतिपादन करता हो, परन्तु अपनी उपासना का खण्डन होने ही न दें। इस प्रकार जिसकी दृढ़ समझ[१] हो, उसे उपासनावाला कहते है।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥४०॥

वचनामृत ४१ : 'एकोऽहं बहु स्याम्' का

संवत्* १८७६ के माघ शुक्ल ५ पंचमी के दिन संध्या समय श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के समीप नीम वृक्ष के नीचे चबूतरे पर पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, पीले पुष्पों के हार पहने थे, पीले पुष्पों के गुच्छे कान पर धारण किये थे, पाग में पीले पुष्पों के तुर्रे लटक रहे थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''प्रश्न-उत्तर करिए।'' तब नृसिंहानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज! **'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय'**[२] इस श्रुति का जो अर्थ है, उसे जगत में कई पण्डित तथा वेदान्ती ऐसा समझते हैं कि 'प्रलय काल में जो एक भगवान थे, वे ही अपनी इच्छा से सृष्टिकाल[३] में समस्त जीव ईश्वररूप में हुए हैं।' यह बात तो जो मूर्ख हो, उनके मानने में आती है और हमें तो आपका आश्रय है, इसलिए उस बात का मेल नहीं बैठता। हम तो ऐसा समझते हैं कि भगवान तो अच्युत हैं, तो च्युत होकर जीव-ईश्वररूप नहीं हो पाते; इसलिए उस श्रुति का जो अर्थ, उसे तो आप कहिए, ताकि यथार्थ समझ में आये।'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''इस श्रुति का अर्थ तो ये सभी करते हैं वैसा नहीं है; इसका अर्थ तो दूसरी तरह का है। उसे वेदस्तुति के गद्य में कहा है कि

स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया ।
तरतमतश्चकास्स्यनलवत्स्वकृतानुकृतिः ॥[४]

*दि. १९-१-१८२०, बुधवार

१. बुद्धि २. (छां.उप./६/२/३) ३. परिणाम पाकर ४. (भाग. १०/८७/१९)

इसका अर्थ ऐसा है कि 'पुरुषोत्तम भगवान स्वयं ने की ऐसी जो नाना[१] प्रकार की योनियाँ, उनमें कारणरूप से अन्तर्यामीरूप से प्रवेश करके न्यूनाधिक भाव से प्रकाश करते हैं ।' उसका प्रकार[२] यह है कि अक्षरातीत ऐसे जो पुरुषोत्तम भगवान, वे सृष्टिकाल में जब अक्षर के सन्मुख दृष्टि करते हैं तब उस अक्षर में से पुरुष प्रकट हो आता है । फिर वे पुरुषोत्तम अक्षर में प्रवेश करके पुरुष में प्रवेश करते हैं और पुरुषरूप होकर प्रकृति को प्रेरित करते हैं। इस प्रकार जैसे-जैसे पुरुषोत्तम का प्रवेश[३] होता गया तैसे-तैसे सृष्टि की प्रवृत्ति हुई । और फिर उन प्रकृति-पुरुष से प्रधानपुरुष हुए और उन प्रधानपुरुष से महत्तत्त्व हुआ, महत्तत्त्व से तीन प्रकार का अहंकार हुआ, अहंकार से भूत, विषय, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण तथा देवता हुए, उनसे विराटपुरुष हुए, और उनकी नाभिकमल में से ब्रह्मा हुए, उन ब्रह्मा से मरीच्यादिक प्रजापति हुए, उनसे कश्यप प्रजापति हुए, उनसे इन्द्रादिक देवता हुए, दैत्य हुए, स्थावर-जंगम समस्त सृष्टि हुई । वे पुरुषोत्तम भगवान उन सब में कारणभाव से अन्तर्यामीरूप से प्रवेश करके रहते हैं; किन्तु जिस प्रकार से अक्षर में हैं उस प्रकार से पुरुषप्रकृति में नहीं हैं, और पुरुषप्रकृति में हैं वैसे प्रधानपुरुष में नहीं हैं, जैसे प्रधानपुरुष में हैं वैसे महत्तत्वादिक चौबीस तत्त्वों में नहीं है, जैसे चौबीस तत्त्वों में हैं वैसे विराटपुरुष में नहीं हैं, जैसे विराटपुरुष में हैं वैसे ब्रह्मा में नहीं हैं, जैसे ब्रह्मा में है, वैसे मरीच्यादिक में नहीं हैं, जैसे मरीच्यादिक में हैं वैसे कश्यप में नही हैं, जैसे कश्यप में हैं वैसे इन्द्रादिक देवताओं में नहीं हैं, जैसे इन्द्रादिक देवताओं में हैं वैसे मनुष्य में नहीं हैं, जैसे मनुष्य में हैं वैसे पशु-पक्षी में नहीं हैं; इस प्रकार पुरुषोत्तम भगवान तारतम्यता[४] से सभी में कारणरूप[५] से अन्तर्यामीरूप से रहते हैं । जैसे काष्ठ[६] में अग्नि रहता है, वह बड़े काष्ठ में

१. विविध, अनेक २. सप्रकारक भेद, विवरण ३. सर्व व्यापक पुरुषोत्तम भगवान का सर्वदा सर्ववस्तु में पहले से ही प्रवेश है, नया नहीं, तो इस स्थल पर कहा हुआ प्रवेश, सृष्टि समय में शक्ति विशिष्टरूप से अनुप्रवेश जाने । जिससे प्रत्येक वस्तु में परमात्मा की पुष्कल प्रतीति जानने में आयें । **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** (सृष्टि का सर्जन करके उसमें अनुप्रवेश किया) ऐसा श्रुति में कहा है । ४. अधिक-न्यूनभाव ५. कारणता से

६. **'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टः'** इत्यादि श्रुतियों में यह अर्थ निरूपण किया है ।

बड़ा रहता है, और लंबे काष्ठ में लंबा अग्नि रहता है और टेढ़े काष्ठ में टेढ़ा अग्नि रहता है, उसी प्रकार वे पुरुषोत्तम भगवान जिनके द्वारा जितना कार्य कराना हो, उनमें उतने सामर्थ्य से युक्त होकर रहते हैं । **अक्षर तथा पुरुष-प्रकृति आदि सभी में पुरुषोत्तम भगवान अन्तर्यामीरूप से रहे हैं, परन्तु पात्र की तारतम्यता[१] से सामर्थ्य में तारतम्यता[२] रहती है। इस प्रकार एक पुरुषोत्तम भगवान हैं, वे अन्तर्यामीरूप से इन सभी में प्रवेश करके रहे हैं,[३] किन्तु जीव-ईश्वररूप में स्वयं होकर बहुरूप से नहीं हुए हैं ।** इस तरह इस श्रुति का अर्थ समझें ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥४१॥

वचनामृत ४२ : 'विधि-निषेध का'

संवत्* १८७६ के माघ शुक्ल ६ षष्ठी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीम वृक्ष के नीचे चबूतरे पर पलंग पर पश्चिम की ओर मुखारविन्द किये विराजमान थे । उन्होंने सिर पर श्वेत पाग बाँधी थी, सफेद चद्दर ओढ़ी थी और श्वेत खेस पहना था, दोनों कानों के ऊपर पीले पुष्पों के गुच्छ विराजमान थे और उनके मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

उस सभा में कोई वेदान्ती ब्राह्मणलोग आकर बैठे थें, उन्हें देखकर श्रीजीमहाराज बोले कि ''वेदान्त शास्त्र को जो-जो पढ़ते तथा सुनते हैं, वे ऐसा कहते हैं कि 'विधि-निषेध तो मिथ्या[४] है विधि-निषेध से प्राप्त होने वाले ऐसे जो स्वर्ग और नरक हैं वे भी मिथ्या हैं और उन्हें पानेवाले जो शिष्य, वे भी मिथ्या हैं, गुरु भी मिथ्या है; और एक ब्रह्म ही सर्वतः भरा हुआ है, वह सत्य है ।' इस प्रकार से जो कहते हैं, वे क्या समझकर कहते होंगे ?

*दि. २०-१-१८२०, गुरुवार

१. भेद-भिन्नता । **२.** वस्तुतः वह तारतम्यता नहीं है । **३.** इसलिए भगवान ''सर्वरूप हुए है,'' ऐसा वेद आदि कहते है, **'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः'** (सर्व में व्याप्त होकर रहे हो इसलिए आप सर्वरूप हैं, ऐसा गीता में भी कहा है । **४.** ग्रहण करने योग्य नहीं हैं ।

सभी वेदान्ती के जो आचार्य शंकराचार्य हैं, उन्होंने तो अपने शिष्यों को दण्ड-कमण्डल धारण करवायें और ऐसा कहा कि 'भगवद्गीता तथा विष्णुसहस्रनाम का पाठ करें तथा विष्णु का पूजन करें और **जिसके अधिक वर्ष बीते हों, उन्हें थोड़े वर्षवाले वन्दन करें और जो अच्छा पवित्र ब्राह्मण हो, उसके घर की ही भिक्षा ग्रहण करें ।'** इस प्रकार जो विधि-निषेध का प्रतिपादन किया, तो क्या उन्हें यथार्थ ज्ञान नहीं होगा ? और जो आजकल के[१] ज्ञानी हुए हैं, उन्होंने विधि-निषेध को मिथ्या कर दिया है तो क्या वे शंकराचार्य से बड़े हो गए ? इसलिए वह तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे तो केवल मूर्खता से बोलते हैं । विधि-निषेध को शास्त्र में मिथ्या कहे गए हैं, उसे तो इस तरह कहे हैं कि जैसे कोई बड़ा जहाँज हो और वह जहाँज महासागर में एक वर्ष तक चलता रहता है, उसे अगला किनारा भी दिखने में नही आता है और पिछला किनारा भी दिखने में नहीं आता है और उन दोनों किनारों पर रहे जो बड़े-बड़े पर्वत, वे भी दिखाई नहीं देते, तब वृक्ष तथा मनुष्य कैसे दिखने में आयें ? 'और जहाँ देखता है वहाँ केवल जल ही दिखाई पड़ता है' किन्तु जल के अलावा दूसरा कोई आकार देखने में आता नहीं हैं । ऊँचा देखे तो समुद्र की बड़ी-बड़ी लहरें उठती हैं, इसलिए ऊँचा भी जल ही दिखाई देता है, तब उस जहाँज में बैठे जो पुरुष, वे ऐसा कहते हैं कि 'केवल जल ही है, दूसरा कुछ भी नहीं है ?' इस दृष्टान्त का सिद्धान्त यह है कि जिसे ब्रह्मस्वरूप में निर्विकल्प स्थिति हुई हो, वे ऐसा बोलते हैं कि 'एक ब्रह्म ही है और उनके बिना दूसरे जो जीव, ईश्वर और माया इत्यादिक सभी मिथ्या हैं, और उनके वचन शास्त्र में लिखे गए हो, उन्हें सुनकर अपनी तो ऐसी स्थिति न हुई हो, तो भी विधि-निषेध को मिथ्या कहते हैं' स्त्री की शुश्रूषा[२] करते हैं, बच्चों की शुश्रूषा करते हैं, जितना संसार का व्यवहार हैं, उन सब को तो सच्चा जानकर सावधान हो कर करते हैं, और शास्त्र ने प्रतिपादित किये ऐसे जो विधि-निषेध, उन्हें मिथ्या कहते हैं, ऐसे जो इस जगत में ज्ञान कथन करनेवाले[३]

१. आधुनिक २. सेवा-चाकरी ३. बतानेवाले

हैं उन्हें तो महा अधम जानें तथा नास्तिक जानें । और शंकरचार्य ने तो जीव के हृदय में नास्तिकता आजाने के डर से '**भज गोविन्दम् भज गोविन्दम्, गोविन्दम् भज मूढमते**[१] **।**' इत्यादिक विष्णु के बहुत से स्तोत्र किये हैं तथा शिवजी, गणपति तथा सूर्य इत्यादिक बहुत से देवताओं के स्तोत्र किये हैं । जिसे सुनकर सभी देवता सत्य भासित हों, ऐसा आशय समझकर शंकराचार्य ने सभी देवताओं के स्तोत्र किये हैं । आजकल के जो ज्ञानी हुए, वे तो सभी को मिथ्या कर देते हैं । और फिर ऐसा कहते हैं कि 'ज्ञानी तो चाहे कैसा ही पाप करें तो भी कुछ स्पर्शता नहीं है ।' वे मूर्खता से कहते हैं । और जितने त्यागी परमहंस हुए हैं, उन सभी में जड़भरत श्रेष्ठ हैं । जितने पुराणमात्र तथा वेदान्त के ग्रन्थ हैं, उन सभी में जड़भरत की वार्ता लिखी गई है । ऐसे बड़े जो जड़भरत, वे पूर्वजन्म में ऋषभदेव भगवान के पुत्र थे और राज्य का त्याग करके वन में गए थे; उन्हें दया के कारण भी यदि मृग के साथ प्रीति हुई तो उसका दोष लगा और स्वयं को मृग का जन्म लेना पड़ा और मृग के समान चार पैर और छोटी पूंछ और सिर पर छोटी सींग, ऐसा आकार स्वयं को प्राप्त हुआ । परमात्मा जो श्रीकृष्ण भगवान, उनके साथ ब्रज की गोपियों ने कामबुद्धि से प्रीति की, तो भी सभी भगवान की माया को तैर गई, और स्वयं गुणातीत होकर भगवान के निर्गुण ऐसे अक्षरधाम को प्राप्त हुयीं। उसका कारण यह है कि श्रीकृष्ण भगवान स्वयं साक्षात् पुरुषोत्तम गुणातीत दिव्यमूर्ति थे, तो उनके साथ गोपियों ने जाने-अनजाने में प्रीति की, तो भी वे गोपियाँ गुणातीत हुयीं । भरतजी ने दया से मृग में प्रीति की तो वे मृग हो गए । इसलिए, **चाहे कितने भी बड़े हों, उनका भी कुसंग से तो अनिष्ट ही होता है और चाहे कितना भी पापी जीव हो, और वह यदि सत्यस्वरूप ऐसे भगवान के प्रसंग में रहे तो परम पवित्र होकर अभय पद को प्राप्त करता है ।** यदि श्रीकृष्ण भगवान स्वयं गुणातीत न होते तो उनकी भक्त जो गोपियाँ, वे गुणातीतभाव को प्राप्त नहीं हो सकतीं । उन्होंने यदि गुणातीत

१. चर्पट मंजरिका

पद को प्राप्त कर लिया, तो श्रीकृष्ण भगवान गुणातीत कैवल्य दिव्यमूर्ति ही हैं । और वेदान्ती कहते हैं कि 'सर्वत्र ब्रह्म सर्वतः[१] भरा[२] है ।' तब जिस प्रकार गोपियों ने श्रीकृष्ण भगवान में प्रीति की, वैसे ही सभी स्त्रियाँ अपने-अपने पतियों से प्रीति करती हैं और सभी पुरुष अपनी-अपनी स्त्रियों से प्रीति करते हैं तो भी उन्हें गोपियों के जैसी प्राप्ति नहीं होती है । उन्हें तो घोर नरक की प्राप्ति होती है, इसलिए **जो विधि-निषेध है, वे सच्चे हैं किन्तु मिथ्या नहीं है, और जो उन विधि-निषेध को मिथ्या करते हैं, वे तो नारकी[३] होते हैं ।**'' ऐसी वार्ता करके श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहकर अपने निवास पर पधारे ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥४२॥

वचनामृत ४३ : 'चार प्रकार की मुक्ति का'

संवत्* १८७६ के माघ शुक्ल ७ सप्तमी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्व द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर संध्या के समय विराजमान थे । उन्होंने मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी, श्वेत चद्दर ओढ़ी थी, सफेद खेस पहना था, पाग में पीले पुष्पों के तुर्रे लटक रहे थे, कण्ठ में पीले पुष्पों के हार पहने थे, दोनों कानों पर पीले पुष्पों के गुच्छे लगाये थे और अपने मुखारविन्द के आगे मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

उस समय श्रीजीमहाराज सभी भक्तजनों पर करुणा की दृष्टि करके सब के सामने देखकर बोले कि ''सब सुनिये, एक प्रश्न पूछते हैं कि श्रीमद्भागवतपुराण में कहा है कि 'जो भगवान के भक्त हैं, वे चार प्रकार की मुक्ति को नहीं चाहते हैं ।' और दूसरे भी भगवान के जो-जो बड़े भक्त है, वे ऐसा कहते है कि 'भगवान के भक्त हों, वे चार प्रकार की मुक्ति को

---

*दि. २१-१-१८२०, शुक्रवार

१. भलीभाँति, जरा भी खाली न हो, ऐसे । २. व्याप्त ३. नरक के अधिकारी ।

नहीं चाहते ।' 'तब चार प्रकार की मुक्ति क्या है ? तो,'' (१) एक तो भगवान के लोक में रहना, और (२) दूसरा भगवान के समीप में रहना, (३) तीसरा भगवान के समान रूप को प्राप्त करना और (४) चौथा भगवान के सदृश ऐश्वर्य को प्राप्त करना; इस तरह जो चार प्रकार की मुक्ति है, उन्हें तो भगवान का भक्त नहीं चाहता और केवल भगवान की सेवा को चाहता है, तो वह भक्त चार प्रकार की मुक्तिओं को क्यों नहीं चाहता है ? यह प्रश्न है, उसका उत्तर जिनसे जैसा हो सके वैसा वे करें ।'' फिर सभी परमहंस उत्तर करने लगे परन्तु उत्तर न हो सका । तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस प्रश्न का उत्तर हम करते हैं कि **'जो भगवान का भक्त होकर इन चार प्रकार की मुक्ति की इच्छा[१] रखता है, तो वह सकाम भक्त कहलाता है । और जो इन चतुर्धा मुक्ति को नहीं चाहता है और केवल भगवान की सेवा को ही चाहता है, वह निष्काम भक्त कहलाता है** । उसे श्रीमद्भागवत में कहा है कि

मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादि चतुष्टयम् ।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविप्लुतम् ।[२]
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारुप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥[३]

इसका अर्थ यह है कि भगवान के जो निष्काम भक्त हैं वे सेवा जो भगवान की परिचर्या करना वह जो यदि चतुर्धा मुक्ति में न हो, तो उसे चाहते ही नहीं और एक सेवा को ही चाहते हैं । ऐसे निष्काम भक्त को भगवान अपनी सेवा में रखते हैं, और वे भक्त नहीं चाहते तो भी भगवान उसे बल

१. कामना

२. मेरी सेवा मात्र से पूर्णकाम हुए निष्काम भक्तजन मेरी सेवा करने से प्राप्त होती हुई ऐसी सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य और सामीप्य यह चार प्रकार की मुक्ति की भी इच्छा नहीं रखते तो फिर कालवश नाश हो ऐसे अन्य सुखों की (ऐश्वर्य आदि) इच्छा न रखे उसमें क्या कहना ? (भाग.९/४/६७)

३. मेरी सेवारूप निर्गुण भक्तिमार्गवाले भक्तजन भगवान ने जबरन दी हुई सालोक्य आदि मुक्ति को भी, सेवा को छोड़कर इच्छा करते नहीं हैं । अर्थात् सेवा की ही इच्छा रखते हैं । (भाग.३/२९/१३)

जबरन अपने ऐश्वर्य-सुख को प्राप्त कराते हैं। इसे कपिलदेव भगवान ने कहा है कि

अथ विभूतिं[१] मम मायाविनस्तामैश्वर्यमष्टाङ्गमनुप्रवृत्तम् ।
श्रियं भागवतीं वा स्पृहयन्ति भद्रां परस्य मे तेऽश्नुवते तु लोके ॥

ऐसे निष्काम भक्त को ही गीता में भगवान ने ज्ञानी कहा है। जो सकाम भक्त हैं, उन्हें अर्थार्थी कहा है। इसलिए **भगवान के भक्त भगवान की सेवा के अलावा दूसरा कुछ भी न चाहें।** यदि इच्छा रखता है तो इसमें इतनी अपक्वता कहलाती है। और जो अपक्वता रही हो, तो निष्काम ऐसे जो भगवान के एकान्तिक भक्त, उनका समागम करके उस अपक्वता को टालें।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥४३॥

वचनामृत ४४ : 'दहकते दाग का - अंगरखा का'

संवत्* १८७६ के माघ शुक्ल ८ अष्टमी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीम के वृक्ष के नीचे चबूतरे के मध्यभाग में पलंग पर पश्चिम की ओर मुखारविन्द किये प्रात:समय विराजमान थे और सफेद खेस धारण किया था, सफेद चद्दर ओढ़ी थी, सिर पर श्वेत पाग बाँधी थी, उस पाग के एक परत[२] से बोकानी[३] बाँधी थी, उस पाग पर सफेद पुष्पों का हार विराजमान था और अपने मुखारविन्द के आगे मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''भगवान में स्नेह हो, उसका क्या रूप[४] है ?'' फिर ब्रह्मानन्द स्वामी स्नेह का रूप करने लगे, परन्तु समाधान

*दि. २२-१-१८२०, शनिवार

१. अर्चि आदि मार्ग से धाम में आनेका प्रारंभ होने के बाद मायावी अर्थात् योगमाया का स्वामी ऐसा जो में, मेरा जो ऐश्वर्य, भक्तियोग से प्राप्त हुई ऐसी अष्टसिद्धियाँ और भागवतीश्री की भी निष्काम भक्तजन इच्छा नहीं रखते और मेरे लोक में जाकर मेरे सुख को पाते है।

भा.स्कं. ३/२५/३७

२. तह **३.** ठंड से रक्षा हो इसलिए पाग की एक परत (Layer) से दोनों कान ढक जाये इस तरह से गले के नीचे से उपर तक बाँधा जानेवाला वस्त्र **४.** लक्षण

नहीं हुआ । तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''आपको तो स्नेह की दिशा ही नहीं मिली है । और आपने पिण्ड-ब्रह्माण्ड से निःस्पृह रहने को स्नेह कहा; यह स्नेह का रूप नहीं है, यह तो वैराग्य का रूप है । और स्नेह तो उसे कहते है कि **'भगवान की मूर्ति की[१] अखण्ड स्मृति रहे', उसी का नाम स्नेह कहते है । जिस भक्त को भगवान में परिपूर्ण स्नेह हो, उसे एक भगवान के सिवा दूसरा संकल्प ही नहीं होता है ।** जितना भगवान बिना दूसरा संकल्प होता है उतना उनके स्नेह में फर्क है । जिसे भगवान में परिपूर्ण स्नेह हो, उसे यदि जाने-अनजाने में[२] भगवान की मूर्ति के सिवा दूसरा कोई भी संकल्प हो जाये, तो **जैसे पञ्चामृत भोजन करता हो, उसमें कोइ कंकड तथा धूल की अंजली भर के डालें, वह जैसा असह्य लगता है, अथवा कपाल[३] में दहकता[४] दाग दे और वह जैसा असह्य लगता है, वैसा भगवान के बिना दूसरा संकल्प हो जाये, वह असह्य लगता है । इस तरह जिसकी स्थिति रहती हो, उसे भगवान में प्रीति है, ऐसा समझें** । उसे आप सभी अपने-अपने हृदय में जांच करके देखिए, तो जिसे जैसी प्रीति होगी, उनको वैसी दिखाई देगी ।''

फिर ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि ''ऐसी दृढ़ प्रीति भगवान में हो पाये, इसका कौन-सा साधन है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''**सत्पुरुष का जो प्रसंग, वह ही परमेश्वर में दृढ़ प्रीति होने का कारण है ।**'' तब सोमला खाचर बोले कि ''ऐसा प्रसंग तो अतिशय करते हैं, तो भी ऐसी दृढ़ प्रीति क्यों नहीं होती है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''प्रसंग तो करते हैं लेकिन आधा प्रसंग हमारा करते हैं और आधा प्रसंग जगत का करते हैं । इसलिए भगवान में दृढ़ प्रीति नहीं हो पाती ।''

फिर गाँव वसो के विप्र वाला ध्रुव ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! देह और देह के सम्बन्धियों में अहम्-ममत्वपने के संकल्प होते हैं, वे कैसे टलते

१. प्रीतिपूर्वक २. देशकाल विपरीत होने से ३. ललाट ४. धधकता

हैं ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि[१] ''यह तो उस जीव को विपरीत भावना हुई है कि 'अपने को देह से पृथक् जो जीवात्मा, उस रूप में मानता नहीं है और देहरूप में मानता है ।' उस जीवात्मा में देह किस प्रकार से जुड़ा[२] है? तो जैसे किसी पुरुष ने दर्जी के घर जाकर अंगरखा[३] सिलवाकर उसे पहना, तब वह ऐसा मानता है कि 'दर्जी[४] तो मेरा बाप है और दर्जिन तो मेरी माँ है ।' ऐसा जो मानता है वह मूर्ख कहलाता है; उसी तरह इस जीव को यह देहरूपी जो अंगरखा, वह कभी तो ब्राह्मण और ब्राह्मणी से उत्पन्न होता है और कभी तो नीच जाति में से उत्पन्न होता है तथा चौरासी लाख जाति से देह उत्पन्न होता है । जो उस देह में अपनापन मानता है और उस देह के माँ-बाप को अपना माँ-बाप मानता है, वह मूर्ख कहलाता है, और उसे पशु जैसा जानें । चौरासी लाख योनियों में अपनी जो माताएँ-बहनें, लड़कियाँ और स्त्रियाँ हैं, वे पतिव्रता का धर्म एक भी पालती नहीं हैं, इसलिए जो ऐसे सम्बन्ध को सत्य मानता है, उसको अहम्-ममत्व के संकल्प कैसे टलेंगे ? इस प्रकार की समझ के बिना जन्मभूमि की जो देश वासना है, वह टलनी बहुत कठिन है। जब तक देह को अपना रूप मानता है तब तक उसकी सभी समझ वृथा है, और जब तक वर्ण का या आश्रम का मान लेकर घूमता है तब तक उसमें साधुता आती नहीं है, इसलिए **देह तथा देह के सम्बन्धियों में अहम्-ममत्व का त्याग करके तथा अपनी आत्मा को ब्रह्मरूप मानकर और समस्त वासनाओं का त्याग करके स्वधर्म में रहता हुआ जो भगवान को भजता**

---

१. अचेतन देह और चेतन आत्मा का यथार्थ विवेक होने से अहंममता टलती है, अर्थात् सत्पुरुष के प्रसंग से देह और आत्मा का स्वरूप पृथक्-पृथक् समझने के बाद चिद्रूप आत्मा में अहंता दृढ़ होती है जिससे देह में आत्मापन का अभिमान नाश होता है, अभिमान नाश होने से स्त्री, पुत्र और धनादिक दैहिक पदार्थों में जो ममता, उसका नाश होता है । बाद में सभी अहंममता के संकल्प का तत्काल लय (स्थिरता, शांति) हो जाता है । इतना साक्षात् उत्तर है उसका सुगमता से बोध होने के लिए विस्तार से दृष्टांत कहा गया है ।

२. चिपका ३. देह और आत्मा का अत्यंत पार्थक्य-भिन्नता सुचित करने हेतु यह उदाहरण है ।
४. कोट तो वह मैं हूँ और दर्जी तो ।

है, वह साधु कहलाता है । जिसमें ऐसी साधुता आयी, उसको तथा पुरुषोत्तम भगवान को कोई दूरी नहीं रहती है । दूसरा सब कुछ हो सकता है लेकिन ऐसी साधुता का आना तो बहुत ही कठिन है और 'ऐसा साधु तो मैं हूँ, क्योंकि मुझे वर्णाश्रम का लेशमात्र मान नहीं है ।' इस प्रकार श्रीजीमहाराज बोले, वह तो अपने भक्तों की शिक्षा के लिए है, ऐसा समझें और वे स्वयं तो साक्षात् पुरुषोत्तमनारायण हैं ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥४४॥

वचनामृत ४५ : 'साकार-निराकार का'

संवत्* १८७६ के माघ शुक्ल १० दशमी के दिन संध्या के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे चबूतरे पर दक्षिण की ओर मुखारविन्द किये विराजमान थे । उन्होंने श्वेत चद्दर ओढ़ी थी, सफेद खेस पहना था, सिर पर श्वेत पाग बाँधी थी और अपने मुखारविन्द के आगे मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब गोपालानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! कितने वेदान्ती ऐसा कहते हैं कि 'भगवान को आकार नहीं है और वैसे ही प्रतिपादन की श्रुतियों(१) को पढ़ते हैं । और नारद, शुक, सनकादिक कई भगवान के भक्त तो भगवान(२) के साकारपन(३) को प्रतिपादन करते हैं । तो इन दोनों में से कौन सच्चे है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''**जो भगवान पुरुषोत्तम हैं, वे तो सदा साकार ही हैं, महा तेजोमय मूर्ति हैं और अन्तर्यामीरूप से सर्वत्र पूर्ण ऐसा जो सच्चिदानन्द ब्रह्म है, वह तो मूर्तिमान ऐसे पुरुषोत्तम भगवान का तेज हैं ।** श्रुति(४) ने भी ऐसा कहा है कि 'उन भगवान ने माया के सामने देखा,'

*दि. २४-१-१८२०, सोमवार

१. ''**अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः**'' इत्यादि ।

२. ''**य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः**'' इत्यादि श्रुतियों द्वारा । ३. साकारत्व, साकारता ४. ''**स इक्षत**'' - ''**तदैक्षत**'' इत्यादि

और जब देखते हैं तब क्या उन्हें अकेली आंखे ही होती हैं ? हाथ-पैर भी होते हैं । इसलिए साकार रूप का प्रतिपादन हुआ । जैसे समग्र जल के जीवरूप[१] वरुण, वे अपने लोक में साकार हैं, तो भी जल निराकार कहलाता है, और जैसे अग्नि की ज्वाला निराकार कहलाती है, और उनके देवता जो अग्नि, वे अग्निलोक में साकार हैं, और जैसे समग्र धूप निराकार कहलाती है और सूर्य के मण्डल में जो सूर्यदेव हैं, वे साकार हैं, इस तरह सच्चिदानन्द जो ब्रह्म है वह निराकार है, और जो पुरुषोत्तम भगवान हैं, वे साकार हैं । **और सर्वत्र पूर्ण ऐसा जो सच्चिदानन्द ब्रह्म, वह पुरुषोत्तम भगवान का तेज है ।** कोई ऐसा कहेंगे कि श्रुति में ऐसा कहा है कि 'परमेश्वर तो कर-चरणादिक से रहित हैं और सर्वत्र पूर्ण हैं ।' तो श्रुति ने जो कर-चरणादिक का निषेध किया है, वह तो मायिक कर-चरणादिक का निषेध किया हैं । भगवान का आकार है वह तो दिव्य है, परन्तु मायिक नहीं है । और **अन्तर्यामीरूप से जीव-ईश्वर में व्यापक ऐसा जो पुरुषोत्तम भगवान का ब्रह्मरूप तेज, वह निराकार है,** तो भी जीव-ईश्वर सभी को उनके कर्मों के अनुसार यथायोग्यरूप से कर्म के फल देने में नियन्तापन[२] है है और साकार की तरह नियन्तारूप क्रिया को करते हैं, **इसलिए उस तेज को भी साकार जैसा समझें ।** इस प्रकार भगवान पुरुषोत्तम तो सदा साकार ही हैं, किन्तु निराकार नहीं हैं और जो निराकार कहतै हैं, वे तो समझते नहीं हैं ।''

|| इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ||४५||

वचनामृत ४६ : 'आकाश की उत्पत्ति और लय का'

संवत्* १८७६ के माघ शुक्ल ११ एकादशी के दिन संध्या समय श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के समीप चबूतरे पर दक्षिण की ओर मुखारविन्द किये विराजमान

*दि. २५-१-१८२०, मंगलवार

१. जल के अधिष्ठाता देव, आधाररूप २. नियन्तृत्व, नियमन करेने का अधिकार या सामर्थ्य ।

थे। उन्होंने श्वेत खेस पहना था, सफेद चद्दर ओढ़ी थी, सिर पर श्वेत पाग बाँधी थी और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि की सभा तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

उस समय भट्ट माहेश्वर[१] नामक वेदान्ती ब्राह्मण था, उसने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि "समाधि में सब[२] लीन हो जाता है तब आकाश किस प्रकार से लीन होता है ?" फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "आकाश का रूप हम अच्छी तरह से करते हैं, उसे आप सभी सावधान होकर सुनिये। आकाश[३] तो अवकाश को कहते है और जो-जो पदार्थ रहते हैं, वे अवकाश में ही रहते हैं और उन पदार्थों में भी आकाश व्याप्त होकर रहता है। **ऐसा कोई पदार्थ नहीं है कि जिसमें आकाश न हों;** क्योंकि, पृथ्वी का एक रजकण अतिसूक्ष्म हो, उस में भी आकाश है और उस एक रजकण के करोड़ों-करोड़ो टुकड़े किये जाये तो भी उनमें आकाश है, इसलिए आकाश की दृष्टि से जब देखा जाये तब पृथ्वी आदिक चार भूत नहीं दिखाई देते, अकेला आकाश ही दिखाई देता है। वह आकाश सभी का आधार है और स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण; ये जो तीन शरीर हैं, वे आकाश में हैं और यह ब्रह्माण्ड भी आकाश में रहता है। और ब्रह्माण्ड का कारण जो प्रकृति तथा पुरुष हैं वे भी आकाश में हैं। ऐसा जो आकाश, वह प्रकृतिपुरुष और उनका कार्य पिण्ड-ब्रह्माण्ड उन सभी के भीतर भी रहा है तथा सभी का आधार होकर बाहर भी रहता हैं। ऐसा जो यह आकाश है, वह तो सुषुप्ति में अथवा समाधि में लीन नहीं होता है। कोई कहेगा कि 'आकाशादिक पञ्चभूत तो तमोगुण से उत्पन्न हुए हैं, तो आकाश को पुरुष तथा प्रकृति का आधार कैसे कह सकते हैं ? और सर्व में व्यापक कैसे कहा जाय ?' तो उसका उत्तर यह है कि प्रकृति में यदि अवकाश रूप

१. राजकोट निवासी २. देह आदि समग्र विश्व। ३. आकाश दो प्रकार का है - एक भौतिक-आकाश और दूसरा महाकाश, महाकाश को योगी चिदाकाश कहते हैं। उनके स्वरूप का निरूपण करने हेतु समाधि में चिदाकाश का लय न होने का द्योतित करने के साथ भूताकाश का संकोचरूप लय कहने योग्य उत्तर देते है।

आकाश न हो तो, जैसे वृक्ष में से फल-पुष्पादिक बाहर निकलते हैं और जैसे गाय के पेट में से बछड़ा बहार निकलता है, उसी तरह प्रकृति में से महत्तत्व निकलता है, वह कैसे निकलेगा ? इसलिए, प्रकृति में आकाश रहा है और महत्तत्व में से अहंकार निकलता है, इसलिए महत्तत्व में आकाश रहा है । अहंकार में से तीन गुण निकलते हैं, इसलिए अहंकार में आकाश रहा है । तमोगुण में से आकाश आदिक पञ्चभूत निकलते हैं, इसलिए तमोगुण में भी आकाश रहा है । तमोगुण में से जो आकाश निकलता है, वह आकाश तो तमोगुण का कार्य है और विकारवान है, और सभी का आधार जो आकाश है वह निर्विकारी है और अनादि है । ऐसा **सर्वाधार जो आकाश है, उस आकाश को ब्रह्म कहते हैं, चिदाकाश कहते हैं ।** उस आकाश में पुरुष तथा प्रकृति संकोच अवस्था को और विकास अवस्था को प्राप्त होते हैं । वह कैसे ? तो जब पुरुष प्रकृति के सामने देखता है तब जैसे स्त्री-पुरुष से संतान की उत्पत्ति होती है, वैसे पुरुष जो पति तथा प्रकृतिरूप जो स्त्री उनसे महत्तत्वादिक संतान उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार जो यह प्रकृति तो चौबीस तत्त्वरूप तथा पिण्ड-ब्रह्माण्डरूप होती है; यह प्रकृति की विकास अवस्था है । जितने प्रकृति के कार्य हैं, उनमें पुरुष अपनी शक्ति से व्यापकरूप से रहता है; यह पुरुष की विकास अवस्था है । जब कालक्रम से प्रकृति का सभी कार्य नष्ट हो जाते हैं और प्रकृति भी पुरुष के अंग में लीन-सी हो रहती है; यह प्रकृति की संकोच अवस्था है । और पुरुष भी प्रकृति के सभी कार्य नष्ट हो गए तब अपने स्वरूप में रहता है, यह पुरुष की संकोच अवस्था है । जैसे कछुआ जब विकास को प्राप्त होता है तब अपने समस्त अंगो को बाहर निकालता है और जब संकोच को प्राप्त होता है तब अपने सभी अंगो को समेट लेता है, और रुंड़-मुंड[१] हो जाता है, उसी तरह पुरुष-प्रकृति की संकोच-विकास अवस्था है । उन प्रकृति तथा प्रकृति के कार्यो में अन्वय-

१. कबंध, अवयव रहित ।

व्यतिरेकपना पुरुष का ही है, परन्तु सभी का आधार ऐसा जो चिदाकाश है, उसका नहीं है। क्योंकि, जो सर्वाधार हो, वह किससे व्यतिरिक्त हो सकता? वह तो सदा सब में रहता ही है। और यह जो ब्रह्माण्ड है, उसके चारों ओर लोकालोक पर्वत है, जो गढ़ के जैसे रहा है। उस लोकालोक से बाहर तो अलोक है, और उस अलोक से पर सात आवरण हैं, और उनसे पर अकेला अंधेरा है और उस अंधेरे से पर प्रकाश है, उस प्रकाश को चिदाकाश कहते हैं। उसी तरह ऊँचाई भी ब्रह्मलोक तक कहलाती है, और उसके उपर सात आवरण हैं, और उन आवरणों के पार अंधकार है, और अंधकार के पार प्रकाश है, उन प्रकाश को चिदाकाश कहते हैं। इसी प्रकार नीचे भी सात पाताल तक कहलाते हैं, उनसे नीचे सात आवरण हैं और उनसे नीचे अंधकार है, उनसे नीचे प्रकाश है, उन प्रकाश को चिदाकाश कहते हैं। **इसी तरह ब्रह्माण्ड के चारों ओर चिदाकाश है और ब्रह्माण्ड के भीतर भी है।** ऐसा जो सर्वाधार आकाश है, उनके आकार में जिसकी दृष्टि रहती हो, उसे दहरविद्या[१] कहते हैं और अक्षिविद्या आदिक बहुत प्रकार की ब्रह्मविद्याएँ कही हैं, उन में से यह भी एक ब्रह्मविद्या है। **यह जो चिदाकाश है, वह अतिप्रकाशवान है और वह चिदाकाश अनादि है और उसके उत्पत्ति-विनाश नहीं हैं।** और जिस आकाश की उत्पत्ति तथा विनाश कहे हैं वह आकाश तो तमोगुण का कार्य है और अंधकार रूप[२] है, उसकी लीनता होती है, परन्तु सभी का आधार ऐसा जो चिदाकाश है, उसकी तो लीनता नहीं होती है। इस प्रकार[३] आपके प्रश्न का उत्तर किया; अब उसमें किसी को शंका हो तो पूछिए।'' तब वह वेदान्ती

१. छान्दोग्योपनिद् में २. तमोगुण में से उत्पन्न हुआ है, इसलिए अथवा नीलवर्ण है, इसलिए। ३. समाधि में भगवान की मूर्ति में मन, प्राण और इन्द्रियों को प्रकाश देनेवाली जीव की वृत्तियाँ प्रतिलोमरूप जब रहती है तब समाधिस्थ पुरूष का मन इन्द्रियों का प्रतिलोमपूर्वक आकर्षण भगवान की मूर्ति में तत्काल हो जाता है, उस समय में ही वृत्तियों को व्यापने हेतु स्थानभूत नाड़ियों का आकर्षण होता है, बाद में नाड़ियों के छिद्रों में रहा हुआ आकाश भी सभी नाड़ियों में से संकोच पाता है, उस समय में समाधिस्थ पुरुष का देह काष्टवत जड़ होता है। ऐसी आकाश की जो संकोचावस्था उसे लय कहते है, लेकिन आकाश का स्वरूप से नाश नहीं होता है।

ब्राह्मण तथा समस्त हरिभक्त बोले कि ''अब किसी को लेशमात्र संशय नहीं है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥४६॥

वचनामृत ४७ : 'चार प्रकार की निष्ठावाले के लक्षण का'

संवत्* १८७६ के माघ शुक्ल १२ द्वादशी के दिन प्रातःकाल स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीम के पैड़ नीचे चबूतरा के मध्यभाग में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज दाहिने हाथ से चुटकी बजाकर बोले कि ''सभी सावधान होकर सुनिये, एक बात कहते हैं । यह बात तो स्थूल है, फिर भी पूरा ध्यान(१) देकर सुनेंगे तो समझ में आयेगी, अन्यथा नहीं समझ पायेंगे ।' तब सभी हरिभक्त बोले कि ''हे महाराज ! कहिए ।'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''परमेश्वर के भक्त होते हैं, उनमें किसी को धर्मनिष्ठा प्रधान रहती है, और किसी को आत्मनिष्ठा प्रधान रहती है, किसी को वैराग्यनिष्ठा प्रधान रहती है, और किसी को भक्तिनिष्ठा प्रधान रहती है; तथा गौणरूप से तो ये सभी अंग समस्त हरिभक्तों में रहते हैं । अब जिसे **भागवत धर्मनिष्ठा** प्रधान हो, वह तो अहिंसा, ब्रह्मचर्यादिकरूप जो अपना वर्णाश्रम सम्बन्धी सदाचार, उससे युक्त होकर निर्दम्भरूप से भगवान और भगवन के भक्तों की सेवा-चाकरी करने में प्रीति युक्त रहता है । उस भक्त को भगवान के मन्दिर बनाने में तथा भगवान के लिए बाग-बगीचे बनाने में रुचि रहती है । भगवान को नाना प्रकार के नैवेद्य अर्पण करने में रुचि रहती है और भगवान के मन्दिर में तथा संतो के स्थानक में लीपने-पोतने तथा झाड़ने में रुचि(२) रहती है । वह भगवान की

*दि. २६-१-१८२०, बुधवार

१. ध्यानपूर्वक, स्वस्थ होकर, एकाग्र होकर २. लगाव, झुकाव

श्रवण-कीर्तनादिक जो भक्ति है, उसे निर्दम्भता से करता है। उस धर्मनिष्ठावाले भक्त को भागवतधर्म से युक्त ऐसे जो शास्त्र, उनके श्रवण-कीर्तनादिक में अतिशय रुचि रहती है। जिसे **आत्मनिष्ठा** हो, वह तो तीन देह और तीन अवस्था से पर और सत्तारूप ऐसी जो अपनी आत्मा, उसी रूप में निरन्तर रहता है। अपने इष्टदेव ऐसे जो प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण परमात्मा, उनको सभी से पर और अतिशुद्ध स्वरूप और सदा दिव्य साकार मूर्ति समझता है और वह अपनी आत्मा तथा परमात्मा, उनके शुद्ध स्वरूप को प्रतिपादन करनेवाली वार्ता को स्वयं करता रहता है, दूसरों से सुनता है, उसी प्रकार के शास्त्रों में प्रीति से युक्त रहता है, और स्वयं को आत्मसत्तारूप रहने में विक्षेप आये तो उसे सहन न कर पाये, ऐसी प्रकृतिवाला होता है। और जिसे **वैराग्यनिष्ठा** प्रधान रहती है, उसे तो एक भगवान की मूर्ति के सिवा सभी मायिक पदार्थमात्र में निरन्तर अरुचि रहती है। असत्यरूप समझकर स्वयं ने मलवत् त्याग किये जो गृह-कुटुम्बी आदिक पदार्थ, उनकी निरन्तर विस्मृति रहती है। वह भक्त तो भगवान के जो त्यागी भक्त, उनके ही समागम को करता है, और भगवान की भक्ति करता है। वह भी अपने त्याग में विरोध न आये ऐसे करता है, और त्याग है प्रधानरूप जिसमें ऐसी वार्ता को स्वयं करता है। त्याग का प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र में रुचिवाला होता है। अपने त्याग में विरोध कर रहे जो स्वादिष्ट भोजन और उत्तम वस्त्रादिक पञ्चविषय सम्बन्धी मायिक पदार्थमात्र को प्राप्त करने में उसकी अतिशय अरुचि रहती है। जिसे **भक्तिनिष्ठा** प्रधान रहती है, उसे तो एक भगवान के स्वरूप में ही अतिशय दृढ़ प्रीति रहती है, और उन भगवान के स्वरूप से भिन्न अन्य ऐसे जो मायिक पदार्थ; उनमें अपने मन की वृत्ति को नहीं लगा पाता। उसे प्रेमपूर्वक भगवान को वस्त्र-अलंकार धारण कराने में और भगवान के जो मनुष्य चरित्र, उनके श्रवण में उस भक्त को अतिशय रुचि रहती है तथा भगवान की मूर्ति का निरूपण करनेवाले जो शास्त्र हैं, उन में अतिशय रुचि रहती है। जिस भक्त में भगवान के प्रति प्रेम दिखाई दे उस भक्त में ही उसे प्रीति होती है। और उनके[१] सिवा तो अपने

१. भगवान तथा भक्त

पुत्रादिक में भी कभी भी प्रीति नहीं होती है और उस भक्त की भगवान सम्बन्धी क्रिया में ही निरन्तर प्रवृत्ति रहती है । इस प्रकार ये चार निष्ठावाले भक्त के लक्षण की वार्ता को विचार करके जिसे जैसा अंग हो वे वैसा कहिए ।'' यह वार्ता तो दपर्ण तुल्य है, तो जिसका जैसा अंग है उसे वैसा दिखाई देता है । जो भगवान के भक्त हो, वे तो बिना अंग[१] के नहीं होते, किन्तु जो अपने अंग को जानता नहीं है, इसलिए उसे अपने अंग की दृढ़ता नहीं हो पाती। जब तक अपने अंग की दृढ़ता न हुई हो, तब तक जैसी बात होती है वैसा उसका अंग व्यभिचरित[२] हो जाता है; इसलिए इस वार्ता का विचार करके अपने-अपने अंग की दृढ़ता करीए और जिसका जैसा अंग हो, वे वैसा बतायें । फिर सभी हरिभक्त ने जिसका जैसा अंग था वैसा बताया। फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिनका एक समान अंग हो, वे उठकर खड़े हो जाइए । तब जिसका-जिसका एक समान अंग था, वे सब खड़े हो गए। फिर श्रीजीमहाराज ने उन सभी को पुनः बैठाया ।

फिर नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि ''इन चारों अंगवाले को अपने-अपने अंग में कोई गुण-दोष है या नहीं है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''गुण-दोष है, उसे कहते हैं उसे सुनिये, इन चारों अंगवाले जो भक्त हैं, उनके प्रथम लक्षण हमने जो कहे हैं, उनके अनुसार जो रहते हैं, यह तो उनमें गुण है और उस तरह जब नहीं रह पाते हैं, उतना उनमें दोष है ।''

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''इन चारों निष्ठावालों में कोई अधिक न्यून है या वे चारों समान है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जब तक एक-एक निष्ठा में रहते हैं तब तक तो ये चारों समान हैं और जब ये चारों निष्ठाएँ एक में रहतीं हों तब वह सर्वसे अधिक है । और **जब ये चारों निष्ठाएँ एक में रहती है तब उसी को परम भागवत कहते हैं और उसको ही एकान्तिक भक्त कहते हैं ।''**

।। इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ।।४७।।

१. प्रधान धर्म या लक्षण २. अन्य गामी

वचनामृत ४८ : 'चार प्रकार के कुसंगी का'

संवत्* १८७६ के माघ शुक्ल १३ त्रयोदशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीम के वृक्ष के नीचे चबूतरा पर पलंग पर पश्चिमाभिमुख मुखारविन्द किये सन्ध्या समय विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और अपने मुखारविन्द के सामने दो मशालें जल रही थीं और श्रीवासुदेवनारायण की संध्या आरती तथा नारायण धुन हो रही ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि "सभी सावधान होकर सुनिये, एक वार्ता करते हैं ।" तब सभी मुनि तथा हरिभक्त बोले कि "हे महाराज ! कहिए" फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "भगवान के जो भक्त हों, उन्हें प्रतिदिन भगवान की पूजा करके एवं स्तुति करके भगवान के पास यह माँगना है कि 'हे महाराज! हे स्वामिन् ! हे कृपासिन्धो ! हे शरणागत-प्रतिपालक ! कुसंगी से मेरी रक्षा कीजिए ।' वे कुसंगी चार प्रकार के हैं:- एक कुडापंथी, दूसरे शक्तिपंथी, तीसरे शुष्क वेदान्ती और चौथे नास्तिक । ये चार प्रकार के कुसंगी हैं, उनमें से यदि कुडापंथी का संग हो जाये तो, वर्तमान धर्म(१) से च्युत कराके भ्रष्ट करता है । यदि शक्तिपंथी का संग हो जाये तो, शराब-मांस खिलाकर स्वधर्म से भ्रष्ट करता है । यदि शुष्कवेदान्ती का संग हो जाये तो, भगवान का धाम तथा भगवान का जो सदा दिव्य आकार तथा भगवान के अवतारों की मूर्तियों के जो आकार, उन सभी को(२) मिथ्या कर के भगवान की भक्ति(३) -उपासना से भ्रष्ट करता है । यदि नास्तिक का संग हो जाये तो, कर्म को ही सच्चा दिखाकर परमेश्वर जो श्रीकृष्णभगवान हैं, उन्हें मिथ्या करके दिखाता है तथा अनादि सत्शास्त्र के मार्ग से भ्रष्ट करता है । इसलिए भगवान के पास

---

*दि. २७-१-१८२०, गुरुवार

१. ब्रह्मचर्यव्रतरूप । २. जीव, ईश्वर और माया आदि । ३. भक्तिरूप उपासना ।

मांगना है कि इन चार प्रकार के मनुष्यों का संग कभी भी न हों । फिर इस तरह प्रार्थना करें कि 'हे महाराज ! काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या और देहाभिमान इत्यादिक अन्तःशत्रुओं से रक्षा करिए और नित्य आपके भक्त का समागम दीजिए ।' इस तरह नित्य भगवान की प्रार्थना करें और उन कुसंगियों से तथा अन्तःशत्रुओं से निरन्तर डरते रहें ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा ॥४८॥

वचनामृत ४९ : 'अन्तर्दृष्टि का'

संवत्* १८७६ के माघ शुक्ल १४ चतुर्दशी के दिन संध्या समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीम के वृक्ष के नीचे चबूतरा पर पलंग पर विराजमान थे । अपने मुखारविन्द के सामने दो दीपक जल रहे थे, कण्ठ में पीले पुष्पों का हार पहना था, दोनों हाथों में पीले पुष्पों के गजरे धारण किये थे, सर्व श्वेत वस्त्र पहने थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''प्रश्न-उत्तर करिए ।'' तब ब्रह्मानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''भगवान में वृत्ति रखते हैं, उसे तो पूरे आग्रह से जोर लगाके(१) रखते है तब रहती है, और जगत के पदार्थ के सन्मुख तो अपने आप ही रहती है, उसका क्या कारण है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''भगवान के भक्त हों, उनकी वृत्ति तो भगवान के सिवा अन्यत्र रहती ही नहीं है । उन्हें तो यही फिक्र रहती है कि मुझे जगत के पदार्थ में वृत्ति रखने में तो बहुत कठिनाई होगी । इसलिए **परमेश्वर के भक्त को तो जगत के पदार्थ में वृत्ति रखना यही कठिन है** और जो जगत के जीव हैं, उन्हें तो परमेश्वर में वृत्ति रखना, यह बहुत कठिन है, इसलिए **जिसे परमेश्वर में वृत्ति नहीं रहती**

---

*दि. २८-१-१८२०, शुक्रवार

१. बल जबरन

है, वह परमेश्वर का भक्त नहीं है, किन्तु वह सत्संग में आता है, तो वह धीरे-धीरे सन्त की वार्ता को सुनते-सुनते परमेश्वर का भक्त हो जाएगा ।''

फिर ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि ''इस तरह से भगवान में वृत्ति रखने का कौन सा साधन है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''इसका साधन तो अन्तर्दृष्टि[१] है ? वह अन्तर्दृष्टि क्या है ? तो **जैसे स्वयं को प्रत्यक्ष भगवान मिले हैं, उनकी मूर्ति के सामने[२] देखते रहना, यह अन्तर्दृष्टि है । और उस मूर्ति के बिना षट्चक्र[३] दिखाई दे अथवा गोलोक-वैकुण्ठादिक भगवान के धाम दिखाई दे तो भी वह अन्तर्दृष्टि नहीं है ।** इसलिए भगवान की मूर्ति को हृदय में धारण करके उनके सामने देखते रहना अथवा बाहर भगवान की मूर्ति के सामने देखते रहना, उसका नाम अन्तर्दृष्टि है और उस मूर्ति के बिना अन्यत्र जहाँ-जहाँ वृत्ति रहती है, वे सभी बाह्यदृष्टि है ।'' और फिर श्रीजीमहाराज परमहंसों के प्रति बोले कि ''अब तो दो-दो मिलकर आमने-सामने प्रश्न-उत्तर करिए ।'' फिर बहुत देर तक परमहंसों ने परस्पर प्रश्न-उत्तर किए । उन्हें सुनते हुए श्रीजीमहाराज उनकी बुद्धि की परीक्षा करते थे ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥४९॥

वचनामृत ५० : 'कुशाग्र बुद्धिवाले का'

संवत्* १८७६ के माघ कृष्ण १ प्रतिपदा को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन की अटारी के बरामदे के आगे प्रातःकाल में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्तों की सभा बैठी थी ।

*दि. ३१-१-१८२०, सोमवार

१. दूसरे तप, व्रत, जप आदि साधन नहीं । **२.** मेषोन्मेष (उन्मेषित, खुले हुए नेत्र से) दीर्घकाल तक । **३.** गुदा, लिंग, नाभि, हृदय, कण्ठ और भृकुटी का मध्यभाग, इन छः स्थान में अनुक्रम से रहे हुए मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर अनाहत (आघात रहित) विशुद्धि और आज्ञा, इन छः चक्र में रहे हुए अनुक्रम से गणपति ब्रह्मा, विष्णु, शिव, जीवात्मा, और हंसात्मा यह छः देवता ।

तब श्रीजीमहाराज ने मुनियों के प्रति ऐसा पूछा कि ''जिसे कुशाग्र बुद्धि हो, उसे ब्रह्म[१] की प्राप्ति होती है,[२] वह कुशाग्र बुद्धि तो जो संसार के व्यवहार में बहुत जानता हो, उसकी कहलाती है या नहीं ? अथवा शास्त्र-पुराण के अर्थ को बहुत जानता हो, उसकी कहलाती है या नहीं ?'' फिर उसका उत्तर मुनि करने लगे, लेकिन हुआ नहीं । तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''कई तो व्यवहार में अति बुद्धिमान होते हैं, तो भी अपने कल्याण के लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं करते हैं तथा कई शास्त्र, पुराण, इतिहास के अर्थ को अच्छी तरह से जानते हैं, तो भी अपने कल्याण के लिए कुछ भी जतन नहीं करते है; इसलिए उन्हें कुशाग्र बुद्धिवाले न जानें, उन्हें तो स्थूल बुद्धिवाले जानें । **जो कल्याण के लिए प्रयत्न करते हैं, और उनकी बुद्धि थोड़ी है तो भी वे कुशाग्र बुद्धिवाले हैं ।** जो जगत-व्यवहार की ओर सावधान होकर जुटा हुआ है और उसकी बुद्धि अति सूक्ष्म है, तो भी वह स्थूल बुद्धिवाला है । इस पर भगवद्गीता का एक श्लोक है कि

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥[३]

इस श्लोक का यह अर्थ है कि भगवान का भजन करने में तो सभी जगत के जीवों की बुद्धि रात्रि की तरह अंधकार से युक्त रहती है, अर्थात् भगवान का भजन नहीं करते हैं; और जो भगवान के भक्त हैं, वे तो उन भगवान के भजन में जागृत हुए हैं, अर्थात् निरन्तर भगवान का भजन करते हुए रहते हैं । शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ये जो पञ्चविषय हैं, उनमें जीवमात्र की बुद्धि जागृत हुई रहती है, अर्थात् विषय को भोगते हुए ही रहते हैं । जो भगवान के भक्त हैं, उनकी बुद्धि तो उन विषयों के भोग में अंधकार से युक्त रहती है, अर्थात् उन विषयों को भोगते नहीं हैं, इसलिए इस तरह से

---

१. परब्रह्म २. इस तरह ''**दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या, सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः**'' इत्यादि श्रुति-स्मृतियाँ में कहा है । ३. गीता. २/२९

जो अपने कल्याण के लिए सावधान होकर रहते हैं, वे ही कुशाग्र बुद्धिवाले हैं, और उनके अलावा तो सभी मूर्ख हैं ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥५०॥

वचनामृत ५१ : 'हीरे से हीरे का छेदन होने का'

संवत्* १८७६ के माघ कृष्ण २ द्वितीया के दिन रात्रि के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने सफेद सुरवाल पहना था, सफेद अंगरखा पहना था, सिर पर सफेद पाग बाँधी थी और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''कुछ प्रश्न पूछिए ।'' तब पूर्णानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''दस इन्द्रियाँ हैं, वे तो रजोगुण की हैं और चार अन्तःकरण हैं, वे तो सत्त्वगुण के हैं, इसलिए ये सभी इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण, वे तो मायिक हैं और भगवान तो माया से पर हैं, उनका मायिक अन्तःकरण से कैसे निश्चय हो सकता है ? और मायिक ऐसी जो चक्षु आदिक इन्द्रियाँ, उनसे भगवान कैसे देखने में आते हैं[१] ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''मायिक वस्तु से मायिक पदार्थ जानने में आता है; इसलिए मायिक जो अन्तःकरण तथा इन्द्रियाँ, उनसे यदि भगवान जानने में आये, तो वे भगवान भी मायिक ठहरे, इस तरह का आपका प्रश्न है ?'' फिर पूर्णानन्द स्वामी तथा सभी मुनियों ने कहा कि ''यही प्रश्न है, जिसे हे महाराज ! आपने पुष्ट कर दिया ।'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''इसका तो उत्तर यह है कि पचास कोटि योजन पृथ्वी की पीठ है, उस पृथ्वी पर घटपटादिक अनेक पदार्थ हैं । उन सभी पदार्थों में यह पृथ्वी रहती है तथा अपने स्वरूप से भिन्न भी रहती है । जब पृथ्वी की

*दि. १-२-१८२०, मंगलवार

१. दृष्टिगोचर हो सकते हैं ।

दृष्टि से देखते हैं, तब इन सभी पदार्थ के रूप में पृथ्वी हुई है और पृथ्वी के सिवा दूसरा कुछ पदार्थ नहीं है। वह पृथ्वी जल के एक अंश से उत्पन्न हुई है और जल तो पृथ्वी के नीचे भी है, पास में भी है, ऊपर भी है, तथा पृथ्वी के मध्य में भी जल सर्वत्र व्याप्त होकर रहता है, इसलिए जल की दृष्टि से देखा जाये तो पृथ्वी नहीं है, अकेला जल ही है। वह जल भी तेज के एक अंश से हुआ है, इसलिए तेज की दृष्टि से देखा जाये तो जल नहीं है, अकेला तेज ही है। वह तेज भी वायु के एक अंश से हुआ है, इसलिए उस वायु की दृष्टि से देखा जाये तो तेज नहीं है, अकेला वायु ही है। वह वायु भी आकाश के एक अंश से हुआ है, इसलिए यदि आकाश की दृष्टि से देखा जाये तो वायु आदिक जो चार भूत तथा उनका कार्य जो पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड, वे कुछ भासित[१] ही नहीं होता, अकेला आकाश ही सर्वत्र दिखाई देता है। वह आकाश भी तामसाहंकार के एक अंश में से उत्पन्न हुआ है, वह तामसाहंकार, राजसाहंकार, सात्त्विकाहंकार तथा भूत, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और देवता, ये सभी महत्तत्त्व के एक अंश में से उत्पन्न हुए हैं; इसलिए महत्तत्त्व की दृष्टि से देखा जाय तो तीन प्रकार का अहंकार तथा भूत, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, देवता ये सभी नहीं हैं, अकेला महत्तत्त्व ही है। वह महत्तत्त्व भी प्रधान-प्रकृति के एक अंश में से उत्पन्न हुआ है, इसलिए उस प्रकृति की दृष्टि से देखा जाय तो महत्तत्त्व नहीं है, अकेली वह प्रकृति ही है। वह प्रकृति भी प्रलयकाल में पुरुष के एक अंश में लीन हो जाती है और पुनः सृष्टि के समय एक अंश में से उत्पन्न होती है, इसलिए पुरुष की दृष्टि से देखा जाय तो वह प्रकृति नहीं है, अकेला पुरुष ही है। ऐसे अनन्तकोटि पुरुष हैं, वे महामाया के एक अंश में से उत्पन्न होते हैं, इसलिए इस महामाया की दृष्टि से देखा जाय तो वह पुरुष नहीं है, अकेली महामाया ही है। यह महामाया भी महापुरुष के एक अंश में से उत्पन्न होती है, इसलिए उस महापुरुष की दृष्टि से देखा

१. दिखता

जाय तो यह महामाया नहीं है, अकेला महापुरुष ही है । और यह महापुरुष भी पुरुषोत्तम भगवान का धाम जो अक्षर, उनके एक देश में से उत्पन्न होता है, इसलिए उन अक्षर की दृष्टि से देखा जाय तो ये महापुरुषादिक सभी नहीं है, एक अक्षर ही है । और उन अक्षर से पर अक्षरातीत ऐसे जो पुरुषोत्तम भगवान, वे हैं; उन सभी की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय, उनके कर्ता हैं और उन सभी के कारण हैं, और जो कारण होता है वह अपने कार्य में व्यापक रहता है तथा उनसे पृथक् भी रहता है, इसलिए उन सभी के कारण जो पुरुषोत्तम भगवान हैं, उनकी दृष्टि से देखा जाय तब उन पुरुषोत्तम भगवान के सिवा दूसरा कुछ दिखाई ही नहीं देता । **ऐसे जो भगवान हैं, वे ही कृपा करके जीवों के कल्याण के लिए पृथ्वी पर सभी मनुष्यों को प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं, तब जो जीव सन्त का समागम करके उन पुरुषोत्तम भगवान की ऐसी महिमा समझते हैं, तभी उनके इन्द्रियाँ-अन्तःकरण सभी पुरुषोत्तमरूप हो जाते हैं तब उनके द्वारा[१] उन भगवान का निश्चय होता है । जैसे हीरे से ही हीरे का छेदन होता है,** परन्तु दूसरे के द्वारा नहीं छेदा जाता; उसी तरह भगवान का निश्चय तो भगवान द्वारा ही होता है, और भगवान का दर्शन भी भगवान द्वारा ही होता है, परन्तु मायिक एसे जो इन्द्रियाँ-अन्तःकरण, उनके द्वारा नहीं होता है ।'' इस तरह वार्ता कहके श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहकर अपने निवास स्थान पर पधारे ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥५१॥

वचनामृत ५२ : 'चार शास्त्रों द्वारा भगवान को जानने का'

संवत्* १८७६ के माघ कृष्ण ३ तृतीया के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के अटारी के बरामदे में कथा[२] वाचन करवा रहे थे । उन्होंने

---

*दि. २-२-१८२०, बुधवार

१. पुरुषोत्तमरूप हुए इन्द्रिय-अन्तःकरण के द्वारा । २. मोक्षधर्म की ।

सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब उस कथा में ऐसा प्रसंग आया कि सांख्य, योग,[१] वेदान्त[२] तथा पञ्चरात्र – इन चार शास्त्रों द्वारा जो भगवान के स्वरूप को समझता है, वह पूर्ण ज्ञानी कहलाता है । तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! इन चार शास्त्रों द्वारा भगवान को कैसे जानें ? और इन चार शास्त्रों से जो भगवान को नहीं जानता है, उसमें कौन-सी न्यूनता[३] रहती है ? उसे कहिए ।'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जो सांख्यशास्त्र[४] है, वह भगवान को पच्चीसवाँ कहते हैं । जैसे चौबीस तत्त्वों भगवान के बिना कुछ भी करने में समर्थ नहीं होते हैं, उसी तरह जीव-ईश्वर भी भगवान के बिना कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं, इसलिए इन को भी चौबीस तत्त्वों के साथ ही गिनते हैं । जीव-ईश्वर सहित ऐसे जो चौबीस तत्त्व हैं, उन्हें क्षेत्र कहते हैं । और पच्चीसवें जो भगवान हैं, उन्हें क्षेत्रज्ञ कहते हैं । जो योगशास्त्र[५] हैं, वह भगवान को छब्बीसवाँ कहते हैं तथा मूर्तिमान कहते हैं, और जीव-ईश्वर को पच्चीसवाँ कहते हैं, चौबीस तत्त्वों को पृथक् कहते हैं, और 'उन तत्त्वों से अपनी आत्मा को पृथक् समझकर भगवान का ध्यान करें ', ऐसा कहते हैं । जो वेदान्तशास्त्र[६] हैं, वह भगवान को सर्वकारण, सर्वव्यापक, सर्वाधार, निर्गुण, अद्वैत, निरञ्जन तथा कर्ता होते हुए भी अकर्ता तथा प्राकृत विशेषणों से रहित तथा दिव्य विशेषणों से सहित; ऐसा कहते हैं । जो पञ्चरात्र[७] शास्त्र है, वह भगवान को ऐसा कहते हैं कि एक जो श्रीकृष्ण पुरुषोत्तमनारायण है, वह ही वासुदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न इन चतुर्व्यूहरूप में होते हैं और पृथ्वी पर अवतार का धारण करते हैं । जो

---

१. ईश्वर का कर्तृत्व स्वीकारते हुए सबीज सांख्य और योग ।

२. तत्त्व के द्वारा भगवत्स्वरूप का निरूपण करनेवाला शास्त्र, उत्तरमीमांसा अर्थात् ब्रह्मसूत्र ।

३. कमी ४. महाभारत शांतिपर्व : २६३/४२-४५

५. महर्षि पतंजलि रचित योगसूत्र – १/२४-२७

६. महर्षि व्यास रचित ब्रह्मसूत्र १/१/२, २२; १/३/८ – इत्यादि । ७. सात्वतसंहिता इत्यादि ।

उनकी नौं प्रकार की भक्ति को करते हैं, उनका कल्याण होता है ।' इस तरह से ये चार शास्त्र भगवान को कहते हैं, उन्हें यथार्थ समझता है तब वह पूर्ण ज्ञानी कहलाता है । यदि अन्य तीन शास्त्रों को छोड़कर एक सांख्यशास्त्र द्वारा ही भगवान के स्वरूप को समझता है, तो उसमें यह बाधा[१] आती है कि 'सांख्यशास्त्र में जीव-ईश्वर को तत्त्वों से अलग नहीं कहे हैं, तो जब तत्त्वों का निषेध करके तत्त्वों से अपनी जीवात्मा को पृथक् समझाता है तब पच्चीसवीं अपनी जीवात्मा समझ में आती है, परन्तु भगवान नहीं समझे जाते हैं ।' यदि अकेले योगशास्त्र द्वारा ही भगवान के स्वरूप को समझा जाय, तो यह दोष आता है कि 'योगशास्त्र ने भगवान को मूर्तिमान कहे हैं, उन्हें परिच्छिन्न[२] समझता हैं, परन्तु सर्वान्तर्यामी और परिपूर्ण ऐसे नहीं समझता हैं ।' यदि एक वेदान्तशास्त्र द्वारा ही भगवान के स्वरूप को समझता है तो यह दोष आता है कि 'भगवान को जो सर्वकारण, सर्वव्यापक और निर्गुण कहे हैं, उन्हें निराकार समझता है, लेकिन प्राकृत कर-चरणादिक से रहित और दिव्य अवयव सहित भगवान का ऐसा जो सनातन आकार है उसे नहीं समझता है ।' यदि अकेले पञ्चरात्र शास्त्र द्वारा ही भगवान के स्वरूप को समझा जाय तो ऐसा दोष आता है कि 'जो भगवान के अवतारों के प्रति भक्ति कही गई है, उसमें मनुष्यभाव आता है तथा एकदेशस्थपना[३] की समझ आ जाती है, लेकिन सर्वान्तर्यामीपन[४] तथा परिपूर्णपन[५] समझ में नहीं आता है ।' इसलिए इन सभी शास्त्रों के द्वारा यदि भगवान को समझा न जाये तो ऐसे दोष आते हैं, और यदि इन सभी शास्त्रों द्वारा समझा जाय तो जो एक-एक शास्त्र के ज्ञान से दोष आता है वह दूसरे शास्त्र के ज्ञान से टल जाता[६] है; इसलिए इन चारों शास्त्रों द्वारा जो समझता है, वह परिपूर्ण ज्ञानी कहलाता है । और यदि इन

१. विरोधाभास, त्रुटी, कमी २. केवल मूर्तिरूप ही, सर्वव्यापक नहीं ।
३. एकदेशस्थभाव, एक ही देश-स्थल में रहने योग्य - अव्यापकत्व ।
४. अन्तर्यामित्व, अन्तर्यामी का भाव-धर्म ५. परिपूर्णता ६. निवृत्त हो जाते हैं ।

चार में से एक को छोड़ दे तो पौन ज्ञानी कहलाता हैं, दो को छोड़ दे तो आधा ज्ञानी कहलाता हैं, तीन को छोड़ दे तो पाव ज्ञानी कहलाता है और चारों को छोड़कर **जो अपने मन की कल्पना से चाहे वैसा शास्त्र को समझकर वर्ताव करता है, और यदि वह वेदान्ती हो, या उपासनावाला हो, वे दोनों ही भटक गए हैं, परन्तु कल्याण का मार्ग उन दोनों में से किसी को नहीं मिला है, इसलिए वह वेदान्ती तो दम्भी[१] ज्ञानी है और वह उपासनावाला भी दम्भी भक्त है ।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥५२॥

वचनामृत ५३ : 'बढ़ने-घटने का'

संवत्* १८७६ के महा माघ कृष्ण ९ नवमी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर पश्चिम की ओर मुखारविन्द किये विराजमान थे । उन्होंने श्वेत सुरवाल पहना था, श्वेत अंगरखा पहना था, जरीदार पल्लेवाला कुसुम्बी रंग का भारी शेला कमर पर बाँधा था, सिर पर जरीदार पल्लेवाला भारी रेंटा बाँधा था और उस पाग में पुष्पों के तुर्रे लटक रहे थे, कण्ठ में पुष्पों के हार पहने थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख सभी मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''कोई प्रश्न पूछिए ।'' तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''कोई तो सत्संग में रहकर दिन-प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त करता है और कोई तो सत्संग में रहकर दिन-प्रतिदिन घटता जाता है, इसका क्या कारण है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''**बड़े जो साधु हैं, उनका जो अवगुण लेता है वह घटता जाता है और उन साधु का जो गुण लेता है, उसका अंग वृद्धि को प्राप्त होता रहता है और उसे भगवान के प्रति**

*दि. ८-२-१८२०, मंगलवार

१. पाखण्डी

भक्ति भी वृद्धि को प्राप्त होती है; इसलिए उन साधु का अवगुण न लें, गुण ही ग्रहण करें । अवगुण तो तब लें, जब वह परमेश्वर की बाँधी हुई जो पञ्चवर्तमान की मर्यादा है, उन में से किसी वर्तमान का वह साधु भंग करता है तब उसका अवगुण लें, परन्तु किसी वर्तमान में फर्क न हो, और उसकी स्वाभाविक प्रकृति ठीक न दिखती हो, उसको देखकर तथा उस साधु में दूसरे बहुत गुण हो, उनका त्याग करके यदि अकेले अवगुण का ही ग्रहण करता है तो उसके ज्ञान-वैराग्यादिक जो शुभ गुण हैं, वे घट[१] जाते हैं । इसलिए वर्तमान में फर्क हो तो ही अवगुण लें परन्तु बेवजह भगवान के भक्त का अवगुण न लें, और यदि अवगुण नहीं लेता है तो उसे शुभ गुणों की दिन-प्रतिदिन वृद्धि होती रहती है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥५३॥

वचनामृत ५४ : 'भागवत धर्म के पोषण का - मोक्ष के द्वार का'

संवत्* १८७६ के माघ कृष्ण ११ एकादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया बिछवाकर विराजमान थे । उन्होंने श्वेत खेस पहना था और जरी के पल्लेवाला नीले रंग का रेंटा ओढ़ा था और आसमानी रंग का जरीदार रेशमी फेंटा सिर पर बाँधा था और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में जनक राजा तथा नौ योगेश्वर के संवाद से कहे जो भागवत धर्म,[२] उनका जो पोषण, वह कैसे होता है ? और फिर जीव के लिए मोक्ष का जो द्वार है, वह किस प्रकार से खुल सकता है ?'' फिर श्रीजीमहाराज

*दि. ९-२-१८२०, बुधवार   १. धीरे धीरे नष्ट हो जाते है ।

२. भगवान ने अपनी प्राप्ति हेतु कहे हुए श्रवण-कीर्तन आदि भक्तिरूप धर्म ।

बोले कि "**स्वधर्म, ज्ञान, वैराग्य और माहात्म्य ज्ञान के सहित जो भगवान की भक्ति, उनसे युक्त भगवान के ऐसे जो एकान्तिक साधु, उनके प्रसंग**[१] **से भागवत धर्म का पोषण होता है और फिर जीव को मोक्ष का जो द्वार है, वह भी ऐसे साधु के प्रसंग से खुला होता है ।** उसे कपिलदेव भगवान ने देवहूति के प्रति कहा है कि

प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः ।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ॥[२]

जैसा उस जीव को अपने सम्बन्धियों के प्रति दृढ़ प्रसंग[३] है, वैसा का वैसा ही प्रसंग यदि भगवान के एकान्तिक साधु में हो जाये, तो उस जीव के लिए मोक्ष का द्वार खुल जाता है ।"

फिर शुकमुनि ने पूछा कि "चाहे कैसा भी आपत्तिकाल आये, तथापि जो अपने धर्म से विचलित न होता हो, उसे कौन से लक्षण से पहचाना जाय?" फिर श्रीजीमहाराज बोले कि '**जिसे परमेश्वर के वचनों की सावधानी**[४] **रहती हो, और छोटा-बड़ा वचन का लोप न कर सकता हो, इस तरह का जिसका स्वभाव हो, उसे कैसा भी आपत्तिकाल आ जाये तो भी वह धर्म से चलित होता ही नहीं । इसलिए जिसे वचन में**[५] **दृढ़ता है, उसका ही धर्म दृढ़ रहता है और उसका ही सत्संग दृढ़ रहता है ।**"

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥५४॥

वचनामृत ५५ : 'भजन, स्मरण तथा वर्तमान की दृढ़ता का'

संवत्* १८७६ के माघ कृष्ण ११ एकादशी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवास स्थान में पूर्वीद्वार के कक्ष के बरामदे में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख सन्त तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

*दि. १०-२-१८२०, गुरुवार

१. समागम, सहवास २. भाग. ३/२५/२० ३. गाढ़ स्नेह ४. तत्परता ५. वचन पालन में ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि "प्रश्न-उत्तर करिए ।" तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि "जीव को भजन स्मरण की तथा वर्तमान की एक दृढ़ता क्यों रहती नहीं है ?" फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "यह तो अशुभ ऐसे जो देश, काल, क्रिया और संग उनके योग से नहीं रहती है । वह दृढ़ता भी तीन प्रकार की है; उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ । उनमें यदि उत्तम दृढ़ता हो, और देश, काल, क्रिया तथा संग वे यदि अति अनिष्ट हो जाये, तो उस उत्तम दृढ़ता को भी टाल देते हैं, तब मध्यम और कनिष्ठ दृढ़ता की तो क्या बात की जाय? और देश, काल, क्रिया तथा संग वे अति अनिष्ट हो जाये, और उनमें भी दृढ़ता जैसी है वैसी की वैसी बनी रहती है तो उसे पूर्व(१) का भारी बीजबल(२) है तथा भारी पुण्य है । और देश, काल, क्रिया तथा संग, अति पवित्र हैं, और उनमें भी यदि उनकी बुद्धि मलिन हो जाती है, तब तो उसे पूर्वजन्म का तथा इस जन्म का कोई बड़ा पाप है, वह बाधा डालता है अथवा भगवान के किसी बड़े भक्त का द्रोह हो गया हो, वह उसे सताता है; क्योंकि, देश, काल, क्रिया और संग शुभ हैं फिर भी उसका अन्तर(३) मलिन हो जाता है । इसलिए **यदि वह अब बड़े पुरुष की सेवा में सावधान होकर रहता है तो उसके पाप जलकर भस्म हो जाते हैं** और यदि अति पापी का संग हो जाये, तो पाप में वृद्धि होती है और कुछ सुकृत रहा हो, वह भी नष्ट हो जाता है । और मदिरापान करनेवाली जो वेश्यायें, उनके गले में हाथ डालकर बैठता है और फिर परमेश्वर का दोष निकालता है कि 'मेरा मन क्यों ठिकाने नहीं रखा,' उसे तो महामूर्ख जानें ।"

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥५५॥

वचनामृत ५६ : 'पोला(४) पत्थर का'

संवत्* १८७६ के माघ कृष्ण १२ द्वादशी के दिन संध्या के समय श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान

*दि. ११-२-१८२०, शुक्रवार

१. पूर्वजन्म २. पूर्व जन्म में किये भक्ति, सेवा, सत्संग के बलीष्ठ संस्कार। ३. हृदय ४. खोखला

थे। उन्होंने श्वेत खेस पहना था तथा जरीदार कुसुम्बी रेंटा ओढ़ा था, और सिर पर चारों ओर कुसुम्बी रंग के पल्ले का रेंटा बाँधा था और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और नारायण धुन करने के बाद मुनि झांझ-मृदंग लेकर कीर्तन गान कर रहे थे।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि "कीर्तन रखिए और थोड़ी देर तक प्रश्न-उत्तर करते हैं।" ऐसा कहकर फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "लीजिए, मैं प्रश्न पूछता हूँ कि श्रीकृष्ण भगवान ने गीता[१] में चार प्रकार के भक्त कहे हैं, उनमें ज्ञानी को अधिक कहा है; और चारों को भगवान के स्वरूप का निश्चय तो समान है, तब ज्ञानी तो कैसे विशेष[२] है ?" फिर इस प्रश्न का उत्तर मुनि करने लगे, परन्तु नहीं हो सका। तब श्रीजीमहाराज बोले कि "ज्ञानी है वह तो ब्रह्मस्वरूप से रहता है और भगवान की महिमा यथार्थरूप से जानता है, इसलिए इसे भगवान के स्वरूप के सिवा मन में दूसरी कोई कामना नहीं रहती है। दूसरे जो तीन प्रकार के भक्त हैं, उन्हें भगवान का निश्चय तो है, तब भी भगवान की महिमा यथार्थरूप से नहीं जानते हैं; इसलिए उन्हें भगवान के सिवा दूसरी कामना रह जाती है, इसलिए ज्ञानी के समान नहीं हो पाते। इसलिए, **भगवान के भक्त को भगवान के सिवा दूसरी किसी प्रकार की कामना रहती हो, तो यह बड़ी खोट है**। जिसे किसी तरह की वासना न हों और तीव्र वैराग्यवान हो, किन्तु यदि उस वैराग्य के योग से अहंकार से युक्त रहता है, तो यह भी उसमें बड़ी खोट है। अथवा अत्यन्त आत्मज्ञान का बल हो अथवा भगवान के प्रति दृढ़ भक्ति का बल हो, किन्तु उनके मान के योग

---

१. आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ !। तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते॥
अर्थ :- आर्त (ऐश्वर्य से भ्रष्ट हुआ हो और फिर से उसे पाने की इच्छावाला), जिज्ञासु (प्रकृति से विलक्षण आत्मस्वरूप को पाने की इच्छावाला), अर्थार्थी (ऐश्वर्य प्राप्त हुआ नहीं है, इसलिए उसे पाने की इच्छावाला), और ज्ञानी (आत्मस्वरूप स्वयं को भगवान का ही एक दास जानकर, भगवान को पाने की इच्छावाला और भगवान को ही परम प्राप्य माननेवाला) यह चार प्रकार के भक्त कहे गए है, उसमें निष्काम भक्त होने से ज्ञानी श्रेष्ठ है।

२. अधिक, एक भक्तित्वरूप गुण से श्रेष्ठता गीता में कही है, उसमें क्या कारण है ?

से यदि गरीब हरिभक्त के आगे झुका न जाय अथवा उनके आगे दीनवचन न बोला जाय, तो यह भी उसमें बड़ी खोट[१] है । इसी खोट के कारण उस हरिभक्त का अंग वृद्धि को प्राप्त नहीं होता है । जैसे संगतराश[२] कुआँ खोदता हो और यदि नीचे पत्थर पोला बोलता है तो संगतराश ऐसा कहता है कि 'पानी बहुत होगा,' और यदि ऊपर से खनकता हो और अन्दर से काटने पर अग्नि की चिंगारियाँ निकले, तब संगतराश ऐसा कहता है कि 'कुएँ में पानी होगा तो आधे मोट का अथवा पाव मोट[३] का होगा, परन्तु ज्यादा नहीं होगा;' **उसी तरह ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति, उनके मान में जो अक्कड़ रहता है, तो वह बड़ा तो कहलाता है, परन्तु जैसा आधे कोस का या पाव मोट का पानी हुआ ऐसा बड़ा होता है, परन्तु जैसे निर्मानी भक्त में बड़े गुन आते हैं वैसे बड़े गुन उसमें नहीं आते ।** इसलिए जिसे भगवान को प्रसन्न करने हो, वह ज्ञान, वैराग्य, भक्ति तथा दूसरे कोई श्रेष्ठ गुण, उनके अभिमान से अक्कड़ न हो जायें, तब उस पुरुष के हृदय में प्रकट प्रमाण ऐसे जो श्रीकृष्णनारायण, वे प्रसन्न होकर निवास करके रहते हैं ।''

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज ! ज्ञान, वैराग्य, भक्ति तथा दूसरे जो शुभ गुण हैं; उनके योग से मान आ जाये तो उस मान को किस उपाय से टाला जाय ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान के भक्त का माहात्म्य जानकर स्वयं देह से उन्हें नमस्कार करें तथा उनकी सेवा-चाकरी करें । यदि हृदय में मान का संकल्प हो जाये तो उसे पहचानें[४] और विचार का बल रखा जाये तो मान टल जाता है । **जिसे अतिशय प्रेमलक्षणा भक्ति हो, और उसी भक्ति से भगवान उसे वश रहते हों, और यदि उसी भक्ति का भक्त के हृदय में मान आता है, तब भी उसे अति खोट है ।** यदि आत्मज्ञान का मान हो अथवा वैराग्य का मान हो, परन्तु वह अभिमान तो देहात्मबुद्धि को ही दृढ़ कराता है, इसलिए जो **भगवान के भक्त हों, वे**

१. कमी, त्रुटी २. कुआँ खोदनेवाला

३. चरसा, कुएँ में से पानी निकालने के लिए चमड़े का बड़ा थैला । ४. जान लें

किसी भी प्रकार से अभिमान न रखें, यह ही भगवान को प्रसन्न करने का उपाय है । अन्तर्दृष्टिवाले जो भगवान के भक्त हैं, वे यदि जांच परख करके अपने हृदय की ओर देखते हैं तो जब थोड़ा सा भी मान आया होगा तब हृदय में रही जो भगवान की मूर्ति है, उनकी नजर कठोर दिखाई पड़ेगी, और जब निर्मानी भाव से रहता होगा, तब अपने हृदय में रही जो भगवान की मूर्ति, उनकी दृष्टि अति प्रसन्न दिखाई देती होगी । इसलिए जो भगवान का भक्त हो, वह विचार का बल रखकर किसी प्रकार का मान उदय न होने दे । यदि मान सहित ज्ञान, वैराग्य, भक्ति हो, तो जैसे सुवर्ण हो और उसमें मिलावट मिश्रित हो जाये, तब वह सोना पन्द्रह आने[१] का कहलाता है । उससे अधिक मिलावट मिश्रित हो जाये, तब बारह आने का कहलाता है । उससे ज्यादा मिलावट मिश्रित हो जाये, तब आठ आने का कहलाता है; उसी तरह उस भक्त के ज्ञान, वैराग्य, भक्ति में जैसे-जैसे अहंकार का मिश्रण मिलता जाता है, वैसे-वैसे वे तीनों कम होते जाते हैं; **इसलिए मान रहित जो ज्ञान, वैराग्य और भक्ति; वे तो सोलह आने[२] सोने जैसे हैं,** और जो मान सहित हों, वे ऊपर से तो बहुत शोभायमान करते हैं, परन्तु उसके अन्तर में अधिक बल नहीं होता । वहाँ दृष्टान्त है :- 'जैसे पचास कोटि योजन पृथ्वी, वह समुद्र, पर्वत तथा समस्त भूत-प्राणिमात्र; उनका आधार है, इसलिए बहुत बलवती दिखाई देती है । और उससे जल भी बहुत बलवान दिखाई देता है, जिस जल में पृथ्वी कंडे[३] की भांति तैरती है । जल से तेज में बहुत बल दिखाई देता है, तेज से वायु में बहुत बल दिखाई देता है । आकाश का तो कोई बल दिखता नहीं है, परन्तु आकाश सभी से बलवान हैं; क्योंकि, आकाश इन चारों का आधाररूप है ।' उसी तरह **मान रहित उस भक्त के जो ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति; वे आकाश जैसे बलवान हैं; इसलिए ऊपर से तो दिखाई नहीं देते परन्तु निर्मानी भक्त तो सभीसे श्रेष्ठ है ।** जैसे बालक[४] हो उसी समय मान का कोइ संकल्प नहीं होता है, उसी तरह ही **साधु को तो चाहे कितनी पूजा-प्रतिष्ठा होती हो, परन्तु बालक की तरह मान रहित रहें ।''**

१. अंश, कैरेट २. अंशवाले ३. उपला ४. बाल अवस्था

और फिर मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और प्राण तथा जागृत, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाएँ तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीन शरीर; इन सभीसे जीव का स्वरूप विलक्षण है, ऐसा सत्संग में सुनकर दृढ़ निश्चय किया है, फिर भी इन्द्रियाँ-अन्तःकरणादिक के साथ मिलकर सुखरूप ऐसा जो जीवात्मा है, वह परमात्मा का भजन-स्मरण करता हुआ संकल्प के योग से दुःखी क्यों हो जाता है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि[१] ''कितने तो सिद्ध होते हैं, कितने तो सर्वज्ञ[२] होते हैं और कितने तो देवता होते हैं; इत्यादिक अनन्त प्रकार की महत्ता[३] को प्राप्त होते हैं तथा परमपद को प्राप्त होते हैं । ये सभी भगवान की उपासना के बल से प्राप्त होते हैं, परन्तु **उपासना के बिना कोई भी बात[४] सिद्ध नहीं होती है ।** इसलिए शास्त्र से आत्मा-अनात्मा[५] के लक्षण[६] समझकर अथवा किसी बड़े सन्त के मुख से बात सुनकर समझता है कि मैं आत्मा-अनात्मा का विवेक[७] प्राप्त कर लूँ, यूँ ऐसे विवेक सम्पन्न नहीं होता है; वह तो उस **जीव को जितनी अपने इष्टदेव जो परमेश्वर, उनमें निष्ठा हो, उतना ही आत्मा-अनात्मा का विवेक होता है, परन्तु इष्टदेव के बल के बिना तो कोई साधन सिद्ध नहीं होते हैं ।** जिसे गोपियों के जैसी प्रेमलक्षणा भक्ति है, उसे तो सभी साधन सम्पूर्ण हुए हैं । जिसे ऐसा प्रेम न हो, उसे तो भगवान की महिमा समझनी है कि भगवान तो गोलोक, वैकुण्ठ, श्वेतद्वीप, ब्रह्ममहोल; उनके पति[८] हैं और मनुष्य जैसे दिखाई देते हैं, वह तो भक्त के सुख के लिए प्रतीत होते हैं । परन्तु उनकी जो मूर्ति है, वह तो गोलोकादिक जो अपने धाम हैं, उनमें एक-एक नखमें कोटि-कोटि सूर्यों के प्रकाश से युक्त दिखाई देती है[९] । मृत्युलोक में तो उन भगवान की मनुष्य सेवा करते हैं और दीपक करने पर उनके आगे

---

१. भगवान के माहात्म्यज्ञान से उपासना का बल बढ़ता है, उपासना का बल बढ़ने से ज्ञाननिष्ठा जो कि तीन देह से विलक्षण आत्मस्वरूप के विचाररूप है उसकी परिपक्वता होती हैं । उससे दैहिक समग्र दुःख का नाश होता हैं । इतना तात्पर्यार्थ है, उसे विवेचन करके कहते है ।

२. उत्पत्ति आदि को जाननेवाला । ३. बड़प्पन ४. साधन ५. देह और आत्मा ।

६. सप्रकारक भेद ७. सप्रकारक भेद ८. स्वामी ९. प्रतीत होती है ।

प्रकाश होता है, परन्तु वे तो सूर्य-चन्द्रादिक सभी को प्रकाश के दाता हैं। गोलोकादिक जो धाम हैं, उनमें तो राधिका-लक्ष्मी आदिक जो अपने भक्त हैं, उनके द्वारा निरन्तर होती है की सेवा जिनकी, वैसे वे भगवान हैं। जब ब्रह्माण्डों का प्रलय हो जाता है तब यह प्रगट भगवान हैं, वे ही एक रहते हैं और फिर सृष्टि रचना होने वक्त भी प्रकृतिपुरुष के द्वारा अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों को वे ही भगवान उत्पन्न करते हैं। इस तरह **भगवान की महिमा का विचार करना, यही आत्मा-अनात्मा के विवेक का कारण हैं।** जितनी उस भक्त को भगवान के माहात्म्य सहित, भगवान में निष्ठा है, उतना ही उस भक्त के हृदय में वैराग्य आता है; इसलिए **दूसरे साधनों के बल का त्याग करके अकेली भगवान की उपासना का बल रखें।** जो ऐसा भक्त होता है, वह तो ऐसा समझता है कि चाहे कैसा ही पापी हो, और अन्त समय यदि उसे **'स्वामिनारायण'** ऐसे नाम का उच्चारण हो जाये, तो वह सभी पापों से मुक्त होकर ब्रह्ममहोल में निवास करता है, तब जो उन भगवान का आश्रित है, वह उन भगवान के धाम को प्राप्त होता है, उसमें क्या संशय है ? इस तरह माहात्म्य समझता है। इसलिए जो भगवान का भक्त हो, वह भगवान की उपासना का बल सत्संग करके दिन-प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त करायें।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥५६॥

वचनामृत ५७ : 'मोक्ष के असाधारण कारण का'

संवत्* १८७६ की फाल्गुन शुक्ल २ द्वितीया के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में साधु के निवास स्थान पर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख साधु तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जो प्रश्न-उत्तर करना जानते हैं, वे एक-एक प्रश्न पूछें।'' फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज ! मोक्ष

*दि. १५-२-१८२०, मंगलवार

का असाधारण कारण क्या है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''**भगवान के स्वरूप का ज्ञान तथा भगवान का माहात्म्य जानना, ये दो मोक्ष के असाधारण हेतु हैं ।**''

तब पुनः मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''भगवान में जो स्नेह है, उसका क्या रूप(१) है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''स्नेह का रूप तो यह है कि **स्नेह में किसी भी प्रकार का विचार नहीं चाहिए ।** जब जिस गुण का विचार करके स्नेह किया जाये, वह तो जब अवगुण दिखाई दे तब उसका स्नेह टूट जाता है; इसलिए स्नेह तो जैसे हुआ हो वैसे का वैसा रहने दें, परन्तु विचार करके बार बार स्थापन-उत्थापन न करें। मूढ़ता(२) से भगवान में स्नेह करें। जो गुण का विचार करके स्नेह करता है, उस स्नेह का विश्वास नहीं रहता, इसलिए स्नेह तो जैसे देह के सम्बन्धियों के साथ है, वैसा भगवान में स्नेह करें। उस स्नेह को मूढ़पने(३) का स्नेह कहते हैं। और **भगवान का माहात्म्य समझकर जो स्नेह होता है, वह तो दूसरी ही(४) तरह का है, ऐसा जानें ।**''

फिर शिवानन्द स्वामी ने पूछा कि ''सत्संग में रहने की गरज़(५) है, फिर भी कोई अयोग्य स्वभाव है, वह क्यों नहीं टलता है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''जो स्वभाव सत्संग में अन्तराय(६) करता हो, उसके ऊपर जिसे अभाव नहीं आता है, तब तक उसे कहाँ सत्संग की पूरी गरज़ है ? उस स्वभाव को भी कहाँ पूरा शत्रु जाना है ? वहाँ दृष्टान्त है : 'जैसे कोई पुरुष अपना मित्र हो और उसी पुरुषने अपने भाई को मार डाला हो, तो फिर उसके साथ मित्रता नहीं रहती है और उसका सिर काटने को तैयार(७) हो जाता है; क्योंकि, मित्र की अपेक्षा भाई का सम्बन्ध अधिक है। उसी तरह यदि अपना स्वभाव वर्तमान में भंग कराके सत्संग से विमुख कराये ऐसा है और फिर भी उस पर

---

१. लक्षण २. किसी भी प्रकार के विचार रहित, केवल विश्वास ३. मूढ़ता ४. प्रतिदिन वृद्धि पाकर, सुदृढ़ होकर भगवान के मनुष्यचरित्र को देखकर भी कभी भी क्षीण न होनेवाला, इसलिए, साहजिक की अपेक्षा से उत्तम है। ५. अनिवार्य जरूरत, खप ६. अवरोध ७. तत्पर

वैरभाव नहीं आता है तथा उस स्वभाव पर रोष नहीं होता है, तब तो उसे सत्संग में पूरा स्नेह नहीं है। यदि जैसा स्नेह भाई में मनुष्य को है वैसा यदि सत्संग के प्रति स्नेह हो, तो अनिष्ट स्वभाव को तत्काल टाल देता है। क्योंकि, **जीव तो अति समर्थ है;** क्योंकि, मन और इन्द्रियाँ ये सभी तो क्षेत्र हैं और जीव तो इनका क्षेत्रज्ञ है, इसलिए जो करना चाहे, वह होता है।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥५७॥

वचनामृत ५८ : 'देह, कुसंग और पूर्व संस्कार का, बड़े को जाने वैसा होता है'

संवत्* १८७६ के फाल्गुन शुक्ल ५ पंचमी के दिन संध्या आरती के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में जो परमहंस का निवास है, वहाँ विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''प्रश्न करिए।'' तब मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! जब भजन-स्मरण करने के लिऐ बैठते हैं तब भगवान के भक्त के अन्तर में रजोगुण-तमोगुण के वेग(१) आते हैं, तब भजन-स्मरण का सुख नहीं आता है, तो इन गुणों के वेग कैसे टलते हैं ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''इन गुणों की प्रवृत्ति के कारण तो देह,(२) कुसंग तथा पूर्व संस्कार,(३) ये तीन हैं। उनमें देह के योग से जो गुण प्रवृत्त हुए हो, वे तो आत्मा-अनात्मा के विचार करने से टल जाते हैं। कुसंग के द्वारा प्रवृत्त हुए हो, वे(४) सन्त के संग से टलते हैं, और जो रजोगुण-तमोगुण के वेग इन दोनों से भी न टलते हों, वह तो किसी पूर्व के अनिष्ट संस्कार के योग से है, इसलिए उन्हें टलना बहुत कठिन है।''

---

*दि. १८-२-१८२०, शुक्रवार

१. राग, मोह इत्यादि २. देहाध्यास ३. पूर्वजन्म में किये हुए कर्म के संस्कार। ४. गुण

फिर आनन्दानन्द स्वामी ने पूछा कि ''पूर्व के संस्कार मलिन हों, वे कैसे टलते है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''**अतिशय जो महापुरुष हों, उनकी जिस के उपर प्रसन्नता हो जाये, उसके कैसे भी मलिन संस्कार हों, वे नष्ट हो जाते हैं । महापुरुष की प्रसन्नता हुई हो तो, रंक हो वह राजा हो जाता है और कैसे भी बुरे प्रारब्ध हों, तो शुभ हो जाते हैं और उस पर कैसा भी विघ्न आनेवाला हो, उसका नाश हो जाता हैं ।**''

पुनः आनन्दानन्द स्वामी ने पूछा कि ''कौनसा उपाय किया जाये तो महापुरुष प्रसन्न होते हैं ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''प्रथम तो बड़े सन्त के साथ निष्कपट भाव से रहें, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, आशा, तृष्णा, अहंकार और ईर्ष्या; इन सभी का त्याग करें और सन्त का गुलाम होकर रहें तथा अन्तर में मान टले हुए भाव से रहें, परन्तु देह से सभी को झुकता[१] रहे, तो उस पर बड़े सन्त प्रसन्न होते हैं ।''

फिर महानुभावानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज ! सत्संग में रहते हुए जितने अवगुण हैं, वे सभी नष्ट हो जायें और दिन-प्रतिदिन भगवान की भक्ति वृद्धि को प्राप्त होती रहे, इसका क्या उपाय है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''**महापुरुष का जैसे-जैसे गुण ग्रहण करता जाये, वैसे-वैसे उसकी भक्ति की वृद्धि होती रहती है ।** और अतिशय जो बड़े हो, उन्हें यदि अतिशय निष्कामी समझता हो, तो स्वयं कुत्ते जैसा कामी हो, तो निष्कामी हो जाता है । यदि महापुरुष में कामीपन का दोष ठहराता[२] है, तो कैसा भी निष्कामी हो तो भी अतिशय कामी हो जाता है । और महापुरुष में क्रोधी-लोभीपन ठहराता है तो स्वयं क्रोधी-लोभी हो जाता है । और **यदि बड़े पुरुष को अतिशय निष्कामी, निर्लोभी, निःस्वादी, निर्मानी, निःस्नेही समझता है, तो स्वयं भी इन सभी विकारों से रहित हो जाता है और पक्का हरिभक्त होता है ।** तो दृढ़ हरिभक्त का क्या लक्षण है ? तो उत्तम जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध; ये पञ्चविषय हैं, उनका जैसे दुःखदायक वस्तु का सहज

१. नमता २. आरोपित करता है ।

ही अभाव रहता है उसी तरह जिसे सहज ही अभाव रहता हो और एक परमेश्वर के स्वरूप में अचल निष्ठा रहती हो, उसे पक्का[१] हरिभक्त जानें । **ऐसा दृढ़ हरिभक्त होने का तो यह ही उपाय है कि परमेश्वर के दास का गुलाम होकर रहें और ऐसा समझें कि ये सभी भक्त बड़े हैं और मैं तो सभीसे न्यून[२] हूँ ।** ऐसा समझकर हरिभक्त का दासानुदास होकर रहे । इस तरह जो रहता है, उनके सभी विकार नष्ट हो जाते हैं और उसके दिन-प्रतिदिन ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदिक जो शुभ गुण हैं, वे वृद्धि को प्राप्त होते रहते हैं ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥५८॥

वचनामृत ५९ : 'असाधारण स्नेह का'

संवत्* १८७६ के फाल्गुन शुक्ल १४ चतुर्दशी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने श्वेत खेस पहना था तथा श्वेत चद्दर ओढ़ी थी, मस्तक पर हीर[३] के पल्ले युक्त रेशमी किनारीदार श्वेत धोती बाँधी थी, ललाट पर चन्दन की अर्चा विराजमान थी और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''प्रश्न-उत्तर करिए ।'' तब मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! भगवान के प्रति असाधारण प्रेम होने का क्या कारण है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''एक तो भगवान का विश्वास हो कि 'ये मुझे मिले हैं, वे निश्चित ही भगवान हैं' तथा आस्तिकता हो तथा भगवान के जो ऐश्वर्य हैं, उन्हें जानता हो कि 'ये भगवान हैं, वे ब्रह्ममहोल, गोलोक, श्वेतद्वीप इत्यादिक सभी धामों के पति हैं, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों के पति हैं, सभी के कर्ता हैं । पुरुष, काल, कर्म, माया, तीन गुण,

---

*दि. २७-२-१८२०, रविवार

१. दृढ़ २. धर्म-भक्ति, ज्ञान-वैराग्यादि सद्गुणों से ।

३. हीर=किसी कन्दमूल से बनता पतला पारदर्शी एवं रेशम जैसा डोरा ।

चौबीस तत्त्व, ब्रह्मादिक देव इन किसी को इस ब्रह्माण्ड का कर्ता[१] न जानता हो,' एक भगवान पुरुषोत्तम को ही कर्ता[२] जानता हो और सभी के अन्तर्यामी जानता हो ।' इस तरह की समझ के सहित **प्रत्यक्ष भगवान के स्वरूप में जो निश्चय है; यह ही परमेश्वर में असाधारण स्नेह का कारण है ।'**

फिर पुनः मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''भगवान की ऐसी महिमा भी जानता हो, और असाधारण स्नेह नहीं होता है, इसका क्या कारण है ? तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''यदि वह भगवान की ऐसी महिमा जानता है तो उसे भगवान में असाधारण स्नेह है, परन्तु वह जानता नहीं है ।'' 'जैसे हनुमानजी में अपार बल[३] था, परन्तु किसी[४] के बताये बिना जानने में नहीं आया ।' 'जैसे प्रलम्बासुर बलदेवजी को लेकर जाने लगा तब अपने में बल[५] तो अपार था, परन्तु वे स्वयं जानते नहीं थे । बाद में जब[६] आकाशवाणी ने कहा तब पता चला ।' उसी तरह उस भक्त को भगवान में असाधारण प्रीति तो है, परन्तु[७] जानने में नहीं आती है ।''

तब फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''इस प्रीति के बल को जानने का क्या कारण है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''सत्संग तथा सत्शास्त्र का श्रवण करते-करते उसे भगवान में जो असाधारण प्रीति है, वह जानने में आती है ।''

---

१. स्वतन्त्ररूप से २. स्वतन्त्रकर्ता ३. समुद्र उल्लंघन करने का ।

४. जांबवान के । जांबवान ने हनुमानजी को उनका बल कहा, उसे रामायण में - ''**जांबवान्समुदीक्ष्यैवं हनुमन्तमथाब्रवीत् वीरवानर ! लोकस्य सर्वशास्त्रविदां वर ! तृष्णीमेकान्तमाश्रित्य हनुमन्किं न जल्पसि ॥**'' – आदि वचनों से कहा हुआ जाने ।

५. प्रलंबासुर को मारने का ।

६. भगवान ने - श्रीकृष्ण भगवान ने बलदेवजी को उनका बल कहा, उसे विष्णुपुराण में - **(इति संस्मारितो विप्र कृष्णेन सुमहात्मना । वीहस्य पीडयामास प्रलम्बं बलवान् बलः ॥)** इत्यादि वचनों से कहा हुआ जाने ।

७. किसी भक्त के बतलायें बिना ।

तब फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''देश, काल तथा क्रिया; वे अशुभ होते हैं अथवा शुभ होते हैं, उनका कारण तो संग है या कोई दूसरा है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''देश तो पृथ्वी को कहते हैं, वह सभी स्थानों पर समान है और काल भी समान है, परन्तु **अतिशय जो बड़े समर्थ पुरुष होते हैं, वे जिस देश में रहते हैं, उनके प्रताप से अशुभ देश हो, अशुभ काल हो, अशुभ क्रिया हो; वे सभी शुभ हो जाते हैं ।** अतिशय अनिष्ट पापी पुरुष जिस देश में रहते हैं, उनके योग से शुभ देश तथा शुभ क्रिया और शुभ काल हो, वे भी अशुभ हो जाते हैं। इसलिए शुभ और अशुभ ऐसे जो देश, काल तथा क्रिया उनके हेतु[१] तो पुरुष हैं। वे पुरुष जो अतिशय समर्थ हो, तो समस्त पृथ्वी में देश, काल और क्रिया को अपने स्वभाव के अनुसार प्रवृत्त कराते[२] हैं और उनसे न्यून हो तो एक देश में प्रवृत्त कराते हैं, और उससे न्यून हों तो एक गांव में प्रवृत्त कराते हैं और उससे न्यून हो तो एक मोहल्ला तथा एक अपना घर; उसमें प्रवृत्त कराते हैं। इस तरह ये शुभ-अशुभ देश, काल तथा क्रिया; उनके कारण तो शुभ तथा अशुभ ये दो प्रकार के पुरुष हैं ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥५९॥

वचनामृत ६० : 'एकान्तिक धर्म की प्राप्ति का – वासना टालने का'

संवत्* १८७६ के फाल्गुन कृष्ण १ प्रतिपदा के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में परमहंस के निवास स्थान पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत खेस पहना था तथा श्वेत चद्दर ओढ़ी थी, मस्तक पर सफेद पाग बाँधी थी, उस पाग में सफेद फुलों के तुर्रे विराजमान थे तथा कण्ठ में श्वेत पुष्पों के हार विराजमान थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

---

*दि. १-३-१८२०, बुधवार

१. कारण २. चलाते

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''सभी साधनों में वासना टालना, यह साधन बड़ा है। तो वासना टालने का ऐसा तरीका है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये जो पञ्चविषय हैं, उनमें जितनी अपने को तृष्णा हो, उसका विचार करें कि मुझे जितनी भगवान में वासना हैं, उतनी ही जगत में है, या न्यून अधिक है ? उसकी परीक्षा करें और जितनी भगवान की बात सुनने में श्रोत्र इन्द्रिय आकृष्ट होती हों, उतनी ही जगत की बात सुनने में लुभाती हो, तो ऐसा जानें कि 'भगवान में तथा जगत में समान वासना है।' इसी तरह स्पर्श, रूप, रस और गन्ध; इन सभी विषयों का पता लगायें। जब इस प्रकार पता लगाते-लगाते जगत की वासना को कम करता जाय तथा भगवान की वासना को बढ़ाता जाता है, इससे पञ्चविषय में उसे समबुद्धि हो जाती है। समबुद्धि होने के बाद निन्दा एवं स्तुति समान लगते हैं तथा अच्छा स्पर्श और बुरा स्पर्श समान प्रतीत होता है। उसी तरह अच्छा रूप तथा खराब रूप, तथा बालिका, युवति एवं वृद्ध ऐसी जो स्त्रियाँ तथा कूडा और कञ्चन[१] ये सभी समान प्रतीत होने लगते हैं। उसी तरह उत्तम तथा खराब जो रस एवं गन्ध वे भी समान प्रतीत होते हैं; **इस तरह स्वाभाविकरूप से रहा जाये तब जानें कि वासना जीती गई है। वासना रहित रहना यह एकान्तिक का धर्म है।** और वासना जरा सी रह जाये तो समाधिवाला हो और नाड़ी-प्राण सिकुड़ते हो तब भी वासना समाधि में से बहार खींच लाती है; इसलिए जो वासना टालता है वह ही एकान्तिक भक्त है।'

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''वासना टालने का क्या उपाय[२] है?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''**एक तो आत्मनिष्ठा की दृढ़ता होनी चाहिए, दूसरी पञ्चविषय की तुच्छता जाननी चाहिए, तीसरा भगवान का अतिशय माहात्म्य जानना चाहिए कि** 'भगवान वैकुण्ठ, गोलोक, ब्रह्ममहोल इन सभी धामों के पति हैं। इसलिए ऐसे भगवान को प्राप्त करके तुच्छ विषयों के सुख में मैं क्यों प्रीति रखूँ ?' इस तरह से भगवान की महिमा का विचार

१. सुवर्ण २. मुख्य

करें । और फिर ऐसा विचार करे कि 'भगवान का भजन करते-करते भी यदि कोई खोट रह जायेगी और कदापि यदि भगवान के धाम में नहीं जा पायेंगे और इन्द्रलोक एवं ब्रह्मलोक[१] में भगवान रखेंगे, तो भी इसलोक से तो वहाँ करोड़गुना अधिक सुख है ।' ऐसा विचार करके भी इस संसार के तुच्छ सुख की वासना से रहित हो जायें । जो इस प्रकार भगवान की महिमा जानकर वासना से रहित हो जाता है, तब फिर उसे ऐसा जानने में आता है कि 'मुझे कभी भी वासना थी ही नहीं और यह तो मुझे बीच में कुछ भ्रम जैसा हुआ था, परन्तु मैं तो सदा वासना से रहित हूँ ', ऐसा प्रतीत होता है । इस तरह का जो एकान्तिक धर्म है, वह तो जो ऐसे निर्वासनिक पुरुष हों, और जिनकी भगवान में स्थिति हुई हो उनके वचन से ही प्राप्त होता है, परन्तु ग्रन्थ में लिख रखा हो, उससे नहीं प्राप्त होता । कोई सुनकर वैसे की वैसी बात कहने लगे, तो उसे कहना भी नहीं आता है । इसलिए **जिसे एकान्तिक धर्म में स्थिति हुई हो, उस से ही एकान्तिक का धर्म प्राप्त होता है ।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥६०॥

वचनामृत ६१ : 'बलि राजा का'

संवत्* १८७६ के फाल्गुन कृष्ण ३ तृतीया के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीम के वृक्ष के नीचे चबूतरा पर पलंग पर विराजमान थे । हीर के पल्लेवाली श्वेत धोती सिर पर बाँधी थी और सफेद पिछौरी[२] ओढ़ी थी, श्वेत खेस पहना था, कण्ठ में सफेद फूलों के हार धारण किये थे, श्वेत पुष्प के तुर्रे पाग में बायें भाग की ओर लटक रहे थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

*दि. ३-३-१८२०, शुक्रवार

१. ब्रह्माजी के लोक में

२. एक प्रकार की मोटी चद्दर, जो चारों ओर से समान रहती है, ओढ़ने का मोटा कपड़ा, जिसे पिछौरा, पछेवड़ा, पच्छेवड़ा कहते है, सौराष्ट्र के गांवो में 'पछेड़ी' कहते है ।

तब मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''काम, क्रोध, लोभ तथा भय इनके योग से भी धीरज न ड़िग जाये, इसका क्या उपाय है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'मैं देह नहीं, मैं तो देह से भिन्न और सभी को जाननेवाली ऐसी जो आत्मा, वह हूँ ।'' ऐसी जो आत्मनिष्ठा[१], वह जब अतिशय दृढ़ हो जायें तब किसी भी तरह से धीरज डिगता नहीं है और आत्मनिष्ठा के बिना दूसरे अनेक उपाय किया जाये तो भी धीरज रहता नहीं है ।''

फिर ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि ''जो आत्मनिष्ठा है, वह अन्त समय में कितनी सहायता करती है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''जैसे नदी को तैरना हो वहाँ तो जिसे तैरना आता हो वह तैर जाता है और जिसे तैरना न आता हो वह तो खड़ा हो जाता है; मगर जब समुद्र तैरना हो तब तो उन दोनों को जहाज की जरूरत पड़ती है । उसी तरह ठंड, धूप, भूख, प्यास, मान, अपमान, सुख, दुःखरूपी जो नदी है, उसे तो आत्मनिष्ठावाला हो वह तैर जाता है; परन्तु मृत्यु समय तो समुद्र जैसा है, इसलिए वहाँ तो जो आत्मनिष्ठावाला हो तथा आत्मनिष्ठा रहित हो, इन दोनों को ही भगवान की उपासनारूपी जहाज की आवश्यकता रहती है । इसलिए **अन्तकाल में तो भगवान का दृढ़ आश्रय हो, वह ही काम में आता है ।** परन्तु अन्त समय में[२] आत्मनिष्ठा कुछ काम में आती नहीं है । इसलिए भगवान की उपासना को दृढ़ करके रखें ।''

फिर तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''भगवान का भक्त हो उसे सिद्धियाँ बीच में आती हैं,[३] तो जिसे भगवान के निश्चय में डगमगाहट हो उसे ही आती है या निश्चयवाले को आती हैं ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''सिद्धियाँ तो जिसे भगवान का परिपक्व निश्चय हो उसे ही आती हैं, दूसरे को तो सिद्धियाँ बहुत दुर्लभ हैं । उन सिद्धियों को भी उस भक्त की परीक्षा लेने के लिए भगवान ही प्रेरित करते हैं कि 'उसे मुझ में अधिक स्नेह है या सिद्धियों

१. उससे युक्त ऐसी जो उपासना । २. केवल ३. बाधक बनती हैं, लुभाती हैं ।

पर ज्यादा स्नेह है ?' इस तरह से भगवान अपने भक्त की परीक्षा करके देखते हैं । फिर यदि वह पक्का भक्त हो, और भगवान के सिवा दूसरा कुछ भी चाहता न हो, और निर्वासनिक ऐसा एकान्तिक भक्त हो, तो भगवान स्वयं उस भक्त के वश हो जाते हैं । जैसे वामनजी ने बलि राजा का त्रिलोकी का राज्य ले लिया तथा चौदह लोक को दो चरणों से नाप लिया और तीसरे कदम के लिए उस बलि राजा ने अपना शरीर दे दिया, इस तरह से श्रद्धा सहित भगवान को सर्वस्व अर्पित कर दिया तो भी भगवान ने उसे बिना अपराध बाँध दिया, फिर भी भक्ति से विचलित नहीं हुआ; तब ऐसी अपनी अनन्य भक्ति को देखकर स्वयं भगवान उन बलि के बन्धन में आ गए । और **भगवान ने तो बलि राजा को क्षणमात्र बाँधा था, और भगवान तो उसकी भक्तिरूपी डोर से बँधे हुए हैं, तो आज दिन तक भी भगवान अखण्ड बलि के द्वार पर खड़े हुए हैं** और बलि राजा की दृष्टि से पलमात्र भी भगवान दूर नहीं होते हैं । इस तरह हम भी दूसरी समस्त वासनाओं को टालकर और भगवान को सर्वस्व अर्पण करके भगवान के दास होकर रहेंगे, और ऐसा करने पर भी भगवान हमें अधिक दुःख देगें तो भगवान भी स्वयं हमारे वश में हो जायेंगे; क्योंकि, वे स्वयं भक्तवत्सल हैं तथा कृपासिन्धु हैं, तो जिनकी अपने प्रति अति दृढ़ भक्ति को देखते हैं, उनके स्वयं आधीन हो जाते हैं । फिर उस प्रेमभक्ति से युक्त जिस भक्त का जो मन; उसी मनरूपी डोरी से बँधन में आते हैं, फिर छूटने में समर्थ नहीं हो पाते । इसलिए **ज्यों-ज्यों भगवान हमें कड़ी कसौटी में रखेंगे त्यों-त्यों अधिक प्रसन्न होना चाहिए कि 'भगवान जैसे-जैसे मुझे अधिक दुःख देंगे वैसे-वैसे अधिक मेरे वश होंगे और पलमात्र मुझसे दूर नहीं रहेंगे,'** ऐसा समझकर भगवान ज्यों-ज्यों अति कड़ी कसौटी देते रहें त्यों-त्यों अति प्रसन्न रहें, परन्तु किसी भी तरह से दुःख को देखकर अथवा देह के सुख के लिए पीछे की ओर पैर न मोडें ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥६१॥

वचनामृत ६२ : 'सत्य-शौचादिक गुण प्राप्त होने का'

संवत्* १८७६ के फाल्गुन कृष्ण ४ चतुर्थी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में चौक के मध्यभाग में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने श्वेत खेस पहना था और सफेद चद्दर ओढ़ी थी, सिर पर श्वेत पाग विराजमान थी, उस पाग में सफेद पुष्प के हार तथा सफेद पुष्प के तुर्रे विराजमान थे और अपने मुखारविन्द के समक्ष मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने पूछा कि "श्रीमद्‌भागवत" में कहा है कि

सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम् ।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम् ॥
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः ।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च ॥
प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः ।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहंकृतिः ॥[१]

ये जो उनतालीस कल्याणकारी गुण हैं वे भगवान के स्वरूप में निरन्तर रहते हैं । तो वे गुण सन्त में किस तरह से आते हैं ?" तब श्रीजीमहाराज बोले कि "इन गुण को सन्त में आने का कारण यह है कि[२] **उसे भगवान के स्वरूप का यथार्थ निश्चय हो जाये तो वे कल्याणकारी गुण जो**

---

*दि. ४-३-१८२०, शनिवार

१. सत्य, शौच, दया, क्षान्ति, त्याग, संतोष, आर्जव, शम, दम, तप, साम्य, तितिक्षा, उपरति, श्रुत, ज्ञान, विरक्ति, ऐश्वर्य, शौर्य, तेज, बल, स्मृति, स्वातंत्र्य, कौशल, कान्ति, धैर्य, मार्दव, प्रागल्भ्य, प्रश्रय, शील, ओज, बल, भग, गांभीर्य, स्थैर्य, आस्तिक्य, कीर्ति, मान, अनहंकृति, आदि यह उनतालीस गुण भगवान में रहते हैं । (भा. ९/१६/२६ से २८)

२. कैसे सन्त में भगवान के गुण आते हैं और किस तरह से आते हैं । यह दो प्रश्न है । उसमें प्रथम प्रश्न का उत्तर करते हैं ।

भगवान के हैं, वे सन्त में आते हैं । वह निश्चय कैसा हो ? तो जो, 'भगवान को काल जैसे न जानें, कर्म जैसे न जानें, स्वभाव जैसे न जानें, माया जैसे न जानें, पुरुष जैसे न जानें, और उन सभीसे भगवान को भिन्न जानें, और उन सभी के नियन्ता जानें, सभी के कर्ता जानें और उन सभी के कर्ता होने पर भी वे निर्लेप है ऐसा भगवान को जानें । और इस तरह जो प्रत्यक्ष भगवान के स्वरूप का निश्चय किया हो, वह किसी भी प्रकार से डिगता न हो, तो चाहे कैसे ही तरह-तरह[१] के शास्त्र[२] का श्रवण करें, और चाहे कैसे ही मतवादी[३] की बात सुने और चाहे कैसे ही अपना अन्तःकरण कुतर्क[४] करने लगे तो भी किसी भी प्रकार से भगवान के स्वरूप में डगमगाहट न होती हो; इस तरह का जिसे भगवान के स्वरूप का निश्चय हो, उसे भगवान से सम्बन्ध हुआ कहलाता है । इसलिए जिसे जिसके साथ सम्बन्ध हो, उनके गुण उसमें सहज ही आते हैं । जैसे हमारे नेत्र हैं, उसे जब दीपक के साथ सम्बन्ध होता है तब उस दीपक का प्रकाश नेत्र में आता है, जिससे नेत्र के आगे अंधेरा हो, उसका नाश हो जाता है; उसी तरह **जिसे भगवान के स्वरूप का दृढ़ निश्चय द्वारा सम्बन्ध होता है, उसमें भगवान के कल्याणकारी गुण आते हैं ।** फिर जिस तरह भगवान सभी प्रकार से निर्बन्ध हैं और जो कुछ चाहें उसे करने में समर्थ हैं, उसी तरह वह भक्त भी अतिशय समर्थ हो जाता है और निर्बन्ध हो जाता है ।''

फिर निर्विकारानन्द स्वामी ने पूछा कि ''निश्चय होने पर भी शुभ गुण[५] तो आते नहीं हैं और मान एवं ईर्ष्या तो दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती है, इसका क्या कारण होगा ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''भगवान के समक्ष एक अमृत लाया जाय और बचनाग[६] लाया जाय, खीर एवं शक्कर लाई जाय,

---

१. कुटिल युक्ति-प्रयुक्ति से मोह उत्पन्न करानेवाले असतशास्त्र २. असच्छास्त्र ।

३. शुष्क वेदान्ती इत्यादि । ४. यह परमेश्वर है, परन्तु दूसरों से भय ? इत्यादि वितर्क ।

५. सत्य-शौच आदि ।

६. सिंगिया विष, एक प्रकार का विषैला पौधा, एक प्रकार की जहरीली औषधी, जिसे संस्कृत वैद्यक में 'वत्सनाभ' कहते है, क्योंकि उसका आकार बछड़े की नाभि जैसा होता है ।

और अफ़ीम लाया जाय, और उन सभी का भगवान के थाल में भोग लगाया जाये, तो भी जिनका जैसा गुण होगा उनका वैसे का वैसा ही रहेगा, परन्तु विपरीत नहीं होगा; उस तरह जो जीव आसुरी और अति कुपात्र होते हैं, वे भगवान के समीप में आये, तब भी अपने स्वभाव को छोड़ते नहीं हैं। फिर वह कोई गरीब[१] हरिभक्त का द्रोह करता है, उससे उसका अनिष्ट होता है; क्योंकि, भगवान सभी में अन्तर्यामीरूप से रहते हैं, वह अपनी इच्छा हो वहाँ उतना सामर्थ्य दिखाते हैं। इसलिए उस भक्त के अपमान से उन भगवान का अपमान होता है, तब उस अपमान करनेवाले का अतिशय अनिष्ट[२] हो जाता है। जैसे हिरण्यकशिपु था, उसने त्रिलोकी अपने वश कर रखी थी, ऐसा बलवान था, परन्तु उसने जब प्रह्लादजी का द्रोह किया तब भगवानने स्तम्भ में से नृसिंहरूप में प्रकट होकर उस हिरण्यकशिपु का नाश कर दिया। ऐसा विचार करके **भगवान के जो भक्त हो, वे अतिशय दीनता[३] रखें परन्तु किसी का अपमान न करें;** क्योंकि, भगवान तो गरीब के अन्तर में भी विराजमान रहते हैं, तो इस गरीब का अपमान करनेवाले का अनिष्ट कर देते हैं, ऐसा जानकर किसी अल्प जीव को भी दुःखी न करें। यदि अहंकार के वश होकर जिस-तिस को दुःखी करता फिरता है तो गर्वगंजन ऐसे जो भगवान हैं, वे अन्तर्यामीरूप से सर्व में व्यापक हैं, वे सहन नहीं कर सकते हैं, फिर किसी भी तरह से प्रकट होकर उस अभिमानी पुरुष के अभिमान का अच्छी तरह से नाश कर देते हैं। **इसलिए उन भगवान से डरकर जो साधु हैं, वे लेशमात्र अभिमान न रखें और एक चींटी जैसे जीव को भी दुःखी न करें, यही निर्मानी साधु का धर्म है।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥६२॥

---

१. स्वभाव से गरीब, किसी को मन कर्म वचन से दुःखी न करनेवाला।

२. अहित, सत्यानाश

३. स्वभाव से गरीबपना।

वचनामृत ६३ : 'निश्चय का - तत्त्वों से भगवान को जानने का'

संवत्* १८७६ के फाल्गुन कृष्ण ७ सप्तमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने श्वेत खेस पहना था, सफेद चद्दर ओढ़ी थी, श्वेत हीर के किनारीवाली धोती सिर पर बाँधी थी, कण्ठ में श्वेत पुष्पों के हार विराजमान थे, पाग में गुलाब के पुष्पों के तुर्रे विराजमान थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब नृसिंहानन्द स्वामी ने पूछा कि ''जिसे भगवान के निश्चय में कसर हो उसे कैसे संकल्प होते हैं ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसे निश्चय में कसर हो उसे जब भगवान में कोई सामर्थ्य दिखाई दे तब अति आनन्द होता है और जब सामर्थ्य न दिखाई दे तब अन्तर निस्तेज हो जाता है। अपने हृदय में बुरे संकल्प होते हों, और उन्हें टालता हों तब भी टलते न हों, तब भगवान में अवगुण ठहराता है कि मैं इतने दिनों से सत्संग करते-करते मर गया, फिर भी भगवान मेरे बुरे संकल्पों को टालते नहीं हैं, इस तरह से भगवान में दोष ठहराता है और जिन पदार्थ में स्वयं को स्नेह[१] हो और किसी भी प्रकार से उस पदार्थ में से मन पीछे न लौटता हो, तब वैसे का वैसा दोष भगवान के प्रति ठहराता है कि जैसे मुझ में कामादिक दोष हैं उसी तरह भगवान में भी हैं, परन्तु वे भगवान बड़े कहलाते हैं, इस तरह के जिसे अन्तर में संकल्प होते हों, उसके निश्चय में कसर जानें। उसका निश्चय परिपक्व नहीं कहलाता है ।''

---

*दि. ७-३-१८२०, मंगलवार

१. आसक्ति, लगाव

फिर परमचैतन्यानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज ! जिसे भगवान का परिपक्व निश्चय होता है, उसे किस प्रकार के संकल्प होते हैं ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसे परिपक्व निश्चय हो, उसे तो मन में ऐसा रहता है कि मुझे सभी प्राप्ति हो चुकी है और जहाँ प्रत्यक्ष भगवान रहते हैं, वहाँ ही परमधाम है । और ये सभी सन्त तो नारद-सनकादिक जैसे हैं और सभी सत्संगी, वे तो जैसे उद्धव, अक्रूर, विदुर, सुदामा और वृन्दावन के ग्वालों के जैसे है, और जो स्त्रियाँ हरिभक्त हैं, वे तो जैसी गोपियाँ तथा द्रौपदी, कुंताजी, सीता, रुक्मिणी, लक्ष्मी, पार्वती वैसी हैं और अब मुझे कुछ करना रहा नहीं है और गोलोक, वैकुण्ठ, ब्रह्मपुर उसे मैं प्राप्त हो चुका हूँ; इस प्रकार के संकल्प होते हों और अपने हृदय में अति आनन्द रहता हो, इस तरह से जिसके अन्तर में रहता हो, उसे परिपक्व निश्चय जानें ।''

ऐसा कहकर फिर श्रीजीमहाराज ऐसा बोले कि ''तत्त्व से भगवान का स्वरूप जान लेने के बाद उसे कुछ जानना बाकी नहीं रहता है । तो तत्त्व से जाननें की रीति कहते हैं, उसे सुनिये, जिसे सुनकर परमेश्वर के स्वरूप का अड़िग निश्चय होता है कि प्रथम तो उसे भगवान की महत्ता जाननी चाहिए । 'जैसे कोई बड़ा राजा हो, उनके जो दास तथा दासियाँ हों, उन्हें भी सात मंजिलवाली तो हवेलियाँ रहने के लिए होती हैं और बाग-बगीचे और घोड़े, बहले, गहने इत्यादिक जो सामग्रियाँ है, उनसे उनके घर देवलोक समान दिखाई पड़ते हैं, तब उस राजा का जो राजभवन तथा उसमें रहीं सामग्रियाँ, वे तो अति शोभायमान होती हैं ।' उस तरह श्रीपुरुषोत्तम भगवान की आज्ञा में रहे ऐसे जो ब्रह्माण्ड के अधिपति ब्रह्मादिक, उनके जो लोक और उन लोक के वैभव, उनका पार नहीं पाया जाता, तो जिनके नाभिकमल में से ब्रह्मा उत्पन्न हुए, ऐसे जो विराटपुरुष, उनके वैभव का पार तो कैसे पाया जाय ? और ऐसे अनन्तकोटि जो विराटपुरुष, उनके स्वामी जो पुरुषोत्तम भगवान हैं, उनका धाम जो अक्षर, जिसमें ऐसे जो अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड हैं; वे तो एक-एक रोम में

अणु के समान उड़ते फिरते हैं, ऐसा उन भगवान का धाम है । उस धाम में पुरुषोत्तम भगवान स्वयं दिव्यरूप से सदा विराजमान हैं, और उस धाम में अपार दिव्य सामग्रियाँ हैं, तो उन भगवान की महत्ता का पार तो आये ही कैसे ? इस तरह से भगवान की महत्ता को समझें । और[१] **जो जिससें बड़ा होता है, वह उससे सूक्ष्म होता है और वह उसका कारण भी होता है ।** 'जैसे पृथ्वी से जल बड़ा है और उस पृथ्वी का कारण है, और उससे सूक्ष्म भी है। जल से तेज बड़ा है, और तेज से वायु बड़ा है, तथा वायु से आकाश बड़ा है,' इसी तरह अहंकार, महत्तत्व, प्रधानपुरुष, प्रकृतिपुरुष **और अक्षर, ये सभी एक दूसरे से बड़े हैं और एक दूसरे से सूक्ष्म हैं तथा कारण हैं और ये सभी मूर्तिमान हैं; परन्तु भगवान का जो अक्षरधाम है वह तो अत्यन्त बड़ा है,** जिसके एक-एक रोम में अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड अणु के समान उड़ते ही फिरते हैं । जैसे कोई बड़ा हाथी हो, उसके शरीर पर चींटी चली जा रही हो, वह किसी गिनती में नहीं आती, उस तरह उन अक्षर की महत्ता के आगे दूसरा कोई किसी भी गिनती में नहीं आता है । जैसे सूक्ष्म मच्छर हो, उनके मध्य में[२] चींटी हो, वह बड़ी दिखाई देती है, चींटियों के मध्य में बिच्छू हो, वह बड़ा दिखता है, बिच्छू के मध्य में सर्प बड़ा दिखाई देता है, सर्प के मध्य में चील बड़ी दिखती है, चील के मध्य में भैंसा बड़ा दिखाई देता है, भैंसों के मध्य में हाथी बड़ा दिखाई देता है, हाथी के मध्य में गिरनार जैसा पर्वत हो वह बड़ा दिखाई देता है, उस पर्वत के मध्य में मेरु पर्वत बड़ा दिखाई देता है, उस मेरु जैसे पर्वत के मध्य में लोकालोक पर्वत वह अति बड़ा दिखता है, लोकालोक पर्वत से पृथ्वी अति बड़ी दिखती है। पृथ्वी का कारण जो जल है, वह उससे बड़ा भी है और सूक्ष्म भी है । इस प्रकार जल का कारण तो तेज है, तेज का कारण वायु है, वायु का कारण आकाश है, आकाश का कारण अहंकार है, अहंकार का कारण महत्तत्त्व है, महत्तत्त्व का कारण प्रधान एवं

---

१. फिर से भी प्रकारान्तर से बड़प्पन कहते है । २. अपेक्षाकृत, तुलना में

पुरुष है, और प्रधान एवं पुरुष का कारण मूल प्रकृति तथा ब्रह्म[१] है। और **इन सभी का कारण अक्षरब्रह्म है। वह अक्षर तो पुरुषोत्तम भगवान का धाम है।** उन अक्षर की संकोच एवं विकास अवस्था होती नहीं है, सदैव एकरूप से रहता है। वह **अक्षर मूर्तिमान** है, परन्तु अति बड़े हैं, इसलिए किसीकी नजर में अक्षर का रूप आता नहीं है। जैसे चौबीस तत्त्वों का कार्य जो ब्रह्माण्ड है, वह पुरुषावतार कहलाता है। और वे विराट्पुरुष जो हैं, वे करचरणादिक से युक्त हैं, परन्तु उनकी मूर्ति अतिशय बड़ी है, इसलिए नजर में आती नहीं है; और उनकी नाभि में से हुआ जो कमल, उसकी नाली में ब्रह्मा एक सौ वर्ष तक चले, परन्तु उसका अन्त नहीं आया और यदि कमल का ही अन्त नहीं आया तब विराटपुरुष का पार कैसे आये ? इसलिए उन विराट का रूप नजर में नहीं आता है। उस तरह अक्षरधाम भी मूर्तिमान है, मगर किसीके नजर में आते नहीं है। वह क्योंकि, ऐसे-ऐसे ब्रह्माण्ड एक-एक रोम में असंख्यात उड़ते ही फिरते हैं; इतने बड़े है। उन अक्षरधाम में पुरुषोत्तम भगवान स्वयं सदा विराजमान हैं, तथा अपनी अन्तर्यामी शक्ति द्वारा अक्षरधाम और अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड तथा उन ब्रह्माण्ड के जो ईश्वर है, उन सभीमें अन्वयरूप से रहते हैं। उन अक्षरधाम में अपने साधर्म्यभाव को प्राप्त हुए ऐसे जो अनन्तकोटि मुक्त हैं, वे उन भगवान की सेवा में रहते हैं। उन भगवान के सेवकों के एक-एक रोम में कोटि-कोटि सूर्यों के जैसा प्रकाश है; इसलिए जिनके सेवक ऐसे हैं, तो उनके स्वामी जो पुरुषोत्तम भगवान, उनकी महिमा तो कैसे कही जाय ? ऐसे अति समर्थ जो भगवान हैं, वे स्वयं अक्षर में प्रवेश करके अक्षररूप[२] में होते हैं, फिर मूल प्रकृतिपुरुषरूप में होते है, और फिर प्रधान-पुरुषरूप में होते है और फिर प्रधान में से हुए जो चौबीस तत्त्व, उनमें प्रवेश करके उनके रूप में होते हैं, फिर उन तत्त्वों से बने[३] जो विराटपुरुष, उनमें प्रवेश करके उस रूप में होते हैं और फिर ब्रह्मा, विष्णु, शिव में प्रवेश करके उन-उन रूपों में होते हैं।

१. महा पुरुष, यहाँ इस स्थानपर मूलपुरुष को 'ब्रह्म' शब्द से कहे गए हैं २. अक्षर आदि में प्रवेश होने से भगवान तद्‌रूप-अक्षरआदिरूप हुए, ऐसा व्यपदेश होता है ३. सर्जन हुए

इस तरह से अतिसमर्थ और अति प्रकाश से युक्त और अति बड़े जो भगवान हैं, वे अपना जो ऐसा ऐश्वर्य तथा तेज, उसे स्वयं में समाविष्ट करके जीव के कल्याण के लिए मनुष्य जैसे होते हैं, और मनुष्य दर्शन कर सके तथा सेवा-अर्चनादिक कर सके ऐसा रूप धारण करते हैं। जैसे चींटी के पैर में बारीक[१] कांटा लगा हो, उसे बरछी और नहनी से निकाला जाय तो नहीं निकलता, वह तो अतिशय सूक्ष्म लोहे से निकलता है; उसी तरह भगवान भी अपनी महत्ता[२] को स्वयं में समाविष्ट[३] करके अतिशय अल्प रूप को धारण करते हैं। जैसे अग्नि अपना प्रकाश तथा ज्वाला को अपने में समाविष्ट करके मनुष्य जैसी होती है, उसी तरह भगवान भी अपना सामर्थ्य छिपाकर जीवों के कल्याण के लिए मनुष्य की तरह रहते हैं। जो मूर्ख होता है वह तो ऐसा जानता है कि भगवान कुछ सामर्थ्य क्यों प्रकट नहीं करते हैं ? परन्तु भगवान तो उपर से जीव के कल्याण के लिए अपने सामर्थ्य को ढककर रहते हैं। यदि अपनी महत्ता प्रकट करते हैं तो ब्रह्माण्ड भी नजर में नहीं आता, तब जीव की क्या गिनती ? **इस तरह से महिमा से सहित जो भगवान का निश्चय है, वह जिसके हृदय में दृढ़ता से हुआ हो, उसे काल, कर्म, माया कोई बन्धन करने में समर्थ नहीं होते हैं।** इसलिए इस तरह से तत्त्व से जो भगवान को जानता है, उसे कुछ भी करना नहीं रहता है।''

फिर नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि ''इस तरह अनुक्रम से भगवान मनुष्याकृति धारण करते हैं या अनुक्रम बिना भी मनुष्याकृति धारण करते है?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''अनुक्रम का कोई मेल नहीं है। वहाँ दृष्टान्तः- जैसे कोई पुरुष हो वह तालाब में डुबकी खाता है, तो डुबकी खा कर चाहे तो वहाँ के वहाँ निकलता है, अथवा किनारे पर निकलता है अथवा आसपास निकलता है; उस तरह पुरुषोत्तम भगवान हैं, वे अक्षररूप धाम में डुबकी लगाकर चाहें तो वहीं से सीधे ही मनुष्याकृति को धारण करते हैं और चाहे तो इस तरह अनुक्रम से मनुष्याकृति को धारण करते हैं।''

१. अति सूक्ष्म २. बड़ाई-ऐश्वर्य ३. समा के, समाहित करके

इस प्रकार वार्ता करके फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "जिसे अति दृढ़ निश्चय हो, उसका संक्षेप में लक्षण कहता हूँ, उसे सुनिये कि जिन्हें परिपक्व निश्चय हो और वह स्वयं अत्यन्त त्यागी हो तो भी उनके पास चाहे कैसी ही प्रवृत्तिमार्ग की क्रिया कराई जाय, तो वह करता है, परन्तु उससे पीछे हटता नहीं है, और उद्विग्न[१] होकर भी नहीं करता है, प्रसन्न होता हुआ करता है। और **दूसरा यह लक्षण है** कि चाहे कैसा ही अपने में स्वभाव हो और वह कोटि उपाय करने पर भी टल सके ऐसा न हो, और यदि उस स्वभाव को त्याग करने का परमेश्वर का आग्रह देख लें तो उस स्वभाव को तत्काल त्याग कर देता है। **तीसरा यह लक्षण** है कि अपने में कुछ अवगुण हो तो भी परमेश्वर की कथा, कीर्तन तथा भगवान के सन्त; उनके बिना घड़ी भर भी रहा न जाय, और अपना अवगुण लें और सन्त का अति गुण ग्रहण करें, और भगवान की कथा-कीर्तन और भगवान के सन्त की अति महिमा समझता है; ऐसा जिसे रहता हो, उसे परिपक्व निश्चय जानें। ऐसे निश्चयवाले को किसी दिन कोई प्रारब्धयोग वशात् आचरण[२] में कुछ फर्क हो जाये तब भी उसका अकल्याण नहीं होता है। और यदि ऐसा निश्चय न हो, और वह चाहे कैसा ही त्यागी हो, तो भी उसके कल्याण में फर्क है।"

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥६३॥

वचनामृत ६४ : 'शरीर-शरीरी का, स्वामी-सेवकभाव का'

संवत्* १८७६ के फाल्गुन कृष्ण ९ नवमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सफेद खेस पहना था, काले पल्ले का खेस ओढ़ा था, मस्तक पर हीर की किनारीवाली धोती बाँधी थी तथा तुलसी

*दि. ९-३-१८२०, गुरुवार

१. चिढ़कर २. पञ्च वर्तमान के नियम पालन में।

की नयी कण्ठी कण्ठ में पहनी थी और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश–देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज ने मुनि के प्रति प्रश्न पूछा कि ''पुरुषोत्तम ऐसे जो भगवान हैं, उनका शरीर आत्मा एवं अक्षर है, ऐसा श्रुति ने कहा है । वे आत्मा और अक्षर तो विकार से रहित हैं, और उन आत्मा तथा अक्षर में कोई हेय[१] उपाधि[२] नहीं है, और जैसे भगवान माया से पर हैं वैसे ही आत्मा तथा अक्षर भी माया से पर हैं; ऐसी जो आत्मा तथा अक्षर वे किस प्रकार से भगवान का शरीर[३] कहलाते हैं ? क्योंकि जीव का शरीर तो जीव से अत्यन्त विलक्षण है तथा विकारवान् है, और देही जो जीव है, वह तो निर्विकारी है, इसलिए देह और देही में तो अत्यन्त विलक्षणता है; उस तरह पुरुषोत्तम को तथा पुरुषोत्तम के शरीर जो आत्मा और अक्षर; उनमें अत्यन्त विलक्षणता होनी चाहिए, तो कहिए, किस तरह विलक्षणता है ?'' तब सभी मुनियों ने जिसकी जैसी बुद्धि, उन्होंने वैसा उत्तर किया, परन्तु यथार्थ उत्तर किसीसे नहीं हुआ । फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''लीजिए हम उत्तर करते हैं कि[४] आत्मा एवं अक्षर, इन दोनों को जो पुरुषोत्तम भगवान का शरीरपना[५] है वह तो

---

१. त्याज्य, त्याग करने योग्य । २. दोष, माया के विकारी गुण ।

३. ''**शीर्यते तच्छरीरम्**'' (जो जीर्ण होता है, वह शरीर कहलाता है । ऐसी व्युत्पत्ति से जो शरीर शब्दार्थ है और निर्विकारी आत्मा और अक्षर में कैसे संभव होता है इतना प्रश्नार्थ हैं ।

४. ''**शीर्यते तच्छरीरम्**'' वह शरीर शब्द का मुख्यार्थ नहीं, मुख्यार्थ तो जो व्याप्यता, आधीनता और असमर्थता यह है । अन्य के आधीन हो तथापि कदाचित् क्वचित् कोई क्रिया करने में समर्थ भी हो उसकी व्यावृत्ति के लिए असमर्थता कही हैं । इसलिए दोनों शब्द का ''**तदेकाधीन**'' अर्थ हुआ । आधीन शब्द परतन्त्र पर्याय है, परतन्त्रता यानी नियाम्यपन, परतन्त्रता भी राजा की अपेक्षा से राष्ट्र की जो है वैसा नहीं परंतु व्याप्यता से है, उसे सूचित करने हेतु व्यापकता कहा है । तीन शब्द मिलकर एक ही लक्षण है, अंत:प्रवेश करके सर्व प्रकार से नियमन कर सके, वह शरीर कहलाता है, इतना फलितार्थ है । वह ''**य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृत:**'' इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता हैं । श्रीभाष्यादिक में शरीर के दूसरे लक्षण कहे हैं, उससे विस्तार जाने ।

५. शरीरत्व धर्म

व्याप्यता[१], आधीनता[२] तथा असमर्थता होने के कारण है। वह किस तरह? तो भगवान जो अपनी अन्तर्यामी शक्ति द्वारा आत्मा तथा अक्षर में व्यापक हैं तथा वे दोनों तो व्याप्य हैं; और भगवान तो स्वतन्त्र हैं, तथा आत्मा व अक्षर तो भगवान के आधीन हैं - परतन्त्र हैं; और जो भगवान है वह अति समर्थ है और आत्मा तथा अक्षर तो भगवान के आगे अति असमर्थ है। इस प्रकार भगवान तो इन दोनों के शरीरी हैं और ये दोनों तो भगवान के शरीर हैं। शरीरी ऐसे जो पुरुषोत्तम भगवान हैं, वे तो सदैव दिव्य मूर्तिमान हैं। और ऐसे जो वे भगवान हैं, वह तो जो व्यापक एवं द्रष्टा ऐसे जो सभी आत्मा और उन आत्मा को व्याप्य तथा आत्मा को दृश्य ऐसे जो देह है, उन सभी में अपनी अन्तर्यामी शक्ति द्वारा आत्मारूप[३] से रहते हैं। इस प्रकार सभीके आत्मा जो पुरुषोत्तम भगवान हैं, वे जब रूपवान ऐसा जो दृश्य[४] उसके आत्मापन से[५] शास्त्र में कहे हों तब उन पुरुषोत्तम को दृश्यरूप से[६] प्रतिपादित किये होते है; और जब उस द्रष्टा के[७] आत्मापन से[८] प्रतिपादित किये गए हों, तब उन पुरुषोत्तम को अरूपपन से[९] शास्त्र[१०] में कहे होते हैं। वस्तुतः तो रूपवान् जो दृश्य तथा अरूप जो आत्मा, इन दोनों से पुरुषोत्तम भगवान न्यारे[११] हैं तथा सदा मूर्तिमान हैं, प्राकृत आकार से रहित हैं, मूर्तिमान होते हुए भी द्रष्टा एवं दृश्य, इन दोनों के द्रष्टा हैं, उस आत्मा एवं अक्षर, इन सभीके प्रेरक हैं, स्वतन्त्र हैं, नियन्ता हैं, सकल ऐश्वर्य से सम्पन्न हैं, और पर से पर ऐसे जो अक्षर; उनसे भी पर हैं। **ऐसे जो पुरुषोत्तम भगवान हैं, वे जीवों के कल्याण के लिए कृपा करके पृथ्वी पर मनुष्य जैसे दिखाई देते हैं, उनको जो इस तरह से सदा दिव्य मूर्तिमान जानकर उपासना-भक्ति करता है, वह तो**

---

१. व्याप्यत्व - व्याप्य धर्म २. आधीनत्व, आधीन होने का धर्म ३. व्याप्य, नियामक, आधीन भाव से ४. पृथिव्यादि ५. आत्मत्वरूप से ६. पृथिव्यादिरूप ७. जीवात्मा के ८. आत्मत्वरूप से ९. अरूपभाव से, जीवात्मापन से १०. भावार्थ इतना है कि जहाँ परमात्मा का पृथिव्यादिरूप से या जीवात्मारूप से वर्णन हो वहाँ उनके आत्मारूप से वर्णन करने का अभिप्राय है, ऐसा जाने। **'वासुदेवस्य वीर्येण विधृतानि महात्मनः'** इत्यादि, इतना भावार्थ है। ११. विलक्षण

उन भगवान के साधर्म्य को प्राप्त होता है । और अनन्त ऐश्वर्य[१] को प्राप्त होता है, और ब्रह्मभाव[२] को प्राप्त हुई जो अपनी आत्मा,[३] उससे[४] प्रेम सहित निरन्तर परम आदर से पुरुषोत्तम भगवान की सेवा में रहता है । और **जो उन भगवान को निराकार समझकर ध्यान-उपासना करता है, वह तो**[५] **ब्रह्म**[६] **सुषुप्ति**[७] **में लीन होता है** । वह फिर कभी भी निकलता नहीं है और भगवान से कोई ऐश्वर्य को भी प्राप्त नहीं होता[८] । ओर यह जो वार्ता है उसे हमने प्रत्यक्ष देखकर कही है,[९] इसलिए इसमें कोई संशय नहीं है । **इस वार्ता तो जिसे, उन भगवान के स्वरूप में सदा दिव्य साकाररूप से उपासना की दृढ़ निष्ठा हुई हो, उससे ही प्राप्त होती है, परन्तु दूसरे किसीसे तो प्राप्त ही नहीं होती है;** इसलिए इस वार्ता को अति दृढ़ करके रखियेगा ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥६४॥

वचनामृत ६५ : 'ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और इच्छाशक्ति का'

संवत्* १८७६ के फाल्गुन कृष्ण १४ चतुर्दशी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने शयन कक्ष के बरामदें में गद्दी-तकिया बिछवाकर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज कथा करवा रहे थे, उस समय बड़े-बड़े परमहंसों को अपने समीप बुलवाया । फिर कथा का अध्याय पूर्ण हुआ तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''अब जितने बड़े-बड़े साधु हैं, वे परस्पर प्रश्न-उत्तर करिए; क्योंकि, प्रश्न-उत्तर करोगे तब जिसे जैसी बुद्धि रहती है, वह जानने में आती है ।''

*दि. १३-३-१८२०, सोमवार

१. माया के गुण से पराभव न होना इत्यादि सामर्थ्य को । **२.** दिव्यभाव **३.** देह ''**ब्राह्मीं संविशते तनुम्**'', ''**गुणापाये ब्रह्मशरीरमेति**'' ऐसा स्मृति में कहा हैं । **४.** ब्रह्मभावापन्न दिव्य देह से । **५.** कैवल्यार्थी भक्त तो **६.** देह के अन्त में **७.** सुषुप्ति के तुल्य अक्षरब्रह्म तेज में । **८.** तो भगवान की सेवा का सुख को पाता नहीं है, उसमें क्या कहना ? **९.** लेकिन किसी से सुनकर कही नहीं है ।

तब स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने परमानन्द स्वामी को प्रश्न पूछा कि ''आकाश की उत्पत्ति तथा लय, वह किस प्रकार से है ?'' तब परमानन्द स्वामी इस प्रश्न का उत्तर करने लगे परन्तु हुआ नहीं । फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'जैसे बालक हो और वह जब प्रथम माता के उदर में रहता है तब तथा जन्म के समय में उसे हृदयादिक जो इन्द्रियों के छिद्र हैं वे सूक्ष्म होते हैं, और फिर जैसे-जैसे वह बालक बढ़ता जाता है वैसे वैसे उन छिद्रों की वृद्धि होती रहती है और उनमें आकाश भी उत्पन्न होता मालूम पड़ता है । जब वह वृद्ध अवस्था को प्राप्त होता है तब उसके इन्द्रियों के जो छिद्र हैं, वे संकोच को प्राप्त होते जाते हैं और उनमें आकाश भी लय होता दिखाई पड़ता है; उस तरह जब विराट देह उत्पन्न होता है, तब उनके अवान्तर[१] हृदयादिक छिद्रों में आकाश की उत्पत्ति होती दिखाई पड़ती है और जब इस विराट देह का लय हो जाता है तब आकाश लय हुआ दिखाई देता है; इस प्रकार[२] आकाश की उत्पत्ति तथा लय है । परन्तु जो आकाश सभी का आधार है, वह तो जिस तरह प्रकृतिपुरुष नित्य हैं, उसी तरह नित्य है, उसकी उत्पत्ति तथा लय हुआ, ऐसा नहीं कह सकते । फिर समाधि द्वारा भी आकाश की उत्पत्ति तथा लय है, उसकी रीति को तो जो समाधिवाले है वे जानते हैं[३] ।'

फिर परमानन्द स्वामी ने स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी को प्रश्न पूछा कि ''सुषुम्णा नाड़ी देह के भीतर की ओर कैसे रहती है और देह से बाहर कैसे रहती है ?'' तब इस प्रश्न का उत्तर स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी करने लगे परन्तु हुआ नहीं । तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''इस[४] ब्रह्माण्ड में जितना कारखाना[५] है, उतना ही इस पिण्ड[६] में भी है । वह पिण्ड में अल्प है और ब्रह्माण्ड में महत्[७] है । जैसा इस पिण्ड का आकार है वैसा ही ब्रह्माण्ड का आकार है।

१. भीतर-अन्दर के भाग में २. सृष्टि समय में आकाश की उत्पत्ति होती है और प्रलय समय में लय होता है, उसका इस स्थान पर प्रसंग नहीं है । लेकिन शरीर में जो आकाश की उत्पत्ति और लय का व्यवहार होता है उसका प्रसंग है, वह व्यवहार भी वास्तविक नहीं, औपाधिक है, इतना अभिप्राय है । ३. इस प्रकरण के ४६ वे वचनामृत में कहा है । ४. पिण्ड और ब्रह्माण्ड की रचना तुल्य है । ५. कारोबार - नदी, पर्वत इत्यादिक जल-स्थल का उत्पत्ति सर्ग ।
६. शरीर ७. विराट, बड़ा

जिस तरह ब्रह्माण्ड में नदियाँ हैं वैसे ही पिण्ड में नाड़ियाँ हैं, और जैसे ब्रह्माण्ड में समुद्र हैं वैसे पिण्ड में रही कुक्षी में जल है । जिस तरह वहाँ चन्द्र-सूर्य है, उस तरह पिण्ड में इडा-पिंगला नाड़ियों में चन्द्र-सूर्य हैं; इत्यादिक सामग्रियाँ जैसे ब्रह्माण्ड में हैं उस तरह पिण्ड में है[१]। इस पिण्ड में इन्द्रियों की जो नाड़ियाँ हैं उनकी ब्रह्माण्ड[२] के साथ एकता है । वह जिह्वा[३] के अन्त को प्राप्त होता है तब वह वरुण देव को प्राप्त होता है, वाक् इन्द्रिय के अन्त को प्राप्त होता है, तब अग्नि देव को प्राप्त होता है, त्वचा के अन्त को प्राप्त होता है, तब वायुदेव को प्राप्त होता है, शिश्न[४] के अन्त को प्राप्त होता है, तब प्रजापति को प्राप्त होता है, हाथ के अन्त को प्राप्त होता है तब इन्द्र को प्राप्त होता है । उसी प्रकार हृदय में रही जो सुषुम्णा नाड़ी, उनका अन्त जो ब्रह्मरन्ध्र है, उसे जब प्राप्त होता है तब शिशुमार चक्र में रही जो वैश्वानर नामक अग्नि-अभिमानी देवता है, उसे प्राप्त होता है । तब ब्रह्मरन्ध्र[५] से लेकर प्रकृतिपुरुष तक एक तेज का मार्ग सीधा[६] रहता है, उसे देखता है । उस तेज के मार्ग को सुषुम्णा[७] कहते हैं । इस प्रकार सुषुम्णा नाड़ी पिण्ड में तथा ब्रह्माण्ड में रहती है ।''

तब फिर परमानन्द स्वामी ने स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी को प्रश्न पूछा कि ''प्रथम[८] जाग्रत अवस्था का लय है या स्वप्न का लय है या सुषुप्ति का लय है ?'' तब इस प्रश्न का उत्तर स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी न दे सके, तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जाग्रत अवस्था में स्नेह से भगवान की मूर्ति में लक्ष[९] होता है तब प्रथम जाग्रत अवस्था का लय होता है और फिर स्वप्न

---

१. और जो ब्रह्माण्ड है वह वैराजपुरुष का देह है उसका वर्णन भागवत में ''**पातालमेतस्य हि पादमूलम्**' इत्यादि श्लोक से किया है (२/१/२६-३९) । २. वैराज पुरुष की इन्द्रियों के साथ । ३. जिह्वा आदि जिन-जिन इन्द्रियों में रही हुई वरूण आदि उन-उन नाड़ियों के उन-उन अन्त भाग को जब योगी प्राप्त होता है तब वैराजपुरुष के रसना आदि उन-उन इन्द्रियरूप वरूण आदि देव को प्राप्त होते है । इतना अभिप्राय है । ४. जननेन्द्रिय ५. तालु का मध्यभाग । ६. व्यवधान रहित ७. वह नाड़ी भगवान के धाम के मार्गरूप रही है ''**तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति**' ऐसा श्रुति में कहा है । ८. समाधि में तीन अवस्था का लय होता है, उनमें, ९. समाधि

का एवं सुषुप्ति का लय होता है। और जब मन द्वारा चिन्तन करते-करते स्वप्न में भगवान की मूर्ति में लक्ष होता है, तब प्रथम स्वप्न का लय होता है और फिर जाग्रत का तथा सुषुप्ति का लय होता है । जब भगवान की मूर्ति का चिन्तन करते-करते उपशम होने[१] से लक्ष होता है, तब प्रथम सुषुप्ति का लय होता है और फिर जाग्रत का तथा स्वप्न का लय होता है ।'' इस तरह इस प्रश्न का उत्तर किया ।

तब फिर स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने परमानन्द स्वामी को प्रश्न पूछा कि भगवान में ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति तथा इच्छाशक्ति हैं, उन्हें कैसे समझें ?'' तब श्रीजीमहाराज हँसकर बोले कि ''इसका उत्तर तो आपको भी नहीं आता होगा ।'' ऐसा कहकर स्वयं उत्तर करने लगे कि ''यह जीव जब सत्त्वगुण प्रधानरूप से रहता हो, तब जो कर्म करता है, उस कर्म का फल[२] तो जाग्रत अवस्था है[३] । यह जीव जब रजोगुण प्रधानरूप[४] से रहता हो और उस समय में जो कर्म करता है, उन कर्म का फल स्वप्न अवस्था है । और जब यह जीव तमोगुण प्रधानरूप से रहता हो, और उस समय में जो कर्म करता है उनका फल तो सुषुप्ति अवस्था है ।[५] उस सुषुप्ति अवस्था को यह जीव जब प्राप्त होता है तब जैसी पत्थर की शिला हो, उसके जैसा जड़ हो जाता है और उसे किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं रहता है कि मैं पण्डित हूँ या मूर्ख हूँ, या यह काम किया है या यह काम करना है, या यह मेरी जाति है या ऐसा मेरा वर्ण है या ऐसा मेरा आश्रम है या यह मेरा नाम है या यह मेरा रूप है, या मैं देव हूँ या मनुष्य हूँ, या बालक हूँ या वृद्ध हूँ, या धर्मिष्ठ हूँ या पापिष्ठ हूँ, इत्यादिक किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं रहता है । और इस तरह का जब यह जीव हो जाता है तब भगवान उसे ज्ञानशक्ति द्वारा सुषुप्ति में से जगाकर उसे उसकी सभी क्रियाओं का ज्ञान देते हैं; उसे **ज्ञानशक्ति** कहते हैं । और यह जीव जिस-जिस क्रिया में प्रवृत्त होता है, वह भगवान की जो क्रियाशक्ति है, उसका अवलम्बन करके प्रवृत्त होता है; उसे **क्रियाशक्ति** कहते हैं । और

१. उपशम भाव २. कर्मफल का भोगस्थान ३. जाग्रत अवस्था के रूप में मिलता है ।
४. रजोगुण प्रधान अवस्था-दशा ५. कहे हुए अर्थ को अधिक स्पष्ट करते हुए फिर से कहते हैं ।

यह जीव जिस किसी पदार्थ की इच्छा को प्राप्त होता है, उसे परमेश्वर की इच्छाशक्ति के अवलम्बन से प्राप्त होता है; उसे **इच्छाशक्ति** कहते हैं । और उस जीव को जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति ये तीन अवस्थायें भोगी जाती हैं, वह केवल कर्म से[१] ही नहीं भोगी जाती; यह तो उसे कर्म के फलप्रदाता जो परमेश्वर हैं, वे उस जीव को जब कर्मफल को भोगवाते हैं तब भोगता है । क्योंकि,[२] यह जीव जब जाग्रत अवस्था के फल को भोगता है, और तब वह इच्छा करे कि मुझे स्वप्न में जाना है, तो उससे[३] स्वप्न में नहीं जाया जाता; क्योंकि फलप्रदाता जो परमेश्वर हैं, वे उनकी वृत्तियों को रोक रखते हैं। और स्वप्न में से जाग्रत में आने को चाहे तो जाग्रत में नहीं आ सकता । और सुषुप्ति में भी नहीं जाया जाता; और सुषुप्ति में से स्वप्न में तथा जाग्रत में नहीं आया जाता; यह तो जब जिस कर्म के फल को भोगवानेवाले परमेश्वर हैं, वे उसे जिस अवस्था के कर्मफल को भोगवाते है उसे ही भोग सकता है, परन्तु वह जीव अपनी इच्छा से अथवा कर्म से[४] कर्म के फल को भोग नहीं सकता है । इस प्रकार भगवान में ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति तथा इच्छाशक्ति; वे रहती हैं[५] ।'' इस तरह श्रीजीमहाराज ने कृपा करके उत्तर किया । ॥

इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥६५॥

वचनामृत ६६ : 'शास्त्र के शब्दछल का - चतुर्व्यूह की बात का'

संवत्* १८७६ के फाल्गुन कृष्ण अमावस्या के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने काले पल्ले का खेस पहना था, सफेद पिछौरी ओढ़ी थी, मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

*दि. १४-३-१८२०, मंगलवार **१.** कर्ममात्र से

२. कहे हुए अर्थ को अधिक स्पष्टता हेतु फिर से कहते है । **३.** अपने आप-स्वेच्छा से, स्वतन्त्रता से **४.** कर्म वशात्, कर्म मात्र से **५.** वे शक्तियाँ सर्व जीवों के गुणकर्म के अनुसार जीव में रही हुई ज्ञान आदि शक्तियों को प्रेरित करती हैं, इसलिए भगवान में विषमता नहीं हैं ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''श्रीमद्भागवत में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध; उस चतुर्व्यूह की ही वार्ता[१] है। तो कहीं पर उसे सगुण रूप से कहते हैं और किसी स्थल पर उसे निर्गुण रूप से कहते हैं। वह जब निर्गुण रूप से कहते हैं तब वासुदेव भगवान को कहते हैं और जब सगुण रूप से कहते है तब संकर्षण, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न को कहते हैं। इसलिए जब निर्गुणरूप से कहा हो तब[२] सुननेवालों की तथा पढ़नेवालों की मति भ्रमित हो जाती है। ऐसा जानते हैं कि 'भगवान को तो आकार नहीं है।' समझनेवालों की यह उलटी[३] समझ है। **शास्त्र में जो शब्द हैं, वे एकान्तिक भक्त के सिवा दूसरों को समझ में नहीं आते।** वे कौन से शब्द ? तो जो 'भगवान अरूप है, ज्योतिःस्वरूप हैं, निर्गुण हैं और सर्वत्र व्यापक है', ऐसे वचन सुनकर जो मूर्ख हैं वे ऐसा समझते हैं कि ''शास्त्र में तो भगवान को अरूप ही कहे हैं। और जो एकान्तिक भक्त है वे तो ऐसा समझते हैं कि शास्त्र में भगवान को जो अरूप एवं निर्गुण कहे हैं, वह तो मायिक ऐसे जो रूप तथा गुण; उनके निषेध के लिए कहे हैं, परन्तु भगवान तो नित्य दिव्यमूर्ति हैं और अनन्त कल्याण गुणों से युक्त हैं।' और तेज के पुंजरूप[४] कहे हैं, **वह तो मूर्ति के बिना तेज नहीं होता, इसलिए वह तेज तो मूर्ति का है।** जैसे अग्नि की मूर्ति है, उस मूर्ति में से अग्नि की ज्वाला प्रकट होती है, उससें[५] अग्नि की मूर्ति नहीं दिखाई देती और ज्वाला दिखाई देती हैं, परन्तु समझदार हों वे ऐसा समझते हैं कि 'अग्नि की मूर्ति में से ही ज्वाला निकलती है;' वैसे ही वरुण की मूर्ति में से जल प्रकट होता है, वह जल दिखाई पड़ता है, और वरुण की मूर्ति नहीं दिखाई पड़ती, परन्तु समझदार होते हैं, वे ऐसा समझते हैं कि वरुण की मूर्ति में से सभी जल है; उसी तरह ब्रह्मसत्तारूप जो कोटि सूर्य जैसा प्रकाश है, वह पुरुषोत्तम भगवान की मूर्ति का प्रकाश है। और शास्त्र में ऐसे वचन होते हैं कि जैसे कांटे से कांटा निकालकर फिर दोनों

१. कथा २. निर्गुण आदि शब्द के अर्थ। ३. विपरीत ४. समूहरूप ५. उस अग्निज्वाला से।

का त्याग कर दिया जाता है, उस तरह भगवान पृथ्वी का भार उतारने के लिए देह को धारण करते हैं, उस भार को उतारकर देह का त्याग करते है ।' ऐसे जो शब्द हैं, उन्हें सुनकर मूर्ख होते हैं वे भटक जाते हैं और भगवान को अरूप समझते हैं, परन्तु भगवान की जो मूर्ति हैं, उसे दिव्य समझते नहीं हैं । और एकान्तिक भक्त होते हैं वे तो ऐसा समझते हैं कि जब श्रीकृष्ण भगवान अर्जुन की प्रतिज्ञा रखने के लिए ब्राह्मण के पुत्र को लेने गए तब द्वारिका से रथ पर बैठकर अर्जुन सहित चले, तो लोकालोक पर्वत को लांघकर[१] माया का जो अंधकार था, उसे सुदर्शन चक्र से काटकर, उसमें[२] रथ को चलाकर और तेजःपुंज[३] में प्रवेश करके भूमापुरुष के पास से ब्राह्मण के पुत्र को ले आये थे । इसलिए श्रीकृष्ण भगवान दिव्य मूर्ति थे, तो उनके प्रताप से लकड़ी[४] का जो रथ और पञ्चभूत के देहवाले जो घोड़े, वे सभी दिव्य एवं माया से पर जो चैतन्य, उनके रूप में हो गए । यदि दिव्यरूप नहीं हुए होते तो, जितना माया का कार्य होता है उतना माया में ही लीन होता है, परन्तु माया से पर जो ब्रह्म,[५] वहाँ तक नहीं पहुँच पाते । इसलिए भगवान की मूर्ति के प्रताप से जो मायिक पदार्थ थे, वे भी अमायिक हो गए । ऐसा जो भगवान का स्वरूप है, उसे जो मूर्ख होते है वे मायिक समझते हैं, और जो एकान्तिक सन्त हैं, वे तो भगवान की मूर्ति को अक्षरातीत समझते हैं, तथा मूर्तिमान ऐसे जो पुरुषोत्तम भगवान है, उन्हें जो ब्रह्मरूप अनन्तकोटि मुक्त तथा अक्षरधाम, उन सभीकी आत्मा समझते हैं । **इसलिए कोई चाहे कैसे भी शास्त्र पढ़ते हों, और उनमें भगवान का निर्गुणरूप से प्रतिपादन आये, उस स्थान पर ऐसा समझें कि यह भगवान की मूर्ति की महिमा कही है, परन्तु भगवान तो सदा मूर्तिमान ही हैं, इस प्रकार जो समझते हैं, उन्हें एकान्तिक भक्त कहते हैं ।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥६६॥

---

१. पार करके २. अंधकार में ३. ज्योतिर्मय अक्षरब्रह्मधाम ४. काष्ठ ५. अक्षरब्रह्मधाम

वचनामृत ६७ : 'सत्पुरुष के गुण आने का'

संवत्* १८७६ के चैत्र शुक्ल ७ सप्तमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में मुनि के निवासस्थान पर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज ने मुनि के प्रति प्रश्न पूछा कि "कोई सत्पुरुष हैं, उन्हें इस लोक के सुख में तो प्रीति ही नहीं है, और परलोक, जो भगवान का धाम है तथा भगवान की मूर्ति है, उसमें वासना है। और जो कोई उनका संग करता है, उसका भी इसी प्रकार का हित करते हैं कि 'यह मेरा संगी है, उसे इस संसार की वासना टूट जाये और भगवान में प्रीति हो जाये तो बहुत अच्छा है।' और जितना कुछ प्रयत्न करते हैं, वे सभी प्रयत्न देह का त्याग करके भगवान के धाम में जाने के बाद सुखदायी हो, ऐसा ही करते हैं परन्तु देह के सुख के लिए तो कोई भी क्रिया करते ही नहीं हैं। ऐसे जो सत्पुरुष होते हैं, उनके समान जो गुण हैं, वे किस प्रकार समझा जाये तब मुमुक्षु में आते हैं और किस प्रकार से समझा जाये तो नहीं आते है ?" यह प्रश्न है। फिर मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि "जिन्हें इस लोक के सुख में इच्छा नहीं हैं, ऐसे सत्पुरुष हैं, उनके प्रति देव(१) की बुद्धि रखता हो, जो वचन कहते हैं उसे सत्य मानता हो और उसीके अनुसार रहता हो, तब उन सत्पुरुष के जो गुण हैं वे मुमुक्षु में आते हैं; और जो ऐसा नहीं होता, उसमें नहीं आते है।"

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "यह उत्तर तो ठीक है, परन्तु **इस तरह**(२) **समझा जाये तो बड़े सत्पुरुष के गुण मुमुक्षु में आते हैं। उसे समझने की रीति कहते हैं,** उसे सुनिये कि जिस पुरुष को परमेश्वर के सिवा अन्यत्र

---

*दि. २१-३-१८२०, मंगलवार

१. **"यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥**

२. किये हुए उत्तर में न्यूनता है उसे पूर्ण करते हैं।

कहीं प्रीति न हो, उनका ऐसा गुण ग्रहण करें कि 'यह पुरुष तो अतिशय बड़े है और इनके आगे लाखों मनुष्य हाथ जोड़कर खड़े रहते हैं तो भी लेशमात्र संसार के सुख की इच्छा नहीं रखते हैं । और मैं तो अतिशय पामर हूँ कि केवल संसार के सुखों में आसक्त हो रहा हूँ और परमेश्वर की बात में तो लेशमात्र भी समझता ही नहीं हूँ, इसलिए मुझे धिक्कार है ।' इस तरह अनुताप[१] करे और बड़े पुरुष का गुण ग्रहण करे और अपने अवगुण को स्वीकार करके अनुताप करता है। फिर वैसे के वैसे परिताप[२] करते-करते उनके हृदय में वैराग्य उत्पन्न होता है और फिर उसमें सत्पुरुष के जैसे गुण आते हैं । अब **जिसके हृदय में सत्पुरुष के गुण नहीं ही आते हैं, उसके लक्षण कहते हैं,** उन्हें सुनिये कि जो पुरुष ऐसा समझता है कि 'ये बड़े कहलाते हैं पर विवेक तो किसी प्रकार का नहीं है, खाने-पीने का ढंग भी मालूम नहीं है, ओढ़ना-पहनना भी आता नहीं है, परमेश्वर ने सुख बहुत दिया है, उसे भोगना भी नहीं आता है, किसीको देते हैं, वह भी विवेक रहित दे देते हैं ।' इस तरह सत्पुरुष में अनन्त प्रकार के अवगुण ठहराता है, ऐसा जो कुमति पुरुष होता है, उसमें किसी भी काल में सत्पुरुष के गुण आते ही नहीं है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥६७॥

वचनामृत ६८ : 'अष्ट प्रकार की प्रतिमा तथा सन्त में अखण्ड निवास करने का'

संवत्* १८७६ के चैत्र शुक्ल ९ नवमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीम के वृक्ष के नीचे पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने सफेद खेस धारण किया था और सफेद चद्दर ओढ़ी थी, सिर पर हीर की किनारीवाली श्वेत धोती बाँधी थी और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

*दि. २३-३-१८२०, गुरुवार **१-२.** पश्चाताप, हृदय की जलन, पछतावा ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''हम एक प्रश्न पूछते हैं ।'' तब मुनि ने कहा कि ''पूछिए ।'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''उनहत्तर[१] के अकाल[२] में हमें एक महीने तक जब नींद आती थी तब ऐसा दिखाई देता था कि हम पुरुषोत्तमपुरी में जाकर श्रीजगन्नाथजी की मूर्ति में प्रवेश करके रहे हैं । और वह मूर्ति तो काष्ठ की दिखती है पर उनके नेत्र से हम सभीको देखते थे, और पुजारी के भक्तिभाव तथा छलकपट सभीको देखते थे । इस तरह अपने सत्संग में जो समाधिनिष्ठ पुरुष है, वे भी समाधि द्वारा दूसरे के देह में प्रवेश करके सभीको देखते हैं और समस्त शब्दों को सुनते हैं । और शास्त्र में भी ऐसे वचन हैं कि 'शुकजी वृक्ष में रहकर बोले थे[३] ।' इसलिए बड़े जो सत्पुरुष होते है अथवा जो परमेश्वर हैं, वे जहाँ इच्छा हो वहाँ प्रवेश करते हैं । इसलिए उन परमेश्वर ने अपनी आज्ञा से जो मूर्ति पूजन करने के लिए दी हो, वह मूर्ति **अष्ट प्रकार** की[४] कही है; उनमें स्वयं साक्षात् प्रवेश करके वे विराजमान रहते हैं । उस मूर्ति को जो भगवान का भक्त पूजता है तब जैसे प्रत्यक्ष भगवान विराजते हों, और उनकी मर्यादा रखता है, वैसे उन मूर्ति की भी रखनी चाहिए। वैसे ही सन्त के हृदय में भगवान की मूर्ति रहती है, उस सन्त की भी मर्यादा रखनी चाहिए; उसे तो वह भक्त लेशमात्र भी रखता नहीं है । मूर्ति को तो चित्र की अथवा पाषाणादिक जानता है और सन्त को अन्य मनुष्य जैसा जानता है । भगवान ने तो श्रीमुख से ऐसा कहा है कि **'मेरी अष्ट प्रकार की जो प्रतिमा तथा जो सन्त हैं उनमें मैं अखण्ड निवास करके रहता हूँ ।** और यह भक्त तो भगवान की प्रतिमा के आगे तथा सन्त के आगे चाहे कितने फितूर[५] करता है, परन्तु लेशमात्र भगवान का डर नहीं रखता है, उसे भगवान का निश्चय है या नहीं है ?'' यह प्रश्न है । तब परमहंस बोले कि ''जब वह

---

१. संवत् १८६९ **२.** १८६९ में पड़ा हुआ भयंकर दुष्काल । **३.** **''पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुः''** इस श्लोक से भागवत में कहा है । (भागवत १/२/२) **४. शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती। मनोमयी मणिमयी प्रतिमाऽष्टविधा स्मृता ॥** (भाग. ११/२७/१२) धातु, पाषाण, काष्ट, चित्रकारी, रेती, छाप मनोमय, मणिमय । **५.** छल-शरारत, अविवेक

भगवान को अन्तर्यामी जानकर मर्यादा नहीं रखता है, तो उसे भगवान का निश्चय ही नहीं है ।''

तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''उसे निश्चय तो नहीं है और उपर से पाखण्ड जैसी भक्ति करता है, तब उसका कल्याण होगा या नहीं होगा ?'' फिर सन्त बोले कि ''उसका कल्याण नहीं होगा ।'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''**जिसे भगवान की मूर्ति में नास्तिकता आ जाये और सन्त में नास्तिकता आ जाये उसे वहाँ तक**[१] **ही नहीं रहेगा, उसे तो जिनका भजन-स्मरण करता है, ऐसे जो प्रत्यक्ष भगवान हैं उनमें भी नास्तिकता आयेगी;** और उन भगवान के जो गोलोक, ब्रह्मपुर आदिक धाम हैं, उनमें भी नास्तिकता आयेगी; और जगत की जो उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय उसे भी कालकृत और मायाकृत और कर्मकृत[२] मानेगा परन्तु परमेश्वर द्वारा नहीं मानेगा; ऐसा पक्का नास्तिक होगा ।''

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''इस नास्तिकता का कारण तो कोई पूर्व का कर्म है या कोई कुसंग है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''नास्तिकता का कारण तो नास्तिक के ग्रन्थ सुनना यह ही है और नास्तिक के ग्रन्थ में जिसे प्रतीति रहती हो, उसका जो संग वह भी नास्तिकता का कारण[३] हैं । फिर काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, मान तथा ईर्ष्या; ये भी नास्तिकता के कारण हैं, क्योंकि, इनमें से एक भी स्वभाव रहता हो तब नारद-सनकादिक जैसे साधु बात करते हों तब भी मानने में नहीं आता और वह नास्तिकता कब मिटती है ? तो जब श्रीमद्भागवत जैसे आस्तिक ग्रन्थ में कही जो जगत की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयरूप ऐसी भगवान की लीला, उनका श्रवण करें तथा भगवान का और सन्त का माहात्म्य समझ ले तब उसकी नास्तिकता मिटती है और आस्तिकता आती है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥६८॥

१. सीमित २. काल, माया, कर्म द्वारा होना ३. हेतु

वचनामृत ६९ : 'दुष्ट के तथा साधु के धर्म का'

संवत्* १८७६ के चैत्र शुक्ल १२ द्वादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीवासुदेवनारायण की संध्या आरती सम्पन्न हुई, उसके बाद नारायण धुन करने के बाद श्रीजीमहाराज बोले कि ''धर्म तो किसका नाम[१] है ? इसका शास्त्र की रीति से उत्तर करिए। और जो हिंसक राजा थे, वे भी जो शरण आया हो उसे मारते नहीं थे और मारने भी नहीं देते थे। इसलिए शरण में आया जो जीव, उसे मारने का जो पाप है, उसी तरह दूसरों को मारने का पाप है या नहीं है ?'' फिर उसका उत्तर जैसा जिनको दिखाई दिया वैसा वे करने लगे, परन्तु श्रीजीमहाराज ने आशंका की, तो किसीसे उत्तर नहीं हुआ। फिर सभी मुनि बोले कि हे महाराज ! हम आपसे यह ही प्रश्न पूछते हैं कि यज्ञादिक में पशुहिंसा सहित धर्म कहा है और अहिंसारूप भी धर्म कहा है; इसलिए वह जैसा यथार्थ हो वैसा कहिए ?' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''हिंसायुक्त जो धर्म है वह तो धर्म, अर्थ और काम परक है; वह भी हिंसा के संकोच के लिए कहा है। और अहिंसामय जो धर्म है वह मोक्ष परायण है, वह साधु का धर्म है। हिंसामय जो धर्म है वह तो राग प्राप्ति के लिए है, परन्तु कल्याण के लिए नहीं है। जो अहिंसारूप धर्म है, वह तो केवल कल्याण के लिए है। इसलिए गृहस्थ अथवा त्यागी इन सभीको अहिंसारूप जो धर्म है, वह ही कल्याण के लिए कहा है। जैसे राजा उपरिचरवसु राज्य में थे तो भी अहिंसा धर्म में रहते थे। इसलिए **साधु तो मन, कर्म, वचन से किसी का अहित**[२] **न बोलें, और किसी बात का अहंकार भी न रखें**

*दि. २६-३-१८२०, रविवार

१. स्वरूप, धर्म का रहस्य २. अनिष्ट, बुरा

और सभी के दासानुदास होकर रहें । क्रोध से युक्त जो प्रकृति है, वह तो दुष्ट का धर्म है और शान्त स्वभाव से रहना, वही साधु का धर्म है । और कोई कहेगा कि हजारों मनुष्यों को नियम में रखना हो, उसे साधुता ग्रहण करने से कैसे चलेगा? तो इसका उत्तर तो यह है कि राजा युधिष्ठिर का हजारों कोसों[१] में राज्य था, तो भी साधुता रखी थी । और डराने-धमकाने वाले तो भीमसेन जैसे हजारों होते हैं, जिन्हें रोका जाये तो भी उसे किये बिना नहीं रहा जाता। इसलिए तीक्ष्ण[२] स्वभाववालों की तो कोई कमी नहीं हैं, ऐसे तो बहुत से होते हैं, परन्तु साधु होना वही बहुत दुर्लभ है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥६९॥

वचनामृत ७० : 'काकाभाई का - चोर को कांटा लगने का'

संवत्* १८७६ के चैत्र शुक्ल की १५ पूर्णिमा के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वाभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने सिर पर हीर की किनारीवाली श्वेत धोती बाँधी थी, सफेद खेस पहना था, श्वेत चद्दर ओढ़ी थी और वे अपने हस्त कमल में तुलसी की माला लेकर फेर रहे थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''बड़े-बड़े परमहंस परस्पर प्रश्न-उत्तर करिए तथा किसी हरिभक्त को पूछना हो तो वह परमहंस से पूछें ।'' तब गाँव रोजका के हरिभक्त काकाभाई ने नित्यानन्द स्वामी से प्रश्न पूछा कि ''अन्तर[३] के भीतर की ओर एक कहता है कि विषय को भोगना है, और एक उसकी[४] ना कहता है, तो जो ना कहता है वह कौन है और जो हाँ कहता है वह कौन है ?'' तब नित्यानन्द स्वामी ने कहा कि ''ना कहता है वह जीव है और हाँ कहता है वह मन है ।'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''लीजिए, इस प्रश्न

*दि. २९-३-१८२०, बुधवार

१. गाँवों में २. उग्र ३. हृदय, मन ४. भोगने की

का उत्तर हम करते है कि[१] ये हम सभी हैं, तो जिस दिन से समझने लगे और माँ-बाप की पहचान हुई, उस दिन से माँ-बाप ने निश्चय कराया कि यह तेरी माँ, और यह तेरा बाप, और यह तेरा चाचा और यह तेरा भाई, और यह तेरा मामा और यह तेरी बहन, और यह तेरी मामी और यह तेरी चाची, और यह तेरी मौसी और यह तेरी भैंस, और यह तेरी गाय और यह तेरा घोड़ा, और यह तेरा कपड़ा और यह तेरा घर, और यह तेरा मकान और यह तेरा खेत, और ये तेरे गहने; इत्यादिक जो कुसंगी के शब्द हैं, वे इस जीव की बुद्धि में रहते हैं; वे किस तरह से रहते हैं ? तो जैसे कोई स्त्रियाँ कसीदे[२] का काम करती हैं, उसमें[३] शीशे का टुकड़ा रहता है, उस तरह[४] कसीदे के स्थान पर बुद्धि है, और कांच के टुकड़े के स्थान पर वह जीव है, तो बुद्धि में उस कुसंगी के शब्द तथा उनके रूप, वे पञ्चविषय सहित रहते हैं । उस जीव को फिर जब सत्संग हुआ तब सन्त ने परमेश्वर के महिमा की तथा विषय खण्डन की तथा जगत के मिथ्या होने की वार्ता[५] कही, उन सन्त की वार्ता तथा उन सन्त के रूप, वे भी इस जीव की बुद्धि में रहते हैं । तो ये दो लश्कर हैं, वे आमने-सामने खड़े हैं । जैसे कुरुक्षेत्र में कौरव तथा पाण्डव के लश्कर आमने-सामने खड़े थे, और परस्पर तीर एवं बरछियाँ, तथा बंदूक और तोप आदि जंजालों[६] की लडाई हो रही थी । कोई तलवार से लड़ते थे और कोई गदा से लड़ते थे और कोई बांहभेड़ से लड़ते थे । तब उनमें किसीका शिर उड़ गया और किसी की जांघ कट गयी; ऐसी कचरकूट[७] हो रही थी । उस तरह इस जीव

१. जीव को जब तक ज्ञानप्राप्ति हुई नहीं है तब तक मन के सम्बन्ध से रहित होता नहीं है, मन भी जीव के सम्बन्ध बिना रह नहीं सकता है, जैसे इमली का बीज और उसके छिलके का सम्बन्ध नित्य है, वैसे उन दोनों का सम्बन्ध नित्य है, तो अब उनका पृथक्भाव स्वीकार करके, ''मन विषयों को भोगता है और जीव भोगता नहीं है, नित्यानन्द मुनि ने इस प्रश्न के किये हुए उत्तर को अयथार्थ जानकर स्वयं श्रीहरि ही उत्तर देते हैं ।'' २. गूँथना ३. कसीदावाली चीज में । ४. भरत-कसीदे ५. यह तेरा पिता नहीं हैं, यह तेरी माता नहीं हैं, यह तेरा गृह नहीं है, यह तुम्हारा धन नहीं है, तू तो नित्यसिद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा है और भगवान का दास है, इत्यादि बातें । ६. शस्त्र ७. रक्तपात

के अन्त:करण में भी जो कुसंगी के रूप हैं, वे पञ्च विषयरूपी शस्त्र बाँधकर खड़े हैं, और फिर जो ये सन्त के रूप हैं वे भी भगवान सत्य तथा जगत मिथ्या, तथा विषय झूठे हैं ऐसे शब्दरूपी शस्त्र बाँधकर खड़े हैं और इन दोनों को परस्पर शब्द की लड़ाई होती है। तो जब कुसंगी का बल बढ़ता है तब विषय भोगने की इच्छा होने लगती है और जब इस सन्त का बल बढ़ता है तब विषय भोगने की इच्छा नहीं होती है; इस तरह परस्पर अन्त:करण में लड़ाई होती है। वह जैसे

यत्र योगेश्वर: कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धर: ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।।[१]

इस श्लोक में कहा है कि जहाँ योगेश्वर ऐसे जो श्रीकृष्ण भगवान हैं और धनुष को धारनेवाले अर्जुन हैं, वहाँ ही लक्ष्मी है, विजय है, ऐश्वर्य है और अचल नीति है। उस तरह जिसकी ओर यह सन्त मण्डल हैं, उसका ही विजय होगा, ऐसा निश्चय रखें।''

तब फिर उन काकाभाई ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! इन सन्त का बल बढ़ जाये तथा कुसंगी का बल कम हो जाये, इसका क्या उपाय है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''अन्तर में जो कुसंगी रहते हैं और बाहर रहते हैं, वे दोनों एक हैं, और फिर अन्तर में जो सन्त रहते हैं तथा बाहर रहते हैं वे दोनों एक हैं; परन्तु जो अन्तर में कुसंगी हैं, उनका बाहर के कुसंगी के पोषण से बल बढ़ता है, और अन्तर में जो सन्त हैं, उनका भी बाहर के जो सन्त हैं उनके पोषण[२] से बल बढ़ता है। इसलिए बाहर के कुसंगी का संग न करें और बाहर के जो सन्त है, उनका ही संग रखे तो कुसंगी का बल घट जाता है और सन्त का बल बढ़ जाये ऐसा है।'' इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने कहा।

१. (गीता. १८/७८) २. बाहर के सन्त जैसे प्रसन्न होते हैं वैसे ही करना, उसे ही हृदय में रहते सन्तों का पोषण कहा है।

तब फिर से काकाभाई ने प्रश्न पूछा कि "हे महाराज ! एक को तो कुसंगी की लड़ाई समाप्त हो गई है और सन्त का ही बल है; एक ऐसा है, और एक को तो ज्यों की त्यों लड़ाई होती रहती है; तो इन दोनों में जिसकी लड़ाई समाप्त हो गई हो, वह मरता है तब उसे भगवान के धाम की प्राप्ति होती है, इसमें तो कोई संशय नहीं है; परन्तु जिसकी लड़ाई वैसे की वैसी चलती रहती है, वह मरता है तब उसकी कौन सी गति होती है ? उसे कहिए।" तब श्रीजीमहाराज बोले कि "जैसे एक युद्ध करने के लिए निकला तब उसके सामने बनिये या गरीब लोग आये तो उन्हें जीत लिया, वह भी जीता ही था; और एक तो युद्ध करने निकला तब उसके सामने आरब की फौज आई तथा राजपूत आये तथा काठी[१] तथा कोली आये, उन्हें तो जीतना कठिन ही है, परन्तु कँही वे बनिये की तरह तुरन्त जीत लिए जायें ऐसे नहीं हैं, इसलिए वे तो वैसे के वैसे लड़ते रहते हैं। और उसमें यदि जीत गया तो जीत गया और यदि युद्ध करते-करते शत्रु के हठाने पर न हठा, परन्तु देह की आयुष्य समाप्त हो गई और मृत्यु को प्राप्त हुआ, तब भी जो उसका स्वामी है वह क्या नहीं जानता होगा ? कि उसके सामने ऐसे कड़े[२] मनुष्य आये थे, तो नहीं जीत पायेगा, और इनके सामने तो बनिये आये थे, वे जीता जाये ऐसे थे। इस तरह ये दोनों मालिक की नजर में रहते हैं। उसी तरह भगवान उनकी सहायता करते है कि इन्हें ऐसे संकल्प-विकल्पों का बल है और लड़ाई लड़ता है, इसलिए उसे शाबाश है; ऐसा समझकर भगवान उनकी सहायता करते हैं। इसलिए बेफिक्र रहना, कोई चिन्ता न रखें। भगवान को वैसे के वैसे भजते रहें और सन्त का समागम अधिक रखें और कुसंगी से दूर रहें।" इस प्रकार प्रसन्न होकर श्रीजीमहाराज बोल रहे थे।

तब गाँव जसकावाले जीवाभाई ने नित्यानन्द स्वामी को प्रश्न पूछा कि 'भगवान का अडिग[३] निश्चय कैसे होता है ?' तब नित्यानन्द स्वामी बोले

१. काठियावाड़ प्रदेश के क्षत्रिय २. कठोर, सख्त, मजबूत ३. अटल, अचल

कि "कुसंगी से दूर रहें और सन्त का समागम अतिशय रखा जाये तो उन सन्तों की बातों से भगवान का अडिग निश्चय होता है। और यदि कुसंगी का संग किया जाये तो अडिग निश्चय नहीं होता है।" तब फिर श्रीजीमहाराज बोले कि[१] लीजिए हम इसका उत्तर करते हैं कि "भगवान का निश्चय करना वह केवल अपने जीव के कल्याण के लिए ही करें, परन्तु किसी पदार्थ की इच्छा से न करें कि मैं सत्संग करूँ तो मेरा देह बीमार है तो स्वस्थ हो जाये, अथवा बाँझ हूँ तो सन्तान हो जाये, या सन्तान मर जाती है तो जीवित रहे, या निर्धन हूँ तो धनवान हो जाऊँ, या गाँव[२] चला गया है तो सत्संग करेंगे तो वापस लौट आयेगा, इस तरह की पदार्थ की जो इच्छा है, उसे रखकर सत्संग न करें। और यदि इस तरह की इच्छा रखकर सत्संग करता है, और इच्छित पदार्थ की इच्छा पूरी हो जाये तो अतिशय पक्का सत्संगी हो जाता है और यदि इच्छा पूरी नहीं होती है तब निश्चय घट जाता है। इसलिए सत्संग करना, वह तो स्वयं अपने जीव के कल्याण के लिए ही करें, किन्तु किसी पदार्थ की इच्छा तो रखें ही नहीं। क्योंकि, घर में दस मनुष्य हों और उन दसों की मृत्यु आई हो, उसमें से एक आदमी यदि बच जाये तो क्या कम है ? या हाथ में रामपात्र[३] लेने का प्रारब्ध हो, और रोटियाँ खाने को मिलें तो क्या कम है ? सब कुछ जानेवाला था, उनमें से इतना बच गया, वह तो बहुत है; ऐसा मानें। इस तरह अतिशय दुःख होनेवाला हो, तो उसमें से परमेश्वर का आश्रय किया जाये तो थोड़ासा कम होता तो है, परन्तु इस जीव को ऐसा समझ में नहीं आता है। और यदि सूली लिखी हो तो कांटे से टल जाती है, इतना तो फर्क पड़ता है। वहाँ एक वार्ता है कि –

एक गाँव में बहुत चोर रहते थे। उनमें से एक चोर साधु के पास बैठने के लिए आया करता था। उसे मार्ग में पैर में काँटा लगा, तो पैर से आरपार

१. कुसंग से दूर रहकर और सत्समागम करने से भी किसी कामना से किया हुआ भगवान का निश्चय; वह कामना सिद्ध नहीं होती तो तब वह निश्चय मूल से ही नाश होता हुआ दिखाई देता हैं। २. जागीर, जमीन ३. भिक्षापात्र

निकला । इस से पैर सूज[१] गया, तो चोरी करने के लिए न जा सका, और दूसरे चोर तो चोरी करने गए । वे एक राजा का खजाना फाड़कर बहुत सा धन ले आये और सभीने आपस में बाँट लिया । तब पैसे बहुत मिले, उसे सुनकर जो चोर साधु के पास आया करता था और पैर में काँटा लगा था, उसके माता-पिता, पत्नी और सम्बन्धी सभी डांटने लगे कि तूँ चोरी करने न गया और साधु के पास गया तो अपना बुरा[२] हुआ, और वे[३] चोर चोरी करके लाये तो बहुत सा धन उन्हें मिला । जब इस तरह बातें कर रहे थे, तब वहाँ राजा का लश्कर आया । तो उन सभी चोरों को पकड़कर सूली पर चढ़ा दिया, उनके साथ इसे भी पकड़कर सूली पर चढ़ाने के लिए ले गए । तब उस गाँव के सभी मनुष्यों ने तथा साधु ने गवाही[४] दी कि यह तो चोरी करने नहीं गया था, इसे तो काँटा लगा था, तब वह छूट गया[५] । **इस तरह जो सत्संग करते हैं, उन्हें सूली जितना दुःख हो तो काँटे से मिटता है** । क्योंकि, हमने रामानन्द स्वामी के पास मांग लिया है कि आप के सत्संगी हों, उन्हें एक बिच्छू का दुःख[६] होने का हो तो वह मुझे एक-एक रोम में करोड़-करोड़ बिच्छुओं का दुःख हो, किन्तु आपके सत्संगी को वह दुःख न हो; तथा आपके सत्संगी के प्रारब्ध में रामपात्र[७] लिखा हो, वह रामपात्र मुझे मिले[८], परन्तु आपके सत्संगी अन्न-वस्त्र से दुःखी न हो; ये दो वर मुजे दीजिए । ऐसा मैंने रामानन्द स्वामी के पास माँगा था, तब मुझे रामानन्द स्वामी ने प्रसन्न होकर यह वर दिया है । इसलिए, जो कोई सत्संग करता है, उसे व्यवहार में दुःख होने का लिखा हो, वह नहीं होता, फिर भी, पदार्थ नाशवन्त है इसलिए उन पदार्थों की इच्छा से सत्संग करता है तो उसे निश्चय में संशय हुए बिना रहता ही नहीं । **इसलिए, सत्संग करना, वह तो केवल निष्काम भाव से अपने जीव के**

१. सुज गया, फुल गया २. नुकसान ३. दूसरे ४. साक्षी दी, प्रमाणित करें ।
५. बच गया, जीवित रहा ६. एक बिच्छू के डंक लगने का कष्ट होनेवाला हो तो ।
७. भिक्षापात्र ८. मेरे प्रारब्ध में आये ।

कल्याण के लिए ही करें, तब अडिग निश्चय होता है ।'' इत्यादिक बहुत सी वार्ता तो की है, परन्तु यह तो दिशमात्र[१] लिखी है ।'

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥७०॥

वचनामृत ७१ : 'भगवान का स्वरूप अक्षरधाम सहित विराजमान है, उसका'

संवत्* १८७६ की चैत्र कृष्ण ४ चतुर्थी के दिन सायंकाल के समय श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के अटारी के आगे चबूतरा पर पलंग बिछवाकर विराजमान थे । उन्होंने श्वेत खेस पहना था और श्वेत चद्दर ओढ़ी थी और सिर पर सफेद फेंटा बाँधा था और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और मुक्तानन्द स्वामी आदिक साधु वादित्र बजाकर कीर्तन गा रहे थे ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''अब कीर्तन-भक्ति की समाप्ति करके परस्पर प्रश्न-उत्तर कीजिए ।'' तब सोमलाखाचर ने प्रश्न पूछा कि ''भगवान अपने भक्त के सभी अपराध माफ करते हैं, परन्तु ऐसा कौन-सा अपराध है कि भगवान माफ नहीं करते हैं ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''दूसरे सभी अपराध माफ करते हैं,'' परन्तु भगवान के भक्त का जो द्रोह करता है, उस अपराध को भगवान माफ नहीं करते हैं; इसलिए भगवान के भक्त का किसी भी प्रकार से द्रोह न करें । और फिर भगवान के सभी अपराध से भगवान के आकार का जो खण्डन करना, वह बड़ा अपराध है, इसलिए यह अपराध तो कभी न करें; जो यह अपराध करता है तो उसे पञ्च महापाप से अधिक पाप लगता है । और भगवान तो सदा साकार मूर्ति हैं, उन्हें जो निराकार समझना, यही भगवान के आकार का खण्डन किया कहलाता है । और पुरुषोत्तम ऐसे जो भगवान हैं वे तो जो कोटि सूर्य-चन्द्र समान तेजोमय ऐसे अपने अक्षरधाम में सदा दिव्याकार होकर विराजमान हैं और ब्रह्मरूप ऐसे जो

*दि. २-४-१८२०, रविवार

१. दिशा सूचक

अनन्तकोटि मुक्त, उनके द्वारा सेवित हैं जिनके चरणकमल, वैसे हैं। परब्रह्म पुरुषोत्तम ऐसे जो वे भगवान हैं, वे ही स्वयं कृपा करके जीवों के कल्याण के लिए पृथ्वी पर प्रकट होते हैं, तब जिन-जिन तत्त्वों[१] को अंगीकार करते हैं वे सभी तत्त्व ब्रह्मरूप[२] हैं; क्योंकि, राम-कृष्णादिक अवतार में स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीन देह तथा जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ दिखती हैं, तथा दस इन्द्रियाँ, पञ्च प्राण इत्यादिक सभी तत्त्व मनुष्य की तरह दिखते हैं, परन्तु वे सभी ब्रह्म[३] हैं, परन्तु मायिक नहीं हैं। इसलिए उन भगवान के आकार का खण्डन कभी भी न करें।''

फिर मातरा धाधल ने प्रश्न पूछा कि ''ईर्ष्या का क्या रूप है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिस पर जिसे ईर्ष्या हो, तो उसका अच्छा होता है तब उससे सहन नहीं होता है, और उसका अहित होने पर प्रसन्न होता है, यह ईर्ष्या का लक्षण है।''

फिर श्रीजीमहाराज ने मुनि के प्रति प्रश्न पूछा कि ''भगवान की प्रत्यक्ष मूर्ति का निश्चय हो, और भजन करता हो, और सत्संग के नियम अनुसार रहता हो, तब उसका कल्याण होता है, यह तो सत्संग की रीति है; परन्तु शास्त्र में कल्याण की कैसी रीति है ? और वेद का अर्थ तो अति कठिन है, इसलिए उनकी कथा होती नहीं है; और श्रीमद्भागवत पुराण तथा भारत[४] इनमें वेद का ही अर्थ है और सुगम है, इसलिए उनकी जगत में कथा होती है। इसलिए शास्त्र की रीति से कल्याण होता हो, वैसा कहिए। शंकराचार्य ने तो निराकाररूप से भगवान का प्रतिपादन किया है और रामानुजादिक जो आचार्य हैं, उन्होंने तो साकाररूप से भगवान का प्रतिपादन किया है; इसलिए इस तरह शास्त्र का मत लेकर उत्तर करिए।'' फिर मुनियों ने शास्त्र की रीति से निराकार का पक्ष झूठा करके साकार भगवान के भजन से कल्याण है, इस तरह प्रतिपादन

१. पृथ्वी, जल, आदि भूतों और आँख, कान इत्यादि इन्द्रियाँ। २. दिव्यरूप। ३. दिव्य है, **न भूतसंघसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मन: । न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मांसमेदोऽस्थिसंभवा ॥** ''**प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय**'' इत्यादि वचनों से परमात्मा का देह प्राकृत नहीं है, परन्तु अप्राकृत दिव्य है, ऐसा प्रतिपादन किया है। ४. महाभारत।

किया । तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "हम भी इसी पक्ष का ग्रहण करते हैं, परन्तु उसमें आपको एक प्रश्न पूछते हैं कि 'निराकार ऐसा जो अक्षरब्रह्म, उनसे पर और सदा साकार ऐसे जो पुरुषोत्तम भगवान हैं, वे पृथ्वी पर प्रकट मिले, फिर भी ब्रह्मपुर तथा गोलोक, वैकुण्ठ, श्वेतद्वीप इत्यादिक जो भगवान के धाम हैं, उन धामों को देखने की जिसे लालच रहती हो, तब उसे निश्चय है या नहीं है ?' फिर मुनि बोले कि 'भगवान मिलने के बाद जिसके मन में ऐसा रहता हो कि जब अक्षरादिक धाम देखेंगे अथवा कोटि-कोटि सूर्य का प्रकाश देखेगें तब अपना कल्याण हुआ', ऐसी समझवाले को तो भगवान का यथार्थ निश्चय नहीं है ।"

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "उसने ब्रह्मपुरादिक धामों को तथा ब्रह्मस्वरूप को देखने की लालच रखी, तो यह क्या उसने पाप किया, जो निश्चय की ना कहते हों ?" फिर मुनि बोले कि "जिसने प्रत्यक्षप्रमाण भगवान के दर्शन से कल्याण माना हो, वह ब्रह्मपुर, गोलोक आदिक जो धाम हैं, वे भी भगवान के ही हैं, इसलिए उनकी भी अरुचि किस लिए रखे ? बल्कि, भगवान के बिना उनकी इच्छा न करें ।" फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'वे धाम और उन धामों में स्थित जो पार्षद हैं वे तो चैतन्य मूर्ति हैं और माया से पर हैं, तब फिर उसमें कौन-सा दूषण है, जो उनकी इच्छा न की जाये ? और भगवान पृथ्वी पर प्रकट विराजित रहते हैं और वहाँ जो सेवक रहते हैं, वे भी मर जायें ऐसे होते हैं और घर होते हैं वे भी गिर जायें ऐसे होते हैं, उसे कैसा समझते हो?" तब मुनि बोले कि "उन घर को तो हम ब्रह्मपुरादिक धाम समझते हैं और उन सेवकों को तो हम ब्रह्मरूप समझते हैं ।" तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "ब्रह्मपुर तथा ब्रह्मपुर में रहे जो भगवान के पार्षद हैं वे तो अखण्ड हैं और अविनाशी हैं, उसे मृत्युलोक के नाशवन्त ऐसे जो घर और पार्षद, इन दोनों को बराबर क्यों कहते हों ?" फिर नित्यानन्द स्वामी बोले कि "हे महाराज! इसका उत्तर तो आप करिए ।" तब श्रीजीमहाराज बोले कि **"भगवान जीव के कल्याण के लिए जब मूर्ति धारण करते हैं तब अपना**

जो अक्षरधाम और चैतन्यमूर्ति ऐसे जो पार्षद और अपना जो सभी ऐश्वर्य[१] हैं, इनके सहित ही पधारते हैं, परन्तु वे दूसरों को देखने में आते नहीं हैं । और जब किसी भक्त को समाधि में अलौकिक दृष्टि होती है तब उसे भगवान की मूर्ति में कोटि-कोटि सूर्य के समान प्रकाश दिखता है और अनन्तकोटि जो मुक्त हैं, वे भी मूर्ति के साथ दिखते हैं और अक्षरधाम भी उन भगवान की मूर्ति के साथ ही दिखता है । इसलिए ये सभी भगवान के साथ हैं, तब भी भगवान, उन मनुष्य ऐसे जो अपने भक्त हैं, उनकी ही सेवा को अंगीकार करते हैं । और वे अपने भक्त के गारा-मिट्टी और पत्थरों के जो घर हैं, उनमें विराजमान रहते हैं और वह भक्त जो धूप-दीप, अन्न-वस्त्रादिक जो-जो अर्पण करता है, उन्हें भगवान प्रीतिपूर्वक अंगीकार करते हैं; क्योंकि जो यह मनुष्य सेवक है, उसे दिव्यरूप पार्षदों के साथ में मिलाने के लिए करते हैं । और जो भक्तजन जो-जो वस्तु भगवान को अर्पण करते हैं वह-वह वस्तु भगवान के धाम में दिव्यरूप होती है और वह भक्त दिव्यरूप होकर उन्हें प्राप्त करता है । इसलिए ऐसा अचल अखण्ड सुख भक्तजन को प्राप्त कराने के लिए भगवान मनुष्य ऐसे जो अपने भक्तजन, उनकी सभी सेवा को अंगीकार करते हैं । इसलिए **भगवान के भक्त तो भगवान का स्वरूप अक्षरधाम सहित पृथ्वी पर विराजमान है, ऐसा समझें और दूसरों के आगे भी इसी तरह वार्ता[२] करें ।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥७१॥

वचनामृत ७२ : 'माहात्म्य सहित निश्चय का'

संवत्* १८७६ के चैत्र कृष्ण ११ एकादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के

---

*दि. ९-४-१८२०, रविवार

१. **अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥** ऐसा गीता में कहा है । २. कथा

मन्दिर के समीप उत्तराभिमुख कक्ष के बरामदे में पलंग पर पूर्व की ओर मुखारविन्द किये विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किए थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि "हे महाराज ! कल के दिन आपने दादाखाचर के आगे अति उत्तम वार्ता कही थी, उसी बात को सुनने की हम सभी को बहुत इच्छा है ।" तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "भगवान के जिस भक्त को भगवान का निश्चय माहात्म्य सहित हो, और सन्त का तथा सत्संगी का माहात्म्य बहुत जानता हो, और उस भक्त का कर्म कठिन हो एवं काल भी कठिन हो, तो भी उस भक्त को ऐसी भक्ति का अतिशय बल है, जिससे काल और कर्म ये दोनों मिलकर उसका अनिष्ट[१] नहीं कर सकते । और **जिसे भगवान तथा भगवान के सन्त के प्रति यदि निष्ठा में कुछ फर्क हो तो[२] भगवान उसका अच्छा[३] करना चाहें तब भी अच्छा नहीं होता है । और जो गरीब[४] को सताता है, उसका तो किसी भी तरह से अच्छा होता ही नहीं है ।** महाभारत में भीष्मपिता ने राजा युधिष्ठिर को ऐसा कहा है कि '**यदि तुम गरीब को सताओगे तो तुम अपने वंश सहित जलकर भस्म हो जाओगे ।' इसलिए भगवान का भक्त हो, अथवा कोई दूसरा हो, परन्तु गरीबमात्र को लेशमात्र भी दुःखी न करें ।** यदि गरीब को दुःखी करता है, तो उसका किसी भी तरह से अच्छा नहीं होता है । और यदि गरीब को दुःखी करता है, तो ब्रह्महत्या जैसा पाप होता है । उसी तरह किसी पर मिथ्या कलंक देना, वह भी ब्रह्महत्या जैसा ही है । यदि वास्तविक[५] कलंक हो तो भी उसे एकान्त में ले जाकर उसका हित हो ऐसा कहें, किन्तु उसे बदनाम न करें । उसी तरह पाँच प्रकार की जो स्त्रियाँ है, उनका जो धर्म भंग कराता है, तो उसे भी ब्रह्महत्या का पाप लगता है । वे पाँच प्रकार की

---

१. अहित, सत्संग में से शिथिलतारूप अशुभ २. देश-काल आदि शुभ होने पर भी ।
३. शुभ, कल्याण ४. स्वभाव एवं हृदय से जो गरीब हो ५. सच्चा

स्त्रियाँ कौन हैं ? तब एक तो अपने शरण[१] में आई हो, और दूसरी तो अपनी स्त्री हो और व्रत–उपवास के दिन अपना संग करना न चाहती हो, और तीसरी तो पतिव्रता हो, और चौथी तो विधवा स्त्री, और पांचवी तो विश्वासी[२] स्त्री – इन पाँच प्रकार की स्त्रियों के साथ यदि व्यभिचार करता है, तो उसे ब्रह्महत्या का पाप लगता है। उनमें जो विधवा स्त्री है, उसका मन यदि कुमार्ग में झुकता हो तो उसे समझाकर धर्म में रखें ।''[३]

फिर मुनि तो भगवान के रसिक कीर्तन गाने लगे । उसे सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि ''भगवान जीव के कल्याण के लिए देह धारण करते हैं, तब मनुष्य के जैसी ही सभी क्रियाएँ रहती हैं[४] । उन्हें देखकर भगवान के जो भक्त हैं वे तो चरित्र[५] समझ लेते[६] हैं और विमुख जीव हो अथवा कच्चा- ढीला हरिभक्त हो, वह तो उन चरित्रों में दोष ठहराता है[७] । जैसे शुकजी ने रासपंचाध्यायी[८] का वर्णन किया तब राजा परीक्षित को संशय हुआ। फिर ऐसा पूछा कि 'भगवान तो धर्म की मर्यादा स्थापित करने के लिए प्रकट हुए थे, उन्होंने परस्त्री का संग करके धर्म का भंग क्यों किया ?' इस तरह दोष लिया। और शुकजी ने तो समझ विचार करके भगवान का गुणगान किया कि कामदेव ने ब्रह्मादिक देवताओं को जीतकर अपने वश में किया, उसका कामदेव को अतिशय गर्व हुआ, उस गर्व को दूर करने के लिए भगवान ने कामदेव को ललकारा । तो जिस प्रकार कोई बलवान राजा हो, वह शत्रु को अपने खर्च से गोला बारुद[९] दिलवाकर फिर उसके साथ लड़ने जाता है; उस तरह भगवान ने कामदेवरूपी शत्रु को लड़ने का सामान पहले से दिलवा दिया। तो वह क्या ? तो कामदेव का बल जब स्त्री का सम्बन्ध होता है तब होता

१. धर्मिष्ठ मातापिता और श्वसुर (सास) पक्ष के अभाव से धर्म में स्थित रहने के कारण शरण में आई हुई २. 'यह पुरुष मुझे धर्म में से नहीं गिरायेगा' ऐसा जानकर उसकी सहायता से निश्चिंत होकर उसमें विश्वास रखती ऐसी, और जिसका पति परदेश गया है ऐसी स्त्री ।
३. इस तरह कल बात की थी । ४. करते हैं ५. दिव्य लीला ६. दिव्य लीला माने
७. देखता है ८. भागवत दशम स्कंध अध्याय : २९ से ३३ ९. युद्धोपयोगी सामान

है; उसमें भी शरदऋतु में रात्रि में कामदेव का अधिक बल होता है, तथा स्त्री के राग-रंग विलास के शब्द सुनना तथा स्त्री का रूप देखना, स्त्री का स्पर्श करना, उनसे कामदेव का बल अतिशय बढ़ जाता है; ये सभी सामान श्रीकृष्ण भगवान ने कामदेव को देकर उसे जीत लिया और अखण्ड ब्रह्मचारी की तरह ऊर्ध्वरेता रहे, और इस प्रकार काम का गर्व उतार दिया । ऐसा अलौकिक सामर्थ्य भगवान के सिवा दूसरों में नहीं होता; ऐसा भगवान का अति सामर्थ्य जानकर शुकजी ने भगवान के चरित्रों का गान किया और राजा परीक्षित[१] को यह बात समझ में नहीं आई तब दोष ठहराया । इसलिए कोई यदि ऐसा कहे कि 'आप परमहंस होकर रसिक कीर्तन क्यों गाते है ?' तो उसे ऐसा कहना कि यदि हम रसिक कीर्तन नहीं गायेंगे और भगवान के रसिक चरित्र में दोष ठहरायेंगे[२], तो हम भी राजा परीक्षित तथा अन्य जो नास्तिक विमुख जीव हैं, उनकी पंक्ति में मिले हुए कहलायेंगे; इसलिए हमें तो विमुख की पंक्ति में सम्मिलित नहीं होना है । क्योंकि, परमहंसमात्र के गुरु जो शुकजी, उन्हें भगवान के रसिक चरित्र गाये हैं, तो हमें भी जरूर गाने हैं ।

और जो क्षर-अक्षर से पर ऐसे जो पुरुषोत्तम भगवान हैं, वे जब जीवों के कल्याण के लिए ब्रह्माण्ड में मनुष्य जैसी मूर्ति[३] होकर विचरण करते हैं, तब मनुष्य के जैसे ही सभी चरित्र करते हैं । और जैसे मनुष्य में हारना, जीतना, भय, शोक, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, आशा, तृष्णा, ईर्ष्या इत्यादिक मायिक स्वभाव होते हैं वैसे ही स्वभाव भगवान भी अपने में दिखाते हैं; वे सभी जीवों के कल्याण के लिए है । जो भक्त हैं वे तो इन चरित्र का गान करके परमपद को प्राप्त करते हैं और जो विमुख होते है वे दोष ठहराते हैं[४] । वे भगवान तो जैसे क्षर की आत्मा है वैसे ही प्रकृति-पुरुष से पर जो अक्षरब्रह्म है उनकी भी आत्मा हैं तथा क्षर-अक्षर इन दोनों को अपनी शक्ति द्वारा धारण किये हुए हैं और स्वयं तो क्षर-अक्षर से न्यारे हैं । भगवान की

१. स्वयं एकांतिक भक्तपन में अपक्व था, इसलिए २. आरोपित करेंगे, देखेंगे
३. आकृति धारण करके । ४. देखते हैं

बड़ाई[१] तो ऐसी है कि जिनके एक-एक रोम के छिद्र में अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड परमाणु की तरह रहते हैं । ऐसे जो बड़े भगवान हैं वे जीवों के कल्याण के लिए मनुष्य जितने ही होते हैं तब जीव को सेवा करने का योग[२] आता है। और यदि भगवान जितने हैं उतने के उतने बने रहें तो ब्रह्मादिक जो ब्रह्माण्ड के अधिपति देव, उन्हें भी दर्शन करने की या सेवा करने की सामर्थ्य नहीं रहती है, तब मनुष्य को तो रहे ही कहाँ से ? जैसे वडवानल[३] अग्नि है, वह समुद्र के जल में रहती है और समुद्र के जल को पीती है तथा समुद्र के बुझाने पर बुझती नहीं है, ऐसी बड़ी है। वह अग्नि जब अपने घर में दीपक की जरूरत हो, तब आकर अपने घर में बैठे तो अपनेको दीपक जैसा सुख नहीं होता है और जलकर सब भस्म हो जाते हैं । वही अग्नि दीपक के रूप में हो तब प्रकाश करती है और आनन्द होता है। उस दीपक में रही वही की वही अग्नि, फूंकने पर या हाथ हिलाकर बुझाया जाये तो बुझ जाती है, ऐसी असमर्थ है, तब भी उसीसे ही अपने को सुख होता है । परन्तु बड़वानल अग्नि से सुख नहीं होता है । इसी प्रकार भगवान मनुष्य जैसे असमर्थ दिखाई देते हों, पर अनेक जीवों का कल्याण, उनसे ही होता है, परन्तु जिनके एक-एक रोम में अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड रहते हैं, ऐसी मूर्ति का जीव दर्शन करने में भी समर्थ नहीं हो पाता; इसलिए ऐसे रूप से कल्याण नहीं होता है। इसलिए भगवान मनुष्य जैसी मूर्ति धारण करके जैसे-जैसे चरित्र करते हैं, वे सभी गान करने योग्य हैं, परन्तु ऐसा नहीं समझना कि भगवान होकर यूँ क्यों करते होंगे ?' भगवान के चरित्र तो सभी कल्याणकारी ही समझें, यही भक्त का धर्म है। और ऐसा जो समझता है, वही भगवान का पूरा[४] भक्त कहलाता है ।''

फिर रोजका[५] के हरिभक्त काकाभाई ने पूछा कि 'जिसे माहात्म्य रहित अकेला भगवान का निश्चय हो, उसका क्या लक्षण है ? और जिसे माहात्म्य सहित निश्चय है, उसका क्या लक्षण है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि

१. महत्ता, महिमा २. अनुकूलता आती है ।
३. समुद्र का अग्नि, समुद्र में रहनेवाली अग्नि विशेष का नाम ४. पूर्ण ५. गाँव

'जिसे अकेला निश्चय हो उसे ऐसा संकल्प होता है कि 'भगवान तो मिले हैं, पर क्या पता, कल्याण तो होगा या नहीं होगा ?' और जिसे माहात्म्य सहित निश्चय हो, उसे तो ऐसा समझ में आता है कि 'जिस दिन से भगवान का दर्शन हुआ, उसी दिन से ही कल्याण तो हो चुका है । और जो जीव भाव से मेरा दर्शन करते हैं तथा मेरा वचन मानते हैं, उनका भी कल्याण हो जाता है, तब मेरे कल्याण में क्या संशय है ? मैं तो कृतार्थ हूँ, और जो कुछ साधना करता हूँ वह तो भगवान की प्रसन्नता के लिए करता हूँ ।' ऐसा जो समझता है, उसे भगवान का माहात्म्य सहित निश्चय जानें ।''

फिर तब काकाभाई ने पूछा कि ''उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ; ये तीन प्रकार के जो भगवान के भक्त हैं, उनके क्या लक्षण हैं ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जो भक्त स्वयं को देह से भिन्न जो आत्मा, उस रूप में मानता है तथा देह के गुण जो जड़, दु:ख, मिथ्या, अपवित्रता इत्यादिक हैं, वे आत्मा में नहीं मानता है और अछेद्य, अभेद्य, अविनाशी इत्यादिक जो आत्मा के गुण हैं, उन्हें देह में नहीं मानता है; और अपने शरीर में रही जो जीवात्मा, उसे देखता है तथा उन आत्मा में रहे जो परमात्मा, उन्हें भी देखता है और दूसरों के देहों में जो आत्मा रही हैं, उन्हें भी देखता है; और ऐसा समर्थ हो गया हो, तो भी उस आत्मदर्शन से भगवान तथा भगवान के सन्त, उन्हें अधिक समझता है, पर स्वयं को आत्मदर्शन हुआ है, उसका अभिमान लेशमात्र नहीं होता, ऐसे जिसका लक्षण है, वह **उत्तम भक्त** कहलाता है । अब जिसे भगवान का निश्चय हो और आत्मनिष्ठा भी हो, तब भी भगवान के भक्त पर ईर्ष्या आती हो, और यदि भगवान उसका अपमान करते हैं तो भगवान के उपर भी ईर्ष्या आती है कि बड़े होकर बिना कसूर ऐसा क्यों करते हैं ? ऐसे लक्षण हो, वह **मध्यम भक्त** कहलाता है । और भगवान का निश्चिय तो हो, पर आत्मनिष्ठा न हो, और भगवान में प्रीति हो, और जगत के व्यवहार में भी प्रीति हो, और सांसारिक व्यवहार में हर्ष-शोक को प्राप्त होता हो, उसे **कनिष्ठ भक्त** जानें ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥७२॥

वचनामृत ७३ : 'काम जीतने का - निर्वासनिक होने का'

संवत्* १८७६ के चैत्र कृष्ण अमावास्या के दिन रात्रि के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवासस्थान में उत्तराभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत खेस पहना था और श्वेत चद्दर ओढ़ी थी, श्वेत फेंटा मस्तक पर बाँधा था और अपने मुखारविन्द के समक्ष मुक्तानन्द स्वामी आदिक बड़े साधु चार तथा लगभग पचास हरिभक्तों की सभा बैठी थी ।

फिर गोपालानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि "काम का क्या रूप[१] है?" तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "वीर्य, यही काम का रूप है ।" फिर आशंका की कि "वीर्य तो सात धातुओं[२] में से एक धातु है[३],' इसलिए इसे ही काम का रूप कैसे कहा जाये ? तथा उस वीर्य की उत्पत्ति किससे होती है ?" फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "मनोवहा नामक नाड़ी में मन रहता है। उस मन में जब स्त्री सम्बन्धी संकल्प होते हैं, तब जैसे दहीं हो, उसे मथानी से मथा जाय तब जो घी रहता है वह सबसे ऊपर तैर आता है, उसी तरह स्त्री सम्बन्धी संकल्प से वीर्य शरीर में से मथकर मनोवहा नाड़ी में एकत्र होकर शिश्न द्वारा आता है । जिसे वीर्य शिश्न द्वारा नहीं आता है, वह ऊर्ध्वरेता पुरुष कहलाता है तथा वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाता है । श्रीकृष्ण भगवान ने रासक्रीडा के समय स्त्रियों का संग करने पर भी वीर्यपात नहीं होने दिया था, इसलिए ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी कहलाये और काम को जीत लिया । इसलिए जो वीर्य है वही काम का रूप है, जिसने वीर्य को जीतकर वश में रखा, उसने काम को जीत लिया ।"

तब गोपालानन्द स्वामी ने पूछा कि "जब इस देह को जला देते है तब सप्त धातुएँ देह के साथ जल जाती हैं; इसलिए यदि वीर्य ही काम का

*दि. १२-४-१८२०, बुधवार

१. लक्षण, स्वरूप २. रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, और वीर्य ।

३. वह अन्नरस से उत्पन्न होता है ।

रूप हो तो देह के साथ वीर्य के जलने पर काम भी जल जाना चाहिए, तब वह जीव जब दूसरे देह में प्रवेश करता है, तब कामना क्यों उदय होती है?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''सूक्ष्म देह के साथ वीर्य रहता है, तो सूक्ष्म देह के योग से स्थूल देह उत्पन्न हो आता है ।'' जैसे भूत है वह सूक्ष्म देह प्रधान होता है, फिर सूक्ष्म देह में से स्थूल देह को धारण करके स्त्री का संग करता है और उस स्त्री को भूत द्वारा बालक उत्पन्न होता है, इसलिए सूक्ष्म देह के साथ ही वीर्य रहता है ।''

तब गोपालानन्द स्वामी ने पूछा कि ''शिवजी ऊर्ध्वरेता थे फिर भी मोहिनी रूप को देखकर वीर्यपात हुआ । उसी तरह जिसके देह में वीर्य रहता है, उसे जागृत में अथवा स्वप्न में स्त्री का योग होता है तब वीर्यपात हुए बिना रहता नहीं है, इसलिए जब तक देह में वीर्य रहता है तब तक निष्कामी कैसे कहा जाये ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''शिवजी को भी इतनी योगकला में खोट कहलाती है । जिसे जाग्रत अथवा स्वप्न के योग से स्त्री के संकल्प से वीर्यपात होता है तो उसे पक्का ब्रह्मचारी नहीं कहा जाता । इसलिए इस संसार में दृढ़ ब्रह्मचर्यवाले तो एक नरनारायण ऋषि हैं और उन्हीं नरनारायण का हमें आश्रय है, उनके प्रताप से धीरे-धीरे उन नरनारायण का भजन करके हम लोग भी उनके समान ही निष्कामी हो जायेंगे । देह में जो वीर्य रहता है, उसे जला डालने के लिए योगी कितने ही प्रकार के प्रयत्न[१] करते हैं और श्रीकृष्ण भगवान ने स्त्रियों के संग रहकर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य रखा, तो ऐसा सामर्थ्य तो भगवान में ही होता है, परन्तु दूसरों से इस प्रकार रहा नहीं जाता। इसलिए दूसरे योगीयों तो जाग्रत में अथवा स्वप्न में स्त्री का संकल्प न हो पाये, ऐसा प्रयत्न करें ।''

फिर शुकमुनि ने पूछा कि ''द्वारिका में सोलह हजार एक सौ आठ जो स्त्रियाँ भगवान की थीं, उनमें एक-एक स्त्री से दस-दस पुत्र तथा एक-एक पुत्री हुई, ऐसा भी कहा गया है, उसको कैसे समझा जाये ?'' फिर श्रीजीमहाराज

१. जतन

बोले कि ''द्वारिका की बात अलग है और व्रज की अलग है । द्वारिका में तो भगवान ने सांख्यमत का आश्रय लिया था । सांख्यमतवाला होता है, वह देह, इन्द्रियाँ, मन इन सभीसे अपना स्वरूप भिन्न समझता है और सभी क्रियाओं को करता हुआ स्वयं को अकर्ता समझता है और उन क्रियाओं के द्वारा हर्ष-शोक को प्राप्त नहीं होता है, इस मत का भगवान ने आश्रय किया था; इसलिए भगवान को निर्लिप्त कहे है । और भगवान ने द्वारिका में जिस सांख्यमत का आश्रय किया था, वह मत तो जनक जैसे राजाओं का है । जो राजा गृहस्थाश्रम में रहकर प्रभु का भजन करते हैं, वे ही सांख्यमत का अनुसरण करते हैं; उस तरह भगवान भी गृहस्थाश्रम में थे और द्वारिका के राजा कहलाते थे, इसलिए सांख्यमत का अनुसरण करते हुए ऐसे निर्लेप थे । और वृन्दावन में तो योगकला का आश्रय किया था, तो स्त्रियों का संग करके भी नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत रखा, इस स्थान पर तो स्वयं में नरनारायण ऋषि का भाव दिखाया। उसे श्रीमद्भागवत में कपिलदेव ने देवहूति के प्रति कहा है कि 'स्त्रीरूप जो मेरी माया है, उसे जीतने के लिए नरनारायण ऋषि के बिना दूसरा कोई समर्थ नहीं है ।' इसलिए श्रीकृष्ण भगवान ने स्त्रियों के संग रहकर काम को जीत लिया । और जब[१] दुर्वासा ऋषि आये तब भगवान सभी गोपियों को अन्न के थाल भराके भेजने लगे, तब गोपियाँ बोली कि 'हम यमुनाजी को कैसे पार कर करेंगे ?' तब श्रीकृष्ण भगवान ने कहा कि ''यमुनाजी को ऐसा कहो कि यदि श्रीकृष्ण सदा बालब्रह्मचारी हों, तो हमें मार्ग दीजिए ।'' फिर गोपियों ने ऐसा कहा तब यमुनाजी ने मार्ग दिया । फिर सभी गोपियाँ ऋषि को भोजन कराके बोलीं कि 'हमारे मार्ग के बीच में यमुनाजी हैं, तो हम घर किस तरह जायेंगी ?' फिर ऋषि ने पूछा, 'किस तरह से आयी थीं?' तब गोपियों ने कहा कि ''हमने यमुनाजी को ऐसा कहा कि श्रीकृष्ण सदा ब्रह्मचारी हों, तो मार्ग दीजिए'', इसलिए यमुनाजी ने मार्ग दिया; परन्तु अब कैसे करके घर जायें ? फिर दुर्वासा ऋषि बोले कि 'यमुनाजी को ऐसा कहना

१. यह कथा 'गोपालतापिनी उपनिषद्' में कही है ।

कि दुर्वासा ऋषि सदा उपवासी हो, तो मार्ग दीजिए ।' फिर गोपियों ने ऐसा कहा तब यमुनाजी ने मार्ग दिया ।' तब गोपियों के मन में अति आश्चर्य हुआ, परन्तु भगवान की तथा ऋषि की जो महिमा है, उसे न जान सकीं । भगवान तो नैष्ठिकव्रत रखकर गोपियों के साथ रमण किये थे, इसलिए ब्रह्मचारी थे, और दुर्वासा ऋषि तो विश्वात्मा जो श्रीकृष्ण भगवान, उनके साथ अपनी आत्मा को एक करके सभी गोपियों के थाल का भोजन कर गए; इसलिए ऋषि भी उपवासी ही थे, और अन्न तो सभी भगवान को खिला दिया था । इसलिए जो ऐसे अति बड़े हों, उनकी क्रिया परख में नहीं आती । और सांख्यवालों को खोजा[१] जाये तो हजारों मिलते हैं, परन्तु योगकला से ऊर्ध्वरेता हो, ऐसे तो एक नरनारायण ही है, अथवा नरनारायण के जो अनन्य भक्त हैं वे भी उनके भजन के प्रताप से दृढ़ ब्रह्मचर्यवाले होते हैं, परन्तु दूसरों से नहीं हो पाता । और जिसे इन्द्रिय द्वार से जागृत अथवा स्वप्न में वीर्य का पात होता है, वे ब्रह्मचारी नहीं कहालाते । जो स्त्री का अष्ट प्रकार से त्याग रखता है, वह तो ब्रह्मचर्य के मार्ग पर चला है, तो अब नरनारायण के प्रताप से धीरे-धीरे दृढ़ ब्रह्मचारी हो पायेगा । जब हम छोटे थे तब ऐसा सुना था कि वीर्य तो पसीने के द्वारा भी निकल जाता है । फिर उस वीर्य को ऊर्ध्व रखने के लिए हमने दो प्रकार की जलबस्ति[२] सीखी थी और कुंजर क्रिया[३] सीखी थी और काम को जीतने के लिए कई आसन सीखे थे और रात्रि में सोते थे तब गोरख[४]

१. देखा २. नाभि तक जल में खड़े होकर गुदा द्वारा जल का आकर्षण करके बस्ति को (नाभि से नीचे का प्रदेश को) धोकर एवं त्याग करके गुदा से आकर्षण किये हुए जल को गुदा से ही बाहर निकाले । उसे एक बस्ति कहा है । लिंग से जल को आकर्षण करके फिर से लिंग से ही बाहर निकाले अथवा गुदा से बाहर निकाले उसे दूसरा बस्ति कहा है ।

३. प्रथम मुख से जलपान करके फिर से उस जल को मुख से ही वमन (बाहर निकालना) करना उसे गजकरणी क्रिया कही है, उसे ही कुंजर क्रिया कहते है ।

४. भद्रासन को ही गोरक्षासन कहते है । वृषण के नीचे सीवनी (लिंग के नीचे का सूत्र) के दो पार्श्वभाग में गुल्फा को रखता है, उसमें वामगुल्फा को सीवनी के वाम भाग में और दक्षिण गुल्फा को सीवनी के दक्षिण भाग में रखते है और सीवनी के पार्श्वभाग के पास में रखे हुए दो पाद को दो हाथ से (पश्चिम करके लोम विलोम किये हुए) ग्रहण करता है, इसे उत्तम भद्रासन कहा हैं।

आसन करके सोते थे; जिससे स्वप्न में भी वीर्य का पात न हो पाये । फिर उस काम को जीतने का ऐसा साधन किया कि शरीर में से पसीना ही न निकले और ठंड–धूप भी नहीं लगती थी । बाद में हम रामानन्द स्वामी के पास आये तब स्वामी ने पसीना हो सके इसलिए पूरे शरीर पर अवरामपू[१] की पट्टियाँ लगवाई थी, तब भी शरीर में पसीना नहीं आया । इसलिए **काम को जीतने का साधन तो सबसे बहुत कठिन है । यह तो जिसे भगवान के स्वरूप की उपासना का दृढ़ बल हो, और पञ्चविषय में से अतिशय निर्वासनिक हुआ हो, और उसी निर्वासनिकता की अतिशय दृढ़ता हो चुकी हो, तो वह पुरुष भगवान के प्रताप से निष्कामी होता है ।''**

फिर नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि ''निर्वासनिक होने का कारण तो ऐसी बात सुनना, यह है या वैराग्य है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''वैराग्य तो अकेला टिक नहीं सकता है, आखिरका नाश हो जाता है । जब आत्मनिष्ठा हो तथा भगवान की मूर्ति का यथार्थ ज्ञान हो, फिर ऐसा विचार करता है कि 'मैं तो आत्मा हूँ, सच्चिदानन्दरूप हूँ और पिण्ड–ब्रह्माण्ड तो मायिक हैं एवं नाशवन्त हैं । इसलिए मैं कहाँ ? और ये पिण्ड–ब्रह्माण्ड कहाँ? और मेरे इष्टदेव जो पुरुषोत्तम भगवान हैं, वे तो अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के आधार जो अक्षर, उनसे भी पर हैं । उन भगवान का मुझे दृढ़ आश्रय हुआ है ।' इस प्रकार[२] के विचार में से जो वैराग्य उदय होता है, वह वैराग्य ज्ञान से युक्त कहलाता है और उस वैराग्य का किसी भी काल में नाश नहीं होता । जैसे अग्नि जलती हो, उसके उपर जल गिरता है, तो बुझ जाती है और बड़वानल अग्नि समुद्र में रहती है, वह जल के बुझाने से बुझती नहीं है; उसी तरह जो ज्ञान से युक्त वैराग्य है, वह तो बड़वानल अग्नि तथा बिजली की अग्नि जैसा है, वह किसी भी काल

१. Senna quriculata, तरवार एवं गुजराती में 'आवळ' कहते है, जिसके पत्ते इमली जैसे छोटे होते हैं । इमली के पत्ते जैसे थोड़े बड़े गोल पत्ते और पीले फुल के पौधे सौराष्ट्र प्रदेश में पाए जाते हैं । एक हाथ जितना ऊँचा होता है । दवाई में उपयोग किया जाता है ।
२. आत्मनिष्ठा और उपासना का ।

में बुझती नहीं है और उनके अलावा दूसरे वैराग्य का विश्वास नहीं होता । हमारा जो वैराग्य है, वह तो जैसे बिजली की अग्नि तथा बड़वानल अग्नि, उसके समान है, तो हमारे स्वभाव को तो जो अतिशय हमारे साथ रहते हैं, वे जानते हैं और जो दूर रहते हैं, उसे हमारा स्वभाव जानने में नहीं आता । ये मुकुन्द ब्रह्मचारी हैं, वे भोले जैसे दिखते हैं, फिर भी हमारे स्वभाव को यथार्थ जानते हैं कि 'महाराज तो आकाश जैसे निर्लेप[१] हैं और उनको कोई अपना भी नहीं है और पराया भी नहीं है ।' इस तरह यदि हमारे स्वभाव को जानते हैं तो **जैसे ईश्वर में गुण रहते हैं, वैसे गुण ब्रह्मचारी में रहते हैं ।** और अन्तर्यामी सभीमें रहते हैं, वे बाई-भाई को मन में ऐसा समझाते हैं कि 'ब्रह्मचारी में किसी बात की खोट नहीं है ।' **तो ऐसे शुभ[२] गुण आने का कारण यह है कि बड़े पुरुष में जो निर्दोष बुद्धि रखता है, वह स्वयं सभी दोषों से रहित हो जाता है और जो बड़े पुरुष में दोष ठहराता है, उन दोष ठहरानेवाले की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और कामादिक जो शत्रु हैं, वे सभी उसके हृदय में आकर निवास करते हैं ।** फिर उन सत्पुरुष में दोषबुद्धि ठहरानेवाला जो पुरुष है, उसके हृदय में अनिष्ट-अनिष्ट संकल्प भी पीड़ा करते रहते हैं और वह सत्संग करता है तो भी दुःखी ही रहता है । जो बुद्धिमान हैं, वे तो हमारे समीप रहकर हमारी सभी प्रकृति को जानते हैं कि 'संसार में जितने मोह उत्पन्न करानेवाले पदार्थ धन, स्त्री, अलंकारादिक तथा खान-पानादिक हैं, उन किसीमें महाराज को स्नेह नहीं हैं । और महाराज तो सभीसे उदासी हैं और किसीको दया करके पास में बैठने देते हैं, या ज्ञानवार्ता करते हैं, वह तो केवल उसके जीव के कल्याण के लिए दया करके करते हैं ।' जो मूर्ख होता है, वह तो पास रहता है, तब भी हमारे स्वभाव को ऐसा नहीं जानता है और दूर रहता है, वह भी ऐसा नहीं जानता है ।'

और यह बात उसे ही समझ में आती है, जिसे आत्मनिष्ठा हो, तथा उस आत्मा में परमेश्वर की मूर्ति को धारण करके, उनकी भक्ति करता हो और स्वयं

१. निर्लिप्त, असंगी २. उत्तम

ब्रह्मरूप हो गया हो, तो भी भगवान की उपासना का त्याग न करें। इसलिए आत्मनिष्ठा तथा भगवान की मूर्ति की महिमा को समझने से किसी पदार्थ में वासना नहीं रहती है। और वासना टल जाने के बाद जैसा अपने देह का प्रारब्ध हो, वैसे सुख-दुःख को भोगता तो है, परन्तु इन्द्रियों की तीक्ष्णता मिट जाती है। और मनोमय चक्र की जो धारा है, वे तो इन्द्रियाँ हैं, वे जब ब्रह्म तथा उनसे पर जो परब्रह्म हैं, उनका साक्षात् दर्शन होता है तब कुण्ठित हो जाती हैं। जैसे किसी पुरुष ने नींबू चूसे हों और दाँत अतिशय खट्टे हो गए हों और फिर उसे चना चबाना पड़े तब उससे किसी तरह से नहीं चबाया जाता और अतिशय भूखा हुआ हो तो उन चने को निगल जाता है पर चबाया नहीं जाता, उसी तरह **जिसने आत्मा की तथा भगवान की यथार्थ महिमा जान ली हो, उसे किसी लोक के विषय सुख में आनन्द नहीं होता** और देह का प्रारब्ध रहा हो तब तक खानपानादिक सभी भोग को भोगता तो है, परन्तु जैसे दांत खट्टे हो गए हों, और पूरा[१] चने को निगल जाये, ऐसे भोगता है। और वासना टलनी यह काम भी अतिशय भारी है, वासना तो समाधिनिष्ठ होता है तो भी रह जाती है। समाधि होने के बाद तो ब्रह्म के स्वरूप में से देह में किसी भी प्रकार से नहीं आया जा सकता और अगर आया जाता है तो उसके तीन हेतु[२] हैं: उनमें एक तो संसार के सुख की जो कोई वासना हो, तो समाधि में से लौटकर देह में आता है। या तो कोई अति समर्थ हो, वह समाधि में जाता है और अपनी इच्छा से वापस देह में आता है। या तो कोई अपने से अति समर्थ हो, वह वापस समाधि में से देह में ले आता है - इन तीन प्रकारों से समाधि में से वापस देह में आता है। जब समाधि होती है और उसमें ब्रह्म का दर्शन होता है तब कोटि-कोटि सूर्य के समान ब्रह्म का प्रकाश देखकर यदि थोड़ी समझ हो तो प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम भगवान की जो मूर्ति है उनमें

१. बिना चबाये २. कारण

न्यूनता[१] समझता है, और ब्रह्म में अधिकता मान लेता है, इसलिए उपासना का भंग हुआ, इसलिए **प्रत्यक्ष मूर्ति में अति दृढ़ निश्चय करना चाहिए**[२] **तभी सभी कार्य सार्थक होते हैं । हमने भी ऐसा दृढ़ निश्चय किया है कि जो कोई हमें सच्चा होकर मन अर्पण कर देता है और लेशमात्र अन्तराय नहीं रखता है, उसमें हम किसी बात की कसर**[३] **नहीं रहने देते।''**

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''जिसने मन सौंप दिया हो उसके कैसे लक्षण होते हैं, और मन सौंप न दिया हो उसके कैसे लक्षण होते हैं ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसने मन अर्पित किया हो, उसे यदि परमेश्वर की बात[४] होती हो, तथा परमेश्वर के दर्शन होते हो, और उस समय यदि वह स्वयं उपस्थित न हो तो उसकी[५] अपने हृदय में अतिशय दाह[६] होती है । और जब भगवान की बात सुनता है तथा भगवान का दर्शन करता है, उनमें अधिक- अधिक प्रीति होने लगती है, परन्तु उनमें से मन पीछे हटता नहीं है । और परमेश्वर जब किसीको परदेश भेजने की आज्ञा करते हैं, तब जिसने मन अर्पण किया हो उसके मन में ऐसा होता है कि 'यदि मुझे आज्ञा दें तो बुरानपुर[७] तथा काशी जहाँ रखें वहाँ प्रसन्न होता हुआ चला जाऊँ ।' इस तरह **परमेश्वर की रुचि**[८] **में रहकर जो प्रसन्न रहता हो, वह तो हजार कोस गया हो तो भी हमारे पास रहता है, और जिसने इस तरह मन अर्पण न किया हो, और वह अतिशय हमारे समीप में रहता हो तो भी लाखों कोस दूर रहता है ।** और जिसने हमें मन अर्पण न किया हो, उसे तो उपदेश करने में भी डर लगता है कि क्या जाने सीधा समझेगा या उल्टा समझेगा ? इस तरह मन अर्पण किया हो और न अर्पण किया हो, उनके लक्षण हैं ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥७३॥

---

१. ब्रह्म की अपेक्षा २. होना चाहिए ३. कमी, खोट, न्यूनता ४. वार्ता
५. अनुपस्थिति की ६. ज्वलन, दाझन ७. बुरहानपुर ८. इच्छा, मर्जी

वचनामृत ७४ : 'समझदारी आपत्तिकाल में परख में आती है, उसका'

संवत्* १८७६ वैशाख शुक्ल ११ एकादशी के दिन प्रातःकाल में स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे चबूतरा पर पलंग बिछाया था उस पर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के समक्ष मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसे जितना वैराग्य रहता है तथा जिसे जितनी समझ रहती है, वह तो जब कोई विषयभोग की प्राप्ति होती है अथवा जब कोई आपत्तिकाल आ पड़े तब परख में आती है, परन्तु उसके बिना परखी नहीं जाती। अधिक सम्पत् या आपत् आ जाये, उसकी क्या बात कही जाय? परन्तु इन दादाखाचर को थोड़ा-सा ही आपत्काल जैसा आया था, उसमें भी जिसका अन्तःकरण जैसा होगा, वैसा ही सभीके जानने में आया होगा ।'' फिर मुक्तानन्द स्वामी बोले कि ''भगवान के भक्त का पक्ष तो हृदय में रहता तो है; वह भी समझ पूर्वक रहता है कि यदि सत्संग की उत्कृष्टता[१] होती है, तो बहुत जीवों को पुष्टि[२] होती है और जब सत्संग का कुछ अपमान जैसा रहता है, तब किसी जीव को पुष्टि नहीं होती है; इसी कारण हर्ष-शोक जैसा हो आता है ।'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''हम तो श्रीकृष्णनारायण के दास हैं, तो श्रीकृष्णनारायण को जैसा अच्छा लगे वैसे उसमें प्रसन्न रहना हैं। यदि उन श्रीकृष्णनारायण की इच्छा होगी तो सत्संग की वृद्धि होगी और यदि उन्हें घटाना होगा तो घट जायेगा । ये भगवान हमें हाथी पर बैठायें तो हाथी पर बैठकर प्रसन्न रहना है, और गधे पर बैठायें तो गधा पर बैठकर प्रसन्न रहना

---

*दि. २४-४-१८२०, सोमवार

१. चारों ओर से वृद्धि एवं कीर्ति हो रही हो। २. लाभ, आध्यात्मिक पोषण

है । उन भगवन के चरणारविन्द के सिवा अन्यत्र कहीं प्रीति न रखें और उन भगवन की इच्छा से जिस तरह सत्संग की वृद्धि होने लगे, उसी तरह से प्रसन्न रहना है । फिर उन भगवान की इच्छा हो, तो सर्व जगत सत्संगी हो जाओ, अथवा उनकी इच्छा से सभी सत्संगी मिट जाओ, परन्तु किसी तरह से हर्ष-शोक मन में न धारण करें; **उन भगवान का किया सब कुछ होता है । इसलिए सूखा पत्ता जैसे वायु के आधार से उलटता है[१] उस तरह उन भगवान को आधीन रहकर आनन्द में उन परमेश्वर का भजन करें और किसी प्रकार का उद्वेग मन में आने न दें ।'**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥७४॥

वचनामृत ७५ : 'एकहतर (७१) पीढ़ियों के उद्धार का'

संवत्* १८७६ के वैशाख कृष्ण ११ एकादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीम के वृक्ष के नीचे पलंग पर विराजमान थे और उनके कण्ठ में पीले पुष्प के हार विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के आगे मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब सुराखाचर ने प्रश्न पूछा कि ''जिनके कुल में भगवान का एक भक्त होता है तो उनकी एकहतर[२] पीढ़ियों[३] का उद्धार होता है, ऐसा कहा गया है और उनके गोत्र में कई तो सन्त के तथा भगवान के द्वेषी भी होते हैं,''

---

*दि. ८-५-१८२०, सोमवार

१. हिलता है **२.** इकहत्तर शब्द से एक उत्तर शत १०१ अथवा एकउत्तर विंशति २१ कहने का अभिप्राय है । दस पहले के और दस बाद के और एक स्वयं ऐसे मिलकर इक्कीस कुल का उद्धार होता है, ऐसा भा.९/१०/१८ में कहा है । पिता के २४, माता के २०, भार्या के १६, बहन के १२, पुत्री के ११, बुआ के १०, मौसी के ८ ऐसे सात गोत्र के मिलकर एक सौ और एक कुल का उद्धार होता है, ऐसे 'निर्णयसिन्धु' में भी कहा है । उपर लिखे हुए माता, पिता इत्यादि के कुल में आधे के बाद के जाने । **३.** कुल

तब उनका किस तरह से उद्धार है ? तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''जैसे कर्दम ऋषि का देवहूति ने पतिबुद्धि से प्रसंग किया था, तो भी कर्दम ऋषि में स्नेह था तो उनका उद्धार हुआ । तथा मांधाता राजा की पुत्रियाँ पचास थी, उन्हें सौभरी ऋषि का रूप देखकर विवाह किया; उन्हें कामभाव से सौभरी में स्नेह था, तो उन सभी का कल्याण ऋषि के समान हुआ । इसलिए जिनके कुल में भक्त हुआ हो, और उनके कुटुम्बी सभी ऐसा मानते हों कि हमारा बड़ा भाग्य हैं कि हमारे कुल में भगवान का भक्त हुआ है', इस तरह भक्त का माहात्म्य समझकर स्नेह रखता है तो उन सभी कुटुम्बीजनों का कल्याण होता है । मरकर जो पितृ स्वर्ग में गए हों, वे भी यदि ऐसा समझें कि हमारे कुल में भगवान का भक्त हुआ, तो अपना बड़ा भाग्य हैं ।' ऐसा समझकर भगवान के भक्त में स्नेह रखते हैं तो उन पितरों का भी कल्याण होता है । जो भगवान के भक्त के साथ वैरबुद्धि रखता है, उसका तो कल्याण नहीं होता है और ज्यों-ज्यों बैर करता जाता है त्यों-त्यों उसकी बुद्धि भ्रष्ट होती जाती है और देह छोड़ता है तब पञ्च महापाप के करनेवाले जिन नरक के कुण्ड में पड़ते है, वे भी उसी ही कुण्ड में पड़ते हैं । इसलिए **भगवान के भक्त में जिसे स्नेह हो, तो सम्बन्धी हो अथवा अन्य कोई हो, उन सभी का कल्याण होता है ।''**

फिर नाजा भक्त ने प्रश्न पूछा कि ''भगवान के भक्त हो, उनमें एक तो दृढ़ निश्चयवाला हो, और एक तो थोड़ा निश्चयवाला हो, और ऊपर[१] से तो दोनों अच्छे दिखते हैं, उन दोनों को कैसे पहचाना जायें ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसे आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो और दृढ़ वैराग्य हो तथा भक्ति एवं स्वधर्म भी परिपूर्ण हो, उनका निश्चय परिपूर्ण जानें । और इनमें से यदि एक भी बात कम हो तो निश्चय है तो भी माहात्म्य रहित है और ये चारों बातें सम्पूर्ण हों, उसे माहात्म्य सहित भगवान का निश्चय जानें ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥७५॥

१. बाहर

वचनामृत ७६ : 'क्रोधी, ईर्ष्यावाला, कपटी तथा मानी का'

संवत्*[१] १८७६ के प्रथम ज्येष्ठ शुक्ल ११ एकादशी के दिने श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज अपने निवासस्थान में विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के समक्ष बड़े बड़े कुछ साधु बैठे थे ।

उनके आगे श्रीजीमहाराज ने वार्ता कही कि ''क्रोधी, ईर्ष्यावाला, कपटी तथा मानी; ये चार प्रकार के जो मनुष्य हैं, वे यदि हरिभक्त होते हैं, तो भी उनके साथ हमें मेल नहीं रहता। और क्रोध तथा ईर्ष्या ये दोनों मान के आश्रय से रहते हैं। और कामी का तो हमें किसी काल में विश्वास ही नहीं है कि 'वह सत्संगी है।' और **कामी तो सत्संग में रहा हो तो भी विमुख जैसा है। जिसे पञ्च वर्तमान में किसी तरह से खोट न हो, और चाहे तैसे वचनों के दाब[(१)] में ले लें, और उसका मनचाहा छुड़वाकर हमारी रुचि में रखे तो भी किसी भी तरह से देह[(२)] पर्यन्त व्याकुल न हो जाये, ऐसा होता है वह पक्का सत्संगी है। और ऐसे हरिभक्त पर हमें किये बिना ही सहज ही स्नेह होता है।** और ऐसे गुण न हो तो, स्नेह करने जाये तो भी स्नेह नहीं होता। और हमारी तो यह ही प्रकृति है कि जिनके हृदय में भगवान की ऐसी परिपूर्ण भक्ति रहती है, उन पर ही स्नेह होता है।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥७६॥

वचनामृत ७७ : 'ज्ञान की आड़ में धर्म को मिथ्या न करने का'

संवत्*[२] १८७६ के द्वितीय ज्येष्ठ कृष्ण ३० अमावस्या के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर आगे पश्चिमी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग

---

*[१]दि. २३-५-१८२०, मंगलवार

*[२]दि. १०-७-१८२०, सोमवार

१. दबाव २. जीवन

पर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के समक्ष मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तथा मुनि परस्पर प्रश्न-उत्तर कर रहे थे। तब एक मुनि नासमझी से भगवान के निश्चय का बल लेकर धर्म को झुठलाने लगे[१]। तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''भगवान के ज्ञान की आड़[२] लेकर जो धर्म को मिथ्या कर देता है, उसे असुर जानें। और भगवान के स्वरूप में तो ऐसे कल्याणकारी अनन्त गुण रहते हैं, जिसे श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध[३] में पृथ्वी ने धर्म के प्रति कहे हैं। इसलिए जिसे भगवान का आश्रय होता है, उसमें तो भगवान के कल्याणकारी गुण आते हैं। और जिसे भगवान के स्वरूप का निश्चय होता है, उसमें एकादशस्कन्ध में कहे ऐसे जो साधु के तीस लक्षण, वे आते हैं। इसलिए जिसमें तीस लक्षण सन्त के न हो, उसे पूरा साधु न समझें। **जिसे भगवान का निश्चय होता है, उसके हृदय में तो प्रभु के कल्याणकारी गुण निश्चित आते हैं।** और जब प्रभु के गुण सन्त में आते हैं, तब वह साधु तीस लक्षणों से युक्त होता है। इसलिए **आज से जो कोई पञ्च वर्तमानरूप जो धर्म हैं, उसे छोड़कर ज्ञान का या भक्ति का बल लेगा, वह गुरुद्रोही, वचनद्रोही है। और ऐसी धर्मभंग की बात जो कोई करता हो, उसे विमुख कहना।** और ऐसा कहना कि 'तुमने तो असुर का पक्ष लिया है, उसे हम नहीं मानेंगे,' ऐसा कहकर उस अधर्मी की बात को झुठला दें[४]।''

फिर सन्त ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज! भगवान का कोई अति दृढ़ भक्त हो, उसे देह त्याग करते समय पीड़ा हो आती है, तथा बोलने का भी कुछ ठिकाना नहीं रहता है, और कोई[५] तो कुछ पक्का हरिभक्त दिखाई नहीं देता, किन्तु वह देह त्याग करते समय तो अति समर्थ दिखाई देता है और भगवान के प्रताप को अतिशय जानकर तथा भगवान की महिमा मुख से

१. मिथ्या जैसे करने लगे। २. आश्रय, आधार, बल ३. इस प्रकरण के ६२वें वचनामृत में वे गुण कहे हैं। ४. मिथ्या कर दें। ५. दूसरा साधारण भक्त।

कहकर सुखी होता हुआ देह का त्याग करता है, इसका क्या कारण है ? जो अच्छा है उनका अन्त समय अच्छा नहीं दिखता है और जैसा तैसा हो उनका अन्त समय में अच्छा दिखता है, इसका कारण कहिए – यह प्रश्न है ।'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि[१] ''देश, काल, क्रिया, संग, ध्यान, मन्त्र, दीक्षा तथा शास्त्र; ये आठ जैसे होते हैं वैसी पुरुष की मति होती है । ये यदि शुभ हों, तो शुभ मति होती है और अशुभ हों तो अशुभ मति होती है । पुरुष के हृदय में परमेश्वर की माया से प्रेरित होकर चारों युगों[२] के धर्म क्रमशः प्रवृत्त रहते हैं; तो यदि अन्त समय सत्युग का धर्म आ जाये तो मृत्यु बहुत शोभित हो उठती है तथा त्रेता और द्वापर का धर्म आ जाये तो उससे कम शोभित होती है और कलि का धर्म मृत्यु समय आ जाये तो अतिशय खराब दिखाई देती है; इस तरह अन्त समय में शुभ-अशुभ तो काल वशात् है । अथवा जाग्रत, स्वप्न, तथा सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ हैं, उनमें यदि अन्त समय में जाग्रत अवस्था चलती हो तो जो पापी हो वह भी बोलते-चलते देह त्याग करता है, और अन्त समय में यदि स्वप्नावस्था चलती हो तो, झीखने[३] जैसा कुछ न कुछ बोलता हुआ भगवान का भक्त हो तो भी देह त्याग करता है, और अन्त समय में सुषुप्ति अवस्था प्रधान रहती हो तो भगवान का भक्त हो अथवा विमुख हो तो भी बेहोशी की बेहोशी में रहकर देह त्याग करता है, परन्तु अच्छा या बुरा कुछ बोला नहीं जाता । और अन्तकाल में इन तीनों अवस्था से पर तथा ब्रह्मरूप ऐसी अपनी जीवात्मा को साक्षात्कार मानता हुआ जो देह छोड़ता है, वह तो जैसी ईश्वर को सामर्थ्य होती है, वैसी सामर्थ्य दिखाकर देह छोड़ता है । और इस तरह ब्रह्मरूप होकर तथा सामर्थ्य दिखाकर देह छोड़ना,

१. उसके दो कारण है, एक काल और दूसरी अवस्था, वे दोनों शुभ और अशुभ हैं । उसमें शुभ काल और अवस्था अन्त समय में चलती हो तो मृत्यु, शोभायमान होती है । और अशुभ रहता है तो शोभायमान नहीं होती है । आगे गति में तो शुभाशुभ काल और अवस्था हेतु नहीं हैं उसमें तो स्वयं का धर्मानुष्ठान हेतु है । इतना उत्तरार्थ है, उसे विस्तार से स्पष्टता से कहा है
२. सत्ययुग, द्वापरयुग, त्रेतायुग, कलियुग ३. अस्पष्ट, समझ न सके ऐसा ।

वह तो भगवान के भक्त को ही होता है, परन्तु दूसरे विमुख जीव को ऐसा हो ही नहीं सकता । इस तरह से काल वशात् अन्त समय में शुभ-अशुभ दिखाई देता है अथवा अवस्थाओं के योग से शुभ-अशुभ दिखाई देता है । और विमुख हो, उसे अन्त काल में जाग्रत अवस्था चलती हो, और बोलते-बोलते देह त्याग कर दे, इससे कुछ उनका कल्याण नहीं होता है, **विमुख तो अच्छी तरह से देह त्याग करता हो अथवा बुरी तरह से देह त्याग करता हो, तो भी नरक में ही जाता है । और भगवान का भक्त हो, वह बोलते-बोलते देह त्याग करें अथवा झंखने जैसा बोलकर देह त्याग करता है, अथवा शून्य मौन रहकर देह त्याग करता है, फिर भी उसका कल्याण ही है, परन्तु उसमें कोई संशय नहीं है,** भगवान के भक्त को ऐसा समझना है । और जो भगवान का भक्त हो उसे अन्त समय में स्वप्नादिक के योग से ऊपर[१] से पीड़ा जैसा दिखाई देता हो, परन्तु उसे अन्तर में तो भगवान के प्रताप से अति आनन्द रहता है । इसलिए निश्चित ही हरिभक्त हो, और अन्त समय में बकझक[२] करता हुआ देह त्याग करता है, फिर भी उनके कल्याण में लेशमात्र भी संशय न रखें ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥७७॥

वचनामृत ७८ : 'देशकालादिक की प्रधानता का'

संवत्* १८७७ के आषाढ़ शुक्ल ३ तृतीया के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर आगे पश्चिमी द्वार के कक्ष के बरामदे में विराजमान थे । उन्होंने श्वेत खेस पहना था और श्वेत चद्दर ओढ़ी थी, मस्तक पर श्वेत पाग विराजमान थी, कण्ठ में सफेद पुष्पों का हार पहना था और अपने मुखारविन्द के समक्ष मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

*दि. १३-७-१८२०, गुरुवार

१. बाहर २. घबराहट के कारण बेमतलब का बोलना ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''सभी सन्त सुनिये, एक प्रश्न पूछते हैं।'' फिर सन्तों ने कहा कि ''पूछिए महाराज !'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''देश, काल, क्रिया, संग, मन्त्र, देवता का ध्यान, दीक्षा तथा शास्त्र ये आठ शुभ हों तो पुरुष की बुद्धि निर्मल होती है और ये आठ अशुभ हों तो पुरुष की बुद्धि भ्रष्ट होती है, इसलिए इन आठों में पूर्व संस्कार कर्म का कोई जोर है या नहीं है ?'' फिर मुनि बोले कि ''पूर्वकर्म का जोर दिखाई तो देता है । यदि शुभ पूर्वकर्म हों, तो पवित्र देश में जन्म होता है तथा अशुभ पूर्वकर्म हों, तो अशुभ देश में जन्म होता है । उसी तरह ही जो कालादिक सात हैं, उनमें से भी जैसे पूर्वकर्म होते हैं, वैसा योग बनता है। इसलिए सभी में पूर्वकर्म की प्रधानता दिखाई पड़ती है। और देशकालादिक जो आठ हैं, उनकी तो किसी किसी स्थान में प्रधानता रहती है और पूर्वकर्म की तो सभी स्थान पर प्रधानता है ।''

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''देश-काल से लेकर देवता जो परमेश्वर, वहाँ तक सभी में पूर्वकर्म की प्रधानता कहते हो, तो कौन से शास्त्र के मत से कहते हो ? उसका कोई वचन[१] कह दिखाइए । और एक कर्म की ही प्रधानता तो जैन के शास्त्र[२] में है, परन्तु दूसरे में नहीं है । दूसरे शास्त्र में तो परमेश्वर तथा परमेश्वर के भक्त का संग, उनकी ही प्रधानता है । इसलिए आप केवल पूर्वकर्म का ही प्रतिपादन करते हैं, तो ऊपर से सत्संगी हैं और छुपे[३] नास्तिक हैं क्या ? क्योंकि, नास्तिक के सिवा दूसरा तो कोई कर्म का प्रतिपादन करता नहीं है। और नास्तिक तो वेद, शास्त्र, पुराण एवं इतिहास जो भारतादिक[४] हैं, उन्हें मिथ्या समझते हैं और अपने मागधी[५] भाषा के जो ग्रन्थ हैं, उन्हें ही सच्चे मानते हैं; इसलिए वे मूर्ख होते हुए कर्म का प्रतिपादन करते हैं। यदि पूर्वकर्म से देशादिक आठ बदलते हों, तो मारवाड़[६] में कितने पुण्यवाले राजा हुए हैं, उनके लिए एक सौ हाथ गहरा पानी था,

१. प्रमाण २. तत्त्वार्थसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र इत्यादि । ३. प्रच्छन्न, भीतर से
४. महाभारत ५. बिहार-बंगाल की प्राचीन भाषा । ६. राजस्थान का एक भाग ।

जो ऊपर नहीं आया । और यदि पूर्वकर्म के वश में देश हो, तो पुण्य कर्मवाले के लिए पानी ऊपर आना चाहिए और पापी के लिए गहरा जाना चाहिए, परन्तु ऐसा तो नहीं होता है । मारवाड़ देश में तो पापी हो अथवा पुण्यवाला हो, परन्तु गहरा पानी ही निकलता है, परन्तु वह देश अपने गुण का त्याग नहीं करता है । इसलिए देश-कालादिक तो पूर्वकर्म के बदलने से बदलते नहीं है । इसलिए जो अपने कल्याण की इच्छा रखता है, उसे तो नास्तिक की तरह कर्म का बल नहीं रखना चाहिए । और जो अशुभ देश-कालादिक आठ हैं, उनका त्याग करके शुभ जो देश-कालादिक जो आठ, उनका सेवन करें । और देश तो बाहर भी शुभ-अशुभ रहता है । और अपना देहरूप जो देश, वह भी शुभ-अशुभ रहता है; वह जब देहरूप जो शुभ देश, उसमें जीव रहता हो तब शील, सन्तोष, दया, धर्म इत्यादिक जो कल्याणकारी गुण; वे रहते हैं और जब यह देहरूप जो अशुभ देश, उसमें जीव रहता हो तब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर इत्यादिक अशुभ गुण की वृद्धि होती है । और अच्छा-बुरा जो संग होता है, उसका प्रकार[१] ऐसा है कि **जिसका संग हो, उसके साथ किसी भी तरह से अन्तर रहता नहीं है, तब उसका संग हुआ जानें ।** और ऊपर से तो शत्रु को भी गले लगाकर मिलते हैं, लेकिन अन्तर में तो उसके साथ लाखों कोसों की दूरी है । इस तरह से ऊपर से संग हो, उसे संग नहीं कहा जाता । और **मन, कर्म, वचनों से जो संग करता है, उसे ही संग किया कहलाता है ।** इसलिए इस तरह मन, कर्म, वचन से संग तो परमेश्वर अथवा परमेश्वर के भक्त का ही करें, जिससे जीव का कल्याण होता है; परन्तु पापी का संग तो कभी भी न करें ।''

फिर मध्याह्न समय श्रीजीमहाराज ने सभी छोटे-छोटे विद्यार्थी साधुओं को अपने पास बुलाया और ऐसा कहा कि ''आप सभी विद्यार्थी मुझे प्रश्न पूछिए ।'' तब बड़े शिवानन्द स्वामी ने पूछा कि ''जिसे भगवान का अचल निश्चय हो, उसे कैसे पहचाना जायें ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसे

१. भेद

अचल निश्चय होता है, उसे भगवान शुभ क्रिया करते हैं अथवा अशुभ क्रिया करते हैं, वे सभी कल्याणकारी दिखाई देतीं हैं; और भगवान जीतते हैं अथवा हारते हैं; अथवा किसी स्थान पर भागने लगें; अथवा कभी प्रसन्न हो जाये, कभी शोक करने लगे; इत्यादिक अनन्त प्रकार की भगवान की क्रियाओं को देखकर जो निश्चयवाला भक्त हो, वह ऐसा कहता है कि 'प्रभु की समस्त क्रियाएँ कल्याण के लिए हैं ।' तो जब बोलता हो तब ऐसा ही ऐसा बोलता हो, तो उसे परिपक्व निश्चयवाला जानें ।''

फिर निर्मानानन्द स्वामी ने पूछा कि ''भगवान तथा भगवान के सन्त; उनके प्रति दोषबुद्धि न आये, उसका क्या उपाय है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''जैसे प्रथम कहा ऐसा भगवान का अचल निश्चय(१) हो तो उसे किसी भी प्रकार से भगवान में दोषबुद्धि नहीं आती है; और ऐसे बड़े जो भगवान है, उनके दास की महिमा का जब विचार करता है तब भगवान के भक्त का भी किसी भी प्रकार से अवगुण आता नहीं है ।''

फिर निर्मानानन्द स्वामी तथा छोटे प्रज्ञानानन्द स्वामी; इन दोनों ने मिलकर पूछा कि ''जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में भगवान की मूर्ति अखण्ड कैसे दिखाई दे ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''पूर्वजन्म का कोई शुभ संस्कार(२) बलिष्ठ(३) हो, उसे भगवान की मूर्ति तीनों अवस्थाओं में अखण्ड दिखाई देती है; अथवा भय, काम तथा स्नेह ये तीनों जिसमें अखण्ड हों, उसे भगवान बिना दूसरा पदार्थ हो, वह भी तीनों अवस्थाओं में अखण्ड दिखाई देता है, तो भगवान दिखाई दें उसमें क्या कहना? वह तो दिखते ही(४) हैं ।''

फिर छोटे शिवानन्द स्वामी ने पूछा कि ''सत्संग में अचल नींव(५) जिसकी हो, उसे कैसे जाना जायें ?'' एक तो यह प्रश्न है और दूसरा प्रश्न

१. माहात्म्यज्ञान पूर्वक । २. पूर्वजन्म में संपादन की हुई प्रेमपूर्वक नवधाभक्तिरूपी भावना । ३. बलवान ४. द्रौपदी को अति स्नेह से, गोपीयों को कामभाव से और कंस को अति भय से श्रीकृष्ण भगवान तीनों अवस्थाओं में अखंड दिखाई देते थे । ५. निश्चय, दृढ़ता

यह है कि ''मान, काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर और ईर्ष्या इत्यादिक जो शत्रु हैं, उनका किस प्रकार से नाश होता है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसे सत्संग का अति दृढ़ पक्ष हो, वह जब कोई सत्संग का खण्डन-सा बोले, तब सहन ही न कर पाये । जैसे अपने कुटुम्बी हो, और उनके साथ झगड़ा(१) हुआ हो, तो भी जब उनका कोई खण्डन-सा बोलता है, तब सहन नहीं हो पाता; उसी तरह देह के सम्बन्धियों का जैसा पक्ष है, वैसा ही जिसे सत्संग का हो, उसकी नींव सत्संग में अचल है । और दूसरे प्रश्न का यह उत्तर है कि 'जिसे ऐसा सत्संग का पक्ष रहता हो, वह सन्त अथवा सत्संगी के साथ मान, मत्सर, ईर्ष्या कैसे रख सकता है ? इसलिए जिसे सत्संग का पक्ष हो उनके मान, मद, मत्सर, ईर्ष्या आदिक सभी शत्रु का नाश हो जाता है । और जिसे सत्संगी का पक्ष न हो, तथा सत्संगी एवं कुसंगी में समभाव हो तो चाहे ऐसा सत्संग में बड़ा कहलाता हो, तो भी अन्त में आखिरकार जरूर विमुख हो जाता है ।''

फिर छोटे आत्मानन्द स्वामी ने पूछा कि ''भगवान तथा भगवान के सन्त, वे किसी को तो निधड़क(२) होकर जैसा कहना घटित हो वैसा कहते हैं और उसकी ओर से उन्हें ऐसा विश्वास होता है कि 'इसका मान करेंगे अथवा तिरस्कार करेंगे तो भी किसी प्रकार से वह पीछे नहीं हटेगा;' ऐसा जो भरोसा, वह भगवान तथा भगवान के सन्त को किस प्रकार होता है ?'' एक तो यह प्रश्न है । और दूसरा प्रश्न यह है कि ''जिस सन्त के पास रहतें हों, उन्हें जैसा अपने पर प्रेम हो, वैसा समस्त सन्तों को कैसे रहता है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''शिवानन्द स्वामी के प्रश्न का जैसा उत्तर किया है, वैसा सत्संग का जिसे दृढ़ पक्ष हो, तो उसे कहते-सुनते भगवान तथा भगवान के सन्त को संशय नहीं होता है और उसका किसी तरह कुविश्वास होता(३) नहीं कि इसे कहेंगे तो यह सत्संग में से चला जायेगा । उसकी ओर का तो दृढ़ विश्वास ही होता है कि 'इसका सत्संग तो अचल है, इसलिए उसे कहेंगे तो उसकी कोई फिक्र(४) नहीं है ।' और दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि 'जिनके

१. बोलचाल, मनदु:ख २. बेधड़क, बेखटके, नि:संकोच ३. आता ४. चिन्ता

पास स्वयं पहले रहा हो, और उनके साथ उन्हें अनबन हुआ तब दूसरे के पास जाकर रहता है, तब भी जिनके पास पहले रहा हो, उनका यदि कोई खण्डन-सा बोलता हो तो उसे सहन नहीं कर पाता, तब सभी सन्तों को ऐसा समझ में आता है कि यह तो कृतघ्नी नहीं है, जिनके पास[१] चार अक्षर पढ़ा है, उनका गुण छोड़ता नहीं है, इसलिए बहुत अच्छा साधु है,' ऐसा जानकर सभी सन्तों को स्नेह रहता है। और जिनके पास प्रथम रहा हो उसे छोड़कर दूसरे के पास जाता है तब प्रथम जिनके पास रहा हो, उनकी यदि निन्दा करता है, तब सभी सन्तों को ऐसा जानने में आता है कि 'यह कृतघ्नी पुरुष है, तो जब अपने साथ नहीं बनेगा तब अपनी भी निन्दा करेगा,' फिर उस पर किसीको स्नेह नहीं रह पाता ।''

फिर दहरानन्द स्वामी ने पूछा कि ''भगवान तो अक्षरातीत हैं, मन-वाणी से पर हैं, सभीको अगोचर हैं, वे सभीको प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। इसका क्या कारण है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''अक्षरातीत तथा मन-वाणी से पर और अगोचर ऐसे जो भगवान हैं, वे ही स्वयं कृपा करके ऐसा संकल्प करते हैं कि '**ज्ञानी-अज्ञानी ऐसे मृत्युलोक के जो मनुष्य हैं, वे सभी मुझे देखें ।' ऐसा संकल्प करके सत्यसंकल्प ऐसे जो भगवान हैं, वे कृपा करके मृत्युलोक के सभी मनुष्य उन्हें देखे ऐसे होते हैं**[२] ।''

फिर त्यागानन्द स्वामी ने पूछा कि ''भगवान प्रसन्न कैसे होते हैं ?' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे भगवान को प्रसन्न करना हो, उसे तो देह के सुख की इच्छा नहीं रखनी है, और दर्शन[३] का भी लोभ न रखें तथा भगवान जैसा कहे वैसा करें; यह ही भगवान को प्रसन्न होने का साधन है ।''

फिर लक्ष्मणानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''भगवान तथा भगवान के सन्त का जो समागम है, वह आश्चर्य जैसा[४] कैसे समझें तब जानने में आता

१. रहकर २. मनुष्याकार ३. भगवान के ४. आश्चर्यकारी

है ? और आठों प्रहर अहो ! अहो ![1] जैसा कैसे रहता है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''जो भक्त ऐसा समझता है कि '**यह भगवान तथा ये सन्त वे सभी वैकुण्ठ, गोलोक तथा ब्रह्मपुर; वहाँ के निवासी हैं । तो सन्त तथा परमेश्वर जहाँ विराजमान हैं, वहाँ ही वे सभी धाम हैं, और उन सन्तों के साथ मेरा निवास हुआ है, यह मेरा अति बड़ा भाग्य है ।**' इस तरह से समझता हो, तो आठों प्रहर आश्चर्य जैसा रहता है और आठों प्रहर आनन्द के सागर में डूबा रहता है ।''

फिर परमात्मानन्द स्वामी ने पूछा कि ''एकादश स्कन्ध में सन्त के जो तीस लक्षण[2] कहे हैं, वे कौन सा उपाय करने से आते हैं ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''**जो तीस लक्षण से युक्त सन्त हो, उनमें गुरुबुद्धि एवं देवबुद्धि रखकर मन-कर्म-वचन से उनका संग करें, तो उस संग करनेवाले में भी ये तीस लक्षण[3] आते हैं ।** इसी तरह से सभी शास्त्रों में कहा है कि 'सन्त का सेवन करता है तब सन्त समान होता है ।''

फिर शान्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''एक तो भगवान के स्वरूप में अखण्ड वृत्ति रखता है, तथा दूसरा तो भगवान का भजन-स्मरण भी करता है तथा कथा-कीर्तन भी करता है और सुनता है; इन दो प्रकार के भगवान के जो भक्त है, उनमें कौन-सा श्रेष्ठ है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसे निर्विकल्प समाधि होती हो और देह का ख्याल न रहे ऐसा हो, तो वह कथा-कीर्तन न करता हो तो भी श्रेष्ठ है । और जिसे देह का ख्याल

---

१. आनन्दाश्चर्य ! २. श्रीभगवानुवाच :

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् । सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥ २९
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः । अनीहो मितभुक्शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥ ३०
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः । अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥ ३१
आज्ञायैवं गुणान्दोषान्मयादिष्टानपि स्वकान् । धर्मान्सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स तु सत्तमः ॥ ३२
ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान्यश्चास्मि यादृशः । भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः ॥ ३३
(भा.११/११/२९-३३)

३. ग.प्र.६२ के वच. की टिप्पणी में कहे है।

रहता हो, और भजन में से[1] अपने आप उठकर खाने–पीने की देह की जो क्रिया, उन सभीको करता हो और यदि भगवान की कथा–कीर्तन न करता हो तथा न सुनता हो तो, उनसे तो भगवान की कथा–कीर्तन करता हो तथा सुनता हो वह श्रेष्ठ है ।''

फिर आधारानन्द स्वामी ने पूछा कि ''किस तरह रहा जाये तो भगवान तथा भगवान के सन्त प्रसन्न होते हैं ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''पञ्चवर्तमान सम्पूर्ण रखें जाये और उसमें किसी प्रकार की खोट आने न दे, तो भगवान तथा भगवान के सन्त प्रसन्न होते हैं, इसमें लेशमात्र संशय नहीं है ।''

फिर वेदान्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''जिससे प्रथम कुछ गड़बड़–सा[2] वर्तन हुआ हो, फिर वह कौन सा उपाय करे तब उस पर भगवान तथा भगवान के सन्त प्रसन्न होते हैं ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''अपने में जो अनिष्ट[3] स्वभाव हो, उसे देखकर भगवान तथा भगवान के सन्त नाराज होते हों, उस स्वभाव के साथ जब वैर किया जाय तब जिसे जिसके साथ वैर हो, वह तो सर्व जगत् जान पाये ऐसा होता है, तो उसकी सन्त को भी खबर[4] होती है । तब सन्त तो इस स्वभाव के वैरी हैं, इसलिए अपने पक्ष में मिलकर और अपने पर दया करते हैं और जिस प्रकार से उस स्वभाव को जीता जाये, ऐसा उपाय बताते हैं । इसलिए जिस स्वभाव ने अपनी बेइज्जती की हो, उस स्वभाव के साथ प्रबल दृढ़ वैर बाँधकर उसका मूल निकल जाये ऐसा उपाय करें । और जब इस तरह से रहते हैं तब भगवान तथा भगवान के सन्त अपने पर पूर्ण दया करते हैं । और **जब हरि की तथा हरिजन की जिस पर दया होती है तब उसे हृदय में अतिशय सुख रहने लगता है और कल्याण के मार्ग पर चलने की सामर्थ्य भी बढ़ता है और अपने शत्रु जो काम, क्रोध, लोभादिक उनका बल क्षीण हो जाता है ।** इसलिए

१. ध्यान में से २. अनुचित, अघटित, खराब आचरण ३. खराब ४. ख्याल

अपने हृदय में जो शत्रु अतिशय पीड़ा पहुँचाता हो, उसके साथ अतिशय वैर करें तो उसकी परमेश्वर सहायता करते हैं। इसलिए अपने शत्रु जो कामादिक, उनके साथ जरूर वैर करना आवश्यक[१] है। तथा **अपने अन्तःशत्रु के साथ वैर करने में बहुत ही लाभ है।''**

फिर भगवदानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज ! भगवान का भय जैसे पास बैठने पर रहता है, वैसे का वैसा भय दूर जाने पर भी बना रहें; उसे कैसे समझें तो बना रहें ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''जैसी पास रहने में भगवान की मर्यादा रहती है, वैसी दूर जाये तब भी रहती है, यदि भगवान का पूरा माहात्म्य समझ ले तो। वह माहात्म्य इस प्रकार समझें कि अक्षरातीत ऐसे जो पुरुषोत्तम भगवान हैं, उनकी इच्छा से अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति होती है और उन ब्रह्माण्डों को अपनी शक्ति से धारण किये हुए है। और वे भगवान व्यतिरेक होते हुए उन सभीमें अन्वयरूप से रहते हैं और अन्वय होते हुए भी व्यतिरेक हैं। वे भगवान जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण हैं, वैसे के वैसे अणु-अणु में अन्तर्यामीरूप से विराजमान हैं। उन भगवान के हिलाये बिना एक तृण भी हिलने में समर्थ नहीं है। और अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड में जो उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय होता है, और उनमें सुख-दुःख का जीवों को सम्बन्ध होता है, वे सभी पुरुषोत्तम भगवान के हाथ में हैं। जितना भगवान करते है, उतना ही होता हैं। ऐसे जो भगवान हैं, वे जीवों के कल्याण के लिए पृथ्वी पर पधारते हैं, तब स्वयं घोड़े पर बैठकर चलते हैं तब घोड़ा भगवान को उठाकर चलता है, परन्तु वे तो घोड़े के आधार हैं। और पृथ्वी पर बैठे हों तब ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वी भगवान को धारण कर रही है, परन्तु वे तो स्थावर-जंगम सहित समग्र पृथ्वी को धारण कर रहे हैं। जब रात्रि होती है तब चन्द्रमा या दीपक या मशाल; उनके प्रकाश से भगवान का दर्शन होता है और दिन में सूर्य के प्रकाश से दर्शन होता है, परन्तु वे भगवान तो सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि

१. उचित

इन सभीको प्रकाश के दाता हैं। ऐसा अद्‌भुत सामर्थ्य है, तो भी जीवों के कल्याण के लिए मनुष्य जैसे होकर मुझे दर्शन देते हैं।' इस तरह माहात्म्य समझ ले तो जैसी पास रहने पर मर्यादा रहती है, वैसी की वैसी दूर जाये तो भी रहती है।''

फिर तब भगवदानन्द स्वामी ने दूसरा प्रश्न पूछा कि ''भगवान के किये बिना कुछ नहीं होता है, सब भगवान का ही किया होता है; तब भगवान को अथवा भगवान के भक्त को कुछ जब अशुभ देश-काल आता है, तब उस दुःख को भगवान क्यों टालते नहीं हैं और उसे टालने का मनसूबा[१] क्यों करते हैं ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''यह तो जब भगवान मनुष्यदेह धारण करते हैं, तब भगवान की ऐसी रीति ही है कि मनुष्य की तरह सभी व्यवहार करते हैं, परन्तु अलौकिक सामर्थ्य को प्रकट नहीं करते हैं।' इस तरह से सभी शास्त्र में भगवान के चरित्र कहे हैं; जब भगवान इससे कुछ नये चरित्र करें तब संशय करियेगा, परन्तु जहाँ तक पूर्व में अवतार हुए हैं, उनके जैसे चरित्र करते हैं तब तक तो संशय न करें।''

फिर निर्मलानन्द स्वामी ने पूछा कि ''किस तरह समझें तब प्रभु के सन्त की महिमा अतिशय जानने में आये ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''मत्स्य, कच्छ, वराह, वामन, परशुराम तथा राम-कृष्णादिक ये जो भगवान के अनन्त अवतार हैं, उनकी महिमा का विचार करें कि 'जिन भगवान ने राम-कृष्णादिक अवतार से अनन्त जीवों का उद्धार किया है, वे ही भगवान के ये सन्त हैं, उनका मुझे समागम मिला है, इसलिए मैं भी अति बड़े भाग्यवाला हूँ।' ऐसा समझने लगे तो दिन-प्रतिदिन सन्त की महिमा अतिशय जाननें में आती है।''

फिर नारायणानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण इन तीनों देह में जीव अन्वयरूप से कैसे हैं, और व्यतिरेकरूप से कैसे हैं ?''

---

१. केवल संकल्प

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''जब देह में सुख –दुःख का योग होता है, तब उस सुख–दुःख को जीव अपने में मान लेता है तब वह जीव अन्वयरूप से है और जब तीनों देह के सुख–दुःख से अपने को न्यारा[१] समझता है, तब वह जीव व्यतिरेक है ।''

फिर शून्यातीतानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''जब सत्संग करता है तब सन्त में और सत्संगी में अतिशय स्नेह रहता है और बाद में क्यों कम हो जाता है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''प्रथम तो उसे सन्त में अलौकिक मति रहती है और बाद में तो उस सन्त का अल्प दोष देखकर अपनी कुबुद्धि से अधिक दोष ठहराता है। फिर उसकी असद्वासना हो जाती है, जिससे सन्त के प्रति स्नेह कम हो जाता है। उसे यदि विचार करके असद्वासना को टाल दे, तो पहले था वैसा शुद्ध हो जाता है; और यदि असद्वासना न टाल दे तो अन्त में आखिरकार विमुख हो जाता है ।''

फिर प्रसादानन्द स्वामी ने पूछा कि ''जीव को मोक्ष का क्या हेतु है?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''**जैसा सन्त कहे वैसा ही संशय रहित होकर करने लगे, वह ही जीव के लिए मोक्ष का हेतु है ।**''

फिर त्रिगुणातीतानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''देश, काल, क्रिया, संग; उनकी विषमता हो तब वहाँ क्या उपाय किया जाये ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''देशादिक विषम हो, वहाँ तो छूटने का यह ही उपाय है कि वहाँ से जिस तिस तरह से भाग जायें ।''

फिर छोटे निर्विकारानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''भगवान का निश्चय है, तो भी असद्वासना क्यों टलती नहीं है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान का माहात्म्य यथार्थ जाना नहीं है इसलिए असद्वासना टलती नहीं है ।''

फिर बड़े योगानन्द स्वामी ने पूछा कि ''भगवान का निश्चय परिपूर्ण है, फिर भी भगवान में एवं भगवान की कथा में स्नेह क्यों नहीं होता है ?''

१. भिन्न, अलग

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''भगवान का जैसा माहात्म्य है, वैसा उसे समझ में आया नहीं है, और यदि भगवान का माहात्म्य यथार्थ समझ में आ जाये तो भगवान के बिना दूसरे में स्नेह रखने जाये तो भी रहता नहीं है और एक भगवान तथा भगवान के सन्त तथा भगवान के कथा-कीर्तन में ही अचल प्रीति होती है ।''

फिर प्रतोषानन्द स्वामी ने पूछा कि ''भगवान की भक्ति अचल कैसे रहती है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण और वासुदेव; ये जो चतुर्व्यूह तथा केशवादिक जो चौबीस मूर्तियाँ तथा वराहादिक जो अवतार; इन सभीके कारण ऐसे जो प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम भगवान उनकी महिमा अतिशयता[१] से समझी जाये, तो उसे भगवान की श्रवणादिक जो नवधा भक्ति है, वह अचल रहती है ।''

इस प्रकार सभी मुनियों के प्रश्नों का उत्तर करके फिर श्रीजीमहाराज ने सभीसे पूछा कि ''काम, क्रोध और लोभ ये तीनों नरक के द्वार हैं, इनमें से जिसे जो अतिशय जीतनें में आये हों, उसे सभी कहिए ।'' फिर जिनको जिस बात की अतिशय दृढ़ता थी, वे उसके अनुसार बोले । मुनियों के उन वचनों को सुनकर श्रीजीमहाराज अतिशय प्रसन्न हुए और **आत्मानन्द स्वामी** तथा **योगानन्द स्वामी** तथा **भगवदानन्द स्वामी** तथा **शिवानन्द स्वामी** इन चारों को प्रसन्न होकर हृदय में चरणाविन्द दिए और ऐसा बोले कि जैसे महानुभावानन्द स्वामी आदिक जो बड़े हैं, उनके साथ ये चार भी हैं; इसलिए इनका अपमान किसीको करने न दें'' ऐसा मुक्तानन्द स्वामी आदिक जो बड़े साधु, उनको निर्देश[२] करके श्रीजीमहाराज जय सच्चिदानन्द कहकर अपने निवास स्थान पर भोजन करने के लिए पधारे ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा प्रथम ॥७८॥

॥ श्रीगढ़डा प्रथम प्रकरणं समाप्तम् ॥

---

१. अत्यधिकता से २. सूचित

श्री सारंगपुर प्रकरण

......ऐसा समझता है,
तो उन सन्त से
भगवान तथा भगवान के धाम,
वे अणुमात्र भी दूर नहीं है।
इस तरह के जो सन्त हों,
वे तो जैसे श्वेतद्वीप में मुक्त हैं,
उनके सदृश हैं।
और ऐसे सन्त का दर्शन हुआ
तब ऐसा समझें कि,
'मुझे साक्षात्‌रूप से भगवान का दर्शन हुआ।'
– सारंगपुर ॥१०॥

सारंगपुर

श्रीस्वामिनारायण संप्रदाय के अनुयायी एवं अन्य जनमानस में इस छोटे से गाँव की छवि वर्तमान समय में अद्वितीयधाम के रूप में चारों ओर फैली हुई है। परम भक्तराज जीवाखाचर, राठोड़ धाधल, राणदे धाधलाणी इत्यादि के परम विशुद्धभाव से आकर्षित होकर अक्षराधिपति तथा परमहंस नन्द सन्तगणों ने अनेक बार पधारकर इस गाँव की धरा (भूमि) को धाम का स्वरूप प्रदान किया है।

स्वयं सर्वावतारी पूर्णपुरुषोत्तम भगवान श्रीस्वामिनारायण महाप्रभु ने भावि मुमुक्षु आत्माओं को लक्ष्य में रखकर अनमोल अठारह-अठारह उपनिषदों के प्रबोधन द्वारा अद्‌भुत करुणावृष्टि से सारंगपुर की धरा को रसमय की है।

फगवा का वरदान, स्वयं प्रभुने घर-घर जाकर भिक्षा मांगी, सारंगपुर निवासियों को यमदूत रावण से रक्षा करने हेतु लक्ष्मण रेखारूपी वरदान आदि अनेक ऐतिहासिक लीलाओं का आलेखन शास्त्रों के सुवर्ण पृष्ठों पर अंकित है। महा समर्थ सन्त योगीवर्य सद्. श्री गोपालानन्द स्वामी द्वारा प्रतिष्ठित श्रीहनुमानजी महाराज आज प्रगट स्वरूप से यहाँ विराजमान हैं। उसके साक्षीरूप में सारंगपुर धाम की धरा आज भी मुमुक्षुओं के कर्ण विवर को परात्पर की दिव्य लीलाओं के ब्रह्मस्पंदनों से पुलकित करती है।

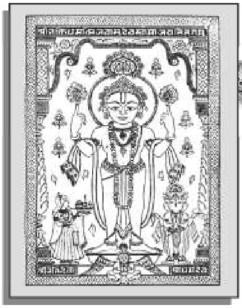

॥ वृत्तालये स भगवान् जयतीह साक्षात् ॥

श्रीसारंगपुर प्रकरणम्

वचनामृत १ : 'मन जीतने का'

संवत्* १८७७ के श्रावण कृष्ण ५ पंचमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज गाँव श्रीसारंगपुर स्थित जीवाखाचर के राजभवन में उत्तराभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविंद के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि "**जितं जगत् केन मनो हि येन**'[१] इस श्लोक में ऐसा कहा है कि जिसने अपना मन जीता, उसने सर्व जगत जीता[२], तो मन जीता, यह कैसे जाना जाये ?" तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पञ्च विषयों में से जब इन्द्रियाँ निवृत्त[३] हो जायें और किसी भी विषय को प्राप्त करने की इच्छा न रहे, तब सभी इन्द्रियाँ वश में होती हैं। और जब इन्द्रियाँ विषय का स्पर्श ही न करें, तब मन भी इन्द्रियों तक नहीं आता है और अन्तर[४] में ही रहता है। इस तरह **जिसे पञ्चविषय का त्याग अति दृढ़ता से हुआ, तब उसका मन जीता हुआ जानें।** और यदि विषय में थोड़ी भी प्रीति हो, तो यदि मन जीता हो तो भी न जीता जानें।"

---

*दि. २८-८-१८२०, सोमवार

१. मणिरत्नमाला **२.** भागवत में प्रह्लादजी ने हिरण्यकशिपु के प्रति भी "**दस्यून्पूरा षण्णविजित्य लुम्पतो मन्यन्त एके स्वजिता दिशो दश**" इत्यादि कहा है। **३.** विषय की ओर जाकर परावर्तित हो जाय। **४.** बाह्य विषयाभिमुख न होकर अन्तरात्माभिमुख रहता है।

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''विषय की निवृत्ति होने का कारण तो वैराग्य है या परमेश्वर में प्रीति है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''एक तो विषय की निवृत्ति का कारण आत्मनिष्ठा है और दूसरा कारण माहात्म्य सहित भगवान का ज्ञान है । उनमें आत्मनिष्ठा[१] तो इस प्रकार की होनी चाहिए कि 'मैं चैतन्य हूँ; तथा देह जड़ है, और मैं शुद्ध हूँ, तथा देह नरकरूप है, और मैं अविनाशी हूँ, तथा देह नाशवंत है, और मैं आनन्दरूप हूँ तथा देह दुःखरूप है ।' इस तरह से जब देह से अपनी आत्मा को सर्वप्रकार से अतिशय विलक्षण समझता है, तब देह को अपना रूप मानकर विषय में प्रीति करे ही नहीं । **इस तरह आत्मज्ञान से विषय की निवृत्ति होती है ।** और भगवान की महिमा का इस प्रकार से विचार करें कि 'मैं आत्मा हूँ और जो प्रत्यक्ष भगवान मिले हैं, वे परमात्मा हैं । और गोलोक, वैकुण्ठ, श्वेतद्वीप, तथा ब्रह्मपुर तथा अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के पति जो ब्रह्मादिक देव हैं, उन सबके स्वामी जो श्रीपुरुषोत्तम भगवान हैं, वे मुझे प्रत्यक्ष मिले हैं और वे मेरी आत्मा में भी अखण्ड विराजमान हैं और उन **भगवान के एक निमेष मात्र के दर्शन पर अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के जो विषय सुख हैं, वे सभीको वार फेर[२] करके त्याग दिया जाये। भगवान के एक रोम में जितना सुख रहता है उतना सुख यदि अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के विषय सुख को एकत्रित करने पर भी उनके कोटि के एक भाग के बराबर भी नहीं होता ।** जो भगवान का अक्षरधाम हैं, उसकी बराबरी[३] में अन्य देवताओं के जो लोक हैं, उन्हें मोक्षधर्म[४] में नरकतुल्य कहा गया है । ऐसे भगवान हैं, वे मुझे प्रत्यक्ष[५] मिले हैं, उन्हें छोड़कर नरक के कुण्ड जैसे विषय के सुख की मैं क्यों इच्छा करुँ ? और विषय सुख तो केवल

---

१. जिसमें आत्मनिष्ठा आती है उसमें वैराग्य भी सहज ही आ जाता है और जिसे माहात्म्यज्ञान सिद्ध होता है, उसमें स्वधर्म और प्रीति भी आ जाती है इसलिए आपने कहे हुए वैराग्य आदि तीन साधन की अपेक्षा आत्मनिष्ठा और माहात्म्यज्ञान वही विषय की निवृत्ति होने में श्रेष्ठ साधन है ।

२. न्योच्छावर ३. तुलना

४. **''स्थानानि निरया एव स्थानस्य परमात्मन:''** इस श्लोक से कहा है । ५. प्रकट

दु:खरूप ही है ।' **इस प्रकार भगवान के माहात्म्य को जानने से विषय की निवृत्ति होती है ।** इस प्रकार जो आत्मज्ञान तथा परमात्मा का ज्ञान,(१) उनमें से जो वैराग्य प्रकट होता है, उसी वैराग्य से सभी विषय सुख की वासना की निवृत्ति हो जाती है। जिसने इस प्रकार समझकर विषय सुख का त्याग किया, उसे पुन: विषय में प्रीति होती ही नहीं । उसका ही मन जीता गया कहलाता है । और ऐसी समझ(२) के बिना यदि अधिक स्नेह दिखाई देता हो, तो भी जब कोई उत्तम विषय की प्राप्ति हो जाये तब भगवान को छोड़कर विषय में प्रीति करता है अथवा पुत्र-कलत्रादिक में प्रीति करता है अथवा रोगादिक सम्बन्धित पीड़ा हो अथवा पञ्चविषय का सुख हो, वह जब मिट जाता है तब भगवान में प्रीति नहीं रहती है और व्याकुल जैसा हो जाता है । जैसे कुत्ते का बच्चा हो, वह भी जब छोटा हो तब सुन्दर दिखता है, उसी तरह ऐसे की भक्ति प्रथम अच्छी दिखती है, परन्तु अन्त में शोभास्पद नहीं रहती(३) ।''

॥ इति वचनामृतम् सारंगपुर ॥१॥७९॥

वचनामृत २ : 'भगवान की मूर्ति में स्नेह होने का'

संवत्* १८७७ के श्रावण कृष्ण ६ षष्ठी के दिन श्रीजीमहाराज गाँव श्रीसारंगपुर स्थित जीवाखाचर के राजभवन में उत्तराभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग बिछाया था, उस पर उत्तर की ओर मुखारविन्द किये विराजमान थे । उन्होंने मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी तथा सफेद पिछौरी ओढ़ी थी, श्वेत खेस धारण किया था और उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज मुनियों के प्रति बोले कि ''आपस में प्रश्न-उत्तर करिए।'' तब स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''भगवान के भक्त

---

*दि. २९-८-१८२०, मंगलवार

१. माहात्म्यज्ञान २. आत्मनिष्ठा और माहात्म्यज्ञान के बिना ।

३. आत्मनिष्ठा और माहात्म्यज्ञान से रहित ऐसा स्वधर्म भी शोभा नहीं देता, ऐसा जान ले ।

को[१] भगवान की मूर्ति में अतिशय स्नेह किस प्रकार से होता है ?'' फिर उस प्रश्न का उत्तर मुनि आपस में करने लगे, परन्तु उत्तर न हुआ । तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज उसका उत्तर करने लगे कि 'स्नेह तो रूप से भी होता है, काम से भी होता है, लोभ से भी होता है, स्वार्थ से भी होता है तथा गुण से भी होता है। उसमें रूप से जो स्नेह होता है वह तो जब उसके देह में पित्त निकलता है अथवा कोढ़ निकलता है तब जो स्नेह हुआ हो वह नाश हो जाता है। उसी तरह से लोभ, काम और स्वार्थ से जो स्नेह हुआ हो वह भी[२] अन्त में नाश हो जाता है। और गुण[३] से जो स्नेह हुआ हो, वह तो अन्त में रहता[४] है।'' तब श्रीजीमहाराज के प्रति सोमलाखाचर बोले कि ''ये गुण तो कौन से है, बाहरी[५] या आन्तरिक[६] ?'' 'तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''बाहरी गुणों से क्या होता है[७] ? वह तो वचन से, देह से और मन से जो गुण हों और उन गुणों से जो स्नेह हुआ हो, वह नाश नहीं होता । और आप पूछते हैं कि भक्त को भगवान के ऊपर स्नेह होता है, ऐसा ही केवल पूछते हैं ? या भगवान को भक्त पर स्नेह हो, ऐसा भी पूछते हैं ?'' तब स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी बोले कि ''उन दोनों को ही पूछते हैं ।''

फिर श्रीजीमहाराज उनकी विस्तार से वार्ता करने लगे कि ''वचन से तो किसी जीव प्राणिमात्र को दुःखी न करें। और परमेश्वर के साथ अथवा बड़े सन्त के साथ प्रश्न उत्तर कर रहे हों और उसमें परस्पर वादविवाद होता हो और उसमें अपनी जीत होगी ऐसा जानने में आये तब भी जो बड़ों से छोटा हो, वह बड़ों के सामने झुक जाएं। अपने से जो बड़े सन्त हों, उन्हें सभा में प्रश्न-

---

१. प्रत्यक्ष २. अपने-अपने हेतु की सिद्धि न होने पर। ३. भगवान के सत्य-शौचादिक जो गुण उनके दर्शन करके । ४. और भगवान को भी भक्त पर जो स्नेह होता है, वह गुणों के द्वारा ही होता हैं, वे गुण जिन्होंने संपादन किये हो उनके उपर भगवान को दृढ़ स्नेह होता है और ऐसे भक्तों को भी भगवान पर दृढ़ स्नेह होता है। ५. व्यवहार क्रिया में कुशलता आदि लौकिक ।
६. स्वधर्म, ज्ञान, वैराग्य आदि, अलौकिक। ७. वैसे गुण तो विमुख में भी होते है, लेकिन भगवान में उन्हें स्नेह होता ही नहीं हैं, इसलिए वे गुण भगवत्स्नेह में कारणभूत नहीं हैं।

उत्तर से लज्जित होना पड़े ऐसा न करें । बड़े सन्त के आगे और परमेश्वर के आगे तो अवश्य पराजित हो जायें । और परमेश्वर तथा बड़े सन्त, वे अपने को कोई वचन योग्य कहें अथवा अयोग्य कहें, तब उन वचन को तत्काल स्नेह सहित मानें । उनमें योग्य वचन हो तो उसमें आशंका नहीं होती, परन्तु कोई अयोग्य वचन कहा हो और उसमें आशंका हो सके ऐसा हो तो भी उसी समय मना न करें, उसे तो हाँ ही कहें, और ऐसा कहना कि 'हे महाराज ! आप जैसा कहेंगे वैसा मैं करुँगा ।' वह वचन अपने को मानने योग्य न हो, ऐसा हो, तो परमेश्वर तथा बड़े सन्त की मरजी हो तो उनको हाथ जोड़कर भक्तिपूर्वक ऐसा कहना कि 'हे महाराज आपने जो वचन कहा वह तो ठीक है, परन्तु उसमें मुझे इतनी आशंका होती है ।' इस प्रकार का दीन होकर वचन कहें, और यदि परमेश्वर की मरजी न हो तो उनके समीप रहते जो बड़े सन्त तथा हरिभक्त, उनके आगे कहे कि 'इस प्रकार परमेश्वर ने वचन कहा है, वह तो मेरे मानने में नहीं आता है ।' फिर उसका बड़े सन्त समाधान करें तथा परमेश्वर के आगे कहकर उन वचन का समाधान कराये, परन्तु परमेश्वर ने अयोग्य या योग्य वचन कहा हो, उसी समय मना न करें । इस प्रकार की युक्ति से बड़ो के वचन का इन्कार करें[१], परन्तु कहा और तत्काल उसे मना न करें । इस तरह से वचन के गुण से वर्ताव करें । तब उस भक्त के ऊपर परमेश्वर तथा बड़े सन्त को स्नेह होता है और उस भक्त को भी भगवान में दृढ़ स्नेह होता है । अब देह सम्बन्धी गुण से कैसा वर्ताव करें ? तो[२] अपने शरीर में जो कुछ उन्मत्तता[३] दिखाई पड़े तो भजन में बैठकर अथवा चान्द्रायण व्रत करके शरीर को निर्बल कर डालें, फिर उसे देखकर उसके देह की बड़े सन्त अथवा परमेश्वर संभालना रखाये तो ठीक है, परन्तु अपने अनुसार देह का जतन न करें तथा देह से भगवान की तथा भगवान के भक्त की टहल-चाकरी करें । इस तरह से जब वह देह के गुणों

१. सविनय मना करना, अस्वीकार करना, स्थगित करना ।

२. भगवान और उनके एकांतिक साधुओं ने निषेध किये हुए हिंसा, चोरी, आदि कर्म कभी भी देह से न करें । ३. शारीरिक बल बढ़ने से बढ़ती हुई चंचलता ।

से रहे तब उसे देखकर उस पर परमेश्वर तथा बड़े सन्त को स्नेह होता है। और उस भक्त को भी भगवान में प्रीति होती है। अब मन के गुण से जिस प्रकार वर्ताव किया जाये, उसकी रीति कहते हैं। परमेश्वर[१] का जब दर्शन करे, तब मन सहित दृष्टि को एकाग्र रखकर करें और परमेश्वर के दर्शन करते समय वहाँ कोई मनुष्य आया अथवा कुत्ता आया अथवा अन्य कोई पशु-पक्षी आया, तब परमेश्वर के दर्शन में से वृत्ति हटाकर इधर-उधर, ऊँची-नीची दृष्टि करके उनका भी साथ में दर्शन करता हो, तो ऐसी उच्छृङ्खल दृष्टिवाले को देखकर परमेश्वर या बड़े सन्त प्रसन्न नहीं होते हैं। वह दर्शन करता है तो कैसा करता है ? तो जैसे अन्य मनुष्य करते हैं, उसी तरह वह भी करता है। ऐसी लौकिक दृष्टिवाले को तो, जैसे गिलहरी बोलने के साथ पूंछ ऊँचा करती है, ऐसा जानें। क्योंकि, परमेश्वर के साथ अन्य दर्शन करता है, और ऐसे लौकिक दर्शन जब वह करने लगता है तब जैसा प्रथम उत्तम था, ऐसा नहीं रहता और वह दिन-प्रतिदिन घटता जाता है, इसलिए परमेश्वर के दर्शन करते-करते इधर-उधर दृष्टि न करें। परमेश्वर के दर्शन तो प्रथम पहलीबार नवीन हुए हो और उस समय हृदय में जैसी अलौकिकता हो, वैसे की वैसी अलौकिकता मन में रहने लगे। और एक दृष्टि से मूर्ति को देखते रहें और दृष्टि को पलटकर अन्तर में वैसे की वैसी उस मूर्ति को उतारें[२]। **जैसे धर्मपुर में कुशलकुंवरबाई थीं, वे हमारे दर्शन करते थीं और दृष्टि पलटकर मूर्ति को अन्तर में उतारती थीं, उसी तरह दर्शन तो मन सहित दृष्टि को एकाग्र रखकर करें,** परन्तु जैसे दूसरों के[३] दर्शन करते हैं वैसे न करें। और यदि परमेश्वर के दर्शन के साथ अन्य मनुष्य या कुत्ते-बिल्ली का दर्शन करता है, तो उन्हे जब स्वप्न होता है तब परमेश्वर भी दिखते हैं और वे अन्य पदार्थ भी साथ में दिखाई देते हैं। इसलिए परमेश्वर का दर्शन तो एकदृष्टि

१. भगवान के दर्शन, श्रवण, ध्यान और पूजा आदि में एकाग्रता (दूसरे संकल्प का त्याग करने से अव्याकुलता) वह मन का गुण कहा है उसमें।

२. धारण करें ३. जगत के पदार्थ सम्बन्धित

से करें, परन्तु चपल दृष्टि से न करें। और जो परमेश्वर के दर्शन दृष्टि को नियम में रखकर करता है, उसे वह दर्शन नये-नये ही रहते हैं, और परमेश्वर ने जो-जो वचन कहे हैं, वे भी उसे नवीन के नवीन[१] रहते हैं। और जिन्होंने लौकिक बाह्यदृष्टि से दर्शन किये हों, उन्हें परमेश्वर के दर्शन तथा वचन ये सभी पुराने हो जाते हैं। वह तो रोज दर्शन करता रहे, किन्तु ऐसे को तो ज्यों न हुआ हो, वैसा ही रहता है, वह जब भजन में बैठता है तब उसका मन स्थिर नहीं रहता है। बहु धाराओं से युक्त होता है और जब परमेश्वर का स्मरण करता है[२] तब उनके साथ दूसरे जो-जो दर्शन किये हैं वे भी स्मरण किये बिना हृदय में आकर स्फुरते हैं। इसलिए दर्शन तो एक परमेश्वर के ही करें और इस प्रकार जो दर्शन करते हैं, उनका मन भजन-स्मरण करते वक्त एक परमेश्वर में ही रहता है परन्तु उसकी बहु धाराएँ नहीं रहती, एक रहती है। और जो चपल दृष्टि से दर्शन करता है, उसे मैं जानता हूँ और जिनकी दृष्टि और मन नियम में हैं ऐसे जो बड़े सन्त, वे भी जानते हैं कि 'यह तो लौकिक दर्शन करता है।' फिर वह लौकिक दर्शन करनेवाला इस समागम[३] से दिनप्रतिदिन घटता जाता है। जैसे कोई कामी पुरुष हो, उसकी रूपवती स्त्री में ही एक मन से दृष्टि पिरोई हो, उस समय बीच में कोई पशु-पक्षी आए-जाए या बोले तो भी उसे उसका ख्याल[४] नहीं रहता है। उसी तरह एकाग्र दृष्टि से परमेश्वर में जुड जायें, परन्तु लौकिक दर्शन न करें।''

तब निर्विकारानन्द स्वामी ने आशंका की कि ''हे महाराज ! हमें तो देश-देश में मनुष्यों के समक्ष वार्ता[५] करनी पड़ती हैं। उसके कारण मन की एकाग्रता रहती नहीं है। तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''मनुष्यों के समक्ष वार्ता करने की आज्ञा तो हमने दी है। किन्तु यहाँ मूर्ति के दर्शन को छोड़कर अन्य दर्शन करने की हमने किस दिन आज्ञा दी है ?'' ऐसा कहकर पुनः वार्ता करने लगे कि ''प्रथम जब मूर्ति का दर्शन होता है तब उसको कैसी अलौकिकता रहती है, वैसी की वैसी अलौकिकता तो तब रहे, यदि मन सहित दृष्टि परमेश्वर में रखें।

१. नये-नये २. स्मृति में धारण करता है ३. सत्संग ४. खबर, ध्यान ५. कथा, प्रवचन

इस प्रकार[१] मन के गुण से रहें, तब उस भक्त के ऊपर प्रतिदिन भगवान को नवीन ही नवीन[२] स्नेह रहता है। और उस भक्त को भी भगवान में नित्य नवीन ही नवीन स्नेह रहता है। और फिर नेत्र और श्रोत्र,[३] इन दोनों को तो विशेषरूप से नियम में रखें। क्योंकि, जहाँ तहाँ ग्राम्य वार्ता होती हो, और उसे श्रोत्र की वृत्ति द्वारा आकृष्ट होकर सुना जाये तो वे सभी ग्राम्य शब्द भजन में बैठते हैं तब स्मरण में आ जाते हैं। और उच्छृङ्खल नेत्र की वृत्ति से जो-जो रूप देखा हो, वे सभी भजन करते समय स्मरण में आ जाते हैं। इसलिए इन दोनों इन्द्रियों को अतिशय नियम में रखें। नेत्र की तथा श्रोत्र की वृत्ति जब मूर्ति के दर्शन करते हो तब मूर्ति को छोड़कर अन्यत्र आकृष्ट हो, तो उसे ऐसा उपदेश दे कि 'हे मूर्ख, तू भगवान की मूर्ति के अलावा अन्य रूप को देखता है या परमेश्वर की वार्ता के बिना अन्य वार्ता को सुनता है, उसमें तुझे क्या प्राप्त होगा ? और अभी तक तुझे सिद्धदशा तो आई नहीं है कि जैसा चिन्तन किया वैसा तुझे तत्काल मिल जाये, क्योंकि अभी तो तू साधक है, इसलिए जिस विषय का तू चिन्तन करेगा वह विषय तुझे प्राप्त नहीं होगा, फोगट में मिथ्या प्रयास[४] करने से परमेश्वर को क्यों छोड़ रहा है ? और यदि तुझे कोई अल्प विषय प्राप्त भी हो गया तो उसके पाप से यमपुरी का मार खाते-खाते अन्त नहीं आयेगा।' इस तरह नेत्र को तथा श्रोत्र को उपदेश दें। और फिर ऐसा कहना कि 'जब तू भगवान की मूर्ति में एकाग्र हो जायेगा तब उससे तू सिद्धदशा प्राप्त करेगा, फिर तू ब्रह्माण्ड में जो-जो वार्ता होती है, उसे सहज ही सुन सकेगा और ब्रह्मा, विष्णु और शिव के जैसे रूप की इच्छा करेगा, तो वैसे रूप को प्राप्त करेगा, और यदि लक्ष्मी या राधिका जैसा भक्त होने की इच्छा करेगा तो वैसा हो जायेगा। और भगवान का भजन करते-करते सिद्धदशा को इस देह में नहीं प्राप्त करेगा

१. इस तरह से श्रवण, पूजन और ध्यान आदि में भी मन की एकाग्रता करें, क्योंकि मन की एकाग्रता के बिना श्रवण, पूजन, ध्यान इत्यादि यदि विधि से किया हो, तो भी शास्त्रोक्त फल देनेवाला नहीं होता है। २. नया-नया ३. सर्व इन्द्रियों के बीच मन को विशेषरूप से जहाँ तहाँ आकर्षण करनेवाले । ४. निष्फल प्रयत्न ।

तो देह छूटने के बाद मुक्त होगा, तब सिद्धदशा प्राप्त होगी, परन्तु सिद्धदशा मिले बिना रूप को देख-देखकर मर जायेगा तो भी वह रूप नहीं मिलेगा। और ग्राम्य शब्द को भी सुन-सुनकर मर जायेगा, तो उनसे बुद्धि तो अतिशय भ्रष्ट हो जायेगी, परन्तु उसमें से कुछ भी प्राप्त नहीं होगा।' इस प्रकार से नेत्र को तथा श्रोत्र को उपदेश देकर एक भगवान की मूर्ति में ही रखें। जो इस[१] तरह रहता है, उसे भगवान की मूर्ति में दिन प्रतिदिन अधिक स्नेह होता है और उस भक्त पर परमेश्वर को तथा बड़े सन्त को जो स्नेह रहा हो, उससे भी प्रतिदिन बढ़ता जाता है।''

॥ इति वचनामृतम् सारंगपुर ॥२॥८०॥

वचनामृत ३ : 'श्रवण, मनन, निदिध्यास और साक्षात्कार का'

संवत्* १८७७ के श्रावण कृष्ण ७ सप्तमी के दिन संध्या[२] समय श्रीजीमहाराज गाँव श्रीसारंगपुर स्थित जीवाखाचर के राजभवन में कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी, काले पल्ले का खेस ओढ़ा[३] था, सफेद खेस पहना था और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज को प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! एक भक्त तो विविध प्रकार की पूजा सामग्री[४] लेकर भगवान की प्रत्यक्ष पूजा करता है, और एक भक्त तो विविध प्रकार के मानसिक उपचारों से भगवान की मानसी पूजा करता है, इन दोनों भक्तों में कौन-सा श्रेष्ठ है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''यदि भगवान में प्रेम से अति रोमांचित गात्र[५] होकर तथा गद-गद कण्ठ[६] होकर यदि भगवान की प्रत्यक्ष पूजा करता है अथवा उसी प्रकार से ही भगवान की मानसीपूजा[७] करता है, तो वे दोनों ही श्रेष्ठ है।

*दि. ३०-८-१८२०, बुधवार **१.** वचन, देह और मन के गुणों द्वारा। **२.** छः घड़ी दिन बाकी था तब। **३.** धारण किया **४.** चंदन, पुष्प आदि। **५.** हर्ष से रोइयाँ बैठी हो, वैसे भावविभोर। **६.** अवरुद्ध कण्ठ से। **७.** मन से की गई पूजा।

प्रेम से रोमांचित गात्र और गद-गद कण्ठ हुए बिना केवल शुष्क मन से भगवान की प्रत्यक्ष पूजा करता है तो भी न्यून है, और मानसी पूजा करता है तो भी न्यून है ।''

तब सोमलाखाचर ने पूछा कि ''इस तरह से जो प्रेममग्न होकर प्रत्यक्ष भगवान की पूजा करता हो अथवा मानसी पूजा करता हो, वह भक्त किन लक्षणों से जाना जाय ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसे भगवान की पूजा(१)-सेवा(२) में तथा कथावार्ता, कीर्तन में अतिशय श्रद्धा हो तथा भगवान का अतिशय माहात्म्य समझता हो, और ये दोनों गुण दिन-प्रतिदिन नये ही नये रहते हों, परन्तु कभी भी गौण न होते हो । **जैसे मुक्तानन्द स्वामी को हमने प्रथम लोजपुर में देखा था तब जैसी श्रद्धा और भगवान का माहात्म्य था, वैसे का वैसा ही आज दिन तक नया ही नया है, परन्तु गौण नहीं हुआ है,** इन दो लक्षणों से उस भक्त को जानें । इस तरह से माहात्म्य और श्रद्धा से रहित समस्त यादव(३) श्रीकृष्ण भगवान के साथ ही रहते थे और जैसे राजा की सेवा- चाकरी दूसरे लोग करते है, उस तरह सेवा-चाकरी करते थे, तो भी कोई उनके नाम को जानते नहीं है और वे भक्त भी नहीं कहलाये । और जो उद्धवजी श्रीकृष्ण भगवान की श्रद्धा माहात्म्य सहित सेवा-चाकरी करते थे तो वे परम भागवत कहलाये और उनकी शास्त्र में तथा लोक में अतिशय प्रसिद्धि है ।''

फिर निर्विकारानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! श्रवण, मनन, निदिध्यास और साक्षात्कार किसे कहते हैं ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''श्रोत्र से वार्ता सुनना उसे **श्रवण** कहा जाता है । जो वार्ता सुनी हो, उस वार्ता का मन से विचार करके जितनी वार्ता त्याग करने योग्य हो उतनी त्याग करे और जितनी ग्रहण करने योग्य हो उतनी ग्रहण करे, उसे **मनन** कहते हैं । जिस वार्ता को निश्चय करके मन में ग्रहण किया हो, उसे रात-दिन स्मरण करने का जो अध्यास रखना, उसे **निदिध्यास** कहते है और वह वार्ता जैसी हो वैसे की

१. चंदन आदि उपचार से । २. चरणसेवा आदि । ३. यह अर्थ भागवत में ''**दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि**'' इस श्लोक से कहा है ।

वैसी ही चिन्तन किये बिना भी सभी मूर्तिमान की तरह तत्क्षण स्मरण हो आये, उसे **साक्षात्कार** कहते हैं। यदि इस प्रकार आत्मा के स्वरूप का श्रवण आदिक किया हो, तो आत्मस्वरूप का इस प्रकार साक्षात्कार होता है और यदि भगवान का इस प्रकार श्रवण,[१] मनन, निदिध्यास किया हो तो भगवान का इस तरह से साक्षात्कार होता है, परन्तु मनन और निदिध्यास इन दोनों को किये बिना केवल श्रवण करने से साक्षात्कार नहीं होता है। यदि भगवान के स्वरूप का दर्शन करके उसका मनन और निदिध्यास न किया हो तो लाख वर्ष तक दर्शन करते रहें तो भी उस स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता है और वह दर्शन तो केवल श्रवणमात्र जैसा कहलाता है। जिसने भगवान के अंग-अंग का दर्शन करके फिर उन अंग-अंग का मनन और निदिध्यास किया होगा तो वह अंग आज सहज ही स्मरण में आता होगा और जिस अंग का दर्शन मात्र ही हुआ होगा, तो उस अंग का स्मरण करने पर भी स्मरण नहीं होगा। कई हरिभक्त कहते हैं कि 'हम तो महाराज की मूर्ति को ध्यान में बैठकर बहुत ही स्मरण करते हैं तो भी एक भी अंग स्मरण में नहीं आता तो समग्र मूर्ति तो कहाँ से आए?' उसका भी यही कारण है कि भगवान की मूर्ति का दर्शन मात्र करता है परन्तु मनन और निदिध्यास करता नहीं है, इसलिए कैसे धारण हो पायें ?' क्योंकि जो मायिक पदार्थ हैं, उन्हें भी केवल दृष्टिमात्र से देखा हो और केवल श्रवणमात्र से सुना हो और उसे यदि मन में स्मरण करके न रखा हो, तो वे विस्मृत हो जाते हैं, तब जो अमायिक एवं दिव्य ऐसा जो भगवान का स्वरूप, वह तो मनन और निदिध्यास किये बिना कैसे स्मरण में आए ? **इसलिए भगवान का दर्शन करके तथा वार्ता सुनकर यदि उसका मनन और निदिध्यास निरन्तर करता रहे तो उसका साक्षात्कार होता है, अन्यथा पूरी उम्र तक दर्शन-श्रवण करे तो भी साक्षात्कार नहीं होता है।''**

॥ इति वचनामृतम् सारंगपुर ॥३॥८१॥

---

१. यह अर्थ **''आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः''** । बृहद. उप. २/४/५-४/५/६ इस श्रुति में दर्शन शब्द से साक्षात्कार कहा है।

वचनामृत ४ : 'आत्मा-अनात्मा के विवेक का'

संवत्* १८७७ के श्रावण कृष्ण ८ अष्टमी के दिन श्रीजीमहाराज गाँव श्रीसारंगपुर स्थित जीवाखाचर के राजभवन में कक्ष के बरामदे में पलंग पर उत्तर की ओर मुखारविन्द किये विराजमान थे । उन्होंने मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी और सफेद पिछौरी ओढ़ी थी और श्वेत खेस पहना था और अपने मुखारविन्द सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि "हे महाराज ! आत्मा अनात्मा[१] का जो यथार्थ भेद, उसे कैसे जाना जाये ? जिसे समझ लेने से आत्मा-अनात्मा एक[२] समझा ही न जाये ?" फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "एक श्लोक से,[३] अथवा दो श्लोक से, अथवा पाँच श्लोक से अथवा सौ श्लोक से अथवा हजार श्लोक से जो यथार्थ समझ में आए वह ठीक[४] है। जिसे समझने के बाद आत्मा-अनात्मा की एकता की गड़बड़ी ही न रहे । और स्पष्ट समझ में आये वह ही समझ सुखदायी होती है और गड़बड़वाली समझ सुखदायी नहीं होती है । इसलिए ऐसा स्पष्टरूप से समझे कि 'मैं आत्मा, तो मेरे जैसा गुण देह में एक भी नहीं आता, और जड़, दुःख तथा मिथ्यारूप जो देह, उसके जो गुण हैं, वे, मैं-चैतन्य, तो मुझ में एक भी नहीं आता है ।' ऐसा भेद समझकर और अत्यन्त निर्वासनिक होकर चैतन्यरूप होता हुआ पुरुषोत्तम भगवान का चिन्तन करें, ऐसा जो जड़ - चैतन्य का विवेक, उसे दृढ़ विवेक जानें । और जो घड़ी दो घड़ी अपने को आत्मारूप मानता है और घड़ी दो घड़ी देहरूप मानकर स्त्री का चिन्तन करता है, उसे कबाड़ जानें, इसलिए उसके अन्तर में सुख नहीं आता है । जैसे सुन्दर अमृत समान अन्न हो, उसमें थोड़ा सा जहर डाला हो तो वह अन्न सुखदायी नहीं होता, बल्कि दुःखदायी होता है, उसी तरह आठों प्रहर आत्मा का विचार करके एक घड़ी अपने को देहरूप मानकर स्त्री

---

*दि. ३१-८-१८२०, गुरुवार ।

१. देह और आत्मा का **२.** एकरूप, एकात्मता

३. सच्छास्त्र का श्रवण करके अथवा पढ़कर एवं गुरु की सेवा करके । **४.** बराबर, उचित

का चिन्तन करता है तो उसके सभी विचार धूल में मिल जाते हैं । इसलिए **अत्यन्त निर्वासनिक हो पायें ऐसा शुद्ध आत्मविचार करें ।''**

किसीको ऐसा संशय हो जाये कि ''अत्यन्त निर्वासनिक नहीं हो पायेंगे और कच्चे के कच्चे[१] ही मर जायेंगे तो क्या हाल[२] होगा ?'' तब ऐसा विचार भगवान के भक्त न करें[३] । और ऐसा समझें कि 'मृत्यु होगी तो देह मरेगा परन्तु मैं तो आत्मा हूँ' और अजर अमर हूँ, इसलिए मैं नहीं मरता'। ऐसा समझकर हृदय में हिम्मत रखे और परमेश्वर के सिवा सभी वासनाओं का त्याग करके अचलमति करें ।' इस तरह वासना को टालते-टालते यदि कुछ थोड़ी बहुत वासना रह गई तो जैसे मोक्ष धर्म में नरक कहे हैं वैसे नरकों की प्राप्ति होगी । उन नरकों का वर्णन है कि भगवान का भक्त हो उसे थोड़ी सी जगत की वासना रह गई हो, तो उसे इन्द्रादि देवता के लोक की प्राप्ति होती है और उन लोक में जाकर, अप्सराएँ तथा विमान तथा मणिमंडित महल आदिक जो वैभव हैं, वे सभी परमेश्वर के धाम के आगे नरक जैसे हैं, उन्हें भोगते हैं, किन्तु विमुख जीव की तरह यमपुरी में नहीं जाता और चौरासी में भी नहीं जाता है । इसलिए यदि भगवान के सवासनिक भक्त होंगे तो भी बहुत होगा, तब देवता होना पड़ेगा और देवता में से गिरेंगे तो मनुष्य होंगे और मनुष्य होकर फिर पुनः भगवान की भक्ति करके और निर्वासनिक होकर अन्त में भगवान के धाम को प्राप्त करोगे, परन्तु विमुख जीव की तरह नरक-चौरासी को नहीं भोगना पड़ेगा, ऐसा समझकर भगवान का भक्त हो, वह वासना का जोर देखकर हिम्मत हार न जायें और आनन्द में भगवान का भजन करता रहें और वासना टालने के उपाय में लगा रहें और भगवान तथा भगवान के सन्त के वचन में दृढ़ विश्वास रखें ।''

॥ इति वचनामृतम् सारंगपुर ॥४॥८२॥

---

१. अपक्व, असिद्ध रहकर २. दशा-स्थिति-हालत-गति

३. उसकी तो भगवान रक्षा करते है, ''**अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः । अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण ! गच्छति ।**'' यह अर्जुन के संशय में '**नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति**' ऐसा भगवान ने उत्तर दिया है ।

वचनामृत ५ : 'अन्वय-व्यतिरेक का'

संवत्* १८७७ के श्रावण कृष्ण ९ नवमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज गाँव श्रीसारंगपुर स्थित जीवाखाचर के राजभवन में उत्तराभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये हुए थे और अपने मुखारविन्द के समक्ष मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''वासना की निवृत्ति होने का ऐसा कौन सा प्रबल उपाय है, जो एक उपाय में सभी साधन आ जायें ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''**श्रद्धा तथा हरि एवं हरिजन के वचन में विश्वास तथा भगवान में प्रीति तथा भगवान के स्वरूप का माहात्म्य ये चारों बातें जिसके हृदय में हों, उसकी वासना निवृत्त हो जाती है ।** उसमें भी यदि एक माहात्म्य अतिशय दृढ़ हो तो श्रद्धा तथा विश्वास तथा प्रीति ये तीन दुर्बल हों तो भी महाबलवान होते हैं, और माहात्म्य बिना की यदि भक्ति अधिक दिखाई पड़ती हो तो भी अन्त में नाश हो जाती है । जैसे दस-बारह वर्ष की कन्या हो और उसे क्षय रोग हुआ हो, फिर वह कन्या युवा होने से पूर्व ही मर जाती है, परन्तु युवावस्था को प्राप्त नहीं होती है, उस तरह जिसे माहात्म्य रहित भक्ति हो, वह[१] भी परिपक्व होती-होती नाश हो जाती है । और जिसके हृदय में माहात्म्य सहित भगवान की भक्ति हो, किन्तु दूसरे कल्याणकारी गुण न हों तो भी उसके हृदय में सभी आ जाते हैं । और यदि माहात्म्य सहित भक्ति जिसके हृदय में नहीं है, तो शमदमादिक जो कल्याणकारी उत्तम गुण, वे उसके हृदय में है तो भी नहीवत् जैसे ही हैं । क्योंकि, अन्त में नष्ट हो जायेंगे, इसलिए एक माहात्म्य सहित भक्ति हो तो उसकी वासना भी निवृत्त हो जाती है और कल्याणकारी जो गुण वे सभी आकर हृदय में निवास

---

*दि. १-९-१८२०, शुक्रवार

१. भक्ति

करके रहते हैं। **इसलिए माहात्म्य सहित भगवान की भक्ति ही वासना को टालने का अति बड़ा अचल साधन है ।''**

फिर स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''जीव अन्वयरूप से कैसे है और व्यतिरेकरूप से कैसे है ? और ईश्वर अन्वयरूप से कैसे है और व्यतिरेकरूप से कैसे है ? तथा अक्षरब्रह्म अन्वयरूप से कैसे है और व्यतिरेकरूप से कैसे है ? और पुरुषोत्तम भगवान को अन्वयरूप से कैसे जाना जाये और व्यतिरेकरूप से कैसे जाना जाये ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''जन्म-मरण का भोक्ता ऐसा जो जीव का स्वरूप, उसे अन्वय जानें और अछेद्य, अभेद्य, अविनाशी, ऐसा जो जीव का स्वरूप, उसे व्यतिरेक जानें । विराट, सूत्रात्मा और अव्याकृत इन तीन शरीरों में एकरसरूप होकर रहना, उसे ईश्वर का अन्वय स्वरूप जानें; और पिण्ड-ब्रह्माण्ड से पर सच्चिदानन्दरूप से जो निरूपण किया है, उसे ईश्वर का व्यतिरेक स्वरूप समझें । प्रकृतिपुरुष तथा सूर्य-चन्द्रादिक सर्व देवता; उनका जो प्रेरक, उसे अक्षर का अन्वय स्वरूप जानें; और जिस स्वरूप में पुरुष-प्रकृति इत्यादि कोई उपाधि नहीं रहती है, एक पुरुषोत्तम भगवान ही रहते हैं, यह अक्षर का व्यतिरेक स्वरूप है । बद्ध जीव तथा मुक्त जीव उन दोनों के हृदय में साक्षीरूप होकर रहते है फिर भी बद्धपना तथा मुक्तपना जिसे स्पर्शता नहीं है, उसी प्रकार ही ईश्वर के तथा अक्षर के हृदय में साक्षीरूप से रहते हैं और उन-उन उपाधियों[१] से रहित हैं, **ये पुरुषोत्तम का अन्वय स्वरूप है;** और जीव, ईश्वर तथा अक्षर से पर जो अक्षरातीत स्वरूप है, **उसे पुरुषोत्तम का व्यतिरेक स्वरूप जानें ।** इस तरह से अन्वय-व्यतिरेकपना है ।''

और फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''भगवान के दर्शन की जो महिमा तथा भगवान के नामस्मरण की जो महिमा तथा भगवान के स्पर्श की जो महिमा है, वह भगवान के भक्त के लिए है या सभी जीवों के लिए है?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''दर्शनादिक का भेद तो अलग ही है, उसे कहते हैं,

१. मायिक - रागद्वेष आदि ।

उसे सुनिये । जब वह दर्शन करनेवाला भगवान का दर्शन करता है तब उसका मन दृष्टि द्वार से आकर उस[१] सहित दृष्टि से यदि दर्शन करता है, तो वह दर्शन ऐसा होता है कि उसका विस्मरण करे तो भी भूला नहीं जाता । इस तरह मन के सहवर्तमान[२] त्वचा स्पर्श करती है तो वह स्पर्श भी विस्मृत नहीं होता । जैसे गोपांगनाओं के भगवान के प्रति भागवत में वचन हैं कि 'हे भगवन् ! जिस दिन से आपके चरणों का स्पर्श हुआ है, उस दिन से आपके बिना संसार के जो-जो सुख हैं वे हमें विष जैसे लगते हैं ।' इस प्रकार से सभी ज्ञान इन्द्रियों से मन के सहवर्तमान जो दर्शन, स्पर्श, श्रवणादिक होते हैं, वे कोई भी काल में विस्मृत नहीं होते । जैसे अज्ञानी जीव हो, उसने मन के सहवर्तमान जो पाँच ज्ञानइन्द्रियों द्वारा जो-जो विषय भोगे हों, उन्हें विस्मृत करने पर भी उसका विस्मरण नहीं होता है । इसी तरह भगवान का भी मन के सहवर्तमान जो दर्शनादिक करते हैं उन्हें ही दर्शनादिक जानें । दूसरों को दर्शन हुआ है तो भी न होने के बराबर है, क्योंकि, जिस समय उसने दर्शन किया उस समय उसका मन तो कहीं पर घूमता था । इसलिए वह दर्शन उसे या तो एक दिन में विस्मृत हो जायेगा अथवा पांच दिन में अथवा पचास दिन में अथवा छः महिनों में अथवा वर्ष में अथवा पांच वर्ष में अवश्य भूला जायेगा, परन्तु अन्त तक नहीं रहेगा । **इसलिए जो माहात्म्य समझकर अतिशय प्रीतिपूर्वक मन सहित दृष्टि आदिक ज्ञान इन्द्रियों द्वारा दर्शन स्पर्शादिक करता है, उसीको ही उनका फल है ।** और दूसरे को तो जो परमेश्वर के दर्शनादिक होते हैं उनका बीजबल[३] होता है और यथार्थ महिमा तो जो मन के सहवर्तमान दर्शनादिक करते हैं उनके लिए है ।''

॥ इति वचनामृतम् सारंगपुर ॥५॥८३॥

१. मन २. मन सहित विद्यमान होकर ।

३. अत्यन्त अल्प फल होता है, जो फल कभी भी नये एवं अधिकफल को फलित करने में कारणभूत बनेगा

वचनामृत ६ : 'एक अवस्था में दो-दो अवस्थाओं का – चार प्रकार की वाणी का'

संवत्* १८७७ के श्रावण कृष्ण १० दशमी के दिन श्रीजीमहाराज गाँव श्रीसारंगपुर स्थित जीवाखाचर के राजभवन में उत्तराभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब नित्यानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''एक-एक अवस्था में दूसरी दो-दो अवस्थाएँ कैसे रहती हैं ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''यह जीवात्मा जो है, वह जिसमें रहकर विषय भोग को भोगता है, उसे अवस्था कहते हैं। वह अवस्था जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन प्रकार की है। उसमें(१) जो जागृत अवस्था है, वह वैराजपुरुष की जो स्थिति अवस्था है उनका कार्य है और सत्त्व गुणात्मक(२) है और नेत्र स्थानक में रहती है। ऐसी जो जाग्रत अवस्था है, उसमें विश्वाभिमानी(३) नामक जो यह जीवात्मा है, वह स्थूल देह के अभिमान से सहित होता हुआ दस इन्द्रियों और चार अंत:करणों से विवेक सहित यथार्थरूप से अपने पूर्वकर्म के अनुसार बाह्य शब्दादिक पञ्चविषयों के भोग को भोगता है, **उसे सत्त्वगुण प्रधान ऐसी जाग्रत अवस्था कहते हैं।** उस जाग्रत में जो यह जीवात्मा भ्रान्ति से अयथार्थरूप से बाह्य विषय भोग को भोगता है, तो **उसे जाग्रत में स्वप्न कहते हैं**(४)। वह जीवात्मा जाग्रत में

---

*दि. २-९-१८२०, शनिवार

१. वे अवस्थाएं परस्पर मिश्रित नहीं हुए ऐसे सत्त्व आदि गुण के कार्यरूप है और सत्त्व आदि गुणों के मिश्र भाव से परस्पर मिली हुई भी है।

२. सत्त्वगुण के कार्यरूप

३. स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इस तीन देह के अभिमान से जीव के विश्व, तेजस, और प्राज्ञ, यह तीन नाम पड़े हैं, वह वास्तविक नहीं है लेकिन उपाधि से है।

४. रजोगुणप्रधान।

शोक तथा श्रमादिक से विवेक रहित होकर जब बाह्य विषयभोग को भोगता है, तब **उसे जाग्रत में सुषुप्ति कहते हैं**(१) । जो स्वप्न अवस्था है, वह **हिरण्यगर्भ की** उत्पत्ति अवस्था का कार्य है और **रजोगुणात्मक**(२) है । जो कण्ठ स्थानक में रहती है, ऐसी स्वप्न अवस्था में तैजसाभिमानी नामक जीवात्मा सूक्ष्मदेह के अभिमान सहित रहते हुए, इन्द्रियों, अन्तःकरण से पूर्वकर्मों के अनुसार सुख-दुःखरूप **वासनामय भोग को**(३) भोगता है, उसे रजोगुण प्रधान स्वप्न अवस्था कहते हैं । उस स्वप्न में यह जीवात्मा जब जाग्रत की तरह ही विवेक से जानता हुआ वासनामय भोग को भोगता है, तब **उसे स्वप्न में जाग्रत अवस्था**(४) कहते हैं । उस स्वप्न में प्रतीत हुए जो वासनामय भोग, उनको यह जीवात्मा भोगता हुआ भी यदि जड़रूप होता हुआ न जानता हो(५) तो **उसे स्वप्न में सुषुप्ति**(६) कहते हैं । जो सुषुप्ति अवस्था है, वह ईश्वर की जो प्रलय अवस्था उसका कार्य है और **तमोगुणात्मक**(७) है और हृदय स्थानक में रहती है । ऐसी जो सुषुप्ति अवस्था वह जब यह जीव को आती है तब इन्द्रियाँ, अन्तःकरण की वृत्तियाँ तथा विषयभोग की वासना तथा **ज्ञातृत्व**(८) **एवं कर्तृत्व**(९), वे सभी कारण देह में लीन हो जाते हैं । और उस कारण देह का अभिमानी जो प्राज्ञ नामक जीवात्मा, उसका प्रधानपुरुषरूप **सगुण ब्रह्म के**(१०) सुखलेश में अतिशय लीनपना हो जाता है, **उसे तमोगुणप्रधान सुषुप्ति अवस्था कहते हैं ।** उस सुषुप्ति में कर्म संस्कार से कर्तावृत्ति(११) की जो उत्पत्ति होना, **उसे सुषुप्ति में स्वप्न कहते**(१२) हैं । जाग्रत एवं स्वप्न में जो पीड़ा है उनके ताप से पुनः सुषुप्ति(१३) के सुख में प्रवेश करती हुई जो कर्तावृत्ति, उसके प्रतिलोमपना का जो ज्ञान है, **उसे सुषुप्ति में जाग्रत कहते**(१४) **हैं ।** इस तरह से एक-एक अवस्था

---

१. तमोगुणप्रधान । २. रजोगुण के कार्यरूप । ३. आभ्यन्तर, विनाशी और अस्थिर, ऐसे शब्दादि विषयों का मानसिक भोग । ४. सत्त्वगुण प्रधान । ५. प्रिय-अप्रिय ऐसा विवेक करके । ६. तमोगुणप्रधान । ७. तमोगुण के कार्यरूप । ८. जीव का विषयों के प्रति ज्ञातृत्व । ९. जीव का अहंवृत्ति से विषयों के लिए कर्म का कर्तृत्व । १०. सगुण ब्रह्मरूप प्रधान पुरुष । ११. कर्म का कर्ता जो जीव, वैसी वृत्तिका । १२. रजोगुणप्रधान । १३. प्रथम सुषुप्ति अवस्था में अनुभव किये हुए सगुण ब्रह्मसम्बन्धी आनन्द में । १४. सत्वगुणप्रधान ।

में दूसरी दो-दो अवस्थायें रहती हैं। ये जो अवस्थाओं के भेद, उनका जो ज्ञान, वह जीवात्मा को जिस तरह से होता है तथा उन-उन अवस्थाओं में इस जीव[१] को कर्मानुसार जो फल को प्राप्त करानेवाले हैं, उसे **तुर्य**[२] **पद**[३] कहते हैं,[४] अन्तर्यामी कहते हैं, द्रष्टा कहते हैं, ब्रह्म कहते हैं, **परब्रह्म** कहते हैं।''

तब फिर नित्यानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी, ये जो चार वाणियाँ[५] हैं, उन्हें किस प्रकार समझे ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''यह वार्ता तो बहुत बड़ी है और अतिशय सूक्ष्म है और श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध[६] में श्रीकृष्ण भगवान ने उद्धवजी के प्रति कही है। उसे संक्षेप में कहते हैं, उसे सुनिये कि प्रथम उत्पत्तिकाल में पुरुषोत्तम भगवान ने वैराजपुरुष के मस्तक में स्थित सहस्त्रदल[७] युक्त कमल में प्रवेश करके अक्षरब्रह्मात्मक[८] नाद[९] किया। फिर वह नाद जो सुषुम्णा मार्ग से होकर विराटपुरुष के नाभिकन्द प्रति व्याप्त होकर महाप्राण[१०] के सहित वहाँ से ऊँचा वृद्धि को प्राप्त हुआ, इस से उन विराटपुरुष का नाभिपद्म जो अधोमुख था वह उर्ध्वमुख[११] हुआ। इस तरह से उस विराटपुरुष के नाभिकन्द में जो नाद हुआ उसे **परावाणी** कहते हैं। उस परावाणी को वेद की उत्पत्ति के लिए स्वयं भगवान ने बीजरूप से प्रकाशित किया है, और तेज के प्रवाहरूप है तथा अर्धमात्रारूप[१२] है। फिर वह परावाणी वहाँ से उन विराट के हृदयाकाश को प्राप्त होकर **पश्यन्ती** नाम से हुई और वहाँ से कण्ठ देश को प्राप्त होकर **मध्यमा** नाम से हुई और वहाँ से उन विराट के मुख को प्राप्त होकर **वैखरी** संज्ञा को प्राप्त हुई तथा

---

१. तीन अवस्थाओं से पर **२.** चौथा वासुदेव नाम का। **३.** प्राप्य स्वरूप **४.** वेदान्त में। **५.** वे जीव के और वैराज के देह में रही है। **६.** **'स एष जीवो विवरप्रसूतिः'** (भाग.११/१२/१७) इस श्लोक की व्याख्या श्रीधर स्वामी ने चार प्रकार की वाणी सम्बन्धी की है। **७.** सहस्त्रदल का कमल जिसमें है ऐसा जो वैराजपुरुष का मस्तक, उसमें रहा जो ब्रह्मरन्ध्र, ऐसा वाक्यार्थ समझे। **८.** अक्षरब्रह्म द्वारा प्रकट किया हुआ। **९.** जिसे स्फोट कहते हैं। **१०.** सूत्राख्य वायु **११.** हृदयपर्यंत **१२.** अर्धमात्रा के कारणरूप - यह अर्धमात्रा कहलाती है। अ, उ, म्, ऊँ

अकार,[१] उकार तथा मकार ये तीन वर्णरूप होकर प्रणवरूप हुई। फिर बावन अक्षररूप होकर चार वेदरूप हुई, इस तरह विराटपुरुष में परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी ये चार वाणियाँ समझें।''

''अब इस जीव के देह में भी चार वाणी कहते[२] हैं, उन्हें सुनिये, वे ही पुरुषोत्तम भगवान जीव में अन्तर्यामीरूप से रहते हैं। उस जीव की जो तीन अवस्थायें, उनमें स्वतन्त्र होते हुए अनुस्यूत[३] हैं, एसे जो भगवान, वे ही जीव के कल्याण के लिए पृथ्वी पर अवतार धारण करते हैं, तब वह जीव तो जो, उन भगवान के स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाली तथा उन भगवान के जो धाम, गुण और ऐश्वर्य उनका प्रतिपादन करनेवाली तथा उनके चरित्र का वर्णन करनेवाली तथा आत्मा-अनात्मा का विवेक कर दिखानेवाली तथा जीव, ईश्वर, माया, ब्रह्म और परब्रह्म के भेद को पृथक्-पृथक् कहनेवाली ऐसी जो वाणी, उसे परावाणी कहते हैं। जो मायिक पदार्थों तथा विषयों को विवेक सहित यथार्थरूप से कह दिखाती है, उसे वैखरीवाणी कहते हैं। जो पदार्थ को तथा विषय को भ्रान्ति के सहित अयथार्थरूप से कह दिखाती है, उसे मध्यमावाणी कहते हैं। जो इन पदार्थों को तथा विषयों को अंधधंध[४] जैसा कह दिखाती है और कुछ समझ में नहीं आता है, उसे पश्यन्तीवाणी कहते हैं। इस प्रकार से जीव की जाग्रत अवस्था में ये चार वाणी के रूप समझ में आते हैं। और स्वप्न तथा सुषुप्ति में तो किसी समाधिवाले को ये चार वाणी के रूप समझने में आते हैं, परन्तु दूसरों को समझने में नहीं आते।''

॥ इति वचनामृतम् सारंगपुर ॥६॥८४॥

---

१. नाभि आदि चार स्थान में परा आदि चार वाणी में से अनुक्रम से अर्धमात्रा, मकार, उकार, और अकार इतने वर्ण उत्पन्न होते हैं। **२.** जीव के भी नाभि, हृदय, कंठ और मुख में भगवान की इच्छा से ही चार प्रकार की वाणी उद्भव होती है उसमें शरीर के अंदर के तीन प्रकार के भेद (वाणी के) तो ज्ञानीओं को भी दुर्बोध (कठिन) है। मनुष्य तो केवल वैखरी नामक चौथे भेद को ही जानते हैं। जीव की वैखरी वाणी में ही वाणी के चार भेदों का मैंने निश्चय, किया है, उसे स्पष्टता से कहता हूँ। **३.** बसे हुए, व्याप्त हुए। **४.** विवेकहीन, अस्पष्ट

वचनामृत ७ : 'नैमिषारण्य क्षेत्र का'

संवत्* १८७७ के श्रावण कृष्ण ११ एकादशी के दिन रात्रि[१] के समय श्रीजीमहाराज गाँव श्रीसारंगपुर स्थित जीवाखाचर के राजभवन में उत्तराभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के समक्ष मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज ने श्रीमद्भागवत पुराण के प्रथम स्कन्ध की कथा वाचन करने का आरम्भ कराया था। तब उसमें ऐसी[२] वार्ता आई कि 'जहाँ मनोमय चक्र की धार कुण्ठित हो जाये, वहाँ[३] नैमिषारण्य क्षेत्र जानें।' इस वार्ता को सुनकर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि "हे महाराज ! यह मनोमय चक्र क्या है ? तथा इसकी धार किसे समझें ?" तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "**मनोमय चक्र तो मन को समझें और उसकी धार तो दस इन्द्रियाँ हैं, ऐसा जानें। वह इन्द्रियरूपी जो मन की धार है, वह जिस स्थान पर घिसा कर कुण्ठित[४] हो जाये, उसे नैमिषारण्य क्षेत्र जानें**। उस स्थान पर जप, तप, व्रत, ध्यान, पूजा इत्यादिक जो सुकृत, उनका जो आरम्भ करता है, वह दिन प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होता है। **ऐसा नैमिषारण्य क्षेत्र तो जिस स्थान पर भगवान के एकान्तिक साधु रहते हैं, उस स्थान को जानें**। जब मनोमय चक्र की इन्द्रियरूप जो धार खत्म[५] हो जाय तब शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पञ्चविषयों में कहीं भी प्रीति रहती नहीं है। जब कोई रूपवती स्त्री दीख पड़े अथवा वस्त्र अलंकारादिक अति सुन्दर पदार्थ दिखाई दे तब उलटा ही उनके मन में अतिशय अभाव आ जाता है परन्तु उनमें इन्द्रियों की वृत्ति जाकर ठहरती[६] नहीं है। जैसे अति तीक्ष्ण नुकीला बाण हो, उसे जिस पदार्थ

*दि. ३-९-१८२०, रविवार

१. संध्या आरति के बाद। २. "**नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे**" इस श्लोक की श्रीधरी टीका में नैमिषारण्य शब्द का अर्थ करने में वायुपुराण की आख्यायिका लिखी है, उसमें।
३. उसे ४. शब्द आदि विषयों में प्रवृत्त न होना, वह। ५. कुण्ठित ६. चिपकती

में लगाया जाय, तो उस पदार्थ को वेधकर अन्दर प्रवेश कर जाता है, पुनः निकाले जाने पर भी नहीं निकलता। यदि उसी बाण में से फल[१] को निकाल दिया हो और फिर वह थोंथा[२] रहा हो और उसे दिवार पर फेंका जाये तो वहाँ से टकराकर परावर्तित होता है, परन्तु जैसे फल सहित दिवार में घुस जाता है[३] उसी तरह लगता नहीं है, उसी तरह जब मनोमय चक्र की धार जो इन्द्रियाँ, वे कुण्ठित हो जाये तब चाहे कैसा भी श्रेष्ठ विषय हो, उसमें भी इन्द्रियों की वृत्ति चिपकती नहीं है[४] और थोंथा की तरह इन्द्रियों की वृत्तियाँ पीछे हट जाती हैं, ऐसा वर्ताव होने लगे तब समझते हैं कि मनोमय चक्र की धार कुण्ठित हो गई है। **ऐसा[५] सन्त के समागमरूप नैमिषारण्य क्षेत्र जहाँ दिखाई दे वहाँ कल्याण की इच्छा करें और वहाँ अति दृढ़ मन करके रहें।''**

॥ इति वचनामृतम् सारंगपुर ॥७॥८५॥

वचनामृत ८ : 'ईर्ष्या के रूप का'

संवत्* १८७७ के श्रावण कृष्ण १२ द्वादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज गाँव श्रीसारंगपुर स्थित जीवाखाचर के राजभवन में उत्तराभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के समक्ष मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब चैतन्यानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज ! ईर्ष्या का क्या रूप है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसके हृदय में मान हो, उस मान में से ईर्ष्या का प्रवर्तन[६] होता है। क्रोध, मत्सर तथा असूया, वे भी मान में से

*दि. ४-९-१८२०, सोमवार

१. बाण की नोकवाला आगे का भाग। २. नोक बिना का कुण्ठित भाग। ३. चिपक जाता है। ४. प्रवेश नहीं कर पाती। ५. जैसे चक्र की धारा कुण्ठित होती है तब वह चक्र भ्रमण नहीं कर सकता, वैसे जब विषयों में से इन्द्रियाँ वापस लौटे तब मन विषयों में भ्रमण नहीं करता, जैसे बाण, फल रहित हो तो लक्ष्य को भेदने में समर्थ नहीं होता है और मन भी जब इन्द्रियाँ की सहायता रहित होता है तब विषय ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता है, इतना तात्पर्यार्थ है। ६. उत्पत्ति

प्रवृत्त[१] होते हैं और **ईर्ष्या का यह रूप है कि 'अपने से जो बड़े हों तो भी जब उनका सन्मान होता है तब उसे नहीं देख सकता'।** ऐसा जिसका स्वभाव हो तो उसे ऐसा जानें कि इसके हृदय में ईर्ष्या है, और **यथार्थ ईर्ष्यावाला जो होता है वह तो किसी की भी बड़ाई को नहीं देख सकता।''**

॥ इति वचनामृतम् सारंगपुर ॥८॥८६॥

वचनामृत ९ : 'युग के धर्म प्रवर्तन होने का – स्थान का'

संवत्* १८७७ के श्रावण कृष्ण १३ त्रयोदशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज अपने भक्तजनों को सुख देने के लिए सारंगपुर से चले तो गाँव श्रीकुण्डल पधारे और वहाँ कुण्डल स्थित अमरा पटगर के पश्चिमी कक्ष के बरामदे में पलंग पर उत्तर की ओर मुखारविन्द किये विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर सफेद पाग बाँधी थी तथा सफेद पिछौरी ओढ़ी थी, श्वेत सुरवाल पहना था तथा श्वेत अंगरखा पहना था और अपने मुखारविन्द के समक्ष मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! जीव के[२] हृदय में युग के धर्म प्रवृत्त होते हैं, उनका क्या कारण है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''युग के धर्म की प्रवृत्ति होती है, उसका कारण तो गुण[३] है, तो जब शुद्ध सत्त्वगुण प्रवृत्त रहता हो तब उसके हृदय में सत्ययुग की प्रवृत्ति रहती है, और जब सत्त्व तथा रज साथ में प्रवृत्त रहते हैं, तब उसके हृदय में त्रेतायुग की प्रवृत्ति रहती है, और जब रज तथा तमोगुण साथ में प्रवृत्त रहते हैं, तब उसके हृदय में द्वापरयुग की प्रवृत्ति रहती है, और जब अकेला तमोगुण प्रवृत्त रहता है तब उसके हृदय में कलियुग की प्रवृत्ति रहती है, इस प्रकार गुणों के द्वारा युग की प्रवृत्ति है[४] ।''

---

*दि. ५-९-१८२०, मंगलवार

१. उत्पन्न **२.** जैसे बाहर युग प्रवृत्त होता है, वैसे। **३.** पुरुष के हृदय में रहे हुए सत्त्व आदि। **४.** जब सत्त्वगुण के कार्यरूप ज्ञान और तप में रुचि होती है तब मेरे हृदय में सत्ययुग प्रवृत रहता

फिर तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''गुण की प्रवृत्ति होने का क्या कारण है[१] ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''गुण की प्रवृत्ति का कारण तो कर्म है। तो पूर्व कर्म जैसे होते हैं वैसे गुण की प्रवृत्ति होती है। इसलिए जिसे रजोगुण और तमोगुण प्रवृत्त रहे हों और वह यदि एकाग्र होकर भगवान का ध्यान करने जाये तो नहीं हो सकता। इसलिए ऐसे जो हैं, वे आत्मनिष्ठा का बल रखें तथा भगवान की महिमा का बल रखें और ऐसा समझें कि 'मैं तो आत्मा हूँ, तो मुझ में मायाकृत उपाधि[२] नहीं होती, और मैं तो गुणातीत हूँ''। और भगवान की महिमा का तो इस प्रकार विचार करें कि 'अजामिल महापापी था और पुत्र के वास्ते नारायण ऐसा नाम लिया, तो सभी पापों से मुक्त होकर परमपद को प्राप्त हुआ। तब मुझे तो वे भगवान प्रत्यक्ष मिले हैं और रातदिन उन भगवान का मैं नाम लेता हूँ , इसलिए मैं तो कृतार्थ हुआ हूँ।' इस प्रकार से विचार करके आनन्द में रहें; परन्तु **जिसे तमोगुण और रजोगुण रहते हों, वे ध्यान-धारणा के लिए आग्रह न करें** और जितना हो सके उतना भजन-स्मरण करें और शरीर से भगवान की तथा सन्त की परिचर्या[३] श्रद्धा सहित करें और अपने-अपने धर्म में रहें और स्वयं को पूर्णकाम मानें।''

तब फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''जिसे तामसी कर्म बहुत हो, उसके हृदय में कलियुग रहता है, तो वह किसी उपाय से टलता है या नहीं टलता है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''यदि उसे सन्त तथा परमेश्वर के वचन में अतिशय श्रद्धा हो और अतिदृढ़ विश्वास हो, तो कैसे भी तामसी कर्म हों,

---

है, ऐसा जान ले। रजोगुण के कार्यरूप काम्यकर्मादि में जब रुचि होती है तब मेरे हृदय में त्रेतायुग प्रवृत्त हुआ ऐसा जानें। जब रजोगुण और तमोगुण के कार्यरूप काम्यकर्म आदि और लोभ आदि में रुचि होती है तब मेरे हृदय में द्वापरयुग प्रवृत्त हुआ है, ऐसा जाने। तमोगुण के कार्यरूप माया, असत्य आदि में जब रुचि होती है तब मेरे हृदय में कलियुग प्रवर्तमान हुआ है, ऐसा जान लें। उसे भागवत में १२/३/२६-३० ''**सत्त्वं रजस्तम इति**'' यह श्लोक से प्रारंभ करके '**यदा मायानृतं तन्द्रा**'' इत्यादि पांच श्लोक से निरूपण किया है, इतना तात्पर्यार्थ है।

१. और जैसे गुणवालों को जैसी भक्ति करनी हो, उसे भी कहो। **२.** राग-द्वेष दोष। **३.** सेवा

तो भी उनका नाश हो जाता है और कलियुग के धर्म निवृत्त होकर सत्ययुग के धर्म प्रवृत्त रहने लगते हैं, इसलिए जो **अति-सच्चे भाव से सत्संग करता है तो उसे अन्तर में किसी भी प्रकार का दोष नहीं रहता है, और देह जीवित रहते[१] ही ब्रह्मरूप हो जाता है ।''**

फिर स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने पूछा कि ''स्थान किसे कहते हैं ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''चार वर्ण तथा चार आश्रम का जो अपना-अपना धर्म है, उन्हें स्थान जानें। आप त्यागी हैं, तो आप यदि त्याग का पक्ष छोड़कर गृहस्थ के मार्ग पर चलने लग जायें तब उस स्थानक से भ्रष्ट हो गए ऐसा जानें। इसलिए कैसा भी आपत्तिकाल आये अथवा हम आज्ञा करें तो भी आपको अपने धर्म से चलित नहीं होना है। और जैसे गृहस्थ वस्त्र तथा अलंकार से हमारी पूजा करने की इच्छा करते हैं, वैसे आप इच्छा न करें, आपको तो पत्र, पुष्प, फल तथा जल से पूजा करनी है और ऐसी पूजा से ही आनन्द मानना है, परन्तु अपने धर्म से चलायमान होकर परमेश्वर की पूजा करना, वह उचित नहीं है। इसलिए सभी को अपने धर्म में रहते हुए जितनी पूजा हो सके उतनी करनी है, यह हमारी आज्ञा है; उसे दृढ़ करके सभी रखिएगा ।''

॥ इति वचनामृतम् सारंगपुर ॥९॥८७॥

वचनामृत १० : 'आत्मदृष्टि-बाह्यदृष्टि का - पाँच जूते का'

संवत्* १८७७ की श्रावण कृष्ण १४ चतुर्दशी के दिन श्रीजीमहाराज सभी सन्त के मण्डल को लेकर गाँव कुण्डल से चले तो मार्ग में गाँव खांभडा में पधारे और वहाँ पीपल के वृक्ष के नीचे ठहरे। फिर उस गाँव के लोगों ने पलंग लाकर उस पर विराजमान किये और उस समय श्रीजीमहाराज ने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने चारों ओर साधु तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

*दि. ६-९-१८२०, बुधवार

१. इसी शरीर में ।

तब साधु कीर्तन गान कर रहे थे । उस कीर्तन को स्थगित करवाकर श्रीजीमहाराजने उस गाँव के लोगों के समक्ष बात कही कि ''इस संसार में धर्मवाले और अधर्मी ये दो प्रकार के मनुष्य हैं । उनमें धर्मवाले जो मनुष्य हैं, वे चोरी तथा परस्त्री का संग तथा चुगलखोरी इत्यादिक सभी पापों का त्याग करके और परमेश्वर से डरकर धर्म मर्यादा में चलते हैं । उनका संसार में जो अपने कुटुम्बी हों अथवा कोई दूसरे हों तो भी वे सभी विश्वास करते हैं, वे जो बोलते हैं वे वचन सभी को सत्य ही प्रतीत होते हैं । ऐसे जो धर्मवाले हों, उनको ही सच्चे सन्त का समागम अच्छा[१] लगता है । जो अधर्मी मनुष्य हैं, वे तो चोरी, परस्त्री का संग, मद्य-मांस का भक्षण, वर्णधर्म भ्रष्ट होना, वर्णधर्म भ्रष्ट करवाना इत्यादिक सभी कुकर्मो में ही पूरी तरह से रचेपचे रहते हैं, और उनका संसार में कोई विश्वास करते ही नहीं हैं और उनके सम्बन्धी हों तो भी कोई उनका विश्वास नहीं करता है । ऐसे जो अधर्मी हैं, उन्हें सच्चे सन्त का समागम अच्छा ही नहीं लगता, और यदि कोई दूसरा उन सन्त का समागम करता है तो उसका भी द्रोह करते हैं । इसलिए **जिसे कल्याण की इच्छा हो उसे अधर्मी के मार्ग पर चलना ही नहीं और धर्मवाले के मार्ग पर चलकर सच्चे सन्त का समागम करें, तो निश्चय ही उस जीव का कल्याण होता है, इस में कोई संशय नहीं है ।**'' इतनी वार्ता[२] की, उसे सुनकर उस गाँव के कई मनुष्यों ने श्रीजीमहाराज का आश्रय किया ।

फिर वहाँ से श्रीजीमहाराज वापस सारंगपुर पधारे । फिर जीवाखाचर के राजभवन में उत्तराभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान हुए और उस समय स्वयं ने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देशे के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''गोलोक, वैकुण्ठ, श्वेतद्वीप, ब्रह्मपुर ये सभी जो भगवान के धाम हैं, उन्हें बाह्यदृष्टि से देखा जाय तो बहुत दूर हैं और आत्मदृष्टि से देखा जाय तो एक अणु जितने भी दूर नहीं हैं । इसलिए

१. प्रिय, रुचिकर २. बात

बाह्यदृष्टिवाले की समझ मिथ्या[१] है और आत्मदृष्टिवाले की समझ सत्य है। जो[२] साधु ऐसा समझते हैं कि 'मेरे चैतन्य[३] में भगवान सदैव विराजमान हैं, वे जैसे देह में जीव रहता है वैसे ही मेरे जीव में भगवान रहते हैं, और मेरा जीव है, वह तो शरीर है और भगवान तो मेरे जीव के शरीरी[४] हैं।' जो अपने जीवात्मा को स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीन शरीर से पृथक् मानता है और उसमें भगवान अखण्ड विराजमान है ऐसा समझता है,[५] तो उन सन्त से भगवान तथा भगवान के धाम, वे अणुमात्र भी दूर नहीं हैं। इस तरह के जो सन्त हों वे तो जैसे श्वेतद्वीप में मुक्त हैं, उनके सदृश[६] हैं। **और ऐसे सन्त का दर्शन हुआ तब ऐसा समझें कि 'मुझे साक्षात्रूप से भगवान का दर्शन हुआ।'** और ऐसी समझवाले जो सन्त, वे तो कृतार्थ[७] हैं। जिसे ऐसी समझ तो आ न सके, और **यदि वह सन्त के समागम में पड़ा रहे और वे सन्त प्रतिदिन पाँच जूते मारें तो भी उस अपमान को सहन करता हो, फिर भी सन्त के समागम को छोड़ सकता न हो, जैसे अफ़ीम का व्यसनी हो, वह उसका त्याग नहीं कर सकता है, उसी तरह से वह भी किसी भी प्रकार से सन्त का समागम त्याग कर सकता न हो, तब जैसे प्रथम सन्त कहे हैं, उनके समान उसे भी जानें और जैसी प्राप्ति उन सन्त को होती है, वैसी ही जो सन्त समागम में पड़ा रहता है, उसे भी होती है।"**

॥ इति वचनामृतम् सारंगपुर ॥१०॥८८॥

वचनामृत ११ : 'पुरुषप्रयत्न का'

संवत्* १८७७ की श्रावण कृष्ण ३० अमावस्या के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज गाँव श्रीसारंगपुर स्थित जीवाखाचर के राजभवन में

*दि. ७-९-१८२०, गुरुवार

१. अन्तर्दृष्टिवाले की अपेक्षा बहुत कम लाभप्रद है, ऐसा मिथ्या शब्द का अर्थ जानें २. अन्तर्दृष्टि से अपने पास भगवान के धाम देखने का प्रकार कहते हैं। ३. जीवात्मा ४. धारक, नियामक, आधार, शेषी, अविनाभूत – जिसके बिना जीव की स्थिति न रह पायें। ५. जहाँ भगवान विराजमान है वहाँ पर ही उनके धाम आदि भी हैं। ६. ज्ञान इत्यादिक स्थिति से समान। ७. पूर्णकाम।

उत्तराभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि "शास्त्र में जो पुरुषप्रयत्न कहा है, उस पुरुषप्रयत्न से कितना काम होता है और परमेश्वर की कृपा से कितना काम होता है ?" तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "सद्गुरु तथा सत्शास्त्र के वचन से जो दृढ़ वैराग्य को प्राप्त हुआ हो, दृढ़ श्रद्धावान हो, अष्ट[१] प्रकार के ब्रह्मचर्य का अतिदृढ़ पालन करता हो, अहिंसा धर्म में दृढ़ प्रीतिवाला हो, और आत्मनिष्ठा भी अत्यन्त परिपक्व हो, तो उस पर से जन्म-मरण की निवृत्ति हो जाती है । जैसे शालिधान के ऊपर से छिलके अलग होते हैं तब फिर से वह शालिधान उगता नहीं, उसी तरह कहे ऐसे गुण से जो युक्त हो, वह अनादि अज्ञानरूप जो माया है, उससे मुक्त हो जाता है तथा जन्म-मरण से रहित होता है और आत्मसत्ता को प्राप्त होता है । इतना तो पुरुष प्रयत्न से होता है और **परमेश्वर की कृपा भी जो ऐसे लक्षण से युक्त हो, उस पर ही होती है। जब परमेश्वर की कृपा होती है, तब वह भगवान का एकान्तिक भक्त होता है ।** श्रुति ने कहा है कि "**निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति**"[2] इस श्रुति का यह अर्थ है कि अञ्जन जो माया, उस से जो रहित हुआ वह भगवान की तुल्यता को प्राप्त होता है, अर्थात् जिस प्रकार से भगवान शुभ-अशुभ कर्म करने से बन्धन में नहीं आते हैं, उस तरह वह मुक्त भी शुभ-अशुभ कर्म से बन्धन में नहीं आते । और जैसे लक्ष्मीजी कभी तो स्नेह वशात् भगवान के स्वरूप में लीन हो जाती हैं, और कभी तो अलग रहते हुए भगवान की सेवा में रहती हैं, उस तरह वह भक्त भी अतिशय स्नेह वशात् भगवान में कभी तो लीन हो जाता है, और कभी तो मूर्तिमानरूप से भगवान की सेवा में रहता है । जैसे भगवान स्वतन्त्र है, उस तरह भगवान का वह भक्त भी स्वतन्त्र होता है । इस प्रकार की जो सामर्थ्य वह तो भगवान की कृपा से प्राप्त होती है ।"

१. आठ २. मुण्डकोपनिषद् ३/१/३

फिर नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि "जिसमें ये सभी अंग[१] सम्पूर्ण हो, उस पर तो भगवान की कृपा होती है और यदि इन अंगों में से थोड़ी सी न्यूनता हो तो उसकी कौन सी गति होती है ?" तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "**वैराग्य, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, अहिंसाधर्म तथा आत्मनिष्ठा उनमें से कोई अंग में न्यूनता हो तो आत्यन्तिक मोक्ष जो भगवान का अक्षरधाम, उनको तो प्राप्त नहीं होता है, इसके अलावा दूसरे जो भगवान के धाम हैं, उनकी प्राप्ति होती है अथवा अधिक सवासनिक हो तो देवलोक को प्राप्त होता है।** जिस देवलोक को भगवान के धाम की तुलना में मोक्षधर्म में नरक तुल्य कहा है। और देवता से मनुष्य होता है और मनुष्य से फिर देवता होता है और "**अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्**"[2] इस श्लोक का भी यही अर्थ है कि भगवान का जो भक्त सवासनिक हो, तो वह नरक-चौरासी में तो नहीं जाता, पर देवता में तथा मनुष्य में तो अनन्त जन्म धारण करता है। फिर जब पूर्व में कहे ऐसे वैराग्यादिक लक्षणों से युक्त होता है, तब ही भगवान की कृपा का पात्र होता है और बाद में भगवान का एकान्तिक भक्त होकर गुणातीत ऐसा जो भगवान का अक्षरधाम उसको प्राप्त होता है, इसलिए एक जन्म में अथवा अनन्त जन्मों में भी जिस दिन प्रथम कहे ऐसे लक्षणों से युक्त होकर अतिशय निर्वासनिक होगा तभी भगवान की कृपा का पात्र होगा और आत्यंतिक मोक्ष को प्राप्त होगा, परन्तु उसके बिना तो प्राप्त होगा ही नहीं।"

तब नृसिंहानन्द स्वामी ने पूछा कि "इसी देह से सभी कसर मात्र मिट जाये, ऐसा कोई उपाय है ?" फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "यदि खबरदार होकर जुट जाये[३] तो इसी देह में सभी कसर मिट जाती है अथवा देह पर्यन्त कसर न मिटी हो और अन्त समय में ही निर्वासनिक हो जाये तथा भगवान में अतिशय प्रीतिवान हो जाये तो अन्तकाल में भी भगवान की कृपा होती है और भगवान के धाम को प्राप्त होता है, इसलिए **एक देह में अथवा अनन्त**

१. अपने अंगभूत बन गए ऐसे धर्मादि साधन।

२. (गीता. ६/४५) **३.** प्रयत्नशील, साधना रत, लगा रहे।

देह में अथवा अन्त समय में मृत्यु के बीच एक घड़ी बाकी रही हो उस समय भी यदि भगवान में अतिशय वृत्ति जुड जाये तो उस भक्त को किसी प्रकार की कसर नहीं रहती है ।''

॥ इति वचनामृतम् सारंगपुर ॥११॥८९॥

वचनामृत १२ : 'आत्मा के विचार का'

संवत् १८७७ के भाद्रपद शुक्ल १ प्रतिपदा के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज गाँव श्रीसारंगपुर स्थित जीवाखाचर के राजभवन में उत्तराभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के समक्ष मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

फिर निर्विकारानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''साधु में कौन से गुण अखण्ड रहते हैं और कौन से गुण आते जाते रहे, ऐसे हैं ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''एक तो आत्मनिष्ठा, और दूसरा स्वधर्म और तीसरा भगवान के स्वरूप का निश्चय, ये तीन[१] गुण तो अखण्ड रहते हैं । दूसरे गुण तो आ भी सकते हैं, और पुनः वापस जा भी सकते हैं। इसलिए दूसरे[२] गुण तो आते[३] - जाते[४] रहते हैं और ये तीन गुण तो अखण्ड रहते हैं ।''

तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''देह का और आत्मा का अलग भेद समझ में आया हो तब भी उस भेद को भूलकर फिर से देहाभिमानी क्यों होता है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''देह आत्मा की भिन्नता एक बार स्पष्ट[५] समझ में आई हो तो फिर से वापस विस्मृत नहीं होती । ऐसा मानें कि 'मैं देह हूँ' तो भी देह को अपना रूप कतई मानने में आता ही नहीं । और भगवान का निश्चय भी जो एक बार दृढ़ हुआ हो तो उसे फिर से टालने पर भी नहीं टलता । ऐसा लगता है कि आत्मबुद्धि मिटकर देहबुद्धि आ जाती है; यह तो

*दि. ८-९-१८२०, शुक्रवार **१.** आत्मनिष्ठा से वैराग्य एवं निश्चय से भक्ति यह दो भी जान लें । **२.** कृपालुता इत्यादि । **३.** शुभ देशादिक का योग होने से । **४.** अशुभ देशादिक का योग होने से । **५.** यथार्थ

मन में मिथ्या सा भ्रम होता है, परन्तु देहाभिमान तो आता ही नहीं है। ऐसा जो परिपक्व ज्ञानी, उसे तो आत्मा का ही अभिमान दृढ़ रहता है। वह अपनी आत्मा को ब्रह्मरूप मानता है और उन ब्रह्म में परब्रह्म जो पुरुषोत्तम भगवान हैं, वे अखण्ड विराजमान हैं और उन भगवान के स्वरूप का निश्चय भी उसे अखण्ड ही अखण्ड रहता है।''

फिर स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने पूछा कि ''अपनी आत्मा का विचार कैसे करें ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''जब अन्तःकरण के सामने द्रष्टा ऐसा जो जीवात्मा; वह देखता रहता है तब बाहर जो स्थूल शरीर तथा उसके सम्बन्धित जो विषय हैं, वे सभी विस्मृत हो जाते हैं, और अन्तःकरण तथा द्रष्टा इन दोनों के बीच जो विचार बना रहता है, उस विचार से मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इन सभीके रूपों को जानें। बाद में विचार की दृष्टि से उन अन्तःकरण के संकल्प को देखते-देखते जब संकल्प विराम हो जाये तब भगवान की मूर्ति का ध्यान करें और जब तक संकल्प का बल हो तब तक तो संकल्प के सामने देखते रहें, परन्तु ध्यान न करें। जो बाहर स्थूल देह में पञ्च ज्ञानइन्द्रियाँ हैं, वे जब अपने-अपने विषय सन्मुख जाती हैं तब विचार को दो प्रकार से करें। एक तो, जिन विषयों के आकाररूप[१] इन्द्रियाँ हुई हो उन विषयों के आकार से विचार करें, और दूसरा तो, इन्द्रियों के गोलक[२] में जो देखनेवाला द्रष्टा है, उन द्रष्टा के आकार[३] से विचार[४] करें। तब विषय के आकार से और द्रष्टा के आकार से, ये दो प्रकार से जो विचार हैं वे एक हो जाते हैं। फिर उन विषयों में से वृत्ति अतिशय टूट जाती है। ऐसे विचार किये बिना यदि जबरन वृत्ति को विषय में से हटाए तो उस वृत्ति की विषय में से प्रीति मिटती नहीं और जब विचार करके वृत्ति को पीछे हटाए तब वह वृत्ति फिर से विषय में जुडती ही नहीं है, इसलिए जबतक इन्द्रियों की वृत्ति की विषय सन्मुख प्रीति रहती हो, तब तक भगवान का ध्यान न करें और जब इन्द्रियों की वृत्ति स्थिर हो जाये तब भगवान का ध्यान करें। जब बाहर स्थूल देह में द्रष्टा रहता हो तब

१. विषय दुःखरूप है, ऐसा। २. स्थानक। ३. स्वरूप ४. आत्मा सदा सुखरूप है, ऐसा।

स्पष्ट विभाग करके रखे कि जब स्थूल देह में रहना हो तब सूक्ष्म देह के संकल्पों की ओर देखना ही नहीं और जब अन्तःकरण के सन्मुख देखना हो तब स्थूल देह को विस्मृत कर दें । और द्रष्टा तथा दृश्य के मध्य में जो विचार है, उस विचार से ऐसा समझना कि 'द्रष्टा एवं दृश्य तो अतिशय भिन्न हैं ।' ऐसा समझकर देह के भावों को देह में होम दें[१] और द्रष्टा जो चैतन्य उनके भावों को तो उस चैतन्य में होम दें । और बाल, यौवन, वृद्ध, स्थूल, कृश, जीना, मरना ये सभी देह के भाव हैं, इन्हें आत्मा में मानें ही नहीं, अछेद्य, अभेद्य, अजर, अमर, ज्ञानरूप, सुखरूप और सत्तारूप ये जो सभी आत्मा के भाव हैं, इन्हें कभी भी देह में समझें ही नहीं । इन गुणों को तो आत्मा में समझें । ऐसा विचार तो जब तक घाट[२]-संकल्प का बल हो तबतक न छोड़ें । जैसे राजा हो, वह जब तक शत्रु का बल हो तब तक राजगद्दी पर बैठकर सुख नहीं भोगता और जब शत्रुमात्र का नाश हो जाये तब अपने राज्य के वैभव को भोगता है, उसी तरह भगवान का जो भक्त हो, वह जब तक मन तथा इन्द्रियरूप शत्रु पीड़ा देते हों, तब तक पहले कहा ऐसा जो विचार, उसे दृढ़रूप से रखें और जब मन-इन्द्रियों के संकल्प सभी का शमन हो जाये तब परमेश्वर के स्वरूप का ध्यान करें ।''

॥ इति वचनामृतम् सारंगपुर ॥१२॥९०॥

वचनामृत १३ : 'निश्चय टलने - न टलने का'

संवत् १८७७ की भाद्रपद कृष्ण २ द्वितीया के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज गाँव श्रीसारंगपुर स्थित जीवाखाचर के राजभवन में उत्तराभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में विराजमान थे । उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

---

*दि. ९-९-१८२०, शनिवार

१. विलय कर दें । २. **'घट् चेष्टायाम्'** धातु से यह शब्द निष्पन्न हुआ है, मन एवं चित्त में होनेवाले चेष्टात्मक संकल्पों को 'घाट' शब्द से कहते है ।

तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''जिसे भगवान के स्वरूप का निश्चय प्रथम होने के बाद फिर मिट जाता है, उसे तो प्रथम निश्चय हुआ था या नहीं हुआ था ?'' फिर स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी बोले कि ''जिसे अपने जीवात्मा में निश्चय हुआ हो, वह तो किसी भी तरह से टलता नहीं और शास्त्र की रीति से यदि निश्चय हुआ हो, तब शास्त्र में न मिले ऐसा चरित्र जब परमेश्वर करते हैं तब भगवान का निश्चय हो, वह टल जाता है।'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''शास्त्र में तो परमेश्वर का समर्थपना, असमर्थपना, कर्तापन, अकर्तापन ऐसी अनन्त प्रकार की बातें हैं। इसलिए शास्त्र से बाहर का ऐसा कौना सा चरित्र परमेश्वरने किया होगा कि जिससे उसका निश्चय टल गया ? इस प्रश्न का उत्तर कीजिए।'' फिर सभी मुनि बोले कि ''शास्त्र बाहर तो कोई चरित्र नहीं है। इसलिए हे महाराज ! इस जीव को निश्चय होकर फिर टल जाता है, उसका क्या कारण है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसे भगवान का निश्चय होता है, उसे शास्त्र से ही होता है। क्योंकि, शास्त्र में परमेश्वर के भी लक्षण कहे गए हैं और सन्त के भी लक्षण कहे गए हैं, इसलिए शास्त्र से जो निश्चय होता है वह ही अचल रहता है और शास्त्र के बिना अपने मन से जो निश्चय किया हो, वह निश्चय टल जाता है। और फिर धर्म की प्रवृत्ति का जो कारण है, वह भी शास्त्र ही है। जिन्होंने कभी भी शास्त्र का श्रवण किया ही नहीं है ऐसे अज्ञानी जीवों में भी माता, बहन, पुत्री और स्त्री, उनकी भेदरूप जो धर्म की मर्यादा वह आजतक चली आ रही है, उसका कारण भी शास्त्र ही है। क्योंकि शास्त्र में से किसी ने सर्व प्रथम ऐसी बात सुनी है, जो परम्परागत समस्त लोक में प्रचलित हुई है। इसलिए जिसे भगवान का निश्चय होकर टल जाता है, उसे तो शास्त्र के वचनों की प्रतीति ही नहीं है। वह तो केवल मनमुखी है और नास्तिक है। यदि शास्त्र की प्रतीति होती तो वह कभी भी परमेश्वर से विमुख हो ही नहीं सकता। क्योंकि शास्त्र में तो भगवान के अनन्त प्रकार के चरित्र हैं, इसलिए परमेश्वर चाहे कैसे भी चरित्र करें, परन्तु शास्त्र से बाहर नहीं ही होते।

इसलिए **जिसे शास्त्र के वचन में विश्वास होता है, उसीको ही भगवान के स्वरूप का निश्चय अडिग[1] होता है और कल्याण भी उसीका ही होता है और वह धर्म से भी कभी भी डिगता[2] ही नहीं है ।''**

॥ इति वचनामृतम् सारंगपुर ॥१३॥९१॥

वचनामृत १४ : 'प्रमाद और मोह का'

संवत्* १८७७ के भाद्रपद शुक्ल ३ तृतीया के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज गाँव श्रीसारंगपुर स्थित जीवाखाचर के राजभवन में कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने काले पल्ले का श्वेत खेस धारण किया था, सफेद चद्दर ओढ़ी थी, मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी और कानों पर पीले पुष्पों के गुच्छ विराजमान थे, पाग में पीले फूलों के तुर्रे धारण किये थे, कण्ठ में पीले पुष्पों का हार नाभि तक झुलता हुआ विराजमान था और पश्चिम की ओर मुखारविन्द करके श्रीजीमहाराज विराजमान थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''भगवान के जो भक्त होते हैं वे भगवान के वैकुण्ठ आदिक जो धामों को प्राप्त होकर पुनः वहाँ से पड़ते[3] नहीं हैं, ऐसा भगवान ने गीता[4] में कहा है, और जो पड़ता है वह कौन से दोष से पुनः पड़ता होगा ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''भगवान के धाम को पाकर कौन वहाँ से गिरा है ? एक तो बताइये ।'' फिर स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने कहा कि ''एक तो वैकुण्ठ में से जय-विजय भगवान के पार्षद गिरे[5] तथा गोलोक में से राधिकाजी[6] तथा श्रीदामा पड़े ।'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जय-विजय का जो पतन हुआ यह तो भगवान ने

*दि. १०-९-१८२०, रविवार

१. अटल **२.** डगमगाता **३.** गिरते, लौटते **४.** **''यद्गत्वा न निवर्तन्ते'', ''सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च'', ''मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते''** इत्यादि वचन। **५.** पड़े, **''पार्षदप्रवरौ विष्णोर्विप्रशापात्पदाच्च्युतौ''** ऐसा भागवत (७/१/३२) में कहा है । **६.** ब्रह्मवैवर्तपुराण - श्रीकृष्ण जन्मखण्ड पूर्वार्ध (३/९७-११३) में यह प्रसंग है ।

अपने सन्त की महिमा दिखाने के लिए गिरायें कि 'सनकादिक जैसे सन्त का द्रोह करता है तो वैकुण्ठादिक जैसे धाम को प्राप्त हुआ हो तो भी उसका पतन हो जाता है।' और जय-विजय तो पुनः तीसरे जन्म में भगवान के वैकुण्ठ धाम में पहुँच गए[१]। इसलिए उन्हें कहीं 'गिरे हैं' ऐसा नहीं कहा जाता। वह तो भगवान की इच्छा से हुआ। और गिरा हुआ तो उसे कहा जाता है कि जिसको फिर से भगवान का सम्बन्ध ही न रहे। गोलोक से राधिकाजी पड़ीं, वह भी भगवान की ही इच्छा थी और स्वयं भगवान को भी मनुष्यदेह धारण करके अनन्त जीवों का उद्धार करना था। और अपने कल्याणकारी जो चरित्र हैं, उनका विस्तार करना था, इसलिए राधिकाजी का 'पतन हुआ' ऐसा कोई कहता है, तो भगवान भी उनके साथ पड़े हुए कहलाते हैं। इसलिए भगवान की इच्छा से जब गोलोक से पृथ्वी पर आयें, वह कहीं पड़े हुए नहीं कहलाते। यहाँ तो भगवान की ही इच्छा जानें। उन भगवान की इच्छा से तो अक्षरधाम में से भी देह धारण करते हैं और जड़ होते हैं वे चैतन्य हो जाते हैं और चैतन्य होते हैं वे जड़ हो जाते हैं। क्योंकि, भगवान तो अति समर्थ हैं, वे जैसा करते हैं वैसा होता हैं, परन्तु उन भगवान की इच्छा के बिना तो भगवान के धाम को पा कर कोई गिरता ही नहीं है, और जो गिरते हैं वे तो आधुनिक अपक्व भक्त होते हैं, वे साधनकाल में से ही गिरते हैं, वे तो योगभ्रष्ट कहे जाते हैं, परन्तु वैराग्य, आत्मनिष्ठा, भगवान की भक्ति तथा ब्रह्मचर्यादिक धर्म से जो सिद्ध होते हैं वे तो जैसे श्वेतद्वीप में मुक्त हैं उनके समान हैं, वे तो किसी भी काल में पड़ते नहीं हैं।"

इस प्रकार से श्रीजीमहाराज इतनी बात करने के बाद बोले कि "लीजिए, अब हम एक प्रश्न पूछते हैं," फिर मुनि ने कहा कि "पूछिए।" तब श्रीजीमहाराज बोले कि "महाभारत के उद्योग पर्व में सनत्सुजात ऋषि ने धृतराष्ट्र के प्रति कहा है कि '**एक तो प्रमाद और दूसरा मोह, इन दोनों का जो त्याग करता है वह सभी प्रकार से भगवान की माया को तैर चुका है और प्रमाद एवं मोह का ही नाम माया है।**' इसलिए हम सब त्यागी ऐसे

१. भागवत् : ७/१/४६

भगवान के भक्त कहलाते हैं और उनमें जिसे प्रमाद तथा मोह रहते होंगे और भगवान की महिमा का बल लेकर वह भक्त प्रमाद को और मोह को टालने की तत्परता नहीं रखता होगा उस भक्त को इसी देह में कैसा सुख होगा और मरकर वह कैसे सुख को प्राप्त करेगा ?' यह प्रश्न है।" फिर स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी बोले कि "जो भगवान का भक्त हो, वह भगवान का माहात्म्य अतिशय समझके प्रमाद तथा मोह न टले तो भी उसकी कोई अधिक चिन्ता न रखें[१] तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "भगवान का भक्त हो और उसे प्रमाद तथा मोह रहते हो और उसे टालने की तत्परता रखता हो, उसे कितनी खोट[२] है, और जो टालने की तत्परता न रखता हो उसमें क्या विशेष है ?" तब स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी बोले कि "भगवान का बल रखता है और साधन का बल नहीं रखता है, इसलिए यह विशेष ही तो है।" तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे प्रमाद और मोहरूप शत्रु रहे हैं तो भी जो गाफ़िल[३] रहता है, उसे तो आप श्रेष्ठ कहते हैं, जैसे पतिव्रता स्त्री हो, और वह अपने पति के डर से और पतिव्रता का धर्म रखने के डर से मनमें अतिशय तत्परता रखकर किसी पुरुष से हसकर ताली नहीं बजाती[४] और उसे मन में ऐसा डर रहता है कि 'यदि मैं गफलत[५] रखूँगी तो मेरे पति मुझे व्यभिचारिणी समझेंगे, तब मेरी सेवा अंगीकार नहीं करेंगे, जिससे मुझे पतिव्रता के धर्म में क्षति आयेगी। ऐसा समझकर मन में सावधानी रखती है। उस तरह जो भक्त उस पतिव्रता के जैसी भक्ति रखता है और प्रमाद को तथा मोह को टालने की तत्परता रखता है, उसे तो आप उलटी क्षति दिखाते हैं। और फिर जैसे कोई स्त्री अपने मनमाने पुरुष के साथ ताली बजाती घूमती फिरती हो तथा पतिव्रता का धर्म पालने की तत्परता न रखती हो, उस तरह जो भक्त प्रमाद को तथा मोह को टालने की तत्परता

---

१. प्रमाद और मोह की निवृत्ति अनायास से होती हो तो भले, अथवा वे दोनों भगवान के भक्त में रहकर भी भगवान की महिमा के आगे अति रंक (गरीब) ऐसे वे दोनों क्या अनर्थ कर सकनेवाले है ? कुछ भी नहीं । इतना तात्पर्यार्थ है । २. हानि ३. लापरवाह, असावधान ४. हास्य विनोद नहीं करती, मित्रता ५. लापरवाही, असावधानी

न रखता हो, उसे तो आप श्रेष्ठ बताते हैं, वह तो क्या आपकी ऐसी उल्टी समझ है या क्या है ? और **जो गफ़लत[१] रखेगाँ और वह यदि भगवान का भक्त होगा, तो उसको प्रमाद तथा मोह ये दो शत्रु बाधा[२] पहुँचाये बिना नहीं रहेंगे ।** जैसे मदिरा पीने से तथा भांग पीने से तो जैसे विमुख को नशा चढ़ता है उसी ही तरह भगवान के भक्त को भी नशा चढ़ता है और पागल होता है। उसी तरह मदिरा तथा भांगरूप जो प्रमाद तथा मोह वे तो जैसे विमुख जीव को बाधा डालते हैं उसी ही तरह भगवान के भक्त को भी बाधा उत्पन्न करते हैं । विमुख में तथा हरिभक्त में इतना ही अन्तर है कि 'विमुख को ये दोनों शत्रु टलते नहीं हैं और भगवान का भक्त यदि तत्परता रखकर टालने का उपाय करता है तो इन दोनों शत्रुओं का नाश हो जाता है ।' इतना भगवान के भक्त को विशेष है । यदि जो गफलत रखता है वह यदि भगवान का भक्त हो तो भी अच्छा[३] नहीं है ।''

तब श्रीजीमहाराज ने फिर से प्रश्न पूछा कि ''स्थूल शरीर कितने तत्त्व का है और सूक्ष्म शरीर कितने तत्त्व का है ? और स्थूल देह में तथा सूक्ष्म देह में समान तत्त्वों हैं या कुछ कम ज्यादा हैं ? इन दोनों शरीरों का रूप[४] करिए?'' फिर स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी इस प्रश्न का उत्तर करने लगे किन्तु न हुआ । तब सभी मुनि बोले कि ''हे महाराज ! इसका उत्तर आप कृपा करके करिए ।'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''**स्थूल देह** है वह तो पृथ्वी आदिक पञ्च महाभूत नामक पाँच तत्त्वों का है । और **सूक्ष्म देह** तो पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च प्राण, और चार अन्तःकरण नामक उन्नीस तत्त्वों का है । उस स्थूल देह में भी जब सूक्ष्म शरीर अनुस्यूत[५]रूप से रहता है तभी सभी क्रियाएँ यथार्थरूप से होती हैं, परन्तु उसके बिना नहीं होती । क्योंकि, कान, नेत्र आदिक जो इन्द्रियों के गोलक हैं, उनसे युक्त ऐसा जो स्थूल देह है उसमें उन-उन इन्द्रियों आदिक से युक्त ऐसा जो सूक्ष्म देह, वह एकमेक हो जाता है, उसके द्वारा उन-उन इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण होता है । परन्तु केवल स्थूल देह के गोलक

१. असावधानी २. हानि ३. ठीक ४. लक्षण ५. एकमेक, ओत-प्रोत

से नहीं होता है । इसलिए पञ्चतत्त्व का जो स्थूल देह है, उसमें उन्नीस तत्त्वों का जो सूक्ष्म देह, वह अनुस्यूतरूप से रहता है, इसलिए स्थूल देह में भी चौबीस तत्त्व हैं, और उसी तरह ही सूक्ष्म देह में भी पञ्चतत्त्व का स्थूल देह एकत्वरूप से रहता है तभी सूक्ष्म देह के भोग सिद्ध होते हैं । और सूक्ष्म देह उन्नीस तत्त्व का है, उसमें पञ्चतत्त्व का स्थूल देह मिलता[१] है, इसलिए सूक्ष्मदेह भी चौबीस तत्त्व का है । यदि सूक्ष्म देह में स्थूल देह है तो सूक्ष्म देह में स्त्री का संग[२] करता है, उसका स्थूल देह में वीर्यपात हो जाता है । इसलिए स्थूल देह की तथा सूक्ष्म देह की जाग्रत अवस्था में तथा स्वप्न अवस्था में एकता है ।''

फिर मुनि ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! यह तो जैसा स्थूल देह है वैसा ही सूक्ष्म देह हुआ, तब जैसे स्थूल देह में कर्म लगता[३] है वैसे ही सूक्ष्म देह में लगता है या कुछ फर्क है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''स्थूल देह में जैसी अपनेपन की दृढ़ अहंमन्यता[४] है, वैसी ही यदि सूक्ष्म देह में अहंमन्यता हो तो जैसा स्थूलदेह में कर्म लगता है वैसा ही सूक्ष्म देह में भी लगता है । जो सूक्ष्मदेह के कर्म को अल्प कहा है, वह तो जीव को हिम्मत देने के लिए है, और जिसे स्थूल देह में तथा सूक्ष्मदेह में अभिमान[५] नहीं है, उसे तो स्थूल देह का कर्म भी नहीं लगता और सूक्ष्म देह का भी नहीं लगता है । क्योंकि, वह तो केवल आत्मसत्तारूप से ही रहता है । इसलिए ऐसे जो आत्मज्ञानी हैं, उन्हें तो स्थूल देह सम्बन्धी तथा सूक्ष्म देह सम्बन्धी कर्म लगते नहीं हैं, और वे इस शरीर से अशुभ कर्म को तो करते ही नहीं है, और प्रारब्ध के अनुसार जो सुख-दुःख आते हैं उन्हें तो भोगते हैं, और भोगते हुए ऐसा मानते हैं कि 'मैं इनका भोक्ता नहीं हूँ, मैं तो आत्मा हूँ ।' और जो अज्ञानी देहाभिमानी होता है उसे तो स्थूल देह अथवा सूक्ष्म देह सम्बन्धी सभी कर्म लगते हैं, और उन कर्मों के अनुसार सुख-दुःख को भी भोगता है । क्योंकि, जो अज्ञानी हैं

१. एकमेक हो जाता है । २. संकल्पात्मक संभोग ३. स्पर्शता
४. देह के प्रति अहंबुद्धि की दृढ़ता। ५. अहंमन्यता

वह जिन-जिन विषयों को भोगता है, उसे भोगता हुआ स्वयं को देहरूप मानकर ऐसा मानता है कि 'मैं इस विषय का भोक्ता हूँ।' फिर जब अन्त समय आता है तब उस अज्ञानी जीव को यम के दूत दिखाई पड़ते हैं और देह की विस्मृति हो जाती है और मूर्छा अवस्था आती है। फिर वे यम के दूत देह को छुड़वाकर जीव को अलग करते हैं, तब उस जीव को प्रेत का देह प्राप्त होता है, फिर उस देह से यमपुरी के कष्ट को भोगता है। और ज्ञानी ऐसा जो भगवान का भक्त, उसको अन्त समय में भगवान या भगवान के सन्त दिखाई देते हैं और उसे भी देह की विस्मृति हो जाती है और मूर्छा अवस्था आती है। फिर उस देह को छोड़कर अलग होता है, तब उस भक्त को भगवान भागवती शरीर देते हैं, और उस देह से उन भगवान के धाम में रहता है।''

॥ इति वचनामृतम् सारंगपुर ॥१४॥९२॥

वचनामृत १५ : 'मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा का'

संवत्* १८७७ के भाद्रपद शुक्ल ४ चतुर्थी के दिन श्रीजीमहाराज गाँव श्रीसारंगपुर स्थित जीवाखाचर के राजभवन में कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''लीजिए, हम प्रश्न करते हैं कि 'दो प्रकार के भगवान के भक्त हैं, इसमें से एक को तो भगवान में अत्यन्त प्रीति है और भगवान के दर्शन बिना क्षणमात्र भी रहा नहीं जाता है और उसका प्रेम बाहर भी बहुत दिखाई देता है, और दूसरा जो भगवान का भक्त है उसे तो आत्मनिष्ठा भी है, और वैराग्य भी परिपूर्ण है और भगवान में प्रीति भी है, तब भी उसका प्रेम प्रथम कहा जो भक्त उसके जैसा नही दिखाई देता, और प्रथम कहा है उसमें तो आत्मनिष्ठा तथा वैराग्य ये दोनों ही नहीं है, फिर भी उसकी भक्ति अतिशय सुशोभित लगती है। और आत्मनिष्ठा तथा वैराग्य से युक्त हो तो भी

*दि. ११-९-१८२०, सोमवार

उसकी भक्ति तो प्रथम बताये भक्त की भाँति शोभित नहीं होती है । इन दो प्रकार के भक्त में किसकी भक्ति श्रेष्ठ है और किसकी भक्ति कनिष्ठ है ?'' यह प्रश्न है । फिर स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी बोले कि ''आत्मनिष्ठा तथा वैराग्य नहीं है तो भी जिसे भगवान में अतिशय प्रेम है वह ही श्रेष्ठ है ।'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसे वैराग्य और आत्मनिष्ठा नहीं है, उसे श्रेष्ठ कहते हैं उसे कौन सी समझ के आधार पर कहते हैं ? क्योंकि, वह तो देहाभिमानी है, इसलिए जब उसके देह को सुख मिले ऐसे पञ्चविषय का योग होगा तब उसे विषय में प्रीति हो जायेगी । फिर भगवान में वैसी प्रीति नहीं रहेगी । उसे आप श्रेष्ठ क्यों कहते हैं ?'' तब स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी बोले कि ''जिसे विषय में प्रीति हो जाये उसे हम प्रेमी नहीं कहते । हम तो गोपियों[१] जैसे भक्त हो उसे प्रेमी कहते हैं ।'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''गोपियाँ कहीं भोली नहीं थी, वे तो आत्मनिष्ठा और वैराग्य युक्त हो उनकी समझ[२] को अतिक्रमण कर दे ऐसी तो समझदार थीं । जैसे कोई राजनीति का जानकार हो और वह बोलता है उसके जैसी तो गोपियों को बोलने में समझदारी थीं, और भगवान को भी जैसे यथार्थरूप से जानने चाहिए वैसे जानती थीं । और समस्त यादवों में अतिशय बुद्धिमान तथा भगवान के अंगत परामर्शक[३] ऐसे जो उद्धवजी, वे गोपियों की समझदारी देखकर गद्‌गद कण्ठ हो गए । और वे उद्धवजी ऐसा बोले कि ''गोपियों के पास मुझे ज्ञान देने भेजा, वह तो भगवान ने मुझ पर अतिशय अनुग्रह किया ।'' वे स्वयं गोपियों को उपदेश करने के लिए गए थे परन्तु गोपियों के वचन सुनकर उलटा स्वयं ने उनसे उपदेश ग्रहण किया । और आप कहेंगे कि ''गोपियाँ तो ऐसी बुद्धिमान नहीं थीं,' तब उनमें तो मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा ये तीन प्रकार के भेद थे । उनमें **मुग्धा** का ऐसा लक्षण है कि एक तो, भगवान पर धोखा[४] बहुत करे और ऐसा वचन बोले कि 'हम

---

१. **''क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाऽभवत्''** इस वचन से भगवान में गोपियों का प्रेम-वर्णन किया है । **२.** ज्ञान **३.** निजी सलाह - सूचन देनेवाला सचिव । **४.** रोष

आपके लिए कर करके मर गए फिर भी आप उसे नजर में नहीं लाते है;' और 'ऐसे में उसे ज्यादा छेड़ा जाये, तो भगवान से रूठें और तुच्छ-तुच्छ वचन बोलने लगे कि 'ऐसा लगे कि अभी विमुख हो जायेगी ।' इस प्रकार के शास्त्र में जिसके वचन हो, तो उस गोपी को मुग्धा जानें । और जो **मध्या** है, वह तो किसी भी दिन भगवान के सामने क्रोध नहीं करती और तुच्छ वचन भी नहीं कहती; और चतुराई करके युक्ति-युक्ति से अपना स्वार्थपना दूसरे को मालूम होने न दे और अपना काम करा ले उसके साथ भगवान की रुचि अनुसार करती है परन्तु अकेला भगवान की रुचि का न करे। यदि भगवान की ही रुचि अनुसार करना पड़े तो भी थोड़ासा अपना मनचाहा करने की युक्ति जरूर रखती है । शास्त्र में ऐसे जिसके वचन हो, उस गोपी को मध्या जानें । और जो **प्रौढ़ा** होती है, वह तो केवल भगवान की रुचि के अनुसार ही चलती है और किसी भी प्रकार से अपने स्वार्थ के लिए युक्ति नहीं करती और केवल भगवान को प्रसन्न करने को चाहे और जिस प्रकार से भगवान प्रसन्न हों, उस तरह ही स्वयं प्रसन्न रहती है। अपनी बराबरवाली अन्य गोपियाँ हों, उन पर ईर्ष्या, क्रोध करे ही नहीं और मान-मत्सर आदिक सभी विकारों का त्याग करके भगवान की सेवा में सावधान रहती हैं । जैसा करने से भगवान नाराज हों वैसा अचरण तो मन, कर्म, वचन से कभी भी न करें। शास्त्र में ऐसे जिसके वचन हो उस गोपी को प्रौढ़ा जानें । इस प्रकार मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा; ऐसे गोपियों के भेद हैं । इसलिए गोपियों की समझ में तो अतिशय विवेक था । इसलिए उनकी प्रीति तो बिना समझ की नहीं कहलाती । और गोपियाँ तो भगवान की महिमा को यथार्थ जानती थीं और उस महिमा के प्रताप से आत्मनिष्ठा तथा वैराग्य सहजरूप से उनके हृदय में रहते थे । इसलिए **उन गोपियों में तो आत्मनिष्ठा तथा वैराग्य आदिक अनन्त जो कल्याणकारी गुण हैं, वे सभी भगवान के माहात्म्य के प्रताप से सम्पूर्ण थे ।** ऐसे भक्त की रीति तो ऐसी है कि 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध यह जो पञ्चविषय हैं, उन्हें भगवान सम्बन्धी ही चाहे, परन्तु

अन्य किसी सम्बन्धी की ईच्छा न करें। भगवान में इन पञ्चविषय से जो अतिशय स्नेह, उस स्नेह के कारण वैराग्य तथा आत्मनिष्ठा नहीं है तो भी भगवान के सिवा दूसरा कोई जगत का संकल्प हृदय में नहीं होता है। जैसे वर्षा नहीं हुई हो तब तक अनेक प्रकार के तृण के बीज पृथ्वी पर कहीं नहीं दिखाई देते, और जब वर्षा होती है तब इतने अधिक तृण अंकुरित होते हैं कि पृथ्वी ही नहीं दिखाई देती। उसी तरह जो आत्मनिष्ठा तथा वैराग्य से रहित हैं, उन्हें यदि भगवान के सिवा दूसरे किसी विषय के संकल्प दिखाई नहीं देते तो भी जब उसे कुसंग का योग होगा तब विषय के संकल्प होने लगेंगे, और बुद्धि भ्रष्ट हो जायेगी, और परमेश्वर की तो हृदय में स्मृति भी नहीं रहेगी और अखण्ड विषय का ध्यान होगा। फिर वैराग्य तथा आत्मनिष्ठा रहित उस प्रेमी को ऐसा प्रतीत होगा कि 'मुझे भगवान में लेशमात्र प्रीति नहीं है,' **इसलिए आत्मनिष्ठा तथा वैराग्य बिना का जो प्रेमी भक्त दिखाई देता हो, वह तो अतिशय न्यून है।** और जिसे आत्मनिष्ठा है तथा वैराग्य है और भगवान में प्रीति भी साधारण सी ही है, वह तो ऐसा जाानता है कि 'मेरे जीवात्मा में ही यह भगवान की मूर्ति अखण्ड विराजमान है।' ऐसा जानकर ऊपर से तो भगवान की मूर्ति के दर्शन-स्पर्शादिक में आतुरता जैसा नहीं दिखाई देता और शान्तपना जैसा दिखाई पड़ता है, तो भी उसकी प्रीति की जड़ें गहरी है। वह किसी कुसंग के योग से भी उसकी प्रीति कम हो जाये ऐसी नहीं है। इसलिए वह भक्त श्रेष्ठ है और एकान्तिक है।''

॥ इति वचनामृतम् सारंगपुर ॥१५॥९३॥

वचनामृत १६ : 'नरनारायण के तप का'

संवत्* के १८७७ के भाद्रपद शुक्ल ५ पञ्चमी के दिन श्रीजीमहाराज गाँव श्रीसारंगपुर स्थित जीवाखाचर के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे।

*दि. १२-९-१८२०, मंगलवार

उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब परमानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''श्रीमद्भागवत में कहा है कि 'श्रीनरनारायण ऋषि बदरिकाश्रम में रहते हुए इस भरतखण्ड के समस्त मनुष्यों के कल्याण के लिए तथा सुख के लिए तप करते हैं।' तब सभी मनुष्य कल्याण के मार्ग में प्रवृत्त क्यों नहीं होते ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''उसका उत्तर तो उस श्रीमद्भागवत के पञ्चम[१] स्कन्ध में ही है कि 'वे भगवान तप करते हैं वह तो अपने भक्त के लिए करते हैं, किन्तु अभक्त के लिए नहीं करते।' वह कैसे ? तब **इस भरतखण्ड में अतिशय दुर्लभ ऐसा जो मनुष्य देह, उसे जानकर जो मनुष्य भगवान की शरण में जाते हैं तथा भगवान की भक्ति करते हैं ऐसे मनुष्य के अनुग्रह के लिए तपस्वी समान वेष है जिनका, ऐसे जो श्रीनरनारायण भगवान, वे कृपा करके बड़ा तप करते हैं ।** अपने में निरन्तर अधिकरूप से रहे ऐसे जो धर्म, ज्ञान, वैराग्य, उपशम, ऐश्वर्य इत्यादिक जो गुण, उनसे युक्त तप करते हुए वे भगवान इस जगत का रात्रि प्रलय[२] होने तक बदरिकाश्रम में रहते हैं । भरतखण्ड में रहे ऐसे अपने भक्तजन उनके जो धर्म ज्ञानादिक गुण, वे जो अतिशय अल्प हों तो भी उन भगवान के गुण से युक्त तप के प्रताप से थोड़े ही समय में अतिशय वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इसके बाद उन भक्तजनों के हृदय में भगवान की इच्छा से दिखाई देता ऐसा जो अक्षरब्रह्ममय तेज, उसमें साक्षात् ऐसे जो श्रीकृष्ण भगवान, उनका दर्शन होता है । इस प्रकार जो अपने भक्त हैं, उनका उन भगवान के तप से निर्विघ्न कल्याण होता है, परन्तु जो भगवान के भक्त नहीं है उनका कल्याण नहीं होता है । इस प्रकार से इस प्रश्न का उत्तर है ।''

॥ इति वचनामृतम् सारंगपुर ॥१६॥९४॥

---

१. **''भारतेऽपि वर्षे... अनुग्रहायात्मवतामनुकंपया''** (भा. ५/१९/९) इस गद्य में कहा है ।
२. निमित्त प्रलय ।

वचनामृत १७ : 'मुक्त के भेद का – इमली की टहनी का'

संवत्* १८७७ के भाद्रपद शुक्ल ६ षष्ठी के दिन सन्ध्या के समय श्रीजीमहाराज गाँव श्रीसारंगपुर स्थित जीवाखाचर के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के आगे मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''भगवान के भजन को करनेवाला जो जीव है उसकी दृष्टि जैसे-जैसे सूक्ष्म होती जाती है वैसे-वैसे उसे परमेश्वर का पर भाव जानने में आता है[१] और भगवान की महिमा भी अधिक-अधिक जानने में आती है। तो जब वह भक्त स्वयं को देहरूप मानता हो तब भगवान को जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के साक्षी जानता है; और जब स्वयं को जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति से पर जानता है तब भगवान उनसे पर दिखाई देते हैं। फिर जैसे-जैसे सूक्ष्म दृष्टि होने लगती है, वैसे-वैसे भगवान को अपने से पर जानने लगता है और महिमा भी अधिक-अधिक समझने लगता है। और फिर **जैसे-जैसे अपनी वृत्ति प्रेम से भगवान के साथ जुड़ती जाती है, वैसे-वैसे उपासना यथार्थरूप से दृढ़ होने लगती है।** वहाँ दृष्टान्त है; जैसे समुद्र है, उसमें चीटीं भी जाकर पानी पीती है और चिडियाँ भी पीती है और मनुष्य, पशु, घोड़ा, हाथी, तथा बड़े-बड़े मगरमच्छ ये सभी समुद्र का जल पीकर बलवान होते हैं, परन्तु समुद्र लेशमात्र कम नहीं होता। और जिन-जिन जीव का जैसा-जैसा बड़ा सामर्थ्य[२] होता हैं, वे-वे जीव उसके अनुसार समुद्र की महिमा अधिक जानते हैं। और फिर दूसरा दृष्टान्त है; जैसे आकाश में मच्छर उड़ता है, तथा चिडियाँ उड़ती है, चील उड़ती है, बाज[३] भी उड़ता है, तथा अनलपक्षी[४] भी उड़ता है, तथा गरुड़ भी उड़ते हैं तो भी इन सभीके लिए आकाश अपार का अपार

---

*दि. १३-९-१८२०, बुधवार

१. परपना ज्ञात होता रहता है। २. ताकत ३. बाज़पक्षी

४. आकाश में रहनेवाला पक्षी विशेष। ''**सिन्धुवादवृत्तम्**'' में इस पक्षी का उल्लेख है।

ही रहता है और जिसके पंखों में ज्यादा बल होता है वह आकाश की महिमा अधिक जानता है और अपने विषय में न्यूनता समझता रहता है । उस प्रकार मरीच्यादिक प्रजापति के समान अल्प उपासनावाले भक्त तो मच्छर के समान हैं, ब्रह्मादिक की तरह उनसे अधिक उपासनावाले भक्त तो चिड़िया के समान हैं, विराटपुरुषादिक की तरह उनसे अधिक उपासनावाले भक्त तो चील के समान हैं, प्रधानपुरुष की तरह उनसे अधिक उपासनावाले भक्त तो बाज जैसे हैं, शुद्ध प्रकृतिपुरुष की तरह उनसे अधिक उपासनावाले भक्त तो अनलपक्षी जैसे हैं और अक्षरधाम में रहते जो अक्षरमुक्त, उनकी तरह उनसे अधिक उपासनावाले भक्त तो गरुड़ जैसे हैं । ये सभी भक्त जैसे-जैसे अधिक-अधिक सामर्थ्य को प्राप्त हुए हैं, वैसे-वैसे भगवान की महिमा अधिक-अधिक समझते गए हैं; और जैसे-जैसे अधिक सामर्थ्य को पाते गए वैसे-वैसे भगवान में स्वामी-सेवकपना का भाव भी अति दृढ़ होता गया है । जब भजन को करनेवाला जीवरूप में था तब उस जीव में खद्योत[१] जितना प्रकाश था । पश्चात् जैसे-जैसे भगवान का भजन करते-करते आवरण टलता गया वैसे-वैसे दीपक जैसा हुआ, फिर मशाल जैसा हुआ, फिर अग्नि की ज्वाला जैसा हुआ, फिर दावानल[२] जैसा हुआ, फिर बिजली जैसा हुआ, फिर चन्द्रमा जैसा हुआ, फिर सूर्य जैसा हुआ, फिर प्रलयकाल की अग्नि जैसा हुआ, फिर महातेज जैसा हुआ । इस प्रकार से प्रकाश भी वृद्धि को प्राप्त हुआ और सामर्थ्य भी वृद्धि को प्राप्त हुआ और सुख भी वृद्धि को प्राप्त हुआ । इस प्रकार खद्योत से लेकर महातेज पर्यन्त आद्य, मध्य और अन्त के जो भेद कहे, वे सभी मुक्त के भेद हैं । इसलिए जैसे-जैसे अधिक स्थिति को प्राप्त करते गए तथा भगवान की महिमा अधिक जानते गए वैसे-वैसे मुक्तपना में विशेषता आती गई ।'' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहके खड़े हुए । फिर इमली की टहनी को पकड़कर पूर्व की ओर मुखारविन्द करके खड़े रहते हुए बोले कि ''जैसे पूर्णिमा के चन्द्रमा का

---

१. जुगनू २. जंगल में लगी आग जैसा ।

मण्डल हो, वह यहाँ से तो छोटी थाली जैसा दिखाई देता है, परन्तु जैसे-जैसे उसके समीप जाने लगे वैसे-वैसे बड़ा बड़ा दिखाई देता है। फिर जब अतिशय नजदिक जाये तब दृष्टि भी नहीं पहुँच सकती, ऐसा बड़ा दिखाई देता है। **उसी तरह मायारूपी अन्तराय को टालकर जैसे-जैसे भगवान से नजदिक हुआ जाता है वैसे- वैसे भगवान का भी अति अपार बड़प्पन(१) विज्ञात होता जाता है और भगवान के प्रति दासभाव भी अति दृढ़ होता जाता है।''**

॥ इति वचनामृतम् सारंगपुर ॥१७॥९५॥

वचनामृत १८ : 'खारभूमि का'

संवत्* १८७७ के भाद्रपद शुक्ल ८ अष्टमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज गाँव श्रीसारंगपुर स्थित जीवाखाचर के राजभवन में उत्तराभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने सफेद खेस पहना था और श्वेत चद्दर ओढ़ी थी, मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी, उत्तर की ओर मुखारविन्द किये विराजमान थे और अपने मुखारविन्द के आगे मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''**जो श्रद्धावान पुरुष हो, और उसे यदि सच्चे सन्त का संग मिल जाये और वह सन्त के वचन में श्रद्धावान हो जाये, तो उसके हृदय में स्वधर्म, वैराग्य, विवेक, ज्ञान, भक्ति आदिक जो कल्याणकारी गुण, वे सभी प्रकट हो आते हैं, और कामक्रोधादिक जो विकार, वे भस्म हो जाते हैं।** और यदि कुसंग मिले और कुसंगी के वचन में श्रद्धावाला हो जाये, तो वैराग्य, विवेकादिक जो गुण, वे सभी नाश हो जाते हैं। जैसे खारभूमि हो और उस पर चाहे कितना भी मेघ बरसे, किन्तु उसमें तृणादिक उगते न हों और उसी खारभूमि में यदि पानी की बाढ़ आये तो सभी खार धुल जायें; और जहाँ पर खार था वहाँ कांपमिट्टी(२) चढ़कर जमा

*दि. १५-९-१८२०, शुक्रवार

१. बड़ाई २. जलोढ़

हो जाये । फिर उस कांपमिट्टी के साथ बरगद, पीपल आदिक वृक्षों के बीज आये हों, वे बीज अंकुरित होकर बड़े-बड़े वृक्ष हो जाते हैं । उस तरह जिसके हृदय में पहले कहे गए जो स्वधर्मादिक गुण, वे दृढ़ हों और जगत सम्बन्धी सुख का अंकुर भी उठे ऐसा न हो, और यदि उसे कुसंग हो जाये तो उसके हृदय में कुसंगरूपी पानी के वेग से जगतवार्तारूप कांपमिट्टी आकर जम जाती है । फिर उस कांपमिट्टी में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदिक जो बीज रहते हैं वे सभी उगकर बड़े वृक्ष हो जाते हैं । **इसलिए भगवान के भक्त हो, वे कभी भी कुसंग न करें ।** और यदि अपने में कोई स्वभाव हो और उसे सन्त का समागम करके समझ-विचारकर टाला जाये तो उस स्वभाव का नाश हो जाता है, परन्तु मूर्खता से कितने भी उपाय करें तो भी दुष्ट[१] स्वभाव टलता नहीं है । जो मूर्ख होता है, वह जब उद्विग्न होता है तब या तो सोता रहता या तो रोता है और या तो किसीसे झगड़ा करता है या तो उपवास[२] करता है; इन चार प्रकारों से उद्विग्नता टालने का उपाय करता है । ऐसा करने पर यदि अतिशय उद्विग्न हो जाये तो अन्त में आखिरकार मरता भी है । इस तरह मूर्ख का शोक टालने का उपाय है । परन्तु ऐसा करने से दु:ख भी नहीं मिटता और स्वभाव भी नहीं टलता, और समझकर टाला जाये तो दु:ख और स्वभाव ये दोनों ही टल जाते हैं । **इसलिए जो समझदार हो वह ही सुखी होता है ।** जैसे अग्नि की बड़ी ज्वाला हो और यदि उपर से जलवर्षा हो तो तत्काल बुझ जाती है, और बिजली के अग्नि का तो थोड़ा सा चमकारा होता हो, परन्तु वह अग्नि मेघ की घटा में रहती है तो भी बुझती नहीं है । वैसे ही समझे बिना चाहे कितना ही वैराग्य हो अथवा भगवान में प्रीति हो तो भी अग्नि की ज्वाला की तरह कुसंगरूपी जल से सभी नाश हो जाता है । और **समझकर जो वैराग्य और प्रीति रहती है, वे तो बिजली की अग्नि के समान हैं, वे थोड़ी होने पर भी नाश नहीं होती ।**''

१. अयोग्य २. भूखा रहता है ।

तब निर्विकारानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज ! किसी पुरुष में क्रोधादिक अनिष्ट स्वभाव होते हैं, वे टलते हैं या नहीं टलते ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''जैसे बनिया जितना व्यापार करता है, उसका हिसाब बहीखाते में लिखकर रखता है, उसी तरह जिस दिन से सत्संग हुआ है उसी दिन से जिसने हिसाब लिख रखा हो, उसका स्वभाव टलता है। वह ऐसा विचार करता है कि 'जब मुझे सत्संग नहीं हुआ था तब मुझे इतना मलिन स्वभाव था और सत्संग करने के बाद इतना स्वभाव उत्तम हुआ है।' और वर्ष प्रतिवर्ष अपनी वृद्धि होती हो अथवा कुछ फर्क रहता हो उन सभीका परीक्षण करता रहें, परन्तु मूर्ख बनिया जैसे हिसाब नहीं लिखता है, उसके जैसा न करें। इस तरह जो सत्संग करके अपना यदि परीक्षण करता रहता है, तो उसके जो-जो स्वभाव है, वे सब नष्ट हो जाते हैं।''

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''कुसंग रहता हो तब तो अनिष्ट स्वभाव रहता ही है, किन्तु सन्त का समागम करने के बाद मलिन स्वभाव आ जाता है, उसका क्या कारण है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''जब बाल्यावस्था होती है तब काम, क्रोध, लोभादिक शत्रु रहते नहीं हैं और भगवान में प्रीति भी विशेष रहती है। फिर जब युवा अवस्था आती है, तब कामादिक शत्रु की वृद्धि होती है तथा देहाभिमान भी बढ़ता है। बाद में वह यदि जिस सन्त में कामादिक शत्रु न हो तथा देहाभिमान से रहित हो ऐसे सन्त का समागम रखें तो युवा अवस्थारूपी समुद्र को तैर जाता है, और यदि ऐसा नहीं करता है तो कामादिक शत्रुओं से पराभव होकर भ्रष्ट हो जाता है। **जिसकी प्रौढ़ अवस्था हो और वह सत्संग करता हुआ बिगड़ता है उसका तो कारण यह है कि महापुरुष में जिस-जिस प्रकार के दोषों को ठहराता है, उस-उस प्रकार के दोष अपने हृदय में आकर निवास करते हैं।** और यदि महापुरुष के गुण को ग्रहण कर ले और ऐसा जाने कि 'बड़े सन्त जो-जो स्वभाव रखते हैं वे तो जीव के कल्याण के लिए हैं, और महापुरुष तो निर्दोष है और मुझे

दोष दिखाई दिया, वह तो मेरी कुमति से दिखाई दिया है,' **ऐसा विचार करके सत्पुरुष का गुण ग्रहण करें और अपने अपराध को क्षमा करवायें, तो उस पुरुष की मलिनता मिट जाती है ।''**

तब महानुभावानन्द स्वामी ने पूछा कि ''राजसी, तामसी और सात्विकी इन तीन गुणों के स्वभाव, साधन करने पर टलते हैं या नहीं टलते हैं ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''ये सभी स्वभाव टालने से टलते हैं ।'' फिर पुनः महानुभावानन्द स्वामी ने पूछा कि ''दुर्वासादिक मुक्त हुए हैं, तो भी वे तामसी क्यों रहे हैं ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''दुर्वासादिक में जो तमोगुण आदिक गुण रहे है, वे तो स्वयं उनको वे गुण रखने है इसलिए रहे हैं । और वे ऐसा जानते हैं कि 'कोई उलट फुलट बर्ताव करता हो, उसे शिक्षा करने के लिए हममें तमोगुण है वह बहुत अच्छा है ।' ऐसा गुण जानकर रखा है । जब अपने में जो स्वभाव रहा हो और उस पर अभाव आए कि **'मैं भगवान का भक्त हूँ, इसलिए मुझे ऐसा अनिष्ट स्वभाव नहीं रखना चाहिए,' इस प्रकार दोषरूप जानकर जिस-जिस स्वभाव को त्याग करने की इच्छा करे, तो भगवान के प्रताप से उस-उस स्वभाव की निवृत्ति हो जाती है ।''**

॥ इति वचनामृतम् सारंगपुर ॥१८॥९६॥

॥ श्रीसारंगपुर प्रकरणं समाप्तम् ॥

श्रीकारियाणी प्रकरणम्

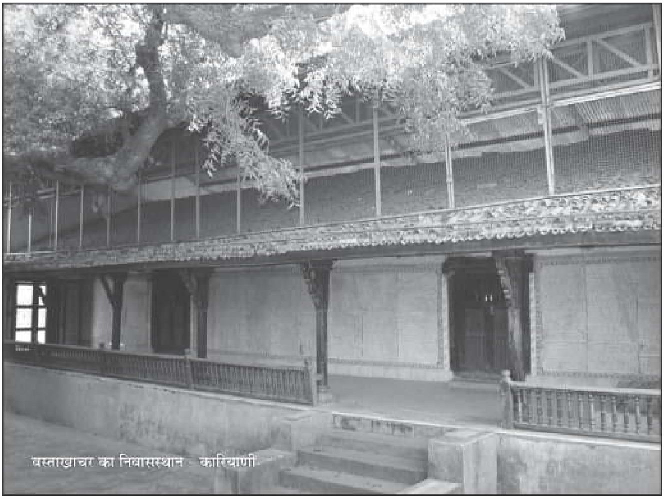

वस्ताखाचर का निवासस्थान - कारियाणी

॥ श्री वचनामृतम् ॥
भगवान श्री स्वामिनारायण की परावाणी

वस्ताखाचर का निवासस्थान

श्रीकारियाणी प्रकरणम्

‘ऐसे सन्त
ब्रह्माण्ड में कहीं नहीं है
और
यह महाराज के बिना
दूसरा कोई भगवान नहीं है।’
– कारियाणी ॥२॥

हमारे इस स्वभाव को तो
मूलजी ब्रह्मचारी और सोमलाखाचर
आदिक जो हरिजन हैं,
वे कई वर्षों से
हमारे पास ही पास रहते हैं,
वे जानते है कि,
‘महाराज को एक प्रभु के भक्त के सिवा
किसी के साथ स्नेह-सम्बन्ध नहीं है
और महाराज तो आकाश समान निर्लेप हैं।’
– कारियाणी ॥६॥

कारियाणी

भगवान श्रीस्वामिनारायण और गढ़पुरवासियों के मिलन में सेतुरूप बने भक्तराज मांचाखाचर एवं वस्ताखाचर जैसे भक्तों के निवासस्थान को श्रीहरि ने स्वयं अपना निवासस्थान बनाया इससे अधिक बड़ा भाग्य और क्या हो सकता है ?

कारियाणी के वस्ताखाचर ऐसे ही भाग्यशाली भक्तों में से एक है । जिसके आँगन में अविनाशी ने अमृतसंजीवनी की तरह उपदेशामृत की धाराएँ बहायी हैं। श्रीहरिने सत्संग की धर्मधुरा संभालने के बाद सामाजिक कार्यों की शुरूआत कारियाणी गाँव में तालाब खुदवाकर की थी। वि.सं. १८६१ से अनेक बार अक्षराधिपति ने इस गाँव को अपनी चरणरज से पावन किया हैं।

इस गाँव की अनेक कमनीय (अद्‌भुत) लीलाओं में श्रीहरि और योगिराज श्रीगोपालानन्द स्वामी की 'गोष्ठी–गूढ संकल्पों की चर्चा' जग प्रसिद्ध है। अक्षरकक्ष आज भी उनकी साक्षी समान है।

अमृतसंजीवनी और विशल्यकरणी, उभय औषधियों की गरज़ मिटायें ऐसे वचनामृतों की अमीधाराएँ श्रीहरि ने कारियाणी गाँव में बहायी हैं।

॥ वृत्तालये स भगवान् जयतीह साक्षात् ॥

श्रीकारियाणी प्रकरणम्

वचनामृत १ : 'कीट-भँवरी का'

संवत्* १८७७ के भाद्रपद शुक्ल १२ द्वादशी के दिन गाँव श्रीकारियाणी स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में उत्तराभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में सुरत के हरिभक्त जादवजी छप्पर पलंग[१] लाए थे, उसे बिछाया था और उस पलंग पर रेशम का गद्दा सफ़ेद चद्दर सहित बिछाया था, उस पर सफेद तकिया तथा लाल मशरूम[२] के घुटन तकिये[३] रखे थे, उस पलंग के उपर चारों तरफ सुनहरे कसीदाकारी[४] लटकन झूल रहे थे। ऐसी शोभा से युक्त जो पलंग था, उस पर श्रीजीमहाराज उत्तर की ओर मुखारविन्द किये विराजमान थे। उन्होंने सुनहरी पल्ले का सफेद फेंटा मस्तक पर बाँधा था, सुनहरी पल्ले का शेला ओढ़ा था, काले पल्ले का श्वेत खेस पहना था और अपने मुखारविन्द के आगे मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और श्रीजीमहाराज के मुखारविन्दरूप चन्द्रमा के सामने चकोर की तरह सभी भक्तजन देख रहे थे।

---

*दि. १९-९-१८२०, मंगलवार

१. छपर + पर्यंक, मच्छरदानी या छतरी (चँदवा) युक्त अच्छी बनावट का ढोलियाँ-पाट-पलंग, छपर खाट, छतरीवाला पलंग **२.** एक प्रकार का रेशमी कपड़ा **३.** पीढ़ा, रेशमी वस्त्र का गोल तकिया, आराम से बैठने के लिए जिसे घुटन के नीचे रखते है, भोजन करने बैठते समय घुटनों के नीचे रखने में आनेवाला टेक, धातु या लकड़ी का बनता है।

४. ईजिप्त में निर्मित एक प्रकार का जूट का कपड़ा जिससे बना हुआ सेजबंध - छपर पलंग इत्यादि के चारों कोने में मच्छरदानी के उपर गूँथी हुई डोरियाँ और उसके किनारे पर रेशमी झालर लटकती है।

तब श्रीजीमहाराज परमहंस के प्रति बोले कि ''आपस में प्रश्न–उत्तर करिए ।'' तब भूधरानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''भगवान का निश्चय होता है, वह अन्तःकरण में होता है या जीव में होता है ?'' तब उसका उत्तर शिवानन्द स्वामी करने लगे लेकिन हुआ नहीं । तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''यह जीव है वह बुद्धि से जानता है और जो बुद्धि है वह सभी[१] का कारण है और सबसे बड़ी है । इसलिए वह बुद्धि मन में रहती है, चित्त में रहती है, अहंकार में रहती है, श्रोत्र में रहती है, चक्षु में रहती है, घ्राण में रहती है, जिह्वा में रहती है, वाणी में रहती है, त्वचा में रहती है, हाथ में रहती है, पैर में रहती है, शिश्न में रहती है और गुदा में रहती है । इस प्रकार बुद्धि तो नखशिख पर्यन्त इस शरीर में व्याप्त होकर रहती है । और उस बुद्धि में जीव रहता है; परन्तु वह जीव मालूम नहीं होता है और अकेली बुद्धि मालूम होती है । वहाँ दृष्टान्त है:– जैसे अग्नि की ज्वाला घटती है और बढ़ती है, वह वायु के द्वारा बढ़ती और घटती है, और उस अग्नि की ज्वाला बढ़ती–घटती दिखती है परन्तु वायु दिखाई नहीं देता है । और जैसे अग्नि को लेकर कण्डे पर रखते है और वह कण्डे में जलने लगती है उसे लेकर जहाँ वायु न हो, वहाँ रखते है तो धुआँ ऊपर उठने लगता है, वह धुआं ही उपर उठता दिखाई देता है, लेकिन उसमें वायु नहीं दिखता है । और जैसे आकाश में बादल चलते हैं, वे वायु द्वारा चलते हैं, वे बादल चलते दिखाई देते हैं परन्तु उनमें रहा ऐसा जो वायु, वह दिखाई नहीं देता है । उसी तरह ज्वाला, धुआँ और बादल उनके स्थान पर बुद्धि को जानें और वायु के स्थान पर जीव को जानें । वह जीव कैसा है ? तो बुद्धि ने किया जो निश्चय, उसे जानता है और उस बुद्धि में निश्चय की विगति[२] को करनेवाला जो ब्रह्मा है, उसे भी जानता है और मनके संकल्प को जानता है और उस मन के संकल्प की विगति को करनेवाला जो चन्द्रमा, उसे भी जानता है । और चित्त के चिन्तन को जानता है और उस चित्त के चिन्तन की विगति करनेवाले जो वासुदेव हैं, उन्हें भी जानता है । और अहंकार की अहंमति को जानता है और उस अहंमति

१. सर्व ज्ञान का २. भेद–प्रकारक ज्ञान

की विगति[१] को करनेवाले जो रुद्र हैं, उन्हें भी जानता है। इस प्रकार जो चार अन्तःकरण और दस इन्द्रियाँ उनके जो विषय और उन विषयों की विगति के करनेवाले जो देवता हैं, इन सभी को एककालावच्छिन्न[२] जानता है। ऐसा जो जीव है, वह जीव एकदेशस्थ मालूम होता है, बरछी की नोक जैसा तीक्ष्ण दिखता है और अतिशय सूक्ष्म मालूम होता है। वह बुद्धि से सहित है, इसलिए ऐसा सूक्ष्म दिखता है; परन्तु जब उस जीव को देह, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, देवता और विषय उनके प्रकाशकरूप में जानते हैं, तब तो जीव बहुत बड़ा दिखाई देता है और व्यापक[३] दिखाई देता है, वह बुद्धि से रहित है। और अनुमान के द्वारा दिखता है परन्तु साक्षात्कार जानने में नहीं आता। वहाँ दृष्टान्त है :- जैसे कोई दस मन की तलवार हो उसे देखकर व्यक्ति अनुमान करता है कि 'उस तलवार को उठानेवाला बहुत बड़ा होगा।' उसी तरह इन सभी देह-इन्द्रियादिक को एक काल में प्रकाशित करता है, इसलिए वह जीव बहुत बड़ा है; इस प्रकार से अनुमान के द्वारा जानने में आता है।'' इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने उत्तर किया।

तब नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज ! इस में तो क्या उत्तर हुआ ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''इसमें तो यह उत्तर हुआ कि **जब बुद्धि में निश्चय हुआ तब जीव में भी निश्चय हो गया ऐसा समझें।** वह किस प्रकार होता है ? तो प्रथम इन्द्रियों में निश्चय होता है, फिर अहंकार में निश्चय होता है, फिर चित्त में निश्चय होता है, फिर मन में निश्चय होता है, फिर बुद्धि में निश्चय होता है, फिर जीव में निश्चय होता है।'' ऐसा श्रीजीमहाराज ने कहा।

तब नित्यानन्द स्वामी ने फिर पूछा कि ''हे महाराज ! इन्द्रियों में निश्चय हो, वह कैसे मालूम होता है और अन्तःकरण में निश्चय हो, वह कैसे मालूम होता है और जीव में निश्चय हो, वह कैसे मालूम होता है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''इन्द्रियों में निश्चय तो ऐसे जाने कि इस जगत में जो-जो पदार्थ हैं,

१. भेद-प्रकारक ज्ञान २. एक ही समय में ३. ज्ञानशक्ति द्वारा व्यापक, न कि आकाशवत्

वे देखने में, सुनने में, सूंघने में, छूने में आते हैं, उनमें कुछ शुभ[१] हैं और कुछ अशुभ[२] हैं, और कुछ सुखरूप[३] हैं और कुछ दु:खरूप[४] हैं और कुछ प्रिय[५] हैं और कुछ अप्रिय[६] हैं, और कुछ योग्य[७] हैं और कुछ अयोग्य[८] हैं; ये सभी भगवान में दिखाई दें, तब इससे कोई संशय न हो, तो उसे **इन्द्रियों में निश्चय जानें ।** और सत्त्व, रज, और तम ये तीन गुण के जो कार्य हैं, उनमें आलस्य-निद्रादिक तमोगुण का कार्य है और काम-क्रोधादिक रजोगुण का कार्य हैं और शम-दमादिक सत्वगुण का कार्य है । ये सभी भगवान में दिखाई पड़ें, परन्तु उनमें किसी तरह का संशय न हो, तो उसे **अन्त:करण में भगवान का निश्चय जानें ।** और जैसे ऋषभदेव भगवान निर्विकल्प समाधि होने से उन्मत्त होकर फिरते थे और मुख में पत्थर रखा और अपना देह दावानल में जल गया तो भी पता न चला; इस तरह से जो गुणातीत स्थिति, वह भगवान में दिखाई दे, उसमें किसी प्रकार का संशय न हो, तो उसे **जीव में निश्चय जानें ।** वहाँ दृष्टान्त है :- जैसे समुद्र में जहाज चलता हैं उसमें जो लोहे का लंगर है, उसे समुद्र में डालते है, वह यदि धरती तक न पहुँचा हो और उसे यदि तुरन्त खींच लें तो अधिक परिश्रम नहीं पड़ता और तुरन्त निकल आता है और उसे पृथ्वी तक जाने देकर खींचे तो अधिक परिश्रम से निकलता है, और यदि धीरे-धीरे जाने दे और धरती मे गढ़ जाये और फस जाये तो वापस उसे खींचने से भी खिंचता नहीं है और निकलता भी नहीं है । इस तरह से जिसे जीव में निश्चय होता है तो उसका निश्चय किसी भी तरह से खींचने से खिंचता नहीं है[९] ।'' इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने बातें बहुत सी की, परन्तु यह तो दिशमात्र[१०] लिखी है ।

---

१. युधिष्ठिर द्वारा धर्मप्रवर्तन इत्यादि ।
२. युधिष्ठिर द्वारा कपट आदि से पृथ्वी के भाररूप राजाओं का निकंदन इत्यादि ।
३. समुद्र में द्वारिका निर्माण आदि । ४. राजाओं के साथ वैर रखना इत्यादि ।
५. ''**याताबला व्रजं कामं**'' (हे अबलाएं, तुम व्रज में वापस जाओं) ऐसी उक्ति इत्यादि ।
६. गोपियों के साथ रमण इत्यादि । ७. अघासुरादि असुरों से गोपबालक आदि का रक्षण
८. मामा कंस का वध आदि । ९. मिटाने से मिटता नहीं है १०. दिशासूचक, निर्देशमात्र

फिर चैतन्यानन्द स्वामी ने पूछा कि "हे महाराज ! भगवान तो मन-वाणी से पर हैं और गुणातीत हैं, तो उन्हें मायिक ऐसे जो इन्द्रियाँ-अन्तःकरण वे कैसे प्राप्त करते हैं ?" तब श्रीजीमहाराज बोले कि "यह देह, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण इन्हें जाननेवाला जो जीव है, वह जब सुषुप्ति में लीन होता है, तब उसके इन्द्रियाँ-अन्तःकरण भी सुषुप्ति में लीन होते हैं; तब उस समय में उस जीव को भगवान प्रकाशित(१) करते हैं, और जब सुषुप्ति में से स्वप्न में आता है, तब उस स्वप्न सम्बन्धी जो स्थान, भोग, विषय और जीव इन सभीको भगवान प्रकाशित(२) करते हैं; और जाग्रत में भी भगवान प्रकाशित(३) करते हैं। इस प्रकार रूपत्व(४) से तथा अरूपत्व(५) से रहा जो जीव, उसे भगवान प्रकाशित करते हैं। और प्रधान में से महत्तत्त्व हुआ और महत्तत्त्व में से तीन प्रकार का अहंकार हुआ और उस अहंकार में से इन्द्रियाँ, देवता, पञ्चभूत, पञ्चमात्रा ये सभी हुए। उन्हें भी भगवान ने प्रकाशित(६) किया है और उन सभी तत्त्वों नें मिलकर रचा(७) ऐसा जो विराट, उसे भी भगवान प्रकाशित करते हैं। ये सभी जब माया में लीन होते हैं तब उस माया को भी भगवान प्रकाशित करते हैं। इस प्रकार से जीव और ईश्वर, वे दोनों ही जब रूपभाव से(८) होते हैं, तब जो भगवान प्रकाशित करते हैं, और जब ये जीव और ईश्वर दोनों ही नामरूप रहित होते हुए सुषुप्ति में और प्रधान में रहते हैं तब भी जो भगवान प्रकाशित करते हैं, और जो काल वह इन मायादिक तत्त्व को नामरूपपना(९) को प्राप्त कराता हैं और अरूपता को प्राप्त कराता हैं ऐसा जो काल, उस काल को भी जो भगवान प्रकाशित करते हैं, ऐसे जो भगवान, वे तो इन इन्द्रियों-अन्तःकरण से कैसे जानने में आते हैं ? यह आपका प्रश्न है या नहीं ?" तब सभीने कहा कि "हे महाराज!

---

१. तामस कर्म के फलरूप भोग को भुगवाते हैं। २. राजसकर्म के फलरूप स्वप्नभोग को भुगवाते हैं। ३. सात्विक कर्म के फलरूप भोग को भुगवाते हैं। ४. रूपपना, जाग्रत-स्वप्न में देहेन्द्रिय आदि भावों सहित। ५. अरूपपना, सुषुप्ति में देहेन्द्रिय आदि भावों रहित।
६. अपने-अपने कार्य के लिए शक्तिप्रदान करते हैं। ७. बनाया, निर्मित किया
८. उत्पत्ति अवस्था में ९. नामरूपता, नामरूपभाव।

यही प्रश्न है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''इसका ऐसा उत्तर है कि ऐसे जो भगवान हैं, उन्हें इस जगत की उत्पत्ति और स्थिति का करना है, यह कहीं अपने लिए नहीं है; क्योंकि, श्रीमद् भागवत में कहा है कि

बुद्धीन्द्रियमन:प्राणान्[१] जनानामसृजत्प्रभु: ।
मात्रार्थं च भवार्थं च ह्यात्मनेऽकल्पनाय च ॥

इस श्लोक में ऐसा कहा है कि 'समस्त लोगों के बुद्धि, इन्द्रियाँ, मन और प्राण, ये सभी भगवान ने सर्जन किये हैं; जिन्हें जीव को विषयभोग के लिए, जन्म के लिए, लोकान्तर में जाने के लिए तथा मोक्ष के लिए सर्जन किये हैं ।' इसलिए इस जगत की जो उत्पत्ति करते हैं, उसे भी जीव के कल्याण के लिए करते हैं, और जो स्थिति करते हैं, उसे भी जीव के कल्याण के लिए करते हैं और जो प्रलय करते हैं उसे भी जीव के कल्याण के लिए करते हैं। क्योंकि, विविध प्रकार की संसृति से थके जो जीव, उनके विश्राम के लिए प्रलय करते हैं । इस तरह सभी प्रकार से जीव के हित के लिए प्रवृत्त हुए ऐसे जो भगवान हैं, वे तो जब कृपा करके मनुष्य समान होते हैं, तब जो जीव, उन भगवान के सन्त का समागम करते हैं, तो जीव के जानने में क्यों नहीं आते? वे तो आते ही है[२] ।'' ऐसा श्रीजीमहाराज ने कहा । तब भजनानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज ! इस श्रुति में ऐसा क्यों कहा है कि ``2 „æï ±æ™æï ÇÝ±ü„‹„ï ¥ÐíæŒ2 }æÝ¨æ ¨ã ?'' [3] तब श्रीजीमहाराज प्रसन्न होकर बोले कि ''इसका ऐसा है कि जैसे पृथ्वी आकाश में रहती है परन्तु[४] आकाश के भाव[५] को प्राप्त नहीं होती और जल आकाश में रहता है, परन्तु आकाश के भाव को प्राप्त नहीं होता और तेज आकाश में रहता है परन्तु आकाश के भाव को प्राप्त

---

१. (भाग. १०/८७/२) २. ''सभी जन मुझे जानो और देखो'' ऐसा भगवान का संकल्प होने से प्राकृत देह-इन्द्रिय आदि भाववाले भी प्रत्यक्ष भगवान को जानते हैं और देखते ही हैं । इतना तात्पर्यार्थ है ।

३. जहाँ से मन और वाणी वापस लोटते हैं अर्थात् मन वाणी से जो पर हैं, (तैत.उप.आनं. २/९-१) ४. स्थितिकाल में ५. सूक्ष्मता को ।

नहीं होता और वायु आकाश में रहता है परन्तु आकाश के भाव कों प्राप्त नहीं होता; इस प्रकार[१] मन-वाणी भगवान को प्राप्त नहीं होते ।''

तब नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज ! श्रुति-स्मृति में ऐसा कहा है कि '**निरञ्जन: परमं साम्यमुपैति**'[२] । '**बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागता:**'[३] । तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''यह तो हमने अभक्त के मन-इन्द्रियों को कहा है; किन्तु भक्त के मन-इन्द्रियाँ तो भगवान को साक्षात्काररूप से प्राप्त होते हैं । जैसे आकाश में रही है जो पृथ्वी, वह प्रलयकाल के समय में आकाशरूप हो जाती है, जल भी आकाशरूप हो जाता है, तेज भी आकाशरूप हो जाता है, वायु भी आकाशरूप हो जाता है; इस तरह जो भगवान के भक्त हैं, उनके जो देह, इन्द्रियाँ, अन्त:करण और प्राण ये सभी भगवान के ज्ञान से भगवान के आकार में हो जाते हैं और दिव्य हो जाते हैं । क्योंकि, भगवान स्वयं दिव्यमूर्ति हैं, उनकी इन्द्रियाँ, अन्त:करण, देह, उन्हींके आकार में उन भक्तों के देह, इन्दियाँ, अन्त:करण हो जाते हैं । इसलिए दिव्य हो जाते हैं । वहाँ दृष्टान्त है :- ''जैसे भँवरी कीट को पकड़ लाती है और उसे चटका देकर[४] ऊपर गुंजारव करती है, उससे वह कीट वही के वही देह से तदाकार[५] हो जाता है परन्तु कोई अंग कीट का नहीं रहता है, भँवरी समान ही भँवरी हो जाती है। उसी तरह भगवान का भक्त भी वही के वही देह से भगवान के आकार में हो जाता है । यह जो हमने वार्ता कही, उसका हार्द[६] यह है कि ''आत्मज्ञान सहित जो भक्तिनिष्ठावाला है, तथा केवल भक्तिनिष्ठावाला है उन दोनों की यह गति कही है । परन्तु केवल आत्मनिष्ठावाला जो कैवल्यार्थी[७] उसके देह, इन्द्रियाँ

---

१. परमेश्वर की अपेक्षा से वाक् आदि इन्द्रियाँ अति स्थूल हैं, इसलिए उसके विषय में भगवान आते नहीं इतना तात्पर्यार्थ है ।

२. अर्थ : माया से रहित हुए ऐसे भक्त, वे भगवान समान होते हैं । – (मुण्ड. ३/१/२)

३. ज्ञानरूप तप से पवित्र हुए बहुत से भक्त मेरे भाव को प्राप्त हुए हैं, (गीता.४/१०)

४. दंश देकर ५. भँवरी के आकार ६. तात्पर्य

७. अद्वैत मत के अनुसार निराकार जानकर ''सोऽहम्भाव से उपासना करनेवाला साधक''

और अन्तःकरण, उनकी भगवान की मूर्ति से तदाकारता नहीं होती है । वह तो केवल ब्रह्मसत्ता[१] को प्राप्त होता है ।'' ऐसी वार्ता करके बोले कि ''अब इतनी वार्ता रखिए और सभा सभी शून्य हो गई है, इसलिए कोई अच्छे-अच्छे कीर्तन बोलिए ।'' ऐसा कहकर स्वयं ध्यान करने लगे और सन्त कीर्तन गाने लगे ।

॥ इति वचनामृतम् कारियाणी ॥१॥९७॥

वचनामृत २ : 'शापित बुद्धि का'

संवत्* १८७७ के आश्विन शुक्ल २ द्वितीया के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज गाँव श्रीकारियाणी स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में उत्तराभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में विराजमान थे । उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के आगे परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज की आज्ञा से छोटे-छोटे परमहंस आगे आकर प्रश्न-उत्तर करते थे । फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''लीजिए हम एक प्रश्न पूछते हैं ।'' तब सभी बोले कि ''पूछिए महाराज !'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''एक की बुद्धि तो ऐसी है कि जिस दिन से सत्संग किया हो उसी दिन से भगवान का तथा सन्त का अवगुण आता तो है परन्तु रहता नहीं है, टल जाता है, परन्तु ऐसे ही ऐसे गुण-अवगुण आते रहते हैं, किन्तु सत्संग छोड़कर किसी दिन चला नहीं जाता है । क्योंकि, उसे बुद्धि है, तो ऐसा समझता है कि '**ऐसे सन्त ब्रह्माण्ड में कहीं नहीं है और इन महाराज के बिना दूसरा कोई भगवान नहीं है ।**' ऐसा समझ में आया हो; इसलिए सत्संग में अड़िग होकर[२] रहता है । और एक की तो ऐसी बुद्धि है कि सन्त का अथवा भगवान का किसी दिन अवगुण ही नहीं आता । और बुद्धि तो उन दोनों की समान है और भगवान का निश्चय भी दोनों का समान है; परन्तु एक को अवगुण आता रहता

*दि. ९-१०-१८२०, सोमवार

१. निराकार अक्षर भाव को । २. दृढ़ता से ।

हैं और एक को नहीं आता, तो जिसे अवगुण आता हैं उसकी बुद्धि में क्या दोष है ? यह प्रश्न छोटे शिवानन्द स्वामी को पूछते हैं।'' फिर शिवानन्द स्वामी इसका उत्तर करने लगे परन्तु उत्तर हुआ नहीं । पश्चात् भगवदानन्द स्वामी बोले कि ''उसकी बुद्धि शापित है।'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''वे ठीक कहते हैं। इसका उत्तर यह ही है कि जगत में कोई कहते नहीं है कि 'इसे तो किसीका फिटकार लगा है।' इस तरह बड़े सन्त को दुःखी किये हों अथवा किसी गरीब को दुःखी किया हो अथवा माँ-बाप की सेवा न की हो, इसलिए उन्होंने शाप दिया हो, जिससे उसकी बुद्धि ऐसी है।''

फिर भगवदानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज ! उसकी शापित बुद्धि है, वह किस प्रकार से अच्छी होती है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''इसका तो ऐसा है कि, एक तो हमने यह सिर पे बाँध रखा है, इस वस्त्र को धोना हो और एक तो शतरंजी[१] जैसा मोटा वस्त्र, उसे धोना हो तब वे कहीं समान परिश्रम से नहीं धोये जा सकते; क्योंकि, इस पतले वस्त्र को धोना हो तब उसमें थोड़ा सा साबुन देकर धो डालें, इतने में तुरन्त उज्जवल होता है और जब मोटे वस्त्र को धोना हो तब उसे दो-चार दिन तक पानी में भिगोकर रखें और इसके बाद अग्नि में उबाले, इसके बाद साबुन लगाकर धोने से उज्ज्वल होता है। उस तरह जिसकी बुद्धि शापित हो, जितना सब पालन करते है उतना ही वह पालन करता हो, तो वह दोष टलता नहीं है। और दूसरे जैसे निष्कामी रहते हैं, निःस्वादी रहते हैं, निर्लोभी रहते हैं, निःस्नेही रहते हैं, निर्मानी रहते हैं, उसी तरह वह न रहे; दूसरे निष्कामी रहते हों उससे वह विशेषकर निष्कामी रहे और दूसरे निर्लोभी रहते हों उससे वह विशेषकर निर्लोभी रहे और दूसरे निःस्वादी रहते हो उससे वह विशेषकर निःस्वादी रहे और दूसरे निःस्नेही रहते हों उससे वह विशेषकर निःस्नेही रहें और दूसरे निर्मानी रहते हों उससे वह विशेषकर निर्मानी रहे और दूसरे सो जाये उनके बाद घड़ीभर देर से वह सोयें और दूसरे माला करते हैं उससे विशेषकर माला करे और दूसरे जगते हैं उससे घड़ीभर पहले

१. मोटा गलीचा, दरी, कार्पेट, मोटा बिछावन।

जगे; **इस तरह सभीसे विशेषकर पालन करता है तो उसकी शापित बुद्धि टलती है, नहीं तो टलती नहीं है ।''**

फिर बड़े शिवानन्द स्वामी ने बड़े योगानन्द स्वामी को प्रश्न पूछा कि ''कर्म मूर्तिमान है या अमूर्त ?'' तब बड़े योगानन्द स्वामी ने कहा कि ''इसका उत्तर तो मुझ से हो सके ऐसा नहीं दिखाई देता ।'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''वस्तुतः कर्म तो अमूर्त है, और कर्म में से हुआ जो शुभ अथवा अशुभ फल, वह तो मूर्तिमान है । और जो कर्म को मूर्तिमान कहते हैं, वे तो नास्तिक कहते हैं । क्योंकि, कर्म जो क्रिया वह कहीं मूर्तिमान नहीं होती ।'' इस प्रकार से श्रीजीमहाराज ने बहुत सी वार्ता कहीं, उनमें से यह तो दिशमात्र[१] लिखी है ।

॥ इति वचनामृतम् कारियाणी ॥२॥९८॥

वचनामृत ३ : 'शुकमुनि बड़े साधु है - मनुष्य बाह्य प्रकृति से नहीं पहचाना जाता, उसका'

संवत्* १८७७ के आश्विन कृष्ण ७ सप्तमी के दिन सायंकाल के समय श्रीजीमहाराज गाँव श्रीकारियाणी स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में उत्तराभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने मस्तक पर श्वेत साफा बाँधा था, सफेद खेस पहना था, सफेद चद्दर ओढ़ी थी, उत्तर की ओर मुखारविन्द किये विराजमान थे और अपने मुखारविन्द की आगे परमहंस की तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''**यह शुकमुनि बहुत बड़े साधु हैं । और जिस दिन से हमारे पास रहे हैं, उसी दिन से उनका चढ़ता ही चढ़ता रंग[२] है, परन्तु मन्द तो होता नहीं है; इसलिए वे तो मुक्तानन्द स्वामी जैसे है ।''** ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज बोले कि ''मनुष्य को परस्पर स्नेह होता है, वह गुण

*दि. २८-१०-१८२०, शनिवार

१. दिशा सूचक, विस्तार से नहीं । २. सत्संग, भाव

से होता है और अवगुण आता है, वह दोष से आता है । वे गुण और दोष तो मनुष्य की बाह्य प्रकृति से नहीं पहचाने जा सकते । क्योंकि, कोई मनुष्य तो बिल्ला की तरह नीचे देखकर चलता हो, परन्तु भीतर तो अति कामी होता है । उसे देखकर नासमझ हो, वे कहते हैं कि 'यह तो बहुत बड़ा साधु है ।' और कोई तो फटी हुई[१] दृष्टि से चलता हो, उसे देखकर नासमझ हो, वह ऐसा कहता है कि 'यह तो असाधु है ।' परन्तु वह भीतर तो महा निष्कामी होता है । इसलिए शरीर की बाह्य प्रकृति देखकर मनुष्य की परीक्षा नहीं होती, परीक्षा तो साथ में रहते होती है । साथ में रहे तब बोलने में दिखे, चलने में दिखे, पीने में दिखे, खाने में दिखे, उठने में दिखे, बैठने में दिखे इत्यादिक क्रियाओं में दिखता है और विशेषरूप से तो गुण-अवगुण युवा अवस्था में दिखता हैं, किन्तु बाल्यावस्था तथा वृद्धावस्था में तो ये नहीं मालूम होते । क्योंकि, कोई बाल्यावस्था में अच्छा न हो और युवावस्था में अच्छा हो जाता है, और कोई बाल्यावस्था में अच्छा होता है और युवावस्था में बिगड़ जाता है । जिसे सावधानी रहती हो कि 'मुझे यह संकल्प हुआ वह ठीक नहीं है, और उस संकल्प को टालने का प्रयत्न करता रहे और वह जब तक टल न जाये तब तक सावधानी[२] रखता है, ऐसा जिसका स्वभाव रहता है वह युवावस्था में बढ़ जाता है और जिसे खटक[३] नहीं रहती तथा प्रमादी[४] हो वह नहीं बढ़ पाता। और ऐसा अच्छा रहता है वह तो बाल्यावस्था से ही दिखाई देता है ।'' इस विषय पर स्वयं अपने बचपन के त्यागी स्वभाव की बहुत बातें करके बोले कि ''अच्छा हो उसे तो बचपन से ही लड़कों का संग अच्छा नहीं लगता है। और जिह्वा का स्वादी नहीं होता और शरीर का दमन करता रहता है । देखिए, मुझे बाल्यावस्था में स्वामी कार्तिकेय की भाँति ऐसा ही विचार उत्पन्न हुआ कि 'मुझे मेरे शरीर में माता का भाग जो खून तथा मांस, उसे नहीं रहने देना है।' इसलिए बहुत से प्रयत्न करके शरीर इतना सुखा दिया कि 'शरीर में कहीं चोट

१. अनियन्त्रित दृष्टि २. तत्परता ३. चिन्ता, तत्परता, सावधानी ४. आलसी

लगे तो पानी की बूंद निकले, परन्तु खून तो निकले ही नहीं ।' इस तरह जो अच्छा हो वह तो बचपन में से ही दिखाई देता है ।''

तब भजनानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज ! ऐसा विचार तो मन से रखे तो ठीक है या शरीर का दमन करे तो ठीक है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''कितने तो शरीर के दोष हैं, उन्हें जानने चाहिए और कितने तो मन के दोष है वे भी जानने चाहिए। उनमें शरीर के दोष तो क्या है ? जो शिश्न इन्द्रिय का बार-बार जाग्रत होना तथा उसमें खुजलाहट होना, छलांग लगाना तथा क्षणभर में सबको देख लेना, क्षणभर में बहुत प्रकार के गन्ध सूंघ लेना, बीस-पचीस कोष की सफर[१] करना, तथा बलपूर्वक किसीको मिलकर उसकी हड्डियाँ तोड़ देना तथा स्वप्न में वीर्यपात होना; इत्यादिक जो दोष हैं वे सभी देह के दोष हैं, परन्तु मन के नहीं है। तो इस शरीर के जो दोष हैं, वे अतिशय क्षीण हो जाये तब भी मन में जो काम का संकल्प है, खाने का तथा पीने का, चलने का तथा स्पर्श का, गन्ध का, शब्द का, स्वाद का जो संकल्प, वह रहता हो, उसे मन के दोष जानें। इस तरह मन के एवं शरीर के दोष जानकर, शरीर के दोषों को शरीर का दमन करके टालें और शरीर क्षीण होने के बाद जो मन के दोष रहें हैं, उन्हें विचार करके टालें कि 'मैं आत्मा हूँ और संकल्प से भिन्न हूँ और सुखरूप हूँ ।' **इस तरह से शरीर का दमन और विचार ये दोनों जिसे रहते हैं, वह बड़ा साधु है ।** और जिसे अकेला दमन है और विचार नहीं है, तो वह ठीक नहीं है तथा जिसे अकेला विचार है और दमन नहीं है, वह भी ठीक नहीं है। इसलिए ये दोनों जिसे रहते हैं, वह श्रेष्ठ है। और शरीर का दमन और विचार ये दोनों वस्तु[२] तो गृहस्थ सत्संगी को भी अवश्य रखने चाहिए, तब त्यागी को तो अवश्य रखने ही चाहिए।''

तब निष्कुलानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज ! इस प्रकार से जो रहा जाता है वह विचार के द्वारा रहा जाता है या वैराग्य के द्वारा रहा जाता है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''यह तो बड़े सन्त के समागम से होता है। और जिसे बड़े सन्त के समागम से भी नहीं रहता, वह तो महापापी है।''

१. पैदल, लंबी पदयात्रा, चलकर की हुई लंबी यात्रा। २. साधन, उपाय

ऐसा कहकर पुनः श्रीजीमहाराज बोले कि "**त्यागी होकर गृहस्थ को भोगने योग्य भोग की इच्छा रखता है वह घास खाता**[१] **है;** । क्योंकि, उसे वे भोग प्राप्त होनेवाले नहीं है और उनकी इच्छा रखता है। इसलिए उसकी समझ में यह बात आई नहीं है; क्योंकि, जिस गाँव जाना नहीं उसका नाम क्यों पूछें ? उसी तरह उसने जिस पदार्थ का त्याग किया है और उसकी पुनः[२] अभिलाषा[३] रखता है, तो क्या इस देह से उसे प्राप्त होगा ? वह तो यदि इस सत्संग में से विमुख हो जाये, तो प्राप्त होगा, किन्तु सत्संग में रहते हुए तो नहीं होगा । इसलिए सत्संग में रहते हुए उन भोगों की जो इच्छा रखता है, वह मूर्ख है ।' क्योंकि, सत्संग में जो रहेगा उसे अवश्य पालन करना होगा । जैसे कोई सती[४] होने के लिए निकली हो और फिर अग्नि को देखकर पीछे लौट आये तो उसे क्या उसके सम्बन्धी उसे पीछे लौटने देगें ? वे तो बलपूर्वक जला देंगे । और जैसे कोई ब्राह्मणी हो और वह विधवा हुई और वह यदि सौभाग्यवती के समान वेष रखने जाये तो क्या उसके रिश्तेदार रखने देंगे ? नहीं रखने देते । उसी तरह जो सत्संग में रहकर अयोग्य स्वभाव रखता है, उसे इस प्रकार की बात समझ में आई नहीं है और यदि आई हो तो अयोग्य स्वभाव रहता नहीं है ।" इस प्रकार बात करके श्रीजीमहाराज "**जय स्वामिनारायण**" कहकर शयन के लिए पधारे ।

॥ इति वचनामृतम् कारियाणी ॥३॥९९॥

वचनामृत ४ : 'जीव और साक्षी के जानपने का'

संवत्* १८७७ के आश्विन कृष्ण ८ अष्टमी के दिन डेढ़ प्रहर[५] दिन चढ़ने पर श्रीजीमहाराज गाँव श्रीकारियाणी स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में उत्तराभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में विराजमान थे । उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किये

*दि. २९-१०-१८२०, रविवार

१. पशु जैसा मूर्ख है । **२.** फिर से **३.** इच्छा, कामना **४.** पतिव्रता स्त्री पति के साथ चिता में जल ने के लिए । **५.** तीन घण्टे का एक प्रहर के अनुसार सुबह १०-३० बजे ।

थे और अपने मुखारविन्द के आगे परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''आपस में प्रश्न-उत्तर करिए ।'' तब गोपालानन्द स्वामी ने भजनानन्द स्वामी को पूछा कि ''इस देह में जीव का जानपना[१] कितना है और साक्षी[२] का जानपना[३] कितना है ?'' पश्चात् भजनानन्द स्वामी उत्तर करने लगे किन्तु उत्तर हुआ नहीं । तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जो बुद्धि है वह इस देह में नखशिखा पर्यन्त व्याप्त होकर रहती है । वह बुद्धि तो सभी इन्द्रियों की क्रिया को एककालावच्छिन्न[४] जानती है। उस बुद्धि में जीव व्याप्त होकर रहता है, तो जीव के जानपने[५] को कहने से बुद्धि का जानपना[६] कहलाया । और उस जीव में साक्षी[७] रहते हैं, इसलिए साक्षी के जानपने को कहे जाने से जीव का जानपना भी कहलाया[८] ।''

तब श्रीजीमहाराज को नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज ! जो इस जीव में साक्षी रहते हैं, तो साक्षी जो होते हैं, वे तो मूर्तिमान् होते हैं और जो मूर्तिमान् होते हैं वे व्यापक कैसे होते हैं ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जो मूर्तिमान् होते हैं वे भी व्यापक होते हैं। जैसे अग्निदेव हैं, वे अपने लोक में मूर्तिमान् है और अपनी शक्ति से काष्ट में रहते हैं । उस प्रकार भगवान भी अपने अक्षरधाम में मूर्तिमान् होते हुए अपनी अन्तर्यामी शक्ति से जीवों में व्याप्त

---

१. ज्ञातृत्व २. जीव में अन्तर्यामीस्वरूप से रहे हुए परमात्मा का । ३. ज्ञातृत्व
४. एक ही काल-समय में सभीको एक साथ जानना । ५. ज्ञातृत्व ६. ज्ञातृत्व ७. परमात्मा
८. साक्षी का ज्ञातृत्व कहे जाने से जीव का ज्ञातृत्व भी कहा गया । जीव में स्वाभाविकता से ज्ञातृत्व रहा है लेकिन संसारदशा में उसका प्रसरण बुद्धि द्वारा होता है, इसलिए 'बुद्धि जानती है' ऐसा उसमें उपचार होता है । बुद्धि तो जड़ है इसलिए उसमें स्वत: ज्ञातृत्व संभव नहीं, इसलिए ही ''जीव के ज्ञातृत्व को कहने से बुद्धि का जाननापना कहा गया'', ऐसा कहते है । जीव में रहा हुआ ज्ञातृत्व भी स्वतन्त्र नहीं है लेकिन उसमें अन्तर्यामीरूप से रहे हुए परमात्मा को आधीन हैं । परमात्मा की प्रेरणा बिना ज्ञाता जीवात्मा कोई भी प्रवृत्ति कर नहीं सकता, इसलिए जीव की ज्ञातृता भी परमात्मा के आगे अकिंचित्कर है, इसलिए ही 'साक्षी के ज्ञातृत्व को कहने से जीव का जानपना कहलाया। इतना तात्पर्य है ।

होकर रहते हैं और मूर्तिमान् की तरह क्रिया को करते हैं, इसलिए उन्हें भी मूर्तिमान् जानें ।''

॥ इति वचनामृतम् कारियाणी ॥४॥१००॥

वचनामृत ५ : 'अवतार धारण करने के प्रयोजन का'

संवत्* १८७७ के आश्विन कृष्ण १४ चतुर्दशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज गाँव श्रीकारियाणी स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में उत्तराभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में छप्पर पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के आगे मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''हम एक प्रश्न पूछते हैं ।'' फिर मुनि बोले कि ''पूछिए महाराज !'' पश्चात् श्रीजीमहाराज ने पूछा कि ''भगवान जीव के कल्याण के लिए पृथ्वी पर अवतार धारण करते हैं, तो अवतार धारण किये बिना अपने धाम में रहते हुए क्या कल्याण करने में समर्थ नहीं हैं ? और कल्याण तो भगवान जैसे चाहे वैसे करते हैं;[१] तब अवतार धारण करने का क्या प्रयोजन हैं ? और यदि अवतार धारण करते हैं तब ही भगवान में कल्याण करने की सामर्थी रहती हों और अवतार धारण किये बिना जीव के कल्याण न कर सकते हों, तो भगवान में भी इतनी असमर्थता आती है । इसलिए भगवान तो अवतार धारण करके भी कल्याण करते हैं और अवतार धारण न करें तब भी जीव के कल्याण करने में समर्थ हैं । इसलिए ऐसे जो भगवान हैं, उन्हें अवतार धारण करने का क्या प्रयोजन है ? यह प्रश्न है'' फिर बड़े-बड़े सन्त थे उन्होंने जिनकी जैसी बुद्धि, वैसा उन्होंने उत्तर किया, परन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का किसीसे समाधान नहीं हुआ । और श्रीजीमहाराज ने आशंका की तो सभीके उत्तर गलत हो गए । फिर सभी मुनि हाथ जोड़कर बोले कि ''हे महाराज ! इस प्रश्न का उत्तर तो आप ही करिए, तब होगा ।'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि

*दि. ४-११-१८२०, शनिवार **१.** अपनी इच्छानुसार, संकल्पमात्र से ।

"भगवान का अवतार धारण करने का यही प्रयोजन है कि भगवान के प्रति अतिशय प्रीतिवाले जो भक्त हों, उनकी भक्ति को आधीन होकर उन भक्त को सुख देने के लिए भक्त की जैसी इच्छा होती है वैसे रूप को धारण करते हैं। फिर जैसे-जैसे अपने भक्त के जो मनोरथ हों, उन सभीको पूर्ण करते हैं। और वह भक्त तो स्थूलभाव से युक्त है और देहधारी है, इसलिए भगवान भी स्थूलभाव को धारण करके देहधारी जैसे होते हैं और वे अपने भक्त को लाड़ लड़ाते हैं और अपनी सामर्थी को छिपाकर उस भक्त के साथ पुत्रभाव से रहते है अथवा सखाभाव से बर्ताव करते हैं अथवा मित्रभाव से रहते हैं अथवा सगे-सम्बन्धी के भाव में रहते हैं, जिससे उस भक्त को भगवान की अधिक मर्यादा नहीं रहती है। फिर जैसी उस भक्त की इच्छा हो, उसी प्रकार से लाड़ लड़ाते है। **इसलिए अपने जो प्रेमी भक्त हैं, उनके मनोरथ पूर्ण करना, यही भगवान के अवतार धारण करने का[१] प्रयोजन है।** उनके साथ असंख्य जीवों का कल्याण भी करते हैं और धर्म का स्थापन भी करते हैं।[२] अब इसमें आशंका होती हो तो बोलिए।" तब मुनि ने कहा कि "हे महाराज! यथार्थ उत्तर हुआ।"

॥ इति वचनामृतम् कारियाणी ॥५॥१०१॥

वचनामृत ६ : 'मत्सरवाले का'

संवत्* १८७७ के आश्विन कृष्ण अमावस्या जो दिपावली, उस दिन गाँव श्रीकारियाणी स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में उत्तराभिमुख द्वार के कक्ष के आगे दीपमाला पूरी थी, उस दीपमाला के मध्य में मंच बनाया था, उस मंच पर छप्पर पलंग बिछाया था, उस पर स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज विराजमान थे। उन्होंने सुनहरी बूटी[३] का लाल किमखाब[४] का सुरवाल पहना था और

*दि. ५-११-१८२०, रविवार

१. मुख्य २. यह अर्थ **'परित्राणाय'** यह गीता श्लोक के रामानुजभाष्य में निरूपण किया है। ३. जरी-बूटेदार की बुनावट का रेशमी वस्त्र। ४. किमखाब=सोने-चांदी के तार या सुनहरे-रुपहले जरी का काम किया हुआ रेशमी या साटन का कपड़ा।

'नरनारायण स्वामिनारायण' नाम से अंकित काले रंग के किमखाब की मिरझई पहनी थी, सिर पर सुनहरी तार युक्त कुसुम्भी[१] पाग बाँधी थी, आसमानी रंग का फेंटा कमर में कसकर बाँधा था, कण्ठ में पीले पुष्प के हार धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के समक्ष मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब दीव बंदरगाह के हरिभक्त[२] आये थे । उन्होंने श्रीजीमहाराज की पूजा करने के लिए प्रार्थना की । तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज ने तो उस सिंहासन पर से उतरकर और उन भक्तजन के सामने जाकर उनकी पूजा अंगीकार की । पश्चात् उनके दिए हुए वस्त्र, पीला छत्र तथा पादुका, उसे ग्रहण करके फिर उस सिंहासन पर विराजमान हुए ।

फिर श्रीजीमहाराज इस प्रकार बोले कि "इतने-इतने वर्ष हुए उनमें हमारे लिए कितने हरिभक्त वस्त्र तथा हजारों रुपयों के अलंकार लाते हैं, परन्तु हम इस प्रकार किसीके सामने जाकर लेते नहीं हैं और इस तरह किसीके वस्त्र-आभूषण पहनकर प्रसन्न नहीं हुए हैं । आज तो हमें उस हरिभक्त पर अतिशय प्रसन्नता हुई ।" फिर मुनि बोले कि "ऐसे ही वे प्रेमी हरिभक्त हैं ।" ऐसे समय में दीनानाथ भट्ट आकर श्रीजीमहाराज के चरण स्पर्श करके बैठे । फिर श्रीजीमहाराज ने मूल्यवान् जो भारी वस्त्र थे, वे सभी दीनानाथ भट्ट को दिए ।

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि "हे महाराज ! भगवान अपने भक्त पर किस गुण से प्रसन्न होते है ?" तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "**जो भक्तजन काम, क्रोध, लोभ, कपट, मान, ईर्ष्या और मत्सर[३]; इतने दोषों से रहित होकर भगवान की भक्ति करता है उस पर भगवान प्रसन्न होते**

---

१. पलाश के फूल जैसा रंग, लाल रंग । २. व्यापारी भक्त प्रेमबाई

३. "ईर्ष्या शब्द और मत्सर शब्द बहुत जगह एक ही अर्थ में उपयोग में आते हैं । जहाँ दोनों शब्द पृथक् हो वहाँ 'अपने समान अन्य का उत्कर्ष न सह सके' वह ईर्ष्या और 'अपने समान या असमान अन्य का उत्कर्ष सहन न कर सके वह मत्सर', ऐसा सहज अर्थभेद समझें ।

हैं । उनमें भी मत्सर है, वह सभी विकार मात्र का आधार है; इसलिए श्रीव्यासजी ने श्रीमद् भागवत में निर्मत्सर ऐसे जो सन्त, उन्हें ही भागवतधर्म के अधिकारी कहे हैं । इसलिए मत्सर तो सभी विकार से सूक्ष्म है और मत्सर टलना भी बहुत कठिन है ।''

फिर ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि ''मत्सर टालने का क्या उपाय है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''**सन्त के मार्ग में चले और जो सन्त हो, उसका तो मत्सर टलता है** परन्तु सन्त के मार्ग में जिसे चलना न हों, उसका तो मत्सर टलता नहीं है ।''

फिर तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''मत्सर उत्पन्न होने का क्या हेतु है ?'' पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''**एक स्त्री, धन और अच्छा-अच्छा भोजन ये तीन मत्सर के हेतु हैं । जिसे ये तीन चीजें**[१] **न हो उसे मान है वह मत्सर का हेतु है ।** जो मत्सरवाला होगा उसे तो हमने ये जो भट्टजी को वस्त्र दिए, उसमें भी मत्सर आया होगा । परन्तु मत्सरवाले को ऐसा विचार नहीं आता कि 'जो वस्त्र लाये थे, उसे धन्य है कि ऐसे किमती वस्त्र महाराज को पहनाये और महाराज को भी धन्य हैं कि तुरन्त ब्राह्मण को दे दिए,' ऐसा जो विचार वह मत्सरवाले के हृदय में नहीं आता । कोई ले और कोई दे, तो भी मत्सरवाला हो वह बीच में बिना प्रयोजन जल मरता है । हमें तो काम, क्रोध, लोभ, मान, मत्सर, ईर्ष्या इन सभी का कभी भी हृदय में लेश भी आता नहीं है । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये जो पञ्चविषय हैं उनका तो हृदय में अतिशय अभाव रहता है, परन्तु पञ्चविषय में से किसी एक के प्रति भी लेशमात्र भाव होता नहीं है । जितना कुछ अन्न-वस्त्रादिक का ग्रहण करते होंगे, वह तो भक्त की भक्ति को देखकर करते होंगे, किन्तु अपने देह के सुख के लिए करते नहीं हैं । हमारा जो खाना-पीना, ओढ़ना-पहनना है, वह सभी सन्त और सत्संगी के लिए है । यदि उनके लिए न दिखाई दे और अपने लिए दिखाई

---

१. दोष

दे तो हम उनका तत्काल त्याग कर देते हैं। हमने यह देह रखा है, वह भी सत्संगी के लिए ही रखा है किन्तु दूसरा कोई देह रखने का प्रयोजन नहीं है। हमारे इस स्वभाव को तो मूलजी ब्रह्मचारी और सोमलाखाचर आदिक जो हरिजन हैं, वे कई वर्षों से हमारे पास ही पास रहते हैं, वे जानते हैं कि '**महाराज को एक प्रभु के भक्त के सिवा किसी के साथ स्नेह-सम्बन्ध नहीं है और महाराज तो आकाश समान निर्लेप हैं।' ऐसा निरन्तर हमारे पास में रहनेवाले हैं वे हमारे स्वभाव को जानते हैं। हमने तो मन, कर्म, वचन से परमेश्वर के जो भक्त हैं, उनके लिए अपना देह भी श्रीकृष्णार्पण कर रखा है।** इसलिए हमें तो सर्व प्रकार से जो कोई भगवान के भक्त हैं, उनके साथ सम्बन्ध है। और भगवान के भक्त बिना तो हमें चौदह लोक की सम्पत्ति, वे तृण के समान हैं। जो भगवान के भक्त होंगे और भगवान के साथ ही दृढ़ प्रीति होगी, उन्हें भी रमणीय जो पञ्चविषय, उनमें तो आनन्द होता ही नहीं और देह को रखने के[१] लिए तो जैसे-तैसे जो शब्दादिक विषय, उससे गुजारा[२] करते हैं परन्तु रमणीय विषय से तो तत्काल उदास हो जाते हैं। और ऐसे जो होते हैं वे ही भगवान के परिपूर्ण भक्त कहलाते हैं।''

॥ इति वचनामृतम् कारियाणी ॥६॥१०२॥

वचनामृत ७ : 'चोट के वैराग्य का – आत्यन्तिक कल्याण का'

संवत्* १८७७ के कार्तिक शुक्ल १ प्रतिपदा के दिन रात्रि के समय गाँव श्रीकारियाणी स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कक्ष के आगे दीपमाला भरी थी, उस दीपमाला के मध्य में मंच था, उस पर पलंग बिछा हुआ था, उस पलंग पर श्रीजीमहाराज विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द की आगे परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

*दि. ६-११-१८२०, सोमवार

१. टिकाने के लिए। २. जीवन निर्वाह

तब गाँव बोचासणवाले काशीदास ने श्रीजीमहाराज को प्रश्न पूछा कि "हे महाराज ! त्यागी ने तो निवृत्ति मार्ग का अनुसरण किया हैं, वे अखण्ड भगवान के स्वरूप में वृत्ति रखते हैं। और जो गृहस्थाश्रमी हैं, वे तो प्रवृत्तिमार्ग का अनुसरण करते हैं; इसलिए उन्हें तो संसार की अनन्त विडम्बनायें[१] लगी हैं[२] । इसलिए वे गृहस्थाश्रमी कैसे समझें तो भगवान के स्वरूप में अखण्ड वृत्ति रहे?" तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "गृहस्थ को तो ऐसा समझना कि 'जैसे पूर्व में चौरासी लाख जात के मुझे माँ-बाप तथा स्त्री-पुत्र हुए थे वैसे के वैसे ही इस देह के भी हैं; और कितने जन्म की माता, बहन, लड़कियाँ वे कितनी भटकती होगी, उनकी जैसे मुझे ममता नहीं,' उसी तरह इस देह के जो सम्बन्धी हैं उनकी भी मुझे ममता नहीं रखनी चाहिए। इस प्रकार विचार करके सभीमें से प्रीति तोड़कर भगवान में दृढ़ प्रीति करता हो और साधु का समागम रखता हो, तो गृहस्थ को भी त्यागी की तरह भगवान में अखण्ड वृत्ति रहती है ।"

फिर इस प्रकार श्रीजीमहाराज की बात सुनकर सभी जो गृहस्थ सभा में बैठे थे उन्होंने हाथ जोड़कर पूछा कि "हे महाराज ! जिन गृहस्थ को इस प्रकार से न रहा जाये, उनका क्या हाल होगा ?" तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "यह तो जो भगवान के बिना अन्य पदार्थ में से वासना मात्र को टालकर भगवान में अखण्ड वृत्ति रखते हैं उनकी बात कही है। और जो ऐसा बलवान न हो वह तो सत्संग की धर्ममर्यादा में रहें और सन्त तथा भगवान का जो अपने को आश्रय है उनका बल रखे कि 'भगवान तो अधम उद्धारण और पतित पावन हैं, वे मुझे साक्षात् मिले हैं।" फिर श्रीजीमहाराज के इस तरह के वचन सुनकर सभी हरिजन अतिशय प्रसन्न हुए ।

फिर श्रीजीमहाराज ने सन्त को प्रश्न पूछा कि "वैराग्य उदय होने का क्या कारण है ?" फिर जिसे जैसा समझ में आया वैसा उत्तर किया, किन्तु

---

१. समस्याएं २. बल जबरन आई हुई जिम्मेवारी, अपरिहार्य जिम्मेवारी ।

श्रीजीमहाराज के प्रश्न का समाधान हुआ नहीं । फिर सभी मुनि बोले कि ''हे महाराज ! इसका उत्तर आप कीजिए ।'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''**वैराग्य का कारण तो यह है कि सद्ग्रन्थ और सत्पुरुष के वचन, उन्हें सुनकर जिसे चोट लग जाये और चोट**[१] **लगे वह फिर टले ही नहीं, ऐसी जो चोट है वही वैराग्य का हेतु है;** दूसरा वैराग्य का हेतु नहीं है। जिसे चोट लगती हो और वह तामसी हो या राजसी हो या सात्विकी हो, उन सभी को वैराग्य उत्पन्न होता है। और जिसे चोट न लगती हो उसे वैराग्य उत्पन्न नहीं होता। जिसे चोट लगकर थोड़े दिन बाद टल जाती हो, उसे तो उस चोट का वैराग्य अतिशय पायमाल[२] करता है। क्योंकि, जब चोट लगती है, तब वह घर छोड़कर चला जाता है; फिर त्यागी वेष लेने के बाद जो चोट लगी हो, वह उतर जाती है और पीछे से घर तो धूल में मिल[३] गया हो; फिर जैसे 'धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का ।' उस तरह वह पुरुष उभयभ्रष्ट[४] हो जाता है और जो दृढ़ वैराग्यवाले होते हैं वे परमपद को प्राप्त होते हैं ।''

फिर श्रीजीमहाराज अति प्रसन्न होते हुए दूसरा प्रश्न परमहंस के प्रति पूछने लगे कि ''आत्यन्तिक कल्याण तो किसे कहते हैं ? और आत्यन्तिक कल्याण को पाकर जो सिद्धदशा को प्राप्त हुआ हो, उस पुरुष की सभी क्रियाओं में कैसी स्थिति रहती है ?'' पश्चात् जिसे जैसा लगा वैसा सभी मुनियों ने उत्तर किया, किन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का समाधान हुआ नहीं। फिर सभी मुनि हाथ जोड़कर श्रीजीमहाराज से बोले कि ''हे महाराज ! इसका उत्तर आप करिए।'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''जब ब्रह्माण्ड का प्रलय होता है, तब प्रकृति के कार्य जो चौबीस तत्त्व, वे सभी प्रकृति में लीन हो जाते हैं। **वह प्रकृतिपुरुष भी अक्षरब्रह्म के तेज में अदृश्य हो जाते हैं** और फिर अकेला सच्चिदानन्द जो तेज, वह रहता है। उस तेज में दिव्य मूर्ति ऐसे जो पुरुषोत्तम

१. सनक लगता, धुन लगना, झक २. बरबाद ३. पायमाल
४. दोनों ओर से पायमाल-बरबाद हो गए, ऐसे ।

भगवान वासुदेव, वे अखण्ड विराजमान रहते हैं । वे ही स्वयं दिव्यमूर्ति रहते हुए जीवों के कल्याण के लिए मनुष्याकृति से पृथ्वी पर सभी जनों को नयनगोचर[१] होकर विचरते हैं । तब जगत में जो नासमझ मूर्ख जीव हैं, वे उन भगवान को मायिकगुण से युक्त कहते हैं, परन्तु वे मायिक गुण से युक्त नहीं हैं; वे तो सदा गुणातीत दिव्यमूर्ति ही हैं । वही के वही जो भगवान का साकार दिव्य स्वरूप, उसे जो वेदान्त शास्त्र है वह निर्गुण, अछेद्य, अभेद्य, सर्वत्र व्यापक इस प्रकार से प्रतिपादन करते है, जीव की बुद्धि में से मायिकभाव टालने के लिए निर्गुणरूप से प्रतिपादन करते हैं । और वे भगवान तो उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय इन सभी कालों में एकरूप से ही विराजमान रहते हैं, परन्तु मायिक पदार्थ की तरह विकार को प्राप्त होते नहीं है; सदा दिव्यरूप से विराजमान रहते हैं । **इस प्रकार से प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम में जो दृढ़ निष्ठा, उसे आत्यन्तिक कल्याण कहते हैं ।** ऐसी निष्ठा को पाकर जो सिद्ध दशा को प्राप्त हुआ हो, उनकी ऐसी स्थिति रहती है कि 'पिण्ड-ब्रह्माण्ड का तथा प्रकृति-पुरुष का प्रलय होने के बाद अक्षरधाम में जो भगवान की मूर्ति अखण्ड विराजमान रहती है, **उस मूर्ति को स्थावर-जंगम सभी आकार में जहाँ-जहाँ दृष्टि जाती है वहाँ-वहाँ साक्षात्कार देखता है । और उस मूर्ति के बिना दूसरा अणुमात्र भी दिखाई नहीं पड़ता है ।'** यह सिद्धदशा का लक्षण है ।''

॥ इति वचनामृतम् कारियाणी ॥७॥१०३॥

वचनामृत ८ : 'सगुण-निर्गुण स्वरूप का'

संवत्* १८७७ के कार्तिक शुक्ल ४ चतुर्थी के दिन श्रीजीमहाराज गाँव श्रीकारियाणी स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के आगे मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

*दि. १०-११-१८२०, शुक्रवार

१. दृष्टिगोचर, दृष्टि समक्ष, प्रत्यक्ष

तब मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! वेद, शास्त्र, पुराण और इतिहास में भगवान के सगुण स्वरूप का निरूपण किया है और निर्गुण स्वरूप का भी निरूपण[१] किया है । वे भगवान जो श्रीपुरुषोत्तम हैं, उनका निर्गुण स्वरूप किस तरह से समझा जाये और जो सगुण स्वरूप उसे किस तरह से समझा जाये ? और उन भगवान के निर्गुण स्वरूप को समझने से भगवान के भक्त को कितना समास[२] होता है और उन भगवान के सगुण स्वरूप को समझने से कितना समास होता है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''भगवान का जो निर्गुण स्वरूप है वह तो सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म है और पृथ्वी आदिक जो सभी तत्त्व हैं उनकी आत्मा[३] है । जो उनसे पर जो प्रधान-पुरुष, उनकी आत्मा है, उन प्रधान-पुरुष से पर जो शुद्ध पुरुष तथा प्रकृति उनकी आत्मा है, उनसे पर जो अक्षर उनकी भी आत्मा है; और ये सभी भगवान के शरीर हैं । जैसे जीव देह से सूक्ष्म हैं, शुद्ध है तथा अतिशय प्रकाशमान है, उस तरह उन सभीसे भगवान अतिशय सूक्ष्म हैं, अतिशय शुद्ध हैं, अतिशय निर्लेप हैं, और अति प्रकाश से युक्त हैं । जैसे आकाश है, वह पृथ्वी आदिक चार भूतों में व्यापक है और पृथ्वी आदिक चार भूतों से असंगी है और उन चार भूतों की उपाधि, वे आकाश को छू नहीं पाती है, आकाश तो अतिशय निर्लेप होता हुआ उन चार भूतों में रहता है; उस तरह पुरुषोत्तम भगवान सभीके आत्मारूप से सभीमें रहते हैं; तो भी अतिशय निर्विकार हैं, असंगी हैं, स्वयं अपने स्वभाव से युक्त हैं और उनके समान होने में कोई समर्थ नहीं हो पाता है । जैसे आकाश चार भूतों में रहता है, किन्तु चार भूत आकाश जैसे निर्लेप तथा असंगी होने में समर्थ नहीं होते हैं; उसी तरह पुरुषोत्तम भगवान सभी की आत्मा हैं फिर भी अक्षर पर्यन्त कोई भी पुरुषोत्तम भगवान जैसे समर्थ होने में समर्थ नहीं हो पाते । इस तरह से जो अतिशय सूक्ष्मता, अतिशय निर्लेपता, अतिशय शुद्धता, अतिशय असंगीभाव, अतिशय प्रकाश से युक्तता और अतिशय ऐश्वर्य

१. **'अणोरणीयान् महतो महीयान्'** यह प्रमाण श्रुति में कहा है । २. आध्यात्मिक लाभ, पोषण
३. धारक, नियन्ता, और शेषी ।

युक्तता, वे उन भगवान की मूर्ति में निर्गुणपना[१] हैं। जैसे गिरनार पर्वत है, उसे लोकालोक पर्वत के पास रखा जाये तब वह अतिशय छोटा दिखता है; परन्तु गिरनार पर्वत कहीं छोटा नहीं हुआ है, वह तो लोकालोक की अतिशय महानता के आगे छोटा दिखाई देता है। उस तरह पुरुषोत्तम भगवान की महानता[२] के आगे अष्ट आवरण से युक्त जो अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड हैं, वे अणु की भाँति अति सूक्ष्म दिखाई देते हैं। परन्तु वे ब्रह्माण्ड कहीं छोटे नहीं हो गए। वे तो भगवान की महानता के आगे छोटे दिखाई देते हैं। इस तरह से भगवान की मूर्ति में जो अतिशय महत्ता है, वह भगवान का सगुणपना[३] है।''

तब किसीको ऐसी आशंका हो कि ''भगवान निर्गुणरूप से तो अति सूक्ष्म से भी सूक्ष्म हैं और सगुणरूप से तो अति स्थूल से भी स्थूल हैं; तब उन दोनों रूपों को धारण करनेवाला भगवान का जो मूल स्वरूप, वह कैसा है ?'' तो उसका उत्तर यह है कि ''**प्रकट प्रमाण मनुष्याकार में जो दिखाई देते हैं, यही भगवान का सदैव मूल स्वरूप है, और निर्गुणत्व[४] तथा सगुणत्व[५] वे तो उन मूर्ति का कोई अलौकिक ऐश्वर्य है**। जैसे श्रीकृष्ण भगवान ब्राह्मण के पुत्र को लेने के लिए अर्जुन सहित रथ में बैठकर चले तब लोकालोक पर्वत को पार करके माया का तम[६] आया; उसे सुदर्शन चक्र के द्वारा काटकर उससे पर जो ब्रह्मज्योति, उसमें रहे जो भूमापुरुष, उनके पास से ब्राह्मण के पुत्र को ले आये, तब तो जो रथ और घोड़े, वे मायिक थे और स्थूलभाव से युक्त थे, परन्तु उन श्रीकृष्ण भगवान के योग से अतिसूक्ष्म और चैतन्यरूप होकर भगवान के निर्गुण ब्रह्मधाम को प्राप्त हुए। इस प्रकार से जो स्थूल पदार्थ को सूक्ष्मभाव प्रदान करा देना, वह श्रीकृष्ण भगवान की मूर्ति में निर्गुणपना है। और वे ही श्रीकृष्ण भगवान, उन्होंने अपनी माता जो यशोदाजी, उनको अपने मुख में अष्टावरण से युक्त समग्र ब्रह्माण्ड दिखाया और फिर अर्जुन को अपनी मूर्ति में विश्वरूप दिखाया और अर्जुन बिना जो दूसरे थे वे तो साढ़े तीन हाथ की भगवान की मूर्ति को देखते थे। जब भगवान ने वामनावतार

१. निर्गुणभाव २. महत्ता, बड़प्पन ३. सगुणभाव ४. निर्गुणपना, निर्गुणभाव
५. सगुणपना, सगुणभाव ६. गाढ़ अंधकार

धारण किया तब प्रथम तो वामनरूप से दर्शन दिए और तीन चरण पृथ्वी बलि से श्रीकृष्णार्पण कराई फिर ऐसा अपना स्वरूप बढ़ाया कि सात पाताल का तो एक चरण किया और आकाश में तो अपना शरीर सभी जगह समा रहा(१) और दूसरा चरण उंचा रखा उससे सात स्वर्ग को भेदकर अण्डकटाह(२) फोड़ा। ऐसा भगवान का जो बड़ा स्वरूप हुआ, उसे बलि राजाने देखा और बलि के अलावा जो अन्य थे उन्हें तो जैसा वामन स्वरूप भगवान ने धारण किया था वैसे के वैसा देखा। इस प्रकार भगवान में जो अतिशय महत्ता से महत्ता जो दिखाई दे, उसे भगवान की मूर्ति में सगुणपना समझें। जैसे आकाश है, वह शीतकाल में तथा उष्णकाल में बादल रहित होता हैं और जब वर्षाऋतु आती है तब असंख्य बादलों की घटाओं से घिरा रहता है, तो कालवशात् आकाश में बादल उत्पन्न होते हैं और फिर लीन हो जाते हैं; उस तरह भगवान अपनी इच्छा से अपने में से निर्गुण और सगुणरूप जो ऐश्वर्य हैं, उन्हें प्रकट करके फिर अपने में लीन करते हैं। और ऐसे जो भगवान, वे मनुष्य जैसे दिखाई देते हो, किन्तु उनकी महिमा का पार कोई नहीं पाता है। **जो भक्त इस प्रकार से भगवान की मूर्ति में निर्गुणभाव और सगुणभाव समझता है, उस भक्त को काल, कर्म और माया वे बन्धन करने में समर्थ नहीं होते हैं और उसे आठों प्रहर अंतर में आश्चर्य रहा करता है।**

॥ इति वचनामृतम् कारियाणी ॥८॥१०४॥

वचनामृत ९ : 'भैंसे की तरह द्वेष का'

संवत्* १८७७ के कार्तिक शुक्ल ५ पञ्चमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज गाँव श्रीकारियाणी स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द की आगे मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

*दि. १०-११-१८२०, शुक्रवार

१. फैल गया २. ब्रह्माण्ड का आवरण पड़।

तब श्रीजीमहाराज ने नित्यानन्द स्वामी तथा ब्रह्मानन्द स्वामी के प्रति प्रश्न पूछा कि ''जिसे ऐसा मलिन रोष[१] हो कि जिसके साथ अंटी[२] हो जाये, उसके साथ अंटी छोड़े ही नहीं[३] । भैंसे की तरह रीस रखा ही करे; ऐसा जो हो, उसे तो साधु कहा जाये या नहीं कहा जाये ?'' फिर वे दोनों बोले कि ''जो ऐसा हो, उसे तो साधु न कहा जाये ।''

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! जो भगवान का भक्त हो और उसे किसी भगवदीय का हृदय में अवगुण आता हो और उससे उन भगवान के भक्त पर रीस रहती हो, तो उस अवगुण को टालने का क्या उपाय है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसके हृदय में भगवान की भक्ति हो और भगवान की महिमा जानता हो, उसे भगवान के भक्त का अवगुण आता नहीं है और भगवान के भक्त पर रीस की अंटी बँधती ही नहीं है । जैसे उद्धवजी यदि भगवान की महिमा को समझते थे तो ऐसा वर मांगा कि 'इन गोपियों के चरणरज के अधिकारी ऐसे जो वृन्दावन में लता तथा तृण तथा गुच्छ, उनमें मैं भी कुछ बनूँ ।' और श्रीकृष्ण भगवान ने वृन्दावन में वृक्ष को तथा पक्षी को तथा मृग को बलदेवजी आगे अति बड़े भाग्यवाले कहे है । ब्रह्मा ने भी श्रीकृष्ण भगवान के पास ऐसा वर माँगा है कि 'हे प्रभो ! इस जन्म में अथवा पशु-पक्षी के जन्म में, मैं तो आपके दास के मध्य में रहकर आपके चरणारविन्द की सेवा करुँ, ऐसा मेरा बड़ा भाग्य हो जाये ।' इसलिए ऐसी जब भगवान के भक्त की महिमा समझ लें, तब उसे भगवान के भक्त पर किसी दिन अवगुण की गांठ नहीं बँधती । और **अपने इष्ट जो प्रत्यक्ष भगवान, उनका जो भक्त, उसमें जो कोई अल्प दोष हो, वह महिमा को समझने वाले की दृष्टि में आता ही नहीं है ।** जो भगवान की महिमा को समझता हो वह तो भगवान के सम्बन्ध को प्राप्त हुए ऐसे जो पशु-पक्षी तथा वृक्ष-वेलि आदिक उनको भी देवतुल्य समझता है । तो जो मनुष्य हो और भगवान की भक्ति करता हो, वर्तमान पालन करता हो, भगवान का नाम-स्मरण करता हो, और उसे

१. द्वेष, रीस २. गांठ, मन मुटाव ३. समाधान करे ही नहीं, द्वेष की गांठ न खोले ।

देवतुल्य जाने एवं अवगुण न लें उसमें क्या कहना ? इसलिए जो भगवान की महिमा समझता है, उसे भगवान के भक्त के साथ वैर नहीं बँधता और जो माहात्म्य नहीं समझता है, उसे तो भगवान के भक्त के साथ वैर हो सकता है। **इसलिए जो भगवान की तथा भगवान के भक्त की महिमा न जानता हो और वह सत्संगी हो तो भी उसे आधा विमुख जानें और भगवान की और भगवान के भक्त की जो महिमा समझता है, उसे ही पूर्ण सत्संगी जानें ।''**

॥ इति वचनामृतम् कारियाणी ॥९॥१०५॥

वचनामृत १० : 'नाड़ी देखने का – तप का'

संवत्* १८७७ के कार्तिक शुक्ल १० दशमी के दिन रात्रि के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज गाँव श्रीकारियाणी स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कक्ष में विराजमान थे और अपने मुखारविन्द की आगे दस-बारह बड़े साधु बैठे थे तथा पाँच-छः हरिभक्त बैठे थे और श्रीजीमहाराज के शरीर में कुछ ज्वर जैसा लग रहा था। अपने आगे अंगीठी रखकर वे ताप रहे थे। श्रीजीमहाराज ने मुक्तानन्द स्वामी से कहा कि ''हमारी नाड़ी देखिए, शरीर में कुछ कसर[१] मालूम होती है।'' फिर मुक्तानन्द स्वामी ने नाड़ी देखकर कहा कि ''हे महाराज ! कसर तो बहुत है।'' और फिर ऐसा कहा कि ''हे महाराज ! अभी सत्संगी को कठिन काल चल रहा है; क्योंकि हे महाराज ! आप तो समस्त सत्संगी के जीवनप्राण हैं, तो महाराज के शरीर में कसर जैसा है, वह ही समस्त सत्संगी को कठिन काल है।''

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''भगवान को प्रसन्न करने के लिए नारदजी ने कितने युग पर्यन्त शीत-धूप को तथा भूख-प्यास को सहन करके महातप किया और उस तप के द्वारा भगवान को प्रसन्न किये। इस प्रकार जो विवेकी

*दि. १५-११-१८२०, बुधवार

१. अस्वस्थता

होते हैं, वे तो जानबूझकर अपने देह-इन्द्रियों का दमन करके तप करते हैं। इसलिए जो विवेकी साधु हों, उन्हें तो जानबूझकर देह-इन्द्रियों को कष्ट हो ऐसा रहना चाहिए; तो ईश्वर इच्छा से जो कोई कष्ट आता है, उसे क्यों टालने की इच्छा करे ? और फिर त्यागी साधु को तो अपने मन में ऐसी दृढ़ रुचि रखनी चाहिए कि 'मुझे तो देवलोक, ब्रह्मलोक और वैकुण्ठादिक लोक के जो पञ्चविषय सम्बन्धी भोग-सुख, वे नहीं चाहिए; और मुझे तो अभी इसी देह में तथा देह का त्याग करके बद्रिकाश्रम तथा श्वेतद्वीप में जाकर और तप करके भगवान को प्रसन्न करने हैं, तो एक जन्म तथा दो जन्म तथा सहस्र जन्म तक भी तप करके ही भगवान को प्रसन्न करने हैं।' जीव का कल्याण तो इतनी ही बात में है कि 'प्रकट प्रमाण ऐसे जो श्रीकृष्णनारायण, उसी का ही किया सब कुछ होता है, परन्तु काल, कर्म और मायादिक किसी का किया हुआ कुछ नहीं होता।' **इस प्रकार भगवान में ही एक कर्तृत्व समझना, वह ही कल्याण का परम कारण है। और जो तप करना, वह तो भगवान की प्रसन्नता का कारण है।** और उस तप में भी जिस प्रकार राधिकाजी तथा लक्ष्मीजी भगवान में प्रेमलक्षणा भक्ति से भाव रखते हैं वैसा भाव रखें। **यदि तप नहीं करता है और भगवान को ही सर्वकर्ता समझता है तो भी जन्म-मरण के दुःख से तो जीव तैर जाता है, परन्तु तप किए बिना उस जीव पर भगवान की प्रसन्नता नहीं होती है।** और जो जीव भगवान को सर्वकर्ता-हर्ता नहीं जानता है, तो उससे दूसरा कोई पापी नहीं है। गोहत्या, ब्रह्महत्या, गुरुस्त्री का संग तथा ब्रह्मवेता सद्गुरु का द्रोह उससे भी उसे अधिक पापी जानें; क्योकि, भगवान बिना दूसरे जो काल-कर्मादिक, उसे वह कर्ता जानता है; इसलिए ऐसा जो नास्तिक चाण्डाल हो उसकी तो छाया में भी खड़े न रहें और भूल से भी उसके मुख का वचन न सुनें। भगवान के जो भक्त हों, वे भगवान के प्रताप से ब्रह्मा, शिव, शुकजी, नारद उनके जैसे भी होते हैं और प्रकृति-पुरुष जैसे भी होते हैं और ब्रह्म तथा अक्षर जैसे भी होते हैं, तो भी

श्रीपुरुषोत्तमनारायण जैसे होने में तो कोई समर्थ नहीं है । **इसलिए जिसका संग करने से तथा जिस शास्त्र को सुनने से भगवान की उपासना का खण्डन होकर स्वामिसेवकभाव टल जाता हो, तो उस संग का तथा उस शास्त्र का श्वपच की तरह तत्काल त्याग करें ।''**

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज ! जो भक्त सुन्दर वस्त्र तथा अलंकार तथा विविध प्रकार के भोजनादिक वस्तु, उनसे भगवान की सेवा करता है, वह भी भगवान को प्रसन्न करने को चाहता है । और आप तो तप से ही भगवान प्रसन्न होते हैं ऐसा कहते हैं, तो तप बिना ऐसी सेवा से प्रसन्न करे, उसमें क्या बाध है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''जो अच्छे-अच्छे पदार्थ के द्वारा भगवान की भक्ति करता है, वह यदि निष्कामभाव से केवल भगवान की प्रसन्नता के लिए ही करता हो तब तो ठीक है, किन्तु जो स्वयं भी भगवान की प्रसादी जानकर उन पदार्थ में लोभित[१] होकर भगवान को छोड़कर उन पदार्थों में प्रीति करता है, तो उन पदार्थों को भोगता हुआ विषयी होकर भ्रष्ट हो जाता है, यह बाध है । इसलिए **जो त्यागी भक्त हों, वे तो भगवान को सर्वकर्ता जानकर, तप के द्वारा ही भगवान को प्रसन्न करें और राधिकाजी तथा लक्ष्मीजी उन्ही की तरह भगवान को प्रेम लक्षणा भक्ति से भजें, यह हमारा सिद्धान्त है ।''**

फिर ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि[२] ''हे महाराज ! हमारा इस लोक में तथा परलोक में श्रेय हो ऐसा कहिए ।'' पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''यह[३] जो हमारा सिद्धान्त है वह ही इस लोक और परलोक में परम सुख का हेतु है ।''

फिर गोपालानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज ! त्याग की तथा तप करने की मनमें इशक[४] तो रहता है और त्याग या तप करते बीच में कोई विघ्न

१. लुब्ध होकर, रसास्वाद इत्यादिक के लोभवश हो कर । २. यद्यपि आत्यन्तिक कल्याण के हेतुरूप अपना सिद्धान्त कहा है, तथापि कल्याण के लिए उससे भी कोई सुखपूर्वक हो सके ऐसा उपाय कहेंगे, ऐसे अभिप्राय से पूछते है । ३. पुर्वोक्त ।

४. प्रबल इच्छा, चाहत, तमन्ना - लक्ष्य प्राप्ति के प्रति सच्ची लगन ।

आ जाये तो उसका क्या करें ?" फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "जिसे जिस बातका इशक[१] हो और उसके बीच में हजारों प्रकार के अंतराय[२] आयें तो भी उन अंतरायों का रुका रुकता नहीं है, तब उसका सच्चा इशक[३] जानें। देखिए तो, हमें इक्कीश वर्ष हुए श्रीरामानन्द स्वामी पास आये हैं, इस दौरान अनन्त प्रकार के वस्त्र, अलंकार तथा खानपानादिक, उनके द्वारा सेवा को करनेवाले अनन्त भक्त मिले हैं, किन्तु हमारा मन किसी पदार्थ में लोभित नहीं हुआ है; किस लिए कि हमें त्याग का ही इशक है। और इस संसार मे कितनी विधवा हैं, वे पति मर गया हो तो उनके पीछे छाती कूट-कूटकर रुदन ही किया करती हैं और कितनी स्त्रियाँ हैं, वे अपने विवाहित पति का भी त्याग करके भगवान का भजन करती हैं। कितने मूर्ख पुरुष होते हैं, वे अपनी स्त्री मर गई हो तो उसके पीछे रुदन किया करते हैं और दूसरी स्त्री के लिए दौड़ा-दौड़ी करते फिरते हैं। कई वैराग्यवान् पुरुष हों, वे घर में विवाहित स्त्री हो उसका त्याग करके परमेश्वर का भजन करते हैं। इस तरह से सभी-सभीके इशक अलग-अलग प्रकार के हैं। **हमारा तो यही इशक है और यही सिद्धान्त है कि 'तप करके भगवान को प्रसन्न करना है और भगवान को सभीके कर्ता-हर्ता जानकर और स्वामिसेवकभाव से उन भगवान की भक्ति करनी है। और किसी प्रकार से उन भगवान की उपासना खण्डित होने देनी नहीं है।'** इसलिए आप भी सभी हमारे इस वचन को परम सिद्धान्त करके मानें।"

॥ इति वचनामृतम् कारियाणी ॥१०॥१०६॥

वचनामृत ११ : 'प्रेम के लक्षण का'

संवत्* १८७७ के कार्तिक शुक्ल ११ एकादशी के दिन श्रीजीमहाराज गाँव श्रीकारियाणी स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कक्ष के

---

*दि. १६-११-१८२०, गुरुवार

१. प्रबल इच्छा, चाहत, तमन्ना २. विघ्न, बाधायें ३. अन्यथा मानोरथ मात्र कहलाता है।

बरामदे में रात्रि के समय विराजमान थे । उन्होंने श्वेत खेस पहना था, सफेद छींट[१] की मिरजई पहनी थी, मस्तक पर सफेद पाग बाँधी थी, पीले और लाल रंग के गुलदावदी के पुष्प के हार पहने थे, पाग में पीले पुष्प के तुर्रे लटकते थे और अपने आगे दोनों तरफ दो नाई मशालें लेकर खड़े थे और अपने मुखारविन्द की सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज को सच्चिदानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि "भगवान में प्रीति हो, उसका क्या लक्षण है ?" तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "**जिसे अपने प्रियतम जो भगवान उनमें प्रीति हो, वह अपने प्रियतम की मरज़ी का लोप नहीं करता है, यह प्रीति का लक्षण है ।** यदि गोपियों को श्रीकृष्ण भगवान में प्रीति थी, तो जब श्रीकृष्ण भगवान मथुरा जाने के लिए तैयार हुए तब सभी गोपियोंने मिलकर ऐसा विचार किया कि 'हम कुटुम्ब की तथा लोक की लज्जा का त्याग करके भगवान को जबरदस्ती से रखेंगे ।' फिर चलते समय श्रीकृष्ण भगवान के नेत्र के समक्ष देखा तब भगवान की रहने की मरज़ी नहीं देखी, तब सभी डरकर दूर खड़ी रहीं और अन्तर में इस प्रकार डर गई कि 'यदि हम भगवान की मरज़ी[२] में नहीं रहेंगे तो भगवान को अपने पर से स्नेह टल जायेगा,' ऐसा विचार करके कुछ कह नहीं सकी । तत्पश्चात् भगवान मथुरा पधारे तब भी तीन कोस दूरी पर भगवान थे तब भी गोपियाँ किसी दिन मरज़ी का लोप करके दर्शन करने नहीं गई । गोपीयों ने ऐसा जाना कि 'भगवान की मरज़ी बिना यदि हम मथुरा जायेंगी तो भगवान को हम पर जो स्नेह है वह टल जायेगा।' इसलिए स्नेह का यही रूप है कि 'जिसे जिसके साथ स्नेह हो वह उसकी मरज़ी अनुसार रहता है ।' और यदि अपने प्रियतम को पास में रहने से प्रसन्न जाने तो पास में रहे और यदि अपने प्रियतम को दूर रहने से प्रसन्न जाने तो दूर रहे, किन्तु किसी तरह से अपने प्रियतम की आज्ञा का लोप न करें; यह प्रेम का लक्षण है । यदि गोपियों को भगवान के प्रति सच्चा प्रेम था तो आज्ञा

१. जिसपर रंग-बिरंग के बेल बूटे रंगो से छापकर बनाया कपड़ा, प्राचीनकाल में रंग-बिरंग के छींटे डालकर छींट बनाते थे, तरह-तरह का रंगबिरंगी छपा हुआ कपड़ा । २. अनुवृत्ति, आज्ञा, इच्छा

बिना भगवान के दर्शन के लिए नहीं गयीं और जब भगवान ने कुरुक्षेत्र में बुलाया तब भगवान का दर्शन किया, परन्तु किसी तरह से भगवान के बचन का भंग किया नहीं । **इसलिए जिसे भगवान में प्रीति हो, वह भगवान की आज्ञा का लोप किसी भी काल में नहीं करता है, जिस प्रकार भगवान की इच्छा हो वैसे ही रहता है, यह प्रीति का लक्षण है ।''**

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''लीजिए, हम एक प्रश्न पूछते हैं ।'' तब मुनि ने कहा, ''हे महाराज ! पूछिए ।'' पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''जो भगवान का भक्त हो वह भगवान की मूर्ति के सम्बन्ध बिना जो अन्य सम्बन्धी पञ्चविषय हैं, उन्हें तुच्छ कर देता है और पांच प्रकार से एक भगवान का सम्बन्ध रखता है, ऐसा जो भक्त, उसे भगवान ऐसी आज्ञा करें कि 'आप हमसे दूर रहिए ।' तब वह यदि भगवान के दर्शन का लोभ रखता है, तो उसे आज्ञा का भंग होता है और यदि आज्ञा का पालन न करे तो भगवान को उस भक्त पर स्नेह नहीं रहता । इसलिए उस भक्त ने जिस तरह मायिक शब्दादिक पञ्चविषय का त्याग किया है, वैसे ही भगवान सम्बन्धी जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध; ये पञ्चविषय हैं उनका भी त्याग करे या न करे ? यह प्रश्न है ।'' फिर सभी मुनि मिलकर जिसे जैसी बुद्धि थी उन्होंने वैसा उत्तर किया, परन्तु इस प्रश्न का समाधान हुआ नहीं । पश्चात् श्रीजीमहाराज को कहा कि हे महाराज ! इसका उत्तर आप कीजिए ।'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसे भगवान में दृढ़ प्रीति है और भगवान के अखण्ड सम्बन्ध से रहित जो मायिक पञ्चविषय हैं, उन्हें तुच्छ कर दिया है और शब्दादिक पञ्चविषय से भगवान के साथ दृढ़ता से जुड़ गया है; **वह भक्त भगवान की आज्ञा से जहाँ-जहाँ जाता है वहाँ-वहाँ भगवान की मूर्ति भी उस भक्त के साथ ही जाती है । और जैसे उस भक्त को भगवान के बिना रहा नहीं जाता, उसी तरह भगवान को भी उस भक्त के बिना नहीं रहा जाता । उस भक्त के हृदय में से आँख की पलक गिरे[१] उतनी देर भी दूर नहीं रहते हैं** । इसलिए उस भक्त को

१. पल भर भी ।

पांचों प्रकार से भगवान के साथ अखण्ड सम्बन्ध रहता है; क्योंकि, जिन शब्दादिक पञ्चविषय के बिना जीवमात्र को रहा नहीं जाता, वे शब्दादिक पञ्चविषय उसने तुच्छ किये हैं और पांचों प्रकार से भगवान में जुड़ गया है, इसलिए उस भक्त को भगवान के साथ अखण्ड सम्बन्ध रहता है ।''

॥ इति वचनामृतम् कारियाणी ॥११॥१०७॥

वचनामृत १२ : 'कारण शरीर टालने का - इमली के बीज(१) का'

संवत्* १८७७ के कार्तिक शुक्ल १५ पूर्णिमा के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज गाँव श्रीकारियाणी स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने श्वेत खेस पहना था, सफेद छींट की मिरजई पहनी थी, सफेद फेंटा से बोकानी बाँधी थी, और अपने मुखारविन्द के आगे परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''प्रश्न - उत्तर कीजिए ।'' पश्चात् मुनि ने आपस में काफी देर तक प्रश्न-उत्तर किये । इसमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीन शरीरों का विचार निकला तथा विराट, सूत्रात्मा और अव्याकृत इन तीन शरीरों का विचार निकला । फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''कारण शरीर है, वह जीव की माया है । वही कारण शरीर स्थूल-सूक्ष्मरूप में होता है; इसलिए स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीनों जीव की माया है । उस ही तरह विराट, सूत्रात्मा और अव्याकृत; ये ईश्वर की माया है । तो जीव की कारण शरीररूप जो माया है वह वज्रसार जैसी है, वह किसी भी तरह से जीव से अलग नहीं होती है। इसलिए **जब उस जीव को सन्त का समागम मिलता है और उन सन्त के वचन से परमेश्वर का स्वरूप समझने में आता है और उन परमेश्वर के स्वरूप का ध्यान करता है और उन परमेश्वर के वचन को हृदय में धारण करता**

*दि. २०-११-१८२०, सोमवार

१. चिँआँ

है, उससे वह कारण शरीर जलकर खोखला जैसा हो जाता है । जैसे इमली का बीज हो और उस बीज का छिलका बीज के साथ अति दृढ़ता से चिपका हो, फिर उसे जब अग्नि में सेका जाये तब वह छिलका जलकर खोखला जैसा हो जाता है, और फिर हाथ में लेकर मसले तो अलग हो जाता है; उसी तरह भगवान का ध्यान एवं भगवान का वचन; उनके द्वारा कारण शरीर दग्ध होकर इमली के छिलके की तरह अलग हो जाता है । और उनके बिना दूसरे कोटि उपाय किया जायें तो भी कारण शरीररूप जो अज्ञान, उसका नाश नहीं होता है ।'' इस तरह श्रीजीमहाराज ने वार्ता कही ।

फिर श्रीजीमहाराज ने मुनि के प्रति प्रश्न पूछा कि ''जाग्रत अवस्था में सत्त्वगुण रहता[१] है, और सभी पदार्थों का यथार्थ ज्ञान रहता है, तो भी जागृत अवस्था में जो श्रवण किया हो, उसे सूक्ष्म देह में जब मनन किया जाये तब वह जो सुना हो वह पक्का[२] होता है । और सूक्ष्म देह में तो रजोगुण रहता[३] है, उस रजोगुण में तो अयथार्थ ज्ञान रहता है, तो भी जो जागृत में सुना हो उसका सूक्ष्म देहमें मनन किया जाये तब यथार्थ ज्ञान होता है, उसका क्या कारण है ?'' पश्चात् सभी मुनि मिलकर जिसे जैसी बुद्धि थी उसने वैसा उत्तर किया। परन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का समाधान नहीं हुआ । फिर सभी मुनि हाथ जोड़कर बोले कि ''हे महाराज ! इस प्रश्न का उत्तर तो आप करें तब होगा।'' पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''इसका उत्तर तो यह है कि हृदय में क्षेत्रज्ञ जो जीव, उसका निवास है। वह क्षेत्रज्ञ चौदह इन्द्रियों का प्रेरक है। उनमें अन्तःकरण जो है वह क्षेत्रज्ञ के समीप रहता है; इसलिए अन्तःकरण में मनन किया जाये तब दृढ़ होता है; क्योंकि, जो क्षेत्रज्ञ है वह सभी इन्द्रियाँ-अन्तःकरण से समर्थ है, इसलिए क्षेत्रज्ञ प्रमाण करता है वह बात अति दृढ़ होती है ।'' इस तरह से इस प्रश्न का उत्तर किया । तब सभी मुनियों ने कहा कि ''हे महाराज ! यथार्थ उत्तर किया, ऐसा उत्तर दूसरे किसी से नहीं होता ।''

---

१. प्रवृत्त रहता २. दृढ़ ३. प्रवृत्त रहता

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''चाहे जैसा कामी, क्रोधी, लोभी, लंपट जीव हो और यदि इस प्रकार की बात में विश्वास रखकर प्रीतिपूर्वक सुनता है, तो उसके सभी विकार टल जाते हैं। जैसे किसी पुरुष को प्रथम तो कच्चे चने चबाये ऐसा दांत में बल होता है और वह यदि कच्चा आम अच्छी तरह से खा ले तो उससे भात[१] भी चबाया नहीं जाता; उस तरह चाहे जैसा कामादिक में आसक्त हो, किन्तु इस प्रकार की बात को आसक्त होकर श्रद्धा सहित सुने तो वह पुरुष विषय के सुख भोगने में समर्थ नहीं रहता है। और तप्तकृच्छ्र, चान्द्रायणादिक व्रत के द्वारा यदि देह को सुखा दे, तो भी जिस प्रकार ऐसी भगवद्वार्ता सुननेवाले का मन निर्विषयी होता है वैसा उसका नहीं होता है। और ऐसी बात सुनकर जैसा आप सभी का मन निर्विकल्प होता होगा, ऐसा ध्यान करते होंगे तथा माला फेरते होंगे, तब भी नहीं होता होगा। **इसलिए विश्वास रखकर प्रीतिपूर्वक जो भगवान पुरुषोत्तमनारायण की बात सुनना, उससे दूसरा मन को स्थिर होने का तथा निर्विषयी होने का कोई बड़ा साधन नहीं है।''**

॥ इति वचनामृतम् कारियाणी ॥१२॥१०८॥

॥ श्रीकारियाणी प्रकरणं समाप्तम् ॥

१. पकाया हुआ चावल

श्रीलोया प्रकरणम्

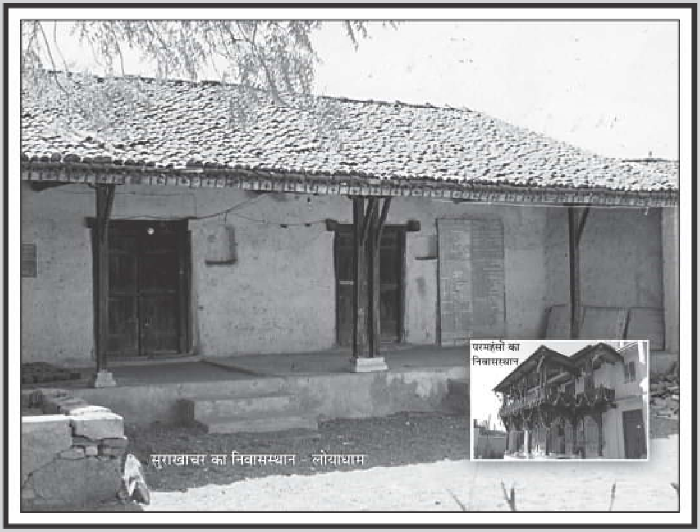

।। श्री वचनामृतम् ।।

भगवान श्री स्वामिनारायण की परावाणी

सुराखाचर का निवासस्थान

श्रीलोया प्रकरण

यह जो बात है,
उसे चाहे तो
आज समझ लीजिए
तभी इतनी ही समझनी है
और चाहे तो **सौ वर्षों** में
समझिए, तभी भी इतनी ही समझनी है।
इस बात को समझकर
इसकी **दृढ़ता की गाँठ किये बिना**
उपाय ही नहीं है।
इसलिए यह जो मेरी बात है,
उसे सभी हरिभक्त याद रखकर परस्पर करें।
– **लोया ॥१८॥**

लोया

'लोया' श्री स्वामिनारायण सम्प्रदाय का छोटा गढ़पुर है। भक्तराज श्रीसुराखाचर की सख्यभक्ति और शाकोत्सव की दिव्यलीला आबालवृद्ध सभीके कंठ से सुनाई देती है।

इस धाम में विराजमान होकर भगवान श्रीस्वामिनारायण ने एक वर्ष और दो माह में अपने मुखारविंद से प्रस्तुत उपदेशात्मक अमृतमयी वाणी से १८ (अठारह) दिन के वचनामृतों का इस ग्रन्थ में संकलन है।

वचनामृत ग्रन्थ का सम्पादन स्वयं श्रीहरि ने करवाया है। उनकी ऐतिहासिकता और दस्तावेजी पुरावा भी लोयाधाम के वचनामृतों में उल्लेखित है।

आज इस धाम में परमहंसों की आवास व्यवस्था और सुराखाचर के दरबार के अलावा पातलिया कुआँ, धर्मकुल मिलन स्थान, सुखभादर नदी, प्रासादिक वाड़ी के साथ श्रीजीमहाराज के बड़े भाई रामप्रतापजी और छोटे भाई इच्छारामजी एक साथ बैठे थे वही दिव्य चबूतरा आदि अनेक प्रासादिक स्थल है। संक्षेप में कहा जाय तो इन स्थलों पर आज भी आत्मशान्ति का अनुभव प्राप्त होता है।

॥ वृत्तालये स भगवान् जयतीह साक्षात् ॥

श्रीलोया प्रकरणम्

वचनामृत १ : क्रोध का - सम्पूर्ण सत्संग होने का'

संवत्* १८७७ के कार्तिक कृष्ण १० दशमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज गाँव श्रीलोया स्थित सुरा भक्त के राजभवन में परमहंस के आवास स्थान पर पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने रुई का भरा हुआ सफ़ेद सुरवाल पहना, और सफ़ेद छींट की मिरजई पहनी थी, मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था और मुखारविन्द के आगे मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज मुनि के प्रति बोले कि ''शंकर शब्द का क्या अर्थ है ?'' फिर मुनि बोले कि ''सुख को करे उसे शंकर कहते हैं ।'' फिर इस बात को सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि ''आज पिछली चार घड़ी[१] रात्री थी उस समय स्वप्न में हमको शिवजी ने दर्शन दिए । वे शिवजी बड़े बलवान[२] नन्दीश्वर[३] पर बैठे थे, शरीर से बहुत पुष्ट थे, चालीस वर्ष की अवस्था थी और बड़ी भारी जटा थी । उन शिवजी के साथ पार्वती थीं, उन्होंने श्वेत वस्त्र पहने थे । वे शिवजी बड़े सन्त की तरह शान्तमूर्ति थे । मुझ पर तो शिवजी को बहुत स्नेह दिखने में आया, फिर भी मुझे तो शिव पर स्नेह नहीं दिखाई दिया; क्योंकि, मैं ऐसा जानता हूँ कि 'शिव तो तमोगुण की देवता हैं और हम तो शान्तमूर्ति

---

*दि. ३०-११-१८२०, गुरुवार

१. 'चौबीस मिनट का एक पल' इस तरह सुबह ४-३० बजे । २. मोटे, तगड़े ३. शंकरजी का वाहन ऐसा नंदी नामक बैल ।

ऐसे जो श्रीकृष्णनारायण उनके उपासक हैं,' इसलिए रजोगुणी, तमोगुणी देव ऐसे जो ब्रह्मा, शिव और इन्द्रादिक देवता, उन पर भाव बैठता[१] नहीं है। और उसमें भी **क्रोध पर तो मुझे बहुत वैर है। क्रोधी जो मनुष्य अथवा देवता वे मुझे प्रिय ही नहीं है;** तथापि जो शिवजी को हम मानते हैं, इसका क्या कारण है ? तो शिवजी तो त्यागी हैं, योगी हैं और भगवान के बड़े भक्त हैं, इसलिए शिव को मानते हैं। और क्रोध तो कैसा है ? तो जैसा हड़काए[२] कुत्ता हो, वैसा है। जिस तरह हड़काए कुत्ते की जो लार, वह पशु अथवा मनुष्य जिसे छूती है, वह हड़काए कुत्ते की तरह भोंकते-चीखते-चिल्लाते मर जाता है; उस तरह क्रोध की लार जिसे छूती है वह भी हड़काए कुत्ते की तरह चीखते-चील्लाता हुआ सन्त के मार्ग से विचलित[३] हो जाता है। और फिर क्रोध कैसा है ? तो जैसे कसाई, आरब, शिकारी, बाघ, चीत्ता, काला साँप; वे जैसे सभी को डराते हैं और दूसरे के प्राण को हर लेते हैं, उसी तरह क्रोध है वह भी सभी को डराता है और दूसरे के प्राणों को हर लेता है। **ऐसा जो क्रोध है, वह यदि साधु में आये तो वह अति अनिष्ट लगता है।** क्योंकि, साधु तो शान्त होते हैं, किन्तु जब उनमें क्रोध आता है तब वे साधु दूसरे को क्रूर लगते हैं और उस साधु की आकृति भी विपरीत हो जाती है क्योंकि, इस क्रोध का नाम विरूप है, इसलिए वह क्रोध जिसके देह में आता है, उसके देह को विरूप[४] कर देता है।''

तब शुकमुनि ने पूछा कि ''हे महाराज ! जो तनिक-सा[५] क्रोध चढ़ जाये, फिर उसे टाल दे, ऐसा जो क्रोध, वह कुछ बाधा करता है या नहीं करता है?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जैसे यह सभा बैठी है, इसमें यदि अभी सांप निकले और किसी को काटे नहीं तो भी उठकर सभी को भागना पड़ता है तथा सभीके अन्तर में त्रास होता है; और फिर जैसे गाँव के फाटक पर आकर बाघ गर्जना करता हो और किसी को मारता न हो तो भी सभी मनुष्य के अन्तर

१. होता, रहता २. पागल कुत्ता, जलान्तक ३. पतित
४. शरीर की आकृति विपरीत होती है। ५. थोड़ा सा

में भय लगता है और बाहर निकला नहीं जाता; उस तरह थोड़ा–सा क्रोध उत्पन्न हो जाये, वह भी अतिशय दुःखदायी है ।''

फिर छोटे निर्मानानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''काम को मूल में से उखाड़ने का क्या साधन है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''एक तो आत्मनिष्ठा[१] अति दृढ हो और अष्ट प्रकार से ब्रह्मचर्यव्रत रखना, इत्यादिक जो पञ्च वर्तमान हैं उसका दृढ़ता से पालन करें और भगवान की महिमा अतिशय समझता हो; इन उपायों से काम का मूल उखड़[२] जाता है । और काम का मूल उखड़ जाये तो भी ब्रह्मचर्यादिक नियम में से किसी तरह से न डिगें । और **अतिशय काम का मूल उखड़ने का तो उपाय यह है कि भगवान की महिमा अच्छी तरह से समझना ।''**

और इसके बाद भजनानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! कनिष्ठ वैराग्य तथा मध्यम वैराग्य एवं उत्तम वैराग्य; इन तीन प्रकार के वैराग्य का क्या रूप है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''कनिष्ठ वैराग्यवाला जो हो, वह तो धर्मशास्त्र में कहे गए जो स्त्री के त्याग सम्बन्धी नियम, उनमें अच्छी तरह से रहता हो, तब तक तो उसे ठीक रहता है, परन्तु यदि कोई स्त्री के अंग को देख लिया जाय तो उस अंग में उसका चित्त चिपकता है और उसका ठिकाना नहीं रहता, उसे **कनिष्ठ वैराग्यवाला** कहते हैं । जो मध्यम वैराग्यवाला हो, वह तो कदाचित् यदि स्त्री को निर्वस्त्र देख ले तो भी जिस तरह पशु को निर्वस्त्र देखकर क्षोभ नहीं होता है, उस तरह उसके मनमें क्षोभ नहीं होता है, और उस स्त्री के अंग में चित्त चिपकता नहीं है, उसे **मध्यम वैराग्यवाला** कहते हैं । जो उत्तम वैराग्यवाला हो, उसे तो यदि कदाचित् एकान्त में स्त्री आदिक पदार्थ का योग हो जाये तो भी वह डिगता[३] नहीं है, उसे **उत्तम वैराग्यवाला** कहते हैं ।''

फिर भजनानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम ये तीन प्रकार से भगवान का जो ज्ञान, उसका क्या स्वरूप है ?'' तब श्रीजीमहाराज

१. आत्मा–आनात्मा के स्वरूप का विवेक । २. निर्मूलन होना ३. चलित

बोले कि "कनिष्ठ ज्ञानवाला तो प्रथम भगवान के प्रताप को देखकर निश्चय करता है और बाद में वैसा प्रताप न दिखाई दे और भगवान का कोई दुष्ट जीव द्रोह करते हो, उनका कुछ अनिष्ट नहीं होता हो, तब उसे निश्चय नहीं रहता है, उसे **कनिष्ठ ज्ञानवाला** कहते हैं। मध्यम ज्ञानवाला जो है, वह तो जब भगवान के शुभ-अशुभ ऐसे मनुष्य चरित्रों को देखता है तब उसमें मोह होता है और निश्चय रहता नहीं है, उसे **मध्यम ज्ञानवाला** कहते हैं। उत्तम ज्ञानवाले को तो ऐसा रहता है कि भगवान को चाहे जैसी शुभ-अशुभ क्रिया को करते देखकर भी उनमें मोह नहीं होता है और निश्चय नहीं जाता है। जिसने अपने को निश्चय कराया हो और फिर वह ही कहे कि 'वह भगवान नहीं है,' तब उसे ऐसा जाने कि 'इसका सिर चकरा गया है।' ऐसा जो हो उसे **उत्तम ज्ञानवाला** कहते हैं। और उसमें जो कनिष्ठ ज्ञानवाला, वह तो अनेक जन्म में सिद्ध होता है और मध्यम ज्ञानवाला दो-तीन जन्म में सिद्ध होता है और उत्तम ज्ञानवाला इसी जन्म में ही सिद्ध होता है।" इस प्रकार वार्ता कही।

उसके बाद बड़े शिवानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि "भगवान का निश्चय तो सम्पूर्ण हो, तो भी अन्तर में कृतार्थता मानने में नहीं आती, इसका क्या कारण है ?" तब श्रीजीमहाराज बोले कि "काम, क्रोध, लोभ, स्वाद, स्नेह, मान इत्यादिक जो शत्रु हैं, इनसे जिसका अन्तःकरण दग्ध[१] रहता हो और उसे निश्चय हो, तो भी वह अपने को कृतार्थ नहीं मानता है।"

फिर नित्यानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि "उन कामादिक शत्रु को टालने का क्या उपाय है ?" तब श्रीजीमहाराज बोले कि "ये कामादिक शत्रु तो तब टलते हैं, यदि उन पर निर्दय होता हुआ दण्ड देने में तत्पर रहता हो। जैसे धर्मराजा हैं, वह पापी को मारने के लिए दण्ड लेकर रात-दिन तैयार रहते हैं, उस तरह इन्द्रियाँ कुमार्ग में चलती हो, तो इन्द्रियों को दण्ड दे और अन्तःकरण कुमार्ग में चलता हो, तो अतःकरण को दण्ड दे। उसमें इन्द्रियों को कृच्छ्रचान्द्रायण[२] के द्वारा दण्ड दे और अन्तःकरण को विचार के द्वारा दण्ड दे, तो उन कामादिक

१. विषयरूप अग्नि से जला हुआ। २. व्रत विशेष

शत्रुओं का नाश हो जाता है और स्वयं को भगवान के निश्चय से सम्पूर्ण कृतार्थ मानें ।''

उसके बाद मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''**सम्पूर्ण सत्संग हो चुका, यह किसे कहते हैं ?**'' पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''एक तो अतिशय दृढ़ आत्मनिष्ठा हो और वह अपनी आत्मा को देह, इन्द्रियाँ, अन्त:करण से अतिशय असंगी मानता हो और उन देह-इन्द्रियादिक की क्रियाएँ, उन्हें अपने में न मानता हो; तो भी पञ्च वर्तमान के नियम में लेश मात्र फर्क पड़ने न दे। और स्वयं ब्रह्मस्वरूप होकर रहता हो, तो भी परब्रह्म जो पुरुषोत्तम भगवान, उनका दासत्व छोड़े नहीं, स्वामिसेवकभाव से भगवान की दृढ़ उपासना करता हो और प्रत्यक्ष मूर्ति जो भगवान उन्हें आकाश की तरह अतिशय असंगी समझता हो । जैसे आकाश है, वह चार भूतों में अनुस्यूतता[१] से व्यापक होकर रहता है और चार भूतों की जो क्रियाएं वे आकाश में होती हैं, तो भी आकाश को उन पृथ्वी आदिक चार भूतों के विकार छू नहीं पाते[२], उस तरह प्रत्यक्ष जो श्रीकृष्णनारायण वे शुभ-अशुभ सभी क्रियाओं को करते हुए आकाश की तरह निर्लेप हैं, ऐसा जानता हो; और उन भगवान के जो असंख्यात ऐश्वर्य हैं उन्हें समझे कि 'यह भगवान जीवों के कल्याण के लिए मनुष्य जैसे दिखाई देते हैं, तो भी वे अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के कर्ता-हर्ता हैं और गोलोक, वैकुण्ठ, श्वेतद्वीप, ब्रह्मपुर इत्यादिक जो धाम; उन सभीके स्वामी हैं और अनन्तकोटि ऐसे जो अक्षररूप मुक्त, उन सभीके स्वामी हैं;' ऐसी भगवान की महिमा जानकर, उन भगवान में श्रवणादिक भक्ति को दृढ़ करके रखें और उन भगवान के भक्त की सेवा-चाकरी करता हों। **इस प्रकार से जो रहता है, उसका सम्पूर्ण सत्संग कहलाता है ।**''

फिर छोटे शिवानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''कभी तो भगवान के भक्त की महिमा अतिशय समझ में आती है और कभी तो अतिशय समझ में नहीं आती' इसका क्या कारण है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि

१. व्यापक होकर, ओतप्रोत होकर, साथमें जूड़कर। २. लगते नहीं, उनका संग लगता नहीं है।

"सन्त हैं वे तो धर्मवाले हैं, वे जब किसी को अधर्म में चलते देखते हैं तब उसे टोकते हैं, फिर जो देहाभिमानी होता है उसे सुल्टा विचार[१] करके शिक्षा ग्रहण करना आता नहीं है और उपर से उन सन्त का अवगुण लेता है; इसलिए जब तक उसे दुःख लगाकर नहीं कहते हैं तब तक माहात्म्य रहता है और जब हित की बात भी दुःख लगाकर कहते हैं तब अवगुण लेता है और माहात्म्य जानता नहीं है । जिसे सन्त का अवगुण आया, वह किसी भी तरह से प्रायश्चित करने से भी शुद्ध नहीं हो पाता । जैसे कामादिक दोष के पाप-निवारण[२] हैं, उसी तरह सन्त के द्रोह का पाप-निवारण नहीं है । जैसे किसी को क्षयरोग हुआ हो, उसे टालने का कोई औषध नहीं है, वह तो निश्चय मरता है; उस तरह जिसे सन्त का अवगुण आया हो, उसे तो क्षयरोग हुआ जानें । वह तो पाँच दिन आगे-पीछे निश्चय विमुख होगा । और फिर जैसे मनुष्य के हाथ, पैर, नाक, आंख, अंगुलियाँ इत्यादिक जो अंग; वे कट जायें तो भी वह मनुष्य मरा नहीं कहलाता और जब धड़ में से सिर कट जाये तब मरा कहलाता है; उसी तरह हरिजन का जिसे अवगुण आता है, उसका तो सिर कट गया । दूसरे वर्तमान में कदाचित् फर्क पड़ जाये तो अंग कटा हुआ कहलाता है, पर वह जीवित रहता तो है, अर्थात् वह सत्संग में टिकता तो है; और **जिसे सन्त का अवगुण आया, वह तो निश्चित सत्संग से जब-तब विमुख ही होगा, यह उसका सिर कटा जानें ।**"

फिर भगवदानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि "हरिजन का अवगुण आया हो, उसे टालने का कोई उपाय है या नहीं है ?" तब श्रीजीमहाराज बोले कि "उपाय तो है, किन्तु अति कठिन है, वह अतिशय श्रद्धावाला हो, तो उससे होता है । जब किसी सन्त का अवगुण आये, तब ऐसा विचार करे कि 'मैंने अति बड़ा पाप किया, जिस लिए[३] ब्रह्मस्वरूप ऐसे जो भगवान के भक्त, उनका अवगुण लिया ।' इस प्रकार के विचार में से अतिशय दाह[४], हृदय में हो, उसी

---

१. सही विचार २. पाप को नाश करने का प्रायश्चित । ३. क्योंकि ४. ज्वलन, पछतावा, संताप

ज्वलन के कारण अन्न खाये तो उसके स्वाद-कुस्वाद का भी पता चलता नहीं है तथा रात में नींद भी न आये । और जब तक सन्त का अवगुण हृदय में से नहीं टलता है, तब तक जैसे जल बिना मछली तड़पती है, उस तरह अति व्याकुल हो जाता है । जब उस सन्त का हृदयमें अतिशय गुण आ जाये और वह सन्त किसी बात से दुःखी हुए हों तो उन्हें अति दीन होकर प्रसन्न करें । इस तरह का जिसके हृदय में विचार रहता हो, तो उसे सन्त का अवगुण आया हो, वह भी टल जाता है और सत्संग में से भी विमुख नहीं होता, परन्तु इसके बिना दूसरा कोई इसका उपाय नहीं कहा है; यह ही एक उपाय है ।''

॥ इति वचनामृतम् लोया ॥१॥१०९॥

वचनामृत २ : 'विश्वासी, ज्ञानी, शूरवीर और प्रीतिवाले का'

संवत्* १८७७ के कार्तिक कृष्ण ११ एकादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज गाँव श्रीलोया स्थित सुरा भक्त के राजभवन में दक्षिण की ओर मुखारविन्द किये पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने लाल किमखाब का सुरवाल पहना था, **'नरनारायण'** नाम से अंकित काले किमखाब की मिरजई पहनी थी, सिर पर बुरहानपुरी आसमानी रंग का फेंटा जो सुनहरे तार से युक्त पल्ले का बाँधा था, कसुंबल रंग का रेंटा कमर पर बाँधा था और अपने मुखारविन्द के आगे मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और मुक्तानन्द स्वामी आदिक जो परमहंस, वे दुक्कड़, सरोद, सितार, मंजीरा आदिक वाद्ययंत्र को बजाते हुए कीर्तन का गान करते थे ।

फिर कीर्तन की समाप्ति होने पर श्रीजीमहाराज बोले कि ''सभी परमहंस सुनिये, मैं आपको एक प्रश्न पूछता हूँ ।'' तब मुनि बोले कि ''हे महाराज! पूछिए ।'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''इस सत्संग में हरिभक्त को मृत्यु का भय[१] कब टल जाता है और देह होते हुए ही अपना कल्याण मानने में

*दि. १-१२-१८२०, शुक्रवार

१. जन्म-मरण के प्रवाहरूप संसार का ।

कैसे आये ?'' तत्पश्चात् मुक्तानन्द स्वामी ने जैसा आया वैसा उत्तर किया; परन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का समाधान हुआ नहीं । फिर दूसरे परमहंस बोले कि ''हे महाराज ! इस प्रश्न का उत्तर तो आप ही करिए ।'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''आप लोग जब तक कीर्तन बोलते थे[१] तब तक हमने इसका विचार किया है, तो हमारी नजर[२] में तो ऐसा आया है कि चार प्रकार के हरिभक्त हों, उन्हें मृत्यु का भय नाश हो जाता है और कृतार्थता[३] मानने में आती है । उन चार प्रकार के हरिभक्तों के प्रकार :- **एक तो विश्वासी, दूसरा ज्ञानी, तीसरा शूरवीर, चौथा प्रीतिवाला; इन चार प्रकार के जो भक्त, उन्हें तो मृत्यु का भय नहीं रहता और इसी ही देह में कृतार्थता मानने में आती है ।** अब इन चार प्रकार के भक्तों के लक्षण कहते हैं । इनमें जो विश्वासी है, वह तो प्रत्यक्ष भगवान और उनके साधु, उनके वचन में अतिशय विश्वास को प्राप्त हुआ है; इसलिए उन भगवान के निश्चय के बल से मृत्यु का भय रखता नहीं है और ऐसा जानता है कि 'मुझे प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम भगवान मिले हैं, इसलिए मैं कृतार्थ हूँ ।' और ज्ञानी को तो आत्मज्ञान का बल रहता है, वह ऐसा मानता है कि 'मैं तो भगवान ब्रह्मस्वरूप ऐसा भक्त हूँ; इसलिए उसे भी मृत्यु का भय नहीं होता । और शूरवीर हो, उससे तो इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण वे सभी थरथर काँपते रहते हैं और दूसरे किसीसे भी डरता नहीं, इसलिए उसे किसी तरह से परमेश्वर की आज्ञा का भंग नहीं होता है । इसलिए स्वयं में कृतार्थता मानता है और मृत्यु का त्रास[४] उसके मन में लेशमात्र भी होता नहीं है । चौथा जो प्रीतिवाला है, उसे तो पतिव्रता का अंग है । जैसे पतिव्रता स्त्री हो, उसे अपने पति के बिना[५] अन्य ठिकाने पर वृत्ति डिगती[६] नहीं और एक अपने पति में ही प्रीति रखती है, उस तरह वह भगवान का भक्त उस पतिव्रता की तरह अपने पति ऐसे जो भगवान, उन में ही प्रीति रखता है । इसलिए अपने में कृतार्थता मानता है और उसे मृत्यु का भय भी लेशमात्र रहता नहीं है । और उन चार अंगों में से एक प्रधान हो और दूसरे तीन गौण हो, तो भी जन्म-मृत्यु के भय

१. गान करते थे । २. दृष्टि ३. कृत्यभाव, अहोभाव । ४. भय ५. सिवा ६. लगे

से तैर जाता है और चार में से एक भी न हो, उसे तो मृत्यु का भय टलता नहीं ।'' इतनी बात[१] करने के बाद फिर श्रीजीमहाराज सभी परमहंसों तथा हरिभक्तों के प्रति बोले कि ''इन चार में जिसे जो अंग प्रधानरूप से रहते हों, उसे कहिए ।'' फिर परमहंस समग्र को जो-जो अंग रहते थे, वे उन्होंने कहे और हरिभक्तों को भी जिसे जो अंग रहते थे, वे कहे। उसे सुनकर श्रीजीमहाराज बहुत प्रसन्न हुए । फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''इन चार अंगों में से जिसे शूरवीर का अंग हो, वे सभी आकर हमारे चरण स्पर्श करें ।'' फिर जिसे-जिसे शूरवीर का अंग रहता था, उन सभीने श्रीजीमहाराज के चरणारविन्द को छाती में लेकर चरण स्पर्श किया ।

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''अब फिर जिसे प्रश्न पूछना हो, वे पूछें।'' तब ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि ''जो कारण हो वह तो कार्य से बड़ा होना चाहिए, तब बड़ का बीज तो छोटा है और उससे बड़ा बड़ क्यो होता है ?'' पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''**कारण हो, वह तो छोटा एवं सूक्ष्म हो तो भी बड़े कार्य की उत्पत्ति करने में समर्थ है, यही कारण में महत्ता है ।** जैसे मूल प्रकृति के कार्य ऐसे जो अनन्त प्रधान, उनका बड़ा विस्तार है, परन्तु कारणरूपी जो मूल प्रकृति, वह तो स्त्री के आकार में है । पृथ्वी का कारण जो गन्ध, वह सूक्ष्म है और उसका कार्य जो पृथ्वी वह बड़ी है। वैसे ही आकाश आदिक जो दूसरे चार भूत, उनका बड़ा विस्तार है और उनके कारण जो शब्दादिक वे सूक्ष्म हैं। जो कारण हो, वह छोटा हो तो भी बड़े कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होता है; ऐसी उसमें कला रहती है। जिस प्रकार अग्निदेव हैं, वह तो मनुष्य जैसे मूर्तिमान हैं और मानव के समान[२] हैं और उनका कार्य जो अग्नि की ज्वालायें, वे तो अति बड़ी हैं; तथा जिस तरह वरुण की मूर्ति है, वह तो मनुष्य के समान है और उनका कार्यरूप जो जल, वह तो अति अधिक है; और जिस तरह सूर्य की मूर्ति है, वह तो मनुष्य के जैसी रथ में बैठी है और उनका कार्य जो प्रकाश, वह तो समग्र ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो रहा है; उस तरह

१. वार्ता २. आकृति में ।

सभीके कारण ऐसे जो श्रीपुरुषोत्तमनारायण श्रीकृष्ण, वे तो मनुष्य के समान हैं तो भी अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों के कारण हैं। जो मुर्ख हो, वह तो ऐसा समझता है कि 'जिसका कार्य इतना बड़ा है, तो उसका कारण तो कितना बड़ा होगा?' यह तो मूर्ख की समझ है। सभीके कारणरूप ऐसे भगवान हैं, वे मनुष्य जैसे हैं, तो भी अपने अंग में से योगकला द्वारा अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों को उत्पन्न करने में समर्थ हैं और पुनः अपने में लय करने में समर्थ हैं। जैसे अग्नि, वरुण, सूर्य; वे अपने कार्यरूप से बड़े दिखाई देते हैं और फिर कार्य को अपने में लीन करके एक स्वयं ही रहते हैं; उसी तरह भगवान के एक एक रोम में अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड अणु की तरह रहते हैं, वे अष्टावरण[१] और चौदह भुवनों[२] सहित रहते हैं। इस तरह कारण में अलौकिकता है और महत्ता[३] है। उसे जो समझदार होते हैं वे समझते हैं कि "**भगवान मनुष्य जैसे प्रतीत होते हैं, फिर भी वे भगवान सभीके कारण हैं और सभीके कर्ता हैं और समर्थ हैं।**" ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज शयन करने के लिए पधारे।

॥ इति वचनामृतम् लोया ॥२॥११०॥

वचनामृत ३ : 'माहात्म्यज्ञान सहित निश्चयवाले का'

संवत्* १८७७ के कार्तिक कृष्ण १३ त्रयोदशी के दिन श्रीजीमहाराज गाँव श्रीलोया स्थित सुराखाचर के राजभवन में रात्रि के[४] समय पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सफ़ेद छींट की मिरजई पहनी थी, रुई से भरा हुआ सफेद सुरवाल पहना था, मस्तक पर सफेद फेंटा बाँधा था तथा श्वेत पिछौरी ओढ़ी थी और अपने मुखारविन्द के समक्ष मुनि तथा देश-देश के सत्संगी की सभा बैठी थी।

---

*दि. ३-१२-१८२०, रविवार

१. पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार, महत्तत्त्व, प्रकृति।

२. लोकों, अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल, पाताल, भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्गलोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक, सत्यलोक। **३.** बड़प्पन **४.** संध्या आरती के बाद।

उस समय में श्रीजीमहाराज को भगवदानन्द स्वामी तथा शिवानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''भगवान तथा सन्त, उनका जिसे माहात्म्यज्ञान सहित निश्चय है, उसका क्या लक्षण है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''**जिसे भगवान का तथा सन्त का माहात्म्यज्ञान सहित निश्चय है, उससे भगवान के लिए तथा सन्त के लिए क्या नहीं होता ?** उनके लिए कुटुम्ब का त्याग कर देता है, लोकलज्जा का त्याग कर देता है, राज्य का त्याग कर देता है, सुख का त्याग कर देता है, धन का त्याग कर देता है, स्त्री का त्याग कर देता है और स्त्री हो वह पुरुष का त्याग कर देती है ।'' ऐसा कहकर बाद में इन सभी हरिभक्तों की वार्तायें[१] एक के बाद दूसरों की कहीं । गाँव डडुसरवाले राजपूत गलुजी, धर्मपुरवाले कुशलकुंवरबाई, पर्वतभाइ,[२] राजबाई,[३] जीवुबाई,[४] लाडुबाई,[५] बड़ी रामबाई,[६] दादाखाचर,[७] मांचा भक्त,[८] मूलजी ब्रह्मचारी,[९] भुजवाले लाधीबाई और माताजी, मुक्तानन्द स्वामी,[१०] वालाक देश का अहीर पटेल सामत, गाँव मानकुँआ के मूलजी तथा कृष्णजी, वालाक देश के गुन्दाली गाँव के दो काठी हरिभक्त[११] इत्यादिक जो सत्संगी, उन्होंने भगवान के लिए तथा सन्त के लिए जो-जो किया, उसे विस्तार से कहने लगे । और फिर ऐसा कहा कि ''**जिसे भगवान का निश्चय माहात्म्यज्ञान सहित हो, वह भगवान के वचन में फर्क पड़ने नहीं देता[१२] और जैसा कहे वैसा करता है ।''** इस पर अपनी बात कही कि ''हमारा स्वभाव कैसा था ? तो 'गोदहन मात्र[१३] एक स्थानक में रहा जाये, परन्तु ज्यादा रहा न जाय ।' ऐसे त्यागी थे और वैराग्य अतिशय था और श्रीरामानन्द स्वामी पर स्नेह भी असाधारण था; तो भी स्वामी ने भुजनगर से कहकर भेजा कि 'यदि सत्संग में रहने की गरज[१४] हो तो खम्भें

१. जीवन प्रसंग २. अगतराय गांव के ३. वांकिया गांव की ४. गढ़डा गांव की, जीवुबाई
५. गढ़डा गांव की, लाडुबाई ६. जेतपुर गांव के ७. गढ़डा के ८. कारियाणी गांव के
९. मछियाव गांव के १०. अमरापुर गांव के ११. मामैयो और मेरामण
१२. वचन का यथार्थ पालन करता है १३. सुबह शाम दोनों समय गाय दुहती है, अर्थात् शाम से सुबह तक; एक रात अथवा सुबह से शाम तक एक दिवस ।
१४. अनिवार्य जरूरत, जिस कार्य की सिद्धि के लिए भला-बूरा सब कुछ करनेवाला ।

को बाहों में लेकर भी रहना होगा ।' ऐसा मयाराम भट्टने आकर कहा तब हमने खम्भे को बाँहों में लिया । इसके बाद उन्होंने कहा कि 'मुक्तानन्द स्वामी की आज्ञा में रहिए ।' पश्चात् हम स्वामी के दर्शन होने से पहले नौ महिने तक मुक्तानन्द स्वामी की आज्ञा में रहे, ऐसे लक्षण से जिसे सन्त का तथा भगवान का ऐसा निश्चय हो, उसे जाना जाता है ।'' और फिर सुन्दरजी बढ़ई(१) और डोसा बनिये(२) की बात कही । और फिर ''**जिसे भगवान का तथा सन्त का ऐसा निश्चय रहता है, उसे उनकी ओर का केफ**(३) **रहता है ।**'' ऐसा कहकर राणा राजगर(४) की बात कही । और प्रहलाद की बात कही कि 'प्रहलाद नृसिंहजी के प्रति बोले कि ''हे महाराज ! मैं इस आपके विकराल रूप से डरता नहीं हूँ और आपने जो मेरी रक्षा की है, उसे मैं रक्षा नहीं मानता हूँ; और आप जब मेरे इन्द्रियरूप शत्रु के गण से रक्षा करेंगे तब मैं रक्षा मानूँगा ।' इसलिए **जो भगवान का भक्त है, वह भगवान दैहिक रक्षा करते हैं, उससे हर्ष को प्राप्त नहीं होता है और रक्षा नहीं करते हैं, उससे शोक नहीं करता है और अलमस्त होता हुआ भगवान को भजता है । और भगवान एवं सन्त, उनका माहात्म्य बहुत समझता है ।**'' इस पर गाँव कठलाल की बाई(५) की बात कही । ''और इस प्रकार का जो हरिभक्त है, उसका देह पैर घिसकर पड़ता है, बाघ खा जाये, सांप काट ले, शस्त्र लगे, जल में डूब जाये इत्यादिक चाहे किसी भी प्रकार से अपमृत्यु से देह पड़ती है, तो भी ऐसा समझता है कि '**भगवान के भक्त की दुर्गति होती ही नहीं, वह तो भगवान के धाम को ही प्राप्त होता है । और भगवान से विमुख होता है, उसका देह बहुत अच्छी तरह से पड़ा हो और चन्दन की लकडियाँ में संस्कार से युक्त जलाया हो तो भी वह तो निश्चय यमपुरी में जाता है ।**' इन दोनों का भेद अच्छी तरह से समझता है । इस सभी प्रकार की जिसके हृदय में दृढ़ गांठ पड़ जाती है, उसे भगवान एवं सन्त का माहात्म्य सहित निश्चय है, ऐसा जानें । और

१. सुतार भूजवाले २. सरधार गांव के (बंधीया) ३. खुमारी
४. गोलीड़ा गांव के । ५. रामबाई की ।

ऐसा निश्चयवाला जो है, वह जरूर ब्रह्ममहोल में ही पहुँचता है । किन्तु दूसरे कहीं किसी धाम से नजदीक नहीं रहता ।''

॥ इति वचनामृतम् लोया ॥३॥१११॥

वचनामृत ४ : 'भगवान में कुतर्क हो, तो माया को तैर गए नहीं कहलाते, उसका'

संवत्* १८७७ के कार्तिक कृष्ण १४ चतुर्दशी के दिन एक प्रहर दिन चढ़ते[१] स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज गाँव श्रीलोया स्थित सुरा भक्त के राजभवन में विराजमान थे । उन्होंने सफ़ेद सुरवाल पहना था, सफेद छींट की मिरजई पहनी थी, मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी और अपने मुखारविन्द के समक्ष परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब अखण्डानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज को प्रश्न पूछा कि ''अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड हैं, उन ब्रह्माण्डों में जैसी इस ब्रह्माण्ड में वर्तमान काल में भगवान की मूर्ति है, वैसी की वैसी ही दिखाई देती है या नहीं दिखाई देती ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि[२] ''भगवान स्वयं अपने अक्षरधाम में सदा विराजमान हैं और मूल माया में से उत्पन्न हुए जो अनन्तकोटि प्रधानपुरुष, उनसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं । फिर वे भगवान अपने अक्षरधाम में एक स्थान में रहते हुए अपनी इच्छा से उन अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों में अपने भक्तों के लिए अनन्तरूप से दिखाई देते हैं ।''

तब फिर अखण्डानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''श्रीकृष्णनारायण तो सदा मनुष्याकृति हैं और उन भगवान का स्वरूप सर्वकाल में सत्य है; और वे ही

*दि. ४-१२-१८२०, सोमवार

१. एक प्रहर के ३ तीन घण्टे के अनुसार ९-०० बजे ।

२. इस ब्रह्माण्ड में जैसे भगवान अपने अनन्यभक्तों को दर्शन आदि सुख देने हेतु मनुष्याकार में प्रगट होते हैं वैसे अनेक ब्रह्माण्ड में भी भगवान प्रगट होते हैं या नहीं ? इतना प्रश्न का आशय है । उसका उत्तर ''अनेक ब्रह्माण्ड में अपने अनन्य भक्तों को दर्शन आदि सुख देने के लिए कृपा करके स्वेच्छा से इस ब्रह्माण्ड की तरह ही प्रगट होते है'' ऐसे अभिप्राय से उत्तर देते हैं ।

भगवान कभी मत्स्य, कच्छ, वराह, नृसिंहादिक अनन्तरूप से भासित होते हैं, इसे कैसे समझा जाये[१] और फिर ब्रह्माण्ड-ब्रह्माण्ड के प्रति कल्याण की रीति तथा भगवान की मूर्ति, वे एक समान हैं अथवा भिन्न-भिन्न हैं ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''भगवान की मूर्ति तो सदा एक समान है, फिर भी भगवान अपनी मूर्ति[२] को जहाँ जैसी दिखानी चाहिए वहाँ वैसी अपनी इच्छा से दिखाते हैं। और जहाँ जितना प्रकाश करना चाहिए वहाँ उतना प्रकाश करते हैं। और स्वयं तो सदा द्विभुज हैं, तो भी अपनी इच्छा से कहीं चतुर्भुज, कहीं अष्टभुज, कहीं अनन्तभुज को दिखाते हैं तथा मत्स्य-कच्छादिकरूप से भासित होते हैं। इस तरह से जहाँ जिस प्रकार की आवश्यकता हो, वहाँ वैसा रूप प्रकाशित करते हैं और स्वयं तो सदा एकरूप से ही विराजमान रहते हैं। और फिर एक स्थान में रहते हुए अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड में अन्तर्यामीरूप से व्याप्त होकर रहते हैं। जैसे व्यासजी एक थे, उन्होंने शुकजी को पुकारा तब स्थावर-जंगम समस्त जीवों में रहकर पुकारा और शुकजी ने हुँकार दिया तब भी स्थावर-जंगम समस्त सृष्टि में रहकर हुँकार दिया। इस तरह से शुकजी जैसे बड़े सिद्ध होते हैं, वे भी तो समस्त जगत में व्याप्त होने में समर्थ होते हैं, वे तो भगवान के भजन के प्रताप से ऐसी योगकला को प्राप्त हुए हैं; तब स्वयं भगवान पुरुषोत्तम, वे तो योगेश्वर है और सर्व योगकला के निधि[३] हैं। वे एक स्थानक पर रहते हुए अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों में अपनी इच्छा से जहाँ जैसा उचित लगे वहाँ वैसे भासते[४] हैं, उसमें क्या कहना ? उन भगवान में ऐसा है, इसमें क्या[५] आश्चर्य है। क्योंकि, कोई नट[६] हो, वह तुच्छ माया को जानता है, उसमें भी लोगों को कैसा आश्चर्य होता है और उसका यथार्थ रूप से पता नहीं चलता; तो भगवान में तो सभी योगकलायें रहती हैं, वह महा आश्चर्यरूप है, उसे जीव कैसे जान सकता है ? इसलिए भागवत में कहा है कि 'इतने भगवान की माया

१. भगवान सदा मनुष्याकृति हो तो अन्य पशु, नरसिंह इत्यादि आकार को कैसे घटाया जाय ? ऐसा पूछने का अभिप्राय है। २. कार्यवशात्। ३. स्वामी
४. प्रकाश दिखाते है, सामर्थ्य प्रगट करते हैं। ५. कौनसा ६. नटविद्या जाननेवाला।

को तैर गए हैं ।' और फिर ऐसा कहा है कि 'कोई भगवान की माया के बल का पार पा नहीं सके हैं,' उससे ऐसा समझना है कि उन भगवान की योगकला में ब्रह्मादिक जैसे को कुतर्क होता है, तो वे भगवान की माया के बल को पार हुए नहीं कहलाते हैं । वह कुतर्क तो क्या है ? तो, 'यह भगवान तो क्यों ऐसा करते होंगे ?' और भगवान को ऐसा समझता है कि 'वे तो समर्थ हैं, वे जैसा करते होंगे, वे ठीक करते होंगे ।' इस तरह से भगवान को निर्दोष समझा जाये, तो माया को तैर चुके कहलाते है । और कल्याण की रीति तो एक समान है, परन्तु भजन करनेवाले जो पुरुष, उनमें उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ; ये तीन प्रकार के भेद हैं । उनकी[१] श्रद्धा अनन्त प्रकार की है, उनके योग से कल्याण के मार्ग में भी अनन्त भेद हुए हैं । वास्तव में[२] तो कल्याण का मार्ग एक है और भगवान का स्वरूप भी एक ही है । और वे भगवान अति समर्थ हैं और उनके जैसा होने के लिए अक्षर पर्यन्त कोई समर्थ होता नहीं है, यह सिद्धान्त हैं ।''

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज को कहा कि ''झीणाभाई[३] तो आज बहुत दिलगीर[४] हुए और ऐसा बोले कि जब महाराज हमारे घर आये नहीं तब हमें भी घर में रहने का क्या काम है ?'' यह बात सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि ''उदास होकर[५] रीस करके जो प्रेम करता है, वह प्रेम आखिरकार निभता नहीं है । और रीसवाले[६] की भक्ति तथा प्रेम वे सभी आखिरकार व्यर्थ हो जाते हैं[७] । इसलिए उदास[८] होकर निस्तेज[९] मुख करना, वह तो बहुत बड़ी खोट है ।'' फिर झीणाभाई ने कहा कि ''भगवान और भगवान के सन्त, वे अपने घर आते हैं तब मुख प्रफुल्लित होना चाहिए और जब भगवान तथा सन्त न आये तब तो मुख पर उदासी होनी चाहिए और हृदय में शोक भी होना चाहिए ।'' फिर इस वार्ता को सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि ''भगवान तथा

१. सात्त्विकी आदि २. वस्तुतः ३. पञ्चाला गाँव के ४. खिन्न, दुःखी ५. उद्विग्न होकर
६. मन में दबा हुआ दुःख-रोष । ७. निष्फल, मिथ्या हो जाते हैं ।
८. उद्विग्न ९. कान्तिहीन, म्लानमुख

सन्त, वे आये तब प्रसन्न होना चाहिए, लेकिन शोक तो कभी भी न करें। और यदि शोक करने का स्वभाव हो तो अन्त में जरूर कुछ अनिष्ट[१] हुए बिना नहीं रहता। इसलिए अपने-अपने धर्म में रहकर जिस प्रकार की भगवान की आज्ञा हो, उसका प्रसन्न होकर पालन करें, परन्तु अपना मनचाहा करने के लिए किसी तरह से उद्विग्न होना नहीं। और भगवान कहीं पर जाने की आज्ञा करते हैं और शोक करके उदास हो जाये[२], तो पहले भगवान ने जो दर्शन दिए हो तथा प्रसाद दिया हो तथा अनन्त प्रकार की ज्ञानवार्ता की हो, इत्यादिक क्रिया से अपने को जो सुख प्राप्त हुआ हो, वह चला जाय और उदासी से[३] बुद्धि में अकेला तमोगुण छा जाता है, उससे केवल दुःखी होता हुआ ही जहाँ रखे वहाँ जाता है। फिर उस उदासीनता से[४] आज्ञा भी यथार्थ पलती नहीं है। इसलिए **भगवान के भक्त को तो सदा अति प्रसन्न रहना और प्रसन्न मन से भगवान का भजन करना, परन्तु चाहे कैसा अशुभ देशकाल हो, तो भी हृदय में लेशमात्र उदासीनता आने न दें।''**

॥ इति वचनामृतम् लोया ॥४॥११२॥

वचनामृत ५ : 'इन्द्रियाँ-अन्तःकरण जीतने का'

संवत्* १८७७ के कार्तिक कृष्ण अमावस्या के दिन रात्रि के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज गाँव श्रीलोया स्थित सुराभक्त के राजभवन में विराजमान थे। उन्होंने सफ़ेद सुरवाल पहना था, सफेद छींट की मिरजई पहनी थी, मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज ने सभी परमहंस को प्रश्न पूछा कि ''कितने संकल्प कहे जायें तब निष्कपट कहलाते हैं और कितने संकल्प न कहने पर कपटी कहलाते हैं ?'' फिर परमहंसों से इसका उत्तर नहीं हुआ, तब श्रीजीमहाराज बोले

*दि. ५-१२-१८२०, मगंलवार

१. अशुभ २. खिन्न-निराश हो जाये। ३. उद्विग्नता से ४. उद्वेग से

कि **"पञ्च वर्तमान[१] सम्बन्धी अपने में जो कचाई[२] हो, और वह अपनेसे विचार करने से टलती न हो, तो वह कचाई जिसमें न हो ऐसे जो सन्त, उनके आगे कहें।** और किसी सन्त का अवगुण अपने को आया हो, तो उसे कहें; तथा भगवान के निश्चय में अनिश्चिय का संकल्प हुआ हो, उसे भी कहें; तब वह निष्कपट कहलाता है। और इसमें से संकल्प हुआ हो और उसे जो सन्त के आगे[३] कहता नहीं है, उसे कपटी जानें।"

फिर तब श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि[४] "ऐसा कपटी हो और वह चतुर हो, उसे किस प्रकार की बुद्धि से पहचाना जाये ?" तब इसका उत्तर भी परमहंसों से न हो सका। तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि "वह तो इस तरह से पहचाना जाता है कि उसका सहवास हो और खाते-पीते, बैठते-उठते, चलते-फिरते समय अपने साथ रहता हो, तब स्वयं उस पर खबर[५] रखे और अपने से अलग हो तब भी दूसरे व्यक्ति के पास उसकी गुप्तता से निगरानी रखायें, तब उसका कपट पहचानने में आता है।"

पुनः श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि "दम्भ करके वर्तमान[६] पालता हो, और दम्भ करके भगवान का निश्चय रखता हो, और वह स्वयं बुद्धिमान हो और मानी हो, वह अपने वर्तमान को तथा अपने निश्चय को, दूसरो के सच्चे वर्तमान तथा निश्चय, उनके आगे अधिक करके दिखाता हो, तब उसे कैसे परखा जाये कि उसके वर्तमान तथा निश्चय दम्भ पूर्वक हैं ?" तब इस प्रश्न का उत्तर भी परमहंसों से न हुआ, तब श्रीजीमहाराज बोले कि "उसकी प्रतिष्ठा[७] का भंग होता है, तब[८] उसका दम्भ परख में आता है, नहीं तो परख में नहीं आता।"

---

१. त्यागी के पाँच नियम (१) निर्लोभ (२) निष्काम (३) निःस्वाद (४) निर्मान (५) निःस्नेह गृहस्थ के (१) दारू (२) मांस (३) चोरी (४) व्यभिचार (५) वटाल प्रवृत्ति का त्याग।
२. दुर्बलता, कमजोरी, कसर, त्रुटी **३.** दंभ, मान, मद या लज्जा से।
४. खुद कपटी हो, लेकिन बाहर से साधुवेष धारण करके स्वयं बुद्धिमान है इसलिए दंभ से बाहर से ही सदाचरण को बताता है, उसे बुद्धिशाली पुरुषों द्वारा 'यह कपटी है' ऐसा कैसे पहचानने में आए ? इतना पूछने का अभिप्राय है।
५. नजर, निगरानी **६.** पञ्च वर्तमान **७.** मान **८.** शोक, क्रोध का उदय इत्यादि लक्षण से।

फिर श्रीजीमहाराजने प्रश्न पूछा कि "भगवान का निश्चय तथा वर्तमान इन दोनों में से कैसा संकल्प है, जो गिरा देता है ? और कैसा संकल्प हो, तो भी गिरा न दें ? और उसका अवधि हो, वह कैसा कि कब तक ये संकल्प रहता हो, जो धर्म में से गिरा देता है ? और भगवान के निश्चय में से गिरा दे ?" तब इसका उत्तर भी परमहंसों से नहीं हुआ, तब श्रीजीमहाराज बोले कि "जिस संकल्प को टालने का प्रयत्न करता है तो भी टलता न हो, धर्म पालन करने में ऐसा जो कुछ अयोग्य संकल्प रहता हो और वह संकल्प पन्द्रह दिन तथा एक महीने तक न होता हो और फिर किसी दिन प्रकट हो आये, ऐसा जो संकल्प, वह धर्म में से गिरा देता है; और उसी तरह भगवान के निश्चिय में भी जानें। जो संकल्प हुआ और उसे विचार करके टाल दिया जाये और पुनः फिरसे वह संकल्प उत्पन्न न हो, ऐसा जो संकल्प, वह इन दोनों में से गिरा नहीं सकता है।"

और फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि "सत्संग में दृढ नींव किसकी होती है और किसकी नहीं होती है ?" इसका उत्तर भी परमहंसों से हुआ नहीं। तब श्रीजीमहाराज ने किया कि "जैसे दत्तात्रेय ने पञ्चभूत, चन्द्रमा, पशु, वेश्या, कुमारी, अपना देह इत्यादिक सभीमें से भी गुण लिए थे, इसी तरह **जिसे सन्त में गुण ग्रहण करने का स्वभाव हो, उनकी ही सत्संग में दृढ़ नींव होती है और जिसे सन्त में गुण लेने का स्वभाव न हो, वह सत्संग में रहता है तो भी उसकी दृढ़ नींव नहीं है।"**

फिर तब श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि "सन्त तथा शास्त्र तथा अपना विचार ये तीनों हो, तब इन्द्रियाँ–अन्तःकरण अतिशय जीतने में आते हैं, या इनमें से एक भी हो तो भी जीतने में आते हैं ? और यदि ऐसा कहेंगे कि 'ये तीनों वस्तुएँ साथ हों तो जीतने में आते हैं;' तब सन्त के पास से कैसी युक्ति सीखनी चाहिए ? और शास्त्र में से कौनसी युक्ति सीखनी चाहिए ? और अपने विचार से कैसी युक्ति सीखनी चाहिए ? उसे कहिए।" तब उसका उत्तर भी परमहंसों

से हुआ नहीं, तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''शास्त्र से तो भगवान तथा सन्त, उनका माहात्म्य समझना है। और सन्त से ऐसा सीखना है कि जिस तरह से सन्त इन्द्रियों को जीतने की युक्ति बताते हैं कि 'इस प्रकार नेत्र की दृष्टि नासिका पर रखनी है तथा ग्राम्यवार्ता सुननी नहीं है,' इत्यादिक जो युक्ति है, उसे सन्त से सीखनी है। और उन सन्त ने सिखायी जो युक्ति, उसे अपने विचार से अपने कल्याण के लिए सुल्टी[१] समझकर मानें, और उसीके अनुसार रहने लगें। इस तरह से तीनों उपायों से इन्द्रियाँ-अन्तःकरण जीते जाते हैं।''

उसके बाद फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''इन्द्रियों को जीतने से अन्तःकरण जीता जाता है कि अन्तःकरण को जीतने से इन्द्रियाँ जीती जाती हैं ?'' तत्पश्चात् इस प्रश्न का उत्तर भी परमहंस नहीं कर पाये। तब श्रीजीमहाराज ने किया कि ''बाह्य इन्द्रियाँ को देहदमन से जीते और देहदमन से बाह्य इन्द्रियाँ जीत ली हों, तो भी पांच वर्तमान के नियम में दृढ़ होकर रहता हो, तो बाह्य इन्द्रियों को जीत लेने से अन्तःकरण जीता जाता है, परन्तु अकेले अन्तःकरण को जीतने से बाह्य इन्द्रियाँ जीती नहीं जातीं। बाह्य इन्द्रियों को जीतने से तो अन्तःकरण जीता जाता है; क्योंकि, यदि बाह्य इन्द्रियों को जीत लें और विषय में प्रवृत्त न होने दें, तब अन्तःकरण भीतर की ओर से निराश हो जाता है कि ''इस देह से यह बात नहीं बन पायेगी।''

और उसके बाद फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''बाह्य इन्द्रियाँ किससे जीती जाती हैं और अन्तःकरण किस से जीता जाता है ?'' फिर इसका उत्तर भी परमहंसों से नहीं हुआ, तब श्रीजीमहाराज ने किया कि ''धर्मशास्त्र में कहे जो त्यागी के नियम, उसे रखता हो तथा आहार को नियम में रखता हो तथा तप्तकृच्छ्र, चान्द्रायणादिक व्रत करता हो तथा जानबूझकर शीत, धूप, भूख, प्यास को सहन करता हो, भगवान की कथा, कीर्तन, वार्ता करता हो, भजन-स्मरण में बैठता हो तथा आसन को जीत ले, इत्यादिक साधन से बाह्य

---

१. सही, उचित

इन्द्रियाँ जीती जाती हैं । और भगवान के माहात्म्य का विचार तथा भगवान का ध्यान तथा आत्मनिष्ठा इतने से अन्तःकरण जीता जाता है ।''

॥ इति वचनामृतम् लोया ॥५॥११३॥

वचनामृत ६ : 'संग शुद्धि का'

संवत्* १८७७ के मार्गशीर्ष शुक्ल १ प्रतिपदा के दिन श्रीजीमहाराज गाँव श्रीलोया स्थित सुराखाचर के राजभवन में रात्रि के समय में विराजमान थे । उन्होंने सफ़ेद खेस धारण किया था, सफेद छींट की मिरजई पहनी थी, श्वेत फेंटा बाँधा था, दूसरे सफेद फेंटा से बोकानी बाँधी थी और उसी सफेद फेंटे का छोर सिर पर झुल[१] रहा था, शाल(चौफाल) ओढ़ी थी और अपने मुखारविन्द के समक्ष परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज ने परमहंस के प्रति प्रश्न पूछा कि ''सत्संग होने के बाद दुर्लभ[२] में दुर्लभ तो कौनसा साधन माना है ।'' फिर इस प्रश्न का उत्तर परमहंसों से नहीं हो पाया, तब श्रीजीमहाराज ने किया कि ''**एकान्तिकपना**[३] **उसमें आये यह अतिशय दुर्लभ है ।** वह एकान्तिकपना तो क्या है ? तो **धर्म, ज्ञान और वैराग्य; इन तीनों से युक्त जो भगवान की भक्ति करना, उसे एकान्तिकपना कहते हैं ।''**

तब फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''धर्म सम्बन्धी साधन में ऐसा कौनसा साधन है कि एक रखने से सभी धर्म रहते हैं ? और भगवान सम्बन्धी जो भजन, स्मरण, कीर्तन, वार्ता; इत्यादिक साधन हैं, उनमें ऐसा एक साधन कौनसा है कि आपत्काल होने पर यदि सभी चले जायें तो भी एक साधन रहने पर सभी साधन रहते हैं ?'' बाद में इस का उत्तर भी स्वयं ने किया कि '**धर्म सम्बन्धी साधनों में तो एक निष्काम धर्म हो तो सभी साधन आ जाते**

---

*दि. ६-१२-१८२०, बुधवार

१. लटक २. न बन सके ऐसा कठिन । ३. एकान्तिक धर्म-स्थिति ।

हैं और भगवान सम्बन्धी तो यह साधन है कि निश्चय रहे तो सभी आते हैं[१] ।''

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''कैसी मति[२] एक प्रकार की रखने से श्रेय[३] होता है और उसे यदि पलटे तो बुरा[४] होता है ? और कैसी मति को बारंबार पलटाने से तो श्रेय होता है और न पलटाया जाये तो बुरा[५] होता है ?'' पश्चात् उसका उत्तर भी स्वयं ने किया कि ''**भगवान के निश्चयरूप जो मति है, उसे तो पलटने[६] ही न दें ।** भगवान का माहात्म्य सुनकर उसकी पुष्टि वारंवार करते रहें तब श्रेय होता है; और इस मति को वारंवार पलटते रहे तब अनिष्ट होता है । और स्वयं ने अपने मन से मति में[७] जो निश्चय किया हो कि 'मुझे ऐसा करना हैं' ।' उस मति को सन्त के वचन से वारंवार बदल दें और सन्त कहें कि 'यहाँ बैठना नहीं और यह करना नहीं'', तब उस जगह बैठे नहीं और उसे करे नहीं । इस तरह से मति को बदलता रहे तो श्रेय होता है और उस मति को बदलें नहीं और अपना मन माना करता है तो बुरा होता है ।''

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''किस प्रकार का सत्संगी अथवा परमहंस हो और धर्म में संपूर्ण रहता हो और उसके पास बैठा जाये तथा बात सुनी जाये तब दोष लगता है ?'' तब उसका उत्तर भी स्वयं ने किया कि ''जिसे भगवान का निश्चय हो और धर्म में भी स्वयं रहता हो तो भी यदि उसे व्यवहार में आसक्ति रहती हो तथा देहाभिमान हो तथा मान हो और उसे[८] भगवान तथा सन्त, वे निषेध करते हैं[९] तब वह भगवान का तथा सन्त का अवगुण जरूर लेता है । फिर दूसरों के आगे भी भगवान के तथा सन्त के अवगुण की बात करके उसे विमुख जैसा कर देता है; ऐसा जो हो उसका किसी भी प्रकार से सम्बन्ध न रखें और रखता है तो अनिष्ट होता है ।''

१. ''**भक्त्या सञ्जातया भक्त्या**'' इत्यादि वचन से यद्यपि 'प्रेमलक्षणा भक्ति के श्रवण आदि साधन है, ऐसा कहा है तथापि वे साधन भी निश्चय मूलक है, इसलिए यहाँ इस स्थान पर निश्चय को साधनरूप कहा है, इसलिए निश्चय को ही भक्ति में साधनरूप से और मूलरूप से कहने में कोई दोष नहीं है । **२.** बुद्धि **३.** शुभ, अच्छा **४-५.** अनिष्ट, अशुभ **६.** विचलित, विपरीत, अन्यथा **७.** बुद्धि में **८.** मानादिक आसक्ति का **९.** खण्डन करते है ।

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''कैसा साधु हो और वह धर्म में रहता हो और निश्चय भी हो तो भी उसके साथ स्नान करने न जायें और पास में अपना बिस्तर न लगायें और उसकी बात भी न सुनें ?'' फिर उसका उत्तर भी स्वयं ने किया कि ''जो सन्त बिना हिम्मत की बात करता हो कि 'क्या एक जन्म में निष्कामादिक गुण आ जाते हैं ? वह तो भगवान कृपा करते हैं तब आते हैं, नहीं तो अनेक जन्मों से कल्याण होता है, परन्तु इसी देह से क्या कल्याण होता है ? इस तरह से जो बिना हिम्मत की बात करता हो, उसके संग का सभी प्रकार से त्याग करें। और जो ऐसा कहता हो कि 'इसी देह से कृतार्थ हुए हैं और काम, क्रोध, मद, मत्सर, मान इत्यादिक दोषों का क्या भार है ? भगवान और सन्त के प्रताप से इन सभी का नाश कर देंगे।' ऐसा जो कहता हो तथा उन कामादिक दोषों को नाश करने के उपाय में तत्पर होकर लगा हो[१], उसका संग सभी प्रकार से करें।''

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''कैसा साधु हिम्मत सहित बात करता हो, तो भी उसका त्याग करें ?'' फिर इसका उत्तर भी स्वयं ने किया कि ''जो सन्त केवल अपने पुरुषार्थ को ही अधिक कहता हो और पुरुषार्थ से ही अपने को कृतार्थ मानता हो, किन्तु भगवान का बल न रखता हो और ऐसा समझता न हो कि 'इन साधनों से भगवान को प्रसन्न करना है', तब उसका भी त्याग करें।''

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''कैसा साधु हो उसका संग करें और कैसे का न करें ?'' तब इसका उत्तर भी स्वयं ने किया कि ''वर्तमान का भी भलीभाँति[२] पालन करता हो और निश्चय यथार्थ[३] हो और उसके पास हम रहते हों और हमें टोकता न हो और अधिक देखभाल करके लाड़ लड़ाकर[४] रखता हो, और शिथिलता रखता हो, तो वह मुक्तानन्द स्वामी के समान लोक व्यवहार में अग्रणी कहलाता हो, उसका भी संग न करें। **जो सन्त अपने को**

१. प्रयत्नशील रहता हो। २. अच्छी तरह से ३. बराबर, पूरिपूर्ण
४. जानने के बावजूद भी नजर अन्दाज करने की वृत्ति। जाने देने की चाह।

टोकते रहें तथा जिस स्वभाव को देखते हैं, उस पर तत्परता रखकर वह[१] न टल जाये तब तक बाते[२] करते रहें और लल्लोचप्पो[३] रखे नहीं और वह लौकिक व्यवहार में अग्रणी न कहलाता हो तो भी उसका संग करें।''

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''जिस सन्त में सभी बड़े-बड़े अच्छे गुण भक्ति-ज्ञानादिक हों, लेकिन उसमें एक ऐसा कौन सा खराब दोष हो, जिससे उसका संग न किया जाये ?'' तब इसका उत्तर भी स्वयं ने किया कि ''जिसे आलस्य बहुत हो और निद्रा बहुत हो और स्नान-ध्यानादिक जो नियम, उन्हें पालन करने का कोई कहते हों, तब कहता हैं, 'अभी कर लेंगे, जल्दी क्या है ? धीरे-धीरे होगा ।' इस तरह से जो बोलता हो, वह भलाभोला[४] हो, फिर भी उसका संग न करें ।''

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''चाहे कितनी भी अच्छी बात करता हो तो भी उसकी बात न सुनी जाये, ऐसा उसकी वाणी में कौन सा दोष समझना चाहिए ?'' तब इसका उत्तर भी स्वयं ने किया कि ''बात करने में अपने में जो भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म, उनकी ही अहंकार पूर्वक स्वयं श्रेष्ठता दिखाता हो, और दूसरे सन्त में जो ज्ञान, भक्ति आदिक गुण उनकी कुछ न्यूनता दिखाता हो, ऐसा जिसकी वाणी में दोष हो, उसकी बात न सुनें ।''

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''जिसकी वाणी में तो कुत्सितता[५] हो, फिर भी उस वाणी को अमृत के समान पान किया जाये, ऐसी तो कौन सी वाणी है ?'' पश्चात् इसका भी स्वयं ने उत्तर किया कि ''जो सन्त बात करते हो तब स्वयं अपने सम्बन्धी, माता-पिता, बहन, भाई तथा अपनी जाति, उनकी कुत्सित शब्दों से निन्दा करता हो, तो उसकी उस वाणी को अच्छी जाने; क्योंकि, उस वाणी को जो सुनते हैं, उसे सन्त के प्रति ऐसा गुण आता है कि 'इस सन्त को तो किसी तरह से अपने देह सम्बन्धी आदिक में स्नेह नहीं है ।' इसलिए उस वाणी को अमृत के समान पान करें ।''

---

१. स्वभाव २. उपदेश ३. अच्छा बनने हेतु, बोलने में आने वाली मधुर वाणी, झूठी प्रशंसा, खुशामत । लल्ली चप्पो ४. सज्जन ५. कड़वापन । कठोरता, कटुता, तुच्छता

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''किस जगह पर मान रखना चाहिए और किस जगह पर मान नहीं रखना चाहिए ?'' फिर उसका उत्तर भी स्वयं ने किया कि ''भगवान का दृढ़ आश्रित हो और वह जैसा-तैसा गरीब[१] हरिभक्त हो, तो भी उनके आगे मान न रखें । और जिसका सत्संग से कुछ पैर पीछे हट गया हो, उसके सामने तो मान रखें, परन्तु उससे दब न जायें और प्रश्न-उत्तर में उसके वचन पर प्रतिवचन बोलें ।''

और फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''किस स्थान पर भगवान के दर्शनादिक में तथा सन्त के प्रति स्नेह न रखें और किस स्थान पर रखें ?'' तब उसका उत्तर भी स्वयं ने किया कि ''हम सभी सन्तों को यदि साधारणरूप से कहते हैं कि 'बुरहानपुर तथा काशी कौन जायेगा ?' तब कोई बोले नहीं, तब उस सभा में से स्वयं उठकर जो हमें ऐसा कहे कि 'कहिए तो हे महाराज! मैं चला जाऊँ ?' ऐसा कहकर हमारी आज्ञा लेकर वहाँ जाये । ऐसी जगह[२] हमारी प्रसन्नता के लिए हमारे दर्शनादिक का तथा सन्तसमागम का स्नेह भी न रखें । और **हम तथा सन्त, तो जिस पर दुःखी होकर नाराज हुए हों और डांटकर तिरस्कार करके उसे बाहर निकाल दिया हो और वह शोक होने से रोता हो और उसके पास कोई एकाकी[३] विमुख[४] जैसा आकर सन्त का अथवा हमारा अवगुण कहने लगे तब** उसके आगे उन सन्तों के प्रति तथा भगवान के प्रति बहुत स्नेह दिखाए और ऐसा कहे कि 'मैं तो उनका बिकाउ हूँ और मेरे टुकड़े-टुकड़े कर डालें तो भी मुझे उनका अवगुण नहीं आता, वे तो मेरे कल्याण के करनेवाले हैं ।' इस तरह से वहाँ पर अतिशय स्नेह दिखाता है ।''

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''जो कार्य करने से भगवान प्रसन्न होते हों, तो भी उसे न करें और जो करने से भगवान नाराज[५] होते हों, तो भी उसे करें, ऐसा तो क्या है ?'' पश्चात् उसका उत्तर भी स्वयं ने किया कि

१. दीन, अतिशय नम्र स्वभाव का २. वही पर ३. स्वभाव वश होकर-मनमुखी होकर अकेला रहनेवाला ४. अकेला-मण्डल रहित सत्संग में घुमनेवाला साधु या सत्संगी । ५. अप्रसन्न

"हम कोई वचन कहते हैं और उसमें यदि अधर्म जैसा हो, तो उसमें[१] चिरकारी[२] होना अर्थात् उसमें बहुत विलम्ब करें, परन्तु तुरन्त न मानें। जैसे श्रीकृष्ण भगवान ने अर्जुन को कहा कि 'अश्वत्थामा का सिर काट डालो'। फिर उन वचन को अर्जुन ने नहीं माना, उसी तरह इस प्रकार के जो वचन हों, उसमें हम यदि प्रसन्न होते हो तो भी न मानें तथा पञ्च वर्तमान सम्बन्धी जो नियम कहे हैं, उनमें जिससे भंग होता हो ऐसा जो वचन, उसे न मानें और इन दो वचन न मानने पर भगवान उद्विग्न[३] होते हों तो अच्छी तरह से उद्विग्न होने दें, परन्तु उसमें प्रसन्न न करें।"

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि "भगवान का ध्यान करते समय मन में अनेक प्रकार के अशुभ[४] संकल्प के तरंग उठने लगते हैं; जिस तरह समुद्र में बड़ी-बड़ी तरंगे[५] उठती हैं, उसी तरह अशुभ संकल्प उठने लगते हैं, तब उन संकल्पों को कैसे टाला जाये ?" फिर उसका उत्तर भी स्वयं ने किया कि "जब ऐसा अशुभ[६] संकल्प होने लगें तब ध्यान को छोड़कर जिह्वा से उच्च स्वर से निर्लज्ज होकर, ताली बजाकर '**स्वामिनारायण स्वामिनारायण**' **भजन करें** और 'हे दीनबन्धो !' हे दयासिन्धो ! इस तरह **भगवान की प्रार्थना करें** तथा **भगवान के सन्त जो मुक्तानन्द स्वामी जैसे बड़े हों, उनके नाम लेकर उनकी प्रार्थना करें, तो सभी संकल्प टल जाते हैं, और शान्ति हो जाती है; परन्तु उनके अलावा दूसरा ऐसा संकल्प टालने का उपाय नहीं है।"**

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि "इस सत्संग में जो अति बड़ा गुण दिखाई देता हो, और उस गुण के सभी बखान करते हों, तो भी वह त्याग करने योग्य है, ऐसा कौन सा गुण है ? और दोष हो और वह ग्रहण करने योग्य हो, ऐसा कौन सा दोष है ?" तब इसका उत्तर भी स्वयं ने किया कि "मुक्तानन्द स्वामी जैसा हो, वह सभीसे उत्तम वर्तमान पालन करता हो और उससे दूसरे सन्त को उद्वेग होता हो; क्योंकि, उनके बरोबरी[७] वर्ताव नहीं

१. उस कार्य में २. विचारशील, ज्यादा सोचनेवाला, किसी की बात को तत्काल न माननेवाला। ३. नाराज, उद्विग्न करना, दुःख देना। ४. अनिष्ट ५. लहरे ६. अनिष्ट ७. समान

कर पाते, इसलिए यह गुण यद्यपि बड़ा[१] है, फिर भी उसका त्याग करके सभी सन्तों के समान वर्ताव करें और समान वर्ताव करनेरूप दोष है, तो भी उसका ग्रहण करें ।''

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''इस सन्त में ऐसा कौन सा एक दोष है कि जिसका त्याग किया जाये तब सभी दोषमात्र का त्याग हो जाता है ? और ऐसा कौन सा एक गुण है कि उस एक के आने पर सभी गुण आ जाते हैं ?'' तब उसका उत्तर भी स्वयं ने किया कि ''**यदि देहाभिमानरूप दोष है तो उसमें समस्त दोष रहते हैं और उसका त्याग कर दें तो समस्त दोषों का त्याग हो जाता है' ।** और 'मैं तो देह से भिन्न जो आत्मा वह हूँ' ऐसा जो आत्मनिष्ठारूप एक गुण आ जाये तो समस्त गुणमात्र आ जाते हैं ।''

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''कैसे पञ्चविषय का सेवन करने से बुद्धि में प्रकाश होता है ? और कैसे पञ्चविषय का सेवन करने से बुद्धि में अंधकार हो जाता है ?'' तब उसका उत्तर भी स्वयं ने किया कि ''भगवान सम्बन्धी जो पञ्चविषय, उनका सेवन करे तो बुद्धि में प्रकाश होता है और जगत् सम्बन्धी पञ्चविषय का सेवन करे तो बुद्धि में अन्धकार हो जाता है ।''

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''कैसा देश, कैसा काल, कैसा संग, कैसी क्रिया; जिसका सम्बन्ध भगवान की आज्ञा होने पर भी न करें ?'' तब उसका उत्तर भी स्वयं ने किया कि ''जिस देश में रहते हुए अपने देह के सम्बन्धी का बार-बार उठने बैठने का योग होता हो, तो उस देश में भगवान की आज्ञा से भी न रहें । और जहाँ हमारे दर्शन होते हों और उनके साथ स्त्रियों के दर्शन होते हों, ऐसा संग तथा क्रिया होती हो, वहाँ हम बैठायें और कहें कि 'हमारे दर्शन करिए ।' तो भी उस स्थान में न बैठें, किसी बहाना लेकर उठ जायें । और जिस काल में विषमता रहती हो, मारपीट होती हो और यदि भगवान की आज्ञा हो तो भी वहाँ से निकल चलें, परन्तु उसी स्थान पर रहकर मार न खायें ।''

१. महान

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''कौन से शास्त्र को सुनें एवं पढ़ें और कौन से शास्त्र को न सुनें और न पढें ?'' फिर उसका उत्तर भी स्वयं ने किया कि ''जिस शास्त्र में भगवान का साकारपना प्रतिपादन न किया हो तथा भगवान के अवतार का निरूपण न हो और वे ग्रन्थ शुद्ध वेदान्त के हों और एक अद्वितीय निराकार का प्रतिपादन करते हो और वे ग्रन्थ अच्छे बुद्धिमान् ने किए हो तो भी उन ग्रन्थों को किसी दिन पढें भी नहीं और सुनें भी नहीं । और यदि रणछोड भगत के जैसे कीर्तन ही हो और उसमें भगवान की मूर्ति का वर्णन हो तो उसे गान करें और सुनें तथा इस प्रकार के जो ग्रन्थ हों उसे पढें और सुनें ।''

॥ इति वचनामृतम् लोया ॥६॥११४॥

वचनामृत ७ : 'इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और अनुभव पहुँचने का'

संवत्* १८७७ के मार्गशीर्ष शुक्ल ३ तृतीया के दिन श्रीजीमहाराज गाँव श्रीलोया स्थित सुराखाचर के राजभवन में पलंग पर विराजमान थे। उनके मस्तक पर सफ़ेद पाग का छोर विराजमान था, सफ़ेद छींट की मिरजई पहनी थी, रुई से भरा श्वेत सुरवाल पहना था, सफेद पिछौरी ओढ़ी थी और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

उस समय में वचनामृत की पुस्तक नित्यानन्द स्वामी ने लाकर श्रीजीमहाराज को दी । तब वे उस पुस्तक को देखकर बहुत प्रसन्न हुए और परमहंसों के प्रति बोले कि ''आज तो कठिन-कठिन[१] प्रश्न पूछिये तो बात करें ?'' तब मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''श्रुति में कहा है कि '**ऋते[२] ज्ञानान्न मुक्तिः**' । '**तमेव[३] विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।**' उस श्रुति में ऐसा कहा है कि 'भगवान का साक्षात् ज्ञान होता है, तब जीव

*दि. ८-१२-१८२०, शुक्रवार १. भारी, गहन, शास्त्र में रहे गूढ तर्कयुक्त ।

२. ज्ञान बिना मुक्ति नहीं होती ''हिरण्यकेशीयशाखा'' श्रुति - (हाल में अनुपलब्ध)

३. उस परमात्मा को जानकर मृत्यु के भय से छूटा जा सकता है । (श्वेता.उप.३/८)

का कल्याण होता है।' तब शास्त्र में जो दूसरे साधन कल्याण के लिए[१] बताए गए हैं, उनका क्या प्रयोजन है ? क्योंकि, कल्याण तो ज्ञान से ही होता है।" ऐसे प्रश्न को सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि "ज्ञान तो जानने का नाम है[२]।"तब नित्यानन्द स्वामी ने आशंका की कि "जानना यह ही ज्ञान हो, तो शास्त्र के द्वारा भगवान को समस्त जगत जानता है, उससे तो सभीका कल्याण होता नहीं है।"

तब श्रीजीमहाराज बोले कि "शास्त्र के द्वारा परोक्षरूप से भगवान को जान लिए, उससे जिस तरह कल्याण नहीं है, उसी तरह ही राम-कृष्णादिक भगवान के अवतार थे, तब उन्हें सभी मनुष्य ने प्रत्यक्ष देखा था; तो उससे भी क्या कल्याण हुआ है ?" तब मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि "जिसने भगवान को प्रत्यक्ष देखा हो, उसका तो जन्मान्तर में कल्याण होता है।" तब श्रीजीमहाराज बोले कि "जिसने शास्त्र के द्वारा भगवान को जान लिया है, उससे भी जन्मान्तर[३] में कल्याण होता है। क्योंकि, जिन्हें[४] शास्त्र के द्वारा जाने हैं, उन्हें ही नेत्र के द्वारा देखता हैं और जिन्हें नेत्र द्वारा देखता हैं उन्हें ही शास्त्र के द्वारा जानता हैं; इसलिए दोनों का बीजबल बराबर होता है और दोनों का जन्मान्तर में कल्याण भी बराबर होता है। क्योंकि, श्रवण के द्वारा भगवान को

१. स्वधर्म, तप, योग, आदि।

२. 'ज्ञा' धातु का केवल भाव में 'ज्ञान' ऐसा रूप होता है इसलिए ज्ञान का दूसरा पर्याय वेदन है। वह ज्ञान पदार्थ विषयवाला है, इसलिए 'किसका (कौनसा) ज्ञान ऐसे ज्ञान में विषय की अपेक्षा है। विषय बिना ज्ञान का निरूपण होता ही नहीं है। पदार्थ अनेक प्रकार के है, इसलिए ज्ञान भी अनेक प्रकार का है, जैसा कि रसज्ञान, रूपज्ञान, इत्यादि पदार्थ के अवलंबनवाले अनेक प्रकार के ज्ञान के मध्य में आप कौनसे पदार्थ का ज्ञान को मुक्ति का कारण मानते है, क्योंकि आपने कहीं हुई '**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**' इस श्रुति में तो ज्ञान का विषय स्पष्टतः कहा नहीं हैं। ऐसा वचन सुनकर मुक्तानन्द मुनि ने कहा कि - मैंने कही हुई श्रुति के ज्ञान का विषय तो प्रत्यक्ष भगवान माने हैं, उनके ज्ञान से ही मुक्ति होती है, क्योंकि - मायिक पदार्थ का ज्ञान तो अज्ञान ही है, साक्षात् भगवान का ज्ञान तो मुक्ति का मुख्य साधन है, वह "**तमेव विदित्वातिमृत्युमेति**", "**ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः**", "**तमेव विद्वानमृत इह भवति**" इत्यादि श्रुतियों में कहा हैं (इतना विशेष इस स्थल पर लें) **३.** दूसरे जन्मों में। **४.** मनुष्यरूप परमात्मा को।

सुने, उसमें क्या ज्ञान नहीं हैं ? परन्तु उसे तो सुने ही कहलाते हैं। और त्वचा के द्वारा स्पर्श किये, उसमें क्या ज्ञान नहीं है ? परन्तु उसे तो स्पर्श किये ही कहलाते हैं। और नेत्र द्वारा देखे, उसमें क्या ज्ञान नहीं है ? परन्तु उसे तो देखे ही कहलाते हैं। और नासिका के द्वारा सूंघने में क्या ज्ञान नहीं है ? किन्तु उसे तो सूंघे ही कहलाते हैं। और जिह्वा के द्वारा वर्णन किये, उसमें क्या ज्ञान नहीं है ? परन्तु उसे तो वर्णन किये ही कहलाते हैं। इसी तरह बाह्य इन्द्रियों से[१] जो ज्ञान है तथा अन्तःकरण से[२] जो ज्ञान है तथा अन्तःकरण-इन्द्रियों से पर जो जीवसत्ता तदाश्रित[३] जो अनुभव[४] ज्ञान है, उनमें से आप कौन से ज्ञान को कहते हैं ? और जो भगवान हैं उन्होंने तो इस जगत की उत्पत्ति के लिए, 'अनिरुद्ध' स्वरूप धारण किया है, जिसमें स्थावर-जंगमरूप[५] जो विश्व, वह सावकाश[६] से रहता है और संकर्षणरूप से जगत का संहार करते हैं और प्रद्युम्नरूप से जगत की स्थिति करते हैं तथा मत्स्य-कच्छादिक अवतार को धारण करते हैं। इस प्रकार से जहाँ जैसा कार्य वहाँ वैसे कार्य की सिद्धि के लिए वैसे रूप को ग्रहण करते हैं। उसमें कुछ कार्य तो ऐसा है कि जिसमें अन्तःकरण-इन्द्रियाँ नहीं पहुँच पाते, केवल अनुभवज्ञान के द्वारा ही पता चलता है, तब वैसे कार्य की सिद्धि के लिए भगवान भी वैसे स्वरूप को धारण करते हैं। और कोई कार्य ऐसा है कि इन्द्रियाँ-अन्तःकरण के द्वारा जानने में आता है तब उस कार्य की सिद्धि के लिए भगवान भी वैसे ही होते हैं। इसलिए[७] आप कौन से भगवान के स्वरूप के ज्ञान से कल्याण होता है, ऐसा पूछते हैं?" तब नित्यानन्द स्वामी ने कहा कि "जिस भगवान के स्वरूप में इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और अनुभव; ये तीनों पहुँचें ऐसे भगवान के स्वरूप के ज्ञान के

---

१. इन्द्रियाँ से हुआ ऐसा केवल प्रत्यक्ष ज्ञान २. अन्तःकरण से हुआ ऐसा केवल आनुमानिक ज्ञान, प्रत्यक्षजन्य ज्ञान ३. इन्द्रियाँ, अंतःकरणरूप ज्ञान साधन बिना जीव के शुद्ध स्वरूप से होनेवाला। ४. कभी नष्ट नहीं होनेवाला अलौकिक ज्ञान, साक्षात्कार ५. जड़ चेतन एक जगह से दूसरी जगह स्थलांतर न करा सके वह स्थावर और जिसका स्थलांतर हो सके वह जंगम। ६. अवकाश-आकाश सहित ७. अभिप्राय इतना है कि जब भगवान अनिरुद्धादि रूप में रहते हैं तब उनका आश्रय करनेवाले को चक्षु आदि बाह्यकरण से और चित्त आदि अंतःकरण से ग्रहण में आते हैं और

द्वारा मोक्ष होता है; ऐसा कहते हैं ।'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''ऐसे जो भगवान, वे तो श्रीकृष्ण हैं । वे तो स्वयं अपने को ऐसा कहते हैं कि

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥[१]
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' ।[२]
मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ! ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥[३]
पश्य मे पार्थ ! रूपाणि शततोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥[४]

इत्यादिक वचनों के द्वारा स्वयं अपने को इन्द्रियों-अन्तःकरण से अगोचर कहते हैं, इसलिए भगवान को तत्त्व से समझना, वह तो ऐसा है कि **इन्द्रियाँ, अन्तःकरण तथा अनुभव; इन तीनों के द्वारा यथार्थरूप से**[५] **प्रत्यक्ष भगवान को जान ले, तब पूर्ण ज्ञानी कहलाता है** और इन तीन प्रकार में से यदि एक भी कम हो तो उसे आत्यन्तिक ज्ञान नहीं कहलाता, और उससे जन्म-मृत्यु को भी नहीं तैर पाता । और **किसी साधन के द्वारा ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त हुआ हो, वह भी यदि प्रत्यक्ष भगवान को इस तरह न जानता हो तो वह भी पूरा ज्ञानी नहीं कहलाता ।** इसलिए श्रीमद्भागवत में कहा है कि **'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्'**[6] ॥ तथा गीता में कहा है कि

१. पूर्व श्लोकोक्त स्वभाव द्वारा मैं क्षरपुरुष से पर हूँ तथा अक्षर मुक्तों से भी अधिक उत्तम हूँ। इसलिए ही लोक और वेद में ''पुरुषोत्तम'' नाम से प्रसिद्ध हूँ। (गीता. १५/१८)
२. यह जड़ चिदात्मक जगत को मैं मेरा सामर्थ्य के एक अंश से धारण कर रहा हूँ । (गीता. १०/४२) ३. हे धनंजय ! मुझसे पर दूसरा कुछ श्रेष्ठ है ही नहीं । धागा में मणियों के समान यह जगत मुझ में पिरोया हुआ है । अर्थात् मेरे आधार से रहा है । (गीता. ७/७) ४. हे पार्थ तुम मेरे अनेक प्रकार के दिव्य अप्राकृत श्वेत-कृष्णादि और अनेक आकारवाले मेरे स्वरूपों को देखो । (गीता. ११/५) ५. तत्त्वतः ६. नैष्कर्म्य जो आत्मोपासनरूप ज्ञान, वह वास्तव में तो अंजन जो माया उससे पर हैं । तथापि यदि वह भगवान की भक्ति से रहित हो तो बराबर शोभा नहीं देता । (भाग. १/५/१२)

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मण: ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गति: ॥(१)

अकर्म जो ज्ञान, उसमें भी जानना रहता है, वह क्या ? तो जो ब्रह्मरूप हुआ, उसे भी परब्रह्म पुरुषोत्तम वे जानने शेष रहे हैं । और **जो ब्रह्मरूप हुआ उसको ही पुरुषोत्तम की भक्ति का अधिकार है ।** वह भक्ति तो क्या है? तो जैसे श्वेतद्वीपवासी जो निरन्नमुक्त हैं, वे ब्रह्मरूप होते हुए चन्दन-पुष्पादिक विविध प्रकार की पूजा सामग्री से परब्रह्म जो वासुदेव, उन्हें पूजते हैं; उसी तरह वह भी ब्रह्मरूप होता हुआ प्रत्यक्ष भगवान की भक्ति चन्दन-पुष्प, श्रवण-मननादिक से करता है । उसे भगवान ने गीता में कहा है कि

ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
सम: सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥(२)

इसलिए ब्रह्मरूप होकर जो परब्रह्म की भक्ति नहीं करता है, तो वह भी आत्यन्तिक कल्याण को प्राप्त हुआ नहीं कहलाता है । और

भूमिरापोऽनलो वायु: खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥(३)

यह व्याप्य ऐसी जड़ प्रकृति है और

अपरेयमितस्त्वन्यां - प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्यते जगत् ॥(४)

---

१. मोक्ष साधनभूत कर्म का स्वरूप भी जानने योग्य है । विकर्म अनेक प्रकार के वैदिक काम्य कर्म उसका स्वरूप भी जानने योग्य है और अकर्म (ज्ञान) भी जानने योग्य है । क्योंकि कर्म की गति अति गहन है । (गीता. ४/१७) **२.** ब्रह्मस्वरूप हुए प्रसन्नचित्त, क्लेश-कर्मादि दोषों से रहित निर्मल पुरुष, मुझे छोड़कर दूसरे किसी भी पदार्थ के लिए शोक नहीं करते और किसी की आकांक्षा भी नहीं करते । भूतप्राणीमात्र में समानभाव को प्राप्त करनेवाले वे पुरुष मेरी पराभक्ति को प्राप्त करते हैं । (गीता. १८/५४) **३.** पृथ्वी, जल, तेज (अग्नि), वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार ये आठ प्रकार की मेरी प्रकृति है । यह अपरा प्रकृति है और हे महाबाहु अर्जुन ! इस अपरा से भिन्न जीवरूपी मेरी परा प्रकृति को तु जान, जिसके द्वारा यह जगत धारण किया जा रहा है । (गीता. ७/४-५) **४.** सर्वजनो में अंतर्यामीरूप से अन्त:प्रवेश करके सर्व का नियमन करनेवाले है । (तै.आ. ३-११)

यह व्यापक ऐसी चैतन्य प्रकृति है। और जो प्रत्यक्ष भगवान हैं, वे कैसे हैं ? तो वे अष्ट प्रकार की जो व्याप्य प्रकृति और उसमें व्यापक ऐसी जो चैतन्य प्रकृति; इन दोनों के आधार हैं। जैसे आकाश है वह पृथिव्यादिक चार तत्त्वों का आधार है। और पृथ्वी की जब संकोच अवस्था होती है, उसके साथ आकाश भी संकुचित होता है और पृथ्वी की विकास अवस्था होती है, उसके साथ आकाश की भी विकास अवस्था है। तथा जल, तेज और वायु की संकोच-विकास अवस्था के साथ आकाश की भी संकोच-विकास अवस्था है और पृथिव्यादिक तत्त्व की संकोच-विकास अवस्था; वे दोनों आकाश में होती हैं। उसी तरह इन दोनों प्रकृतियों की संकोच-विकास अवस्था के साथ भगवान की भी संकोच-विकास अवस्था है और इन दो प्रकृतियों की संकोच-विकास अवस्था वे भगवान में हैं। ऐसे जो भगवान हैं, वे सभीके आत्मा हैं। वहाँ श्रुतियाँ हैं :- **'अन्त: प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा'**, **'यस्याक्षरं शरीर... एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायण:'**,[१] **'यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृत:'**,[२] **'यस्य पृथिवी शरीरं य: पृथिवीमन्तरो यमयत्येष स त आत्मान्तर्याम्यमृत:**[३] इत्यादिक श्रुतियाँ हैं। तथा अन्नमय ब्रह्म कहा है, मनोमय ब्रह्म कहा है, विज्ञानमय ब्रह्म कहा है, आनन्दमय ब्रह्म कहा है; इत्यादिक बहुत प्रकार की **ब्रह्मविद्या** कही गई है। उनका क्या तात्पर्य है ? कि भगवान सभीके कारण हैं और सभीके आधार हैं। इसलिए इन सभीको ब्रह्म कहा है। परन्तु वे सभी शरीर हैं और इन सभीके शरीरी तो भगवान श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम हैं। उन भगवान में ये जड़-चैतन्यरूप जो दो प्रकृतियाँ, वे संकोच-विकास अवस्था के

१. जिन परमात्मा का अक्षर शरीर है, इन सभी भूतो में अन्तर्यामीरूप से रहे हुए निर्दोष और दिव्य देव एक नारायण ही हैं। – (सुबालोपनिषद् खण्ड ७)

२. जिन परमात्मा की आत्मा शरीर है, जो परमात्मा जीवात्मा में अन्तर्यामीरूप से प्रवेश करके नियमन करते हैं। वे ही अन्तर्यामी तुम्हारी अमृत आत्मा हैं। (बृहद्.उप.माध्य. ५/७/२६)

३. जिन परमात्मा का शरीर पृथ्वी है, जो परमात्मा पृथ्वी में अन्तर्यामीरूप से प्रवेश करके नियमन करते हैं, वे ही अन्तर्यामी तुम्हारी अमृत आत्मा हैं। (बृह.उप. ५/७/७)

द्वारा अपने कार्य सहित सुखपूर्वक रही हैं और उन सभी में भगवान, जो अन्तर्यामीरूप से कारणरूप से रहे हैं, और वे ही भगवान यह प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इस तरह से महिमा सहित जो भगवान को जानता है और देखता है, उसे **परिपूर्ण ज्ञान** कहते हैं।''

तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''इस तरह से दिखाई तो न देता हो और अन्तःकरण में तो इस तरह की दृढ़ गाँठ[१] हो उसे परिपूर्ण ज्ञान कहलाता है या नहीं ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जैसे अंधेरा घर हो, उसमें कोठी तथा खम्भे रहे हों, उसे देखता है तो भी यथार्थ देखा हुआ नहीं कहलाता। उस तरह पुरुषोत्तम भगवान में जड़-चित् प्रकृति रही है और उस प्रकृति में स्वयं रहे हैं, उसे अनुमान से जानता है, परन्तु यदि दिखने में नहीं आता तो परिपूर्ण ज्ञानी नहीं कहलाता है। और यदि उसे ऐसी गाँठ अतिशय दृढ़ है, तो कुछ उसे अलौकिकता प्रतीत होनी चाहिए, नहीं तो प्रतीत होगी। और निःसन्देह ऐसी गाँठ है और प्रतीत नहीं होता है, तो वह ऐसा समझे कि 'उन भगवान में तो सब कुछ है परन्तु मुझे दिखाते नहीं है, ऐसी ही उनकी इच्छा है।' ऐसा समझकर उन भगवान की भक्ति करता हुआ स्वयं को कृतार्थ मानता है; तो वह परिपूर्ण ज्ञानी है। इसलिए **इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और अनुभव; इन तीनों प्रकार से जो भगवान को यथार्थरूप से जानता है, उसे ज्ञानी कहते हैं।** और ऐसे ज्ञानी को भगवान ने गीता में श्रेष्ठरूप से कहा हैं।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ॥[२]

ऐसा जो ज्ञानी वह तो सदा साकार मूर्ति ऐसे जो प्रत्यक्ष भगवान, उसे प्रकृति-पुरुष, अक्षर; उनसे पर और सभीके कारण, सभीके आधार जानकर अनन्यभाव से सेवन करता है। इस तरह से जो समझना, उसे ज्ञान कहते हैं

१. अँटी, ग्रन्थि, दृढ़ता, अतिशय दृढ़ाव, पहले कहा वैसा भगवत्स्वरूप का ज्ञान।

२. हे भरतश्रेष्ठ ! आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी यह चार प्रकार के मेरे भक्त है। उसमें ज्ञानी श्रेष्ठ है, क्योंकि वह नित्ययुक्त है और एक मात्र मेरे में ही प्रीतिवाला है। – (गीता. ७/१६)

और **इन ज्ञान से आत्यन्तिक मोक्ष होता है ।** और जो ऐसा नहीं समझते हैं और केवल शास्त्र से **'अहं ब्रह्मास्मि'**[१] हो बैठते हैं और कहते हैं कि 'रामकृष्णादिक तो ब्रह्मरूप ऐसा जो मैं, वे मेरी लहरी[२] हैं, ।' ऐसे जो ब्रह्मकुदाल[३] आधुनिक वेदान्ती हैं, वे तो अति दुष्ट हैं, महापापी हैं, मरकर नरक में पड़ते हैं, और कभी भी उसका छुटकारा नहीं होता है ।''

॥ इति वचनामृतम् लोया ॥७॥११५॥

वचनामृत ८ : 'इन्द्रियों की चंचलता टालने का - अपने अंग के शब्द ग्रहण करने का'

संवत्* १८७७ के मार्गशीर्ष शुक्ल ५ पञ्चमी के दिन रात्रि के समय श्रीजीमहाराज गाँव श्रीलोया स्थित सुरा भक्त के राजभवन में विराजमान थे । उन्होंने श्वेत फेंटा मस्तक पर बाँधा था, श्वेत छींट की मिरजई पहनी थी, श्वेत खेस पहना था और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

उस समय में श्रीजीमहाराज से मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''जो भोला है, उसे तो कुछ स्वभाव देखकर सन्त का अवगुण आता है, परन्तु जो समझदार है, उसे सन्त का अवगुण क्यों आता है[४] ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जो समझदार है उसे अपने में जो कोई अयोग्य स्वभाव देखने में आया हो और उस पर स्वयं अति दोषबुद्धि रखकर द्वेष सहित उस स्वभाव को टालने

*दि. १०-१२-१८२०, रविवार **१.** मैं ब्रह्म हूँ। **२.** तरंग; अर्थात् जैसे समुद्र में आती हुई लहर-तरंग समुद्र से अभिन्न है, वैसे मुझ में और परमात्मा में भेद नहीं है। **३.** भगवान और उनके अवतारों का खण्डन करनेवाले है, इसलिए परब्रह्म परमात्मा को कुदाली से ही क्या ? ऐसे खोदनेवाले । **४.** अल्पबुद्धिवाला दूसरों के दोष को ग्रहण करता है, वह तो उसे बुद्धि के अभाव से और खुदके अच्छे स्वभाव के अभाव से योग्य ही है, परंतु जो महाबुद्धिवाला है उसे तो बुद्धि का आधिक्य है और खुद में अच्छा स्वभाव है इसलिए पराये दोष का ग्रहण होता है, वह अयोग्य है, इसलिए घटित-योग्य नहीं तो भी यदि उसमें वह दोष दिखता है, उसका क्या हेतु है, इतना प्रश्न पूछने का अभिप्राय है ।

का प्रयत्न करता हो, उस स्वभाव पर स्वयं को अति वैर[१] हो और वह ही स्वभाव किसी दूसरे सन्त में दिखाई दे, तब उनका अभाव आता है । और **जो मूर्ख होता हैं, वह अपने स्वभाव को टालता नहीं है और दूसरे सन्त में कुछ ही वैसा स्वभाव देख ले तो उनका अवगुण लेता है । उसे मूर्ख कहा जाता है**[२] ।''

तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज छोटे-छोटे परमहंसों को बुलवाकर स्वयं प्रश्न सिखाने लगे और स्वयं उत्तर करने लगे । उसमें प्रथम तो स्वयं ने ऐसा प्रश्न पूछा कि ''काम, क्रोध और लोभादिक शत्रु का जो वेग है, उसकी जो तीव्रता तथा मन्दता तो बाल, यौवन और वृद्ध के अनुसार है, किस तरह ? तो बाल्यावस्था में मन्द वेग रहता है और यौवन अवस्था में तीव्र वेग रहता है और फिर वृद्ध अवस्था में मन्द वेग होता है । इस तरह कामादिक की तीव्र-मन्दता है, यह तो मालूम होता है । परन्तु विचार के द्वारा उसकी[३] मन्दता है कि नहीं ?'' तब इसका उत्तर स्वयं ने ही किया कि ''विचार के द्वारा भी कामादिक की मन्दता है । वह विचार कैसे किया जाय ? तो बाल्य अवस्था में मन्दता है, और यौवन अवस्था में तीव्रता है और वृद्धावस्था में फिर मन्दता है, वह तो आहार के द्वारा है; जो बाल्यावस्था में भी आहार थोड़ा है, इसलिए काम भी कम है और वृद्ध अवस्था में भी आहार कम होता है, इसलिए काम भी कम होता है और यौवन अवस्था में आहार की वृद्धि होती है, इसलिए काम की भी वृद्धि होती है । इसलिए **जो यौवन अवस्था में आहार कम करे और देह**[४] **से शीत-उष्ण, वर्षा, भूख; इनको जानबूझकर सहन करे; ऐसा जो विचार**

---

१. चिढ़

२. अभिप्राय इतना है कि - अपने में रहे अनेक दोषों को एक दोष जितना न मानके और दोष का त्याग न करके लेकिन दूसरों के बहुत ऐसे गुणों को न मानके अल्पमात्र दैहिक आदि किसी दोष का उद्देश करके उसके अवगुण ही ग्रहण करता है, अर्थात् खूद के मेरु जितने छिद्र है उसे देखता नहीं और दूसरों के सरसों के दाने जितने छिद्र को देखता है, वही उसकी मूर्खता है ।

३. युवावस्था में कामादिक के तीव्रवेग का ।

४. 'मैं आत्मा हूँ,' ऐसी बुद्धि-भावना ।

रखता है और बड़े सन्त का समागम रखता है तो उसे यौवन अवस्था में भी काम मन्द हो जाता है ।''

और फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''जीव को अनेक[१] प्रकार के व्यसन होते हैं, किसी को भांग का, अफ़ीम का, शराब का, गांजे का; इत्यादिक अनेक प्रकार के होते हैं, वे व्यसन क्रियमाण हैं कि प्रारब्ध से हैं ?'' तब उसका उत्तर भी स्वयं ने किया कि ''वे व्यसन तो करने से होते हैं, परन्तु प्रारब्ध से नहीं हैं । इसलिए यदि उन व्यसनों को टालने का श्रद्धा सहित आग्रह[२] करता हो और शूरवीरता हो, तो वे टल जाते हैं, परन्तु श्रद्धा न हो और कायर[३] हो, उससे वे स्वभाव टलते नहीं हैं ।''

बादमें फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''कितने बालकों को तो वृद्ध के समान प्रकृति होती है और कितने को तो अति चंचल प्रकृति होती है; वह संग से होती है कि उनके जीव में ही ऐसी प्रकृति रही है ?'' तब उसका उत्तर भी स्वयं ने ही किया कि ''अधिकतर तो संग से ही अच्छी-बुरी प्रकृति होती है और कितनों को पूर्वकर्मानुसार भी होती है ।''

फिर कपिलेश्वरानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज ! पूर्व का स्वभाव हो, उसे कैसे जाना जाये और अभी का स्वभाव हो उसे कैसे जाना जाये ?'' तब श्रीजीमहाराज ने उसका उत्तर किया कि ''जो स्वभाव अभी का हो, वह तो यदि श्रेष्ठ सन्त के संग में रहकर थोड़ा सा उसे टालने का उपाय किया जाये, तो टल जाता है । जैसे दिवार[४] पर तृण उगे हो, तो पांच दिन मेघ न बरसे तो सूख जाते है; उसी तरह अभी का जो स्वभाव है, वह तो थोड़े दिनों में टल जाता है । और जो पूर्व का स्वभाव होता है, उसे टालने का तो अति परिश्रम किया जाये तब बड़ी कठिनाई से टलता है । जिस तरह धरती में दूब का पौधा हो अथवा बेर का वृक्ष हो, उसे तो किसान अग्नि लगाकर जलाते हैं तो भी फिरसे अंकुरित हो आते हैं, और यदि कुदाली लेकर मूल में से उखाड़ डाले तब नष्ट होता है; उस तरह जो पूर्व का स्वभाव होता है उसे अच्छे सन्त के

१. विविध । २. प्रयत्न ३. हिम्मत रहित ४. मुंडेर, पुरानी दिवार

समागम में रहकर अति प्रयास करके टाला जाय, तब बड़ी कठिनाई से टलता है ।''

और उसके बाद फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''जिसकी इन्द्रियाँ चंचल[१] हों, उस चंचलता को टालने का पृथक्-पृथक्[२] कौन से उपाय हैं ?'' तब उसका उत्तर भी स्वयं ने ही किया कि ''चक्षु इन्द्रिय की चंचलता टालने का यह उपाय है कि नासिकाग्र दृष्टि रखे और इधर-उधर[३] देखे नहीं, पढ़ना हो तो पढ़ा करे तथा भजन-स्मरण किया करे। ऐसा करने पर स्त्री आदिकदिखने में आ जायें और अयोग्य संकल्प न हुआ हो तो भी नेत्र को खुले रखकर मेषोन्मेषरहित[४] होकर जब तक नेत्र अच्छी तरह से जलने लगे और अश्रु बहने लगे तब तक घड़ी दो घड़ी पर्यंत देखता रहे, तब उसकी चंचल द्रष्टि हो तो भी वश हो जाती है। और नासिका इन्द्रिय है, वह किसी का शरीर अथवा मुख अथवा वस्त्र दुर्गन्ध फैलाता हो, उसका गन्ध ले तब वह अच्छा नहीं लगता। तब उसका ऐसा विचार करें कि 'मेरा देह भी ऊपर से अच्छा है, परन्तु भीतर तो रुधिर, मांस, हड्डियाँ है तथा पेट में मल, मूत्र, आंत है ।' ऐसा विचार करे तो नासिका की चंचलता टलती है। कान की चंचलता इस प्रकार टलती है कि कुछ हँसीमजाक होती हो अथवा अभद्रनाटक होता हो, तो उसे सुनने में स्नेह[५] होता है और भगवान की कथा-कीर्तन सुनने में निद्रा आती है, तब खड़े हो जायें और निद्रा-आलस्य को टालें और भगवान की कथा सुनने में श्रद्धा रखें और स्नेह रखें, तब कान जीता जाता है । त्वचा इन्द्रिय को इस प्रकार जीतें कि जानबूझकर शीत, गर्मी, वर्षा; उन्हें सहन करें और रजाई हो उसे तकिये पर रख दे और अच्छी तरह ठंड लगे तब ओढें तथा जहाँ-तहाँ पड़े रहें, ऐसा करके त्वचा को जला दे; ऐसा करे तो त्वचा इन्द्रिय की चंचलता टल जाती है। हाथ की चंचलता इस प्रकार टलती है कि जब हाथ खाली हो तब हाथ में माला रखकर श्वासोच्छ्वास से भगवान का नाम लेकर उस माला को फेरें, परन्तु तेज लहर से माला न फेरें। और कितने ऐसे कहते हैं कि 'मन से तो नाम अधिक

१. विषय सन्मुख तीव्रता से जानेवाली २. अलग-अलग ३. आस-पास ४. अनिमेष नयन से, झपकी लिए बिना। ५. रुचि

लिया जाता है,' यह बात गलत है; जितने जीभ से लिए जाते हैं उतने ही मन से लिए जाते हैं; ऐसा करे तो हाथ की चंचलता टलती है। पैर चंचल हो तो आसन[१] को जीते[२]; तो पैर जीते जाते है। शिश्न चंचल हो तो जैसे सूक्ष्म खाज हो या लाल दाद हो; उसे खुजलाने से तो खून निकलता है तब तक खुजली[३] मिटती नहीं और यदि न खुजलाये तो वह अपने आप जल जाती है; उसी तरह शिश्न इन्द्रिय में खुजलाहट होने पर भी उसे हाथ से छुये ही नहीं। और यदि शिश्न में वायु भराता हो तो आहार कम करे और उपवास किया करे और देह को बलहीन कर दे, तो शिश्न जीता जाता है। जिह्वा इन्द्रिय को जीतना हो तो, जो वस्तु जीभ को अच्छी लगती हो, वह चीज जीभ को न दे और आहार युक्त[४] करें, तो जिह्वा की चंचलता टलती है। वाणी चंचल हो तो इस प्रकार टलती है कि मुक्तानन्द स्वामी जैसे वार्ता करते हों तथा कथा वाचन करते हों, तो बीच में बुद्धिमत्ता का दिखाना करके स्वयं न बोलें और यदि बीच में बोला जाये तो पच्चीस माला फेरें, तो वाणी की चंचलता मिट जाती है।''

और फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''ये सभी इन्द्रियाँ है, उनमें से एक को परिपक्वरूप से जीत ले तो सभी इन्द्रियाँ जीती जाती हैं, ऐसी कौन सी इन्द्रिय है ?'' तब इसका उत्तर भी स्वयं ने ही किया कि ''एक जिह्वा को परिपक्वता पूर्वक जीत ले तो अन्य सभी इन्द्रियाँ जीती जाती है[५]।''

उसके बाद फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''जिस पुरुष के अन्तर में काम व्याप्त हुआ हो, उसे बाहर से कैसे जाने कि 'उसे काम व्याप्त हुआ है;' और उसका जो अंग है, वह तो वस्त्र में ढका हुआ है ?'' तब उसका

---

१. एक आसन से बैठना।

२. एक आसन में तीन घण्टे बैठ सके तब आसन जीता कहा जाय। ३. खाज ४. सप्रमाण

५. उसे भागवत में कहा है कि '**तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितान्येन्द्रिय: पुमान् । न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे ॥**' अर्थ : जब तक रसनेन्द्रिय जीती नहीं है, तब तक दूसरी इन्द्रियाँ जीती हो तो भी वह पुरुष जितेन्द्रिय होता नहीं है। जब रसनेन्द्रिय जीतता है, तब सर्व इन्द्रियां को जीत गया है।

उत्तर भी स्वयं ने किया कि ''जिसे काम व्याप्त हुआ हो उसके नेत्र आदिक सभी इन्द्रियाँ, वे चंचल होती हैं, तब जानें कि वह काम से व्याकुल हुआ है।''

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''जिसका चंचल स्वभाव हो, उसे शान्त होना और जिसका शान्त स्वभाव हो, उसे चंचल होना; वह कौन से विचार से होता है ?'' तब उसका उत्तर भी स्वयं ने ही किया कि ''जो चंचल हो, वह ऐसा विचार करें कि 'मैं आत्मा हूँ, ब्रह्म(१) हूँ, अलिंग(२) हूँ और आकाश के समान स्थिर हूँ।' ऐसे विचार के द्वारा उपशम अवस्था को प्राप्त हो, तो जो चंचल हो वह शान्त हो जाता है। और जिस शान्त को चंचल होना हो, वह तो भगवान तथा भगवान के भक्त का माहात्म्य जानें; और माहात्म्य जानता है, तब भगवान की नव प्रकार से भक्ति करता है तथा भगवान के भक्त की सेवा-सुश्रुषा करता है, इससे उसका चंचल(३) स्वभाव होता है।''

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''श्रीमद्भागवतादिक जो आठ सत्शास्त्र हैं, उनमें से कोई त्याग करने योग्य है या सभी ग्रहण करने योग्य हैं?'' तब उसका उत्तर भी स्वयं ने किया कि ''उन सभी ग्रन्थो में भी अनेक प्रकार के प्रकरण हैं। उन सभी प्रकरणों से भगवान को(४) प्राप्त हुए जो भक्त, उनके(५) अंग कहे हैं, इसलिए ये सभी ग्रहण करने योग्य हैं। परन्तु सभी प्रकरणों में से जो प्रकरण अपने अंग में मिलता जुलता हो, उसीका ग्रहण करें और दूसरे का त्याग करें और ऐसा जाने कि 'वह है तो सही, परन्तु ये दूसरे भक्त के लिए है, मेरे लिए नहीं है(६)।''

और फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''ये आप सभी छोटे लड़के बैठे हैं, इनमें से किसी को तो ये सभी सन्त प्रमाण करते हैं और किसीको तो

---

१. ब्रह्मरूप २. देव मनुष्य आदि आकार रहित। ३. सक्रिय

४. भगवान की शरण को पाये ५. अधिकार अनुसार

६. यह अभिप्राय गीता में ''**त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्। यावनर्थ उदपाने सर्वत: समप्लुतोदके। तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानत:** ॥ इन दो श्लोक से कहा है।

नहीं करते हैं; और सभीकी अवस्था समान है और संग भी एक समान है और भोजन, वस्त्र, उपासना, शास्त्र, उपदेश, मन्त्र; ये सभीके एक समान हैं; तो भी जो न्यूनाधिकता रह गई है, उसका क्या कारण है ? और जो सन्त हैं वे तो समदृष्टिवाले हैं और निष्पक्ष हैं और धर्मवाले हैं । वे तो जो जैसा है उसे वैसा कहते हैं, इसलिए इसका उत्तर कहिए ?'' फिर स्वयं ने ही इसका उत्तर किया कि ''जिसकी सन्त प्रशंसा करते हैं उसीको श्रद्धा है, इसलिए धर्म-पालन करने में उसकी वृद्धि रहती है, और उसे सन्त की सेवा करने में तथा भगवान की बात सुनने में भी श्रद्धा है और सन्त में विश्वास है, इसलिए वह आगे बढ़ गया। और जो ऐसे सन्त समागम में रहते हुए भी आगे नही बढ़ा, वह श्रद्धा रहित है, ऐसा जानें ।''

॥ इति वचनामृतम् लोया ॥८॥११६॥

वचनामृत ९ : 'धर्मादिक चारों को उत्पन्न होने के हेतु का'

संवत्* १८७७ के मार्गशीर्ष शुक्ल ६ षष्ठी के दिन श्रीजीमहाराज गाँव श्रीलोया स्थित सुरा भक्त के राजभवन में विराजमान थे । उन्होंने सफेद छींट की मिरजई पहनी थी, श्वेत सुरवाल पहना था, सफ़ेद फेंटा मस्तक पर बाँधा था और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''सभी परमहंस परस्पर प्रश्न उत्तर करिए।'' तब आत्मानन्द स्वामी ने अखण्डानन्द स्वामी को प्रश्न पूछा कि ''वैराग्य, ज्ञान, भक्ति और धर्म; इन चारों को उत्पन्न होने का हेतु क्या हैं ?'' फिर उसका उत्तर श्रीजीमहाराज ने किया कि ''वैराग्य तो इस प्रकार उत्पन्न होता है कि यदि काल का स्वरूप जानने में आ जाये । तब काल का स्वरूप तो क्या है? तो नित्य प्रलय को जाने, नैमित्तिक प्रलय को जाने, प्राकृत प्रलय को जाने और आत्यन्तिक प्रलय को जाने तथा ब्रह्मादिक से स्तंबपर्यन्त समस्त जीवों के आयुष्य को जाने और ऐसा जानकर पिण्ड-ब्रह्माण्ड समस्त पदार्थ को काल का

*दि. ११-१२-१८२०, सोमवार

भक्ष्य समझा जाये, तब वैराग्य उत्पन्न होता है । और ज्ञान तो इस प्रकार से होता है कि यदि बृहदारण्यक, छान्दोग्य, कठवल्ली आदिक जो उपनिषद् तथा भगवद् गीता तथा वासुदेवमाहात्म्य तथा व्याससूत्र इत्यादिक ग्रन्थों का सद्गुरु से श्रवण करें तो ज्ञान उत्पन्न होता है । और धर्म तो इस तरह से उत्पन्न होता है, यदि याज्ञवल्क्य स्मृति, मनु स्मृति, पराशर स्मृति, शंखलिखित स्मृति इत्यादि स्मृतियों का श्रवण करें तो धर्म उत्पन्न होता है और उसमें निष्ठा आती है । और भक्ति इस प्रकार उत्पन्न होती है कि भगवान की जो विभूतियाँ हैं, उन्हें जानें। उसे कैसे जाने ? तो खण्ड-खण्ड प्रति भगवान की जो मूर्तियाँ रही हैं, उनका श्रवण करें तथा भगवान के गोलोक, वैकुण्ठ, ब्रह्मपुर, श्वेतद्वीपादिक धाम हैं, उन्हें सुनें तथा जगत की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयरूप जो भगवान की लीला है, उसे माहात्म्य सहित सुनें तथा राम-कृष्णादिक भगवान के जो अवतार हैं, उनकी जो कथाएँ, उन्हें स्नेह सहित सुनें, **तब भगवान में भक्ति उत्पन्न होती है ।** और इन चारों में जो धर्म है, वह तो कच्ची[१] बुद्धि हो और पहले से ही कर्मकाण्डरूप जो स्मृतियाँ है, उनका श्रवण किया जाय तो उत्पन्न होता है, और जब धर्म में दृढ़ता होती है, उसके बाद उपासना के ग्रन्थ का श्रवण किया जाय, तब उसे ज्ञान, भक्ति, वैराग्य ये तीनों उत्पन्न होते हैं; इस तरह से इन चारों को उत्पन्न होने का हेतु है ।''

॥ इति वचनामृतम् लोया ॥९॥११७॥

वचनामृत १० : 'निर्विकारी रहने का'

संवत्* १८७७ के मार्गशीर्ष शुक्ल ८ अष्टमी के दिन श्रीजीमहाराज गाँव श्रीलोया स्थित सुराखाचर के राजभवन में पलंग पर प्रातःकाल के समय विराजमान थे । उन्होंने सफ़ेद छींट की मिरजई पहनी थी, सफ़ेद सुरवाल पहना था, श्वेत फेंटा मस्तक पर बाँधा था और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

*दि. १३-१२-१८२०, बुधवार **१.** अपरिपक्व

उस समय में नित्यानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''इस जगत में कितने ही मनुष्य को स्त्रीआदिक पदार्थ में ऐसा स्नेह होता है कि उनका वियोग हुआ हो तो प्राण का त्याग हो जाता है; और कितने ही को स्त्रीआदिक पदार्थ में स्नेह है, परन्तु साधारण है, इसलिए उनके वियोग से प्राण का त्याग नहीं होता है; ये दो प्रकार के जीव हैं । तो जिस तरह संसार में स्नेह से जुड़ जाते हैं; उस तरह उस स्नेहवाले को यदि भगवान मिल जाये तो उनमें भी वैसे ही जुड जाता है कि भगवान का वियोग हो तो प्राण निकल जाय; और जिसे संसार में साधारण स्नेह है और उसे यदि भगवान मिले तो भगवान में भी साधारण स्नेह होता है। तो ये दो प्रकार के जो मनुष्य, उनमें कर्म के द्वारा ऐसा भेद है अथवा ये दो प्रकार के जीव अनादि के ही हैं ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''यह भेद जीव में स्वभाविक नहीं है, वह तो कर्म से होता है । तो किस तरह से होता है ? तो जीव जब कर्म करता है तब जीव की वृत्ति का वेग तीन प्रकार से होता है : एक मन्दवेग, दूसरा मध्यमवेग और तीसरा तीव्रवेग । इनमें जिस प्रकार के वेग से वृत्ति पदार्थ में लग जाती[१] है, तब उसे उसी प्रकार का कर्म लगता है, उस कर्म के द्वारा स्नेह में भी तीन प्रकार है ।''

तब फिर नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि ''वृत्ति के वेग में ये तीन प्रकार हुए, वे गुण के द्वारा हुए, कि किसी दूसरे हेतु से हुए ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''ये तीन प्रकार के जो भेद, वे गुण के द्वारा नहीं है; वे तो जिस पदार्थ में केवल इन्द्रियाँ ही प्रवृत्त होती हैं, तब मन्दवेग होता है और जब मन सहित इन्द्रियाँ पदार्थ में जाती हैं, तब मध्यमवेग होता है और जब इन्द्रियाँ, मन और जीव; ये तीनों मिलकर पदार्थ में प्रवृत्त होते हैं, तब उस वृत्ति का तीव्रवेग होता है । वह तीव्रवेग एक चक्षु इन्द्रिय में लगा हो, तो दूसरी इन्द्रियाँ उसे अनुवर्ति होकर उन सभी इन्द्रियों में लगता है । इस तरह से जिन इन्द्रियों में मुख्यरूप से तीव्रवेग लगा हो तब दूसरी इन्द्रियाँ उसे अनुवर्ति हो जाती हैं । यह जो तीव्रवेग है, वह रजोगुणी, सत्त्वगुणी और तमोगुणी इन तीनों को लगता है । एक-एक

१. चिपक जाती है ।

इन्द्रिय में तो सभीको तीव्रवेग होता है और उसके अनुसार पदार्थ में स्नेह होता है ।''

तब फिर नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि ''उसे भगवान में क्यों तीव्रवेग से स्नेह नहीं होता है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''देश, काल, क्रिया, ध्यान, शास्त्र, दीक्षा, मन्त्र और संग; इतने के योग से[१] शुभ अथवा अशुभ आचरण होता है। वह यदि शुभ देश, काल, संगादिक प्राप्त हुए हों, तो भगवान में भी तीव्रवेग से स्नेह होता है और यदि अशुभ देशादिक का योग हो जाये तो भगवान बिना अन्य पदार्थ में प्रीति होती है ।''

तब चैतन्यानन्द स्वामी ने पूछा कि ''काल विषम हो तब क्या करें ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''जब जिस स्थल में काल की विषमता हो तब उस स्थल से अन्य स्थल पर भाग[२] जाये, परन्तु विषम काल में न रहें । और काल सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलिरूप से बाहर रहता है और अपने अन्तर में भी रहता है । तो जब हृदय में कलि व्याप्त रहा हो तब भगवान की मूर्ति हृदय में धारण न करें, बाहर नेत्र के आगे धारण करें ।''

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''जिसके हृदय में मन्दवेग, मध्यमवेग और तीव्रवेग चलता हो, उसे कैसे जाने ?'' पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''जब मन्दवेग चलता हो तब छोटी बालिका तथा नव यौवनवाली स्त्री तथा वृद्ध स्त्री; इन तीनों को देखकर समान भाव रहता है; क्योंकि, वहाँ अकेली इन्द्रियों की ही वृत्ति प्रवृत्त हुई है, इसलिए उसमें मन्दवेग है । जब इन्द्रियों में मन जुटता है और ये तीन प्रकार की स्त्रियों को देखता है, तब बालिका और वृद्धा स्त्री, उनका तो अशुभ संकल्प नहीं होता है, और युवान स्त्री के प्रति अशुभ संकल्प होता है और विकार को प्राप्त हो जाता है, उसे मध्यमवेग जानें । जब इन्द्रियों में मन तथा जीव ये दोनों साथ मिलकर इन तीन प्रकार की स्त्रियों को देखता हैं, तब तो ये तीनों प्रकार की स्त्रियों के प्रति अशुभ संकल्प होते हैं और विकार

१. सम्बन्ध से २. चले

को प्राप्त हो जाता है, और अपनी माँ-बहन हो तो उन्हें देखकर भी विकार को प्राप्त होता है, उसे तीव्रवेग जानें[१]'

फिर ब्रह्मानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''ये तीन प्रकार की जो स्त्रियाँ, उन्हें देखकर भेद[२] दिखाई देता है तथा रूप-कुरूप भी दिखाई देता है पर विकार तो होता नहीं है, तब उसे[३] कौन-सा वेग जानें[४]?'' पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि[५] ''जिस पदार्थ को अत्यन्त दुःखदायी जानकर मनन हुआ हो, फिर उस मनन से उस पदार्थ में अत्यन्त दोष दिखाई देता है। उस दोष का मनमें विचार होकर जीव में वह दोष प्रवेश करता है और जीव से पर जो साक्षी है, उन्होंने भी उस दोष का प्रमाण किया है, इससे उस दोष की अति दृढ़ता हुई है। इसलिए पदार्थ में जब इन्द्रियों की वृत्ति प्रवृत्त होती है, तब उस वृत्ति के साथ मन तथा जीव ये दोनों आते हैं, परन्तु जीव में जो, अतिशय दोषों की दृढ़ता है वह दोषों की धारा[६] मन-इन्द्रियों में आरपार निकलती है; इसलिए वह पदार्थ यथार्थरूप से दिखता है और जानने में आता है, परन्तु उसमें अत्यन्त अभाव आ जाता है। जैसे दूध-मिश्री का पात्र भरा हो और उसमें साँप ने लार डाली हो और उसे डालते हुए देखा हो, फिर वह दूध पहले दिखाई देता था, वैसा का वैसा ही दिखाई देता है, परन्तु उसका अति अभाव हृदय में रहता है; क्योंकि, उसने ऐसा जाना है कि 'इसे पी ले तो तत्काल प्राण निकल जायेगा।' उस तरह जिसने ऐसा समझ लिया हो कि 'यह रूपवती स्त्री है वह कल्याण के मार्ग में विरोधी

---

१. इस तरह दूसरी इन्द्रियाँ में भी तीन प्रकार का वेग जान लें।

२. यौवनादिक अवस्था का भेद - विभाग, बाल्यादि अवस्था की विक्ति, भेदज्ञान।

३. चक्षु में।

४. स्त्री के रूप-अवस्था की विक्ति यथार्थ जानी जाती है, इसलिए तीव्र वेग है, ऐसा जानने में आता है, पर तीव्रवेग का कार्य जो क्षोभ वह होता नहीं, इसलिए तीन वेग में से कोनसा वेग होगा, ऐसे संशय के कारण प्रश्न पूछा है।

५. यह वेग तीव्र है ऐसा जाने। लेकिन वह वेग सदोष है इसलिए उसके कार्यभूत मनःक्षोभ में तीव्रता नहीं है। वेग में जिस प्रकार से दोष का प्रवेश होता है, वह प्रकार इस तरह है कि।

६. दोषरूप वृत्ति।

है, इसलोक–परलोक में परम दुःखदायी है, स्त्री की प्राप्ति तो मुझे सभी पशु आदिक जन्म में अनन्तबार हुई है, और अब भी यदि परमेश्वर का भजन नहीं करूँगा तो अनन्त स्त्रियों की प्राप्ति होगी, इसलिए यह बात दुर्लभ नहीं है। भगवान तथा भगवान के सन्त, उनका संग तो महादुर्लभ है और उस दुर्लभ वस्तु की प्राप्ति में वह स्त्री ही परम विघ्नरूप है।' ऐसा जानकर जो हृदय में दोष की दृढ़ता हुई है, तो चाहे ऐसी रूपवान स्त्री दिखाई दे तो भी विकार नहीं होता है।

और फिर उसमें अविकारी रहने का दूसरा भी कारण है। जिस तरह जनक विदेही जैसे भगवान के जो बड़े[१] भक्त राजा थे, वे राज्य में रहते थे तथा रमणीय ऐसे जो शब्दादिक पञ्चविषय, उन्हें भोगते हुए भी ज्ञान की दृढ़ता से निर्विकार रहे। और उन जनक जैसे जो ज्ञानी हों, वे ऐसा विचार करते हैं कि 'में आत्मा हूँ, शुद्ध हूँ, चेतन हूँ, निर्विकार हूँ, सुखरूप हूँ, अविनाशी हूँ और स्त्री आदिक जो विषय हैं वे तो दुःखरूप हैं, तुच्छ हैं, जड़ हैं और नाशवान् हैं।' ऐसा विचार करके केवल अपने आत्म–स्वरूप को ही सुखरूप जानता है। और **शब्दादिक विषय में जो सुख जैसा लगता है और अच्छा जैसा लगता है, वह आत्मा की वजह से लगता[२] है और आत्मा देह में से निकल जाये तब जो सुखरूप है वह अनिष्ट[३] हो जाता है।'** इस तरह से अपनी आत्मा का विचार करें और आत्मा से पर जो परमात्मा, उनका विचार करें कि 'ऐसा जो माया से पर शुद्ध आत्मा का ज्ञान, उसे मैंने प्राप्त किया है, वह सन्त के प्रताप से प्राप्त हुआ है; और वे सन्त परमेश्वर के भक्त हैं और परमेश्वर हैं, वे तो सर्वात्मा[४] ऐसे जो ब्रह्म[५] उनकी भी आत्मा हैं, और अक्षर[६] की भी आत्मा हैं, और अनन्तकोटि जो मुक्त उनकी भी आत्मा हैं। ऐसे जो परब्रह्म परमात्मा नारायण उनका मैं ब्रह्मरूप ऐसा दास हूँ।'

---

१. महान २. प्रतीत ३. अति दुःखरूप ४. सर्व में व्यापक

५. निरवयव अक्षरब्रह्म ६. सावयव अक्षरधाम

उन भगवान की महिमा तो ऐसे समझें कि **'द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया त्वमपि ।**[१] इत्यादिक श्रुति ने भगवान की महिमा का अतिशय प्रतिपादन किया है । इस तरह से अपने स्वरूपका तथा परब्रह्म के स्वरूप का जिसे ज्ञान है, उसे चाहे ऐसे सुन्दर विषय प्राप्त हों, तो भी उससे[२] कुछ लेशमात्र भी उसका मन विकार को प्राप्त नहीं होता है । अवश्य जो शब्दादिक विषय ग्रहण करने योग्य हों, उन्हें ग्रहण तो करता है परन्तु उन विषयों के आधीन नहीं हो जाता, स्वतन्त्ररूप से ग्रहण करता है । जैसे मकड़ी अपनी लार को फैलाकर पुनः स्वतन्त्ररूप से स्वेच्छा से निगलना हो तब निगल लेती है; **उस तरह ऐसा जो ज्ञानी है, वह अपनी इन्द्रियों की वृत्ति को विषय में फैलाकर पुनः स्वतन्त्र होता हुआ समेट लेता है । ऐसा जो हो, वह राज्य[३] में होने पर भी वन में है और वन में रहने पर भी उसे राज्य से अधिक आनन्द है ।** ऐसा जो ज्ञानी है, वह राज्य में रहा हो और हजारों मनुष्य अपनी आज्ञा में रहते हों, और समृद्धि से युक्त हो, उससे अपने को कुछ ऐसा नहीं मानता है कि 'मैं बहुत बड़ा हो गया हूँ ।' और उस राज्य का नाश हो जाये और हाथ में मिट्टी का पात्र लेकर घर-घर माँगकर खाता हो, तो उससे ऐसा नहीं मानता है कि 'मैं अब तो गरीब हो गया, क्योंकि; **वह तो अपने कैफ में महा अलमस्त रहता है । तथा उसने अपने स्वरूप की तथा भगवान के स्वरूप की महिमा जान ली है; इसलिए उसे सोना, कूड़ा, लोहा, पाषाण इन सभी में समान बुद्धि रहती है तथा मान-अपमान में समबुद्धि रहती है । ऐसा जो ज्ञानी है, उसे कोई भी पदार्थ बन्धन करने में समर्थ नहीं है; क्योंकि, उसकी दृष्टि तो अति विशाल हो चुकी है** और मायिक सभी पदार्थ तुच्छ जान लिए हैं । जैसे कोई पुरुष पहले कंगाल हो और फिर उसे राज्य मिलता है तब उसकी दृष्टि विशाल[४] हो जाती है । और पहले लकड़ी के गट्ठर बेचता हो तथा दूसरे तुच्छ-तुच्छ काम करता हो, वे सभी उसे भूला जाते हैं और बड़े-बड़े राज्य सम्बन्धी कार्य करने

१. स्वर्गाधिपति ब्रह्मादि देव भी आप की महिमा के पार को पाते नहीं हैं, क्योंकि वह अपार है। परन्तु आप भी आपकी महिमा के पार को पाते नहीं हैं । (भा. १०/८७/४१)

२. उत्तम विषय से । ३. राज-प्रशासन करता हुआ भी । ४. बड़ी, बृहत्

लगता है; उस तरह ऐसे ज्ञानी को सभी पदार्थ मात्र तुच्छ हो जाते हैं और ऐसे ज्ञान में उसकी विशाल दृष्टि होती है । इस तरह से जिसने समझ लिया है वह सुखी है । तथा जो विश्वासी हो, अर्थात् ऐसा समझता हो कि **'ऐसे बड़े[१] सन्त तथा भगवान जो बात कहते हैं, वह ऐसा ही[२] है, परन्तु इसमें कुछ संशय नहीं है ।' ऐसा समझकर भगवान तथा सन्त जैसा कहे वैसा वह करने लगता है, ये दो जन ही सुखी हैं,** और इनके बिना जो दूसरे हैं, वे सुखी नहीं हैं । वहाँ श्लोक है :-

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः ।
तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥[३]

तथा भगवद्गीता में कहा है कि

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥[४]

इस तरह जिसकी अलौकिक दृष्टि होती है, उसे परमेश्वर बिना सभी पदार्थ तुच्छ हो जाते हैं । और ये जो दो श्लोक हैं, उनका भी एक समान भाव है ।''

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से कहा कि ''हे महाराज ! अब आप जो प्रश्न पूँछ रहे थे उसे पूछिए ।'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'माया में तो केवल दुःख है कि सुख भी कुछ है ?' यह प्रश्न है ।'' पश्चात् मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'माया तो केवल दुःखदायी है ।' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''माया में से उत्पन्न हुए ऐसे जो सत्त्व, रज और तम; ये तीन गुण, उनमें

१. महान् २. यथार्थ

३. जो भक्त इस लोक में (श्रुति-स्मृति के अर्थ जानने में) मूढतम अर्थात् अति अज्ञानी है, फिर भी भगवद् भक्त के वचन में विश्वास रखकर भजन करते है और जो बुद्धि से पर आत्मा-परमात्मा के स्वरूप को पा चुका है; वे दोनों सुखपूर्वक वृद्धि प्राप्त करते हैं । बाकी के सब ही मात्र स्वकृत कर्मफल के अनुसार दुःख पाते हैं । (भाग. ३/७/१७)

४. श्रोत्रादिक इन्द्रियाँ के श्रवण आदि आहार को न करनेवाला देही (आत्मा) के राग वर्जित विषयों निवृत्त होते हैं । परन्तु राग निवृत्त नहीं होता । और वह रस भी परमस्वरूप को देखकर निवृत्त होता है । — (गीता : २/५९)

जो सत्त्व है वह तो सुखरूप कहलाता है । तथा श्रीमद् भागवत में कहा है कि **'सत्त्वं यद् ब्रह्मदर्शनम्'**[१] तथा सत्त्वगुण की सम्पत्ति तो ज्ञान, वैराग्य, विवेक, शम-दमादिक हैं । तो ऐसी जो माया, वह किस तरह से दुःखरूप है ? और फिर एकादशस्कन्ध में कहा है कि

विद्याऽविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव ! शरीरिणाम् ।
मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते ।।[२]

इसलिए मोक्ष को करनेवाली ऐसी जो विद्यारूप माया, वह किस तरह से दुःखदायी है ?' फिर इस प्रश्न को सुनकर मुक्तानन्द स्वामी आदिक सभी परमहंस बोले कि ''हे महाराज ! इसका उत्तर हम से होगा नहीं, इसका उत्तर तो कृपा करके आप ही कीजिए ।'' पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''जैसे यमराज का जो रूप है, वह पापी जीव को अति भयानक, विकराल दिखाई देता है, बड़े-बड़े दाँत और बड़ा मुख भयानक दिखता है, काजल जैसा काला और पर्वत जैसा बड़ा और काल जैसा भयानक ऐसा दुःखरूप दिखता है । और पुण्यवाले जो जीव, उन्हें तो उस यमराजा का रूप अतिशय सुखदायी विष्णु के जैसा दिखाई देता हैं[३], उस तरह माया है, वह जो भगवान से विमुख है उसे तो अति बन्धन करनेवाली है और अति दुःखदायी है और जो भगवान के भक्त हैं, उन्हें तो वह माया अतिशय सुखदायी है । माया के कार्य जो इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और देवता, वे सभी भगवान की भक्ति को अति पुष्ट करते हैं, **इसलिए भगवान के भक्त को तो माया दुःखदायी नहीं है, परम सुखदायी है ।''**

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''जब माया सुखदायी है तब परमेश्वर का भक्त होता है, वह भगवान की मूर्ति को हृदय में धारण करके भजन

---

१. सत्त्वगुण है वह ब्रह्म का दर्शन करानेवाला है । (भाग. १/२/२४)

२. हे उद्धव ! विद्या और अविद्या दोनों मेरे शरीरभूत है । वे मेरी माया संकल्प से निर्मित आदिभूत है, वे बँधन और मोक्ष करनेवाली है । विद्या मोक्ष एवं अविद्या बँधन करती है ।

(भाग. ११/११/३)

३. **'शिवः शिवानामशिवोऽशिवानाम्'** - सनत्सुजातीयदर्शनम् ।

करने बैठता है तब उसे अन्तःकरणरूप माया संकल्प-विकल्परूप से क्यों दुःख देती है ?'' पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''भगवान का माहात्म्य अच्छी तरह से समझकर, जिसे भगवान का अतिशय दृढ़ आश्रय हो, उसे तो अन्तःकरणरूप माया दुःख नहीं देती है; और जिसे ऐसे आश्रय में फर्क[1] हो, उसे दुःख देती है। जैसे कच्चा[2] सत्संगी है, तो उसे जो कुसंगी हैं, वे डिगाने का आग्रह करते हैं, परन्तु जो पक्का[3] सत्संगी हो, उसे डिगाने की कोई लालच नहीं रखते हैं और उसे सुनते कोई सत्संग का निम्न वचन बोल नहीं पाते। उस तरह जिसे परमेश्वर का ऐसा परिपक्व आश्रय हुआ है, उसे डिगाने की लालच अन्तःकरणरूप माया रखती नहीं है और खुद उसकी भक्ति में पुष्टि करने लगती है। जिस के जीव में ऐसे आश्रय में कोई अपरिपक्वता रहती है, उसे वह माया डगमगाती है और दुःख देती है। जब वही जीव इस तरह से भगवान का परिपक्व आश्रय करेगा तब उसे डिगाने के लिए तथा दुःख देने के लिए माया समर्थ नहीं होगी। इसलिए इसका उत्तर यह ही है कि ''**जिसे भगवान का ऐसा परिपक्व निश्चय है, उसे किसी तरह से माया दुःख देने में समर्थ होती ही नहीं है।**'

॥ इति वचनामृतम् लोया ॥१०॥११८॥

वचनामृत ११ : 'सत्पुरुष और असत्पुरुष की समझ का'

संवत्* १८७७ के मार्गशीर्ष कृष्ण ८ अष्टमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज गाँव श्रीलोया स्थित सुराखाचर के राजभवन में प्रातःकाल के समय विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख साधु तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज से शुकमुनि ने प्रश्न पूछा कि ''श्रीमद् भागवत तथा भगवद्गीता इत्यादिक जो सत्शास्त्र हैं, उनसे जो असत्पुरुष हैं, वे कैसी समझ का ग्रहण करते हैं ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''इसका उत्तर करते हैं कि असत्पुरुष की ऐसी समझ है कि इस विश्व में स्थावर-जंगमरूप ऐसी जो स्त्री-

*दि. २८-१२-१८२०, गुरुवार

१. न्यूनता, कमी २. अपरिपक्व ३. परिपक्व

पुरुष की सभी आकृतियाँ हैं, वे तो विराटरूप ऐसे जो आदिपुरुष नारायण, उनसे माया के द्वारा उत्पन्न हुई हैं, इसलिए ये सभी आकृतियाँ उन नारायण की ही हैं। इसलिए जो मुमुक्षु कल्याण का इच्छुक हो, वह प्रथम अपने मन को वश करें। वह मन तो जो स्त्रियाँ तथा पुरुषरूप ऐसी उत्तम-नीच जो-जो आकृतियाँ हैं, उनमें आसक्त हो, तब वह उसी आकृति का मन में ध्यान करे, तो उसे सद्य समाधि होती है; और उस आकृति में यदि मन दोष की कल्पना करता है, तो उनमें ब्रह्म की भावना लाए कि 'समग्र जगत तो ब्रह्म है,' ऐसा विचार करके उस संकल्प को मिथ्या कर दे। इस तरह से सत्शास्त्र में से अनुभव का जो ग्रहण करना, वह असत्पुरुष की समझ हैं। और ऐसा समझना वह उनके मन का अति दुष्ट भाव है और उसका फल अन्तकाल में घोरतम नरक है और संसृति है।''

तब फिर श्रीजीमहाराज से शुकमुनि ने प्रश्न किया कि ''उन सत्शास्त्रों से जो सत्पुरुष हैं, वे कैसी समझ का ग्रहण करते हैं ? उसे कहिए।'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''इन सत्शास्त्रों[१] में ही इस प्रश्न का उत्तर किया है कि एक पुरुषोत्तमनारायण के बिना दूसरे जो शिव-ब्रह्मादिक देवता हैं, उनका ध्यान, जो मोक्ष का इच्छुक हो, वे न करें और मनुष्य में तथा देवता में जो पुरुषोत्तमनारायण की राम-कृष्णादिक मूर्तियाँ हैं, उनका ध्यान करें। उनमें भी जो बुद्धिमान हैं, वे तो जिन स्थानक में इन राम-कृष्णादिक भगवान की मनुष्यरूप मूर्तियाँ रहती हैं, उन स्थानकों में वैकुण्ठ, गोलोक, श्वेतद्वीप, ब्रह्मपुर; इन लोकों की भावना करते हैं; और उन लोकों में रहे जो पार्षद, उनकी भावना

१. भविष्यपुराणान्तर्गत श्रीविष्णुधर्म में,

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ता जगदन्तर्व्यवस्थिताः । प्राणिनः कर्मजनितसंसारवशवर्तिनः ॥

यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः । अविद्यान्तर्गताः सर्वे ते हि संसारगोचराः ॥

पश्चादुद्भूतबोधाश्च ध्याने नैवोपकारकाः । नैसर्गिको न वै बोधस्तेषामप्यनन्यतो यतः ॥

तस्मात्तदमलं ब्रह्म निसर्गादिव बोधवत् ।

इत्यादि वचन से बद्ध और मुक्तों के ध्यान का निषेध करके एक परब्रह्म परमात्मा का ही ध्यान करने का कहा है।

राम-कृष्णादिक के पार्षद हनुमान-उद्धवादिक में करते हैं। और कोटि-कोटि सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि उनके प्रकाश जैसी प्रकाशमान ऐसी जो उन लोकों में रही पुरुषोत्तमनारायण की दिव्य मूर्तियाँ, उनकी भावना राम-कृष्णादिक में करते हैं। इस तरह से सत्शास्त्र से समझ का ग्रहण करके दिव्यभाव सहित मनुष्यरूप भगवान की मूर्ति का जो ध्यान करता है, उसे भगवान के अवतार की जो मूर्तियाँ हैं तथा उनके अतिरिक्त जो अन्य आकार उन दोनों में समभाव होता ही नहीं है। भगवान के अवतार की जो मूर्तियाँ हैं, वे हैं तो द्विभुज और उनमें चार भुजा की भावना, अष्ट भुजा की भावना कही है, वह भी भगवान की मूर्ति और उनके अतिरिक्त अन्य आकार, इन दोनों में जिस अविवेकी पुरुष को समभाव होता है, उसकी निवृत्ति के लिए कही है। और **जैसी भगवान की मूर्ति अपने को मिली हो उसीका ही ध्यान करें। पूर्व में भगवान के जो अवतार हो गए, उन मूर्तियों का ध्यान न करें।** और स्वयं को भगवान की जो मूर्ति मिली हो, उसी में ही पतिव्रता की तरह टेक[१] रखें। जैसे पार्वती ने कहा है कि '**कोटि जन्म लग रगड़ हमारी, बरऊँ शम्भु के रहूँ कुंआरी।**' इस तरह पतिव्रता भाव की जो टेक कही है, उसे भी भगवान का रूप तथा अन्य जीव के रूप, इन दोनों में अविवेकी पुरुष को जो समभाव होता है, उसकी निवृत्ति के लिए कही है; क्योंकि, **अपने को मिली जो मूर्ति है, उसे छोड़कर उनके ही पूर्व में परोक्ष अवतार हुए हैं, उनका यदि ध्यान करता है, तो वह भगवान बिना दूसरे जो देव-मनुष्यादि आकार हैं, उनका भी ध्यान करने लगता है। इसलिए पतिव्रता के जैसी टेक कही है,** परन्तु भगवान की मूर्तियों में भेद नहीं है। इस तरह सत्पुरुष की समझ है। **इसलिए जो सत्शास्त्र का श्रवण करना, उसे सत्पुरुष से ही करें, परन्तु असत्पुरुष से सत्शास्त्र का किसी दिन श्रवण न करें।**"

॥ इति वचनामृतम् लोया ॥११॥११९॥

१. दृढ़ता, एक निष्ठा

वचनामृत १२ : 'छः प्रकार के निश्चय का, सविकल्प-निर्विकल्प निश्चय का'

संवत्* १८७७ के मार्गशीर्ष कृष्ण ९ नवमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज गाँव श्रीलोया स्थित सुरा भक्त के राजभवन में रात्रि के समय विराजमान थे। उन्होंने ऊनी वस्त्र की लाल मिरजई पहनी थी, दूसरे सभी श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस की सभा तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज ने प्रश्न किया कि "भगवान का निश्चय दो प्रकार का है; एक सविकल्प और दूसरा निर्विकल्प और इन दोनों में भी उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ; ये तीन प्रकार के भेद हैं। ये दोनों मिलकर छः भेद हुए। इनके लक्षण पृथक्-पृथक् करके कहिए ?" फिर उसका उत्तर परमहंसों से हुआ नहीं। तब श्रीजीमहाराज बोले कि "**सविकल्प**(१) **निश्चय में कनिष्ठ भेद तो** यह है कि भगवान तो अन्य मनुष्य के समान काम, क्रोध, लोभ, स्वाद, मान इत्यादिक में प्रवृत्त होते हैं, तब तक तो भगवान का निश्चय रहता है, परन्तु यदि अधिक करते हैं तो रहता नहीं है(२)। और **मध्यम भेद** तो यह है कि मनुष्य से दुगुने कामादिक में अधिक प्रवृत्त हों तब तक भी निश्चय रहता है। और **उत्तम भेद** तो यह है कि भगवान नीच जाति की तरह चाहे ऐसा आचरण करें तथा मद्य, मांस, परस्त्री, क्रोध, हिंसा इत्यादिक चाहे ऐसा आचरण करें तो भी संशय नहीं होता है; क्योंकि, वह भक्त भगवान को ऐसे

*दि. २९-१२-१८२०, शुक्रवार

१. इस स्थान पर सविकल्प-निर्विकल्प शब्द यथाश्रुतार्थ न ग्रहण करें, किंतु अपनी आत्मा के अज्ञान से जन्य ऐसा जो दैहिकभाव उस में सविकल्प शब्द रूढ़ है, और सत्समागम जन्य ऐसी आत्मज्ञान की स्थिति में निर्विकल्प शब्द रूढ़ है, उसमें दैहिकभाव की तारतम्यता से निश्चय का तारतम्य है, इस से सविकल्प निश्चय में कनिष्ठ, मध्यम, उत्तम, ऐसे तीन भेद होते है, और आत्मज्ञान की स्थिति के तारतम्य से निर्विकल्प निश्चय में तीन भेद होते है, उसमें प्रथम सविकल्प निश्चय के भेद का लक्षण कहते हैं।

२. मनुष्यों की अपेक्षा अधिक कामादि भाव प्रकट करने पर वह निश्चय नहीं रहता।

समझता है कि 'भगवान तो सभीके कर्ता हैं, परमेश्वर हैं और सभीके भोक्ता हैं इसलिए जो-जो क्रियाएँ प्रवृत्त होती हैं, वे अन्वयरूप से नियन्ता होकर सभी[१] में रहे जो भगवान हैं, उनसे ही प्रवृत्त होती हैं, तब यह तो थोड़ी सी ऐसी नीच जैसी क्रिया की, इससे उन्हें कोई[२] बाध नहीं; क्योंकि, वे तो सर्वकर्ता हैं ।' इस तरह भगवान में सर्वेश्वरपना जानता है, इसलिए उसे **उत्तम सविकल्प निश्चयवाला** भगवद् भक्त कहते हैं ।

और अब निर्विकल्प में कनिष्ठ भक्त कौन सा ? तो भगवान को सभी शुभ-अशुभ क्रियाएँ करते देख ले, तो भी ऐसा समझता है कि सभी क्रियाओं को करते हैं तो भी अकर्ता हैं; क्योंकि, वे भगवान तो ब्रह्मरूप हैं । वह ब्रह्म कैसा है ? तो आकाश की तरह सभी में रहता है और सभी की क्रियाएँ उनमें ही होती हैं ।' ऐसा जो ब्रह्मत्व, उसे भगवान में जानता है । जैसे रासपञ्चाध्यायी में शुकजी के प्रति परीक्षित राजा ने प्रश्न पूछा कि 'धर्मरक्षक भगवान का अवतार, उन्होंने परस्त्री का संग क्यों किया ?' तब इसका उत्तर शुकजी ने किया कि 'श्रीकृष्ण तो अग्नि के समान तेजस्वी हैं, वे जो-जो शुभ-अशुभ क्रियाएँ करते हैं, वे सभी भस्म हो जाती हैं ।' इस तरह भगवान को निर्लेप ऐसा ब्रह्मरूप जानता है, उसे **कनिष्ठ निर्विकल्प निश्चयवाला** कहते हैं । और श्वेतद्वीप में रहे जो षट् ऊर्मि[३] से रहित ऐसे निरन्नमुक्त, उनके जैसा स्वयं होकर वासुदेव की उपासना करता है, उसे **मध्यम निर्विकल्प निश्चयवाला** कहते है । और **अष्टावरण से युक्त ऐसे जो कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हैं, वे जो अक्षर में अणु की तरह प्रतीत होते हैं, ऐसा जो पुरुषोत्तम नारायण का धामरूप अक्षर, उन रूप से स्वयं रहता हुआ पुरुषोत्तम की उपासना करता है, उसे उत्तम निर्विकल्प निश्चयवाला कहते है**[४] ।''

---

१. समस्त भूतप्राणीमात्र में ।

२. किसी प्रकार का

३. १. भूख २. प्यास ३. शोक ४. मोह ५. जरा-वृद्धावस्था ६. मृत्यु

४. इस निश्चयभेदों की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता जानें ।

तब चैतन्यानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज ! इस तरह निश्चय के भेद किस से हुए हैं ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''जब मुमुक्षु प्रथम गुरु के पास आता है, तब वक्ता जो गुरु उनमें देश, काल, संग, दीक्षा, क्रिया, मन्त्र, शास्त्रादिक का जो शुभ-अशुभ भाव तथा अपनी जो श्रद्धा, उसकी जो मन्द-तीक्ष्णता, उस से ऐसे भेद हो जाते हैं । इसलिए शुभ देशादिक का सेवन करें तथा वक्ता भी यथार्थ शान्त[१] हो और उसमें कोई दोष न हो, उस समय उससे ज्ञान सुनें ।''

तब फिर चैतन्यानन्द स्वामी ने पूछा कि ''कदाचित् किसी योग वशात् कनिष्ठ निश्चय हुआ हो, उसे पुनः फिर से उत्कृष्ट निश्चय होता है कि नहीं ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''यदि श्रोता को उत्कृष्ट श्रद्धा उत्पन्न हो तथा शुभ देशादिक प्राप्त हो तथा उत्कृष्ट ज्ञानवाला वक्ता मिले तो सर्वोत्कृष्ट निश्चय होता है, नहीं तो जन्मान्तरों में उत्कृष्ट निश्चय को प्राप्त होता है ।''

॥ इति वचनामृतम् लोया ॥१२॥१२०॥

वचनामृत १३ : 'देशकाल से पराभव न हो, उसका'

संवत्* १८७७ के मार्गशीर्ष कृष्ण १० दशमी के दिन प्रातःकाल के समय श्रीजीमहाराज गाँव श्रीलोया स्थित सुराखाचर के राजभवन में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने सिर पर श्वेत फेंटा बाँधा था, दूसरे सफेद फेंटा की बोकानी बाँधी थी, ऊनी वस्त्र की लाल रंग की मिरजई पहनी थी, श्वेत खेस पहना था, शाल (चौफाल) ओढ़ी थी और अपने मुखारविन्द के आगे परमहंस की सभा तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि ''बड़े-बड़े परमहंस परस्पर प्रश्न-उत्तर कीजिए ।'' तब गोपालानन्द स्वामी ने ब्रह्मानन्द स्वामी से प्रश्न पूछा कि ''कैसा पुरुष हो उसे देश, काल, क्रिया, संगादिक से पराभव नहीं होता है और कैसा

---

*दि. ३०-१२-१८२०, शनिवार

१. राग-द्वेषादिक मायिक भावों से रहित ।

हो उसे होता है ? और सुनने में तो ऐसा आता है कि ब्रह्मा को भी सरस्वती को देखकर मोह हुआ था और शिवजी को भी मोहिनी के दर्शन से मोह हुआ था ।' इसलिए विचार करके उत्तर करिए; क्योंकि, ऐसे बड़े को भी देश-कालादिक से पराभव हुआ है ।'' फिर इसका उत्तर ब्रह्मानन्द स्वामी करने लगे, परन्तु हुआ नहीं । तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''इसका उत्तर यह है कि नाड़ी-प्राण सिमटकर[१] निर्विकल्प स्थिति से श्रीनारायण के चरणारविन्द में रहता हो, तो तुच्छ जैसा जीव हो उसे भी देश, काल, संगादिक से पराभव नहीं होता है और इसी तरह ब्रह्मादिक रहे हों तो उन्हें भी पराभव नहीं होता है । और इस तरह की स्थिति न हुई हो और देह में रहता हो, तो दूसरे जीव को पराभव होता है और ऐसे बड़े जो ब्रह्मादिक उन्हें भी होता है । और ऐसा न हो तो–

तत्सृष्टसृष्टसृष्टेषु कोऽन्वखण्डितधीः पुमान् ।
ऋषिं नारायणमृते योषिन्मय्येह मायया ॥[२]

इस श्लोक का अर्थ यथार्थ[३] नहीं बैठेगा । इसलिए उसमें[४] रहते हुए तो एक नारायण ऋषि को पराभव नहीं होता है और दूसरा तो चाहे कितना बड़ा हो और वह यदि नारायण के चरणारविन्द में निमग्न न रहता हो तो उसे पराभव होता है, और यदि निमग्न रहता है तो नहीं होता है । इस तरह से हमने हमारे अन्तर में अचल सिद्धान्त कर रखा है । उसे भागवत में कहा है कि–

एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः ।
न युज्यते सदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया ॥[५]

---

१. नियन्त्रित करके **२.** इस श्लोक में ब्रह्मा द्वारा सर्जित मरीच्यादिक, मरीच्यादिक द्वारा सर्जित कश्यपादिक और कश्यपादिक द्वारा सर्जित देव मानवादिक में से एक नारायण ऋषि को छोड़कर ऐसा कौन सा वीर पुरुष है जिसकी समझ स्त्रीरूप माया से खण्डित न हो ? बँधन में आये नहीं... (भाग. ३/३१/३७)

३. अच्छी तरह से, उचित **४.** अशुभ देशकालादिक संग में ।

५. जैसे भगवान के भक्त का भगवान के स्वरूप सम्बन्धी ज्ञान, भक्त के देह में रहे हुए निरन्तर परिणामादिक दोष से और जीव में रही अविद्यादि दोष से ग्रस्त नहीं होता है । वैसे परमेश्वर माया-प्रकृति और जीववर्ग में व्याप्त होकर रहे है, फिर भी प्रकृति के सत्त्वादि गुण से और जीव के

तथा भगवान ने कहा है कि

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥[१]

इस तरह माया के योग से निर्लिप्तता तो एक नारायण को ही है अथवा उन नारायण को निर्विकल्प भाव से जो प्राप्त हुआ हो, उसे भी पराभव नहीं होता है । और सविकल्परूप से यदि नारायण को प्राप्त हुआ हो, तो वह चाहे कितना बड़ा हो, उसे भी पराभव होता है ।''

इसके बाद नित्यानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! जब तक उन मुक्तों को गुण का सम्बन्ध है तब तक तो उन्हें देश-कालादिक से विपर्ययभाव[२] होता है और नारायण है वे तो गुण में रहते हुए देश-कालादिक से पराभव को प्राप्त नहीं होते हैं, यह तो ठीक है; परन्तु जब उन सभी मुक्तों को गुण का सम्बन्ध न हों और निर्गुणभाव से अक्षरधाम में रहे हों और नारायण भी वहाँ वैसे ही रहे हो, उस समय वे सभी चैतन्यमय हैं और निर्गुण हैं और **'मम साधर्म्यमागता:'**[३] इस तरह नारायण के साधर्म्यभाव को प्राप्त हुए हैं, ऐसे जो मुक्त और नारायण उनमें कैसे भेद समझा जाय ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जैसे चन्द्रमा है तथा तारा है, उनमें भेद है कि नहीं ? देखिए तो, प्रकाशरूप से[४] से समान नहीं है और बिम्ब में भी बहुत भेद है । सभी औषधियों का पोषण भी चन्द्रमा से ही होता है, परन्तु दूसरे तारों से नहीं होता है । रात्रि का अन्धकार भी चन्द्रमा से टलता है, परन्तु तारो से नहीं टलता है; उस तरह नारायण तथा मुक्तों में भेद है । और फिर जैसे राजा

ää अविद्या, अस्मिता रागद्वेषादि दोष से ग्रस्त नहीं होते । इतना परमेश्वर का परमेश्वरपना है। अर्थात् भक्त का भगवान के स्वरूप सम्बन्धी जो ज्ञान वह देह और आत्मा के दोष से नहीं लिप्त होता, तो जड़ और चेतन में अन्तर्यामीरूप में रहे हुए भगवान जड़ और चेतन प्रकृति के दोष से नहीं लिप्त होते, उस में कहना ही क्या ? (भाग. : १/११/३८)

१. इस सत्त्वादि गुणमय और दैवी ऐसी मेरी माया निःसंदेह तैरना बहुत कठिन है। परन्तु जो एकमात्र मेरी शरण में आता है, वह इस माया को तैर जाता है । – (गीता : ७/१४)

२. विचलितता, बन्धन **३.** मेरे साधर्म्य को प्राप्त हुए ऐसे पुरुष... (गीता : १४/२)

४. प्रकाशरूप धर्म से ।

और राजा के चाकर, वे मनुष्य जाति से समान हैं, परन्तु राजा का सामर्थ्य, ऐश्वर्य, रूप, लावण्य तो सर्वोपरि हैं; और जो राजा से होता है वह चाकर से नहीं होता, चाहे कैसा भी बड़ा हो, फिर भी नहीं होता है । उस तरह पुरुषोत्तम नारायण सर्वकर्ता हैं, सर्वकारण हैं, सर्वनियन्ता हैं, अति रूपवान हैं, अति तेजस्वी हैं, अति समर्थ हैं, और **कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्** समर्थ हैं; वे यदि अपनी इच्छा में आयें तो उन अक्षरधाम में रहे जो मुक्त हैं, उन सभी को अपने तेज में लीन करके स्वयं एक ही विराजमान रहते हैं, और चाहे तो उन समस्त मुक्तों के द्वारा सेवित होते हुए उनकी भक्ति को अंगीकार करते हैं और उनके सहित विराजमान रहते हैं । और **जिस अक्षरधाम में स्वयं रहते हैं, उस अक्षर को भी लीन करके स्वयं स्वराट् होते हुए अकेले ही विराजमान रहते हैं; और अपने मन में आये तो उन अक्षरधाम के बिना भी अनन्तकोटि मुक्त को अपने ऐश्वर्य से धारण करने में समर्थ हैं ।** जैसे पृथु भगवान ने पृथ्वी से कहा कि 'मेरे धनुष से निकले जो बाण, उससे तुझे मारकर अपने सामर्थ्य से इस समस्त जगत को धारण करने में मैं समर्थ हूँ ;' **उस तरह वे नारायण अपने ऐश्वर्य से सर्वोपरि रहते हैं । तो उन्हें और दूसरे अक्षरादिक मुक्त को जो समान कहते हैं, उन्हें दुष्ट मतवाले जानें, अतिपापी जानें और उनके दर्शन भी न करें ।** इस तरह की समझवाले का दर्शन करते हैं तो पञ्च महापाप जैसा पाप होता है । और उन नारायण को लेकर तो जिसमें बड़प्पन[१] कहेंगे उसमें सम्भव होता है । और उन्हें लेकर ब्रह्मा, शिव, नारद, सनकादिक, उन सभीको भगवान कहे जाते हैं । और उद्धवजी में उन नारायण को लेकर उद्धव को भगवान कहे जाते हैं, और **अभी यह मुक्तानन्द स्वामी जैसे सन्त में उन नारायण को लिया जाये तो वे भी भगवान जैसे कहलाते हैं;** और उन नारायण को लिए बिना तो अक्षर को भी भगवान नहीं कहा जा सकता, तो दूसरों की तो क्या बात कहें ?

१. महानता

और '**अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगतास्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव ! नेतरथा ।**'[१] इस वेद स्तुति के गद्य का भी यही अर्थ है । और यदि ऐसा न हो तो यह हम सभी हैं, तो इस देह से भिन्न जो आत्मा, उसे ब्रह्मरूप जानते हैं, और ज्ञान, वैराग्यादिक साधन से युक्त हैं, तब भी उन नारायण को प्रसन्न करने के लिए रात-दिन जागरण करते हैं और **कीर्तन-नाम स्मरण तो तालियाँ बजा-बजाकर हाथ की ऊँगलियाँ फट जायें ऐसा करते हैं तथा कथा-वार्ता रात-दिन करते-कराते रहते हैं,** तो यदि उन नारायण के समान बना जाये तो इतना प्रयास किस लिए करें ? इसलिए **उन नारायण जैसे तो एक नारायण ही हैं, परन्तु दूसरा कोई उनके जैसा नहीं होता है ।'** और '**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**[२] **।**' इस श्रुति का भी यही अर्थ है कि 'उन नारायण जैसे तो एक नारायण ही हैं । ऐसा समस्त शास्त्रों का सिद्धान्त है ।' इस तरह भक्तजनों की शिक्षा के लिए श्रीजीमहाराज ने वार्ता कही और स्वयं तो साक्षात् पुरुषोत्तमनारायण हैं ।

॥ इति वचनामृतम् लोया ॥१३॥१२१॥

वचनामृत १४ : 'रुचि का'

संवत्* १८७७ के मार्गशीर्ष कृष्ण ११ एकादशी के दिन श्रीजीमहाराज गाँव श्रीलोया स्थित सुरा भक्त के राजभवन में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने सिर पर सफेद फेंटा धारण किया था, सफ़ेद चद्दर ओढ़ी थी, श्वेत खेस पहना था और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस की सभा तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

---

*दि. ३१-१२-१८२०, रविवार

१. हे ध्रुव ! अपरिमित असंख्य और विभु अर्थात् व्यापक ऐसे जीवों को सर्वव्यापक मानने में आये है तो जीवात्मा और परमात्मा समान हुए । इन दोनों की समानता में नियाम्य-नियामकभाव कम न हो इसलिए यदि जीवों को सर्वव्यापक न मानने में आये तो ही शास्त्रोक्त नियाम्य-नियामक भाव सिद्ध होता है । अन्यथा नहीं... (भाग. १०/८७/३०)

२. (छान्दो. उप. ६/२/१)

तब श्रीजीमहाराज परमहंसों के प्रति बोले कि ''पूर्व में[१] आचार्य हो गए हैं, उन्हें पृथक्-पृथक् रुचि[२] है। उनमें शंकर स्वामी का अद्वैत ज्ञानांश[३] प्रधान दिखाई देता है । तथा **रामानुज का ऐसा मत है कि 'जीव, माया और पुरुषोत्तम; ये तीनों नित्य हैं; और पुरुषोत्तम हैं, 'वे जीव-माया के नियन्ता हैं और सभीके कारण हैं और अपने अक्षरधाम में सदा दिव्य आकार से विराजमान हैं और सभी जो अवतार हैं, वे उनके हैं; ऐसे जो पुरुषोत्तमनारायण उनकी उपासना जीव करें ।'** इस तरह से रामानुज की समझ दिखाई देती है। तथा वल्लभाचार्य को केवल भक्ति पर बहुत निष्ठा प्रतीत होती है । और इन सभी आचार्योंने अपने ग्रन्थों में प्रसंग के अनुसार[४] अन्य वार्ताएँ लिखी हैं, लेकिन किसी न किसी प्रकार से अन्त में तो अपनी रुचि पर जाते हैं। इस तरह उनके ग्रन्थों में उनके वचन हैं, जिससे उनका अभिप्राय यथार्थ जानने में आता है। उसी तरह हमारी वार्ता सुनकर आप सभी को हमारी कैसी रुचि प्रतीत होती है ? और जैसे सुई के पीछे पीछे धागा चलता है और फिर जैसे माला के मोतियों में धागा आर-पार निकलता[५] है, उस तरह हमारी जो सभी बातें हैं, उनमें कौन सा अभिप्राय निरन्तर आर-पार चला आता है ? तो जिसे जैसा प्रतीत होता हो, वे वैसा कहिए।'' तब सभी बड़े परमहंसों ने जिनको जैसा लगा उन्होंने वैसा कहा । फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''लीजिए, हम अपना अभिप्राय तथा रुचि, उसे कहते हैं। एक तो हमें यह रुचिकर हैं कि ऋषभदेव भगवान वासुदेव के साथ एकात्मता को प्राप्त हुए थे, तब भी जब सिद्धियाँ आकर प्राप्त हुई तब स्वयं भगवान थे, तो भी दूसरे त्यागी की शिक्षा के लिए उन सिद्धियों को ग्रहण नहीं किया। उसे श्रीमद् भागवत में कहा है कि 'योगी सिद्ध हुआ हो और अपना मन वश हुआ हो तो भी उस मन का विश्वास न करें। वहाँ श्लोक है –

---

१. प्राचीन काल में। २. मान्यता, ज्ञान भाग में भिन्नता का अलग तरीके से स्वीकार।
३. जीवात्मा परमात्मा का ऐक्यज्ञान। ४. प्रकरण अन्तर्गत ५. प्रत्येक मोती में धागा रहता है।

न कुर्यात्कर्हिचित्सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते ।
यद्विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम् ॥[१]
नित्यं ददाति कामस्य छिद्रं तमनु येऽरय: ।
योगिन: कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली ॥[२]

इस तरह से जो मन का विश्वास नहीं करता है, ऐसा त्याग हमें प्रिय हैं। तथा हमारे मन में श्वेतद्वीप एवं बद्रिकाश्रम जितने प्रिय हैं, उतने अन्य लोक[३] प्रिय नहीं लगते । और ऐसा मन में रहता है कि श्वेतद्वीप में तथा बद्रिकाश्रम में जाकर निरन्न रहते हुए तप किया जाय, वह बहुत अच्छा लगता है, परन्तु अन्य लोकों में अनेक प्रकार के वैभव को भोगना, वह अच्छा नहीं लगता । तथा भगवान के जो अनेक अवतार हुए हैं, उन्हें ऐसा जानते हैं कि वे सभी अवतार नारायण के हैं, फिर भी उन अवतारो में ऋषभदेवजी बहुत प्रिय[४] लगते हैं तथा उनसे कुछ कम कपिलजी तथा दत्तात्रेय ये दोनों समान लगते हैं और इन तीनों अवतार से कोटी गुना श्रीकृष्ण के प्रति हमें स्नेह हैं । और ऐसा जानते हैं कि दूसरे सभी अवतारों से यह अवतार बहुत बड़ा हुआ और बहुत समर्थ है और इसमें अवतार-अवतारी ऐसा भेद नहीं दिखाई देता ।' और दूसरे जो मत्स्य, कच्छादिक भगवान के अवतार हैं, परन्तु उनमें हमारी अति रुचि नहीं है । और इस तरह से तो हमें उपासना हैं कि सभीसे पर एक विशाल[५] तेज का समूह है, वह तेज का समूह अधो-ऊर्ध्व[६] तथा चारों ओर प्रमाण से[७] रहित

१. मन अति चंचल होने से उसके साथ कभी भी मित्रता वश विश्वास की ग्रंथी कभी भी न बाँधें। यह सोचकर कि 'मन मेरे वश में है' । क्योंकि मन का विश्वास करने से दीर्घकाल तक तपश्चर्या करके संपादन किया हुआ ऐश्वर्य नष्ट हुआ है ।

२. जो योगी अपने मन का विश्वास करता है, उस योगी का मन जरूर काम को प्रवेश करने के लिए अवकाश प्रदान करता है और काम के पीछे क्रोध आदि अंत:शत्रु भी आते हैं, जैसे विश्वासी पति को (कपटी) स्त्री विश्वास में लेकर जार पुरुष द्वारा हत्या करवाती है, वैसे उस योगी को उसका मन काम आदि दोषों द्वारा भ्रष्ट करवाता है । (भा. ५/६/३-४)

३. धाम ४. क्योंकि, उनमें सत्पुरुष के क्षमा आदि गुण हैं ।

५. बड़ा, बृहत्, अपरिमित ६. नीचे-उपर ७. नाप

है और अनन्त है । और उस तेज के समूह के मध्यभाग में एक बड़ा सिंहासन है और उसके ऊपर दिव्य मूर्ति ऐसे जो श्रीनारायण पुरुषोत्तम भगवान, वे विराजमान हैं और उस सिंहासन के चारों ओर अनन्तकोटि मुक्त बैठे हुए उन नारायण के दर्शन करते हैं । ऐसे मुक्तों के सहित जो श्रीनारायण, उन्हें हम निरन्तर देखते हैं और उस भगवान में तेज की अतिशयता है, उससे जब उस सभा सहित उन भगवान के दर्शन नहीं होते हैं तब हमें अतिशय कष्ट होता है । वह तेज का समूह तो निरन्तर दिखाई देता है, तो भी उसमें रुचि नहीं है और भगवान की मूर्ति के दर्शन से ही अतिसुख होता है । हमें इस तरह की उपासना हैं । उन भगवान में भक्ति तो जैसी गोपियों को थी वैसी प्रिय लगती है । इसलिए हम सभी मनुष्यों को देखते रहते हैं कि कोई कामी स्त्री हो, उसे पुरुष में जैसा स्नेह होता है, तथा कामी पुरुष को स्त्री में जैसा स्नेह होता है, उसे देखकर ऐसा होता है कि **'ऐसा स्नेह हमें भगवान में हो तो ठीक[१] है'।** तथा किसी को पुत्र में, धन में बहुत स्नेह दिखता हो, उसे देखकर ऐसा होता है कि 'ऐसा स्नेह हमें भगवान में हो तो अच्छा है[२] । तथा कोई गा रहा हो तो उसे सुनकर उसके पास किसी मनुष्य को भेजते हैं अथवा हम स्वयं उसके पास जाते हैं और जानते हैं कि 'यह बहुत ठीक कर रहा है ।'

और हमे सुहृदता[३] तो ऐसे व्यक्ति के साथ होती है कि जिसमें काम, क्रोध, लोभ, स्वाद, स्नेह, मान, ईर्ष्या, दम्भ, कपट इत्यादिक दोष न हों और धर्मशास्त्र में कहे धर्म का पालन करता हो और भगवान की भक्ति से युक्त हो; उसके साथ ही हमें बैठने-उठने की गोष्ठी[४] होती है । और जो ऐसा न हो और वह हमारे साथ रहता हो तो भी उसके साथ गोष्ठी नहीं होती है, उसकी तो उपेक्षा रहती है । और **पहले तो हमें कामी पर बहुत अभाव रहता था और अब तो क्रोध, मान और ईर्ष्या ये तीन जिसमें हों उस पर बहुत अभाव रहता है ।** क्योंकि, कामी हो वह तो गृहस्थ की तरह निर्मानी होकर सत्संग में

१. अच्छा, उचित, यथार्थ २. ठीक

३. गोष्ठी, मैत्रीपूर्ण संगति, ताल मेल, मेल-झुल ४. सुहृदता, मेल

पड़ा रहता है और जिनमें क्रोध, मान, ईर्ष्या रहती है, वे तो सत्संग में से जरूर पीछे हटते दिखाई देते हैं । इसलिए इन तीनों पर बहुत खेद रहता है । तो मान तो क्या है ? तो जो मानी हो उसे अपने से जो बड़ा हो उनके आगे भी स्तब्धता रहती है, परन्तु उनके आगे हलका[१] होकर उनकी सेवा में रहा नहीं जाता । और **ये सभी जो हमारा अभिप्राय है, उसे संक्षेप में लीजिए कहते हैं कि जिस तरह शंकर स्वामी ने अद्वैतब्रह्म का प्रतिपादन किया है, उसमें तो हमें रुचि[२] नहीं है तथा रामानुज स्वामी ने जिस तरह से क्षर-अक्षर से पर जो पुरुषोत्तम भगवान, उनका निरूपण किया है, उन पुरुषोत्तम भगवान में तो हमें उपासना हैं । तथा गोपियों के जैसी तो उन पुरुषोत्तम भगवान में हमें भक्ति है तथा शुकजी के जैसा तथा जडभरत के जैसा तो हमें वैराग्य है एवं आत्मनिष्ठा है ।** इस तरह से हमारा अभिप्राय तथा रुचि है । उसे हमारी वार्ता से तथा हमने मान्य किए जो संप्रदाय के ग्रन्थ, उनके द्वारा यदि पूर्वापर विचार करके देखे, तो जो बुद्धिमान हो, उसके जाननें में आता है ।"

इस तरह अपने भक्तजन की शिक्षा के लिए श्रीजीमहाराज ने वार्ता कही और स्वयं तो साक्षात् पुरुषोत्तमनारायण हैं ।

॥ इति वचनामृतम् लोया ॥१४॥१२२॥

वचनामृत १५ : 'नली तथा गाय के दृष्टान्त से आत्मदर्शन का'

संवत्* १८७७ मार्गशीर्ष कृष्ण १३ त्रयोदशी के दिन रात्रि के समय श्रीजीमहाराज गाँव श्रीलोया स्थित सुरा भक्त के राजभवन में विराजमान थे । उन्होंने सिर पर सफ़ेद फेंटा बाँधा था तथा दूसरे सफेद फेंटा से बोकानी बाँधी थी, ऊनी वस्त्र की लाल रंग की मिरजई पहनी थी, श्वेत खेस पहना था एवं श्वेत शाल (चौफाल) और सफ़ेद पिछौरी एक साथ मिलाकर ओढ़े हुए थे और अपने मुखारविन्द के समक्ष देश-देश के हरिभक्त की सभा तथा परमहंस की सभा बैठी थी ।

*दि. २-१-१८२१, मंगलवार **१.** नम्रतापूर्वक, सरल होकर **२.** भाव, स्वीकार

तब श्रीजीमहाराज कृपा करके बोले कि ''यह जीव[१] अध्यात्म[२], अधिभूत[३], और अधिदेव[४]रूप से[५] समस्त देह में नख से शिखा पर्यन्त[६] व्याप्त होकर रहता है। और देवता तथा इन्द्रियरूप[७] से जीव का भोक्तृत्व' है, परन्तु देवता-इन्द्रियों से पृथक्‌रूप से भोक्ता नहीं है[८] ।''

तब नित्यानन्द स्वामी ने आशंका की कि ''हे महाराज ! तब ऐसा कहा जाता है कि जीव तो सामान्यरूप से समस्त देह में व्याप्त होकर विशेषरूप से हृदयाकाश में रहता है, तब सभी ठिकाने[९] समान जानपना[१०] नहीं दिखाई देता है, इसका कैसे समझें ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''जैसे[११] सूर्य अपनी किरणों द्वारा सभी पदार्थों में व्याप्त होकर रहता है, परन्तु आगे जैसा पदार्थ रहा हो, वहाँ सूर्य का प्रकाश वैसा दिखाई देता है। क्योंकि काँच की भूमि हो तथा स्वच्छ निर्मल जल हो, उसमें जिस तरह सूर्य का प्रकाश शुद्ध दिखाई देता है, उस तरह पत्थरीली भूमि, रेतीवाली भूमि तथा मलिन पानी[१२], उसमें दिखाई नहीं देता है। इस तरह सूर्य के प्रकाश में न्यून-अधिकता दिखाई देती है। उस तरह यह जीव[१३] इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, गोलक[१४] इन सभी में समानरूप से रहता है; परन्तु इन्द्रियों में स्वच्छता है, इसलिए उनमें विशेष प्रकाश दिखाई देता है । देखिए तो, नेत्र में जैसा तेज दिखाई देता है, वैसा नाक-कान में कभी दिखाई देता है ? नहीं जाननें में आता। और चार अन्तःकरण की अति स्वच्छता

---

१. तीन देह से विलक्षण है और अपने-अपने हृदय में विशेष सत्ता से रहा है, देहेन्द्रियादिक को चेतन करता है, इसलिए वह चिद्रुप कहलाता है। २. चक्षुरादि इन्द्रियाँ।

३. इन्द्रियाँ के नेत्रादि गोलक ४. इन्द्रियाँ के अधिष्ठाता सूर्यादि देवताएं। ५. अधिदेव के प्रकाशकपना ६. सामान्य सत्ता से ७. द्वार से ८. भोक्तृत्व सामर्थ्य

'यह अर्थ ''**आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण:**'' इस श्रुति में वर्णन है।

९. शरीर के सभी भागों में १०. ज्ञातृत्व

११. अध्यात्मादिक में सामान्य सत्ता से व्याप्त ऐसे आत्मज्ञान में स्वत: न्यूनाधिकभाव नहीं ही है, परन्तु इन्द्रियरूप आधार की तारतम्यता से आत्मप्रकाश की तारतम्यता जानने में आती है।

१२. धुंधला जल १३. ज्ञानप्रभा से १४. इन्द्रियों का स्थान

है, तो वहाँ जीव का अधिक प्रकाश दिखाई देता है तथा अन्य इन्द्रियों में न्यून दिखाई देता है; परन्तु जीव तो समस्त देह में[१] समानरूप से रहता है[२] ।"

तब ब्रह्मानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि "इस जीव को कईलोग तारा जैसा देखते हैं, तथा दीपक की ज्योत जैसा देखते हैं तथा दोपहर[३] जैसा देखते हैं, इसे कैसे समझें ?" तब श्रीजीमहाराज बोले कि "यह तो ऐसा है कि जैसे जिसे अक्षिविद्या प्राप्त है, उसे नेत्र द्वारा उस जीव का दर्शन होता है और उसमें भगवान की मूर्ति को भी देखता है । उस तरह जिसे इन्द्रियों द्वारा लक्ष[४] हुआ हो, वह वैसा आत्मा को देखता है । जैसे कांच का पुतला मनुष्य के आकार में बनाया हो, उसके सभी अवयव, रोम तथा नाडियाँ, वे सभी कांच के हों और उस पुतले के भीतर की ओर तेज[५] भरा हो, वह तेज दिखता हो, तो जैसा नली का अवकाश[६] रहता है, उसी के अनुसार दिखता है, परन्तु समग्र नहीं दिखाई देता । उस तरह इस जीव का स्वरूप जिसने जैसा देखा है, वे वैसा कहते हैं, परन्तु उनकी निरावरण दृष्टि नहीं हुई है । इसलिए उसे जैसी आत्मा है वैसी नहीं दिखाई देती । **जब उनकी निरावरण दृष्टि होकर आत्माकार होती है तब इन्द्रियों के गोलक के जो विभाग है, वे उनकी दृष्टि में नहीं आते हैं और जैसी आत्मा है वैसी दिखाई देती है ।** जैसे जो आकाश की दृष्टि को प्राप्त हुआ हो, उसकी दृष्टि में दूसरे चार भूत नहीं आते हैं; उस तरह जिसकी निरावरण दृष्टि होती है उसे गोलक, इन्द्रियाँ, देवता तथा अन्तःकरण के द्वारा जानने में आते जो जीव के प्रकाश के भेद हैं, वे दृष्टि में नहीं आते हैं, और जैसा जीव है वैसा यथार्थ दिखाई देता है । परन्तु भेददृष्टिवाले को जैसा है वैसा नहीं दिखाई देता । जैसे किसी ने गाय की पूँछ देखी, किसी ने मुख देखा, खुर देखा, पेट देखा, स्तन देखा; उसने जो-जो अंग देखा है, वह गाय का ही देखा है, परन्तु जैसी गाय है वैसी किसी ने देखी नहीं है और एक अंग देखा, तो गाय

---

१. ज्ञानप्रभा से ।

२. इसलिए आत्मप्रकाश में न्यूनाधिक भेद न जानें क्योंकि वे स्वतः विषम नहीं हैं ।

३. मध्याह्न के प्रकाश ४. समाधि ५. प्रकाश ६. खाली जगह, आकाश

देखी भी कहलाती है। उस तरह आत्मा के प्रकाश का दर्शन जितना जिसे इन्द्रियों द्वारा अथवा अन्तःकरण द्वारा हुआ उतना वह आत्मदर्शी कहलाता है, परन्तु सम्यक् आत्मदर्शन उसे नहीं कहलाता । इसलिए हम इस जीव में इस तरह सामान्य–विशेषपना[१] कहते हैं ।''

तब नित्यानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! आपने जीव को तो निराकार कहा, तब उस जीव में भगवान रहते हैं, वे भी क्या अलिंगरूप[२] से रहते हैं या मूर्तिमान रहते हैं ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''भगवान तो इन्द्रियाँ, देवता, अन्तःकरण और जीव; उन सभीके आश्रयरूप से रहे हैं। उसे श्रीकृष्ण भगवान ने उद्धव के साथ गोपियों से कहलाया हैं कि 'इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, देवता और जीव; उनके आश्रयरूप से आपके समीप में मैं रहा हूँ। जैसे पञ्च महाभूत ब्रह्माण्ड में रहते हैं और वही के वही सभीके देह में रहे हैं; उस तरह जो मैं इस मथुरा में रहा हूँ, वह तो जैसे महाभूत, विशेषरूप से ब्रह्माण्ड में रहे हैं, उस तरह रहा हूँ और जैसे ये भूत जीवों के देहों में सामान्यरूप से रहते हैं, उस तरह मैं आपके पास रहा हूँ। और **जो मैं दिखाई नहीं देता, वह तो तुम्हारे चित्त की वृत्ति का मेरे में निरोध हो जाये, इसलिए नहीं दिखाई देता हूँ, परन्तु रहा तो मूर्तिमान ही हूँ ।**''

तब फिर से नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज ! वे भगवान इन्द्रियादिक के आश्रयरूप से रहे हैं, तो पुरुषरूप से रहे हैं या अक्षररूप से रहे हैं या स्वयं पुरुषोत्तमरूप से रहे हैं ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''**जीव, पुरुष[३], अक्षर और पुरुषोत्तम; इन सभी का तेज प्रकाशरूप से तो सजातीय है; इसलिए उनके प्रकाश का भेद करने में कोई समर्थ नहीं है। और भेद तो अतिशय है,** परन्तु उस भेद को देखने में कोई समर्थ नहीं है। जिसे वे भगवान कृपा करते हैं, उससे[४] उसे प्रकाशमय ऐसी दिव्य देह बँधती है। फिर वह ऐसा जानता है कि 'यह मैं हूँ और यह पुरुष हैं, और यह अक्षर

१. सामान्यपना तथा विशेषपना २. निराकार ३. ईश्वर ४. भगवान की कृपा से ।

है और इन सभीसे विलक्षण ऐसे ये पुरुषोत्तम हैं ।' इस तरह इन सभी को पृथक्‌रूप से देखता है तथा इनके प्रकाश को भी विलक्षणरूप से देखता है, परन्तु दूसरा तो कोई पृथक् देखने में समर्थ नहीं होता है । **इसलिए वे भगवान चाहे जिस तिस रूप से रहे हो, परन्तु स्वयं ही रहे हैं ।''**

और वेदान्त जो उपनिषद् तथा योग तथा सांख्य – ये तीन शास्त्र सनातन हैं, वे उन श्रीकृष्ण परमात्मा का ही वर्णन करते हैं । तो इन तीनों शास्त्रों का मत आपको हम पृथक्–पृथक्‌रूप से कहते हैं, उसे सुनिये । इसमें जो सांख्यवाले हैं, वे तो चोबीस तत्त्वों को कहकर उससे पर पच्चीसवें परमात्मा को कहते हैं, परन्तु जीव–ईश्वर को पृथक्‌रूप से नहीं कहते हैं । उसका यह अभिप्राय है कि तत्त्व तो जीव के बिना नहीं होते; इसलिए तत्त्व के साथ तदात्मकरूप से रहा जो जीव, उसे तत्त्वरूप ही कहते हैं, किन्तु तत्त्व से पृथक् नहीं कहते हैं । और जैसे जीव को चौबीस तत्त्वरूप मानते हैं, वैसे ब्रह्माण्डाभिमानी जो ईश्वर हैं, उन्हें भी चौबीस तत्त्वरूप मानते हैं । इस तरह जीव–ईश्वर इन दोनों को तत्त्वरूप मानकर तत्त्व के साथ ही उन्हें गिनते हैं, परन्तु तत्त्व से पृथक् नहीं गिनते हैं । और वे पच्चीसवें परमात्मा को कहते हैं, यह सांख्य का मत है । किन्तु ऐसा न समझें कि जीव नहीं है; क्योंकि, सांख्यवालों ने षट्सम्पत्ति[१], श्रवण, मनन, निदिध्यासनादिक साधन कहे हैं, वे जीव को ही करने को कहे हैं । फिर उन साधनों द्वारा विचार को प्राप्त होता है और उस विचार द्वारा तत्त्व से स्वयं अलग हो जाये, और स्वयं को ब्रह्मरूप माने और परमात्मा का भजन करें; इस तरह सांख्यमत है । उसे मोक्ष धर्म में शुकजी के प्रति नारदजी ने कहा है कि

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज ।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज ॥[२]

इसका ऐसा अर्थ है कि जब मुमुक्षु आत्मविचार करने बैठता है तब उसे बाधक होते जो धर्मरूप अथवा अधर्मरूप, सत्यरूप, असत्यरूप जो–जो संकल्प

१. शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा ।

२. महाभारत, शान्तिपर्व (३१६/४०)

होते हैं, उनका त्याग करके और जिस विचार से उनका त्याग करता है **उस विचार का भी त्याग करके ब्रह्मरूप से रहें, किन्तु देह से धर्मरूप नियम का त्याग करना नहीं कहा है ।'** इस श्लोक का यह अर्थ है । और जो योगवाले हैं, वे चौबीस तत्त्वों को पृथक् गिनते हैं और जीव-ईश्वर को पच्चीसवाँ कहते हैं और परमात्मा को छब्बीसवाँ कहते हैं । विवेक द्वारा पच्चीसवें को[१] तत्त्व से पृथक् समझकर, उनमें अपनेपन की दृढ़ता मानकर, चौबीस तत्त्वों की जो वृत्तियाँ हैं, उनका पिण्डीभाव करके बलात्कार से छब्बीसवें में रखें, परन्तु विषय सन्मुख जाने न दें । और ऐसा समझता है कि 'मेरी वृत्ति भगवान को छोड़कर दूसरे ठिकाने जायेगी तो मुझे संसृति होगी' । इसलिए अति आग्रह करके इन्द्रियों-अन्तःकरण की जो वृत्तियाँ हैं उन्हें भगवान में रखता है । और **जो सांख्यवाला है, वह तो ऐसा समझता है कि 'मुझे इन्द्रियाँ-अन्तःकरण ही नहीं है, तो कहाँ जायेंगे ?' इसलिए स्वयं को ब्रह्मरूप मानकर निर्भय रहता है ।** और जो योगवाला है, वह तो डरता ही रहता है । जैसे किसी पुरुष के हाथ में तेल का पूरा मत्थे तक भरा पात्र हो और उस पुरुष को सीढ़ी से ऊपर चढ़ना हो और दोनों ओर खुली तलवार लिए पुरुष डराने के लिए खड़े हों, और उस तेल को ढलने देना न हों और वह पुरुष जैसे भय को प्राप्त होता है, **उस तरह योगवाला विषय से डरकर भगवान में वृत्ति रखता है; यह योग का मत है ।** और वेदान्त जो उपनिषद्, उनका मत यह है कि सभीके अतिशय बड़े कारण ऐसे जो पुरुषोत्तमनारायण ब्रह्म; उनका ही ग्रहण करके दूसरे सभी को मिथ्या मानता है । जैसे आकाश की दृष्टि को जो प्राप्त हुआ हो, वह अन्य तत्त्व को देखता नहीं है, उस तरह उन ब्रह्म को जो देखता हो, वह दूसरे किसी को देखता नहीं है; इस तरह वेदान्त का मत है ।''

॥ इति वचनामृतम् लोया ॥१५॥१२३॥

---

१. जीव-ईश्वर को ।

वचनामृत १६ : 'वासना कुण्ठित और निर्मूल होने का'

संवत्* १८७७ के मार्गशीर्ष कृष्ण चर्तुदर्शी के दिन संध्या आरती होने के बाद श्रीजीमहाराज गाँव श्रीलोया स्थित सुरा भक्त के राजभवन में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने श्वेत खेस पहना था तथा ऊनी वस्त्र की लाल रंग की मिरजई पहनी थी, सिर पर सफ़ेद फेंटा बाँधा था और दूसरे सफ़ेद फेंटे से बोकानी बाँधी थी और अपने मुखारविन्द के आगे परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि "सभी परमहंस आपस में प्रश्न-उत्तर करिए।" ऐसा कहकर स्वयं ने ही प्रश्न पूछा कि "जिसकी वासना कुण्ठित न हुई हो और जिसकी वासना कुण्ठित हो गई हो और जिसकी वासना निर्मूल हो गई हो; उनके क्या लक्षण हैं ?" फिर मुक्तानन्द स्वामी इस प्रश्न का उत्तर करने लगे पर न हुआ । तब श्रीजीमहाराज बोले कि "जिसकी वासना कुण्ठित न हुई हो उसकी इन्द्रियों की वृत्तियाँ विषयों में चिपक जाती हैं, तो पुनः विचार करने पर भी नहीं निकलती हैं । और जिसकी वासना कुण्ठित हो गई हो उसकी वृत्ति विषय में तत्काल प्रवेश नहीं करती है; और कदाचित् वृत्ति विषय में प्रवेश कर जाती है और उस वृत्ति को वापस लौटाये तो तुरन्त वापस लौटती है, परन्तु विषय में आसक्त नहीं होती । और **जिसकी वासना निर्मूल हो गई हो, उसे तो जाग्रत में सुषुप्ति की तरह विषय का अभाव रहता है और अच्छे-बुरे जो विषय हैं, वे दोनों समानरूप से प्रतीत होते हैं और स्वयं गुणातीतरूप से रहता है ।**"

तब गोपालानन्द स्वामी ने पूछा कि "वासना कुण्ठित तो हो, परन्तु वह मूल में से टलती नहीं है, उसका क्या कारण है ?" तब श्रीजीमहाराज बोले कि "इसका उत्तर यह है कि आत्मनिष्ठारूप ऐसा जो ज्ञान तथा प्रकृति के कार्य ऐसे जो पदार्थमात्र, उनमें अनासक्तिरूप ऐसा जो वैराग्य तथा ब्रह्मचर्यादिकरूप

---

*दि. ३-१-१८२१, बुधवार

जो धर्म तथा माहात्म्य सहित ऐसी जो भगवान की भक्ति; ये चार गुण जिस में सम्पूर्ण हों, उसकी वासना निर्मूल हो जाती है। और इन चारों में जितनी न्यूनता रहती है, उतनी वासना निर्मूल नहीं होती[१] है।''

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''लीजिए, हम प्रश्न पूछते हैं कि मुमुक्षु को भगवान की प्राप्ति के लिए अनन्त साधन करने को कहे हैं, उनमें एक ऐसा बड़ा कौन सा साधन है, जिससे सभी दोष टल जाते हैं और उनमें सभी गुण आते हैं ?'' तब इस प्रश्न का उत्तर परमहंसों से हुआ नहीं। फिर श्रीजीमहाराज ने इसका उत्तर किया कि ''भगवान का माहात्म्य जैसे कपिलदेवजी ने देवहूति के प्रति कहा हैं कि **'मद्भयाद् वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात् ।'**[२] **इस तरह से अनन्त प्रकार के माहात्म्य सहित ऐसी जो भगवान की भक्ति जिसमें होती है, उसके दोषमात्र टल जाते हैं** और उसे ज्ञान, वैराग्य, धर्म; ये नहीं होते, तो भी ये सभी आते हैं, इसलिए यह साधन सभी में बड़ा है।''

पुनः श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''जो कपटी हो, और वह बुद्धिमान हो, इसलिए अपने कपट को मालूम न होने दे, उसका कपट कैसे परख में[३] आये ? उसे कहिए।'' तब इस का उत्तर ब्रह्मानन्द स्वामी ने किया कि ''जिसका उठना-बैठना तो, जो सत्संग का द्वेषी हो और सन्त तथा भगवान के प्रति निम्न वचन बोलता हो, उसके साथ हो, उससे पता चलता है, किन्तु अन्य तरह से पता नहीं चलता।'' फिर उस उत्तर को श्रीजीमहाराज ने मान्य रखा और फिर स्वयं बोले कि ''ऐसे की संगत न करता हो तो कैसे परखा जायें ?'' तब ब्रह्मानन्द स्वामी ने कहा कि ''देशकाल की कोई विषमता आ जाये तब उसका कपट परखा जाता है।'' तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि ''यह ठीक उत्तर किया।''

---

१. इसलिए मूल में से वासना का उच्छेद करने की इच्छा रखनेवाले भक्तजन, स्वधर्मादि साधन अतिदृढ़ता पूर्वक साधें।

२. मेरे भय से वायु चलती है, मेरे भय से सूर्य तपता है। (भाग. ३/२५/४२)

३. यथार्थरूप से जाना जायें, पहचाना जायें।

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''ऐसा कौन सा एक अवगुण है कि जिससे समस्त गुणमात्र दोषरूप हो जाते हैं ? उसे कहिए ।'' तब श्रीपात् देवानन्द स्वामी बोले कि ''भगवान के भक्त का जो द्रोह करता है, उसके जो सभी गुण हैं, वे दोषरूप हो जाते हैं'' । तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''यह उत्तर भी सही है; परन्तु हमने तो इसका उत्तर दूसरा तय किया[१] है कि **सर्वगुण से सम्पन्न हो और यदि वह भगवान को अलिंग समझता हो, परन्तु मूर्तिमान न समझता हो, यह बड़ा दोष है, जिससे उसके दूसरे सभी गुण दोषरूप हो जाते हैं ।''**

पुनः श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''सन्त का अभाव किस कारण से आता है ? उसे कहिए'' । फिर इसका उत्तर परमहंस करने लगे, लेकिन न हुआ। तब श्रीजीमहाराज ने इसका उत्तर किया कि ''जिसे मान रहता है उसे सन्त का अभाव आता है । क्योंकि, जो मानी है, उसका ऐसा स्वभाव होता है कि जो अपनी प्रशंसा करता है, उसमें सौ अवगुण हो, उन सभी को छोड़कर उसमें एक गुण हो, उसे बहुत मान लेता है; और जो अपनी प्रशंसा करता न हो, और उसमें सौ गुण हो, उन सभी को छोड़कर उसमें कोई जैसा तैसा अवगुण हो, उसे बहुत मानकर उसका प्रथम तो मन तथा वचन से द्रोह करता है और फिर देह से भी द्रोह करता है । इसलिए मानरूप यह बड़ा दोष है । और वह मान समझदार में ही हो, भोले में नहीं होता ऐसा न जानें; भोले में तो समझदार से भी अधिक होता है ।''

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! यह मान कैसे टलता है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''भगवान का माहात्म्य जो अतिशय समझता हो, उसे मान नहीं आता; क्योंकि, देखिए तो, उद्धवजी कितने चतुर[२] थे और नीतिशास्त्र में कुशल[३] थे, और देह से तो राजा जैसे थे, परन्तु यदि भगवान का माहात्म्य समझते थे तो गोपियों में भगवान का स्नेह देखकर उनके आगे अपना मान न रहा और ऐसा बोले कि 'इन गोपियों के चरण

१. निर्धारित किया २. समझदार ३. पारंगत

की रज जिसे छूती हो, ऐसे जो वृक्ष, लता, तृण, गुल्म उनमें से मैं कोई एक बनूँ । और तुलसीदासजी ने कहा है कि

तुलसी ज्याके मुखन से भूले निकसे राम ।
ताके पगकी पहेनियाँ मेरे तनकी चाम ॥

इस तरह जिसके मुख से भूल से भी भगवान का नाम निकलता है, उसके लिए अपने शरीर की चमड़ी का जूता बनवा दें, तो भगवान के जो भक्त हैं, और भगवान का निरन्तर नाम-स्मरण, भजन-कीर्तन, वन्दन करता हों और यदि भगवान का माहात्म्य समझता हों, तो उनके आगे क्या मान रहता ? नहीं ही रहता । इसलिए माहात्म्य समझता है तब मान चला जाता है, परन्तु माहात्म्य समझे बिना तो मान नहीं जाता; इसलिए **जिसे मान टालना हो, वे भगवान का तथा सन्त का माहात्म्य समझें ।''**

॥ इति वचनामृतम् लोया ॥१६॥१२४॥

वचनामृत १७ : 'स्तुति-निन्दा का'

संवत्* १८७७ के मार्गशीर्ष कृष्ण अमावास्या के दिन श्रीजीमहाराज गाँव श्रीलोया स्थित सुरा भक्त के राजभवन में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने सिर पर सफेद फेंटा बाँधा था और दूसरे सफ़ेद फेंटे से बोकानी बाँधी थी, तथा ऊनी वस्त्र की लाल रंग की मिरजई पहनी थी, सफ़ेद खेस पहना था, उसके नीचे श्वेत अंगरखा पहना था तथा श्वेत खेस पहना था, शाल (चौफाल) ओढ़कर उसके उपर पीले रंग की रजाई ओढ़ी थी और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि की सभा तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी । इस तरह से श्रीजीमहाराज प्रसन्नतापूर्वक रात्रि के समय विराजमान थे ।

तब श्रीजीमहाराज अपने आप बोले कि ''देखिए तो, भगवान की माया का बल कैसा है, जिससे विपरीतता बहुत होती है; क्योंकि, प्रथम कैसा अच्छा दिखाई देता है, और फिर अतिशय बुरा हो जाता है ।'' ऐसा कहकर फिर पुनः परमहंसों के प्रति बोले कि ''आज तो प्रश्न पूछिए तो वार्ता करते हैं ।'' तब

*दि. ४-१-१८२१, गुरुवार

नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि "हे महाराज ! पहले अच्छा रहा हो और स्तुति करता हो, और वही फिर से निन्दा करने लगता है; इसलिए चाहे ऐसा देश, काल, क्रिया, संग विषम[१] हो जाये तो भी अच्छा का अच्छा ही बना रहे, परन्तु किसी तरह से विपरीत मति न हो जाये; वह किस से होता है ?" तब श्रीजीमहाराज बोले कि "**जिसे देह का अनादर हो और दृढ़ आत्मनिष्ठा हो और पञ्चविषय में वैराग्य हो तथा भगवान का माहात्म्य सहित यथार्थ निश्चय हो, ऐसे को चाहे ऐसे देशकालादिक की विषमता हो जाये, तो भी उसकी मति विपरीत नहीं होती है ।** और जो देहाभिमानी हो और पञ्चविषय का अतिशय अभाव न हुआ हो, उसे जब सन्त उस विषय का खण्डन करते हैं, तब तो वे सन्त बड़े होते हैं, उनका भी अभाव आता है और भगवान का भी अभाव आता है । और भगवान का तो यथार्थ निश्चय हो तो भी यदि पञ्चविषय का अत्यन्त अभाव न हुआ हो, और उसकी आसक्ति हो और उस विषय का मुक्तानन्द स्वामी जैसे खण्डन करें, तो उनका मस्तक शस्त्र से अलग कर दे ऐसा द्रोह करता है ।"

फिर नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि "किसी को देहाभिमान तथा पञ्चविषय की आसक्ति रहती है, तो भी वह सत्संग में निभता जाता है, उसे कैसे समझें?" तब श्रीजीमहाराज बोले कि "उसे जब तक कोई धक्का[२] नहीं लगा, तब तक निभता जाता है, परन्तु जब कोई बड़े सन्त अथवा भगवान, उस मान का खण्डन करेंगे तथा स्वाद, देहाभिमान, लोभ, काम, क्रोध उनका खण्डन करेंगे तब उसे जरूर उस सन्त का अभाव आयेगा; तब वह जरूर सन्त का द्रोह करेगा और सत्संग में से विमुख हो जायेगा । जैसे सर्पने लार डाली हो ऐसा जो दूध-साकर, उसे जिसने पिया हो और वह जीवित रहा है तो भी वह घड़ी-दो घड़ी में, शाम-सबेरे, आज-कल जरूर मरनेवाला है; उस तरह जो देहाभिमानी है वह महीने, दो महीने, वर्ष, दो वर्ष, दश वर्ष में, देहावसान के समय, मृत्यु के बाद, जब तब भी वह जरूर सन्त का अभाव लेकर गिर जायेगा[३] । और जिसे देहाभिमान

१. विपरीत, खराब २. आघात, ठोकर, अपमानित होने का प्रसंग ।
३. मोक्ष मार्ग से पतन हो जायेगा ।

न हो और ऐसा समझता है कि 'अन्तःकरण- इन्द्रियों का प्रकाशक एवं जिससे देह चलती है, फिरती है, ऐसी सत्तारूप जो आत्मा, वह मैं हूँ, तो मैं धन-स्त्रियादिक कोई पदार्थ से सुखी हो जाऊँ, ऐसा नहीं हूँ और यदि वे पदार्थ न मिले तो उससे दुःखी हो जाउँ ऐसा नहीं हूँ।' इस तरह **दृढ़ समझ जिसे रहती है, उसे सन्त किसी भी तरह से पञ्चविषय का खण्डन करते हैं तथा देहाभिमान का खण्डन करते हैं तो भी उन सन्त का अभाव किसी तरह से नहीं आता है और तुच्छ पदार्थ के लिए सन्त के साथ झगड़ा[१] न हो और अँटी[२] भी नहीं होती ।''**

फिर नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि ''जिसे पञ्चविषयों का अभाव हो, वह कैसे जानने में आये ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसे विषय का अभाव हो, वह ऐसे जानने में आता है कि जब कुछ सरस खाने को मिले तब उसे खाता है, परन्तु जैसा-तैसा खाता हो और उसमें आनन्द रहता है, वैसा आनन्द न रहे, उदासीन हो जाता है। और कपड़े जैसे-तैसे मोटे पहनता हो, उसमें आनन्द हो वैसा पतले कपड़े पहनने पड़ें, तो उसमें आनन्द नहीं रहता है और मन उद्विग्न हो जाता है। उसी तरह अच्छा बिस्तर हो, अथवा कोई मान दे, इत्यादिक **जिन-जिन उत्तम पदार्थों का योग होता है, तब उनमें उसका मन उदासीन हो जाता है, परन्तु उनमें किसी भी तरह से आनन्दित होता ही नहीं; तब उसे ऐसा जाने कि उन्हें विषयों में अभाव है ।''**

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! इन पञ्चविषयों का अभाव कैसे होता है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''**विषयों का अभाव होने का मुख्य साधन तो परमेश्वर का माहात्म्य है और इसके बाद आत्मनिष्ठा तथा वैराग्य हैं** । तो माहात्म्य तो क्या ? तो 'जिन भगवान के भय से इन्द्र वर्षा करता है; सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा प्रकाश करते हैं; पृथ्वी सभी को धारण कर रही है; समुद्र मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता है; औषधियाँ ऋतुओं को प्राप्त होकर फलीभूत होती हैं; जो भगवान जगत की उत्पत्ति, स्थिति प्रलय

१. तकरार, विवाद २. वैर, द्वेष, अनबन की गांठ ।

को करते हैं, जिनकी शक्ति काल है, माया है, पुरुष है, अक्षर हैं।' इस तरह से भगवान की जो महिमा को समझता है, उसे जगत में ऐसा कौन-सा पदार्थ है जो बन्धन कर पायें ? तो काम, क्रोध, लोभ, मान, ईर्ष्या, स्वाद, सूक्ष्म वस्त्र, धन, स्त्री तथा जो-जो पञ्चविषय सम्बन्धी पदार्थ हैं, वे उन्हें कोई बन्धन नहीं कर पाते। क्योंकि, उसने तो सभी का परिमाण कर रखा है कि 'भगवान तो ऐसे हैं तथा ऐसा उन भगवान के भजन-स्मरण, कथा-वार्ता में माल[१] है। और अक्षर तो ऐसे हैं, और ऐसा उन अक्षर सम्बन्धी सुख है तथा गोलोक, वैकुण्ठ, श्वेतद्वीप सम्बन्धी सुख तो ऐसा है तथा प्रकृति-पुरुष सम्बन्धी सुख तो ऐसा है और ब्रह्मलोक सम्बन्धी सुख तो ऐसा है और स्वर्ग का सुख तो ऐसा है तथा राज्यादिक का सुख तो ऐसा है।' इस तरह से उन सभीके सुखों का अनुमान करके तथा भगवान के सुख को सब से अधिक मानकर जो भगवान में जुट गया हो, उसे कौन-सा ऐसा पदार्थ है, जो भगवान के चरणारविन्द से गिरा दे ?[२] कोई नहीं गिरा सकता। जैसे पारसमणि हो, वह किसी लोहे से स्पर्श हुई, उसका सोना बना, वह सोना पुनः पारसमणि का किया भी लोहा नहीं होता; उस तरह ऐसा जिसने भगवान का माहात्म्य जाना है, वह भगवान का गिराया भी उन भगवान के चरणारविन्द से गिरता नहीं है,[३] तो क्या दूसरे पदार्थ से वह गिरता है ? नहीं गिरता।

और उन भगवान का भजन करते हैं ऐसे जो सन्त, उनका भी वह बहुत माहात्म्य समझता है कि 'ऐसे बड़े जो भगवान हैं, उनके साक्षात् उपासक ये सन्त हैं, इसलिए ये बहुत बड़े हैं।' जैसे उद्धव स्वयं कैसे बड़े थे, परन्तु यदि इस तरह से भगवान का माहात्म्य समझते थे, तो स्वयं को चतुराई[४] का कुछ मान न रहा और गोपियों की चरण की रज को प्राप्त करने की इच्छा की और वृक्ष-लता का अवतार मांगा; क्योंकि, ऐसे बड़े भगवान हैं, जिनके मार्ग को वेद की श्रुतियाँ खोजती हैं,[५] उन भगवान के प्रति इन गोपियों की प्रीति को अतिशय देख लिया। उस तरह ऐसे भगवान के सन्त हों, उनके आगे मान कैसे रहे ?

१. सार, लाभ २. दूर करें, विमुख कर दे ?

३. भगवान से यत्किंचित् दूर होकर माया में सुख बुद्धि नहीं करता।

४. समझदारी, राजकाज की पटुता ५. अन्त प्राप्त करने हेतु अन्वेषणात्मक गान करती हैं।

और उन के आगे नम्र क्यों न हो सके ? उनके आगे तो दासानुदास होकर रहा जाये । ओर पाँच-पाँच जूते मारे तो भी उसे सहन करें और ऐसा समझें कि 'मेरे बड़े भाग्य हुए कि ऐसे सन्त का मैं तिरस्कार सहन करता हूँ, नहीं तो प्रारब्धवश होकर स्त्री-बच्चों के तिरस्कार सहन करने पड़ते तथा माँ-बाप के तथा राजा के तिरस्कार सहने पड़ते और प्रारब्धवश होकर डोडी[१] की भाजी खानी पड़ती तथा निम्न कंदमूल[२] खोदकर खाना पड़ता, उससे इन सन्त के संग में रहकर मैं निःस्वादी वर्तमान पालन करता हूँ,' ये मेरे बड़े भाग्य हैं । और प्रारब्धवश होकर जैसे-तैसे वस्त्र तथा चिथड़े पहनने पड़ते, इससे तो इन सन्त के संग में रहकर मैं गुदड़ी ओढ़ता हूँ, तो ये मेरे बड़े भाग्य है ।' और जब सन्त की सभा में जाता है तब अपने को मान मिलता नहीं है, तब उन सन्त का अवगुण लेता है, तब उसे सन्त की महिमा जानने में आई नहीं है; नहीं तो अवगुण लेता ही नहीं । जैसे मुम्बई का गवर्नर साहब[३] कुर्सी डालकर बैठा हों और उनकी सभा में कोई गरीब आदमी जाये और उसे कुर्सी न दे, और कोई आदर न करें, तब कँही उसे उस अंग्रेज पर खेद[४] होता है ? और कँही उसे गाली देने का मन में होता है ? लेशमात्र भी होता नहीं है । क्योंकि, उस अंग्रेज का बड़प्पन जाना है कि 'वह तो मुल्क[५] का पादशाह[६] है और मैं तो कंगाल हूँ,' ऐसा समझकर खेद नहीं होता है । **उस तरह यदि सन्त की महिमा जानता हो, तो वे सन्त चाहे जैसा तिरस्कार करें तो भी खेद नहीं होता और जितना ले उतना अपना अवगुण लें परन्तु सन्त का अवगुण तो किसी तरह से ले ही नहीं । इसलिए जिसे भगवान का तथा सन्त का माहात्म्य समझ में आया है, उसकी नींव[७] सत्संग में अचल है और जिसे माहात्म्य समझ में नहीं आया, उसका विश्वास नहीं ।''**

॥ इति वचनामृतम् लोया ॥१७॥१२५॥

---

१. एक प्रकार की लता, जीवंती, वह औषध में काम आती है । इस वेल के कोमल पत्ते भाजी के लिए उपयोगी है । जवासा की तरह अनावृष्टि में बहुत ज्यादा मात्रा में होती है ।
२. एक प्रकार के घास के मूल में होनेवाली सुगंधित काली गांठ । ३. अंग्रेज गवर्नर
४. अपमानित होने की भावना ५. दुनियाँ ६. राजा-बादशाह ७. स्थिति

वचनामृत १८ : 'निश्चय का'

संवत्* १८७७ पौष शुक्ल १ प्रतिप्रदा के दिन रात्रि के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज गाँव श्रीलोया स्थित सुरा भक्त के राजभवन में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था तथा दूसरे सफेद फेंटे से बोकानी बाँधी थी तथा ऊनी वस्त्र की लाल रंग की मिरजई पहनी थी तथा शाल (चौफाल) के साथ रजाई ओढ़ी थी, श्वेत खेस पहना था और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस की सभा तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी। उस समय सन्ध्या आरती तथा स्तुति परमहंस कर रहे तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि "कीर्तन गाइए।" तब वादित्र बजाकर मुक्तानन्द स्वामी आदिक परमहंस ने कीर्तन गाये।

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "अब कीर्तन रखिए, अब तो हम वार्ता करेंगे और हम जो यह बात करते हैं उसमें जिसे आशंका उत्पन्न हो, वे पूछिएगा।" ऐसा कहकर बोले कि "भगवान का निश्चय होना, वह सभीसे महा कठिन है। उस निश्चय की वार्ता अति जटिल है, इसलिए कहने से डर लगता है कि 'क्या पता, बात करें! और उसमें से किसी को उल्टा(१) समझ में आ जाय? और उसने जो अपने अंग की दृढ़ता की हो, वह अंग इस बात से टूट जाये तो वह समूला(२) जाये।' और यह बात किये बिना भी चलता नहीं है। और यह बात यदि समझ में न आये तो दूषण भी बहुत आते हैं। और यदि यह बात समझी न जाये तब तक उनके निश्चय में भी कच्चापन(३) बहुत रहता है। इसलिए बात करते हैं कि भगवान ने वराह का देह धारण किया, तो सूकर का रूप तो अति कुरूप कहलाता है तथा मत्स्यावतार धारण किया तब मछली जैसा ही रूप था तथा कच्छावतार धारण किया तब अन्य कछुए जैसा ही रूप था तथा नृसिंहावतार धारण किया तब बाघ के जैसा भयानक रूप था तथा वामनावतार धारण किया तब उन वामनरूप के हाथ-पैर छोटे तथा कमर मोटी

---

*दि. ५-१-१८२१, शुक्रवार

१. समझ विपरीत हो जाये, जिससे उनकी मनमानी आस्था बिगड़ जाये, फिर उसे शून्यसा अनुभव होने लगे। २. मूलतः पूर्णरूप से जायें। ३. अपरिपक्वता

और शरीर बौना-मोटा था ऐसे नाटे[१] थे तथा व्यासावतार धारण किया तब वे व्यास काले थे और शरीर पर बाल[२] बहुत थे और शरीर दुर्गन्ध देता था, इत्यादिक भगवान ने जो आकृतियाँ धारण की थीं तब उन्हें उस समय जो-जो मिले, उन्होंने वैसे-वैसे रूपों का ध्यान किया है और उस ध्यान से भगवान के उन-उन रूपों को[३] प्राप्त हुए हैं।' उसमें जो वराह को मिले, वे क्या धाम में भगवान को वराहरूप ही देखते हैं ? और मत्स्यजी को मिले वे क्या धाम में मत्स्यरूप ही देखते हैं ? और कूर्म को मिले वे क्या धाम में कूर्मरूप ही देखते हैं ? और नृसिंह को मिले वे क्या धाम में नृसिंहरूप ही देखते हैं ? और हयग्रीव को मिले वे क्या धाम में घोड़ेरूप को ही देखते हैं ? और जिसने वराह का पतिभाव से भजन किया, वो क्या सूअरी हुई ? और सखाभाव से भजन किया, वह क्या सूअर हुआ ? और मत्स्य का पतिभाव से भजन किया, वो क्या मछली हुई ? और सखाभाव से भजन किया वह क्या मच्छ हुआ ? और कूर्म का पतिभाव से भजन किया, वो क्या कच्छुवी हुई ? और सखाभाव से भजन किया, वह क्या कछुआ हुआ ? नृसिंह का पतिभाव से भजन किया, वो क्या सिंहनी हुई? और सखाभाव से भजन किया वह क्या सिंह हुआ ? और हयग्रीव का पतिभाव से भजन किया, वो क्या घोड़ी हुई ? और सखाभाव से भजन किया, वह क्या घोड़ा हुआ ? इसलिए यदि भगवान का मूलरूप वराहादिक जैसा ही हो, तब तो उन-उन अवतारों के भक्तों को उनके ध्यान से तदाकारत्व[४] प्राप्त हो जाये, तब तो जैसा कहा है वैसा ही होना चाहिए; परन्तु यह बात ऐसी नहीं है।

तब आप कहेंगे कि 'उन भगवान का कैसा रूप है ? तो कहते हैं कि 'भगवान तो सच्चिदानन्दरूप हैं तथा तेजोमय मूर्ति हैं। जिनके एक-एक रोम में कोटि-कोटि सूर्य जैसा प्रकाश है, और कोटि कामदेव को भी लज्जित करें ऐसे वे भगवान रूपवान् हैं, और अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के पति हैं, राजाधिराज हैं, सभीके नियन्ता हैं, सभीके अन्तर्यामी हैं, अतिशय सुखस्वरूप हैं। और जिनके सुख के आगे अनन्त रूपवती स्त्रियों को देखने का जो सुख है, वह तुच्छ हो

१. कद से छोटे, ठींगना २. रोआं ३. साधर्म्य ४. उन अवतार के समान आकार होना।

जाता है और इस लोक-परलोक सम्बन्धी जो पञ्चविषय के सुख तो भगवान की मूर्ति के सुख के आगे तुच्छ हो जाते हैं; ऐसा भगवान का स्वरूप है। वह स्वरूप सदा द्विभुज ही है और अपनी इच्छा से कभी चतुर्भुज भी दिखाई देता है, अष्टभुज भी दिखाई देता है, और सहस्रभुज भी दिखता है। और **वे ही भगवान मत्स्य-कच्छप-वराहादिक रूप को तथा राम-कृष्णादिक रूप को किसी कार्य के लिए धारण करते हैं, परन्तु जो अपना वह मूल रूप है, उसे छोड़कर उन अवतारों को धारण नहीं करते हैं; वे ही भगवान स्वयं अनन्त ऐश्वर्य तथा अनन्त शक्ति सहित ही मत्स्य-कच्छादिक रूपों को धारण करते हैं।** और जिस कार्य के निमित्त जिस देह का धारण किया हो, वह कार्य हो जाता है तब उस देह का त्याग भी कर देते हैं। उसे भागवत में कहा है-

भूभार: क्षपितो येन तां तनूं विजहावज: ।
कण्टकं कण्टकेनैव द्वयं चापीशितु: समम् ।।(१)

जिस-जिस देह से भगवान ने पृथ्वी का भार उतारा तथा जीवों को देहाभिमानरूप जो चैतन्य में कांटा चूभ रहा था उसे निकालकर और निकालनेवाले कांटारूप जो अपना देह, उसका भी त्याग किया। तथा राक्षस को मारने के लिए भगवान ने नृसिंहरूप धारण किया, और फिर उस कार्य को करने के बाद फिर उस देह का त्याग करने की इच्छा की, परन्तु उन सिंह को कौन मारे ? फिर अपनी इच्छा से कालरूप शिव, वे शरभ का रूप धारण करके आये और नृसिंह तथा शरभ में युद्ध हुआ। फिर दोनों ने देह त्याग किया। इस से शिव शरभेश्वर महादेव हुए और नृसिंहजी ने देह त्याग किया, वह नारसिंही शिला हुई। इसलिए चित्रों में जहाँ-जहाँ मत्स्य-कूर्मादिक भगवान के अवतारों का चित्रण करते हैं, वहाँ-वहाँ थोड़ा सा मत्स्य-कच्छादिक का आकार बनाकर फिर उसके पर शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, वैजयन्तीमाला, पीताम्बर वस्त्र, किरीट-मुकुट, श्रीवत्स का चिह्न इत्यादिक चिह्न सहित भगवान की मूर्ति को लिखते(२) हैं। इसलिए तो भगवान का रूप अनादि ऐसा ही है। और श्रीकृष्ण भगवान ने प्रथम जन्म समय में वसुदेव-देवकी को चतुर्भुज रूप में दर्शन दिया। अक्रूर को चतुर्भुज

१. भाग. (१/१५/३४) २. चित्रांकित करते हैं।

रूप में दर्शन जल में दिया तथा रुक्मिणी को मूर्छा आई तब भी चतुर्भुज रूप में दर्शन दिया । अर्जुन ने भी ऐसा कहा है कि

'तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते[१] ।'

इसलिए अर्जुन भी चतुर्भुजरूप देखते थे और यादवास्थली करके[२] पीपल के नीचे श्रीकृष्णभगवान बैठे थे, उस समय उद्धवजी तथा मैत्रेय ऋषि ने भगवान का रूप चतुर्भुज, शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, पीताम्बर सहित देखा । श्रीकृष्ण भगवान तो श्याम थे और उनका रूप तो कोटि काम को लज्जित करे ऐसा कहा है । इसलिए ऐसे मनुष्य जैसे दिखाई देते हैं । उनमें ही पहले कहा ऐसा प्रकाश एवं सुख, वे सभी रहे हैं । तो जिसे ध्यान, धारणा, समाधि का अंग हो, उसे वही जो मूर्ति है, वही कोटि-कोटि सूर्य के प्रकाश से युक्त दिखाई देती है, परन्तु मशाल, दीपक का काम नहीं पड़ता है । ऐसा प्रकाश उन भगवान में है और वह नहीं दिखाई पड़ता, वह तो उन भगवान की ऐसी इच्छा है । और वे भगवान इच्छा करें कि 'ऐसा प्रकाशवान मैं इस भक्त को दिखाई दूँ,' तो वैसे प्रकाश से युक्त ऐसी वही मूर्ति को देखता है । इसलिए जिसे भगवान का निश्चय हो, वह ऐसा समझता है कि 'गोलोक, वैकुण्ठ, श्वेतद्वीप, ब्रह्मपुर इन धामों में जो ऐश्वर्य, समृद्धि तथा पार्षद; उनके सहित वे भगवान हैं तथा उनकी सेवा को करनेवाले तो राधिका, लक्ष्मी आदिक हैं; ऐसे परम भाव से सहित भगवान को देखते हैं और जो मूढ[३] हैं, वे मनुष्य जैसे देखते हैं । उसे श्रीकृष्ण भगवान ने गीता में कहा है कि-

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥[४]

१. हे सहस्त्रबाहो ! हे विश्वमूर्ते ! वही के वही चतुर्भुजरूप में आप हो जायें । (गीता. ११/४६)
२. 'यादव का विनाश' ऐसा भावार्थ है । ३. मूर्ख, अज्ञानी
४. अर्थ : खुदने किये हुए पापकर्म से मूढ ऐसे पुरुष, मेरा परम भाव न जानकर सर्वभूतों के महेश्वर और परम करुणा से सर्व के समाश्रय के लिए मनुष्य को सजातीय शरीर को आश्रय देनेवाला में, वह मेरी अवज्ञा करता है, इसलिए मुझे प्राकृत मनुष्य की तरह सजातीय मानकर तिरस्कार करता है । (गीता. ९/११)

इसलिए जो मूर्ख हैं वे भगवान के ऐसे परमभाव को जाने बिना भगवान में अपने जैसे मनुष्य के भाव को देखते हैं। तो मनुष्यभाव तो क्या है ? तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, आशा, तृष्णा इत्यादिक अन्तःकरण के भाव हैं। तथा हाड़, चाम, मल, मूत्रादिक तथा जन्म, मरण, बाल, यौवन, वृद्धत्व ये सभी देह के भाव हैं। इत्यादिक जो मनुष्यभाव हैं, उन सभी भावों को भगवान में ठहराता हैं। इसलिए ऐसे भावों को ठहरानेवाला जो हो, उसे भगवान के निश्चय जैसा दिखता है तो भी उसका निश्चय कच्चा[१] है। और वह जरूर सत्संग में से गिर जायेगा। और **वे भगवान तो परम दिव्य मूर्ति हैं और भगवान में तो इन मनुष्यभावों का लेश नहीं है।** इसलिए उन भगवान में से मनुष्यभाव को टालकर देवभाव लायें, फिर ब्रह्मादिक का भाव लायें, फिर प्रधानपुरुष का भाव आता है, फिर प्रकृतिपुरुष का भाव आता है, फिर अक्षर का भाव आता है, फिर अक्षरातीत ऐसे पुरुषोत्तम, उनका भाव आता है। जैसे ब्रज के ग्वालों को आश्चर्यरूप श्रीकृष्ण भगवान के चरित्रों को देखकर प्रथम तो देवभाव आया। फिर गर्गाचार्य के वचन का स्मरण करके नारायण का भाव आया। फिर ऐसा कहा कि 'आप तो नारायण हैं, इसलिए हमें आपका धाम दिखाइए'। तब अक्षरधाम दिखाया। इस तरह से **भगवान में जिसे दिव्यभाव है, उसे पूरा निश्चय जानें।** और ऐसा कहते हैं कि 'इसे प्रथम भगवान का निश्चय नहीं था और अब हुआ है। तो क्या, वह प्रथम भगवान को नहीं देखता था ?' देखता तो था, परन्तु मनुष्यभाव सहित देखता था और फिर जब निश्चय हुआ तब दिव्यभाव सहित दर्शन किया, तब उसे निश्चय हुआ जानें। और **जब भगवान में ऐसा दिव्यभाव न समझता हो तब उसे बात-बात में खेद होता है तथा गुण-अवगुण लेता रहता है कि 'इनकी तरफ का पक्ष रखते हैं और हमारा पक्ष नहीं रखते है तथा इनको ज्यादा बुलाते हैं और हमें नहीं बुलाते हैं और इनके ऊपर अधिक स्नेह हैं और हमारे पर नहीं हैं।'**

---

१. अपरिपक्व

इस तरह से गुण-अवगुण ठहराता रहता है । इससे उसका अन्तर दिन प्रतिदिन पीछे हटता रहता है, अन्त में वह विमुख हो जाता है ।

इसलिए भगवान में तो मनुष्यभाव ठहरायें ही नहीं, तथा भगवान के भक्त में भी मनुष्यभाव न ठहरायें । क्योंकि, देह से तो भगवान के भक्तों में कोई अन्धा हो, लंगड़ा हो, कोढ़ी हो, बहरा हो, वृद्ध हो, कुरूप हो और वह जब देह त्यागता है तब क्या भगवान के धाम में ऐसे अंधे-लंगड़े ही रहते हैं ? नहीं रहते हैं । वे तो सभी मनुष्यपना के भाव हैं, इनका त्याग करके दिव्यरूप होते हैं, ब्रह्मरूप होते हैं । इसलिए **हरि के भक्त में मनुष्यभाव न ठहराया जाये, तो परमेश्वर में कैसे ठहराया जाये ?** और यह जो बात है, उसे चाहे तो आज समझ लीजिए तभी इतनी ही समझनी है और चाहे तो सौ वर्षो में समझिए, तभी भी इतनी ही समझनी है । इस बात को समझकर इसकी दृढ़ता की गाँठ किये बिना उपाय[१] ही नहीं है । इसलिए यह जो मेरी बात है, उसे सभी हरिभक्त याद रखकर परस्पर करें और जब किसी को नासमझी से धोखा हो जाये तब उसे यह बात करके सचेत करा दें । **यह जो हमारी वार्ता[२] है उसे नित्य प्रतिदिन[३] दिन में एक बार करें, ऐसी हमारी आज्ञा है; इसे भूलियेगा नहीं, जरूर भूलियेगा नहीं ।**'' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज सभी हरिभक्तों को **'जय स्वामिनारायण'** कहकर हसतें हुए अपने निवासस्थान पधारे । इस तरह श्रीजीमहाराज की वार्ता सुनकर **सभी साधु तथा सभी हरिभक्त वे श्रीजीमहाराज को समस्त अवतारों के कारण अवतारी जानकर दिव्यभाव की अतिशय दृढ़ता करने लगे ।**

॥ इति वचनामृतम् लोया ॥१८॥१२६॥

॥ श्रीलोया प्रकरणम् समाप्तम् ॥

१. छुटकारा २. बात ३. हर हमेश

श्रीपञ्चाला प्रकरणम्

झीणाभाई का निवासस्थान - पञ्चाला

झीणाभाई का निवासस्थान

श्रीपञ्चाला प्रकरणम्

जिसे **प्रत्यक्ष भगवान** के
स्वरूप की दृढ़ उपासना हो
और उसे भगवान के स्वरूप में
कभी भी मायिकभाव का
संशय न होता हो
और उसे कदाचित् कुसंग के योग से
अथवा प्रारब्ध कर्म के योग से
कुछ अनुचित बर्ताव हो जाये
तब भी उसका कल्याण होता है।
और यदि इस तरह से
भगवान को समझने में जिसे संशय हो,
और वह यदि ऊर्ध्वरेता-नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो
और महात्यागी हो
तो भी उसका कल्याण होना
अति कठिन है।
- पंचाला ॥७॥

पञ्चाला

'पञ्चाला' नाम सुनते ही आँखो के समक्ष परमहंसो के साथ रासलीला खेलते हुए श्रीजीमहाराज की छवि उपस्थित हो जाती है। झीणाभाई जैसे अनन्य सेवक की भक्तिरूपी डोर से साक्षात् सर्वावतारी बँधकर एक मास और सात दिन तक के कम समय में अनेकविध लीलाओं के साथ उपदेशामृत की अमीधारा द्वारा मुमुक्षुओं के हृदय को नवपल्लवित किये हैं।

पञ्चाला की भूमि की गोद में बैठकर श्रीहरिने परमहंसो को कण्ठी, जनेऊ धारण करवाकर उनके साथ रंग एवं रासलीलएँ खेली है, साबली नदी के जलप्रवाह में क्रिडाएँ भी की है, बीमारी ग्रहण की, उतना ही नहीं विवाह बन्धन में जुड़ने की हठ ग्रहण करके अद्भुत-अश्रुतपूर्व चरित्र (लीला) किये हैं।

साथ ही सांख्ययोग के तात्त्विक विवेचन पूर्वक अपने धाम की सर्वोपरिता दिखाई है। ज्ञान-वैराग्यादिक साधन के साथ स्वेष्ट स्वरूप की उपासना कितनी आवश्यक है, उसकी बहुत ही स्पष्टता से चर्चाएँ की हैं। जिसे इस प्रकरण के अध्ययन से अवश्य समझा जा सकता है।

॥ वृत्तालये स भगवान् जयतीह साक्षात् ॥

श्रीपञ्चाला प्रकरणम्

वचनामृत १ : 'बुद्धिवाले का - विचार को प्राप्त होने का'

संवत्* १८७७ फाल्गुन शुक्ल ४ चतुर्थी के दिन श्रीजीमहाराज गाँव श्रीपञ्चाला स्थित झीणाभाई के राजभवन में चबूतरे पर पलंग बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था तथा सफेद अंगरखा पहना था, श्वेत खेस पहना था, सफेद पिछौरी ओढ़ी थी, मस्तक के फेंटे का पेच दाहिनी ओर लटक रहा था[१] और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

उस समय में संध्या आरती होने के बाद श्रीजीमहाराज तकिये पर विराजमान होकर बोले कि "हम ये सभी बड़े[२] परमहंसों तथा बड़े हरिभक्तों को प्रश्न पूछते हैं कि भगवान में स्नेह हो तथा धर्म में निष्ठा हो तो भी यदि विचार को प्राप्त न हुआ हो, तो अति उत्तम जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पञ्चविषय हैं वे तो जो अतिशय बुरे[३] जो शब्दादिक पञ्चविषय हैं, उनके समान नहीं होते हैं अथवा उनसे अतिशय निम्न भी नहीं होते हैं; इसलिए किस विचार को प्राप्त हो, तब अति उत्तम जो पञ्चविषय हैं, वे अतिशय बुरे[४] पञ्चविषय के समान हो जायें अथवा उनसे भी अतिशय बुरे हो जायें ?' यह प्रश्न सभी बड़े परमहंसों को तथा सभी बड़े हरिभक्तों को हम पूछते हैं। तो

---

*दि. ७-३-१८२१, बुधवार

१. खुला था **२.** अग्रणी, मुख्य **३-४.** कुत्सित, खराब, निष्कृष्ट

जिसने जिस तरह के विचार से इन श्रेष्ठ पञ्चविषय को बुरे पञ्चविषयों जैसे जान लिए हों, अथवा खराब से भी अतिशय खराब जान लिए हों, वे जो अपने-अपने विचार हैं, उन्हें कहें।'' फिर उन सभी परमहंसों ने तथा सभी हरिभक्तों ने अपना-अपना विचार कह दिखाया।

उसके बाद श्रीजीमहाराज बोले कि ''आप सभी का तो यह विचार सुना, परन्तु अब हमने जो विचार किया है, उसे कहते हैं। जैसे किसी का कागज[१] परदेश से आया हो, उसे पढ़कर उस कागज के लिखनेवाले की जैसी बुद्धि होती है, वैसी मालूम होती है। तथा जैसे पाँच पाण्डव, द्रौपदी, कुन्तीजी तथा रुक्मिणी, सत्यभामा, जांबवती आदिक भगवान की पटरानियां तथा सांब जो भगवान का पुत्र; इत्यादिक भक्त के रूप तथा वचन, वे शास्त्र में लिखे हैं; उस शास्त्र के श्रवण से उनके रूप का प्रमाण तो दर्शन जैसा ही होता है, तथा उनके वचन से उनकी बुद्धि का प्रमाण होता है। उस तरह पुराण-भारतादिक ग्रन्थों से ऐसा सुनने में आता हैं कि भगवान तो इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय, उनके कर्ता हैं और सदा साकार हैं, और यदि साकार न हों तो उन में कर्तापन[२] नहीं कहलाता। और **जो अक्षरब्रह्म है, वह तो उन भगवान के रहने का धाम है।** ऐसे दिव्यमूर्ति, प्रकाशमय तथा सुखरूप जो भगवान हैं, वे तो प्रलयकाल में माया में कारण शरीर सहित लीन थे जो जीव, उन्हें उत्पत्तिकाल में वे बुद्धि, इन्द्रियाँ, मन तथा प्राण को देते हैं[३]; तो किसलिए देते हैं ? तो उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ जो विषय हैं, उनके भोग के लिए तथा मोक्ष के लिए देते हैं।

और उन जीवों के लिए भोग तथा भोग के स्थानक, उनकी भगवान ने रचना की हैं। उनमें जो उत्तम पञ्चविषय किये हैं, उन्हें बुरे पञ्चविषय के दुःख की निवृत्ति के लिए किये हैं। जैसे कोई बड़ा साहूकार हो, वह रास्ते के दोनों किनारों पर छाया के लिए पेड़ लगवाता है तथा पानी की प्याऊ बनवाता है तथा सदाव्रत[४] खुलवाता है तथा धर्मशाला बनवाता है, उसे गरीबों के लिए करवाता

१. पत्र २. कर्तृत्व ३. सर्जन कर देते है। ४. अन्नक्षेत्र, भंडारा

है; उस तरह **ब्रह्मा, शिव तथा इन्द्रादिक देव हैं, वे तो उन भगवान के आगे जैसे सेंतालीसवा[१] के रांका[२] हो, और पीपल के फल को उबालकर खाते हों, उनके जैसे गरीब है।** उन ब्रह्मादिक देव-मनुष्यों के सुख के लिए उत्तम ऐसे जो पञ्चविषय हैं, वे भगवान ने बनाए हैं। जैसे साहूकार ने सदाव्रत, धर्मशालादिक में रांकों के लिए जैसे सुख[३] बनाए हैं, उससे उस साहूकार के घर में सुख तो अतिशय उत्तम होंगे, ऐसा दिखता है; उस तरह उन **भगवान ने ब्रह्मादिक के लिए ऐसे सुख बनाए हैं, तो अपने धाम में तो उनसे अति उत्तम सुख होगा; ऐसा जो बुद्धिवाला हो उसे जानने में आता है। इसलिए उन भगवान के धाम के सुख की अतिशयता बुद्धिमान को जानने में आती है, उससे जो उत्तम विषय हैं वे बुरे हो जाते हैं।' और संसार में जो पशु, मनुष्य, देवता, भूत[४] इत्यादिक जहाँ-जहाँ पञ्चविषय सम्बन्धी सुख दिखाई देता है, वह धर्म सहित जो किंचित् भगवान का सम्बन्ध है, वह उनसे है, परन्तु साक्षात् भगवान में जैसा सुख है वैसा किसी में नहीं है।** जैसे यह मशाल जलती है, उस मशाल के समीप में जैसा प्रकाश है, वैसा थोड़ी दूरी पे नहीं है और उससे बहुत दूरी पे तो बिलकुल नहीं है; उस तरह दूसरी जगह पर तो किंचित् सुख है, किन्तु सम्पूर्ण सुख तो भगवान के समीप में रहता है। और जितनी भगवान से दूरी बनती है, उतनी सुख में न्यूनता होती है। इसलिए जो मुमुक्षु हो, वह अपने मन में ऐसा विचार करता है कि 'जितनी मुझे भगवान से दूरी होगी उतना दुःख होगा और महा दुःखिया हो जाऊँगा। और थोड़ा सा भगवान के सम्बन्ध से ऐसा सुख होता है, इसलिए मुझे भगवान का सम्बन्ध अतिशय रखना है। और यदि मैं अति सम्बन्ध रखूँगा तो मुझे उत्कृष्ट सुख की प्राप्ति होगी। ऐसा विचार करके तथा **भगवान के सुख का लोभ रखकर, जैसे भगवान का सम्बन्ध अतिशय रहने लगे ऐसा**

---

१. वि.संवत् १८४७ में पड़े अकाल-सूखा। **२.** रंक, अति गरीब भिक्षुक, १८४७ में पड़े हुए सूखे के गरीब। **३.** उपयुक्त सुविधायें। **४.** जल-स्थल इत्यादिक पञ्चभूत।

उपाय करता है, उसे बुद्धिमान कहते है । और पशु के सुख से मनुष्य का सुख अधिक है और उससे राजा का सुख अधिक है, और उससे देवता का सुख अधिक है, और उससे इन्द्र का अधिक है, और उससे बृहस्पति का, और उससे ब्रह्मा का, और उससे वैकुण्ठलोक का, और उससे गोलोक का सुख वह अधिक है और **उससे भगवान के अक्षरधाम का सुख अति अधिक है ।**

इस तरह से भगवान के सुख को अतिशय जानकर दूसरे जो–जो पञ्चविषय के सुख हैं, उनमें बुद्धिमान को तुच्छता हो जाती है । और उन भगवान के सुख के आगे ब्रह्मादिक का सुख तो जैसा बहुत सम्पन्न[१] गृहस्थ के घर पर कोई रंक ठीकरा[२] लेकर मांगने आया हो, उनके जैसा है । उन भगवान के धाम के सुख का जब विचार करते हैं तब सभी जो अन्य सुख हैं, उनसे उदासीन होकर मन में ऐसा होता है कि **'इस देह का त्याग करके उस सुख को कब प्राप्त होंगे ?'** और स्वाभाविक रूप से पञ्चविषय को ग्रहण करते हैं, उनमें तो कोई ज्यादा[३] विचार होता नहीं है, परन्तु यदि उन विषय में कुछ ही सार[४] मानने में आता है तब तुरन्त ही उन भगवान के सुख में दृष्टि पहुँच जाती है, और मन अति उदासीन हो जाता है । और ये जो सभी बातें हैं, उसे जो बुद्धिवाला हो, उसे जानने में आतीं हैं, इसलिए **बुद्धिमान पर हमें स्नेह है । क्योंकि हम बुद्धिमान हैं तो इस तरह से हमारी दृष्टि पहुँचती है, इसलिए जो बुद्धिमान हो, उनकी भी दृष्टि पहुँचती तो हैं ।**

और इस तरह का हमारा विचार है, वह आप सबके विचार से हमें अधिक दिखने में आया है, इसलिए **हमारे इस विचार को अतिदृढ़ता से हृदय में सभी रखिएगा ।** इस विचार के बिना तो यदि रमणीय पञ्चविषय में वृत्ति चिपकी हो, उसे अति बलपूर्वक उखाड़ने लगें तब बड़ी मुश्किल से उखड़ पाती है, और यदि इस विचार को प्राप्त हुआ हो तो, उस वृत्ति को खींचने में लेशमात्र प्रयास नहीं पड़ता है, सहजरूप से ही विषय की तुच्छता दिखाई देती है । यह जो वार्ता है, वह तो जिसे अधिक बुद्धि हो, और अधिक सुख के लोभ की इच्छा रखता

१. बड़े धनवान २. भिक्षापात्र, मिट्टी के बरतन का फूटा टुकड़ा
३. विशेषरूप से ४. सुख भावना होती है

हो, उसे समझमें आती है। जैसे कौड़ी से[१] पैसे में ज्यादा माल[२] है, और उससे रुपिया में ज्यादा माल है, और उससे स्वर्णमुद्रा में ज्यादा माल है, और उससे चिन्तामणि में ज्यादा माल है, उस तरह जहाँ-जहाँ पञ्चविषय का सुख है, उनसे भगवान के धाम में भगवान का सुख अति अधिक है। इसलिए जो बुद्धिमान हो और जिसकी दृष्टि[३] पहुँचती हो, उसे यह विचार हृदय में ठहरता[४] है। यह विचार जिसके हृदय में दृढ़ स्थिर हुआ हो, और वह वन में बैठा हो तो अपने को ऐसा समझता है कि 'मैं अनन्त मनुष्यों तथा राज्य समृद्धि से घिरा हुआ हूँ,' ऐसा समझता है, परन्तु दुःखिया नहीं मानता है। इन्द्र के लोक में हो तो समझता है कि 'वन में बैठा हूँ', परन्तु उन इन्द्र के लोक के सुखों से सुखिया मानता नहीं है, उन सुखों को तुच्छ समझता है। इसलिए इस विचार को रखकर सभी ऐसा निश्चय रखे कि '**अब तो भगवान के धाम में ही अन्तिम सीमा तक पहुँचना है, परन्तु बीच में किसी स्थान पर तुच्छ पञ्चविषय सम्बन्धी जो सुख है, उनमें लुभाना नहीं है।**' इस तरह सभी दृढ़ निश्चय रखें। और यह तो, जो हमारा सिद्धान्त है, उसे आप सभी को कहा है, इसलिए दृढ़ करके रखिएगा।''

॥ इति वचनामृतम् पञ्चाला ॥१॥१२७॥

वचनामृत २ : 'सांख्य-योग का'

संवत्* १८७७ फाल्गुन शुक्ल ७ सप्तमी के दिन गाँव श्रीपञ्चाला स्थित झीणाभाई के राजभवन में चबूतरे पर पलंग बिछाया था, उस पर श्रीजीमहाराज विराजमान थे। उन्होंने सफेद फेंटा सिर पर बाँधा था तथा श्वेत खेस पहना था, श्वेत पिछौरी ओढ़ी थी और परमहंस की सभा तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा श्रीजीमहाराज के मुखारविन्द के सन्मुख बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''मोक्षधर्म की पुस्तक मँगवाइए, तो सांख्य के अध्याय की तथा योग के अध्याय की कथा करवाएँ।'' इस वचन को सुनकर

*दि. १०-३-१८२१, शनिवार

१. कौड़ी की अपेक्षा २. मूल्य ३. भगवान के सुख में। ४. टिकता

पुस्तक मँगवाई । फिर नित्यानन्द स्वामी ने कथा करना आरम्भ किया । फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''योगवाले हैं, वे पच्चीसवाँ जीव-ईश्वर को कहते हैं और छब्बीसवाँ परमात्मा को कहते हैं । और सांख्यवाले हैं वे चौबीस तत्त्वों के अन्तर्गत जीव-ईश्वर को कहकर पच्चीसवें परमात्मा को कहते हैं । उनमें जो योगवाले हैं, उनका ऐसा मत है कि चाहे जैसा आत्मा-अनात्मा का विचार किया जाये, साधन किया जाये, परन्तु प्रत्यक्ष भगवान के आश्रय बिना मोक्ष नहीं होता है । और सांख्यवाले का ऐसा मत है कि समस्त देव-मनुष्यादिक की जो गतियाँ उन्हें जानकर और विषयों में वैराग्य प्राप्त होकर, तीन देह से पर ऐसी जो आत्मा, उसे जान ले, तब मुक्त होता है । ये दो प्रकार के जो मत हैं, उनमें अपने-अपने मत में जो दूषण[१] हैं, उनके निवारण के लिए युक्ति का ग्रहण करें । उनमें योगमत में यह दूषण है कि जीव को पच्चीसवाँ कहा तथा ईश्वर को पच्चीसवाँ कहा; और जीव का चौबीस तत्त्व का देह कहा एवं ईश्वर का भी चौबीस तत्त्व का देह कहा । इसलिए इन दोनों में तुल्यभाव आ जाता है कि स्थूल एवं विराट वे तुल्य हैं, तथा सूक्ष्म एवं सूत्रात्मा वे तुल्य हैं, और कारण एवं अव्याकृत वे तुल्य है; तथा जागृत एवं स्थिति अवस्था वे तुल्य है, तथा स्वप्न एवं उत्पत्ति अवस्था वे तुल्य है, तथा सुषुप्ति एवं प्रलय अवस्था वे तुल्य है, और विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ और विष्णु, ब्रह्मा एवं शिव वे तुल्य हैं । ऐसा समझकर छब्बीसवें[२] को भजते हैं । इस तरह से जीव-ईश्वर में जो तुल्यभावरूप दोष है, उसे टालने के लिए किसी बड़े के पास से युक्ति सीखें कि ईश्वर के देह में जो पञ्चभूत रहते हैं, उनकी महाभूत ऐसी संज्ञा है और वे भूत समस्त जीवों के देहों को धारण कर रहे हैं । और जीव के देह में जो पञ्चभूत हैं, वे अल्प हैं तथा दूसरे को धारण करने में समर्थ नहीं हैं । और जीव तो अल्पज्ञ है, और ईश्वर तो सर्वज्ञ है ।' इस तरह से युक्ति सीखकर जीव-ईश्वर में समभाव न समझें । और यदि ऐसी युक्ति न सीखी हो और कोई प्रतिवादी प्रश्न पूछता है तब उसका उत्तर करनें में कठिनाई होती है और समझ विपरीत[३] हो जाती

१. खामी, त्रुटी, न्यूनता २. परमात्मा ३. अनेक संशयो से ग्रस्त ।

है । और कोई प्रश्न करता है, तब तो वह जीव-ईश्वर में समभाव रहने नहीं देता; इसलिए जीव-ईश्वर में समभाव न आ जाये, इस तरह की युक्ति सीखें और इस तरह के जो वचन है उन्हें सुनें । और सांख्यवाले को यह दूषण है कि चौबीस तत्त्व कहे हैं और पच्चीसवाँ परमात्मा कहे हैं; और वे चौबीस तत्त्व मिथ्या कहे हैं और परमात्मा सत्य कहे हैं, तब उन परमात्मा को प्राप्त कौन होता है ? क्योंकि प्राप्त होनेवाले जीव को तत्त्व से भिन्न नहीं कहा है । इसलिए यह जो दूषण है, उसे टालने के लिए[१] बड़ों से ऐसी युक्ति सीखे कि 'यह चौबीस तत्त्व कहे हैं, वे जीव बिना नहीं हो सकते; इसलिए उन तत्त्वों के साथ ही जीव-ईश्वर को जो कहा है । वे जीव-ईश्वर उन तत्त्वों से पृथक् हैं और परमात्मा को प्राप्त करते हैं । इस तरह की युक्ति सीखें । और यह युक्ति न सीखी हो और कोई प्रतिपक्षी प्रश्न पूछता है तो संशय होता है कि 'तत्त्व तो मिथ्या है, तब उन परमात्मा को प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्यादिक धर्म कहे हैं तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासादिक साधन कहे हैं, वे किस के लिए कहे हैं ?' इसलिए तत्त्व के तदात्मकभाव[२] को प्राप्त हुए जो जीव-ईश्वर, उन्हें तत्त्वरूप से कहा है, परन्तु वे तत्त्व से अति विलक्षण[३] हैं, वे परमात्मा को प्राप्त करते हैं । इत्यादि जो युक्तियाँ हैं, उसे बड़े सन्तों से सांख्यवालों को सीखना है । और योगवाले जो हैं, उन्हें 'प्रत्यक्ष मूर्ति ऐसे जो मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, राम-कृष्णादिक भगवान के अवतार हैं, उनके ध्यान से मोक्ष होता है' ऐसी युक्ति का ग्रहण करते हैं । और जो सांख्यवाले हैं वे तो जो **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'**[४] इत्यादिक श्रुति शास्त्र द्वारा कहा जो भगवान का स्वरूप, उसके अनुभव से यथार्थ जान ले तब मोक्ष होता है,' ऐसी युक्ति को ग्रहण करते हैं। और ये जो दोनों मत हैं, वे अच्छे[५] हैं और बड़ों[६] ने मान्य

---

१. उसकी निवृत्ति के लिए । **२.** घुला मिला, लोहे के गोले में अग्नि की तरह, एकरूप से । **३.** काल के कारण अन्यथा होनेवाली अवस्थाएं, तत्त्वों के प्रकाशकरूप से । **४.** मन सहित वाणी जिन परमात्मा को न पाकर वापस लौटती है अर्थात् परमात्मा मन-वाणी से अगोचर हैं । (तै.उप.आनं. २/४(९)/१) **५.** योग्य, मोक्ष के लिए उपयुक्त, पाशुपतादिक मत की अपेक्षा से । **६.** व्यास आदि मुनिओं ने ।

किए हैं। इन दोनों[१] का यदि यथार्थ आचरण[२] जो कोई करता है तो वह परमगति को प्राप्त होता है। इन दो मत में साधन समान कहे हैं। परन्तु उपासना की जो रीति है वह समान नहीं है, बहुत पृथक्[३] है।''

इस तरह से वार्ता करके श्रीजीमहाराज परमहंस के प्रति बोले कि ''अब तो कीर्तन गाइये।'' तत्पश्चात् मुक्तानन्द स्वामी आदिक जो परमहंस, वे वादित्र लेकर कीर्तन गाने लगे। उसके बाद फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''अब कीर्तन रखिए, ये सांख्य तथा योग, इन दोनों का सिद्धान्त आपने जब तक कीर्तन गाये तब तक हमनें सोच रखा है, उसे कहते हैं, तो सुनिये। जो योगवाला है, उसे आत्यन्तिक प्रलय में अक्षरधाम में जो तेजोमय ऐसी दिव्यरूप भगवान की मूर्ति रहती है, वह ध्यान करने के योग्य है, और उससे समीप[४] प्रकृति-पुरुषरूप भगवान ध्यान करने योग्य हैं, और उससे समीप प्रकृति-पुरुष के कार्य जो चौबीस तत्त्वरूप भगवान वे ध्यान करने योग्य हैं,[५] और उससे समीप हिरण्यगर्भ और उसके समीप चौबीस तत्त्व से उत्पन्न हुआ जो विराट हैं, वे ध्यान करने योग्य हैं, और उससे समीप ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा पृथ्वी पर जो मत्स्य, कूर्म, नृसिंह, वराहादिक भगवान के अवतार तथा शालग्राम आदिक प्रतिमाएँ, ये सभी ध्यान करने योग्य हैं; ऐसा योगवालों का तात्पर्य जानने में आया। फिर सांख्य का विचार हुआ तब उन्हों ने उन आकारमात्र का निराकरण[६] कर दिया और ऐसा प्रतीत हुआ कि 'इन सभीके विचार को करनेवाला जो जीव है, उसके जैसा शुद्ध कोई नहीं है, इसलिए जीव का ध्यान करना यह ठीक है।' ऐसा जो सांख्य का विचार है, उसे टालने के लिए फिर योग का विचार हुआ कि परात्पर ऐसे जो वे पुरुषोत्तम भगवान हैं, उनका इन प्रकृति-पुरुषादिक सभी में अन्वयपना[७] है; इसलिए वे सभी भगवान ही हैं, और दिव्यरूप हैं तथा सत्य हैं, तथा ध्येय

---

१. मतों २. अनुसरण ३. भिन्न, अलग ४. नीचे, अधः, निम्न।
५. क्योंकि, उसमें भगवान पुरुषोत्तम का अन्वय सम्बन्ध है। ६. खण्डन
७. अन्वयरूप से व्याप्त।

हैं। और इस बात को दृढ़ करने के लिए श्रुति है कि **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**[१] **'नेह नानास्ति किञ्चन**[२] **तथा इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवा:'**[३] इस प्रकार का योगमार्ग है, इस में प्रवृत्त हुआ जो मुमुक्षु है, उसे कोई विघ्न नहीं है; क्योंकि वह मार्ग स्थूल है और उसमें प्रत्यक्षमूर्ति भगवान का अवलम्बन है, इसलिए जैसा तैसा हो, वह भी उस मार्ग से निर्विघ्न होकर मोक्ष को प्राप्त करता है। परन्तु इस मार्ग में एक दोष है कि उन सभीसे पर जो पुरुषोत्तम भगवान हैं, उन्हें और प्रकृति-पुरुषादिक को अंश-अंशिभाव आ जाता है कि 'भगवान के अंश प्रकृतिपुरुष हैं और उनके अंश हिरण्यगर्भ, विराट आदिक हैं।' इस तरह समझ में आ जाये तो बड़ा दोष आता है; क्योंकि भगवान अच्युत हैं, निरंश हैं, निर्विकार हैं, अक्षर हैं, अखण्ड हैं, उनमें[४] च्युतभाव आ जाता है और अंश-अंशिभाव आ जाता है; इसलिए ऐसा दोष न आने दें।

और ऐसा समझें कि उन **भगवान के जैसे तो**[५] **भगवान ही हैं** और अन्य जो प्रकृति-पुरुषादिक हैं, वे तो उनके भक्त हैं और उनका ध्यान करते हैं, इसलिए वे भगवानरूप हैं। जैसे कोई बड़े सन्त हों और वे भगवान का ध्यान करते हों और उन्हें भगवानरूप जानते हैं, उस तरह वे प्रकृति-पुरुषादिक भी भगवानरूप हैं। और उन सभीसे पर जो पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं, वे ही वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्धरूप में होते हैं तथा राम-कृष्णादिक अवतारों का ग्रहण[६] करते हैं, वे ध्यान करने योग्य हैं।' ऐसा समझा जाय तो वह योगमार्ग

---

१. यह सर्व जगत ब्रह्म-ब्रह्मात्मक हैं। (छां.उप. ३/१४/१)

२. जगत में जो कुछ दिखता है वह सब भगवानमय है। उनके बिना जगत में कोई पदार्थ मान लीजिए अस्तित्व में ही नहीं है। (बृ.उप. ४/४/१९)

३. यह समग्र विश्व भगवानरूप है। जिस भगवान के द्वारा इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है। इसलिए यह जगत भगवानरूप कहलाता है। वस्तुत: विश्व से भगवान विलक्षण हैं। (भाग.१/५/२०)

४. भगवान में ५. रूप, गुण, ऐश्वर्यादिक से। ६. धारण

तो अतिशय निर्विघ्न है और श्रेष्ठ है। और सांख्यवाले हैं उनमें यह दोष है कि जो सांख्यवाले हैं वे ऐसा कहते हैं कि 'अन्तःकरण से तथा इन्द्रियों से जो-जो ग्रहण करने में आता है, वह सभी मिथ्या है, और अनुभव से जो ग्रहण करने में आता है, वह सत्य है।' इस तरह से आकारमात्र को मिथ्या कर देते हैं, उनके साथ जीव के कल्याण के लिए प्रकट हुए जो भगवान हैं, उनके रूप को भी मिथ्या कर देते हैं तथा अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण, उनके रूप को भी मिथ्या कर देते हैं और निर्गुण ऐसे जो वासुदेव हैं, उनका ही ग्रहण करते हैं; ऐसा यह बड़ा दोष है। इसलिए वे सांख्यवाले ऐसा समझें तो ठीक रहेगा कि 'सांख्य विचार का ग्रहण करके प्रकृतिपुरुष से जो-जो उत्पन्न हुआ है, उसे मिथ्या करके अपनी आत्मा को सभीसे पृथक् शुद्ध ब्रह्मरूप मानकर, उसके बाद जीव के कल्याण के लिए प्रकट हुए जो भगवान हैं, उनके रूप को सत्य जानकर उनका ध्यान करना चाहिए।' इस तरह से ये दो प्रकार के जो विचार हैं, उन्हें कोई हमारे जैसे बड़े के पास से सीखे, तब समझ में आता है, नहीं तो शास्त्र को पढ़नें-सुननें से भी नहीं आता है। और यह तो ऐसा है कि 'प्रथम सांख्य विचार करके जो ब्रह्मरूप हुआ हो उसके लिए योग का उपदेश है, उसे कहा है कि

ब्रह्मभूतः[१] प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।

तथा

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः[२] ॥

---

१. – लोया के ७ वे वचनामृत की टिप्पणी में इस श्लोक का अर्थ किया है।

२. आत्मस्वरूप में रममाण करनेवाले और रागद्वेषादिक ग्रंथीओं से मुक्त हुए ऐसे मुनि भी निष्कामभाव से जिनकी भक्ति करते है, ऐसे गुणवान भगवान हैं। – (भाग. १/७/१०)

परिनिष्ठतोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया ।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ।(1)

इस प्रकार से सांख्यवाले को योग की अपेक्षा है, क्योंकि ये सांख्यवाला विचार से अपनी आत्मा से व्यतिरिक्त जो कोई पञ्च इन्द्रियाँ तथा चार अन्तःकरण से भोगने में आये ऐसे जो विषयभोग हैं, उन्हें अतिशय तुच्छ जानता है, इसलिए उसे किसी पदार्थ में आश्चर्य नहीं होता है तथा बँधता नहीं है। और उनके पास आकर कोई ऐसा कहे कि यह पदार्थ तो बहुत अच्छा[२] है', तब उसे ऐसे सोचता है कि 'चाहे जैसा अच्छा होगा परन्तु इन्द्रियाँ-अन्तःकरण से ग्रहण करने में आये ऐसा होगा और इन्द्रियाँ-अन्तःकरण के ग्रहण में जो आता है, वह तो असत्य है, नाशवान् है।' ऐसी उन सांख्यवाले को दृढ़ समझ रहती है और अपनी आत्मा को शुद्ध जानता है। ऐसा जो सांख्यवाला है वह योगमार्ग से भगवान की जो उपासना, ध्यान, भक्ति उसे करें; और ऐसा नहीं करता है तो उनमें अति न्यूनता कहलाती है। इस तरह से सांख्यशास्त्र तथा योगशास्त्र, उनका जो सनातन सिद्धान्त है, उसे हमनें यथार्थ विचार करके कहा है। और जो आधुनिक योगवाले तथा सांख्यवाले हैं, उन्होंने तो इन दोनों मार्ग को दूषित कर दिया है। जो योगवाले हैं, वे आकार का स्थापन करने जाते है तब दूसरे जीव के आकार तथा ब्रह्मा, विष्णु, शिव के आकार तथा राम-कृष्णादिक अवतार के आकार, उन सभीको तुल्यरूप से जानते हैं। और जो सांख्यवाले हैं, वे आकार का खण्डन करते हैं, उनके साथ तीर्थ, व्रत, प्रतिमा, यम-नियम, ब्रह्मचर्यादिक धर्म, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, तथा राम-कृष्णादिक अवतार, इन सभी का खण्डन करते हैं। इसलिए आधुनिक जो सांख्यवाले तथा योगवाले, वे दोनों मार्ग को छोड़कर कुमार्ग पर चलते हैं, वे नारकी[३] होते हैं।''

॥ इति वचनामृतम् पञ्चाला ॥२॥१२८॥

---

१. हे राजर्षे ! सत्त्वादि गुण के कार्यभूत तीन देह में विलक्षण आत्मस्वरूप में सम्यक् निष्ठा को पाया ऐसा ही मैं (शुक) उत्तम श्लोक भगवान की लीला से आकर्षित चित्तवाला होकर श्रीमद् भागवत पुराणरूप जो आख्यान, उसी का अध्ययन किया हूँ। (भाग. २/१/९)

२. उत्तम, श्रेष्ठ ३. नरक के अधिकारी, नरक गामी।

वचनामृत ३ : 'मुनिबावा का - मोक्ष के उपयोग में आये उसे बुद्धि कहते है, उसका'

संवत्* १८७७ फाल्गुन शुक्ल ८ अष्टमी के दिन श्रीजीमहाराज गाँव श्रीपञ्चाला स्थित झीणाभाई के राजभवन में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सफेद फेंटा सिर पर बाँधा था तथा श्वेत खेस पहना था, सफ़ेद पिछौरी ओढ़ी थी और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस की सभा तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''सभी परमहंस परस्पर प्रश्न-उत्तर करिए'' तब मुनिबावा ने ब्रह्मानन्द स्वामी को प्रश्न पूछा कि ''ऐसा सत्संग का तथा भगवान का योग मिला है और दूसरे विकार सभी टल गए हैं तथा सत्संग का खप(१) है तो भी मान-ईर्ष्या क्यों रह जाते हैं ?'' फिर इसका उत्तर ब्रह्मानन्द स्वामी करने लगे, परन्तु हुआ नहीं। तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''ऐसा(२) जो है, उसमें बुद्धि नहीं है, और **जो बुद्धिमान है वह तो अपने में जितने अवगुण हों, उन्हें जानता हो, तथा जितने गुण हो उन्हें भी जानता हो और दूसरों में जो गुण तथा अवगुण हों, उन्हें भी जानता है।** और जो बुद्धिमान न हो, वह तो अपने में गुण ही जानता है परन्तु अवगुण हो उसे तो जानता नहीं है; और स्वयं को सनकादिक जैसा बड़ा समझता हैं और जो दूसरे बड़े हों, उन्हें भी अपने से निम्न(३) समझता है। और जो बुद्धिमान होता है वह अपने अवगुण को जानता है कि 'मुझ में इतना अवगुण है।' फिर उस पर तत्परता रखकर उस अवगुण को टाल देता है तथा उस अवगुण को टालने के लिए दूसरे सन्त बात(४) करते हों, उन्हें हितकारी मानता है, इसलिए उनमें मान-ईर्ष्यादिक कोई अवगुण रहता नहीं हैं। और किसी में विशाल बुद्धि दिखाई देती हो, और वह यदि अपने अवगुण का विचार न करता हो, तो उसकी

---

*दि. ११-३-१८२१, रविवार

१. गरज, अति जरूर २. मान ईर्ष्यावाला ३. न्यून, हीन, कनिष्ठ ४. उपदेश

व्यावहारिक बुद्धि जानें; और वह बुद्धि उपर से तो बहुत चतुरता युक्त[१] दिखती हो, परन्तु उसे बुद्धिमान नहीं कहा जाता। उसे तो अति मूर्ख समझें और उसकी वह बुद्धि अपने मोक्ष के काम में नहीं आती है। और थोड़ी सी[२] बुद्धि हो और यदि अपने में अवगुण हो उसे जानकर[३] उसे टालने का उपाय करता है, तो उसकी अल्प बुद्धि भी मोक्ष के लिए उपयोगी होती है और उसे ही बुद्धिवाला कहते हैं। और **जो अपने में तो कभी भी अवगुण देखता न हो, और गुण ही देखता हो उसे मूर्ख कहते हैं और अपने में अवगुण देखता हो, उसे बुद्धिमान कहते हैं।''**

फिर श्रीजीमहाराज ने आज्ञा की कि ''कीर्तन गाइए।'' तब '**सखि, आज मोहन दीठा रे शेरीये आवता रे... ।**'[४] यह कीर्तन परमहंस गाने लगे। तब पुनः श्रीजीमहाराज बोले कि ''अब कीर्तन रखिए और ये कीर्तन गायें, उनमें स्नेह बहुत है। उस स्नेह का हमने विचार किया कि 'स्नेह बड़ी बात है और स्नेह से भगवान का भजन करना यह ठीक है;' परन्तु अच्छी तरह से विचार करके देखा तब ऐसा मालूम हुआ कि जो 'स्नेह[५] है, वह ही भगवान की माया है।' क्योंकि स्त्रियां परस्पर बोलती हों, देखती हों, स्पर्श करती हों, उसमें दूसरी तरह का स्नेह है; और पुरुष हों, वे परस्पर बात करते हों, देखते हों, स्पर्श करते हों, इनमें भी दूसरी तरह का स्नेह है। और पुरुष जिस स्त्री को देखता हो और आलिंगन करता हो, उसकी बातें सुनता हो, उसकी सुगन्ध लेता हो, और उसकी बातें करता हो, उसमें जिस तरह का स्नेह होता है और उस स्त्री में पुरुष का जैसा मन आकर्षित हो जाता है, वैसा पुरुष को पुरुष में नहीं होता है। स्त्री हो और वह पुरुष को देखती है, आलिंगन करती हो, इत्यादिक पुरुष के सम्बन्ध से स्त्री को जैसा स्नेह पुरुष में होता है और उसका मन पुरुष में समग्ररूप से आकृष्ट हो जाता है, वैसा स्त्री में नहीं होता है। इसलिए **जिस से जगत का प्रवाह है तथा जीव को संसृति एवं बन्धन को करानेवाली ऐसी जो**

---

१. तेज गतिमान, सभीके लिए हितकारी दिखनेवाली, तीक्ष्ण २. अल्प ३. पहचान करके, अन्वेषण करके। ४. परिशिष्ट में संपूर्ण किर्तन दिया है। ५. भगवान बिना दूसरे में जो।

भगवान की माया, वह ही स्नेहरूप में है । फिर ऐसा विचार हुआ कि 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये जो पञ्चविषय हैं, उन्हें दूसरे ठिकाने से मिथ्या करके एक भगवान में ही आत्यन्तिक सुख जानकर जोड़ दिया हो, वह तो ठीक है, वह माया नहीं हैं ।' और फिर उनमें भी विचार हुआ कि यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि, भगवान के रूप से अधिक रूप, अधिक स्पर्श, अधिक रस, अधिक गन्ध, अधिक शब्द; वे दूसरे में प्रतीत हों तो भगवान को छोड़कर उसमें स्नेह हो जाता है । जैसे सोलह[१] हजार एकसौ जो श्रीकृष्ण भगवान की स्त्रियाँ थीं, वे जन्मान्तर में अप्सराएँ थीं । उन्होंने ब्रह्मा के पास वर मांगा कि 'हे महाराज ! हमने देवों, दैत्यों और मनुष्यों, इन सभी का स्पर्श किया है, परन्तु जो नारायण पुरुष हैं, उनका पतिभाव से स्पर्श नहीं किया है; इसलिए ऐसी कृपा करें कि वे हमारे पति हो जायें ।' फिर ब्रह्मा ने कहा कि 'आप तप करिए, आपके पति नारायण होंगे ।' तब उन्होंने बहुत तप किया । फिर उन पर अष्टावक्र ऋषि तथा नारदमुनि, वे भी प्रसन्न हुए और वर दिया कि 'तुम्हारे पति नारायण होंगे ।' इस तरह से जन्मान्तर में बहुत ही तप करके श्रीकृष्ण भगवान को प्राप्त हुई थीं । परन्तु यदि भगवान से साम्ब में अधिक रूप देखा तो उसमें मोहित हो गई । **इसलिए जिसकी एक मति रहती न हो, उसे पञ्च इन्द्रियों के विषय के सुखसम्बन्ध से भगवान में प्रीति करनी, वह ठीक नहीं है, और जिसकी मति एक ही तरह की निस्तर्करूप से रहती हो, उसे तो ठीक है ।** और जिसे बुद्धि हो, वह भगवान में स्नेह कैसे करें ? तो जो चौबीस तत्त्व हैं, उनसे अपने जीव को पृथक् जानें और उस जीव में गड़कर[२] रहीं जो पञ्च इन्द्रियों की वृत्तियाँ, उन्हें उखाड़कर इन्द्रियों की वृत्ति के बिना जीवसत्तारूप से रहते हुए निर्गुणरूप से जितना भगवान में स्नेह हो, उतना करें । यह निर्गुणपन तो क्या है ? जो दस इन्द्रियाँ वे रजोगुण की सम्पत्ति हैं और अन्तःकरण तथा देवता वे सत्त्वगुण की सम्पत्ति हैं और पञ्चभूत तथा पञ्चविषय वे तमोगुण की सम्पत्ति हैं; **वह ये तीन गुणों की सम्पत्तियों तथा तीनों गुणों को पृथक् मानकर केवल**

१. यह कथा हरिवंश में है । २. फंस गई हो, घुसी हुई हो ।

जीवसत्तारूप से रहता हो, उसे निर्गुण कहते हैं। ऐसे निर्गुण होकर भगवान में स्नेह करें। उसे कहा है कि

'नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरे:'[१]

तथा

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया ।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ॥[२]

और इस तरह के जो ज्ञानी हैं, वे क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के रूप को जानकर स्वयं क्षेत्रज्ञरूप होकर भगवान में प्रीति करते हैं। वह क्षेत्र तो क्या है ? तो स्थूल, सूक्ष्म, और कारण ये तीन देह, तथा जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ, वे सभी क्षेत्र हैं। उन क्षेत्रों को अपनी आत्मा से पृथक् जानते हैं कि 'वे मुझमें कभी भी नहीं होते, मैं तो उनका ज्ञाता हूँ और अति शुद्ध हूँ, अरूप हूँ, अलिंग हूँ, चेतन हूँ; और वह क्षेत्र तो अति मलिन है, जड़ है, नाशवान है।' **ऐसा दृढ़तापूर्वक समझकर और इन सभीसे वैराग्य को प्राप्त करके स्वधर्म सहित जो भगवान की भक्ति करनी, उसे एकान्तिकी भक्ति कहते हैं और उसे ज्ञानी कहते हैं। और वह जो ज्ञानी है, वह सभीसे श्रेष्ठ है।** उसे भगवान ने कहा है कि

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रिय: ॥
उदारा: सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥[३]

---

१. सत्त्वादि मायाजन्य गुणों से पर ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए महापुरुष भी श्रीहरि के गुणानुवाद में मस्त रहते हैं। (भाग. २/१/१७)

२. अर्थ : व.पं.२ की टिप्पणी में है।

३. आर्त आदि चार प्रकार के भक्तो में ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ है, क्योंकि वह मुझ में ही सर्वथा जुड़ा हुआ है और एक मेरी ही भक्तिवाला है। दूसरे तीन वैसे नहीं हैं। इसके अलावा ज्ञानी को मैं इतना अधिक प्रिय हूँ कि सर्वज्ञ-सर्वशक्ति ऐसा भी मैं, मुझ से ऐसा कहा नहीं जाता कि इतना ही, मैं ज्ञानी को प्रिय हूँ क्योंकि प्रियत्व का नाप नहीं है और मुझे ज्ञानी इतना बहुत प्रिय है कि उसे मैं कह नहीं सकता कि इतना ही प्रिय है। आर्त आदि तीन प्रकार के भक्त तो (उदार) बड़े हैं। ज्ञानी तो मेरी आत्मा है इसलिए आत्मवत् प्रिय है, ऐसा मैं मानता हूँ। (गीता. ७/१७, १८)

ऐसा समझकर इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, विषय इन सभी की जो जड़े हैं, उन्हें जीव में से उखाड़कर भगवान में प्रीति करनी, यह ही ठीक[१] है । और जब तक इनकी जड़े उखाड़ न दी हो, तब तक इन इन्द्रियाँ–अन्तःकरण से भगवान के दर्शन–स्पर्शनादिकरूप जो कार्य, उसे निभायें परन्तु उसे अपने हेतु[२] न माने; वैरी मानें और उनका गुण न लें कि 'वे भगवान की भक्ति में उपकार करते हैं ।' क्योंकि नेत्र से भगवान के दर्शन होते हैं, श्रोत्र से भगवान की कथा सुनाई देती है, त्वचा से भगवान का स्पर्श होता है, नासिका से भगवान की माला तथा तुलसी की सुगन्ध ली जाती है, मुख से भगवान की कथा–कीर्तन किया जाता है तथा जिह्वा से भगवान के प्रसाद का रस लिया जाता है; इत्यादिक भगवान की भक्ति में उपयोगी हैं, ऐसा समझकर उनका गुण न लें और उनका विश्वास न करें, उन्हें तो वैरी ही जानें; क्योंकि, क्या पता कि वे भगवान के दर्शन–स्पर्शानादिक से ही सुख मानते हुए स्त्री आदिक के दर्शन–स्पर्शनादिक से ही सुख मना दे तो अनिष्ट हो जाता है । इसलिए इन पञ्च इन्द्रियरूप शत्रु को कैद में रखकर, भगवान की भक्तिरूप काम लें । जैसे किसी राजा ने अपने शत्रु को पकड़ लिया हो, उसे बेड़ी में बाँधकर काम करवाता है, परन्तु उसे स्वतन्त्र नहीं रखता और विश्वास भी नहीं करता है; और यदि उसे स्वतन्त्र रखे और विश्वास करे तो उस राजा को वह शत्रु निश्चित मार देता है । उस तरह यदि इन्द्रियरूप वैरी का विश्वास कर लिया जाये और स्वतन्त्र रहने दे और कैद[३] में न रखा जाये तो उसे निश्चित भगवान के मार्ग से गिरा देता है,[४] इसलिए उसका विश्वास न करें । और फिर जैसे अंग्रेज किसी अपराधी को पकड़ता है तब उसे पिंजरे में खड़ा करके पूछता है, परन्तु स्वतन्त्र रहने नहीं देता और उसका विश्वास नहीं करता है । **उस तरह इन इन्द्रियों–अन्तःकरण को पञ्च वर्तमान के नियमरूप जो पिंजरा तथा बेड़ी उसमें रखकर भगवान की भक्ति करायें; परन्तु उनका गुण न लें, शत्रुभाव ही रखें ।** और यदि उन्हें भक्ति में उपयोगी मानकर हितैषी मानता हो तथा उनका गुण लेता हो तो भगवान के दर्शन–स्पर्शनादिक में सुख

१. उचित, योग्य २. हितेच्छु, मित्र ३. नियमरूप कैद ४. विचलित कराता है ।

मनाता हुआ यदि स्त्री-आदिक में कुछ ही सुख मना दे[१] तो उनका किया-कराया सब व्यर्थ हो जाता है । जैसे बहुत बारुद का ढेर हो, उसमें अग्नि की एक चिनगारी पड़े तो वह सभी बारुद भस्म हो जाती है; उस तरह इनका कोई ठिकाना रहता नहीं है । **इसलिए केवल आत्मारूप होकर ही भगवान में जो स्नेह होता है वह ठीक है, ऐसा हमारा सिद्धान्त है और इस तरह से भगवान में जो प्रेम करते हैं, वे हमें प्रिय हैं ।** और ऐसा भी विचार करें कि 'भगवान में जैसा रूप है वैसा अन्यत्र नहीं है, जैसा भगवान का स्पर्श है, वैसा अन्यत्र नहीं है, जैसी भगवान में सुगन्ध है वैसी अन्यत्र नहीं है, भगवान के श्रवण में जैसा सुख है वैसा अन्यत्र नहीं है और जैसा भगवान में रस है वैसा अन्यत्र नहीं है' । इस तरह से इन्द्रियों-अन्तःकरण को लोभ दिखाकर अन्य विषयों से वापस लौटायें[२] यह भी समझ ठीक है ।''

तब स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! ये जो सभी विचार हैं, उन्हें कौन से स्थानक पर रहकर किया जाये ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''अपने हृदय में ऐसा विचार करें कि 'स्थूल देह, सूक्ष्म देह, कारण देह; ये मैं नहीं हूँ;' और जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन अवस्थायें मैं नहीं हूँ; और पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ और पञ्च कर्मेन्द्रियाँ तथा चार अन्तःकरण तथा उनके देवता ये सभी मैं नहीं हूँ; मैं तो इन सभीसे पृथक् हूँ, चैतन्य हूँ, और भगवान का भक्त हूँ ।' और इन्द्रियाँ-अन्तःकरण यदि कुछ कुचेष्टा करें तो उन्हें कहें कि 'क्या तुम्हें तो एक भगवान का ही रूप देखना है या अन्य किसी का भी रूप देखना है ? तथा केवल भगवान का शब्द सुनना है तथा गन्ध लेनी है या दूसरे का भी शब्द सुनना है और गन्ध लेनी है ? और यदि भगवान के बिना दूसरे विषय में तूं जायेगी तो तुझे-मुझे क्या है, भाई ? तुम कौन और मैं कौन ? तुझे-मुझे लेना देना नहीं हैं । तुम करोगे उसे तुम भोगोगे ।' इस तरह इन्द्रियों-अन्तःकरण को कहकर फिर भगवान की प्रार्थना करें कि 'हे महाराज ! हे स्वामिन् ! हे भक्तवत्सल ! हे दयानिधे ! इन इन्द्रियों-अन्तःकरण का गुन्हा[३]

१. सुखबुद्धि करा दे । २. विषय में प्रवृत्त न कराके भगवत्स्वरूप में ही लगायें । ३. दोष

है और मैं तो उनसे अलग हूँ और वे तो मेरे शत्रु हैं, इसलिए उन से मेरी रक्षा कीजिए ।' इस तरह निरन्तर प्रार्थना करते रहें । और स्वयं को क्षेत्रज्ञ चैतन्यरूप मानकर भगवान में प्रेम-भक्ति करें ।''

॥ इति वचनामृतम् पञ्चाला ॥३॥१२९॥

वचनामृत ४ : 'मनुष्यभाव में दिव्यभाव का'

संवत्* १८७७ फाल्गुन कृष्ण ३ तृतीया के दिन श्रीजीमहाराज गाँव श्रीपञ्चाला स्थित झीणाभाई के राजभवन में चबूतरे पर पलंग बिछवाकर विराजमान थे । उन्होंने सफ़ेद फेंटा मस्तक पर बाँधा था, सफेद खेस पहना था तथा श्वेत पतली पिछौरी ओढ़ी थी और हस्तकमल में तुलसी की माला फेर रहे थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस की सभा तथा देश-देश के हरिभक्तों की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''सभी परमहंस परस्पर प्रश्न-उत्तर करिए।'' तब मुनिबावा ने ब्रह्मानन्द स्वामी को प्रश्न पूछा कि ''प्रथम तो भगवान का निश्चय हो, और भजन-स्मरण करता हो, और फिर भगवान के मनुष्य चरित्र को देखकर उस निश्चय में संशय हो जाता है, इसका क्या कारण है ?'' फिर इस प्रश्न का उत्तर ब्रह्मानन्द स्वामी करने लगे परन्तु हुआ नहीं, तब श्रीजीमहाराज बहुत देर तक विचार करने लगे और फिर बोले कि ''इस प्रश्न का उत्तर हम करते हैं कि[१] वेद, पुराण, महाभारत, स्मृतियाँ इत्यादिक जो शास्त्र हैं, उनमें भगवान का सनातन अनादि दिव्य ऐसा जो मूलरूप अपने अक्षरधाम में रहता है; उसे कहा है कि भगवान कैसे हैं ? तो इस चक्षु इन्द्रिय से देखने में आनेवाला जो यत्किंचित् रूप, उसके जैसा उनका रूप नहीं है; और श्रवण से सुनने में आनेवाले जो कोई शब्द मात्र है, उसके जैसा उन भगवान का शब्द नहीं है;

---

*दि. २१-३-१८२१, बुधवार

१. जिस निश्चय में संशय होता है, वह निश्चय अपरिपक्व है - दृढ़ नहीं है, ऐसा जाने । भगवान का दिव्य और मानुष यह दो रूप है । उसके सम्यक् एकत्वज्ञान से वह संशय निवृत्त होता है ।

और त्वचा से स्पर्श में आता है जो स्पर्श, उसके जैसा उनका स्पर्श नहीं है; और नासिका से सूँघने में आती है जो सुगन्ध, उसके जैसी उनकी सुगन्ध नहीं हैं; और जिह्वा से वर्णन किये जाये, ऐसे भी वे भगवान नहीं हैं। और मन के संकल्प में आयें ऐसे नहीं हैं, चित्त के चिन्तन में आयें ऐसे नहीं हैं, बुद्धि के निश्चय में आयें ऐसे नहीं हैं, अहंकार से अहंपना[१] धारण करने में आयें ऐसे नहीं हैं कि 'इन भगवान का मैं हूँ और वे मेरे हैं'। इस तरह से इन्द्रियाँ-अन्तःकरण के अगोचर वे भगवान रहते हैं। उन भगवान का जैसा रूप है, वैसा इस ब्रह्माण्ड में ब्रह्मादिक स्तम्बपर्यन्त किसी का रूप नहीं है कि जिसकी उन्हें उपमा दी जा सके। तथा उनका जैसा शब्द है, वैसा दूसरे किसी का इस ब्रह्माण्ड में शब्द नहीं है कि जिसकी उन्हें उपमा दी जा सके। उन भगवान का जैसा सुगन्ध है, वैसा इस ब्रह्माण्ड में किसी का सुगन्ध नहीं है कि जिसकी उन्हें उपमा दी जा सके। तथा उन भगवान का जैसा स्पर्श है वैसा इस ब्रह्माण्ड में किसी का स्पर्श नहीं है कि जिसकी उन्हें उपमा दी जा सके। उन भगवान में जैसा रस है, वैसा इस ब्रह्माण्ड में किसी का रस नहीं है कि जिसकी उन्हें उपमा दी जा सके। और उन भगवान का जैसा धाम है वैसा स्थानक इस ब्रह्माण्ड में कोई नहीं है कि जिसकी उन्हें उपमा दी जा सके; तो सप्तद्वीप तथा नवखण्डों में जो-जो स्थानक हैं तथा मेरु के ऊपर बहुत सी शोभा से युक्त ब्रह्मादिक के स्थानक हैं तथा लोकालोकाचल[२] में बहुत से स्थानक हैं तथा इन्द्र, वरुण, कुबेर, शिव, ब्रह्मा उनके जो स्थानक हैं तथा दूसरे भी बहुत से स्थानक हैं, इन सभी में से ऐसा एक भी स्थानक नहीं है, जिसकी भगवान के धाम से उपमा हो सके। ओर उन भगवान के धाम में रहे जो भगवान के भक्त, उन्हें जैसा सुख है वैसा इस ब्रह्माण्ड में कोई सुख नहीं है, जिसकी उन्हें उपमा दी जा सके। उन भगवान का जैसा आकार है वैसा इस ब्रह्माण्ड में किसी का आकार नहीं है, जिसकी उन्हें उपमा दी जा सके; क्योंकि इस ब्रह्माण्ड में जितने पुरुष-

---

१. अहंबुद्धि २. लोकालोक पर्वत

प्रकृति से उत्पन्न हुए जो आकार हैं, वे सभी मायिक हैं और भगवान तो दिव्य[१] हैं और अमायिक हैं, इसलिए इन दोनों में अतिशय विलक्षणता[२] है, इसलिए उसे और उनमें सादृश्य कैसे हो सकता है ? जैसे मनुष्य को कहते है कि 'यह मनुष्य भैंस जैसा है, सर्प जैसा है, चिड़िया जैसा है, गधा जैसा है, कुत्ता जैसा है, कौआ जैसा है, हाथी जैसा है, ऐसी उपमायें मनुष्य को नहीं होती, क्योंकि, मनुष्य से दूसरे जो सभी हैं वे विजातीय हैं। और मनुष्य–मनुष्य में भी अतिशय सादृश्यता[३] नहीं है, जिसकी उपमा ऐसे दी जाये कि यह तो इसके जैसा ही है।' और यदि वह उसके जैसा ही हो, तो उसकी पहचान कैसे हो सकेगी ? इसलिए मनुष्य–मनुष्य सजातीय हैं, उनमें भी सादृश्य अत्यन्त नहीं है। देखिए तो, ये भगा, मूला[४] दोनों एक सरीखे कहलाते हैं, परन्तु बहुत दिनों तक साथ में रहे, तो पहचाना जाये कि 'यह भगा है और यह मूला है।' इसलिए यदि विलक्षणता न हो तो किस तरह से पहचाना जाये? इसलिए मनुष्य–मनुष्य में भी अति सादृष्य नहीं है, तो मायिक–अमायिक में सादृष्य कैसे आ सकता है? जिसकी उपमा भगवान को दी जायें तथा भगवान के धाम को दी जाये, क्योंकि वे भगवान तो इन्द्रियों–अन्तःकरण से[५] अगोचर[६] हैं।' ऐसा समस्त शास्त्रों में कहा है।''

तो वे भगवान जब जीव को अपना दर्शन देने की इच्छा नहीं करते हैं तब इस तरह से दिव्यरूप अगोचर होते हुए अपने अक्षरधाम में रहे हैं और वे भगवान महाराजाधिराज हैं, तथा दिव्यरूप ऐसी जो असंख्य समृद्धि तथा असंख्य पार्षद उनसे युक्त हैं और अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के पति हैं। जैसे इस लोक में कोई बड़ा चक्रवर्ती राजा हो, उसका सूर्य के उदय–अस्त पर्यन्त राज्य हो, और वह ही राजा अपने तप के बल से देवताओं के समान ऐश्वर्य को प्राप्त हुआ हो, और स्वर्ग, मृत्यु और पाताल इन त्रिलोकी का राज्य करता हो; जैसे अर्जुन

१. अलौकिक २. स्वरूप, स्वभाव, ऐश्वर्यादिक से अत्यन्त भिन्नता, फर्क
३. रूप, आकृति, स्वभाव इत्यादि से समानता। ४ पीठवडी गाँव के हमशकल दो सत्संगी भाई
५. के लिए ६. इन्द्रियाँ–अन्तःकरण से ग्रहण न हो सके ऐसे।

थे, वे इसी देह से स्वर्ग में इन्द्रासन पर कई वर्षों तक रहे थे तथा नहुष राजा भी इन्द्र हुआ था । ऐसा जो प्रतापी चक्रवर्ती राजा, उसके घर[१] जितने गाँव हैं उनकी गिनती होती नहीं है, वे तो असंख्य हैं; तथा गाँव-गाँव के जो पटेल[२] उनकी भी गिनती होती नहीं है, और उन गाँव-गाँव के असंख्य पटेल, वे उसके राजभवन में अरजी[३] करने आते हैं, और उस राजा के धन, माल, भोग, स्थानक, समृद्धियाँ वे भी गिनती में आती नहीं है; उस तरह वे भगवान असंख्य कोटि ब्रह्माण्डरूप जो गाँव, उनके राजाधिराज हैं । और **वह ब्रह्माण्डरूप जो गाँव है, उसके मुख्य पटेल तो ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं ।** जैसे एक गाँव में एक पटेल बड़ा होता है, उसे उस गाँव की समस्त प्रजा आकर नमस्कार करती है और आज्ञा में रहती है, और वह पटेल राजा को नमन करता है; उस तरह ब्रह्माण्ड-ब्रह्माण्ड के प्रति ब्रह्मा, विष्णु, शिव हैं वे बड़े[४] हैं तथा ब्रह्माण्ड में दूसरे जो देव, दैत्य, मनुष्य, ऋषि, प्रजापति हैं, वे उन्हें भजते हैं और आज्ञा में रहते हैं; और ब्रह्मा, विष्णु, शिव वे भगवान पुरुषोत्तम को भजते हैं तथा आज्ञा में रहते हैं । तो उन ब्रह्माण्ड-ब्रह्माण्ड के जो देवता ब्रह्मा, विष्णु और शिव, वे भगवान की प्रार्थना करते हैं कि 'हे महाराज ! कृपा करके आप हमारे ब्रह्माण्ड में पधारिए ।' जैसे कोई गाँव का पटेल हो, वह चक्रवर्ती राजा के पास जाकर प्रार्थना करता है कि 'हे महाराज ! मैं गरीब हूँ, तो आप मेरे घर पधारिए । मुझसे जैसी आपकी सेवा-चाकरी होगी, वैसी मैं करूँगा ।' उस तरह ब्रह्मा, विष्णु, शिव उन भगवान की प्रार्थना करते हैं कि 'हे महाराज ! आप हमें दया करके दर्शन दीजिए और हमारे ब्रह्माण्ड में पधारिए,' तब वे जो भगवान हैं, वे ब्रह्माण्ड में देह को धारण करते हैं । तो जहाँ जैसा कार्य हो वहाँ वैसे देह को धारण करते हैं और उस तरह से आचरण करते हैं । यदि देव में देह धारण करते हैं तो, देव के जैसी ही चेष्टा करते हैं तथा पशु के देह को धारण करते हैं तब उस पशु की तरह ही बर्ताव करते हैं । जैसे भगवान ने वराहरूप धारण किया तब सूँघकर

१. अधिकार में, राज्य में २. मुखियाँ, मुख्य कारभारी ३. अभिवादन, प्रर्थना ४. मुखियाँ, कारभारी

पृथ्वी खोज निकाली, तथा हयग्रीवरूप हुए तब घोड़े की तरह हिनहिनाने लगे, तथा मत्स्य-कच्छपादिक जलजन्तु का देह धारण किया तब जल में ही घूमते रहे परन्तु पृथ्वी पर नहीं घूमे, तथा नृसिंहरूप में हुए तब सिंह के जैसा ही बर्ताव किया परन्तु मनुष्य के जैसी चेष्टा नहीं की ।

और **वे भगवान मनुष्य के देह को धारण करते हैं, तब मनुष्य के जैसी ही क्रिया करते हैं ।** तो जब **सत्ययुग होता है तब मनुष्य को एक लाख वर्ष का आयुष्य होता है,** तब वे भगवान भी एक लाख वर्ष ही देह रखते हैं; और उस सत्ययुग के मनुष्यों के मनोवांछित भोग को भोगते हैं तब भगवान भी उसी तरह ही भोग को भोगते हैं परन्तु अधिकरूप से बर्ताव करते नहीं हैं । **त्रेतायुग में देह धारण करते हैं तब मनुष्य की दस हजार वर्ष की आयु होती है,** तब भगवान भी उतने ही वर्ष तक देह रखते हैं । **द्वापरयुग में हजार वर्ष की आयु रहती है और दस हजार हाथी का बल मनुष्य में रहता है,** तब भगवान का भी उतना बल तथा उतनी आयु रहती है । कलि में देह धारण करते हैं तब कलि के अनुसार आयुष्य तथा बल को भगवान धारण करते हैं । और जैसे बालक गर्भ में आता है और वह गर्भ वृद्धि को प्राप्त होता है, फिर जन्म लेता है और बाल, यौवन, वृद्ध अवस्था होती है और मृत्यु को प्राप्त होता है; उसी तरह भगवान भी वैसी ही मनुष्य की चेष्टा[१] करते हैं । और जैसे मनुष्य में काम, क्रोध, लोभ, स्वाद, मान, स्नेह, मद, मत्सर, इर्ष्या, द्वेष, राग, मोह, सुख, दुःख, भय, निर्भय, शूरता, कायरता, भूख, प्यास, आशा, तृष्णा, निद्रा, पक्षपात, पराया, अपना, त्याग, वैराग्य इत्यादिक स्वभाव हैं; उस तरह वैसे ही ये सभी स्वभाव जब भगवान मनुष्यदेह को धारण करते है तब उनमें दिखाई देते हैं । तो भगवान का ये मनुष्य स्वरूप भी सभी शास्त्रों में वर्णन किया है और मूल जो दिव्यरूप है, उनका भी वर्णन किया है । तो इन दोनों रूपों का जिसने यथार्थ श्रवण-मनन करके दृढ़ निश्चय किया हो उसे तो किसी तरह से

१. स्वाभाविक क्रियाएं ।

संशय नहीं होता है; और जिसे इस तरह की समझ में कसर[1] हो, उसे भगवान में संशय होता है । वे ही दिव्यरूप ऐसे जो भगवान जब मनुष्य के देह को धारण करते हैं, तब मनुष्य के जैसे स्वभाव से युक्त रहते हैं; परन्तु जो बुद्धिमान हो उसे ऐसा दिखाई देता है कि 'इनमें काम हैं वह दूसरे मनुष्य के जैसा नहीं है तथा क्रोध, लोभ, स्वाद, मान इत्यादिक मनुष्य के स्वभाव तो इन भगवान में है परन्तु दूसरे मनुष्य जैसे तो नहीं है। इनमें कुछ जो दिव्यभाव है वह बुद्धिमान के जाननें में आता है; जिससे भगवद्भाव का निश्चय करता है। जैसे शंकराचार्य[2] ने शृंगार रस की बात जानने के लिए राजा के देह में प्रवेश किया था तब उस राजा के जैसे ही सभी शृंगारादिक भाव तथा देह की चेष्टा तो थी, परन्तु उस राजा की रानी बुद्धिशाली थी, उसने ऐसा जाना की 'मेरे पति में ऐसा चमत्कार नहीं था, इसलिए इस देह में किसी दूसरे जीवने प्रवेश किया है ।' उस तरह मनुष्यरूप ऐसे जो वे भगवान हैं, उनमें दिव्यभाव दिखाई देता है, जिससे भगवानपना[3] का निश्चय होता है । तब आप कहेंगे कि 'कुछ ही दिव्यभाव जानने में आया, उससे मनुष्य को भगवद्भाव का निश्चय हुआ, तब बहुत सा दिव्यभाव दिखाये तब तो बहुत मनुष्य को निश्चय होता है ।' तो इसका तो ऐसा है कि यह सूर्य है, उन्हें सभी शास्त्र में कहा है कि 'यह नारायण हैं' और वे सूर्य सभी मनुष्यों को दृष्टिगोचर[4] भी हैं और प्रतिदिन उनका दर्शन मनुष्यमात्र करते हैं तो भी उनके दर्शन से मनुष्य को अपने कल्याण का निश्चय नहीं होता है कि 'मेरा कल्याण हुआ;' और मनुष्यरूप में रहते जो राम-कृष्णादिक अवतार तथा नारद-शुकादिक सन्त, उनके दर्शन करके मनुष्य को ऐसा निश्चय होता है कि 'मेरा कल्याण निश्चय ही हुआ' और में कृतार्थ हुआ हूँ ।' और वे भगवान तथा सन्त उनमें तो कुछ प्रकाश तो नहीं है, दीप जलाये तब उनके दर्शन होते हैं, तो भी ऐसा कल्याण का निश्चय होता है। तथा अग्नि हैं वे भी साक्षात् भगवान है; क्योंकि, भगवान ने कहा हैं कि

१. न्यूनता, त्रुटी, खामी २. यह आख्यान शंकरदिग्विजय में है ।
३. भगवद्भाव ४. नजर से दिखाई देतें हैं, प्रत्यक्ष ।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रित: ।
प्राणापानसमायुक्त: पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥[१]

ऐसे जो अग्नि हैं उनका भी सभी को दर्शन है, परन्तु मनुष्य को कल्याण का निश्चय नहीं होता है पर भगवान के तथा सन्त के दर्शन से होता है। इसका क्या कारण है कि 'मनुष्य में तथा सूर्य-अग्नि में विजातीयता है,' इसलिए उनके दर्शन से कल्याण का निश्चय नहीं होता है। क्योंकि उस अग्नि का स्पर्श करने से जल कर मर जाता है। तथा सूर्य हैं, उन्हें कुन्तीजी ने दुर्वासा के दिए गए मन्त्र से बुलाया तब वे सूर्य कुन्तीजी के पास आये, तो मनुष्यरूप में जैसे कुन्तीजी थीं वैसे ही सूर्य होकर आये तब उनके अंग संग का सुख आया और कर्णरूप गर्भ रहा; परन्तु जैसे सूर्य प्रकाशवान हैं वैसे प्रकाश से सहित आये होते तो कुन्तीजी जलकर मर जातीं और स्पर्श का सुख भी न मिल पाता। तथा सत्राजित यादव के पास सूर्य आते थे, वे भी मनुष्य जैसे होकर आते थे। और जब वे सूर्य कुन्तीजी के पास तथा सत्राजित के पास आये तब क्या आकाश में नही थे ? आकाश में भी थे और दूसरे रूप में वे ही सूर्य, कुन्तीजी और सत्राजित के पास आये और जैसा सूर्य का प्रकाश है वह सभी उनमें तो है ही, परन्तु उसका संकोच करके मनुष्य जैसे होकर आये हैं। उसी तरह **वे जो भगवान हैं, वे स्वयं अपने दिव्यभाव सहित ही जीव को यदि दर्शन दे, तो मनुष्य को ठीक नहीं रहता और ऐसा जानते हैं कि 'यह तो क्या भूत होगा या क्या होगा ?** इसलिए वे भगवान अपने ऐश्वर्य का संकोच करके मनुष्य जैसे ही होकर दर्शन देते हैं और स्वयं अपने धाम में भी विराजमान हैं; तब उन मनुष्यों के दर्शन में, स्पर्श में, तथा नव प्रकार की भक्ति करने में आते हैं। और **यदि भगवान मनुष्य जैसे नहीं होते और दिव्यभाव से रहते हैं, तो मनुष्य को अपने में[२] स्नेह नहीं होता और सुवाण[३] नहीं होती है।**

---

१. मैं, वैश्वानर (जठराग्नि) रूप होकर सर्व प्राणियों के देह में प्रवेश करके प्राणियों ने खायें हुए चार प्रकार के अन्न को प्राणापानवृत्ति के भेद से समायुक्त होकर पचाता हूँ। (गीता. १५/१४)
२. दिव्यस्वरूप भगवान में। ३. सानुकूलता, सुहृदता, सजातीय आत्मीयता।

क्योंकि? मनुष्य-मनुष्य में स्नेह होता है तथा सुहृदता होती है, परन्तु पशु को तथा मनुष्य को स्नेह सुहृदता होती नहीं है। और पशु-पशुमें परस्पर स्नेह तथा सुहृदता होती है; क्योंकि सजाति सजाति में स्नेह होता है, परन्तु विजाति में नहीं होता है। उस तरह भगवान अपने दिव्यभाव का संकोच करके अपने भक्त को अपने में स्नेह हो, इसलिए मनुष्य जैसे ही भगवान हो जाते हैं परन्तु दिव्यभाव दिखाते नहीं हैं। और यदि दिव्यभाव दिखलाएँ तो विजातीयता होती है, इसलिए भक्त को अपने में स्नेह तथा सुहृदता नहीं होती है। इसलिए मनुष्यरूप में वे भगवान होते हैं तब अपना दिव्यभाव है, उसे छिपाकर रखना है, इसी पर ही अपनी दृष्टि[१] रहती है। और छिपाते-छिपाते कदाचित् वे किसी कार्य में उतावलें हो जाते हैं तब दिव्यभाव दिखाई देता है। और कभी स्वयं अपनी इच्छा से भी अपने किसी भक्त को दिखाते हैं। जैसे श्रीकृष्ण भगवान भीष्म को मारने के लिए उतावले हुए, तब मनुष्यभाव भूल गए और अपने में दिव्यभाव आ गया, इससे अपने भार को पृथ्वी सहन करने में समर्थ नहीं हुई। तथा अर्जुन को दिव्यभाव दिखाया, उसे तो अपनी इच्छा से दिखाया, परन्तु उस दिव्यभाव[२] से अर्जुन को सुख नहीं हुआ और बहुत व्याकुल हो गए। फिर श्रीकृष्ण भगवान ने अपना दर्शन मनुष्यरूप में अर्जुन को दिया तब अर्जुन को सुख हुआ। तब कहा कि

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥[३]

इसलिए मनुष्यरूप से भगवान रहते हैं तब ही जीव को सानुकूल रहता है, अन्यथा नहीं रहता है। इसलिए वे भगवान मनुष्यरूप[४] से रहते हैं। तब जो इस तरह से समझता नहीं है उसे मनुष्यभाव को देखकर उलटा लगता[५] है। और यदि वे भगवान दिव्यभाव से ही रहें तो जो मन-वाणी के अगोचर

---

१. नजर, ध्यान, ख्याल २. विश्वरूप

३. हे जनार्दन ! अतिसौम्य इस तुम्हारे मनुष्यरूप के दर्शन करके अभी ही मैं सचेत-प्रसन्नचित्त हुआ और प्रकृति (स्व स्वभाव) को पाया हूँ। (गीता. ११/५१)

४. मनुष्यभाव ५. विपरीत भाव होता।

होने से तो जीव के जानने में नहीं आते हैं। इसलिए इन दोनों प्रकार से भगवान को शास्त्र में कहे हैं, उसी तरह से जिसने यथार्थ जान लिए हों, उसे संशय नहीं होता है। और यदि ऐसा न समझा जाये तो संशय जरूर होता है। और जो ऐसा कहते हैं कि 'मैंने भगवान को जान लिया है और मुझे निश्चय है,' वह यदि इस बात को समझा नहीं है तो उसका निश्चय कच्चा है। जैसे कोई पुरुष श्लोक सीखा हो तथा कीर्तन सीखा हो, और उससे पूछें कि 'तुम्हें यह श्लोक तथा कीर्तन आया(१) ?' तब कहता है कि 'सीख लिया,' और कण्ठ से मुखपाठ कर दिखाता है; परन्तु फिर कुछ दिन बीत जाये तब उस श्लोक-कीर्तन को भूल जाता है। तब यह तो क्या, उसने जब सीखा था तब ही उसे इतना आया नहीं था; क्योंकि श्रवण-मनन से इसका दृढ़ अभ्यास होकर उसके जीव में यह श्लोक-कीर्तन चिपक(२) नहीं गया था। किसी बात का तो बाल्यावस्था में ही ऐसा अध्यास(३) हो गया हो, तो वह युवान हो जाये, वृद्ध हो जाये, तो भी इस बात का जब काम पड़ता है तब स्मरण हो आता है। उस तरह उसने जब भगवान का निश्चय किया था तब ही उनके निश्चय में कसर रह गई थी और यदि कसर न रह गई होती और इस तरह से प्रथम से ही श्रवण करके उनका मनन करके उसका दृढ़ अध्यास उनके जीव में हो गया होता तो उसे किसी भी दिन संशय हो ही नहीं पाता।"

॥ इति वचनामृतम् पञ्चाला ॥४॥१३०॥

वचनामृत ५ : 'मानीपना और निर्मानीपना कहाँ उचित ?'

संवत्* १८७७ फाल्गुन कृष्ण ८ अष्टमी के दिन श्रीजीमहाराज गाँव श्रीपञ्चाला स्थित झीणाभाई के राजभवन में चबूतरे पर पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत खेस पहना था, ऊनी वस्त्र की लाल रंग की मिरजई पहनी थी, मस्तक पर सफेद फेंटा बाँधा था, सफेद चद्दर ओढ़ी थी और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

---

*दि. २७-३-१८२१, मंगलवार **१.** सीख लिया, कण्ठस्थ किया **२.** अतिदृढ़ **३.** दृढ़ अभ्यास

तब स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि "किस स्थान पर मान रखना उचित है और किस स्थान पर उचित नहीं है, तथा किस स्थान पर निर्मानीपना उचित है और किस स्थान पर उचित नहीं हैं ?" तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "जो सत्संग का द्रोही हो तथा परमेश्वर का एवं बड़े सन्त के प्रति निम्न[१] वचन बोलता हो, उसके आगे तो मान रखा जाये, यह ही उचित है और निम्न वचन बोलता है तब उसे तीखे बाण जैसे वचन मारें परन्तु विमुख के आगे निर्मानी न हों, यह ही उचित है। और भगवान तथा भगवान के सन्त के आगे तो जो मान रखना, यह उचित नहीं है। और उनके आगे तो मान को छोड़कर, दासानुदास होकर निर्मानीपने से रहना, यही उचित है।"

॥ इति वचनामृतम् पञ्चाला ॥५॥१३१॥

वचनामृत ६ : 'उपासना की दृढ़तावाले का - कल्याण होने का'

संवत्* १८७७ फाल्गुन कृष्ण ९ नवमी के दिन रात्रि के समय श्रीजीमहाराज गाँव श्रीपञ्चाला स्थित झीणाभाई के राजभवन में चबूतरे पर पलंग बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर सफेद फेंटा बाँधा था, सफेद अंगरखे के साथ ऊनी वस्त्र की लाल रंग की मिरजई पहनी थी, सफ़ेद खेस पहना था, श्वेत पिछौरी ओढ़ी थी और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि "हमने बहुत देर तक विचार किया और सभी शास्त्रों में दृष्टि डालकर देखा तब ऐसा दिखाई दिया कि 'श्रीकृष्ण जैसा सर्वशक्ति से सम्पन्न दूसरा कोई अवतार नहीं हुआ है;' क्योंकि दूसरी जो सभी अपनी अनन्त मूर्तियाँ भिन्न-भिन्नरूप से रही हैं, उन सभी का भाव श्रीकृष्णभगवान ने अपने[२] में दिखाया[३]। किस तरह से ? तो प्रथम स्वयं ने देवकी से जन्म लिया तब शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण करके चतुर्भुजरूप में दर्शन दिया, जिससे लक्ष्मीपति जो वैकुण्ठनाथ, उनका भाव अपने में दिखाया। तथा माता यशोदा

---

*दि. २८-३-१८२१, बुधवार

१. निन्दा वचन २. स्वरूप ३. तत् तत् स्वरूप में रही सामर्थ्य-विलक्षणता की प्रतीति करवाई।

को अपने मुख में विश्वरूप दिखाया, जिससे सहस्त्रशीर्षारूप से अनिरुद्धपना[१] अपने में दिखाया तथा अक्रूर को यमुना के पोखर[२] में दर्शन दिया, जिससे शेषशायीभाव दिखाया तथा अर्जुन को रणसंग्राम में विश्वरूप दिखाया कि **पश्य में पार्थ ! रूपाणि शतशोऽथ सहस्त्रश: ॥** इस तरह से अनन्त ब्रह्माण्ड दिखलाकर पुरुषोत्तमपना दिखाया । तथा स्वयं श्रीकृष्ण ने कहा है कि

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तम: ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित: पुरुषोत्तम: ॥[३]

इस तरह से स्वयं ने अपना पुरुषोत्तमपना दिखाया । तथा गोलोकवासी जो राधिका सहित श्रीकृष्ण, वे तो स्वयं ही थे । और ब्राह्मण के बालक को लेने गए तब अर्जुन को अपना भूमापुरुषरूप में दर्शन कराया । तथा श्वेतद्वीपवासी वासुदेव उन्होंने तो स्वयं ही यह अवतार धारण किया था । तथा नरनारायण तो समग्र भारत में एवं भागवत में उन श्रीकृष्ण को ही कहा है । इसलिए उन श्रीकृष्ण के अवतार में तो भिन्न-भिन्नरूप से रही जो उन्हीं भगवान की मूर्तियाँ तथा शक्तियाँ तथा ऐश्वर्य वे समग्र हैं । इसलिए वह अवतार तो बहुत बड़ा हुआ है । और दूसरी मूर्तियों में अल्प[४] ऐश्वर्य हैं और उनमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य है । इसलिए कृष्णावतार जैसा कोई अवतार नहीं है । और यह अवतार सर्वोपरि रहा है । दूसरे अवतार से थोड़ी शक्ति प्रकट की है और इस अवतार से सम्पूर्ण ऐश्वर्य-शक्तियाँ दिखाई, इसलिए यह अवतार सर्वोत्कर्षरूप से रहा है । इस तरह से जिसकी प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण के स्वरूप में अचल मति हो, और वह मति कभी भी व्यभिचार को न प्राप्त होती हो, और उससे किसी कुसंग के योग से कदाचित् कुछ अनुचित आचरण हो गया हो, तो भी वह कल्याण के मार्ग से भ्रष्ट नहीं होता है, उसका कल्याण होता ही है । इसलिए आप सभी परमहंस हरिभक्त हैं, वे भी यदि इस तरह से उपासना की दृढ़ता भगवान में रखेंगे तो कदाचित् कुछ अनुचित आचरण

---

१. अनिरुद्ध का भाव २. बड़ा गड्ढा जहां जल एकत्रित होता है ।
३. इस श्लोक का अर्थ लोया के ७ वे वचनामृत की टिप्पणी में दिया है । ४. थोड़ा, कम

हो जायेगा तो भी अन्त में कल्याण होगा।'' इस तरह की बातों[१] को सुनकर सभी साधु तथा हरिभक्त, वे श्रीजीमहाराज में सर्वकारणपना जानकर उपासना की दृढ़ता करने लगे।

॥ इति वचनामृतम् पञ्चाला ॥६॥१३२॥

वचनामृत ७ : 'नट की माया का'

संवत्* १८७७ फाल्गुन कृष्ण ११ एकादशी के दिन छह घड़ी दिन चढ़ने पर श्रीजीमहाराज गाँव श्रीपञ्चाला स्थित झीणाभाई के राजभवन में चबूतरे पर पलंग बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर सफेद फेंटा बाँधा था, ऊनी वस्त्र की लाल रंग की मिरजई पहनी थी, श्वेत खेस पहना था, सफेद पतली पिछौरी ओढ़ी थी और अपने मुखारविन्द के समक्ष परमहंस की सभा तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज नित्यानन्द स्वामी के पास श्रीमद् भागवत के प्रथम स्कन्ध की कथा करवा रहे थे। उसमें '**जन्माद्यस्य यत:**'[२] यह श्लोक प्रथम आया, उसका अर्थ किया। तब '**यत्र त्रिसर्गो मृषा**' ऐसा जो इस श्लोक का पद, उसका अर्थ स्वयं श्रीजीमहाराज करने लगे कि ''माया के तीन गुणों का सर्ग जो पञ्चभूत, इन्द्रियाँ, अन्त:करण तथा देवता, वे भगवान के स्वरूप में त्रिकाल में हैं ही नहीं।' ऐसा समझता हो तथा इस श्लोक का पद जो, '**धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकम्**' अर्थात् धाम जो अपना स्वरूप, उससे टाल दिया है[३] उन माया के सर्गरूप कपट को जिसने, ऐसे भगवान परम सत्यस्वरूप हैं। वह **आत्यन्तिक प्रलय के अन्त में अक्षरधाम में जैसा भगवान का स्वरूप अनन्त ऐश्वर्य तेज से युक्त है, वैसे के वैसा प्रत्यक्ष मनुष्यरूप भगवान में जानें; उसने तत्त्व से भगवान को जान लिए**

*दि. ३०-३-१८२१, शुक्रवार

१. कथा

२. इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय जो परब्रह्म परमात्मा के द्वारा होते हैं। (भाग.१/१/१)

३. निरस्त किया है।

कहलाता हैं । और उन्हीं प्रत्यक्ष भगवान को मूढ़ जो जीव हैं, वे मायिक दृष्टि से देखते हैं तब अपने जैसे मनुष्य देखते हैं और जैसे स्वयं ने जन्म लिया है, बालक होता है, युवा होता है, वृद्ध होता है और मर जाता है, उसी तरह भगवान को भी जानता है । और **जब भगवान के एकान्तिक साधु के वचन में विश्वास लाकर निष्कपट भाव से भगवान के चरणकमल को भजता है, तब उसकी मायिक दृष्टि मिटती है;** उसके बाद वही की वही भगवान की मूर्ति को परम चैतन्य सत्-चित्-आनन्दमय जानता है। उसे भी भागवत में कहा है कि

स वेद धातुः पदवीं परस्य दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः ।
योऽमायया सन्ततयानुवृत्त्या भजेत तत्पादसरोजगन्धम् ॥[१]

उन भगवान में जो बालक, युवान, वृद्धपना दिखाई देता है तथा जन्म-मरणपना दिखाई देता है, वह तो उनकी योगमाया से दिखाई देता है, परन्तु वास्तव में भगवान जैसे हैं वैसे के वैसे ही हैं। जैसे नटविद्यावाला हो, वह शस्त्र बाँधकर आकाश में इन्द्र के शत्रु जो असुरों के योद्धा, उनके साथ लड़ने जाता है। फिर टुकड़े-टुकड़े होकर नीचे गिरता है और उसके बाद उन टुकड़ो को इकट्ठे करके उस नट की स्त्री जल मरती है। फिर थोड़ी ही देर में वह नट पुनः आकाश में से हथियार बाँधकर जैसा था वैसे का वैसा ही आता है और राजा से इनाम मांगता है और कहता है कि 'मेरी स्त्री लाइए' **इस तरह की जो नट की माया है, वह भी किसीके परख में आती नहीं है, तो भगवान की योगमाया कैसे परख में आये ?** जो नट की माया को जानता है, वह तो ऐसा जानता है कि 'वह नट मरा भी नहीं है और जला भी नहीं है। जैसा है वैसे का वैसा ही है ।' उस तरह भगवान के स्वरूप को जो तत्त्व से समझता हो, वह तो

---

१. जो भक्त निष्कपट, अविच्छिन्न ऐसी अनुवृत्ति से भगवान के चरणकमल को भजता है, वह भक्त सर्वाधार, अपरिमित ऐश्वर्यवाले, चक्रपाणि परमात्मा की पदवी को जानता है ।

(भा. १/३/३८)

भगवान को अखण्ड अविनाशी जैसे है वैसे ही समझता है । जैसे श्रीकृष्ण भगवानने देह त्याग किया तब उन भगवान की पत्नियाँ रुक्मिणी आदिक थीं, वे उन भगवान के देह को लेकर जल मरी; तब जो अज्ञानी थे उन्होंने तो ऐसा समझा कि 'अब उनका नाश हो गया ।' और जो ज्ञानी थे उन्होंने तो ऐसा जाना कि 'यहाँ से अन्तर्धान होकर दूसरे ठिकाने दिखाई दिये हैं । इस तरह भगवान को अखण्ड समझता है । उसे स्वयं श्रीकृष्ण ने कहा कि

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥[१]

इसलिए मूर्ख हो वह यदि भगवान को साकार समझता है तो केवल मनुष्य जैसा ही समझता है और यदि निराकार समझता है तो अन्य आकार को जैसे मायिक जानता है उस तरह भगवान के आकार को भी मायिक जानता है और 'अरूप' हैं ऐसे भगवान के स्वरूप की कल्पना करता है; इसलिए मूर्ख को तो इन दोनों प्रकार से उल्टा पड़ता हैं । यदि भगवान को आकार नहीं होता तो जब आत्यन्तिक प्रलय था तब श्रुति ने ऐसा कहा है कि **'स ईक्षत'**[२] अर्थात् वे भगवान तो 'देख रहे थे' । 'तब यदि देखा' तो उन भगवान का नेत्र-श्रोत्रादिक अवयव सहित साकार ऐसा दिव्य स्वरूप ही था । और फिर ऐसा भी कहा है कि **'पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान्**[३] **।'** इस तरह पुरुषरूप होकर उन पुरुषोत्तम ने माया में वीर्य को धारण किया, तब वे भगवान प्रथम से ही साकार थे । और वे जो पुरुषोत्तमनारायण हैं, वे किसी कार्य के लिए पुरुषरूप होते हैं तब, वह पुरुष पुरुषोत्तम के प्रकाश में लीन हो जाता है और[४] पुरुषोत्तम ही रहते हैं । उसी तरह मायारूप होते हैं तब माया भी पुरुषोत्तम के तेज में लीन हो जाती है और उस रूप से भगवान ही रहते हैं । और फिर वे भगवान महत्तत्त्वरूप होते हैं और उसी तरह महत्तत्त्व में से हुए

१. लोया के १८ वें वचनामृत की टिप्पणी में अर्थ किया है ।
२. बृह.उप. १ अ, २. ब्रा, ५. अथवा ३ अ. २ ब्रा., ५
३. भाग. (३/५/२६) ४. केवल

जो दूसरे तत्त्व, उन के रूप में[१] होते हैं और फिर उन तत्त्वों का कार्य जो विराट, उसके रूप में होते हैं तथा उस विराटपुरुष से[२] हुए जो ब्रह्मादिक, उनके रूप में होते हैं तथा नारद-सनकादिक रूप में होते हैं । इस तरह से **अनेक प्रकार के कार्यों के लिए जिन-जिन में उन पुरुषोत्तम भगवान का प्रवेश होता है, उन-उनको अपने प्रकाश से लीन करके स्वयं ही तद्रूप[३] होकर सर्वोत्कर्षरूप से विराजमान होकर रहते हैं । जिनमें स्वयं विराजमान रहते हैं, उनके प्रकाश को स्वयं ढँककर अपना प्रकाश प्रकट करते हैं ।** जैसे अग्नि लोहे में प्रवेशती है तब लोहे का जो शीतल गुण और काला वर्ण, उसे टालकर स्वयं अपने गुण को प्रकाशित करती है[४] तथा जैसे सूर्य उदय होता है, तब उसके प्रकाश में समस्त तारा-चन्द्रमादिक के तेज लीन हो जाते हैं और एक सूर्य का ही प्रकाश रहता है; उस तरह वे भगवान जिन-जिन में प्रवेश करते हैं तब उनके तेज का पराभव[५] करके अपने प्रकाश को अधिकरूप से दिखाते हैं । और जिस कार्य के लिए स्वयं ने जिसमें प्रवेश किया था, उस कार्य को करने के बाद उसमें से स्वयं अलग निकल जाते हैं । तब तो वह स्वयं जैसा था वैसा रहता है । और उसमें जो अधिक दैवत दिखाई पड़ता था, वह तो पुरुषोत्तम भगवान का[६] था, ऐसा जानें ।''

इस तरह से सभीके कारण और सदा दिव्य साकार ऐसे जो प्रत्यक्ष पुरुषोत्तमनारायण, उनकी मूर्ति में शक्कर के रस की मूर्ति की तरह त्याग-भाग न समझें और जैसी मूर्ति देखी हो, उनका ही ध्यान, उपासना, भक्ति करें परन्तु उनसे कुछ पृथक् न समझें । उन भगवान में जो देहभाव[७] दिखाई देता है, उसे तो नट की माया की तरह समझें । जो इस तरह से समझता है, उसे उन भगवान

---

१. तदात्मकरूप २. उत्पन्न ३. तदात्मक रूप में स्वैश्वर्य का आविर्भाव ।

४. लोहा का गुण उष्ण हो जाता है तथा वर्ण रक्त हो जाता है, उसे देखने से लोहा नहीं अपितु अग्नि दिखती है, अग्नि लोहे को सर्वत: ढक देती है ।

५. तिरोहित, लीन, आच्छादित ६. तेज, पराक्रम, ऐश्वर्य ७. मनुष्यभाव

में किसी तरह से मोह होता नहीं है । और यह वार्ता तो किसे समझ में आती है ? तो जिसे ऐसी दृढ़ प्रतीति हो कि 'आत्यन्तिक प्रलय होता है तब भी भगवान तथा भगवान के भक्त, वे दिव्य साकाररूप से अक्षरधाम में दिव्यभोगों को भोगते हुए रहते हैं, और उन भगवान का रूप एवं भगवान के भक्तों के रूप तो अनन्त सूर्य-चन्द्र के प्रकाश के समान प्रकाश से युक्त है ।' इस प्रकार की जिसे दृढ़ मति हो, वे ही इस बात को समझ पाते हैं । और ऐसे तेजोमय दिव्यमूर्ति जो भगवान हैं, वे जीवों के कल्याण के लिए तथा जीवों को अपने में नव प्रकार की भक्ति कराने के लिए कृपा करके अपनी जो समस्त शक्तियाँ, ऐश्वर्य, पार्षद, उनके सहित ही मनुष्य जैसे होते हैं । तब भी जो ऐसे मर्म को जाननेवाले हैं, वे भगवान का स्वरूप अक्षरधाम में जैसा रहा है वैसा ही पृथ्वी पर भगवान का जो मनुष्यस्वरूप रहा है उन्हें समझते हैं, परन्तु उन स्वरूप में तथा इन स्वरूप में लेशमात्र फर्क नहीं समझते हैं । और इस तरह जिसने भगवान को जान लिया है उसके द्वारा तत्त्व से भगवान जान लिए कहलाते हैं और उसे माया की निवृत्ति हो चुकी कहलाती है । और ऐसा जो जानता है उसे ज्ञानी भक्त कहते हैं और उसे एकान्तिक भक्त कहते हैं । और इस तरह से **जिसे प्रत्यक्ष भगवान के स्वरूप की दृढ़ उपासना हो और उसे भगवान के स्वरूप में कभी भी मायिकभाव का संशय न होता हो और उसे कदाचित् कुसंग के योग से अथवा प्रारब्ध कर्म के योग से कुछ अनुचित बर्ताव हो जाये तब भी उसका कल्याण होता है । और यदि इस तरह से भगवान को समझने में जिसे संशय हो[१], और वह यदि ऊर्ध्वरेता-नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो और महात्यागी हो तो भी उसका कल्याण होना अति कठिन है ।** और जिसने प्रथम ऐसा निश्चय किया हो कि 'जब आत्यन्तिक प्रलय होता है, उसके अन्त[२] में भी भगवान साकार हैं,' ऐसी दृढ़ ग्रन्थि हृदय में पड़ गई हो और फिर यदि उसे तेजोमय अलिंगपना[३] जो शास्त्र में कहा हो, उसका श्रवण होता है तथा

१. रहता २. बाद ३. अरूपपने की बात ।

ऐसी वार्ता किसीसे सुनने में आये तब भी उसे संशय नहीं होता है । क्योंकि उसने तो ऐसा समझ लिया है कि 'भगवान तो सदा साकार ही हैं परन्तु निराकार नहीं है । और वे ही भगवान राम-कृष्णादिक मूर्तियों को धारण करते हैं' । इस तरह से जिस की दृढ़ता से समझ हो, उसकी परिपक्व निष्ठा जानें ।' इस तरह से श्रीजीमहाराज ने अपने भक्तजनों की शिक्षा के लिए अपने स्वरूप की जो अनन्य निष्ठा, उससे सम्बन्धित वार्ता कही । उसे सुनकर सभी परमहंस तथा हरिभक्त, वे श्रीजीमहाराज के स्वरूप की उसी तरह से विशेषरूप से दृढ़ता कर रहे थे ।

॥ इति वचनामृतम् पञ्चाला ॥७॥१३३॥

॥ श्रीपञ्चाला प्रकरणं समाप्तम् ॥

श्रीगढ़डा मध्य प्रकरणम्

स्वयं को साक्षात् प्राप्त हुआ
जो भगवान का स्वरूप,
उन्हें सदा दिव्य साकार मूर्ति
तथा सर्व अवतार के कारण
अवतारी ऐसा जानें।
और यदि ऐसा न जानता हो
और निराकार जानता हो
तथा दूसरे अवतार जैसा जानता हो
तो उनका द्रोह किया कहलाता है।
– गढ़डा मध्य ॥९॥

'बहुत सुन्दर कीर्तन गाये'
इस कीर्तन को सुनकर तो
हमारे मन में
ऐसा विचार हुआ कि,
'इस तरह से
उसे भगवान की मूर्ति का चिन्तन है,
इसलिए इन साधु को तो
उठकर साष्टांग दंडवत् प्रणाम करें!।'
– गढ़डा मध्य ॥४८॥

गढ़पुरधाम

श्रीस्वामिनारायण भगवान जिसे अपना घर समझकर २९ वर्ष तक रहे थे ऐसे 'गढ़डा' के पवित्रनाम मात्र से ही हम पावन होते हैं ।

नवखण्ड धरा पर यह धाम सर्वोपरि है । यहाँ की गली-गली में ही नहीं, इस धरा के कण-कण में परब्रह्म के अलौकिक स्पंदनों की अनुभूति का एहसास केवल स्मरण करने से होता है, सम्प्रदाय का कोई भी ऐसा शास्त्र नहीं है जिसमें 'गढ़पुर' नाम का उल्लेख न हो ।

इस गढ़पुर की धरा पर दासत्व के आदर्श दादाखाचर और लाडुबा-जीवुबा जैसे निष्काममूर्ति भक्तों के प्रेमधागे से बँधन में रहे श्रीहरि नित्य परमहसों के साथ ज्ञान गोष्ठी करते थे, भक्तों के साथ प्रश्न-परिप्रश्नों में जुड़ते थे और 'यावत् चन्द्रदिवाकरौ' मोक्ष के अमूल्य रसायण समान वचनामृतों की वर्षा होती थी ।

श्रीहरि के निवासभूत इस गढ़डा में दादाखाचर का दरबारगढ़ (राजभवन), अक्षरभवन, श्रीगोपीनाथजी देव मन्दिर एवं मन्दिर में विराजमान समान आकार की गोपीनाथजी की मूर्ति, लक्ष्मीवाड़ी, राधावाड़ी और जिनके स्मरणमात्र से ही जन्म-जन्मांतर के कल्मष (पापों) का नाश होता है, ऐसी उन्मत्त गङ्गा (घेला नदी) जैसे अनेक पावन स्थान हैं ।

॥ वृत्तालये स भगवान् जयतीह साक्षात् ॥

श्रीगढ़डा मध्य प्रकरणम्

वचनामृत १ : 'मोह उदय होने का'

संवत्* १८७७ के ज्येष्ठ शुक्ल १५ पूर्णिमा के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कक्ष के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत खेस पहना था, सफ़ेद चद्दर ओढ़ी थी, सिर पर सफेद पाग बाँधी थी, श्वेत पुष्पों का हार पहना था और अपने मुखारविन्द के आगे मुनिमण्डल तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और अपने सन्मुख परमहंस झाँझ-मृदंग लेकर गान कर रहे थे।

तब श्रीजीमहाराज ने कीर्तन करनेवालों से कहा कि "अब कीर्तन का विराम रखिए, और प्रश्न-उत्तर कीजिए।" तब मुक्तानन्द स्वामी ने हाथ जोड़कर नमस्कार करके श्रीजीमहाराज को प्रश्न पूछा कि "हे महाराज ! मोह का क्या रूप है ? और मोह की निवृत्ति होने का क्या उपाय है ?" तब श्रीजीमहाराज थोड़ी देर विचार करने के बाद फिर बोले कि "मोह का रूप तो मन में जो भ्रान्ति जैसा हो जाता है, यही दिखाई देता है। जब पुरुष के हृदय में मोह बढ़ता है, तब मन में विशेष विभ्रान्ति होती है; फिर यह करने योग्य है और यह करने योग्य नहीं है, ऐसा विवेक नहीं रहता। और उस मोह होने के कारण पर तो आज ही हमने विचार किया है(१) कि आज अर्ध रात्रि के समय हमारी

---

*दि. १५-६-१८२१, शुक्रवार

१. और अपने अनुभव प्रमाण से ही निश्चित भी किया है।

नींद उड़ गई थी । हम[१] उत्तर दिशा की ओर मुख करके लेटे थे । उस समय ध्रुव का तारा देखा, तो ऐसा विचार हुआ कि 'यह तो उत्तर ध्रुव है परन्तु शास्त्र में जो दक्षिण ध्रुव[२] कहा गया है, वह कहाँ होगा ?' फिर हम दक्षिण ध्रुव देखने लगे तो वह भी दिखाई दिया । जैसे कुएँ पर पानी सींचने का अरहट[३] होता है उस तरह दोनों ध्रुवों के बीच बड़ा अरहट देखा । उस अरहट के मेरु की दो धारें उन दोनों ध्रुवों से सटी हैं । जिस प्रकार लकड़ी के स्तम्भ हों उसमें लोहे की कीले लगी हुई हों, वैसे लगी है और उस अरहट पर जैसे सूत की पिलाड़ी[४] लिपटी हो, और उस अरहट के साथ जैसे पीतल की फुल्लियाँ जड़ी हों वैसे ही समस्त तारे, देवता, नवग्रहादिक उनके जो स्थानक उस अरहट के आश्रय से रहते हैं, उन सबको देखा । तत्पश्चात् सूर्य और चन्द्र का उदय तथा अस्त भी एक ही[५] स्थान से होता है, उसे भी देखा । फिर अन्तर्दृष्टि से देखा तब जितने ध्रुव आदिक ब्रह्माण्ड में हैं उतने सभी पिण्ड में भी देखे । फिर इस देह में जो क्षेत्रज्ञ है, उसको भी देखा, फिर उस क्षेत्रज्ञ में जो पुरुषोत्तम भगवान रहते हैं, उन्हें भी देखा । उन भगवान को देखकर भगवान के स्वरूप में अतिशय वृत्ति जुड़ गई, फिर समाधि में से किसी भी प्रकार से निकला नहीं गया । फिर तो किसी भक्त ने आकर हमारी बहुत स्तुति की, उस पर की गई दया से हम पुनः देह में आ सके ।

फिर हमारे हृदय में विचार हुआ कि 'हम से जो समाधि से निकला गया, वह तो दया से निकला गया है, परन्तु दूसरों को[६] जो समाधि में से निकला जाता होगा, उसका क्या कारण है ? फिर हमें ऐसा लगा कि 'उसे विषयों में कहीं कुछ आसक्ति रही है, उस कारण से वापस निकला जाता है ।' मोह का

१. नक्षत्रों के आधाररूप शिशुकुमार चक्र देखने के बाद ।

२. सूर्यसिद्धान्त ग्रन्थ में और सिद्धान्तशिरोमणि ग्रन्थ में दो ध्रुव कहे हैं ।

३. कूँए में से पानी बाहर निकालते वक्त सिंचने की रस्सी के आधाररूप उपयोग में आनेवाला लकड़ा ।

४. रस्सी ५. मुख्य ६. समाधि में प्राप्त होनेवाले भगवान के सुख का त्याग करके ।

जो कारण है, वह भी पञ्चविषय ही है। वे विषय भी उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ, इन तीन प्रकार के हैं। उनमें जब उत्तम विषय की प्राप्ति होती है, और उसमें से कोई अन्तराय करानेवाला[१] आता है, तब उस पर क्रोध होता है, फिर क्रोध से मोह होता है। सामान्यरूप से तो श्रोत्र एवं शब्द को सदा सम्बन्ध है, और त्वचा तथा स्पर्श को सदा सम्बन्ध है। इस प्रकार पञ्च ज्ञानेन्द्रियों से पञ्चविषय का सम्बन्ध है। इसलिए जिस पदार्थ को सामान्यरूप से देखा हो, उस पदार्थ में से वृत्ति को तोड़कर भगवान के स्वरूप में रखनी हो तो उसमें कुछ भी प्रयास नहीं करना पड़ता, सहजरूप से ही उन विषयों में से वृत्ति टूटकर भगवान के स्वरूप में रहती है। और यदि स्त्रीआदिक का अतिशय रमणीय रूप देखने में आ गया हो और उसमें वृत्ति जुड़ गई हो, फिर यदि भगवान के स्वरूप में वृत्ति रखने लगे तो रहती नहीं। चित्त भी एक स्थान में स्थिर नहीं रहता[२], इसलिए जब तक रमणीय पञ्चविषयों में चित्त आकृष्ट होता है, तब तक मोह नहीं टलता। जब उसे प्रिय विषय हो और उसमें चित्त खिंचता हो, तब सन्त तथा गुरु तथा अपने इष्टदेव जो भगवान, वे यदि निषेध करते हैं, तो उन पर क्रोध आता[३] है और उनका द्रोह होता है, परन्तु उनके वचन मानने में नहीं आते। ऐसा जिसके अन्तर में रहता हो उसे मोह कहते है। जिसे भगवान ने गीता में कहा है कि

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥[४]

---

१. बाधक बने २. चित्त का ठिकाना नहीं रहता ३. रोष होता

४. विषयों का ध्यान करनेवाले पुरुष को फिर से भी विषयों में आसक्ति अतिशय बढ़ती हैं। उसमें से काम उत्पन्न होता है, आसक्ति की पक्वदशा को काम कहते है। अर्थात् पुरुष जिस दशा को पाकर विषयों को भोगे बिना रह न सके उसे काम कहते है। काम में से क्रोध होता है, यानी काम रहता हो और उस समय विषय समीप में न हो तो उस समय जो कोई पास पुरुष हो उसके

इसलिए यह वचन जो श्रीकृष्ण भगवान ने कहे हैं, वे परम सिद्धान्त हैं कि जब शब्दादिक किसी विषय में चित्त आकृष्ट होता है, तब चाहे कैसा भी बुद्धिमान हो परन्तु उसकी बुद्धि का कोई ठिकाना रहता नहीं है। वह पशु जैसा हो जाता है। इसलिए **मोह को उदय होने का कारण तो विषय में आसक्ति ही है।** जिसे इन विषयों में से चित्त को उखाड़ना हो, वे प्रथम तो आत्मनिष्ठा अति दृढ़ करके रखें कि 'मैं आत्मा हूँ, परन्तु देह तो मैं नहीं हूँ।' एक तो यह विचार दृढ़ करे और दूसरा, जिस प्रकार से जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है, उस बात को भी अच्छी तरह समझें। तीसरा, भगवान के स्वरूप का माहात्म्य अतिशय अधिकता से समझें। वह ऐसा विचार करे कि 'पञ्चविषय हैं, वे तो भगवान के किए हुए हैं। इसलिए भगवान में तो उनसे अतिशय अधिक सुख है। क्योंकि जो शब्द हो, उसमें केवल शब्द सम्बन्धी ही सुख होता है, किन्तु दूसरे चार विषयों का सुख शब्द में नहीं रहता है। वैसे ही स्पर्श में स्पर्श का ही सुख रहता है, परन्तु दूसरा नहीं रहता। उसी तरह रूप में रूप सम्बन्धी ही सुख रहता है; उसी तरह रस एवं गन्ध में अपने-अपने सम्बन्ध का ही सुख रहता है, परन्तु एक विषय में पञ्चविषयों का सुख एक साथ नहीं मिलता है। **भगवान का जो स्वरूप है उनमें तो सभी सुख एक साथ रहते है, वह तो एक दर्शन करता है तो भी वह भक्त पूर्णकाम हो जाता है।** उस तरह से भगवान के स्पर्शादिक भी अपने भक्त को पूर्णकाम करते है। मायिक जो विषय सम्बन्धी सुख है, वे तो सभी नाशवन्त हैं और जो भगवान सम्बन्धी सुख है, वह तो अखण्ड है।' भगवान के स्वरूप के माहात्म्य का ऐसा जो विचार, उसे भी अति दृढ़ करें। ये जो तीन विचार कहे हैं, उनसे विषयों में से आसक्ति

ää प्रति, उन्होंने मेरा अभीष्ट नाश किया" ऐसा मानकर क्रोध होता है, अर्थात् काम ही क्रोधरूप में परिणत होता है। क्रोध से संमोह (कृत्याकृत्य विवेक की शून्यता) होता है। जिससे न करने के पापकर्म करता है। संमोह से प्रारंभ किये हुए इन्द्रिय जय आदि प्रयत्न में स्मृतिभ्रंश होता है, स्मृतिभ्रंश होने से बुद्धि का नाश होता है। बुद्धि का नाश होने से विनाश होता है। इसलिए फिर से भी संसार में निमग्न होता है। (गीता. २/६२, ६३)

टल जाती है, और **जब विषय में से आसक्ति टलती है तब विषय उत्तम है या कनिष्ठ, ऐसा भेद नहीं रहता है ।** जैसी रूपवान स्त्री हो वैसी ही कुरूपवान स्त्री दिखाई देती है और उसी तरह पशु, पक्षी, लकड़ी, कंडे[१], पत्थर, सुवर्ण; इन सभीको समान भाव से देखता है, परन्तु उत्तम पदार्थ को देखकर उसमें मोह नहीं होता है । इस तरह पञ्चविषय के प्रति रहता है किन्तु उत्तम या कनिष्ठ ऐसा बुद्धि में भेद रहता नहीं है । ऐसा जिसे रहता हो उसे निर्मोही कहते है । उसे श्रीकृष्ण भगवान ने भी गीता में कहा है कि **'समलोष्टाश्मकाञ्चनः'**[२] ऐसे जिसके लक्षण होते हैं, उसने भगवान के स्वरूप को तत्त्व से जाना है और उसे ही अनन्य भक्त कहा जाता है । पतिव्रता का अंग भी उसका ही समझें, ज्ञानी भी उसे ही जानें और भगवान भी उस पर ही प्रसन्न होते हैं । ओर भगवान को ऐसा भक्त अतिशय प्रिय है । उसे भगवान ने गीता में कहा है कि **'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।'**[३] इसलिए ऐसे **जो पतिव्रता के अंगवाले भगवान के भक्त हैं वे ही भगवान को अतिशय प्रिय हैं।** यह पतिव्रता का अंग समझदार को ही होता है ऐसा नहीं है, जिसे खप[४] रहता हो, उन सभीको प्राप्त होता है । जैसे इस संसार में भोली स्त्रियाँ हो, वे पतिव्रता होती हैं और चतुर हों, वे व्यभिचारिणी होती हैं । इसलिए चतुर एवं भोलेपन का कोई मेल नहीं है, वह तो जिसे कल्याण का खप हो, वे पतिव्रता का अंग रखकर भगवान की भक्ति करते हैं । जो इस तरह उत्तम-कनिष्ठ विषय में समान बुद्धि हो जाना, यह तो एक दिन में ही ऐसा कर लूँ और निर्मोही हो जाऊँ,' इस प्रकार शीघ्रता करने से यह काम नहीं होता, यह तो धीरे धीरे जो अभ्यास रखता है उसे होता है । जैसे कुएँ के किनारे पर पत्थर लगाया हो, उसमें से पानी खींचते- खींचते रस्सी नरम हो तो भी बहुत समय होने पर उस पत्थर में घिस्सा पड़ते हैं । यदि लोहे की जंजीर से कुएँ में से पानी खींचा जाये तो भी शीघ्रता से ऐसा घिस्सा नहीं पड़ता । इसलिए **कल्याण के लिए जिसे प्रयत्न**

१. उपले २. मिट्टी का ढेला, पत्थर और सुवर्ण समान । (गीता. १४।२४) ३. पञ्चाला के तीसरे वचनामृत की टिप्पणी में अर्थ लिखा है । ४. गरज़, कल्याण प्राप्त करने की अनिवार्य इच्छा ।

करना हो वे विषय में से आसक्ति को टालें, उसमें व्याकुल होकर अकुलाये नहीं । इस तरह गीता में भी कहा है कि '**अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।**' इसलिए ऐसा विचार करना कि 'इस जन्म में विषय में से जितनी आसक्ति टल सकेगी उतनी टालनी है, ऐसा करने पर जो कुछ रह गई तो दूसरे जन्म में टालनी है, परन्तु भगवान के भक्त हुए है तो नरक-चौरासी में तो नहीं जाना है ।' इस तरह भगवान के भक्त हिम्मत रखकर धीरे-धीरे मोह की जड़ उखाड़ने का आग्रह सहित अभ्यास रखें । **जब तक उत्तम एवं कनिष्ठ; ये दोनों विषय तुल्य न हो जायें तब तक भगवान का वह भक्त साधन दशावाला कहलाता है और जब उत्तम व कनिष्ठ विषय तुल्य दिखाई दे तब वह भक्त सिद्ध दशा को प्राप्त हुआ, ऐसा जानें ।** और जब विषय में से आसक्ति को छोड़कर जो सिद्ध दशा को प्राप्त होता है, तब 'उसे कृतार्थ हुआ है,' ऐसा जानें । वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास इन सभी ग्रन्थों का यहीं गलितार्थ[१] है । यह जो हमने बात कहीं है, वह समस्त शास्त्रों का रहस्य है । इसलिए इस वार्ता को सभी हरिभक्त दृढ़ करके रखियेगा।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥१॥१३४॥

वचनामृत २ : 'जल की धारा का'

संवत्* १८७८ के श्रावण शुक्ल ३ तृतीया के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे रेशमी गोलाकार आसन पर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और मुनि झाँझ-मृदंग लेकर कीर्तन गान कर रहे थे ।

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि ''कीर्तन रखिए, हम बात[२] करते हैं ।'' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसे आत्यन्तिक कल्याण प्राप्त करना

*दि. १-८-१८२१, बुधवार

१. रहस्य, सार, प्रमुख अभिप्राय २. वार्ता

हो और नारद सनकादिक जैसा साधु होना हो, वह ऐसा विचार करें कि इस देह में जीव रहता है, और इन्द्रियाँ, अन्तःकरण जीव के साथ[१] जुड़े हुए हैं, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण बाहर भी पञ्चविषयों से जुड़े हुए[२] हैं। उस अज्ञान के कारण जीव इन्द्रियों–अन्तःकरण को अपना रूप मानता हैं, परन्तु वास्तव में जीव तो इन्द्रियों–अन्तःकरण से भिन्न हैं। जो पञ्चविषय है वे अन्तःकरण से भिन्न है, परन्तु यह तो विषयों का अभ्यास रहने से अन्तःकरण में पञ्चविषयों की एकता दिखाई देती है। और विषयों की जो उत्पत्ति है वह तो इन्द्रियों से होती है, परन्तु अन्तःकरण से नहीं होती है। जैसे अतिशय धूप अथवा ठंड हो, उसका प्रथम बाहर इन्द्रियों से सम्बन्ध होता है, उसके बाद इन्द्रियों द्वारा शरीर की अन्दर की ओर उसका प्रवेश होता है, परन्तु उनकी उत्पत्ति भीतर से नहीं है, वह तो बाहर से उत्पन्न होकर भीतर की ओर[३] प्रवेश करता है। उस तरह पञ्चविषय हैं वे प्रथम अन्तःकरण में से उत्पन्न नहीं होते हैं, वे तो प्रथम इन्द्रियों को बाहर विषय से सम्बन्ध होता है, फिर अन्तःकरण में प्रवेश करते हैं। परन्तु जैसे बाहर फोड़ा हुआ हो, उसे जब औषध लगाते हैं तब ही राहत होती है परन्तु केवल वार्ता सुनने से आराम नहीं होता। जैसे भूख और प्यास लगी हो तो वह खाने पीने से ही मिटती है परन्तु अन्न–जल की बात करने से नहीं मिटती, उस तरह पञ्चविषयरूप जो रोग है वह तो उसका जब औषध करते हैं तब ही निवृत्त होता है।

उस औषध की रीति ऐसी है कि जब त्वचा को स्त्रीआदिक विषय का स्पर्श होता है, तब त्वचा द्वारा अन्तःकरण में उसका प्रवेश होता है और अन्तःकरण के द्वार से जीव में प्रवेश करता है, परन्तु मूलतः विषय की उत्पत्ति जीव में से भी नहीं है और अन्तःकरण में से भी नहीं है। जो–जो विषय

---

१. एकरस होकर–एकाकार होकर रहे हैं, जिसे अलग करना अत्यधिक कठिन है।

२. आसक्त होकर विषय सन्मुख ही रहते है।

३. अन्तःकरण में।

अन्तःकरण में से स्फुरित[१] होते होंगे वे भी पूर्व जन्म में बाहर से ही इन्द्रियों द्वार से आए हैं इसलिए विषय टालने का यही औषध है कि त्वचा से स्त्रीआदिक पदार्थों के स्पर्श का त्याग करें। नेत्र से उनका रूप न देखें, जिह्वा से उनकी बात न करें, कान से उनकी बात न सुनें और नासिका से उनका गन्ध न लें। इस तरह पञ्च इन्द्रियों द्वारा विषय का त्याग दृढ़ रखा जाये तब बाहर से विषय का प्रवाह अन्दर की ओर प्रवेश करता नहीं है। जैसे कुएँ में पानी की धारा आती हो, फिर उसे गुदड़ी के फटे टुकड़े भरकर बन्द करते है तब उस कुएँ को खोदा जा सकता है, उस तरह बाह्य इन्द्रियों को नियम में रखने से बाह्य विषय का अन्तःकरण में प्रवेश नहीं होता। जैसे उदर में रोग हुआ हो तब तो उदर में औषध जाता है तब ही मिटता है, उस तरह प्रथम से जिन इन्द्रियों से विषय अन्तःकरण में प्रवेश कर गए हों[२], उसे तो आत्मविचार करके टालें। वह आत्मविचार इस प्रकार से करें कि **'मैं आत्मा हूँ और मुझमें इन्द्रियाँ-अन्तःकरण का सम्बन्ध नहीं है।' इस प्रकार से दृढ़ विचार करके और उस चैतन्य में भगवान की मूर्ति को धारण करके अपने आत्मसुख से पूर्ण रहें।** जैसे कुआँ जल से पूर्ण भरा हो, तब जो बाहर से उसमें जल की धारा आती हो तो उसे अपना पानी रोक के रखता है, परन्तु अन्दर की ओर उस धारा के पानी को अपने भीतर प्रवेश नहीं होने देता; और यदि उलीचकर खाली हो जाये तो धाराओं का पानी बाहर से अन्दर आता है। **उस तरह आत्मसुख द्वारा भीतर की ओर से पूर्ण रहें और बाहर पञ्च इन्द्रियों द्वारा विषय का मार्ग बन्द करके रखें, यही कामादिक को जीतने का दृढ़ उपाय है। परन्तु इसके बिना केवल उपवास करने से कामादिक का पराजय नहीं होता है। इसलिए इस विचार को दृढ़ करके रखिए।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥२॥१३५॥

१. प्रगट २. ठहरे हों

वचनामृत ३ : 'रसिकमार्ग और आत्मज्ञान का'

संवत्* १८७८ के श्रावण शुक्ल ४ चतुर्थी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे गोलाकार आसन[१] पर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और अपने समक्ष परमहंस झाँझ-मृदंग लेकर कीर्तन गान कर रहे थे ।

तब श्रीजीमहाराज ने नेत्रकमल के संकेत से सबको विराम कराकर[२] बोले कि जो 'बड़े-बड़े परमहंस हों वे आगे आइए, बात करनी है ।'' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज बोले कि ''जो भगवान को भजते हैं उन्हें बड़ी पदवी प्राप्त करने के दो उपाय हैं और पतन के दो उपाय हैं; उन्हें कहते हैं कि एक तो रसिकमार्ग के आलम्बन से भगवान की भक्ति करनी तथा दूसरा आत्मज्ञान, ये दोनों महत्ता[३] प्राप्त करने के भी मार्ग हैं तथा पतन के भी हैं । उनमें रसिक मार्ग से तो हजारों एवं लाखों गिर चुके हैं और भगवान को तो कोई ही प्राप्त कर सका होगा । बड़े आचार्य हुए, उन्होंने भी रसिकमार्ग से भक्ति कराई हैं, परन्तु उसमें बिगाड़ बहुतों का हुआ है और श्रेय तो किसीका ही हुआ है । क्योंकि, रसिकता[४] से जब भगवान का वर्णन करते हैं तब भगवान के साथ राधिकाजी, लक्ष्मीजी तथा उनकी जो सखियाँ; उनका भी वर्णन आता हैं और जब स्त्रियों का वर्णन आता है, तब तो उनके अंग-अंग का वर्णन होता है, तब वर्णन करनेवाले का मन निर्विकार कैसे रह सकता है ? और इन्द्रियों का तो यही स्वभाव है कि उत्तम विषय हो, उस पर ही प्रीति रहती है । राधिकाजी, लक्ष्मीजी जैसा तो त्रलोकी में किसी भी स्त्री का रूप नहीं होता, उनके जैसी किसीकी वाणी भी मीठी नहीं होती और उनके शरीर की सुगन्ध भी अतिशय रहती है; इसलिए

*दि. २-८-१८२१, गुरुवार

१. चाकळो - बैठने का गोलाकार मोटा आसन जो नक्सीदार कसीदे एवं गुंठना से सुशोभित होता है । जिसे 'चाकळो' नाम से जाना जाता है ।

२. कीर्तनगान बन्द करवाके । **३.** बड़प्पन **४.** रसिकभाव से ।

ऐसे रूप को देखकर अथवा सुनकर किस प्रकार से मोह न हो ? वह तो होता ही है । यदि लेशमात्र मन में विकार हो गया तो वह कल्याण के मार्ग से पतित हो चुका है । इसलिए रसिक की रीति से जो भगवान को भजता है, उसे यह बड़ा विघ्न है । ब्रह्मज्ञान में तो इस तरह की विपरीत समझ हो जाती है कि 'जो ब्रह्म है, वही प्रकृतिपुरुषरूप हो जाता है और बाद में वही ब्रह्म ब्रह्मा, विष्णु, शिवरूप हो जाता है, फिर वही ब्रह्म स्थावर-जंगमरूप हो जाता है और वे स्थावर-जंगम रूप जो आकार, उनमें रहे जो जीव, उन रूप में भी ब्रह्म होता है ।' इस प्रकार ब्रह्मज्ञान को उल्टा समझकर बाद में समझनेवाला अपने जीव को भी भगवान समझता है, तब ऐसे समझनेवाले की उपासना का भंग हुआ । इसलिए वह भी भगवान के मार्ग से पतित हो गया है । इस तरह से ब्रह्मज्ञान में भी उपासना का खण्डन होता है, यह बड़ा विघ्न है । क्योंकि, समझ-समझके तो सर्व के कारण और सर्व के स्वामी ऐसे जो भगवान, उनका ही खण्डन हुआ, इसलिए ऐसा समझनेवाला भी कल्याण के मार्ग से पतित हुआ ऐसा जानें । ये दोनों जो मार्ग है, वे कल्याण के लिए हैं किन्तु इन दोनों में विघ्न भी बहुत बड़े हैं । इसलिए जो कल्याण को चहता[१] हो वह क्या करें[२] ? यह प्रश्न है, इसका उत्तर करिए ।'' तब सभी परमहंस विचार करने लगे किन्तु किसीसे उत्तर नहीं हुआ ।

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''इसका उत्तर तो यह है कि जैसे अपनी माता हो, अथवा बहन हो, तथा पुत्री हो, वह बहुत रूपवती हो, तो भी उन्हें देखकर मन में विकार नहीं होता है, उस तरह उनके साथ बोलते हैं, स्पर्श करते हैं तो भी मन में लेशमात्र विकार नहीं होता है; उसी तरह भगवान की भक्त जो स्त्रियाँ हों उनमें माँ, बहन तथा पुत्री की बुद्धि[३] रहती हो तो किसी प्रकार से विकार नहीं होता और रसिक मार्ग से भगवान का भजन करके अभयपद को प्राप्त होता है । जब ऐसा न समझे और कोई भगवान की बड़ी भक्त स्त्रियां हो, उनको[४] देखकर गलत समझता है, तब उसको बड़ा दोष लगता है । अन्य[५] स्त्री को देखने से जो दोष लगता है, वह तो भगवान के भक्त के दर्शन करने

१. इच्छता २. कैसा समझे ३. भावना ४. विकार दृष्टि से । ५. अभक्त

से टल जाता है । पर भगवान के भक्त को[१] देखने से जो दोष लगता है, उसे टालने का उपाय शास्त्रों में कहा ही नहीं है । इसी तरह से भगवान का भक्त जो पुरुष हो, उनको[२] देखकर जो स्त्री गलत समझती है उसे भी उस पाप से कभी भी मुक्ति नहीं होती । वहाँ श्लोक है कि

अन्य क्षेत्रे कृतं पापं तीर्थक्षेत्रे विनश्यति ।
तीर्थक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति ॥

इस श्लोक का अर्थ यह है कि 'अन्य स्थान में जो पाप किया हो, वह तो भगवान या भगवान के भक्त के पास जाने से छूट जाता है किन्तु भगवान या भगवान के भक्त के पास जाकर जो पाप करता है वह तो तीर्थक्षेत्र में किया हुआ पाप है, वह वज्रलेप हो जाता है ।' इसलिए जिसे रसिक मार्ग से भगवान का भजन करना हो, वे तो हमने जैसे बात कही, उस तरह निर्दोष बुद्धि रखें ।

अब जो ब्रह्मज्ञान का मार्ग है, उसमें तो ऐसा समझे कि 'जो ब्रह्म है वह तो निर्विकार है और निरंश है । इसलिए वह विकार को नहीं प्राप्त होता और उसके अंश[३] भी नहीं होते है । और इस ब्रह्म को जो सर्वरूप कहते है, उसका तो ऐसा है कि 'यह ब्रह्म तो प्रकृतिपुरुष आदिक सबका कारण है, आधार है और सर्वमें अन्तर्यामी शक्ति से व्यापक है । इसलिए जो कारण, आधार और व्यापक हो, वह कार्य से पृथक् नहीं होते; ऐसी समझ को लेकर उन ब्रह्म को शास्त्र सर्वरूप कहते हैं,' परन्तु वह ब्रह्म ही विकार को प्राप्त होकर चराचर[४] जीवरूप में हो गया, ऐसा न समझें । और इस ब्रह्म से परब्रह्म जो पुरुषोत्तमनारायण है, वे भिन्न हैं और उस ब्रह्म के भी कारण है, आधार हैं तथा प्रेरक हैं, **ऐसा समझकर अपने जीवात्मा की उन ब्रह्म के साथ एकता करके परब्रह्म की स्वामी-सेवकभाव से उपासना करें ।** इस प्रकार से समझा जाये तब ब्रह्मज्ञान है वह भी परमपद को प्राप्त करने का निर्विघ्न मार्ग है ।''

॥ इति वचनामृत गढ़डा मध्य ॥३॥१३६॥

१. विकार दृष्टि से २. विकार दृष्टि से ३. विभक्त ४. जड़-चेतन

वचनामृत ४ : 'माहात्म्य तथा श्रद्धा से अखण्ड चिन्तन होता है, फटी लंगोटी और तुंबडी का'

संवत्* १८७८ के श्रावण शुक्ल ५ पञ्चमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के अटारी के ओसारा में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और परमहंस दुक्कड़,(१) सरोद और सितार बजाकर मल्हार राग के कीर्तन गान कर रहे थे ।

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि ''कीर्तन गाना रहने दीजिए, अब तो परमेश्वर की वार्ता(२) करते हैं ।'' फिर परमहंसों ने कहा कि ''अच्छा महाराज!'' तब श्रीजीमहाराज ने प्रश्न किया कि ''शास्त्र में कहे ऐसे धर्म का जो पालन करता हो तथा भगवान की भक्ति भी करता हो, उसे ऐसा आपत्काल आ जाये कि भक्ति रखने जाये तो धर्म छूट जाय और धर्म रखने जाये तो भक्ति छूट जाय, तब वह किसे रखे और किसका त्याग करें ?''(३) फिर ब्रह्मानन्द स्वामी बोले कि ''यदि भगवान भक्ति रखने से प्रसन्न रहें तो भक्ति रखें और यदि धर्म रखने से प्रसन्न रहें तो धर्म रखें ।''

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि ''जिसे प्रकट भगवान मिले हों उसे तो जिस प्रकार से भगवान प्रसन्न रहे वैसा ही करना उचित है, परन्तु जब भगवान का परोक्षपना(४) हो तब कैसे करें ?''(५) फिर मुक्तानन्द स्वामी इस का उत्तर

*दि. ३-८-१८२१, शुक्रवार

१. तबला २. कथा

३. धर्म, ज्ञान, वैराग्य और भक्ति से भगवान के भक्त में एकान्तिकपना आता है, उसमें ज्ञान वैराग्य में अंत:साधन की अपेक्षा है । इसलिए विषम देशकालादिक से भी उसकी निवृत्ति का भय नहीं है, श्रवणादिक भक्ति और धर्म में तो बाह्य साधन की अपेक्षा है । इसलिए देशकालादिक की विषमता हो तब धर्म का त्याग करके भक्ति रखे या धर्म को रखकर भक्ति का त्याग करें, इसमें क्या योग्य है ? उसे कहिए ! इतना प्रश्न का तात्पर्य है ।

४. अप्रगट, मनुष्याकार में न हो । ५. दोनों में किसका त्याग करें और किसे रखें ।

करने लगे परन्तु हुआ नहीं । फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ‘‘जब भगवान परोक्ष हों और आपत्काल आ जाये और कोई[१] न रहे तब भगवान का अखण्ड चिन्तन करें, तो भगवान के मार्ग से गिरता नहीं है ।’’[२]

फिर पुनः श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ‘‘भगवान का माहात्म्य जो अतिशय समझता हो और उससे ऐसा जाने कि ‘चाहे कितने भी पाप किये हों तथापि जो भगवान का एक नाम लिया हो तो सभी पाप जलकर भस्म[३] हो जाते हैं,’ ऐसा माहात्म्य समझता हो तब वह किस तरह समझे, जिससे वह धर्म से चलित न हो ?’’ तब मुक्तानन्द स्वामी इस प्रश्न का उत्तर करने लगे परन्तु न हुआ । फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ‘‘भगवान का माहात्म्य जो अतिशय जानता हो, उसे तो इस प्रकार समझ में आये तब धर्म में रहा जाता है कि ‘मुझे तो भगवान का अखण्ड चिन्तन करके एकान्तिक भक्त होना है[४]। और यदि काम, क्रोध, लोभादिक विकारों में मेरी वृत्ति जायेगी, तो मुझे भगवान के चिन्तन में इतना विक्षेप होगा; ऐसा समझकर कुमार्ग से वह अत्यन्त ही भयभीत रहता है और अधर्म में कभी भी प्रवृत्त ही नहीं होता । इस तरह समझता हो,’ तब भगवान का माहात्म्य अतिशय समझता हो, तो भी धर्म से कभी भी नहीं गिरता[५] । भगवान का जो अखण्ड चिन्तन होना, वह कोई साधारण बात नहीं है । भगवान का चिन्तन करते-करते जो शरीर त्याग करता है तो वह अत्यन्त बड़ी पदवी को प्राप्त होता है ।’’

---

१. धर्म एवं भक्ति २. भक्ति और धर्म का साहचर्य होने से उनमें से एक का लोप होता है तो दोनों का लोप होना संभव है, इसलिए बाहर से उसे दोनों का त्याग पर अन्तर में तो उन दोनों को भगवान के चिंतवन द्वारा रखे, जो सर्वथा अखण्ड भगवान का चिंतवन करता है, उसने भक्ति-धर्म दोनों को रखे है । उसमें लेशमात्र संशय नहीं है, क्योंकि भगवान की मूर्ति धर्मभक्ति के आधाररूप है । इसलिए भगवान का एकाग्रतापूर्वक किए हुए चिंतवन से दोनों का रक्षण संभव हो पाता है, ऐसा भावार्थ समझे । ३. राख ४. उनमें धर्म आदि चार हेतु है । उसमें धर्म मुख्य है। वह धर्म भगवान को अतिप्रिय है, क्योंकि भगवान धर्मरक्षण हेतु ही युग-युगमें प्रगट होते हैं और धर्मद्रोहिओं का नाश करते हैं । भगवान को धर्म प्रिय है । इसलिए मुझे धर्म में ही रहना है । ५. और अंतकाल में भगवान के धाम को पायें ।

फिर ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि ''ऐसा जानते हैं तो भी अखण्ड चिन्तन नहीं रहता, इसका क्या कारण है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''एक तो अखण्ड चिन्तन हो सके ऐसी श्रद्धा होनी चाहिए और जब ऐसी श्रद्धा न हो, तब माहात्म्य जानने में भी उतनी कमी है और जब माहात्म्य जानने में कमी है, तब भगवान के स्वरूप के निश्चय में भी उतनी कमी है । इसलिए **यदि भगवान के स्वरूप का माहात्म्य तथा श्रद्धा हो, तो अखण्ड चिन्तन होता है ।** वह माहात्म्य इस प्रकार जाने कि 'भगवान तो[१] जैसे प्रकृतिपुरुष से पर हैं वैसे के वैसे ही प्रकृतिपुरुष में आए है, तो भी सामर्थ्य से युक्त हैं और प्रकृतिपुरुष का कार्य जो ब्रह्माण्ड है, उसमें आये हैं, तब भी भगवान वैसे के वैसे प्रताप से युक्त हैं, किन्तु भगवान की मूर्ति में किसी भी प्रकार से माया का लेश भी स्पर्श नहीं होता । जैसे अन्य धातुएँ हैं और सुवर्ण भी है, उनको इकट्ठा करके भूमि में गाड़ दिया जाये तो सुवर्ण के सिवा अन्य जो धातु हैं, वे सभी बहुत समय होने पर मिट्टी के साथ मिट्टी हो जाती हैं और सुवर्ण तो जितना पृथ्वी में रहता है उतना बढ़ता है परन्तु घटता नहीं है । उस तरह भगवान तथा अन्य ब्रह्मादिक देव तथा मुनि वे कहीं समान नहीं है, क्योंकि जब विषयरूप मिट्टी का योग होता है, तब भगवान के सिवा दूसरे चाहे कितने ही बड़े हों, तो भी विषय में एकरस हो जाते हैं और भगवान तो मनुष्य जैसे प्रतीत होते हों, तो भी उन्हें मायिक पदार्थ बाधित करने में समर्थ नहीं होता और कैसे भी विषय हो तो उनमें कभी भी लिप्त नहीं होते । भगवान का ऐसा अलौकिक सामर्थ्य है ।' ऐसा भगवान का माहात्म्य समझता है तो उसे भगवान का अखण्ड चिन्तन होता है । **जब तक विषय के आकृष्ट[२] करने पर आसक्त हो जाता है तब तक उस भक्त ने भगवान की अलौकिक महिमा जानी ही नहीं है ।** और जो उद्धवजी थे उनको भगवान ने ऐसा कहा कि 'हे उद्धव ! मुझ से अणुमात्र भी न्यून नहीं हो[३] ।' वह किस लिए कि उद्धवजी ने भगवान का

१. सर्वदा अतिशुद्ध हैं, स्वतन्त्र हैं, तथा निर्विकार हैं, और ।

२. आकर्षण में आकर्षित होता है । ३. 'नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनः' (भाग. ३-४-३१)

अलौकिक माहात्म्य समझ लिया था। और पञ्चविषय के आकृष्ट करने पर भी आकर्षित नहीं होते थे। और जिसे भगवान की महिमा समझ में आ जाती है उसे राज्य हो या भिक्षा मांगकर खाना, वे दोनों समान रहते हैं। बालिका, सोलह साल की स्त्री और अस्सीवर्ष की स्त्री, उन सभी में समान भाव रहता है; । संसार में जो-जो उत्तम कनिष्ठ पदार्थ हो उन सभी में समान भावना रहती है, परन्तु उत्तम पदार्थ में पतिंगे की तरह आकृष्ट नहीं हो जाता; और भगवान के सिवा अन्य किसी पदार्थ में लुब्ध(१) नहीं होता, एक भगवान की मूर्ति में ही लुब्ध(२) रहता है। और इस तरह जो रहता हो, वह भक्त कैसे भी बड़े विषय हों उनमें बन्धन को प्राप्त नहीं होता; और यदि ऐसा मर्म समझ में न आया हो तो फटी लंगोटी तथा तुंबडी में से भी मन को उखाड़ना महामुश्किल है। इसलिए इस तरह भगवान की मूर्ति का माहात्म्य जाने बिना दूसरे कोटि साधन किये जाये तो भी भगवान की मूर्ति का अखण्ड चिन्तन नहीं होता और **जो भगवान के स्वरूप की महिमा जानता है, उसे ही भगवान का अखण्ड चिन्तन होता है।''**

॥ इति वचनामृत गढ़डा मध्य ॥४॥१३७॥

वचनामृत ५ : 'पतिव्रता और शूरवीरता का'

संवत्* १८७८ के श्रावण शुक्ल ७ सप्तमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे चबूतरे पर गोलाकार आसन बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और मुनि ताल-मृदंग लेकर गा रहे थे।

तब श्रीजीमहाराज नेत्रकमल के संकेत से कीर्तन बन्द करवा के बोले कि ''सभी सुनिये, एक बात करते हैं कि **जो भगवान के भक्त हो, वे एक पतिव्रता का धर्म रखें और दूसरी शूरवीरता(३) रखें**। जैसे पतिव्रता स्त्री हो,

*दि. ५-८-१८२१, रविवार १. आकर्षित २. तन्मय ३. शूरवीरपना

उसे अपना पति वृद्ध हो तथा रोगी हो तथा निर्धन हो तथा कुरूप हो, तब भी पतिव्रता का मन किसी अन्य पुरुष के श्रेष्ठ गुण को देखकर डगमगाये ही नहीं। और यदि रंक की स्त्री हो और वह यदि पतिव्रता हो तो बड़ा राजा हो, तो भी उसे देखकर उस पतिव्रता का मन चलायमान ही नहीं होता। इस तरह भगवान के भक्त, पतिव्रता का धर्म भगवान के प्रति रखें। और अपने पति का कोइ निम्न[१] बोले, तब वहाँ पर कायर होकर पी न जायें[२] अतिशय शूरवीर होकर प्रतिवचन[३] कहें; परन्तु पाजी[४] लोगों की छाया[५] में भगवान के भक्त दबे[६] नहीं। इस तरह शूरवीरता रखें। और संसार में ऐसा कहते हैं कि 'साधु को तो समदृष्टि रखनी चाहिए, परन्तु यह शास्त्र का मत नहीं है। क्योंकि, नारद-सनकादिक तथा ध्रुव-प्रह्लादादिक ने भगवान का तथा भगवान के भक्त का ही पक्ष रखा है परन्तु विमुख का पक्ष किसी ने नहीं रखा। और जो विमुख का पक्ष रखता होगा, वह इस जन्म में अथवा दूसरे जन्म में अन्ततः अवश्य विमुख होगा। इसलिए **जो भगवान के भक्त हों, उन्हें जरूर भगवदीय का पक्ष रखना चाहिए और विमुख का पक्ष त्याग करना होगा।** हमारी इस बात[७] को सभी अति दृढ़तापूर्वक रखें।''

॥ इति वचनामृत गढ़डा मध्य ॥५॥१३८॥

वचनामृत ६ : 'हुंडी का, चित्त के स्वभाव का'

संवत्* १८७८ के श्रावण शुक्ल ८ अष्टमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे वेदी पर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के आगे परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और परमहंस ताल-मृदंग लेकर कीर्तन गा रहे थे।

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि ''कीर्तन रखिए, अब भगवद् वार्ता करते हैं।'' तब सभी मुनि हाथ जोड़कर बैठ गए, फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''इस

*दि. ६-८-१८२१, सोमवार **१.** निन्दा वचन **२.** बैठे न रहें, सुन न लें। **३.** जवाब **४.** दुष्ट, धर्मद्वेषी **५.** प्रभाव **६.** कायर होकर सुन न लें। **७.** उपदेश वार्ता।

संसार में कितने तो यवन जैसे जीव होते हैं, वे ऐसा कहते हैं कि 'गंगाजी का पानी तथा अन्य पानी; ये दोनों समान जानने में आते हैं और शालग्राम तथा दूसरे पत्थर; वे समान जानने में आते हैं, वैसे ही तुलसी तथा अन्य वृक्ष; वे समान जानने में आते हैं, ब्राह्मण तथा शूद्र; वे भी समान जानने में आते हैं, ठाकुरजी का प्रसादरूप अन्न तथा दूसरा अन्न; वे दोनों समान जानने में आते हैं, एकादशी के दिन भूखे रहें तथा अन्य दिन भूखे रहें; ये दोनों समान जानने में आते हैं और साधु तथा असाधु; ये दोनों समान जानने में आते हैं। इसलिए यह विधि-निषेध का जो विभाग, उसे जो बड़े पुरुष कहलाये हैं, उन्होंने किस लिए शास्त्र में कहा होगा ? ऐसा दुष्टमतिवाले जीव कहते हैं। इसलिए सभी सन्तों को हम यह प्रश्न पूछते है कि जो विधि-निषेध का विभाग बड़े पुरुषों ने शास्त्रों में कहा है, वह सत्य है या कल्पित है ? इस प्रश्न का उत्तर छोटे-छोटे परमहंस करें।" तब छोटे-छोटे परमहंस थे, वे बोले कि "विधि-निषेध का भेद सत्य है, और यदि ऐसा न हो तो स्वर्ग-नरक किसके पर कहा जाये ?" फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "उम्र छोटी है, लेकिन सही दिशा में समझते हैं।" ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज इसका उत्तर करने लगे कि "बड़े पुरुषों ने शास्त्रों में जो प्रतिपादित किया है, वे सभी सत्य हैं। वहाँ दृष्टान्त है कि जैसे कोई बड़ा साहूकार हो, और वह किसी को हुंडी लिखकर देता है, तब कागज पर तो एक भी रुपया दिखता नहीं है, परन्तु रुपया सच्चा है। जब वह हुंडी जिस साहूकार के पर लिखी हो, उसे दे तब उस हुंडी में से ही रुपयों का ढेर होता है, **उस तरह बड़े पुरुष की आज्ञा से जो धर्मपालन करता है, तब तो अभी विधि-निषेध में कुछ विशेष नहीं दिखाई देता, परन्तु अन्त में बड़े पुरुष की आज्ञा पालन करनेवाले का कल्याण होता है; ज्यों हुंडी में से रुपयों की प्राप्ति होती है त्यों।** और जो समर्थ साहूकार ने हुंडी लिखी हो और उसका विश्वास नहीं करता है, उसे मूर्ख जानें। और उसे उस साहूकार के प्रताप का ज्ञान ही नहीं है। उस प्रकार नारद, सनकादिक, व्यास, वाल्मीकि इत्यादिक जो बड़े पुरुष, उनके वचन का जिसे विश्वास नहीं है, उसे नास्तिक जानें और महापापिष्ठ जानें।

और फिर जो नास्तिक मतिवाले होते हैं उन्हें ऐसा समझ में आता है कि 'अन्य पत्थर में और ठाकुरजी की मूर्ति में क्या फर्क है ? सभी पत्थर एक समान हैं, और विवाहित स्त्री तथा अविवाहित स्त्री; उनमें क्या फर्क है ? सभी स्त्रियाँ समान हैं, और घर की स्त्री तथा माता-बहन; उनमें क्या फर्क है ? सभी का समान ही आकार है, और रामकृष्णादिक जो भगवान की मूर्तियाँ हैं, वे भी सभी मनुष्य जैसी हैं; इसलिए अधिक-न्यूनभाव तो मनुष्य ने कल्पना से उत्पन्न किया है, परन्तु क्या करें ? मनुष्य के साथ रहना है तो मनुष्य की हाँ में हाँ करनी चाहिए, परन्तु जो विधि-निषेध का मार्ग है, वह गलत है ।' इस तरह पापी ऐसे नास्तिक अपने मन में समझते हैं । इसलिए जिसकी इस प्रकार की बोली सुनने में आये, उसे पापिष्ठ जानें और नास्तिक जानें और उसे चांडाल समझकर उसका किसी प्रकार से संग न रखें ।''

पुनः श्रीजीमहाराज ने दूसरी वार्ता कही कि ''मनुष्यमात्र का चित्त कैसा है ? तो जैसे शहद हो, अथवा गुड़, शक्कर, चीनी; उसका गाढ़ा पानी हो उसके समान है । उस शहद में या गुड़, शक्कर, चीनी के पानी में मक्खी, चींटी या चींटा जो आते हैं वे चिपक जाते हैं और यदि मनुष्य हाथ लगाता है, तो मनुष्य की उंगली से भी चिपक जाता है, उस तरह चित्त का स्वभाव ऐसा है कि जिन-जिन पदार्थों को सुनता है[१] उन-उन पदार्थों से चिपक जाता है । यदि वह पत्थर तथा कूड़ा तथा कुत्ते का मल इत्यादिक जो निकृष्ट[२] वस्तुएँ हैं उनमें तो लेशमात्र भी सुख नहीं है, फिर भी उन निष्कृष्ट वस्तु में चित्त लग जाता है और उनकी याद आ जाये तो उनका भी चिन्तन करता है, ऐसा उसका[३] चिपकने का स्वभाव है । जैसे काँच का बड़ा दर्पण[४] हो, वहाँ बड़े सन्त आयें तों उसमें उनका भी प्रतिबिम्ब दिखाई देता है तथा कुत्ता, गधा, चांडालादिक जो-जो आयें हो, तो उनका भी प्रतिबिम्ब वैसा ही दिखाई देता है, उस तरह चित्त में अतिशय निर्मलता है । तब जिन पदार्थों की स्मृति होती है, वे दिखाई देते हैं । उसमें उत्तम कनिष्ठ का कोई मेल नहीं है । इसलिए जो मुमुक्षु हों, वे ऐसा विचार न करें कि ''मुझे वैराग्य नहीं है, इसलिए स्त्रीआदिक पदार्थो की मेरे चित्त में

१. स्मरण करता है । २. अत्यन्त निकम्मी, मलिन ३. चित्त का ४. आईना

स्फुरणा होती है।' वे तो जो वैराग्यवान हैं, उनके चित्त में भी जिस समय जो पदार्थ की स्मृति हुई, उसकी सहज ही स्फुरणा हो जाती है। इसलिए वैराग्य-अवैराग्य का कोई कारण नहीं है। वह तो चित्त का स्वभाव ही ऐसा है कि 'अच्छा या अनिष्ट; जो सुना उनका चिन्तन करता रहता है।' और जब जिस पदार्थ का चिन्तन करता है तब वह पदार्थ जैसे दर्पण में दिखाई देता है वैसे दिखाई देता है। इसलिए ऐसा समझना कि 'मैं तो इस चित्त से भिन्न हूँ और मैं उसे देखनेवाला आत्मा हूँ।' ऐसा जानकर चित्त के अच्छे बुरे संकल्पों से ग्लानि न होने दें। **स्वयं को चित्त से भिन्न जानकर भगवान का भजन करें और सदा आनन्द में रहें।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥६॥१३९॥

वचनामृत ७ : 'दरिद्र का'

संवत्* १८७८ के श्रावण शुक्ल ११ एकादशी के दिन रात्रि के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब मुक्तानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज को प्रश्न पूछा कि ''भगवान का भक्त हो उनके मन में तो ऐसा होता है कि भगवान के भजन में जो अन्तराय करता हो, ऐसा एक भी स्वभाव रखना नहीं है, तो भी अयोग्य स्वभाव रह जाता है, उसका क्या कारण है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसे वैराग्य की दुर्बलता है, उसे टालने की श्रद्धा होने पर भी स्वभाव नहीं टलता है। जैसे दरिद्र हो वह बहुत अच्छे-अच्छे भोजन तथा अच्छे-अच्छे वस्त्र की इच्छा करता है, परन्तु वे कहाँ से प्राप्त हों ? उस तरह **वैराग्यहीन हो उसके हृदय में इच्छा तो रहती है परन्तु साधुता के गुण प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है।''**

*दि. ९-८-१८२१, गुरुवार

फिर पुनः मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''जिसे वैराग्य न हो, वह कौन सा उपाय करे, तब विकार टलता है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''वैराग्यहीन हो, वह तो किसी बड़े सन्त की अतिशय सेवा करे और परमेश्वर की आज्ञा में जैसा कहे वैसे लगा रहें। फिर परमेश्वर उसे कृपा दृष्टि करके देखते हैं कि 'यह बेचारा वैराग्य रहित है, उसे कामक्रोधादिक बहु पीड़ा देते हैं। इसलिए इसके ये सभी विकार टल जाओं;' तब तत्काल टल जाते हैं और साधन करने से तो दीर्घकाल तक प्रयास करते-करते इस जन्म में टलते हैं अथवा दूसरे जन्म में टलते हैं। और तुरन्त जो विकारमात्र टलते हैं वह तो परमेश्वर की कृपा से टलते हैं।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥७॥१४०॥

वचनामृत ८ : 'एकादशी का, ज्ञानयज्ञ का, अन्तर्दृष्टि का'

संवत्* १८७८ के श्रावण शुक्ल १२ द्वादशी के दिन प्रात:काल में स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे गोलाकार आसन पर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के समक्ष परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और परमहंस ताल-मृदंग लेकर कीर्तन गान कर रहे थे।

तब श्रीजीमहाराज सन्त के प्रति बोले कि ''एकादशी व्रत करने की तो ऐसी कथा है कि पूर्व काल में भगवान दस इन्द्रियों और ग्यारहवें मन को अन्तरसन्मुख करके शयन कर रहे थे। उस समय पर नाडीजंघ का पुत्र मुरदानव युद्ध करने आया। तब भगवान के एकादश इन्द्रियों के तेज में से एक कन्या उत्पन्न हुई। तब मुरदानव कन्या के प्रति बोला कि 'तू मुझसे विवाह कर ले।' तब कन्या बोली कि 'मेरी तो ऐसी प्रतिज्ञा है कि जो मुझे युद्ध में जीतेगा, उससे मैं विवाह करूँगी।' फिर मुरदानव और कन्या का युद्ध हुआ, तब कन्या ने मुरदानव का मस्तक खड्ग[१] से काट डाला। तब भगवान ने प्रसन्न होकर कन्या

*दि. १०-८-१८२१, शुक्रवार १. तलवार

से कहा कि 'तूँ वरदान मांग ले', तब उस कन्या ने वर मांगा कि 'मेरे व्रत के दिन कोई भी अन्न न खायें और में आपकी एकादश इन्द्रियों के तेज से उत्पन्न हुई हूँ, इसलिए मेरा नाम एकादशी है । मैं तपस्विनी हूँ, इसलिए मेरे व्रत के दिन मन आदिक जो एकादश इन्द्रियाँ, उनका जो आहार, वह कोई न करें ।' ऐसा एकादशी का वचन सुनकर भगवान ने यह वरदान दिया । इस तरह पुराण की कथा है ।

और फिर धर्मशास्त्र में भी ऐसा कहा है कि 'एकादशी का व्रत करना हो, उस दिन काम, क्रोध, लोभादिक सम्बन्धी अनिष्ट संकल्प मन में होने न दें और देह से कोई अनिष्ट आचरण न करें ।' ऐसा शास्त्र में वचन है । और उसी शास्त्र के अनुसार ही हम भी कहते हैं कि 'एकादशी के दिन 'ढोरलंघन'[१] न करें । और **एकादश इन्द्रियों के आहार का त्याग किया जाये तब वह एकादशी सच्ची और उसके बिना तो ढोरलंघन कहलाती है ।'** जैसे प्राण को अन्न का आहार है, वैसे ही श्रोत्र को शब्द का आहार है, त्वचा को स्पर्श का आहार है, नेत्र को रूप का आहार है, जिह्वा को रस का आहार है, नासिका को गन्ध का आहार है तथा मन को संकल्प-विकल्प का आहार है । इस तरह से ग्यारह इन्द्रियों के अलग-अलग आहार हैं । उन सभी आहार का त्याग किया जाये, उसका नाम एकादशी व्रत कहालाता है, परन्तु ग्यारह इन्द्रियाँ कुमार्ग में दौड़ती फिरे और अपने-अपने आहार को करने लगें तो एकादशी का वह व्रत शास्त्र के अनुसार नहीं कहलाता । इसलिए एकादशी का व्रत करना हो तब तो ग्यारह इन्द्रियों को आहार करने न दें । ऐसा व्रत पन्द्रह दिन में एक बार आता है, उसे सावधान होकर करें, तब उसके ऊपर भगवान प्रसन्न होते हैं; परन्तु इसके बिना जो ढोरलंघन है, उससे भगवान प्रसन्न नहीं होते हैं । और श्वेतद्वीप में जो निरन्नमुक्त कहलाते हैं, वे तो सदैव इस व्रत को रखते हैं, कभी भी इस व्रत का भंग होने नहीं देते हैं; इसलिए निरन्न कहलाते हैं । और हमें भी इच्छा तो

१. अन्य नियमों को न पालते हुए केवल उपवास करना वह (मालिक कुछ न दे इसलिए भूखा रहना पड़े, ऐसी स्थिति, समझे बिना भूखा रहना)

ऐसी रखनी हैं कि 'जैसे श्वेतद्वीप में निरन्नमुक्त हैं वैसा ही होना है।' परन्तु इस बात में हिम्मत न हारें। इस प्रकार जो हिम्मत रखकर जैसा पहले कहा वैसा एकादशी का व्रत करता है, और भगवान की कथा कीर्तनादिक करता है तथा सुनता है तथा रात्रि में जागरण करता है, तो वह व्रत सच्चा है। शास्त्र में उसी का ही नाम एकादशी कहा गया है।'' इतनी बात कहकर श्रीजीमहाराज मौन हो गए और सन्त कीर्तन गान करने लगे।

तब फिर से श्रीजीमहाराज बोले कि ''जब ब्रह्मा ने प्रथम सृष्टि की, तब सभी प्रजा को कहा कि 'आप सब यज्ञ करिए और उस यज्ञ से आपको समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि होगी और सृष्टि की भी वृद्धि होगी, इसलिए यज्ञ तो जरूर करियेगा।' फिर वेद में बहुत प्रकार के जो यज्ञ थे, वे सभी ब्रह्मा ने विधि सहित बताए। उन में जो प्रवृत्ति मार्गवाले थे, उन्हें राजसी, तामसी ऐसे प्रवृत्ति मार्ग के यज्ञ बताए और जो निवृत्ति मार्गवाले थे, उन्हें तो सात्त्विक यज्ञ बताए। वे यज्ञ श्रीकृष्ण भगवान ने भगवद्‌गीता में भी बताए हैं। इसलिए हम सब तो निवृत्ति मार्गवाले हैं, हम लोगों को तो सात्त्विक यज्ञ करने हैं, परन्तु जिनमें पशु के वध होते हैं ऐसे जो राजसी, तामसी यज्ञ; वे हमें नहीं करने हैं। तो सात्त्विक यज्ञ की रीति यह है कि **दस इन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ मन; वे सभी जिन-जिन विषयों में चिपकते हैं, वहाँ से वापस खींचकर उन्हें ब्रह्म अग्नि में होम देना। उसका नाम योगयज्ञ कहलाता है।** और इस तरह होम करते-करते जैसे यज्ञ करनेवाले को भगवान दर्शन देते हैं, वैसे ही उन योगयज्ञ करनेवाले के अन्तर में अपना स्वरूप जो ब्रह्म, उसमें परब्रह्म जो श्रीपुरुषोत्तम, वे प्रकट हो आते हैं; यह योगयज्ञ का फल है। और **अन्तर्दृष्टि से भगवान के भक्त को जो रहना हैं उसे ज्ञानयज्ञ**[१] **कहते हैं।** अब कोई यह पूछे कि 'अन्तर्दृष्टि तो क्या है?' तब इसका उत्तर यह है कि बाहर अथवा भीतर की ओर भगवान

१. योगयज्ञ की अपेक्षा से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। ''**यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि**'' ऐसा गीता में कहा है। तथा ''**एष में सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः। यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा ॥**'' ऐसा विष्णुसहस्रनामस्तोत्र में कहा है।

की मूर्ति के समक्ष जो वृत्ति रखना, यह ही अन्तर्दृष्टि है। और उसके बिना तो अन्तर्दृष्टि करके बैठा है फिर भी बाह्यदृष्टि ही है। इसलिए **बाहर भगवान का दर्शन तथा पूजन तथा भगवान के कथा-कीर्तन इत्यादिक जो जो भगवान सम्बन्धी क्रियाएँ है, वे सभी अन्तर्दृष्टि हैं।** और ये सभी ज्ञानयज्ञ हैं। और वही भगवान की मूर्ति को अन्तर में धारण करके उनका पूजन-वन्दनादिक जो किया जाता है, वह भी अन्तर्दृष्टि है और ज्ञानयज्ञ है। इसलिए सत्संगिमात्र को तो ऐसा अखण्ड ज्ञानयज्ञ होता है। और समाधि तो किसी को होती है और किसी को नहीं होती, वह तो परमेश्वर की इच्छा से ऐसा होता है; अथवा कहीं पर तो भक्त की अपरिपक्वता होने से ऐसा होता है।

और कोई मूर्ख लोग हैं, जो ऐसा कहते हैं कि 'गोपिकाओं के अंग सम्बन्धी कीर्तन हों, उन्हें रहने दीजिए[१] और जो निर्गुण कीर्तन हों, उन्हें गाइए।' तथा जो निर्वस्त्र होकर घूमते हैं उन्हें मूर्ख लोग निर्गुणपुरुष कहते हैं। यदि निर्वस्त्र होकर घूमने से निर्गुण हो जाते तो कुत्ते, गधे इत्यादिक सभी निर्गुण कहलाते, इसलिए यह तो मूर्ख की समझ है। और ज्ञानी भक्त होते हैं वे तो ऐसा समझते हैं कि 'भगवान का स्वरूप हैं, वही निर्गुण हैं' और जिसे-जिसे उन भगवान का सम्बन्ध हुआ वे सभी निर्गुणमार्गवाले हैं और जिन-जिन कथा कीर्तनों में भगवान के स्वरूप का सम्बन्ध हैं वे सभी निर्गुण कहलाते हैं। और जिन कथा-कीर्तनों में भगवान का सम्बन्ध न हो, वे मायिक गुण से युक्त हैं, इसलिए सगुण कहलाते हैं। यदि भगवान की प्राप्ति न हुई हो और वे निर्वस्त्र होकर घूमते हैं तो निर्गुण नहीं कहलाते और जिसे भगवान की प्राप्ति हुई है और गृहस्थाश्रमी है तो भी निर्गुण कहलाता है और त्यागी हो, वे भी निर्गुण कहलाते हैं।' इसलिए भगवान को प्राप्त होने का जो मार्ग है वह ही निर्गुणमार्ग है। और वह जो-जो भगवान सम्बन्धी क्रिया करता है वे सभी निर्गुण हैं। और जिसे भगवान का सम्बन्ध हुआ है उसके भाग्य का पार नहीं है। उन भगवान का सम्बन्ध एक जन्म के पुण्य से नहीं होता है; उसे तो श्रीकृष्ण भगवान ने गीता में कहा है कि '**अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्**' इस श्लोक का यह अर्थ

१. रसिक कीर्तन का गान न करें।

है कि 'अनेक जन्मों का सुकृत इकट्ठा होने से जो संसिद्ध[१] हुआ, वह परमपद को प्राप्त होता है।' तो वह परमपद क्या है ? कि '**प्रत्यक्ष भगवान की प्राप्ति ही परमपद है।**' और फिर श्रीकृष्ण भगवान ने यह भी कहा है कि

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन: ।
मन:षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

इस श्लोक का अर्थ यह है कि 'इस संसार में भगवान के अंश[२] जो जीव हैं, वे तो मन सहित जो पञ्च ज्ञानइन्द्रियाँ हैं उन्हें पञ्चविषय से खींचकर अपने वश में रखते हैं; और जो भगवान के अंश नहीं[३] हैं, उन्हें तो इन्द्रियाँ खींचकर जहाँ अपनी इच्छा हो वहाँ ले जाती है।' इसलिए हम सभी इन्द्रियों के चलाने पर चलते नहीं है, तब तो भगवान के अंश हैं, ऐसा समझकर अतिशय आनन्द में रहकर भगवान का भजन करें और सभी इन्द्रियों की वृत्तिओं को भगवान के स्वरूप में होमें और सदा ज्ञानयज्ञ करते रहें। यज्ञरहित का कैसे भी कल्याण नहीं होता है। और चार वेद, सांख्यशास्त्र, योगशास्त्र, धर्मशास्त्र, अठारह पुराण, भारत, रामायण और नारदपञ्चरात्र; इत्यादिक सभी शास्त्रों का यह ही सिद्धान्त है कि 'यज्ञ रहित का कल्याण नहीं होता। इसलिए हमारी भी यही आज्ञा है कि समस्त परमहंस तथा सभी सत्संगी ज्ञानयज्ञ करते रहें और **ऐसे ही ऐसे ज्ञानयज्ञ करते-करते जब अपना स्वरूप जो ब्रह्म है, उसमें परब्रह्म भगवान साक्षात्कार दिखाई दें, यह ही ज्ञानयज्ञ का फल है।** इस तरह से ज्ञानयज्ञ करते-करते जब श्वेतद्वीप में जैसे निरन्न मुक्त हैं वैसा हो जाये तब ज्ञानयज्ञ की विधि की अवधि[४] हो चुकी और जब तक ऐसा न हो जाये, तब तक इतना अधूरा समझें। निरन्नमुक्त जैसे होने की अतिशय इच्छा रखें, परन्तु श्रद्धा रहित न हों और स्वयं में अपूर्णता न मानें और भगवान की प्राप्ति हुई है, इनसे स्वयं को कृतार्थ मानकर तथा सावधान होकर ज्ञानयज्ञ करते रहें।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥८॥१४१॥

---

१. पक्व २. भगवत् सन्मुख, शास्त्र का अनुसरण करने वाले जीव, मुमुक्षु या दैवी ।
३. भगवद् विमुख, शास्त्रविधि का उल्लंघन करनेवाले जीव, भुभुक्षु या आसुरी ।
४. पूर्णाहूति, समाप्ति

वचनामृत ९ : 'स्वरूपनिष्ठा का - अवतार जैसे जाने तो द्रोह होने का'

संवत्* १८७८ के श्रावण शुक्ल १४ चतुर्दशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे मशरुम के गोलाकार आसन पर विराजमान थे। उस समय आनन्दानन्द स्वामी ने पूजा की थी, तब उन्होंने लाल किमखाब का सुरवाल पहना था तथा लाल किमखाब की मिरजई पहनी थी तथा सिर पर सुनहरे किनारीवाला कुसुम्बल फेंटा बाँधा था, कमर पर जरीदार शेला बाँधा था, गहरे आसमानी रंग का रेंटा कन्धे पर धारण किया था, और हाथ में राखियाँ बाँधी थी और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि ''कीर्तन बोलें ?'' तब श्रीजीमहाराज ने काहा कि ''लीजिए, परमेश्वर की वार्ता[१] करते हैं।'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''ज्ञानमार्ग को तो ऐसा समझें कि किसी भी प्रकार से भगवान के स्वरूप का द्रोह न हो जाये। और यदि कभी किसी समय भगवान के वचन का लोप होता हो, तो उसकी चिन्ता नहीं; परन्तु भगवान के स्वरूप का द्रोह न होने दें। और यदि भगवान के वचन का कुछ लोप हुआ हो, तो उसका भगवान की प्रार्थना करने से भी छुटकारा मिलता है, किन्तु भगवान के स्वरूप का द्रोह किया हो, तो उसका किसी भी प्रकार से छुटकारा नहीं होता। इसलिए **जो समझदार हों, उन्हें भगवान के वचन में तो जितना अपनी सामर्थ्य के अनुसार रहा जायें उतना अवश्य रहें, परन्तु भगवान की मूर्ति का बल अतिशय रखें कि 'सर्वोपरि और सदा दिव्य साकार मूर्ति और सर्व अवतारों के अवतारी ऐसा जो भगवान का स्वरूप है, वह ही मुझे प्राप्त हुआ है।'** और जो कहा

*दि. १२-८-१८२१, रविवार

१. कथा

ऐसा समझता हो, और उनसे जो कदाचित् सत्संग से बाहर निकला गया हो, तो भी उसे भगवान की मूर्ति में से प्रीति टलती नहीं है। वह अभी तो सत्संग से बाहर है, किन्तु देह छोड़कर तो अन्त में भगवान का जो अक्षरधाम है, वहाँ भगवान के समीप में जायेगा।' और अभी सत्संग में रहता होगा और शास्त्र के वचन में भी रहता होगा और उसे यदि भगवत्स्वरूप की निष्ठा पक्व नहीं होगी, तो वह जब देह त्याग करेगा तब या तो ब्रह्मा के लोक में जायेगा या तो कोई दूसरे देवता के लोक में जायेगा, परन्तु वह पुरुषोत्तम भगवान के धाम में नहीं जायेगा। इसलिए **स्वयं को साक्षात् प्राप्त हुआ जो भगवान का स्वरूप, उन्हें सदा दिव्य साकार मूर्ति तथा सर्व अवतार के कारण अवतारी ऐसा जानें। और यदि ऐसा न जानता हो और निराकार जानता हो तथा दूसरे अवतार जैसा जानता हो तो उनका द्रोह किया कहलाता है**। जैसे अर्जुन थे, उनको तो भगवत्स्वरूप का बल था तथा युधिष्ठिर राजा को तो शास्त्र के वचन का बल था। फिर जब भारती[१] लड़ाई हुई तब श्रीकृष्ण भगवान ने अर्जुन से कहा कि

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

इस श्लोक का अर्थ यह है कि 'हे अर्जुन ! सभी धर्मों का त्याग करके तुम एक मेरी ही शरण में आ जाओं, तो मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त करा दूँगा। तुम किसी भी प्रकार का शोक मत करों।' इस वचन को मानकर अर्जुन उस लड़ाई में अनन्त दोष हुए तो भी लेशमात्र मन में क्षुब्ध नहीं हुए और भगवान के आश्रय का बल रखते रहे। और युधिष्ठिर ने कोई पाप नहीं किया था फिर भी शास्त्र के वचन का विश्वास था इसलिए ऐसा जाना कि 'मेरा कभी भी कल्याण नहीं होगा।' फिर सभी ऋषियों ने समझाया तथा व्यासजी ने समझाया तथा श्रीकृष्णभगवान ने स्वयं समझाया तो भी शोक छोड़ा नहीं। फिर

१. महाभारत की।

श्रीकृष्णभगवान ने भीष्म के पास ले जाकर शास्त्र सम्बन्धी कथा सुनाई तब कुछ विश्वास आया; फिर भी अर्जुन जैसे निःसंशय नहीं हुए। इसलिए बुद्धिमान को तो भगवत्स्वरूप का बल अतिशय रखना चाहिए। यह बल यदि लेशमात्र भी हो तो बड़े भय से रक्षा करता है। उसे भी श्रीकृष्णभगवान ने कहा है कि

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।'

इस श्लोक का यह अर्थ है कि 'भगवत्स्वरूप के बल का लेशमात्र हो, वह भी बड़े भय से रक्षा करता है।' जैसे अर्जुन ने भारती लड़ाई की तब उसमें कई प्रकार के अधर्मरूपी बड़े-बड़े भय आये थे, परन्तु उस भय से अर्जुन की जो रक्षा हुई, वह भगवत्स्वरूप के बल के प्रताप से हुई। **इसलिए जिसे सब से भगवत्स्वरूप का बल अधिक हो वह ही एकान्तिक भक्त कहलाता है और वह ही पक्का सत्संगी कहलाता है।** श्रीमद् भागवत में भी यह बात प्रधान है कि 'श्रुति-स्मृति के धर्म को क्वचित् छोड़ना पड़े तो उसकी चिन्ता नहीं, परन्तु भगवान के आश्रय का त्याग न करें। और कोई ऐसा जानता हो कि 'ऐसी बात करने से तो धर्म मिथ्या[१] हो जायेंगे।' परन्तु यह बात तो कहीं धर्म को मिथ्या[२] करने के लिए नहीं है; यह तो इसलिए है कि देश, काल, क्रिया, संग, मन्त्र, शास्त्र, उपदेश और देवता ये सभी शुभ एवं अशुभ दो प्रकार के हैं। इनमें से यदि अशुभ का योग हो जायें और उसे कुछ विघ्न आ जाये तो भी यदि भगवान के स्वरूप में निष्ठा पक्व हो तो वह कल्याण के मार्ग में से कभी भी नहीं गिरता और यदि भगवत्स्वरूप की निष्ठा में अपरिपक्वता हो, तो जिस दिन धर्म में से चलायमान हो जायें उस दिन वह ऐसा जानता है कि 'मैं नरक में गिर चुका हूँ।' इसलिए जिसे भगवत्स्वरूप का बल है वह ही पक्का सत्संगी है और इसके अलावा दूसरे तो गुणबुद्धिवाले कहलाते हैं। और जिसे भगवत्स्वरूप की निष्ठा पक्व हो, उन्हें ही शास्त्र में भी एकान्तिक भक्त कहा है। इस समय में जैसी सत्संग में वार्ता होती है उसे यदि नारद, सनकादिक तथा ब्रह्मादिक देवता सुनें, तो सुनकर ऐसा कहेंगे कि 'ऐसी वार्ता कभी भी सुनी

१-२. व्यर्थ, निरर्थक

नहीं है और न कभी भी सुन पायेंगे । यह वार्ता तो '**न भूतो न भविष्यति**' ऐसी है । अतिशय सूक्ष्म वार्ता होती है तो भी अतिशय स्थूल बुद्धिवाले हों उन्हें भी समझ में आती है, ऐसी मूर्तिमान[१] वार्ता होती है । इसलिए **इस समय में जिन्हें सत्संग में प्रतीति आई है उनके पुण्य का पार आये ऐसा नहीं है ।** ऐसा समझकर सत्संगी हो उन्हें अपने में कृतार्थता माननी चाहिए । और जिसे भगवान में अतिशय प्रीति हो उसे तो यह वार्ता समझ में आये अथवा न समझ में आये, तो भी उसे तो कुछ भी करना नहीं रहा है, परन्तु जिसे परमेश्वर में अतिशय प्रीति तो न हो, उसे तो जरूर भगवान के स्वरूप की महिमा समझनी चाहिए । इसलिए **जो समझदार हो, वे तो इस वार्ता को सोच-समझकर भगवान का अति दृढ़ आश्रय करें, यही मत अति सार में सार है ।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥९॥१४२॥

वचनामृत १० : 'निश्चयरूप गर्भ के जतन का'

संवत्* १८७८ के श्रावण कृष्ण ३ तृतीया के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में से घोड़ी[२] पर सवार होकर श्रीलक्ष्मीवाड़ी पधारे थे । फिर उस फूलवाडी में आम्रवृक्ष के नीचे जो वेदी है, उस पर उत्तर की ओर मुखारविन्द किये विराजमान थे । श्रीजीमहाराज ने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे तथा अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''श्रीमद्भागवत[३] में साकार ब्रह्म का प्रतिपादन है, परन्तु जो पढ़नेवाले हैं उनमें यदि परमेश्वर की भक्ति न हो तो भगवान का स्वरूप श्रीमद्भागवत से भी निराकार ज्ञात होता है । द्वितीय स्कन्ध

---

*दि. १६-८-१८२१, गुरुवार

१. दिखाई दे वैसी प्रत्यक्ष - संशय रहित, सुगम एवं बुद्धि में तुरन्त प्रकाश करनेवाली ।

२. 'माणकी' नाम की घोड़ी ।

३. भरतखण्ड में इस समय में श्रीमद्भागवत पुराण सर्वोपरि रहता है, वह ।

में जहाँ आश्रय का रूप किया है, वहाँ भी भगवान का स्वरूप जो भक्तिहीन है, उसे निराकार ज्ञात होता है, परन्तु भगवान का स्वरूप निराकार नहीं है। क्योंकि, भगवान से ही सभी स्थावर-जंगम सृष्टि होती है, तो यदि भगवान निराकार होते तो उनसे साकार सृष्टि कैसे होती है ? जैसे आकाश निराकार है, तो उससे जैसे पृथ्वी से घटादिक आकार होते हैं वैसे नहीं होते हैं, उस तरह ब्रह्मादिक जो सृष्टि, वह साकार है, तो उनके कर्ता जो परमेश्वर वे भी साकार ही हैं। 'और भागवत में अध्यात्म, अधिभूत तथा अधिदेव; इन तीनों का जो आधार है, वह भगवान का स्वरूप है ऐसा कहा है।' उसकी बात कहते हैं, उसे सुनिये, अध्यात्म जो विराटपुरुष की इन्द्रियाँ और अधिभूत जो उनके पञ्च महाभूत तथा अधिदेव जो विराट की इन्द्रियों के देवता; ये सभी विराट में प्रवेश कर गए, तब भी विराट खड़ा नहीं हुआ। फिर वासुदेव भगवान ने पुरुषरूप होकर जब विराटपुरुष में प्रवेश किया तब विराटपुरुष खड़े हो गए[१]। वे भगवान विराटपुरुष के जो अध्यात्म, अधिभूत और अधिदेव; उनमें तादात्म्यरूप[२] से रहते हैं। स्वरूप[३] से तो विराट से न्यारे[४] हैं। और उन्हें ही आश्रय करने योग्य स्वरूप कहे हैं। जैसे अग्नि है, वह प्रकाशस्वरूप से तो अरूप है और अग्नि स्वयं तो मूर्तिमान है, तो जब अग्नि को अजीर्ण हुआ था तब मूर्तिमान अग्नि श्रीकृष्ण भगवान तथा अर्जुन के पास आया था। फिर जब इन्द्र का खाण्डव वन जलाने गया, तब वही अग्नि ज्वालारूप होकर समग्र वन में व्याप्त हो गया। **उसी प्रकार पुरुषोत्तम भगवान हैं, वे ब्रह्मरूप अपनी अन्तर्यामी शक्ति से सर्व में व्यापक हैं, तथा मूर्तिमान होकर सबसे पृथक् हैं।** और, जो ब्रह्म है वह तो पुरुषोत्तम भगवान की किरण है और स्वयं भगवान तो सदा साकार मूर्ति ही हैं। इसलिए जिसे कल्याण की इच्छा हो, वह तो भगवान को मूर्तिमान समझकर उनका आश्रय दृढ़ रखें और बात भी इस तरह करे कि 'किसी को भगवान का आश्रय हो तो वह टल न जायें।' और जैसे स्त्री के उदर में गर्भ हो, फिर उस में से पुत्ररूप फल उदय होता है, उस तरह **जिसे भगवान के**

१. अपनी प्रवृत्ति करने में समर्थ हुए। २. उसके अन्तर्यामीपन से। ३. दिव्यमूर्ति से तो। ४. पृथक्

स्वरूप का निश्चयरूप गर्भ हो, उसको भगवान के अक्षरधामरूप फल की प्राप्ति होती है ।' इसलिए ऐसा उपाय करे कि जिससे उस गर्भ को विघ्न न हो । और दूसरों को भी ऐसी बात करे कि जिससे भगवान के निश्चयरूप गर्भ का पात न हो जायें ।

फिर श्रीजीमहाराज वाड़ी[१] से दादाखाचर के राजभवन में पधारे और पूर्वद्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान हुए और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

फिर श्रीजीमहाराज ने छोटे-छोटे परमहंसों को बुलवाकर परस्पर चर्चा करवाई । फिर अचिन्त्यानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''ज्ञान, वैराग्य और भक्ति इन तीनों में से भगवान के स्वरूप में प्रीति होने का विशेष कारण कौन है ?'' फिर इस प्रश्न का उत्तर तो किसी से नहीं हुआ । तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''लीजिए, इस प्रश्न का उत्तर हम करते हैं, और ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति; उनके रूप[२] अलग-अलग कहते हैं कि **जीवमात्र का ऐसा स्वभाव है कि 'अच्छा पदार्थ देखता है तब उससे निकृष्ट जो पदार्थ हो उसमें से सहज ही प्रीति टल जाती है ।'** इसलिए भगवान के अक्षरधाम में जो सुख है उसके आगे जो यह मायिक सुख है वह तो नकली जैसा है और अचल सुख तो भगवान के धाम में ही है । इसलिए परमेश्वर की बात सुनते-सुनते यदि भगवान सम्बन्धी सुख का ज्ञान हो जाये, तो जितना माया से उत्पन्न हुआ है वह सभी तुच्छ दिखाई देता है । जैसे तांबे का पैसा किसी पुरुष के हाथ में हो, उसे जब उस पैसे के बदले सोनामहोर कोई दे तब तांबे के पैसे में स्नेह नहीं रहता है, उस तरह **जब भगवान सम्बन्धी सुख में दृष्टि पहुँचती है तब जितना मायिक सुख है, उन सबसे वैराग्य हो जाता है और एक भगवान की मूर्ति में ही प्रीति होती है; यह वैराग्य का स्वरूप कहा है ।**

अब ज्ञान का स्वरूप कहते हैं कि ज्ञाननिरूपण में दो शास्त्र हैं; एक सांख्यशास्त्र और दूसरा योगशास्त्र । जिनमें सांख्यशास्त्र का मत यह है कि जैसे

१. लक्ष्मीवाड़ी २. लक्षण

आकाश जो है, वह पृथ्वी, जल, तेज, वायु में व्यापक है और आकाश के बिना एक अणु भी कहीं खाली नहीं है तब भी पृथ्वी आदिक के जो विकार हैं वे आकाश को स्पर्शते ही नहीं हैं, उस तरह पुरुषोत्तम भगवान को आकाश की तरह कोई मायिक विकार स्पर्शता ही नहीं है । यह वार्ता कृष्णतापनी उपनिषद् में कही है कि 'जब दुर्वासा ऋषि वृन्दावन में आये तब श्रीकृष्ण भगवान ने गोपियों से कहा कि 'दुर्वासा भूखे हैं, इसलिए सभी भोजनथाल लेकर जाइए।' तब गोपियों ने पूछा कि 'बीच में यमुनाजी है, उन्हें कैसे पार किया जाये ?' तब श्रीकृष्ण भगवान ने कहा कि 'यमुनाजी को आप ऐसा कहिए कि श्रीकृष्ण सदा ब्रह्मचारी हो तो मार्ग दीजिए ।' फिर गोपियाँ ने हसते-हसते यमुना के तट पर पहुँचकर ऐसा कहा, तब यमुनाजी ने तत्काल मार्ग दिया । फिर गोपियों ने ऋषि को भोजन कराया तो सभीके थाल का भोजन ऋषि ने कर लिया । फिर गोपियों ने कहा कि 'हम घर कैसे जायें ? मार्ग में यमुनाजी हैं ।' तब उस ऋषि ने पूछा कि 'जब आये थे तब कैसे आये थे ?' तब गोपियों ने कहा कि 'श्रीकृष्ण ने ऐसा कहा था कि हम सदा बालब्रह्मचारी हों, तो यमुनाजी से कहना कि मार्ग दीजिए । फिर यमुनाजी ने मार्ग दिया इसलिए आपके पास आयी हैं ।' यह बात सुनकर ऋषि बोले कि 'अब यमुनाजी को ऐसा कहना कि दुर्वासा सदा उपवासी हों तो मार्ग दीजिए ।' तब गोपीयों ने हँसती-हँसती जाकर ऐसा कहा तब यमुनाजी ने तत्काल मार्ग दिया । तब सभी गोपियाँ ये दोनों बाते देखकर अतिशय आश्चर्यचकित हुयीं । **इसलिए भगवान का स्वरूप तो ऐसे आकाश के सदृश निर्लेप है और समस्त क्रियाओं को करते हुए भी भगवान अकर्ता हैं और सब के संगी होते हुए भी अत्यन्त असंगी हैं, इस तरह सांख्यशास्त्र भगवान के स्वरूप को निर्लेपरूप से कहता है ऐसा समझें, यह सांख्य के मत से ज्ञान है ।**

अब योगशास्त्र का मत कहते हैं, उसे सुनिये । योग का मत यह है कि जिसे भगवान का ध्यान करना हो वह प्रथम दृष्टि स्थिर करें । उस दृष्टि को स्थिर

करने के लिए भगवान की प्रतिमा अथवा दूसरा कोई पदार्थ हो उनमें प्रथम दृष्टि को स्थापित करें[१] । फिर एक ही एक आकार को देखते-देखते दृष्टि स्थिर हो जाये तब उसके साथ अन्तःकरण भी स्थिर हो जाता है । और जब अन्तःकरण स्थिर हो जाता है तब भगवान की मूर्ति को हृदय में धारण करें । उसमें धारण करनेवाले योगी को प्रयास नहीं पड़ता है, सुखपूर्वक धारण होती है । और यदि प्रथम से अभ्यास करके अन्तःकरण स्थिर न किया हो तो जब भगवान का ध्यान करते हैं तब दूसरे भी कई फतूर[२] आवरण होकर[३] खड़े हो जाते हैं । **इसलिए योगशास्त्र का यह सिद्धान्त है कि 'प्रथम अभ्यास करके वृत्ति को स्थिर करें और फिर भगवान के साथ जोड़ दें ।'** ऐसा जानना यह योगशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान है । इस तरह इन दोनों शास्त्रों के मत द्वारा समझ को जो दृढ़ करना उसका नाम ज्ञान है । अब, भक्ति की रीति तो ऐसी है कि जब समुद्र मन्थन हुआ तब समुद्र में से लक्ष्मीजी प्रगट हुयीं । फिर लक्ष्मीजी ने हाथ में वरमाला लेकर विचार किया कि 'वरण करने योग्य कौन है ? उन्हें मैं वरण करूँ ।' फिर जब परखकर के देखा तब तो जिनमें रूप था उनमें शुभगुण नहीं थे और जिनमें कुछ गुण थे उनमें रूप नहीं था । इस तरह बहुतों में बड़े-बड़े कलंक देखे । फिर देवतामात्र तथा दैत्यमात्र को कलंक से भरे देखकर सभी गुणों से सम्पूर्ण और सभी दोषों से रहित और सर्व सुख के निधान ऐसे एक भगवान को ही देखे; तब लक्ष्मीजी को भगवान में दृढ़ भक्ति हुई । फिर अति प्रेम से भगवान को वरमाला पहनाई और भगवान का वरण किया । **इसलिए ऐसे कल्याणकारी गुणों को जानना और परमेश्वर का दृढ़ आश्रय करना उसी का ही नाम भक्ति है ।''**

यह वार्ता सुनकर मुक्तानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज को पूछा कि ''हे महाराज ! ज्ञान, वैराग्य और भक्ति; इनमें से परमेश्वर से प्रीति होने में किस में अधिक सामर्थ्य हुआ ? यह समझ में नहीं आया ।'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज

---

१. ठहरायें, स्थिर करें २. उत्पात, उपद्रव ३. बाधक बनकर

बोले कि "**भक्ति में सामर्थ्य बहुत है, और ज्ञान-वैराग्य में सामर्थ्य तो है लेकिन भक्ति जितना नहीं है, और भक्ति तो अति दुर्लभ है ।** उन भक्तिवालों के लक्षण ऐसे होते हैं कि जब जीवों के कल्याण के लिए भगवान मनुष्य जैसी मूर्ति धारण करके पृथ्वी पर विचरण करते हैं, तब भगवान के कई चरित्र तो दिव्य होते हैं और कितने ही चरित्र तो मायिक जैसे होते हैं, तो जब भगवान ने कृष्णावतार धारण किया तब देवकी-वसुदेव को चतुर्भुज दर्शन दिया, गोवर्धन पर्वत उठाया, कालियनाग को निकालकर यमुनाजी का जल निर्विष किया, ब्रह्मा का मोह दूर किया, अक्रूरजी को यमुना के जल में दर्शन दिया, मल्ल, हस्ति, कंसादिक दुष्टों को मारकर समस्त यादवों का कष्ट दूर किया । उसी तरह ही रामावतार में धनुष्य तोड़ा, रावणादिक दुष्टों का संहार करके सभी देवताओं का कष्ट निवारण किया, इत्यादिक जो पराक्रम हैं, वे भगवान के दिव्य चरित्र कहलाते हैं । और जब सीताहरण हुआ तब रघुनाथजी रोते-रोते पागल से हो गए तथा कृष्णावतार में कालयवन के आगे भागे तथा जरासंघ के सामने हार गए और अपनी राजधानी मथुरा को छोड़कर समुद्र के द्वीप में जाकर बसे; इत्यादिक जो भगवान के चरित्र हैं, वे प्राकृत जैसे दिखाई देते हैं । इसलिए दिव्य चरित्र में तो पापी को भी दिव्यता प्रतीत होती है परन्तु **भगवान जब प्राकृत चरित्र करते हैं, और उनमें भी जिसे दिव्यता प्रतीत हो तब परमेश्वर का वह भक्त सच्चा है ।** भगवान ने गीता में कहा है कि

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ! ॥

इस श्लोक का ऐसा अर्थ है कि 'हे अर्जुन ! मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं, उन्हें जो दिव्य जानता है, वह देह छोडकर पुनः जन्म को प्राप्त नहीं होता है, मुझे ही प्राप्त होता है ।' इसलिए भगवान जो दिव्य चरित्र करते हैं वे तो भक्त और अभक्त दोनों को दिव्य दिखाई देते हैं, परन्तु जब मनुष्य के जैसे प्राकृत चरित्र करते हैं तब भी उनमें जिसे दिव्यता ही दिखाई दे परन्तु किसी भी प्रकार से भगवान के उन चरित्र में अभाव न आये, ऐसी जिसकी बुद्धि हो,

वह परमेश्वर की भक्ति कहलाती है; और जो ऐसी भक्ति करता है, वह ही भक्त कहलाता है । और इस श्लोक में कहा जो फल, वह भी ऐसे भक्त को ही प्राप्त होता है । जैसे गोपियाँ भगवान की भक्त थीं, तो किसी भी प्रकार से भगवान का अवगुण लिया ही नहीं और राजा परीक्षितने तो गोपियों की बात सुनी, इतने में ही भगवान का अवगुण लिया । फिर शुकजी ने भगवान का सामर्थ्य दिखाकर उस अवगुण को विफल कर दिया । इसलिए भगवान जो-जो चरित्र करते हैं उन सबको गोपियों की तरह दिव्य समझें, परन्तु किसी भी प्रकार से प्राकृत जानकर अभाव तो अता ही नहीं, **ऐसी जो भक्ति है, वह तो महादुर्लभ है । और एक-दो जन्म के सुकृत् से ऐसी भक्ति नहीं प्राप्त होती, वह तो अनेक जन्म के जब शुभ संस्कार एकत्रित होते हैं, तब उसे गोपियों जैसी भक्ति उदय होती है । ऐसी भक्ति है, वह ही परमपद है ।** इसलिए इस प्रकार की जो भक्ति है, वह ज्ञान-वैराग्य से अधिक है । और जिसके हृदय में इस प्रकार की भक्ति हो, उसे भगवान में प्रीति होने में क्या बाकी है? कुछ भी बाकी नहीं है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥१०॥१४३॥

वचनामृत ११ : 'कर्ममात्र भक्तिरूप होने का'

संवत्* १८७८ के श्रावण कृष्ण ५ पञ्चमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीम पेड़ के नीचे पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के समक्ष मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि''जितने[१] ग्रन्थ हैं उन सब को सुनकर कई जीव उन ग्रन्थों को धर्म, अर्थ और काम परक जानते हैं । फिर ऐसा समझकर

*दि. १८-८-१८२१, शनिवार

१. मोक्षमार्ग के लिए ।

स्वयं भी धर्म, अर्थ और काम; उनके लिए ही यज्ञ, व्रतादिक शुभ कर्म करते हैं, फिर उन कर्मों का फल देवलोक अथवा ब्रह्मलोक अथवा मृत्युलोक में भोगकर फिर वहाँ से अधोगति को प्राप्त होते हैं और नरक चौरासी में जाते हैं। इसलिए जो जीव धर्म, अर्थ और काम में प्रीति रखकर जो-जो सुकृत करते हैं, वे सभी सात्त्विकी, राजसी और तामसी होते हैं और उन कर्मों का फल स्वर्ग, मृत्यु और पाताल इन तीन लोक में रहकर भोगने में आता हैं, परन्तु गुणातीत ऐसा जो भगवान का धाम, उसको प्राप्त नहीं होता। और जब मोक्ष नहीं होता है तब जन्म, मरण और नरक का दुःख, वह नहीं मिटता। और **यदि धर्म, अर्थ तथा काम सम्बन्धी जो फल की इच्छा है उसका त्याग करके वही शुभ कर्म यदि भगवान की प्रसन्नता के लिए किया जाये तो वही शुभ कर्म भक्तिरूप होकर केवल मोक्ष के लिए होता है**। वहाँ श्लोक है कि

आमयो[१] येन भूतानां जायते यश्च सुव्रत ! ।
तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम् ॥
एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः ।
त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे ॥

यह श्लोक का जो पहले बात कही, वही भाव है। इसलिए यह वार्ता तो वस्तुतः अटपटी है। उसकी यदि पूरी तरह से दिशा जानने में[२] न आई हो तो, भगवान के भक्त का भी सभी अज्ञानी जीव के सदृश देह का व्यवहार देखकर उन भगवान के भक्त का अवगुण लेता है; इससे अवगुण को लेनेवाला

१. हे सुव्रत ! जैसे जो घृत आदि वस्तु अति भक्षण करने से मनुष्यों को जो रोग होता है, वह पदार्थ उस रोग को निवृत्त करता नहीं है उलटा रोग में वृद्धि कराता है, वही के वही घृतादि द्रव्य में ताम्रभस्मादि मिश्रित किया हो तो उस रोग को समग्रतया निवृत्त करनेवाला होता है। वैसे मनुष्यो की सर्व क्रियाओं (व्रत, यज्ञ, दान आदि) उनके फलभोग के बाद वे ही संसृति के कारण हैं, परन्तु वही के वही क्रियायोग परमेश्वर की भक्तिरूप में संकल्पित किये हो तो अनादि अज्ञान की निवृत्तिपूर्वक मोक्ष के लिए हेतुभूत बनते हैं। (भाग. १।५।३३-३४)

२. समझ में।

नारकी[१] होता है। और **भगवान के भक्त की तथा विमुख जीव की क्रिया में तो बहुत फर्क है। क्योंकि, विमुख जो-जो क्रिया करता है, उसे अपनी इन्द्रियों के सुख के लिए करता है। और भगवान का भक्त जो-जो क्रिया करता है, वह तो केवल भगवान तथा भगवान के भक्त की सेवा के लिए करता है। इसलिए हरिजन की जो सभी क्रियायें हैं वे तो भक्तिरूप हैं।** और जो भक्ति है वह तो नैष्कर्म्य ज्ञानरूप है। इसलिए हरिजन की क्रियायें हैं वे तो सभी नैष्कर्म्यरूप[२] हैं। वहाँ भगवद्गीता का श्लोक है,

कर्मण्यकर्म[३] यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

इस श्लोक का अर्थ है कि "भगवान का भक्त हो, वह भगवान की प्रसन्नता के लिए जो-जो कर्म करता है, उस कर्म में अकर्म जो ज्ञान है उसको जो देखता है और विमुख हो वह निवृत्तिमार्ग पकड़कर अकर्मता से रहता हो तो भी उसे 'कर्म में डूबा है,' ऐसा जो देखता है, ऐसा देखनेवाला सभी मनुष्यों में बुद्धिमान है और ज्ञानी है तथा वह युक्त है अर्थात् मोक्ष के योग्य है और **'कृत्स्नकर्मकृत्'** अर्थात् समस्त कर्म को करनेवाला है।' **इसलिए भगवान की आज्ञा से भगवान की प्रसन्नता के लिए भगवान के भक्त जो-जो कर्म करते हैं, उनका किसी तरह से यदि अवगुण लेता है तो उसके हृदय में कुटुम्बसहित अधर्म आकर निवास करता है।"**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥११॥१४४॥

वचनामृत १२ : 'राजनीति का'

संवत्* १८७८ के श्रावण कृष्ण ६ षष्ठी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमाभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे विराजमान थे। उन्होंने सर्व

*दि. १९-८-१८२१, रविवार

१. नरक का अधिकारी। २. बँधन न करनेवाली। ३. गीता. (४/१८)

श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के समक्ष परमहंस तथा देश देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''एक बात करते हैं, तो सभी सुनिये, और यह जो वार्ता कहेंगे उसमें एक ही साधन कल्याण के लिए कहेंगे, उस एक में सभी साधन आ जाये ऐसा कल्याण का एक बलवान साधन है। उसे कहते है कि देह में जो जीव है, वह ऐसा जानता है कि 'काम, क्रोधादिक दुष्ट प्रकृतियाँ[१] हैं, वे मेरे जीव के साथ जड़ी हुई हैं ।' इस प्रकार कामादिक जो-जो प्रकृतियाँ जिसमें मुख्य हों, उस प्रकृति के योग से अपने जीव को कामी, क्रोधी, लोभी इत्यादिक कुलक्षणों से युक्त मानता है। परन्तु जीव में तो वे एक भी कुलक्षण नहीं है। वह तो जीव ने मूर्खता से अपने में मान लिया है। इसलिए जिसे परमपद प्राप्त करना हो, वे कुछ अपने में पुरुषातन[२] रखें किन्तु अत्यन्त असमर्थ[३] होकर बैठे न रहें । ऐसा विचार करें कि 'जैसे इस देह में चार अन्तःकरण हैं, दस इन्द्रियाँ हैं, पञ्च प्राण हैं, उस तरह मैं जीवात्मा हूँ, तो मैं भी इस देह में हूँ, उन सब से अधिक हूँ तथा उन सब का नियन्ता हूँ। परन्तु ऐसा न मान लें कि 'मैं तो तुच्छ हूँ और अन्तःकरण तथा इन्द्रियाँ तो बलवान हैं ।' जैसे कोई राजा हो और वह बुद्धिहीन हो, फिर उसके घर के आदमी हों, वे भी उसका वचन नहीं मानते हैं। फिर इस बात का जब गाँव के मनुष्यों को पता चले तब गाँव में भी कोई हुकुम नहीं मानते हैं। फिर देश के मनुष्य यह बात सुनें तब देश के मनुष्य भी कोई उसका हुकुम नहीं मानते है। फिर वह राजा ग्लानि पाकर असमर्थ होकर बैठा रहता है और किसी पर हुकुम चलाता नहीं हैं। उस तरह राजा के स्थान पर जीव है, और घर के मनुष्य के स्थान पर अन्तःकरण है, और गाँव के तथा देश के मनुष्य के स्थान पर इन्द्रियाँ हैं। तो जब यह जीव लाचार होकर बैठता है और अन्तःकरण पर हुकुम करके उसे परमेश्वर के सन्मुख रखना चाहता है, तब अन्तःकरण उसका कहा करता नहीं है और इन्द्रियों को वश में रखना चाहे तो इन्द्रियाँ भी उसके वश में नहीं रहतीं।

१. स्वभाव २. हिम्मत ३. निराशी, मुझ से कुछ नहीं होगा ।

फिर यह जीव कायानगर में राजा है तो भी रंक की तरह लाचार होकर रहता है । और जब राजा पौरुषहीन होता है, तब उसके नगर में रहे मनुष्य साँड[१] होकर बैठ जाते हैं और राजा का हुकुम तनिक भी नहीं चलने देते; उस तरह इस जीव के कायानगर में भी जो कामादिक राजा नहीं हैं, वे भी राजा होकर बैठ जाते हैं और इस जीव का लेशमात्र चलने नहीं देते हैं । इसलिए **जिसे कल्याण की इच्छा हो, वह ऐसी असमर्थता न रखें और जिस तरह अपनी इन्द्रियाँ और अन्तःकरण, वे सब अपने हुकुम में रहे, ऐसा उपाय करें ।** जैसे राजा हो वह राजनीति के ग्रन्थ का अध्ययन करके अपने राज्य में अपना हुकुम चलाता है, परन्तु प्रजा के दबाने से दबता नहीं है । और जो राजनीति न जानता हो, तो जब रैयत[२] हुकुम न मानती हो तो उन्हें मारने ही लगता है, फिर अपना देश उज्जड़ हो जाता है और या तो कोई हुकुम ही न माने, उससे स्वयं दुःखी होकर रहता है; इस तरह राजनीति जाने बिना दोनों बातों से बिगाड़[३] होता है । उस तरह जीव भी राजनीति को जाने बिना कायानगर में हुकुम करने जाये तो उसमें से सुख नहीं होता ।''

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से पूछा कि ''कल्याण की इच्छा रखनेवाला हो, वह कैसे राजनीति पढ़ें ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''**राजनीति ऐसे पढ़ें कि प्रथम तो भगवान का माहात्म्य अच्छी तरह से जानें । फिर भगवान की मूर्ति का ध्यान करके मन को वश करें और भगवान की कथा सुनकर श्रोत्र को वश करें,** परन्तु ग्राम्य वार्ता सुनने न दें । उसी तरह त्वचा भी भगवान और भगवान के भक्त का ही स्पर्श करे; नेत्र तो परमेश्वर तथा उनके दास का ही दर्शन करे; रसना तो अखण्ड भगवद्‌गुण का ही गान करे, भगवान का प्रसाद हो उसका ही स्वाद ले; नासिका तो भगवान के प्रसादरूप जो पुष्पादिक उनका ही सुगन्ध ले, **परन्तु किसी भी इन्द्रिय को कुमार्ग पर चलने न दें । इस प्रकार से जो रहता है, उसका देहरूपी नगर में हुकुम**

१. उद्धत, निरंकुश २. प्रजा ३. हानि

कोई नहीं टाल सकता । और इस तरह पुरुषप्रयत्न पूर्वक जो रहता है और पुरुषार्थहीनता[१] का भली भाँति त्याग करता है, इस तरह जो कल्याण के मार्ग पर चलता है, उसे स्वभाव जीतने का अतिशय बड़ा यह ही उपाय है । और यह पुरुषप्रयत्नरूप जो उपाय है, उसे सावधान होकर करता है तो जितने कल्याण के साधन हैं वे सभी पुरुषप्रयत्नरूप साधन में आ जाते हैं; इसलिए पुरुषप्रयत्न है वही कल्याण के लिए सभी साधनों से बड़ा साधन है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥१२॥१४५॥

वचनामृत १३ : 'तेज का'

संवत्* १८७८ के श्रावण कृष्ण अमावस्या के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के बरामदे में गोलाकार आसन पर विराजमान थे । उन्होंने श्वेत खेस धारण किया था तथा सफेद चद्दर ओढ़ी थी तथा मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज ने अपनी दोनों भुजाओं को ऊँचा उठाकर सभी को शान्त किया, फिर अपने मुखारविन्द के सन्मुख स्तुति करके बैठे हुए सन्तों के प्रति श्रीजीमहाराज ने ऐसा कहा कि 'हे सन्तो ! जो बड़े-बड़े[२] हो और बात समझते हों, वे आगे बैठिए, और यह एक बात करता हूँ, उसे सभी चित्त देकर सुनें । और यह जो बात मुझे करनी है, वह कहीं दम्भ से नहीं करनी है तथा मान से नहीं करनी है तथा अपना बड़प्पन बढ़ाने के लिए नहीं करनी है । यह तो ऐसा जानते है कि 'ये सभी सन्त तथा हरिभक्त हैं उनमें से किसी को यह बात समझ में आ जायें तो उनके जीव का अति शुभ[३] हो जाय,' इसलिए करते हैं । और यह जो बात है, वह मैंने देखी है और अपने अनुभव से मैंने

*दि. २७-८-१८२१, सोमवार

१. नादारी निरुत्साहता, भीरूता २. मुख्य, अग्रणी ३. श्रेय

सिद्ध की है, तथा सभी शास्त्रों से भी सम्मत है। और तो यह बात सभा में करने योग्य नहीं है, तब भी सभा में करते हैं कि मुझे सहज स्वभाव से ऐसा रहता है कि इस संसार में जो अति सुन्दर शब्द, अति उत्तम स्पर्श, अति उत्तम गन्ध, अति उत्तम रस तथा अति सुन्दर रूप; ये जो पञ्चविषय, उनमें मैं मेरे मन को बाँधना[१] चाहूँ तो भी नहीं बँधता और उनमें अतिशय उदास रहता है। और **वह जो उत्तम पञ्चविषय तथा कनिष्ठ पञ्चविषय; वे दोनों समान रहते हैं। राजा तथा रंक; वे भी समान दिखाई देते हैं, त्रिलोकी का राज्य करना तथा ठीकरा लेकर माँगकर खाना; वे भी समान रहता हैं, हाथी के हौदा[२] पर बैठना तथा पैदल चलना; ये सभी समान रहता हैं,** कोई चन्दन तथा पुष्प तथा उत्तम वस्त्र तथा आभूषण पहनाये तथा धूल फेंके; वे दोनों ही समान रहते हैं। कोई मान दे अथवा कोई अपमान करता है, वे दोनों भी समान लगते हैं, तथा सोना, चांदी, हीरा और कूडा; वे दोनों भी समान रहते हैं, यह हरिभक्त बहुत बड़ा है और यह हरिभक्त छोटा है; ऐसा भी नहीं लगता, सभी हरिभक्त समान दिखाई देते हैं, मेरे अन्तःकरण में अति तीव्र वैराग्य रहा है, उसका भी भार नहीं दिखाई देता; जैसे किसीने सिर पर पत्थर उठाया हो तथा रुपये तथा सोनामहोर की थैली[३] कमर में बाँधी हो, उनका भार मालूम होता है, वैसे भार नहीं मालूम होता है। मुझमें सद्धर्म है उसका भी भार नहीं दिखाई देता तथा मुझमें ज्ञान है जो 'मैं ब्रह्म हूँ' उसका भी भार नहीं दिखाई देता है। और यह जो ऊपर से मैं किसी पदार्थ की प्रशंसा करता हूँ या किसी पदार्थ की अप्रसंशा करता हूँ वह तो जानबूझकर करता हूँ। जिन-जिन पदार्थों में इन्द्रियों की वृत्ति को बलपूर्वक जोड़ता हूँ तो बड़ी मुश्किल से उन पदार्थों के सन्मुख रहती है और जब उन्हें ढीला छोड़ता हूँ तो वे तुरन्त वापस लौट आती हैं। जैसे आकाश की ओर पत्थर फेंका जाये तो वह जब तक हाथ के जोर से फेंका गया हो तब तक आकाश में रहता है और फिर वापस पृथ्वी पर आकर गिरता है; और जैसे अति निर्बल पशु हो, उसे मनुष्य बलपूर्वक जब तक ऊंचा उठाकर पकड़े

---

१. जुटाना २. अम्मारी अम्बारी, सवारी ३. रुपये रखने की तंग, लंबी थैली।

रहते हैं तब तक रहता है और जब छोड़ देते है तब वह गिर जाता है और जैसे कोई पुरुष कितना भी बलवान हो और दांत से पूरी सुपारी तोड़ देता हो और उस पुरुष को दस बीस कागदी नींबू[१] चुसाये हों, फिर वह भूने हुए चने भी मुश्किल से चबा सकता है, उस तरह विषय के सन्मुख बलपूर्वक वृत्ति को जोड़ते हैं तो बड़ी मुश्किल से जुड़ती है । तो यह जो ऐसा मुझे रहता है उसका क्या कारण है ? तो मेरी इन्द्रियों की जो वृत्ति है, वह वापस लौटकर हृदय में जो आकाश है उसमें सदा रहती है और उस हृदयाकाश में अतिशय तेज दिखाई देता है । जैसे वर्षाऋतु में आकाश में बादल छाये रहते हैं वैसे मेरे हृदय में अकेला तेज व्याप्त होकर रहता है ।

और उस तेज में एक भगवान की मूर्ति दिखती है, वह अति प्रकाशमय है; और वह मूर्ति घनश्याम है, फिर भी अतिशय तेज से श्याम नहीं दिखाई देती, अतिशय श्वेत दिखाई देती है । और वह मूर्ति द्विभुज है और उस मूर्ति को दो चरण है और अतिशय मनोहर है, किन्तु चार भुजायें या अष्टभुजायें या सहस्त्रभुजायें उस मूर्ति को नहीं है । वह मूर्ति तो अति सौम्य है, और मनुष्य के जैसी आकृति है और किशोर है । तो वह मूर्ति कभी तो उस तेज में खड़ी दिखती है और कभी बैठी दिखाई देती है और कभी चलती-फिरती दिखाई देती है । और उस मूर्ति के चारों ओर मुक्तों के मण्डल इकट्ठे होके बैठे हैं; वे सभी मुक्त तो एक नजर से भगवान की मूर्ति के सामने देख रहे हैं । **उस मूर्ति को हम प्रकट प्रमाण अभी भी देख रहे हैं** और सत्संग में नहीं आये थे तब भी देखते थे और माता के गर्भ में थे उस दिन भी देखते थे, और गर्भ में आने से पहले भी देखते थे । **और हम जो बोलते हैं वह भी वहाँ ही बैठे हुए बोलते हैं और आप सब भी वहाँ ही बैठे हैं ऐसा मैं देखता हूँ ।** परन्तु यह गढ़डा शहर या यह बरामदा वे कुछ भी नहीं दिखाई देता । और जब यह स्वरूप जिसे जानने में आता है, उसे जैसे हमें कोई विषय सम्बन्धी सुख में आसक्ति नहीं हैं उस तरह उस पुरुष को भी कहीं भी आसक्ति रहती ही नहीं है । **और**

१. पतले छिलकेवाले बहुत ही खट्टे नींबू की एक जात ।

उस स्वरूप को तो आप भी देखते हैं लेकिन आपकी समझ में परिपूर्ण नहीं आता है। जब यह वार्ता समझ में आयेगी तब पञ्चविषय या काम-क्रोधादिक स्वभाव को जीतने में प्रयास नहीं होगा, सहज ही जीते जायेंगे। और यह जो एकरस तेज है, उसे आत्मा कहते हैं तथा ब्रह्म कहते हैं तथा अक्षरधाम कहते हैं; । और उस प्रकाश में जो भगवान की मूर्ति हैं उसे आत्मा का तत्त्व कहते हैं तथा परब्रह्म कहते हैं तथा पुरुषोत्तम कहते हैं। वे ही भगवान रामकृष्णादिकरूप से अपनी इच्छा से जीवों के कल्याण के लिए युग-युग में प्रकट होते हैं। **वे भगवान इस लोक में मनुष्य जैसे दिखाई देते हैं तो भी मनुष्य जैसे नहीं हैं वे तो अक्षरधाम के पति हैं।** उसे श्रीकृष्ण भगवान ने गीता में कहा है कि

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥[१]

इसलिए श्रीकृष्ण भगवान मनुष्य जैसे दिखाई देते थे, तो भी अक्षरातीत कैवल्यमूर्ति ही हैं। और भगवान जो मनुष्य देह धारण करते हैं, भगवान की उस मूर्ति का जो ध्यान करता है तब उस ध्यान करनेवाले को वह मूर्ति तेजोमय ऐसी अक्षरधाम में कैवल्य स्वरूप से द्योतित होती है और ध्यान करनेवाले का जो जीव, वह माया को तैर जाता है और परमपद को प्राप्त होता है। इसलिए भगवान तो मनुष्यदेह धारण करते हैं तो भी कैवल्यरूप ही हैं और वे भगवान जिस स्थान पर विराजमान रहते हैं, वह स्थान भी निर्गुण हैं और उन भगवान के वस्त्र, अलंकार तथा वाहन तथा परिचर्या के करनेवाले सेवक तथा खानपानादिक जो-जो पदार्थ भगवान के सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं वे सभी निर्गुण हैं। **इस तरह जिसने भगवान का स्वरूप जाना है उसे हमारी तरह ही पञ्चविषय में कहीं भी प्रीति नहीं रहती है और वह स्वतन्त्र हो जाता है।**

---

१. जिस धाम को पाकर पुनरावृत्ति को पाते नहीं हैं, जिस धाम को सूर्य, चन्द्र और अग्नि प्रकाश कर सकते नहीं, वह मेरा परम धाम है। (गीता. १५/६)

और अक्षरातीत जो वे पुरुषोत्तम भगवान हैं वे ही समस्त अवतारों के कारण हैं; और सभी अवतार पुरुषोत्तम में से प्रकट होते हैं तथा पुनः पुरुषोत्तम में लीन हो जाते हैं । वे भगवान जब मूर्ति धारण करके पुनः अन्तर्धान होते हैं तब उन भगवान की जो मूर्ति, कभी तो मनुष्य की तरह इस पृथ्वी पर पड़ी रहती है। तो जैसे श्रीकृष्ण की मूर्ति को गोद में लेकर रुक्मिणीजी जल मरी तथा ऋषभदेव का देह था वह दावानल में जल गया, ऐसा भी होता है; और कभी तो हड्डी-मांस सहित दिव्यभाव को प्राप्त होकर कुछ शेष नहीं रहता, अन्तर्धान हो जाता है । और जब प्रकट होते हैं तब भी कभी तो स्त्री से जन्म धारण करते हैं और कभी तो अपनी इच्छा हो वहाँ से प्रकट होते हैं, इस तरह से उन भगवान के जन्म तथा देह त्याग करने की रीति तो अलौकिक है। और भगवान का ऐसा स्वरूप हैं, उसे जब दृढ़ता से समझोगे तब आपको किसी प्रकार का विघ्न कल्याण के मार्ग में नहीं होगा; और उन भगवान के स्वरूप की दृढ़ता के बिना तो चाहे कितना भी त्याग रखोगे तथा चाहे कितना भी उपवास करोगे, परन्तु किसी भी तरह से ख़ामी पूरी नहीं हो पायेगी । और आप ऐसा कहोगे कि 'हमें तो उस स्वरूप की आप जैसे कहते हैं वैसी दृढ़ता है, तो भी प्राण, इन्द्रियाँ क्यों लीन नहीं होते हैं ।'' तब यह तो परमेश्वर की इच्छा से ऐसा रहा है, ऐसा समझें । परन्तु उसे कुछ करना बाकी रहा नहीं है, वह तो कृतार्थ है और वह तो सभी साधनों के अन्त को प्राप्त हुआ है । और यदि भगवान के स्वरूप की ऐसी दृढ़ता हो, और कदाचित् जो निर्मान, निर्लोभ, निष्काम, निःस्वाद और निःस्नेह, इन सबमें कहीं थोड़ी बहुत अपक्वता रह जाये तो उसकी कोई चिन्ता नहीं है । परन्तु **भगवान के स्वरूप में यदि किसी भी प्रकार की समझ में कसर रह गई, तो किसी भी तरह से ख़ामी पूरी नहीं हो पायेगी ।** इसलिए देह रहते ही जिस प्रकार से ऐसा रहस्य समझ में आ जाये, ऐसा उपाय करें ।

और यह वार्ता यथार्थ समझ में आ गई हो, और किसी प्रारब्धकर्म से वश होकर यदि कोई नीच-उच्च देह की प्राप्ति हो जाये तो भी वृत्रासुर[१] की तरह ज्ञान का लोप[२] नहीं होता। जैसे भरतजी को मृग का देह मिला, तो भी पूर्व जन्म का ज्ञान नहीं टला, ऐसा इस ज्ञान का अतिशय माहात्म्य है। **नारद, सनकादिक तथा ब्रह्मादिक देवों की सभा में भी निरन्तर यही वार्ता होती है।** ऐसी भगवत् स्वरूप सम्बन्धी जो वार्ता है, वह तो शास्त्र से भी अपने आप समझ में नहीं आती। **सद्ग्रन्थों में ऐसी वार्ता तो रहती है, परन्तु जब सत्पुरुष प्रकट होते हैं तब उनके मुख से ही बात समझ में आती है, परन्तु अपने बुद्धिबल से सद्ग्रन्थों से भी समझ में नहीं आती।** जिसे इस प्रकार से भगवान का स्वरूप यथार्थ समझ में आया है उसकी यदि भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों में दृष्टि पहुँचती हो तो भी उसको इस बात का कोई गर्व नहीं रहता; और किसीको वरदान या शाप नहीं देते। कहीं पर वर या शाप देते भी हैं; और कहीं निर्भय रहते हैं और कहीं डरते भी हैं; किन्तु उससे स्वयं कोई हर्ष शोक मन में नहीं लेते। **यह कहा ऐसा जिसको भगवान का दृढ़ आश्रय हो, वह जानबूझकर तो अनिष्ट कर्म करता ही नहीं है,** परन्तु कदाचित् अनिष्ट देशकालादिक के योग से यदि कुछ अशुभ[३] कर्म हो जाये तो भी वह दृढ़ आश्रयवाला कल्याण के मार्ग से च्युत नहीं होता। इसलिए भगवान का जो यह दृढ़ आश्रय है वैसा निर्विघ्न मार्ग कोई नहीं है। यह बात जिसे समझ में आई हो, उसका तो अति बड़ा आशय होता है। देखिए, हमे परमहंस तथा सत्संगी समस्त के पास से कोई स्वार्थ सिद्ध करना नहीं है तो भी किसीको बुलाते हैं, किसीको डाँटते हैं, किसीको निकाल देते हैं, उनका यही प्रयोजन है कि 'किसी भी तरह से यह बात समझ में आ जाये, तो बहुत कल्याणकारी होता है।' इसलिए इस वार्ता को सभी दृढ़ता करके रखिए। और **'जिस तेज में मूर्ति है, वही यह प्रत्यक्ष महाराज हैं,' ऐसा जानें। और यदि ऐसा न जानने में आये तो इतना तो जरूर जानिए कि 'अक्षररूप जो तेज**

१. यह कथा भागवत - षष्ठस्कंध अ. ११ में है। २. नाश ३. निन्दित, शास्त्र विरुद्ध।

है उनमें जो मूर्ति है, उन्हें महाराज देखते हैं ।' ऐसा जानोगे तो भी आपको मुझमें प्रीति रहेगी, उससे आपका परम कल्याण होगा । और इस बात को नित्य नवीन ही नवीन रखें, परन्तु गफलत[1] से भुला न दें । जैसी आज है वैसी ही कल नयी रखें और वैसी ही देह के अन्त तक दिन प्रतिदिन नवीन ही नवीन बनाये रखें । भगवान की जो-जो बातें करें उन-उन बात में इस बातों का बीज लायें, ऐसी हमारी आज्ञा है । यह वार्ता तो ऐसी जीवनदार है कि देह रहे तब तक प्रतिदिन करें और देह छोड़कर भागवती तनु[2] से भी यही बात करनी है । और **यह जो हमने आपको बात कही है, वह सभी शास्त्र का सिद्धान्त है, और अनुभव में भी ऐसा ही दृढ़ है और हमने प्रत्यक्ष नजर से देखकर आपको यह बात कही है ।** और यदि प्रत्यक्ष देखकर न कही हो तो हमें समस्त **परमहंस की सौगंध** है ।'' इस तरह श्रीजीमहाराज ने अपने भक्तजनों की शिक्षा के लिए परोक्षरूप से अपने पुरुषोत्तमरूप की वार्ता कही,' उसे सुनकर सभी साधु तथा हरिभक्त, वे ऐसा ही मानते थे कि **'जिस तेज में मूर्ति कही है, वही ये श्रीजीमहाराज प्रत्यक्ष प्रमाण[3] हैं ।'**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥१३॥१४६॥

वचनामृत १४ : 'निर्विकल्प समाधि का' (अडीग निश्चय का)

संवत्* १८७८ के भाद्रपद शुक्ल १ प्रतिपदा के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के पास उत्तराभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में विराजमान थे । उन्होंने श्वेत खेस धारण किया था, सफ़ेद चद्दर ओढ़ी थी, मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था, उस फेंटा के ऊपर रक्त कर्णिकार पुष्प का तुर्रा विराजमान था और कुंकुम का सुन्दर चन्द्रक भाल में विराजमान था और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनिमण्डल तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

*दि. २८-८-१८२१, मंगलवार

१. बेदरकार, लापरवाही २. देह, दिव्य शरीर ३. प्रत्यक्षरूप, साक्षात्

तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि “भगवान के स्वरूप में जो सन्त तदात्मकभाव को[१] प्राप्त होते हैं, उसे समाधि द्वारा प्राप्त होते हैं या उसका कोई दूसरा भी उपाय है ?” तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि “जिसने भगवान का स्वरूप जैसा हमने कल कहा था वैसा यथार्थ जान लिया हो और उसमें किसी प्रकार की द्विधा[२] न रही हो; जैसे यह नीम का वृक्ष है, उसे एकबार जान लिया हो, फिर किसी भी प्रकार का संकल्प मन में नहीं होता है कि ‘यह नीम होगा या नहीं होगा ?” इस तरह **किसीका भी संग हो जाये, और चाहे कैसे भी शास्त्र का श्रवण करे, तो भी किसी भी प्रकार से भगवान के स्वरूप का जो निश्चय किया हो, उसमें से मन डगमगाता नहीं है, ऐसा जो निरुत्थानरूप[३] से भगवान का निश्चय है, उन्हें हम तदात्मकता कहते हैं।** और ऐसी जो यह तदात्म्यता है, वह भगवान के एकान्तिक भक्त के प्रसंग से होती है, परन्तु केवल समाधि से नहीं होती। और ऐसी जो तदात्म्यता है, उसे ही निर्विकल्प समाधि कहते हैं। इस प्रकार की जिसे निर्विकल्प समाधि हो गई हो, उस सन्त का स्वरूप भी निर्गुण[४] ब्रह्म ही है। **ऐसे अडग निश्चयवाले सन्त, वे निवृत्ति मार्ग में रहें अथवा प्रवृत्ति मार्ग में रहें तो भी उनका निर्गुण ही स्वरूप है।** जैसे नारद और सनकादिक ये सभी निवृत्ति मार्ग में प्रवृत्त हुए और सप्त ऋषि तथा जनकादिक राजा वे सभी प्रवृत्ति मार्ग में प्रवृत्त हुए, परन्तु उन सभीको भगवान के निश्चय से निर्गुण जानें। और **जो निवृत्ति मार्ग में प्रवृत्त हुए हो और यदि भगवान का निश्चय न हो, तो उन्हें मायिक गुणों से युक्त होने से सगुण जानें।** और ऐसा समझे कि यह ‘अतिशय त्यागी दिखता हैं, परन्तु उसे भगवान का निश्चय नहीं है; इसलिए वह अज्ञानी है, वह जरूर नरक में जायेगा।’ और जिसे भगवान के स्वरूप का ऐसा निश्चय हो और यदि उसमें कुछ थोड़ी बहुत कमी रह गई होगी, तो भी वह असद्गति को प्राप्त नहीं होगा, वह तो आखिरकार निर्गुणभाव को ही प्राप्त होगा। और

१. एकात्मभाव को २. संशय, अन्य विकल्प ३. द्विधा रहित, संशय रहित, निर्विकल्प ४. वे सन्त निर्गुण ब्रह्मस्वरूप हैं, ऐसा वाक्यार्थ समझें।

जिसे भगवान के स्वरूप का तो ऐसा निश्चय नहीं है, और वह पूर्णरूप[१] से त्यागी रहता हो और काम, क्रोध, लोभादिक को टालने में सावधान रहता हो, तो भी उनके मिटाये कामादिक नहीं टलेंगे और वह अन्त में खराब होकर नरक में ही जायेगा । और **भगवान के स्वरूप का ऐसा ज्ञान जिसे हुआ हो और उसे अल्पबुद्धि है, तो भी उसे विशाल बुद्धिवाला जानें;** और भगवान के स्वरूप का ऐसा ज्ञान जिसे न हो और उसे यदि अधिक बुद्धि है, तो उसे बुद्धिहीन जानें ।'

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥१४॥१४७॥

वचनामृत १५ : 'स्वभाव के साथ शत्रुता रखने का'

संवत्* १८७८ के भाद्रपद शुक्ल २ द्वितीया के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के बरामदे में गोलाकार आसन बिछवाकर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज ने सभी परमहंसों को प्रश्न पूछा कि ''चाहे कैसा भी कठिन स्वभाव हो और यदि एक विचार करने से तो उस स्वभाव का नाश हो जाता है और उस विचार को छोड़कर दूसरे हजारों विचार करने से भी वे अनिष्ट स्वभाव नहीं टलते हैं, ऐसा तो कौन सा विचार है ? तो जिसे जैसा समझ में आता हो वे वैसा कहिए ।'' फिर परमहंसों में जिनको जैसा समझ में आता था वैसा उन्होंने कहा, परन्तु यथार्थ किसीसे कहा नहीं गया । फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''लीजिए, हम कहते हैं कि जैसे बाहर कोई अपना शत्रु हो, वह अपना कोई काम हो रहा हो, उसे बिगाड़ दे अथवा अपनी माँ-बहन को गाली दे, उसका जैसे अतिशय अभाव आता है, तो जिस उपाय से उसका अनिष्ट हो, वैसा उपाय किया जाता है, अथवा कोई दूसरा उस शत्रु का अनिष्ट करता हो, तो भी अतिशय खुशी हो जाती है, उसी तरह **मोक्ष के लिए जो प्रयत्न करता हो**

*दि. २९-८-१८२१, बुधवार १. अच्छी तरह से ।

और उसमें काम, क्रोधादिक सम्बन्धित शत्रु विघ्न करते हैं, तो उन पर भी वैसी ही वैरबुद्धि हो जाती है और उसका घाव[१] **कभी भी नहीं टलता। ऐसा विचार जिसको मिल जाये तो उस विचार से शत्रुमात्र को टाल देता है ।** और जब कोई सन्त उन कामादिक शत्रुओं की निन्दा करते हो तथा उन शत्रुओं का दोष दिखाकर मूल से निकालते हों, उसमें जिसे प्रथम कहा ऐसा विचार हो, उन्हें उस साधु का अभाव नहीं आता, उलटा उस साधु का अतिशय गुण लेता है और ऐसा जानता है कि '**यह साधु मेरे शत्रु को मारने का उपाय करते हैं, इसलिए मेरे परम हितकारी हैं ।**' इस तरह का विचार जिसके हृदय में प्राप्त हुआ हो वह शत्रुमात्र का नाश कर देता है तथा कोई अनिष्ट स्वभाव उसके हृदय में नहीं रह पाता । इसके सिवा दूसरे चाहे कितने भी प्रकार के विचार किये जायें, तो भी कामादिक स्वभावरूपी शत्रु नाश नहीं होते, इसलिए उस **स्वभाव पर जो शत्रुता रखना, यही सभी विचार में श्रेष्ठ विचार है।**''

फिर श्रीजीमहाराज ने पुनः प्रश्न किया कि ''धर्म, वैराग्य, आत्मज्ञान तथा माहात्म्य सहित परमेश्वर की भक्ति; इन चार में से कभी भी च्युत न हो जाये, ऐसा जो है, उन्हें कौन से लक्षणों से पहचानें ?'' तब सभी सन्तों ने जिन्हें जैसा समझ में आया उन्होंने वैसा कहा; किन्तु किसीसे यथार्थ नहीं कहा गया । तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसका बाल्यावस्था से ही ऐसा स्वभाव हो कि किसीकी भी छाया में दबे ही नहीं और वह जहाँ बैठा हो वहाँ कोई से हँसी-मजाक न हो सके और उसको किसीसे अल्प वचन[२] भी न कहा जा सके; ऐसे जिसके लक्षण होते हैं, वह कभी भी धर्म, वैराग्य, ज्ञान एवं भगवान की भक्ति; उनमें से च्युत होता ही नहीं । और उसका मानी के जैसा स्वभाव हो तो भी उसे कल्याण की गरज[३] होने से वह सत्संग से किसी भी प्रकार से निकलता नहीं है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥१५॥१४८॥

१. खटक, नाश करने की वैरबुद्धि । २. निम्न वचन ३. अनिवार्य जरूरत

वचनामृत १६ : 'स्वरूपनिष्ठा तथा धर्मनिष्ठा का'

संवत्* १८७८ के भाद्रपद शुक्ल १० दशमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के समीप चौकी पर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनिमण्डल तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''एक तो अर्जुन जैसी स्वरूपनिष्ठा और दूसरी युधिष्ठिर राजा जैसी धर्मनिष्ठा; ये दो निष्ठायें हैं, उनमें से जो स्वरूपनिष्ठा का बल रखता है उसकी धर्मनिष्ठा शिथिल हो जाती है[१] और जो धर्मनिष्ठा का बल रखता है उसकी स्वरूपनिष्ठा शिथिल हो जाती है, इसलिए ऐसा कौन सा उपाय है कि जिससे इन दोनों में से एक भी निष्ठा शिथिल न हो जाये ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि[२] ''पृथ्वी का और धर्म का श्रीमद् भागवत के प्रथम स्कन्ध में संवाद है, उसमें कहा है कि 'सत्य, शौच आदिक कल्याणकारी ऐसे उनतालीस गुणों से युक्त भगवान का स्वरूप है।' इसलिए **सभी धर्म भगवान की मूर्ति के आधार से रहते हैं, इसलिए भगवान को धर्मधुरन्धर कहते हैं।** और फिर, श्रीमद् भागवत के प्रथम स्कन्ध में शौनकादिक ऋषियों ने सूतपुराणी से पूछा है कि 'धर्म के कवच[३] रूप ऐसे जो श्रीकृष्ण भगवान हैं, उनके अन्तर्धान होने के बाद धर्म किसके शरण में रहा ?' इसलिए धर्म तो भगवान की मूर्ति के ही आश्रय में रहता है। इसलिए भगवान की मूर्ति में जो निष्ठा रखता है, उसे भगवान का स्वरूप हृदय में रहता है, इसलिए उसके

---

*दि. ७-९-१८२१, शुक्रवार

१. ''स्वरूपनिष्ठा बलवान है इसलिए उसे ही एक रखें। धर्मनिष्ठा का क्या प्रयोजन है ? ऐसा भी कह सकते नहीं, क्योंकि अधिकतर आपने धर्मनिष्ठा सहित ऐसी स्वरूपनिष्ठा की श्रेष्ठता कही है इसलिए दोनों की अपेक्षा भी हैं।

२. स्वरूपनिष्ठा दृढ़ रखने से धर्मनिष्ठा भी दृढ़ होती है, क्योंकि...

३. ''**ब्रह्मण्ये धर्मवर्मणि**'' ऐसा कहा है, तथा ''**धर्मस्य प्रभुरच्युत:**'' ऐसी स्मृति भी है।

हृदय में धर्म भी रहता है। इसलिए जो स्वरूपनिष्ठा रखता है उसे धर्मनिष्ठा सहज ही रहती है और अकेली धर्मनिष्ठा रखता है तो स्वरूपनिष्ठा शिथिल हो जाती है । इसी कारण से **जो बुद्धिमान हों वे स्वरूपनिष्ठा को ही दृढ़ता से रखें, तो उनके साथ धर्मनिष्ठा भी दृढ़ता से रहेगी ।''**(१)

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने दूसरा प्रश्न पूछा कि 'पञ्चविषय वैराग्य से जीते जाते हैं या दूसरा कोई उपाय है ?' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''**वैराग्य हो अथवा न हो, परन्तु यदि परमेश्वर ने कहे ऐसे जो नियम हैं, उनमें खबरदार**(२) **रहता हो तो पञ्चविषय जीते जाते हैं ।** और यदि शब्द में से वैराग्य के द्वारा वृत्ति को लौटाया जाये तो बहुत प्रयास करने पर भी शब्द सुनाई तो पड़ता है और कान को बन्द कर दे तो सहज ही शब्द नहीं सुनाई देता । उसी ही तरह अयोग्य पदार्थ का त्वचा से स्पर्श न करे तो सहज ही स्पर्श जीता जाता है । उसी ही तरह से अयोग्य वस्तु को नेत्र से न देखे तो सहज ही रूप जीता जाता है। उसी ही तरह जो-जो स्वादु भोजन हो, उसे मिश्रित करके जल डालकर भोजन करे तथा युक्त आहार करे तो सहज ही रसना जीती जाती है। उसी तरह अयोग्य गन्ध हो वह नाक को बन्द कर दे तो सहज ही गन्ध जीती जाती है। इस तरह नियम से पञ्चविषयों को जीता जाता है । और यदि नियम में न रहता हो, तो चाहे कैसा भी वैराग्यवान हो तथा ज्ञानी हो, फिर भी उनका ठिकाना नहीं रहता है। इसलिए विषय जीतने का कारण तो परमेश्वर के बनाये जो नियम, वे ही हैं । उनमें भी मन्द वैराग्यवाले को तो नियम में रहना यह ही पार होने का उपाय है; जैसे बीमार हो वह परहेज पालके औषध खायें तब ही निरोगी होता है ।''

फिर अखण्डानन्द स्वामी ने पूछा कि ''रोगी को तो परहेज का नियम रहता है कि इतने दिन तक ही परहेज रखनी है, उस तरह कल्याण के साधन का कोई नियम है कि नहीं ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसकी श्रद्धा मन्द हो उसे तो बहुत से जन्मों के बाद साधना की समाप्ति होती है । उसे भगवद्गीता में कहा है कि – **'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां**

---

१. उसमें संशय नहीं है । २. अत्यन्त सावधान-तत्पर

गतिम्।'[१] इस श्लोक में ऐसा कहा है कि 'अनेक जन्म से संसिद्ध हुआ जो योगी, वह ही परमपद को प्राप्त होता है।' यह मन्द श्रद्धावालों का पक्ष है। और जिसे बलवान श्रद्धा हो, वह तो तत्काल सिद्ध होता है, इसे भी गीता में कहा है,

श्रद्धावान्[२] लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचरेणाधिगच्छति ।

इस श्लोक का ऐसा अर्थ है कि '**नियम में हैं इन्द्रियाँ जिसकी और श्रद्धावान ऐसा जो पुरुष, वह ज्ञान को प्राप्त होता है और ज्ञान को प्राप्त होकर तत्काल परमपद को प्राप्त होता है।**' इसलिए जो अतिशय श्रद्धावान हो उसे जल्दी[३] से साधन की समाप्ति होती है। और जिसे मन्द श्रद्धा हो उसे तो अनेक जन्म के बाद साधन की समाप्ति होती है। जैसे कोई पुरुष काशी जा रहा हो और वह दिनभर में दो ही कदम चलता हो, उसे काशी जाने में बहुत दिन लगते हैं और जो बीस-बीस कोस चलने लगे वह तो यहाँ से थोड़े ही दिनों में काशी पहुँचता है; उस तरह जिसे श्रद्धा बलवान है वह तो हाल ही में तुरन्त सत्संगी हुआ हो तो भी अतिशय उत्तम हो जाता है और जिसे श्रद्धा मन्द हो, वह तो बहुत समय से सत्संगी हुआ हो तो भी शिथिल[४] रहता है।"

फिर श्रीगुरुचरणरतानन्द स्वामी ने पूछा कि "जब मन्द श्रद्धावालों का अनेक जन्म के बाद कल्याण होता है तो तब तक वह कहाँ रहता होगा ?" फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "सुन्दर देवलोक हो, वहाँ जाकर वह रहता है। और जब वह भगवान का ध्यान करता था तब वह भक्त भगवान के सामने देखता था, तब भगवान भी उस भक्त के सामने देखते थे। फिर भगवान का ध्यान करते करते जिन-जिन विषयों का उसने चिन्तन किया था और जिन-जिन विषयों में उस भक्त को प्रीति थी, भगवान उन सबको साक्षात् देखकर और वह[५] जब देह का त्याग करता है, तब उसे जैसे भोग प्रिय है, वैसे भोग जिस लोक में हैं उस लोक में उस भक्त को पहुँचाते हैं और **काल को ऐसी आज्ञा**

१. गीता. (६/४५) २. (गीता. ४/३९) ३. पहले ४. गड़बडवाला, अपक्व ५. भक्त

करते हैं कि 'उस भक्त के भोग का तुम खण्डन मत करना' । इसलिए वह निरन्तर देवलोक में रहते हुए भोग को भोगता है । तत्पश्चात् मृत्युलोक में आकर अनेक जन्मों के बाद मोक्ष को प्राप्त करता है ।''

पुनः अखण्डानन्द स्वामी ने दूसरा प्रश्न पूछा कि ''तीव्र श्रद्धावान पुरुष के क्या लक्षण है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसे तीव्र श्रद्धा हो उसे जब भगवान के दर्शन के लिए आना हो अथवा भगवद् कथावार्ता सुननी हो तथा भगवान की मानसीपूजा करनी हो इत्यादिक जो-जो भगवान सम्बन्धी क्रियायें हैं, उन्हें करने के लिए स्नानादिक जो अपनी देह क्रिया है उसे अतिशय उतावला होकर करता है । और पत्र लिखकर हमने कोई वर्तमान बदला हो तो उसे पालने के लिए आकुल हो जाता है । और बड़ा आदमी हो तो भी भगवान के दर्शन के लिए बालक की जैसे अकुलाई करने लगता है । ऐसे जिसके लक्षण हों, उसे तीव्र श्रद्धावान जानें । और जो ऐसी श्रद्धावाला हो वह सभी इन्द्रियों को भी तत्काल वश करता है । और जिसे भगवान के मार्ग में मन्द श्रद्धा हो, उसकी इन्द्रियाँ विषय सन्मुख अति तीक्ष्णता से युक्त रहती हैं, उसे चाहे कितना भी छुपाने लगे तो भी सभीको मालूम हो जाता है कि 'इस की इन्द्रियों को विषय सन्मुख तीक्ष्ण वेग है ।' और इन्द्रियों का रूप तो वायु के वेग जैसा है, जैसे वायु दिखती नहीं फिर भी वृक्ष के हिलने से मालूम होता है कि वायु चलती है, उस तरह इन्द्रियों की वृत्तियाँ दिखाई नहीं देती परन्तु विषय सन्मुख दौड़ती हैं, तब सभीके जानने में आता है । और यदि कपट से कोई छिपाने लगे तो कपटी जानकर उसका सभीको अवगुण आता है । इसलिए जिसकी इन्द्रियों में विषय भोगने की तीक्ष्णता हो तो किसी प्रकार से छुपी नहीं रहती है ।''

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''विषय सन्मुख इन्द्रियों की जो तीक्ष्णता है, उसे टालने का क्या उपाय है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''इन्द्रियों की तीक्ष्णता को टालने का यह ही उपाय है कि परमेश्वर ने त्यागी के तथा गृहस्थ के जो नियम बनाये हैं, उनमें सभी इन्द्रियों को मरोड़ के रखे तो सहज ही इन्द्रियों की तीक्ष्णता मिट जाती है । और श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना,

और घ्राण; इन पांचों इन्द्रियों को जब कुमार्ग पर न जाने दे तब इन्द्रियों के आहार शुद्ध होते हैं। उस के बाद अन्तःकरण भी शुद्ध होता है। **इसलिए वैराग्य का बल हो अथवा न हो तो भी इन्द्रियों को यदि वश करके परमेश्वर के नियम में रखा जाये, तो जैसे तीव्र वैराग्य से विषय जीते जाते हैं, उनसे भी उस नियमवाले को विशेषरूप से विषय जीते जाते हैं । इसलिए परमेश्वर के बनाये हुए जो नियम हैं, उन्हें ही अति दृढ़ करके रखें ।''**

तब फिर अखण्डानन्द स्वामी ने पूछा कि ''जिसे मन्द श्रद्धा हो, उसमें श्रद्धा की वृद्धि कैसे होती है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''यदि भगवान का माहात्म्य जानने में आये, तो मन्द श्रद्धा हो तो भी वृद्धि को प्राप्त होती है। जैसे पानी पीने का बर्तन मिट्टी का हो, तो उसमें सहज ही प्रीति नहीं होती और वह पात्र यदि सोने का हो तो उसमें सहज ही प्रीति होती है, उस तरह भगवान का तथा भगवान की कथा कीर्तनादिक का माहात्म्य जानने में आये, तो सहज स्वभाव से ही भगवान में तथा कथा-कीर्तनादिक में श्रद्धा की वृद्धि होती है। इसलिए जिस प्रकार से भगवान का माहात्म्य समझ में आये, वैसा उपाय करें और यदि वैसा उपाय किया जाये, तो श्रद्धा न हो तो भी श्रद्धा होती है, और यदि मन्द श्रद्धा हो तो वह वृद्धि को प्राप्त होती है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥१६॥१४९॥

वचनामृत १७ : 'भगवान के स्वरूप में तत्त्वों का - स्थितप्रज्ञ का'

संवत्* १८७८ के आश्विन कृष्ण ११ एकादशी के दिन रात्रि के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के समीप कक्ष के बरामदे में सिंहासन पर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने आगे दो मशालें जल रही थीं और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और कीर्तन गान हो रहा था ।

*दि. २१-१०-१८२१, रविवार

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''कीर्तन गान रहने दीजिए, प्रश्न-उत्तर करते हैं ।'' फिर सभी मुनि बोले कि ''बहुत अच्छा महाराज !'' तब श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''भगवान के स्वरूप को कोई भक्त तो माया के चौबीस तत्त्व सहित समझते हैं और कोई भक्त तो माया के तत्त्व से रहित केवल चैतन्यमय भगवान का स्वरूप समझते हैं; ये दो प्रकार के भक्त हैं, उनमें किनकी समझ ठीक है और किनकी समझ ठीक नहीं है ?'' फिर मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि ''भगवान में जो मायिक चौबीस तत्त्व समझता है, उसकी समझ ठीक नहीं है और जो भगवान के स्वरूप को माया के तत्त्व से रहित केवल चैतन्यमय समझता है, उसकी समझ ठीक है ।''

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''सांख्यवालों ने चौबीस तत्त्व कहे हैं, उस सांख्य के मत से तेईस तत्त्व और चौबीसवां जो क्षेत्रज्ञ जीव-ईश्वररूप चैतन्य है । तो इस प्रकार चौबीस तत्त्व कहे हैं; क्योंकि, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ को तो अन्योन्य आश्रयता है । तब क्षेत्रज्ञ के बिना क्षेत्र नहीं कहा जाता और क्षेत्र के बिना क्षेत्रज्ञ नहीं कहा जाता । इसलिए तत्त्व के सहित ही जीव ईश्वर को कहे हैं । और भगवान तो क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ; इन दोनों के आश्रय हैं । इसलिए भगवान से मायिक तत्त्व को भिन्न कैसे कहा जाये ? और जैसे आकाश में चार तत्त्व रहते हैं, तो भी आकाश को किसीका दोष स्पर्शता नहीं है; उस तरह परमेश्वर के स्वरूप को भी मायिक तत्त्वों का एक भी दोष स्पर्शता नहीं है, ऐसा ही भगवान का स्वरूप है । उनमें चौबीस तत्त्व कहने से उसमें क्या बाधा है ? और तत्त्व से रहित कहने से उसमें कौन सी निर्बाधता आ गई ?' हमें तो ऐसा दिखाई देता है ।''

फिर दीनानाथ भट्टने पूछा कि ''जिसे भगवान की मूर्ति का ध्यान करना हो, उसे भगवान का स्वरूप तत्त्व सहित समझना है या तत्त्व रहित समझना है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''भगवान के स्वरूप को जो तत्त्व सहित समझते हैं, वे भी पापी हैं, और जो भगवान के स्वरूप को तत्त्व रहित समझते हैं, वे भी पापी हैं । भगवान के स्वरूप में तो भगवान के भक्त हो उन्हें तत्त्व है या नहीं है, ऐसा रौंदना करना अच्छा ही नहीं लगता । भक्त हो, वह तो ऐसा

जानता है कि 'भगवान तो भगवान हैं, उनमें भाग-त्याग करने का अवकाश नहीं है। वे भगवान तो अनन्त ब्रह्माण्ड की आत्मा हैं।' ओर **जिसे भगवान के स्वरूप में किसी प्रकार की द्विधा**[१] **न हो उसे निर्विकल्प स्थितिवाला जानें और जिसे ऐसी एकमति हो उसे स्थितिप्रज्ञ जानें।** और जिस पुरुष को भगवान में ऐसी दृढ़ मति है, उसे भगवान समस्त पापों से छुड़ाते हैं। उसे भगवान ने भगवद्गीता में अर्जुन के प्रति कहा है कि

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

और इस संसार में भी ऐसी रीति है कि **जिससे अपना बड़ा स्वार्थ सिद्ध होता हो, उसका जो बुद्धिमान होते हैं, वे दोष ग्रहण नहीं करते हैं।** जैसे स्त्री अपने स्वार्थ के लिए पति के दोष को ग्रहण नहीं करती है तथा दूसरे भी गृहस्थ हैं, वे अपने भाई, भतीजा, पुत्र इत्यादिक जो सम्बन्धी; उनमें यदि अपना अतिशय स्वार्थ हो तो दोष का ग्रहण नहीं करते हैं; उस तरह भगवान से जिसने बड़ा स्वार्थ जाना हो कि 'भगवान तो पाप से और अज्ञान से छुड़ाकर अपने भक्त को अभयपद देते है,' ऐसा बड़ा स्वार्थ जाना हो तो किसी भी तरह से भगवान का अवगुण आता ही नहीं। जैसे शुकजी ने रासपञ्चाध्यायी का वर्णन किया, तब राजा परीक्षित को संशय हुआ कि 'भगवान ने पर स्त्री का संग क्यों किया ?' परन्तु शुकजी को लेशमात्र संशय नहीं हुआ। और गोपियों के साथ भगवान ने जो विहार किया, तो गोपियों को भी संशय नहीं हुआ कि 'भगवान हो तो ऐसा क्यूँ करें ?' ऐसा किसी प्रकार से संशय नहीं हुआ। और जब भगवान कुब्जा के घर गए तब उद्धवजी को साथ ले गए थे, तब भी उद्धवजी को किसी प्रकार से संशय नहीं हुआ। और जब उद्धवजी को व्रज में भेजे, तब गोपियों की वाणी सुनकर भी किसी प्रकार से संशय नहीं हुआ और ऊपर से गोपियों का माहात्म्य अतिशय समझे। इसलिए जिसे भगवान का अचल आश्रय हुआ हो और वह अतिशय शास्त्रवेत्ता[२] हो अथवा भोला ही हो परन्तु उसकी मति

१. उत्थान, संशय, विकल्प २. शास्त्रों का जानकार पण्डित।

भ्रमित नहीं होती । और भगवान के जो दृढ़ भक्त हैं, उनका जो माहात्म्य, उसे भी भगवान का भक्त हो, वह ही जानता है । फिर शास्त्रवेत्ता हो अथवा भोला हो परन्तु जिसकी भगवान में दृढ़ मति हो, वह ही भगवान के भक्त का माहात्म्य जानता है और दृढ़ मतिवाले भक्त हों, उन्हें पहचान भी लेते हैं । और उसके बिना जगत के जो विमुख जीव हैं, वे तो पण्डित हो अथवा मूर्ख हो परन्तु भगवान में दृढ़ मति भी नहीं कर सकते हैं । और दृढ़ मतिवाले भक्त हो, उन्हें भी नहीं पहचान पाते और हरिजन का माहात्म्य भी जानते नहीं हैं । इसलिए **भगवान के भक्त हों, वे ही भगवान के भक्त को पहचानते हैं और माहात्म्य भी वे ही जानते है । जैसे उद्धवजी ने गोपियों का अतिशय माहात्म्य जाना था, वैसे ही गोपियों ने भी उद्धवजी का माहात्म्य जाना था ।**

और पुरुषोत्तम भगवान हैं, वे तो सभी क्षेत्रज्ञ के क्षेत्रज्ञ हैं, तो भी निर्विकार हैं और माया आदिक जो विकारवान पदार्थ हैं, उनका विकार पुरुषोत्तम भगवान को स्पर्शता नहीं है । और जो आत्मनिष्ठ पुरुष हैं, उन्हें भी स्थूल, सूक्ष्म और कारण के विकार स्पर्श नहीं कर पाते, तो पुरुषोत्तम भगवान को स्पर्श न कर पाये, इसमें क्या कहना ? भगवान तो निर्विकारी और निर्लेप ही हैं । इस प्रकार से जो भगवान के स्वरूप को समझता है, भगवान के उस भक्त को स्थितप्रज्ञ जानें । जैसे अपनी आत्मा में जिसे स्थिति हो, वह भी स्थितप्रज्ञ कहलाता है, उस तरह जिसे भगवान के स्वरूप में किसी प्रकार का संकल्प[१] न हो और जैसे भगवान के समर्थपने[२] का गान करता है, वैसे ही असमर्थपने का भी गान करता है और जैसे भगवान का योग्य चरित्र हो उसका गान करता है, वैसे ही जो अयोग्य जैसा चरित्र दिखाई देता हो उसका भी गान करता है, परन्तु भगवान के चरित्र में योग्य-अयोग्य ऐसा संकल्प न करे, ऐसा जो भगवान का भक्त

१. द्विधा, संशय, विकल्प २. प्रचुर सामर्थ्य युक्त दिव्य चरित्र ।

हो उसे पुरुषोत्तम के स्वरूप में स्थितप्रज्ञ जानें। और जिसे पुरुषोत्तम के स्वरूप में ऐसी दृढ़ निष्ठा हुई उसे इससे अधिक दूसरा कुछ समझ ने का अवशिष्ट नहीं रहता है।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥१७॥१५०॥

वचनामृत १८ : 'नास्तिक और शुष्क वेदान्ती का'

संवत्* १८७८ के मार्गशीर्ष कृष्ण ६ षष्ठी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवास स्थान में गद्दी तकिया रखवाकर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत खेस धारण किया था तथा सफेद चद्दर ओढ़कर उस पर बूटेदार रजाई ओढ़ी थी, मस्तक पर श्वेत फेंटा विराजमान था और अपने मुखारविन्द के आगे परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और अपने समक्ष प्रागजी दवे कथा कर रहे थे।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''हमने तो सभी प्रकार से विचार करके देखा कि इस संसार में जितने कुसंग कहलाते हैं, उन सभी कुसंगों में से अधिक कुसंग कौन-सा है ? तो 'जिसे परमेश्वर की भक्ति नहीं है और भगवान सबके स्वामी हैं, भक्तवत्सल हैं, पतितपावन हैं, अधमउद्धारण हैं, ऐसा भी भगवान का जिसके हृदयमें विश्वास नहीं है,' तब ऐसे तो इस संसार में दो मत हैं, एक तो नास्तिक का और दूसरा शुष्क(१) वेदान्ती(२) का; ये दोनों अति कुसंग हैं। और पञ्च महापाप से युक्त हो और उसे यदि भगवान का विश्वास हो तो उसका किसी भी काल में छुटकारा होता है तथा बालहत्या, गौहत्या, स्त्रीहत्या, इत्यादिक जो बड़े पाप, उनके करनेवालों का भी किसी समय छुटकारा हो सकता है, परन्तु इन दो मतों की जिसे प्रतीति आई, उसका कभी भी छुटकारा नहीं होता। क्योंकि उसकी समझ वेद, शास्त्र और पुराण से विपरीत है। उनमें नास्तिक तो ऐसा समझते हैं कि 'रामचन्द्रजी और कृष्ण भगवान तो राजा थे और श्रीकृष्ण ने दैत्य मारे

*दि. १४-१२-१८२१, शुक्रवार

१. भगवान की भक्ति रहित २. नाम मात्र से वेदान्ती।

तथा पर स्त्रियों का संग किया, इसलिए तीसरे नरक में पड़े हैं ।' इस तरह अधमउद्धारण एवं पतितपावन ऐसे जो श्रीकृष्ण भगवान, उनमें परमेश्वर की बुद्धि ही नहीं है और **कर्म से अपना कल्याण माना है, तो जब कर्म करते-करते केवल ज्ञान प्रकट होता है तब वह भगवान हो जाता हैं । इस तरह अनन्त भगवान माने हैं, परन्तु नास्तिक के मत से अनादि परमेश्वर कोई नहीं है, जिनके भजन से जीव भव के बन्धन से मुक्त हो पाये । इसलिए यह मत वेद से विरूद्ध है ।**

और **जो शुष्क वेदान्ती हैं, वे तो ऐसा समझते है कि 'ब्रह्म ही जीवरूप हुए है** और जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब हैं उस तरह से ब्रह्म तो जीवरूप है ।' इसलिए जब ऐसा समझ में आये कि 'मैं ब्रह्म हूँ', तब उसे कोई साधन करना रहा नहीं है । और जब स्वयं परमेश्वर हो गए, तो अब भजन भी किसीका करना रहा नहीं है;' ऐसा मानकर फिर पाप करने से भी डरते नहीं है । और मनमें ऐसा समझते हैं कि 'हम तो निर्गुण मार्ग को प्राप्त हो गए हैं इसलिए हमें फिर से जन्म नहीं लेना पडेगा' । परन्तु वे शुष्कवेदान्ती इतना विचार नहीं करते हैं कि माया से पर जो निर्गुण ब्रह्म हैं, उन्हें भी उनकी[१] समझ के अनुसार जन्म-मरण ठहरा; क्योंकि वे ऐसा कहते हैं कि 'ब्रह्म ही स्थावर-जंगमरूप हुए हैं,' तब जो जीव हो, उसके सिर पर तो जन्म-मरण रहता है, वही जन्म-मरण ब्रह्म के सिर पर आ गया । और वे तो ऐसा समझते हैं कि 'हम जन्म मरण के बन्धन से मुक्त हो जायेंगे ।' परन्तु ऐसा नहीं विचार करते कि अपने मत से ब्रह्म के सिर पर जन्म-मरण सच्चा हुआ, तब हम भी बहुत समझेंगे तब स्वयं को ब्रह्म स्वरूप मानेंगे, तो भी जन्म-मरण नहीं टलेगा' । इसलिए उसके ही मत से उसने जो मोक्ष माना है, वह व्यर्थ हो जाता है, तो भी कोई समीक्षण करके देखते नहीं है और जिह्वा से तो ऐसा बकवाद करते हैं कि 'हम तो ब्रह्मस्वरूप हैं तो किसका भजन करें ? और किसे नमस्कार करें ?' ऐसा मानकर

---

१. शुष्क वेदान्ती की ।

अतिशय अहंकारी हो जाते हैं । और समझ में तो कोई बात आई नहीं, फिर भी ज्ञानी होने का मान लेकर बैठे हैं, लेकिन ऐसा विचार करते नहीं है कि 'अपने मत से ही अपना मत मिथ्या हो गया ।' और जो उनका संग करता है, उसे भी ऐसे ही ऐसे मूर्ख बना देते हैं ।

और सच्चे ज्ञानी जो नारद, सनकादिक, शुकजी वे तो निरन्तर भगवान का ध्यान, नाम रटन और कीर्तन करते हैं, और श्वेतद्वीप में जो निरन्नमुक्त हैं, वे तो ब्रह्मस्वरूप हैं और काल के भी काल हैं, वे भी परमेश्वर का ध्यान, नाम रटन, कीर्तन, पूजन, अर्चन, वन्दन करते रहते हैं और स्वयं अक्षरस्वरूप हैं, फिर भी अक्षरातीत जो पुरुषोत्तमभगवान हैं, उनके दास होकर रहते हैं । बद्रिकाश्रम में उद्धव और तनुऋषि आदिक मुनि रहते हैं वे भी तप करते हैं और निरन्तर भगवान की भक्ति करते रहते हैं । और ये शुष्कवेदान्ती तो केवल देहाभिमानी जीव हैं, तो भी भगवान का ध्यान, स्मरण या वन्दन नहीं करते हैं । और नारद सनकादिक तथा शुकजी उनमें जैसा सामर्थ्य है तथा जैसा ज्ञान है और श्वेतद्वीपवासी जो निरन्नमुक्त हैं उनमें जैसा सामर्थ्य है तथा जैसा ज्ञान है, तथा बद्रिकाश्रमवासी जो ऋषि हैं, उनमें जैसा सामर्थ्य और ज्ञान है; उनके करोड़वें भाग का भी उस शुष्क वेदान्ती में सामर्थ्य भी नहीं है और ज्ञान भी नहीं है, तो भी परमेश्वर के प्रतिद्वन्द्वी होकर बैठे हैं । इसलिए वे पक्के अज्ञानी हैं और जितने अज्ञानी कहलाते हैं उनके राजा हैं और वे तो करोडों-करोडों कल्प तक नरक के कुण्ड में गिरेंगे और यम की मार खायेंगें, तो भी उनका छुटकारा नहीं होगा । और ऐसे का जो संग है, उसीका ही नाम कुसंग है । और जैसे सत्पुरुष का जो संग; उससे बड़ा कोई पुण्य नहीं है, उस तरह अज्ञानी ऐसे जो शुष्कवेदान्ती है; उसका संग; उससे बड़ा कोई पाप नहीं है । इसलिए जिसे कल्याण की इच्छा हो, वे नास्तिक तथा शुष्कवेदान्ती का संग करे ही नहीं ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥१८॥१५१॥

वचनामृत १९ : 'शुष्कवेदान्त के ग्रन्थ के श्रवण से दिलगीर[१] होकर पत्र लिखने का'

संवत्* १८७८ के मार्गशीर्ष कृष्ण १४ चतुर्दशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में परमहंस के निवास पर सूर्योदय के समय पधारे थे। फिर वहाँ आकर गद्दी-तकिया पर उदास होकर बैठे, न तो किसीको बुलाते थे और किसीके सामने देखते भी नहीं थे। मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था, जो खुलकर ढीला हो गया, उसे भी संभालते नहीं थे। इस प्रकार से एक घड़ी तक अतिशय उदास होकर बैठे रहे और नेत्र में से जल गिरने लगे।

फिर श्रीजीमहाराज परमहंसों के प्रति बोले कि 'हमने शुष्कज्ञानी का मत जानने के लिए उनके शास्त्र का श्रवण किया, उस श्रवणमात्र से ही हमारे अन्तर में ऐसा उद्वेग हो गया। क्योंकि इस **शुष्कवेदान्त शास्त्र के श्रवण से जीव की बुद्धि से भगवान की उपासना का खण्डन हो जाता है** और हृदय में समभाव[२] आ जाता है, इसलिए अन्य देवों की भी उपासना हो जाती है। और उन शुष्क वेदान्तियों के वचनों को जो सुनते हैं उनकी बुद्धि अतिशय भ्रष्ट हो जाती है।[३] और हमने तो किसी प्रयोजन से शुष्क वेदान्त की बात सुनी होगी, उससे भी हमें अब बहुत शोक होता है।'' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज एकदम उदास हो गए। फिर बहुत देर तक दिलगीर रहे, फिर अपने हाथ से नेत्र का जल पोंछकर ऐसा बोले कि ''भगवद्गीता पर जो रामानुजभाष्य है, उसकी कथा सुनकर हम आज रात्रि में सोये थे। तब हमे स्वप्न हुआ कि हम गोलोक में गए, वहाँ भगवान के अनन्त पार्षद देखे। उनमें से कितने तो भगवान की सेवा में रहे हैं, वे तो स्थिर जैसे दिखाई दिए और **कितने तो परमेश्वर के कीर्तन गाते हैं, वे कीर्तन भी मुक्तानन्द स्वामी तथा ब्रह्मानन्द स्वामी के गाते**

*दि. २३-१२-१८२१, रविवार

१. खिन्न २. मैं ब्रह्म का अंश हूँ, इसलिए मुझमें और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है।

३. इसलिए शुष्कज्ञानी के वचन न सुनें।

हैं। और वे कीर्तन गाते हुए डोलते[१] हैं। जैसे कैफ से पागल[२] हुए हों, और जैसे वे झूमते हैं तथा गाते हैं, उस तरह से कीर्तन गाते हैं और झूमते हैं। फिर हम भी वे गाते थे, उनके साथ जाकर बैठे[३] और कीर्तन गाने लगे। तब गाते-गाते ऐसा विचार हुआ कि 'ऐसी जो परमेश्वर की प्रेमभक्ति और ऐसी जो परमेश्वर की उपासना; उनका त्याग करके जो मिथ्याज्ञानी होते हैं, और ऐसा जानते हैं कि 'हम ही भगवान हैं।' वे महादुष्ट हैं।'' ऐसा कहकर फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिस प्रकार से धर्म से तथा भगवान की भक्ति से किसी भी प्रकार से पीछे हटा न जाये और अपने इष्टदेव जो श्रीकृष्णनारायण उनमें से किसी प्रकार से बुद्धि चलित न हो; ऐसा लाइए एक पत्र लिखकर देश-देश के सत्संगियों के प्रति भेजते हैं।'

लिखावितं स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज के समस्त परमहंस तथा समस्त सत्संगी बाई-भाई नारायण पढ़ियेगा। दूसरा, हमारी आज्ञा यह है कि श्रीकृष्णनारायण ऐसे जो पुरुषोत्तमभगवान हैं, उनके अवतार धर्म की स्थापना के लिए तथा ब्रह्मचर्य, अहिंसादिक धर्म, आत्मनिष्ठा, वैराग्य और माहात्म्य सहित भक्ति; इन चार गुणों से युक्त ऐसे जो अपने एकान्तिक भक्त हैं, उन्हें दर्शन देने के लिए, उनकी रक्षा करने के लिए तथा अधर्म का उच्छेद करने के लिए देव-मनुष्यादिक में होते हैं। उन अवतार के प्रति अनन्यभाव से पतिव्रता जैसी निष्ठा रखें। जैसे सीताजी को श्रीरामचन्द्र में निर्दोषभाव युक्त निष्ठा थी उस तरह निष्ठा रखें। और **ऐसे जो भगवान हैं उनकी प्रीतिपूर्वक मानसी पूजा करें तथा देह से नव प्रकार की भक्ति करें।** और यदि उन श्रीकृष्णनारायण के अवतार पृथ्वी पर प्रकट न हो तो उनकी जो प्रतिमा है उसकी पूजा मन से तथा देह से चन्दन, पुष्प, तुलसी आदिक सामग्री द्वारा करें, **परन्तु भगवान के बिना दूसरे देव की उपासना न करें। और यदि दूसरे देव की उपासना की जाये, तो उसमें बड़ा दोष लगता है और पतिव्रतत्व[४] नष्ट हो जाता है और वेश्या जैसी भक्ति होती है।** इसलिए भगवान के प्रति सीता एवं रुक्मिणी जैसी भक्ति

१. झूमते २. दिवाना ३. कीर्तनगान में जुट गए। ४. पतिव्रता धर्म

करें और उन भगवान का ही ध्यान करें और उनके बिना दूसरे किसी देव का ध्यान न करें[१] । दूसरा, जो साधु सिद्ध गति को प्राप्त हुए हों और समाधिनिष्ठ हों; उनका भी ध्यान न करें और सभी अपने-अपने वर्णाश्रमधर्म में दृढ़ता से रहें । दूसरा, यह जो हमारी आज्ञा है उसका जो पुरुष दृढ़तापूर्वक पालन करेंगे, उनको श्रीकृष्णनारायण में नारद जैसी दृढ़ भक्ति होगी । हमारी इस आज्ञा को जो स्त्री मानेगी उसकी श्रीकृष्णनारायण में लक्ष्मीजी तथा राधिकाजी आदिक जो गोपियाँ, उनके जैसी भक्ति होगी । और हमारे इस वचन को जो नहीं मानेंगे उनकी भक्ति वेश्या जैसी होगी । संवत् १८७८ के मार्गशीर्ष कृष्णा चतुर्दशी के दिन लिखा है ।'' इस प्रकार से पत्र लिखकर देश-देश के सत्संगियों के प्रति भिजवाया ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥१९॥१५२॥

वचनामृत २० : 'समाधिनिष्ठ की ज्ञानशक्ति तथा इन्द्रियों की शक्ति कैसे वृद्धि होती है ? उसका'

संवत्* १८७८ के पौष कृष्ण १४ चतुर्दशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे विराजमान थे । उन्होंने सफ़ेद खेस धारण किया था, सफेद शाल(चौफाळ) ओढ़ी थी, उस पर छींट की रजाई ओढ़ी थी, मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी और अपने मुखारविन्द सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और परमहंस ताल, मृदंग बजाकर कीर्तन गा रहे थे ।

तब श्रीजीमहाराज परमहंसों के प्रति बोले कि ''आज तो हमारे निवासस्थान पर हमारे साथ रहनेवाले जो सोमलो[२] खाचर आदिक हरिभक्त, उन्होंने हमे एक प्रश्न पूछा है, उसका सभी परमहंस मिलकर उत्तर करिए ।'' फिर परमहंसों ने कहा कि ''हे महाराज ! वह प्रश्न हमें सुनाइए ।'' फिर श्रीजीमहाराज बोले

*दि. २२-१-१८२२, मंगलवार

१. और शुष्कवेदान्ती तथा उनके ग्रन्थ का प्रसंग सर्व प्रकार से न करें । २. सोमला

कि ''समाधिनिष्ठ पुरुष होता है, उसे तो माया[१] से पर स्थिति होती है और भगवान के स्वरूप का भी दृढ़ सम्बन्ध रहता है। इसलिए उस समाधिनिष्ठ की तो ज्ञानशक्ति तथा देह-इन्द्रियों की शक्ति बढ़नी चाहिए; क्योंकि, माया से जो चौबीस तत्त्व हुए हैं, वे जड़-चैतन्यरूप हैं, किन्तु अकेले जड़ नहीं कहलाते हैं, उस तरह अकेले चैतन्य भी नहीं कहलाते हैं। और उन तत्त्वों में शक्ति भी समान नहीं कहलाती, इन्द्रियों की अपेक्षा अन्तःकरण में जानपना[२] विशेष है और अन्तःकरण की अपेक्षा इन्द्रियाँ-अन्तःकरण का द्रष्टा जो जीव है, उसमें ज्ञान विशेष है। तो जीव को जब समाधि होती है तब इन्द्रियों-अन्तःकरण के द्रष्टाभाव का त्याग करके माया पर जो ब्रह्म, उनके समान वह जीव चैतन्य होता है और भगवान के स्वरूप का सम्बन्ध रहता है। उन समाधिवालों को कई लोग ऐसा समझते हैं कि 'जिसे समाधि होती है, उसे तो पहले समझ थी उतनी भी नहीं रहती है।' इसलिए उस समाधिवाले को ज्ञान तथा देह-इन्द्रियों की शक्ति वृद्धि होती है या नहीं होती ? यह प्रश्न है।'' फिर परमहंसों ने जिसकी जैसी बुद्धि पहुँची वैसा उत्तर किया, परन्तु श्रीजीमहाराज के इस प्रश्न का उत्तर नहीं हुआ। तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''लीजिए हम उत्तर करते हैं। इस प्रश्न का तो ऐसा उत्तर है कि 'साक्षी जो ब्रह्म है, वह तो माया से उत्पन्न हुआ ऐसा जो चौबीस तत्त्वात्मक ब्रह्माण्ड, उसमें प्रवेश करके उसको चैतन्यमय करता है और उसे सभी क्रियायें करने की सामर्थी देता हैं। और उस ब्रह्म का ऐसा स्वभाव है कि काष्ठ तथा पाषाण जैसा जड़ हो, उसमें प्रवेश करें तब वह हिले-चले ऐसा हो जाता है। उस **ब्रह्म के साथ समाधि के द्वारा तुल्यभाव को प्राप्त हो जाये तब वह जीव भी ब्रह्मरूप कहलाता है और उसे ज्ञान की वृद्धि होती है[३]। और इन्द्रियों की शक्ति तो जब तप, निवृत्ति धर्म तथा वैराग्य से युक्त योगाभ्यास हो, उसे शुकजी के समान सिद्ध दशा प्राप्त होती है।** और जिसको तप, निवृत्ति धर्म तथा वैराग्य; उनका सामान्यपना[४] हो

१. तीन देहरूप २. ज्ञातृत्व, प्रकाश, चैतन्य ३. इन्द्रियों की शक्ति की अधिकता, उसे समाधि का फल नहीं माना है। ४. सामान्यरूप से सिद्ध हुए हो।

और धर्म, अर्थ और कामरूपी जो प्रवृत्तिमार्ग है, उसमें रहा हो, उसे तो समाधि होती है तो भी अकेले ज्ञान की ही वृद्धि होती है, किन्तु इन्द्रियों की शक्ति वृद्धि को प्राप्त होकर सिद्ध दशा नहीं मिलती । जैसे जनक राजा ज्ञानी थे वैसा ज्ञानी हो जाता है, परन्तु प्रवृत्ति मार्गवाले को नारद, सनकादिक, शुकजी के जैसी सिद्धदशा नहीं प्राप्त होती । जो सिद्ध हो, वह तो श्वेतद्वीप आदिक जो भगवान के धाम हैं, उनमें उसी शरीर से जाता है और लोक-अलोक सभी स्थानों में उसकी गति रहती है, और **प्रवृत्ति मार्गवाले को तो जनक के समान केवल ज्ञान की ही वृद्धि होती है, परन्तु ज्ञान घटता नहीं है ।** जैसे श्रीकृष्ण भगवान ने गीता में कहा है वैसा तो होता है । वहाँ श्लोक है,

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

इस श्लोक का यह अर्थ है कि 'जिनमें भूतप्राणीमात्र सोये हैं, उनमें संयमी पुरुष जगे हैं और जिनमें भूतप्राणीमात्र जगे हैं उनकी ओर संयमी पुरुष सोये हैं ।' इसलिए जिस पुरुष की अन्तरात्मा सन्मुख दृष्टि रहती हो उसे देह, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण के प्रति शून्यभाव रहता है, उसे देखकर जो अज्ञानी हों, वे ऐसा समझते हैं कि 'समाधिवाले को ज्ञान कम हो जाता है ।' फिर रजोगुण, तमोगुण में तथा मलिन सत्त्वगुण में रहकर इस प्रश्न का उत्तर करने जाये, उसे ऐसा ही दिखता है कि 'समाधिवाले को ज्ञान कम हो जाता है ।' परन्तु ऐसा नहीं जानता है कि 'मैं देहाभिमानी हूँ, इसलिए मूर्खतावश कहता हूँ' इसलिए समाधिवाला तो देह, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण से भिन्न होकर रहता है, तो भी ज्ञान की वृद्धि होती है और पुनः इन्द्रियाँ-अन्तःकरण में आकर रहता हो तो भी स्वयं को समाधि में जो ज्ञान हुआ है उसका नाश नहीं होता । और तप, निवृत्तिधर्म तथा वैराग्य को ग्रहण करके प्रवृत्तिमार्ग का त्याग करता है तो जैसे ज्ञान की वृद्धि हुई है, वैसे इन्द्रियाँ-अन्तःकरण की शक्तियाँ भी वृद्धि को प्राप्त होती हैं और नारद, सनकादिक, शुकजी के जैसी सिद्धगति को भी प्राप्त होता है ।'

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥२०॥१५३॥

वचनामृत २१ : 'मुद्दे का'

संवत्* १८७८ के फाल्गुन शुक्ल १५ पूर्णिमा के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे विराजमान थे। उन्होंने श्वेत खेस पहना था, सफेद चद्दर ओढ़ी थी तथा सिर पर श्वेत पाग बाँधी थी और श्रीजीमहाराज के मुखारविन्द के सन्मुख प्रेमानन्द स्वामी आदिक सभी परमहंस विष्णुपद(१) गा रहे थे।

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'कीर्तन रहने दीजिए और सभी ध्यान देकर सुनिये, एक वार्ता करते हैं कि जितने कल्याण के लिए व्यासजी ने ग्रन्थ किये हैं, वे सभी ध्यान रखके हमने सुने हैं। उन सभी शास्त्रों में यही सिद्धान्त है तथा जीव के कल्याण के लिए भी इतनी ही बात है कि यह समस्त जगत है, उनके कर्ता-हर्ता एक भगवान हैं। और इन सभी शास्त्रों में भगवान के चरित्र हैं, या भगवान के सन्त के चरित्र हैं। और वर्णाश्रम के धर्म की जो बाते हैं और उनका जो फल धर्म, अर्थ और काम है; उससे कुछ कल्याण नहीं होता है और केवल वर्णाश्रम के धर्म से तो संसार में कीर्ति होती है तथा देह से सुखी रहता है इतना ही फल है। और **कल्याण के लिए तो भगवान को सर्वकर्ताहर्ता जानना, यही है।' जैसे भगवान के रामकृष्णादिक परोक्ष अवतार का माहात्म्य जानता है तथा नारद, सनकादिक, शुकजी, जड़भरत, हनुमान, उद्धव इत्यादिक जो परोक्ष साधु हैं, उनका जैसा माहात्म्य समझता है, वैसा ही प्रत्यक्ष ऐसे जो भगवान तथा उन भगवान के भक्त साधु, उनका माहात्म्य समझता हो, उसे कल्याण के मार्ग में कुछ भी समझना बाकी नहीं रहता है।'** तो यह वार्ता एकबार कहने से समझिए अथवा लाखबार कहने से समझिए, आज समझिए अथवा लाख वर्ष के बाद समझिए, परन्तु इस बात को समझे बिना कोई रास्ता(२) ही नहीं है। और नारद, सनकादिक,

*दि. ७-३-१८२२, गुरुवार

१. परिशिष्ट में पेज नं. ८०४ देखो। २. उपाय, साधन

शुकजी, ब्रह्मा, शिव उनसे पूछें तो भी, वे बुद्धिमान हैं तो **वे अनेक बातों की युक्तियाँ लाकर प्रत्यक्ष भगवान तथा प्रत्यक्ष सन्त को ही कल्याण के दाता बताते हैं और जैसा परोक्ष भगवान तथा परोक्ष सन्त का माहात्म्य है, वैसा ही प्रत्यक्ष भगवान तथा प्रत्यक्ष सन्त का माहात्म्य बताते हैं । इतना जिसे दृढ़ निश्चय हुआ हो उसे सभी मुद्दा[१] हाथ लगा है और किसी काल में वह कल्याण के मार्ग से च्युत नहीं होता ।** जैसे ब्रह्मा, शिव, बृहस्पति और पराशरादिक, वे कामादिक से धर्म से च्युत हो गए, तो भी प्रत्यक्ष भगवान एवं प्रत्यक्ष सन्त; उनका परोक्ष के जैसा जो माहात्म्ययुक्त निश्चय था तो कल्याण के मार्ग से गिरे नहीं । इसलिए समस्त शास्त्रों का रहस्य यह वार्ता है ।''

और उसी दिन संध्या के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन से घोड़ी पर सवार होकर श्रीलक्ष्मीवाड़ी पधारे थे । वहाँ आम्रवृक्ष के नीचे चबूतरे पर पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने श्वेत खेस पहना था, श्वेत चद्दर ओढ़ी थी, सिर पर श्वेत पाग बाँधी थी, उस पाग में पीले पुष्पों का तुर्रा विराजमान था, कान पर मोगरे के पुष्पों का गुच्छ विराजमान था, कण्ठ में मोगरे के पुष्प का हार विराजमान था और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''सुनिये, आप को एक प्रश्न पूछते हैं कि जीव को स्वप्न अवस्था में जो-जो स्वप्न में सृष्टि दिखाई देती है और उस स्वप्न की सृष्टि के जो भोग हैं, उन्हें जीव भोगता है, तो उस सृष्टिरूप में वह जीव स्वयं होता है या वह जीव अपने संकल्प से स्वप्न में उस सृष्टि का सर्जन करता है ? और जैसे जीव को है, उसी तरह सभी ब्रह्मादिक ईश्वर हैं, उन्हें भी स्वप्न सृष्टि है; वे स्वयं उस सृष्टि के रूप में होते हैं या स्वयं संकल्प से सर्जन करते हैं ? या इन जीव-ईश्वर से पर जो परमेश्वर हैं, वे ही स्वप्न की सृष्टि का सर्जन करा देते हैं ?' इस प्रश्न का उत्तर कीजिए ।'' फिर जैसी जिसकी बुद्धि वैसा उन्होंने कहा परन्तु किसीसे यथार्थ उत्तर नहीं हुआ । फिर श्रीजीमहाराज बोले

१. रहस्य, सार

कि ''जीव तथा ईश्वर, इनमें से कोई स्वप्न सृष्टि का सर्जन नहीं करते हैं और स्वयं भी स्वप्न सृष्टि के रूप में नहीं होते हैं; वो तो जीव–ईश्वर से पर जो परमेश्वर कर्मफलप्रदाता है; वे उन जीव–ईश्वर के कर्मों के अनुसार उस स्वप्न सृष्टि का सर्जन करते हैं[१] । उस स्वप्नसृष्टि में जो अस्थिरता है तथा भ्रान्तपना है; वह तो देश के योग से प्रवृत्त होता है, क्योंकि कण्ठ देश है वह तो ऐसा ही है कि, उस स्थल पर अनन्त प्रकार की ऐसी सृष्टि दिखाई देती हैं। जैसे कांच का मन्दिर हो, उसमें एक जगह पर दीपक जलाया हो तो अनेक दीपक दिखाई देते है; उसी तरह कण्ठ देश के योग से एक संकल्प हो, वह अनन्त प्रकार से दिखाई देता है[२] । और जो ज्ञानी हो, वे तो जहाँ देश की प्रधानता हो वहाँ देश का ही समझते हैं, और काल की प्रधानता हो वहाँ काल का ही समझते हैं, और कर्म की प्रधानता हो वहाँ कर्म का ही समझते हैं, और परमेश्वर की प्रधानता हो वहाँ परमेश्वर का ही समझते हैं । और मूर्ख हो वह तो जो कोई एक बात समझ में आ गई उसे ही मुख्य समझता है । यदि काल की बात समझ में आ गई हो तो काल को मुख्य समझता है, और कर्म की बात समझ में आ गई हो तो कर्म को मुख्य जानता है, और माया की बात समझ में आ गई हो तो माया को मुख्य जानता है, परन्तु जहाँ जिसकी प्रधानता हो उसे वहाँ पृथक्–पृथक् मुर्ख को समझना नहीं आता है। जो ज्ञानी हो, वे तो जिस स्थान पर जिसकी प्रधानता हो, उस स्थान पर उसकी ही प्रधानता लेते है। जो परमेश्वर हैं, वे तो देश, काल, कर्म, माया उन सभीके प्रेरक हैं और अपनी इच्छा से देशकालादिक की प्रधानता रहने देते हैं, परन्तु सभी परमेश्वर के आधार पर हैं। जैसे शिशुमारचक्र है, वह ध्रुवमण्डल के आधार पर रहता है। जैसे सभी प्रजा राजा के आधार पर रहती है, उसमें दीवान हो तथा वजीर हो, उनका जितना

१. उस श्रुति में कहा है कि ''**न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते**'' स्वप्न में रथ नहीं है, रथ में जोड़ने के लिए अश्व नहीं है, जाने के मार्ग भी नहीं है, परन्तु सर्वशक्ति परमात्मा रथ, रथ के अश्व और मार्ग का सर्जन करते है, इत्यादि।
२. देश के प्रसंग से दूसरों की उन–उन क्रिया में प्रधानता कही है ।

राजा चलने दे उतना चलता है परन्तु न चलने दे तब एक अणुमात्र भी नहीं चलता है; उस तरह **देश, काल, कर्म, माया उनका परमेश्वर चलने देते हैं उतना चलता है परन्तु परमेश्वर की इच्छा बिना अणुमात्र भी नहीं चलता है। इसलिए सर्वकर्ता तो वे परमेश्वर ही हैं।''** इतनी वार्ता करके श्रीजीमहाराज पुनः राजभवन में पधारे।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥२१॥१५४॥

वचनामृत २२ : 'दो सेना का - नरनारायण स्थापित करने का'

संवत्* १८७८ के फाल्गुन कृष्ण १० दशमी के दिन श्रीजीमहाराज अर्ध रात्रि के समय जगे और श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे दक्षिण की ओर मुखारविन्द किये पलंग पर विराजमान हुए थे और सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और उस समय सभी साधु तथा हरिभक्त को बुलवाये। फिर अपने मुखारविन्द के समक्ष उन सभीकी सभा बैठी।

तब श्रीजीमहाराज साधुओं के प्रति बोले कि ''एक वार्ता करते हैं, उसे सुनिये कि जैसे दो सेनाएँ हो, और वे परस्पर लड़ने को तैयार हुई हो और दोनों के निशान आमने-सामने लगाये हो, तब दोनों के मनमें ऐसा रहता है कि 'अपना निशान है, उसे उनके निशान के स्थान पर लगा दें और उनका निशान ले लेंगे।' परन्तु ऐसा विचार नहीं होता कि 'उनके निशान तक जायेंगे उसमें तो कितनों के सिर अलग हो जायेंगे और खून की नदी बहेगी।' इसका तो उन्हें भय नहीं है; क्योंकि शूरवीर होते हैं, उन्हें मरने का डर नहीं होता। जो कायर होते हैं, वे तो भागने के हजारों विचार करते हैं। ऐसा भी विचार करते हैं कि 'अपनी फौज जीतेगी तो किसीका धन, हथियार को लूट लेंगे।' उन दोनों राजाओं के जो शूरवीर[१] हैं उन्हें तो मरने का भी भय नहीं है और लूटने का भी लोभ नहीं है; परन्तु सामनेवाले का निशान लेना और अपनी

*दि. १८-३-१८२२, सोमवार १. योद्धाओं

विजय करना, ऐसा ही एक संकल्प है । यह तो दृष्टान्त है; इसका सिद्धान्त तो यह है कि निशान के स्थान पर तो भगवान का धाम है और राजा के शूरवीर की जगह पर तो भगवान के दृढ़ भक्त हैं, उन्हें तो इस संसार में मान होने लगे अथवा अपमान होने लगे, देह को सुख हो अथवा दुःख हो, शरीर रोगी रहे अथवा निरोगी रहे, देह जियें अथवा मरें, परन्तु उन्हें किसी भी प्रकार का हृदय में संकल्प नहीं है कि 'हमे इतना दुःख होगा या हमे इतना सुख होगा ।' इन दोनों में से किसी भी प्रकार का हृदय में संकल्प नहीं है । उन भक्तजन के हृदय में तो यही दृढ़ निश्चय है कि 'इस शरीर से भगवान के धाम में निवास करना है, परन्तु बीच में कहीं भी लुभाना[१] नहीं है ।' कायर के स्थान पर जो देहाभिमानी भगवान के भक्त है, उन्हें तो प्रभु भजने में हजारों तरह के संकल्प-विकल्प होते हैं कि 'यदि कठोर वर्तमान होंगे तो नहीं रह पायेंगे और सुगम वर्तमान होंगे तो रह पायेंगे ।' फिर ऐसा भी विचार करते हैं कि 'ऐसा उपाय करेंगे तो संसार में भी सुखी होंगे और यदि निभ पायेंगे तो साधारणता से सत्संग में निभेंगे ।' जो ऐसा भक्त हों उसे कायर की जगह पर जानें । **भगवान के जो शूरवीर दृढ़ भक्त हो, उन्हें तो पिण्ड-ब्रह्माण्ड सम्बन्धी किसी प्रकार का संकल्प नहीं होता है ।''**

फिर श्रीजीमहाराज अपने वृतान्त[२] की वार्ता[३] करने लगे कि ''हम अहमदाबाद में श्रीनरनारायणदेव की प्रतिष्ठा करने गए थे, तब हजारों मनुष्यों का समुदाय इकट्ठा हुआ था । फिर जब श्रीनरनारायणदेव की प्रतिष्ठा हो गई और अहमदाबाद के ब्राह्मण चौरासी भोजन कर लिए; तब हम तत्पर होकर निकल गए और जेतलपुर में जाकर रात रुके । वहाँ जाकर ऐसा विचार करने लगे कि 'जितने मनुष्य देखे हैं और जितनी प्रवृत्ति देखी हैं, उन्हें टाल[४] देना है ।' फिर उसे विस्मृत करने के लिए हृदय में अतिशय दुःख हुआ, जिसके कारण शरीर भी अस्वस्थ हो गया । वहाँ से धोलका जाकर रात रहे और धोलका से भी चले और उसीके उसी विचार में गाँव कोठ्य के पास गणेश धोलका की खिरनी

१. लुब्ध होना २. चरित्र, प्रसंग ३. उदाहरण के लिए ४. विस्मरण कर देना

की झाड़ी में जाकर रात रुके । तब ऐसा विचार करने लगे कि देह की स्मृति न रही । विचार करते-करते सभी प्रवृत्तियों को विस्मृत कर दिया । जब हम कांकरिया तालाब ठहरे नहीं थे और जनमेदनी भी इकट्ठी नहीं हुई थी, तब किसी भी प्रकार का संकल्प नहीं था, उसी तरह सभी संकल्प टाल दिये । जब लौकिक संकल्प मिट गए तब अन्तर्दृष्टि रहने लगी । फिर अलौकिक आश्चर्य दिखने लगे, देवता सम्बन्धी जो भोग हैं, वे दिखने लगे । अनन्त प्रकार के विमान और अनन्त प्रकार की अप्सरायें और अनन्त प्रकार के वस्त्र और अनन्त प्रकार के अलंकार; वो जैसे यहाँ मृत्युलोक में है, वैसे ही वहाँ दिखाई देने लगे; **परन्तु हमारे अन्तर में तो एक भगवान के बिना दूसरा कुछ रुचिकर नहीं लगा ।** जैसे यहाँ के पञ्चविषय हमें तुच्छ लगे और उनमें हमारा मन आकृष्ट नहीं हुआ, वैसे ही देवलोक, ब्रह्मलोक पर्यन्त हमारा मन कहीं भी आकृष्ट नहीं हुआ । उसे देखकर सभी देवता हमारी प्रशंसा करने लगे कि 'सही में आप भगवान के एकान्तिक भक्त है, क्योंकि आपका मन भगवान को छोड़कर कहीं भी आकृष्ट नहीं होता है ।' उनके वचन सुनकर हमारे हृदय में बहुत हिम्मत आई । फिर हमने अपने मन को कहा कि तेरा जैसा रूप है, वैसा मैं जानता हूँ । यदि भगवान के बिना दूसरे पदार्थ का संकल्प किया, तो तेरी धज्जियाँ उड़ा दूँगा । वैसे ही बुद्धि से कहा कि भगवान के बिना दूसरा निश्चय किया तो तुझे देख लूंगा । वैसे ही चित्त को कहा कि भगवान के बिना दूसरा चिन्तन किया तो तुझे मसल दूंगा, वैसे ही अहंकार को कहा कि भगवान के दासत्व के बिना दूसरा अभिमान रखा तो तेरा नाश कर दूंगा । फिर तो हमें जैसे इस लोक के पदार्थों की अत्यंत विस्मृति हो गई थी वैसे ही देवलोक, ब्रह्मलोक के पदार्थो की भी अत्यंत विस्मृति हो गई । और जब वे सभी संकल्प मिट गए तब जो संकल्प की बीमारी थी वह भी मिट गई । भगवान के भक्त हो वे इस तरह रहें ।'' ऐसा श्रीजीमहाराज ने अपना वृत्तान्त[१] भक्तजन के कल्याण के लिए कहा । वे स्वयं तो साक्षात् श्रीकृष्ण पुरुषोत्तमनारायण हैं ।

१. चरित्र

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "वासुदेवमाहात्म्य में एकान्तिक भक्त के धर्म कहे हैं कि **जो 'एकान्तिक भक्त हो, वे अपना रूप देह को न मानें, स्वयं को चैतन्यरूप मानें, स्वधर्म, ज्ञान तथा वैराग्य सहित भगवान की भक्ति करें और एक भगवान के सिवा दूसरे किसी पदार्थ की वासना न रखें ।**' और वह जब उन भगवान का भजन करके इस तरह का साधु हुआ, तब **साधु से कोई दूसरी बड़ी पदवी नहीं है ।** जैसे राजा हो और उसकी रानी हो, तो जितने में राजा का राज्य है उतने में रानी का भी राज्य कहलाता है और जैसा राजा का हुक्म चलता है वैसा ही रानी का भी हुक्म चलता है; **उस तरह भगवान का जैसा प्रताप है, वैसा ही उन साधु का भी प्रताप है । इसलिए तुच्छ ऐसे जो संसार के सुख, उसकी साधु इच्छा न करें**; क्योंकि, वह साधु जब भगवान के धाम को प्राप्त होता हैं, तब अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के पति जो ब्रह्मादिक ईश्वर हैं, वे भगवान के लिए जैसे अनन्त प्रकार की भेंट-सामग्रियाँ लाते हैं, उस तरह साधु के लिए भी लाते हैं । **भगवान के प्रताप से** वे साधु अलौकिक ऐश्वर्य-सामर्थ्य को प्राप्त होते हैं । ऐसा बड़ा विचार हृदय में रखकर एक भगवान के सिवा अन्य किसीकी भी मन में इच्छा न करें । और जैसे हाथ में चिन्तामणि आई हो, तब उस चिन्तामणि को जतन करके रखें; क्योंकि यदि हाथ में चिन्तामणि है, तो जिस पदार्थ की इच्छा करेगा, उस पदार्थ को देगी; **उस प्रकार भगवान के भक्त भगवान की मूर्तिरूपी चिन्तामणि को पकड़ के रखें परन्तु उसे छोड़े ही नहीं, तभी उसे सभी बात की सिद्धि होगी ।**"

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥२२॥१५५॥

वचनामृत २३ : 'लू तथा हिम का'

संवत्* १८७८ के ज्येष्ठ शुक्ल ११ एकादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे विराजमान थे । उन्होंने मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी, सफ़ेद खेस

*दि. ३१-५-१८२२, शुक्रवार

पहना था, श्वेत चद्दर ओढ़ी थी और अपने मुखारविन्द के समक्ष मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज ने ऐसा कहा कि ''आज तो हमने मन का रूप विचार करके देखा, तो वह मन जीव से भिन्न नहीं दिखाई दिया; **मन तो जीव की ही कोई किरण[१] है, परन्तु जीव से भिन्न नहीं है ।** मन का रूप तो ऐसा दिखाई दिया कि जैसे ग्रीष्म में लू[२] हो तथा जैसे शीतकाल में हिम[३] हो, वैसा मन का रूप दिखाई दिया । और जैसे मनुष्य के देह में लू प्रवेश करती हैं तथा हिम प्रवेश करता है तब उस मनुष्य की मृत्यु हो जाती है; उस तरह वह मन जब इन्द्रियों के द्वार से विषय के सन्मुख जाता है, तब वह विषय यदि दुःखदायी हो तो मन तप्त होकर ग्रीष्म की लू जैसा होता है और वही विषय यदि सुखदायी हो, तो उनमें मन शीतकाल के हिम जैसा होता है । तो जब दुःखदायी विषय को भोगकर लू के समान तप्त होकर जीव के हृदय में प्रवेश करता है, तब जीव को अतिशय दुःखी करके कल्याण के मार्ग से च्युत करा देता है; यह तो लू लगने से मरा ऐसा जानें । और जब वह मन सुखदायी विषय में सुख को भोगता है तब हिम के समान ठंडा होकर जीव के हृदय में प्रवेशता है, और जीव को सुखी करके कल्याण के मार्ग से च्युत करा देता है । यह तो हिमालय के बर्फीले वायु से मरा ऐसा जानें । इसलिए **जिसका मन अनिष्ट विषय को देखकर तप्त भी न हों और उत्तम विषय को देखकर ठंडा भी न हों; इस तरह से जिसका मन अविकारी रहता हो, उन्हें परम भागवत सन्त जानें ।** और ऐसा मन होना, वह कोई सामान्य बात नहीं है । और मन का तो कैसा स्वभाव है ? तो जैसे बालक हो वह सर्प को, अग्नि को, तथा खुली तलवार को पकड़ने जाये तो यदि न पकड़ने दें तो भी दुःखी होता है और यदि पकड़ने दें तो भी दुःखी होता है; उस तरह यदि मन को विषय भोगने न दे तो भी दुःखी होता और यदि भोगने दें तो भी विमुख होकर अतिशय दुःखी होता है । इसलिए

---

१. ज्ञातृताविशिष्टवृत्ति २. ग्रीष्म की अति गर्म हवा । ३. सर्दी की अति ठंडी हवा ।

जिसका मन भगवान में आसक्त हुआ है और विषय के योग से ठंडा-गर्म नहीं होता है, उसे ही साधु जानें ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥२३॥१५६॥

वचनामृत २४ : 'सांख्य और योगनिष्ठा का'

संवत्* १८७९ के श्रावण शुक्ल ८ अष्टमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन से घोड़ी पर सवार होकर श्रीलक्ष्मीवाड़ी में पधारे थे और वहाँ चबूतरे पर उत्तर की ओर मुखारविन्द किये विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कण्ठ में मोगरा के पुष्पों का हार पहना था, पाग में मोगरा के पुष्पों का तुर्रा धारण किया था और अपने मुखारविन्द के समक्ष परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब मुक्तानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज! भगवान में अचल निष्ठावाले जो भक्त हैं, उन्हें किसी प्रकार का विक्षेप बाधक बनता है या नहीं ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''एक तो योगनिष्ठा है और दूसरी सांख्यनिष्ठा है। उनमें योगनिष्ठावाला भगवान का जो भक्त है वह भगवान के स्वरूप में अपनी अखण्ड वृत्ति रखता है और सांख्यनिष्ठावाला भगवान का जो भक्त है वह तो मनुष्यों के सुख एवं सिद्ध, चारण,[१] विद्याधर, गन्धर्व, देवता इन सभीके जो सुख है, उनको समझ रखता हैं तथा चौदह लोक के भीतर जो सुख हैं, उन सभी का परिमाण[२] करके रखता है कि 'यह सुख तो इतना ही है।' और इन सुखों के पीछे जो दुःख रहा हैं, उसका भी परिमाण करके रखता है। फिर दुःख सहित ऐसे जो वे सुख हैं, उनसे वैराग्य होने से परमेश्वर में ही दृढ़ प्रीति रखता है। इस प्रकार सांख्यनिष्ठावाले को तो ज्ञान[३] का बल रहता है और योगनिष्ठावाले को तो भगवान के स्वरूप में अखण्ड वृत्ति रखने का ही बल रहता है, यदि किसी विषम देशकालादिक के योग से कोई

*दि. २६-७-१८२२, शुक्रवार **१.** देवों की एक जाति, वंश की कीर्ति गानेवाला बंदीजन।
२. नाप, तौल, तुलना **३.** समझ पूर्वक विचार।

विक्षेप आ जाये तो भगवान के स्वरूप में वृत्ति रहती हो, वह कहीं अन्यत्र भी लग जाती है। क्योंकि योगनिष्ठावाले को ज्ञान[१] का बल थोड़ा रहता है; इसलिए कोई विघ्न हो जाता तो है। सांख्यनिष्ठा तथा योगनिष्ठा; ये दोनों यदि एक में हों तो फिर कोई बाधा ही नहीं रहती। और ऐसा भगवान का जो भक्त हो, वह तो भगवान की मूर्ति के सिवा दूसरे किसी पदार्थ में लोभायमान होता ही नहीं है। ऐसा समझता है कि **'भगवान का जो अक्षरधाम और उन धाम में रही जो भगवान की मूर्ति और उन धाम में रहें ऐसे जो भगवान के भक्त; इनके बिना जो-जो लोक हैं और उन लोकों में रहे ऐसे जो देव हैं और उन देवों के जो वैभव हैं, वे सभी नाशवन्त हैं।' ऐसा समझकर एक भगवान में ही दृढ़ प्रीति रखता है। इसलिए ऐसे भक्त को तो किसी प्रकार का विक्षेप नहीं आता है।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥२४॥१५७॥

वचनामृत २५ : 'वासना युक्त त्यागी और वासना रहित गृहस्थ का'

संवत्* १८७९ के श्रावण कृष्ण ६ षष्ठी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में दक्षिणाभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज ने सभी परमहंसों से कहा कि ''सुनिये, हम एक प्रश्न पूछते हैं कि एक तो भगवान का भक्त त्यागी है और देह से तो सभी वर्तमान[२] दृढ़ रखता है। उसके हृदय में तो विषय भोगने की वासना अतिशय तीव्र है, तब भी देह से भ्रष्ट नहीं होता है, ऐसा तो त्यागी है। और दूसरा भक्त है, वह

*दि. ८-८-१८२२, गुरुवार

१. समझ पूर्वक विचार २. त्यागी के पञ्च वर्तमान - निर्मान, निष्काम, निर्लोभ, निःस्वाद, निःस्नेह

तो गृहस्थाश्रमी है। उसे तो देह से धन-स्त्री का प्रसंग रहता है, किन्तु हृदय से तो सर्व प्रकार से वासना रहित है। ये दोनों जब देह त्याग करेंगे तब वे दोनों कौन सी गति को प्राप्त करेंगे ? वे दोनों क्या समान गति को प्राप्त करेंगे ? या अधिक-न्यूनता होगी ? इन दोनों का विस्तार से अलग-अलग उत्तर दीजिए।'' फिर गोपालानन्द स्वामी बोले कि ''वह[1] त्यागी जब देह त्याग करेगा तब उसे विषय भोगने की हृदय में तीव्र वासना है, इसलिए उसे तो भगवान मृत्युलोक में अथवा देवलोक में बड़ा गृहस्थ बनायेंगे और अतिशय विषयभोग प्राप्त होंगे। तो जैसे भगवद्गीता में योगभ्रष्ट के लिए भोग कहे हैं, वैसे भोगों को देवलोक में भोगेगा[2]। और वह गृहस्थ हरिभक्त है, वह तो देहत्याग करेगा तब वासना रहित है इसलिए भगवान का जो ब्रह्मपुरधाम है, उसे प्राप्त करेगा और भगवान के चरणाविन्द में निवास करके रहेगा। पहले कहा जो त्यागी, वह तो विषय भोगकर जब तृप्त होगा तब उन विषय से वैराग्य प्राप्त करके और मन में पश्चाताप करके भगवान का भजन करेगा। फिर वासना रहित होकर भगवान के धाम में जायेगा।'' फिर श्रीजीमहाराज ने कहा कि ''ठीक कहा; इसका यही उत्तर है।''

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''ऐसी दृढ़ वासना हो और उसे टालने की जिसे इच्छा हो, तो वह कौन-सा उपाय करे तब टल सके ?'' **तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जैसा उका खाचर को सन्त की सेवा करने का व्यसन हुआ है, उस तरह भगवान तथा भगवान के सन्तों की सेवा करने का जिसे व्यसन हो जाये और उसके बिना एक क्षणमात्र भी न रहा जा सके, तो उसके अन्तःकरण की जो मलिन वासना हैं, वह सभी नष्ट हो जाती हैं।''**

फिर स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''**हे महाराज ! जिससे भगवान अतिशय प्रसन्न हो जाये ऐसा कौन-सा साधन है ?**'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जब घर में एक मन भर अन्न हो, और उस समय

१. दोनों की गति भिन्न-भिन्न होगी। २. परन्तु ब्रह्मधाम को नहीं प्राप्त होगा।

जैसी सन्त पर प्रीति हो, और जैसी दीनता हो, फिर उसे एक गाँव का राज्य मिले अथवा पाँच गाँव का राज्य मिले अथवा पचास गाँव का राज्य मिले अथवा सौ गाँव का राज्य मिले अथवा समस्त पृथ्वी का राज्य मिले, तब भी सन्त के आगे जैसा पहले कंगाल था तथा दीन-आधीन रहता था, वैसा का वैसा ही प्रीति से युक्त होकर दीन-आधीन रहे; उसी तरह इन्द्रलोक तथा ब्रह्मलोक का राज्य मिले तो भी सन्त के आगे वैसे का वैसा ही दीन आधीन रहे और **त्यागी हो और वह जैसा पहले गरीब[१] रहता है, और जैसे सभी सन्तों की टहल चाकरी करता है, वैसे की वैसी ही जब अपने में भगवान के जैसे ऐश्वर्य प्राप्त हो जाये, तो भी करता रहे, परन्तु साधु के साथ पैतृक दावा[२] न करें और बराबरीपना न करें। ऐसे जिनके लक्षण हो, उन पर भगवान अति प्रसन्न होते हैं।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥२५॥१५८॥

वचनामृत २६ : 'भक्ति में अन्तरायरूप होते आत्मज्ञानादिक को न्यून करने का'

संवत्* १८७९ के भाद्रपद शुक्ल ११ एकादशी को रात्रि के समय श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि **''जो भगवान का भक्त है, वह तो भगवान तथा भगवान के भक्तों को जो रुचिकर[३] न हो, उसे करें ही नहीं और परमेश्वर को भजने में जो अन्तराय करते हो और वे अपने स्वजन-प्रियजन हों, उनका भी त्याग करें। और भगवान को रुचिकर न हो, ऐसा कोई भी अपना स्वभाव हो तो उसका भी शत्रु की तरह त्याग करें,** परन्तु भगवान से जो विमुख हो, उसका पक्ष न लें; जैसे भरतजी ने अपनी माता[४]

*दि. २८-८-१८२२, बुधवार **१.** नम्र, निरभिमान **२.** समानता, प्रतिद्वन्द्वी **३.** पसंद **४.** कैकेयी

का पक्ष नहीं लिया था । भगवान का जो भक्त हो, उसे तो सभीसे विशेषतः अपने में ही अवगुण दिखाई देता है । **जो दूसरों में अवगुण देखता है और अपने में गुण ठहराता है**[१] **वह तो सत्संगी है तो भी आधा विमुख है। भगवान के भक्त को तो भगवान की भक्ति करने में आत्मज्ञान तथा वैराग्य तथा धर्म; वे यदि अन्तराय करते हों, तो उन्हें भी न्यून**[२] **करके भगवान की भक्ति की ही प्रधानता रखें ।** और यदि भक्ति में सहायरूप होते हो, तब तो वे ठीक हैं । ऐसा समझता है, वह ही भगवान का पूरा भक्त कहलाता है । और जिसे दूसरों का अवगुण आता है और अपने में गुण ठहराता है, वह तो चाहे कितना भी बड़ा हो तो भी उसे कल्याण के मार्ग में विघ्न होता है । जैसे राधिकाजी बहुत बड़ी थीं और भगवान में प्रेम भी अतिशय था, परन्तु जब अपने में गुण माना और श्रीकृष्ण भगवान में अवगुण माना, तब अपने प्रेम में तमोगुण का भाग आया । फिर श्रीकृष्ण भगवान तथा श्रीदामा के साथ झगडा किया। तब श्रीदामा का शाप हुआ, जिससे गोलोक में से गिरकर गूजर[३] के घर में अवतार लिया और भगवान के बिना अन्य पुरुष को पति बनाया; ऐसा अति बड़ा लांछन[४] लगा । और जो श्रीदामा था, उसने भी अपने में गुण माना और राधिका में अवगुण देखा तो राधिका का शाप पाकर दैत्य होना पड़ा। धाम में से गिरने की यह रीति नहीं है और जो गिरे हैं वे तो भगवान की इच्छा ऐसी थी, तो भी भगवान ने ऐसा दिखाया कि **'राधिकाजी जैसा बड़ा हो और वह अपने में गुण मानकर भगवान के भक्त का अवगुण लेता है, तो वह भी गिर जाता है, तो दूसरे की क्या गणना ?' इसलिए भगवान का भक्त हो, वह तो सभी सत्संगियों का गुण ही लें और अपना तो अवगुण ही लें ।** जो ऐसा समझता हो, और बुद्धि थोड़ी हो, तो भी उसका सत्संग दिन–प्रतिदिन बढ़ता जाता है और इसके बिना तो बुद्धि बहुत हो, तो भी दिन–प्रतिदिन सत्संग में से पीछे हटता जाता है और आखिरकार निश्चित विमुख हो जाता है। यह रीति तो सभी जगह है कि जो चाकर हो अथवा शिष्य हो, उसे राजा अथवा

१. प्रस्थापित करता है । २. गौण ३. पशुपालन करनेवाली आहीर की एक जाति । ४. कलंक

गुरु हो, वे जैसे डांटकर कहने लगे उसमें जो सही ग्रहण करता है, तो उस पर राजा तथा गुरु को अतिशय स्नेह होता है। जिसे सीख की बात कहे, वह उसे उल्टा ग्रहण करता है, तो उस पर स्नेह नहीं होता है। इसी तरह भगवान की भी रीति है कि जिसे सीख की बात कहे और सही समझता हो, तो उस पर स्नेह होता है परन्तु जो उल्टा समझता है, उस पर नहीं होता है।'

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥२६॥१५९॥

वचनामृत २७ : 'मलिन वासना न रहे तब बड़े सन्त प्रसन्न होते हैं, उसका'

संवत्* १८७९ के कार्तिक शुक्ल ११ एकादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में दक्षिणाभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कण्ठ में गुलदावदी के सफ़ेद तथा पीले पुष्प के हार विराजमान थे, पाग में दोनों तरफ तुर्रे लटक रहे थे और अपने मुखारविन्द के समक्ष परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज ने मुक्तानन्द स्वामी से प्रश्न पूछा कि "आपको क्रोध होता है, तब कौनसे निमित्त से होता है? और कितना निमित्त हो तब क्रोध होता है? और हमें तो एक से लाख रुपिये तक का बिगाड़ करे तो भी अपने लिए क्रोध नहीं आता है। किन्तु जब धर्म का लोप करता हो, अथवा बलवान हो, वह गरीब को सताता हो, अथवा अन्याय का पक्ष लेता हो, तब उस पर हमें दूसरे के लिए तनिक सी क्रोध की लहर आती है, परन्तु अपने लिए तो लेशमात्र क्रोध नहीं आता है। और किसीके लिए आता है वह भी क्षणमात्र भी नहीं रहता और अँटी भी नहीं पड़ती; उस तरह आपको कैसे आता है और कैसे टलता है?" फिर मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि "किसी पदार्थ के योग

*दि. २५-११-१८२२, सोमवार

से और किसीकी दुष्टता दिखाई दे, उसके योग से उस पर क्रोध होता है, लेकिन तत्काल निवृत्त हो जाता है ।''

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''आपको ऐसे विचार का बल रहता है वह किसके कारण रहता है ?'' तब मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि ''एक तो भगवान के माहात्म्य का विचार करने से ऐसा समझ में आता है कि 'जिससे भगवान नाराज हो, ऐसा स्वभाव नहीं रखना है ।' और दूसरा शुकजी तथा जड़भरत जैसे सन्त का मार्ग देखकर ऐसा विचार रहता है कि साधु में ऐसा अयोग्य स्वभाव नहीं होना चाहिए ।'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''काम-क्रोधादि के जोर को हटायें ऐसा जो विचार है वह तो गुण से पर है, वह आपके जीव में रहता है । और इस तरह काम-क्रोधादिक गुण को हटानेवाला जो जोर है, वह पूर्वजन्म का संस्कार है । और आपका इतना तो हमें दिखाई देता है कि 'आपको जिन-जिन मायिक पदार्थों का योग होता है, उनके पेच में प्रथम तो आ जाते हैं परन्तु आखिरकार उसके बन्धन में नहीं रह सकते, बन्धन तोड़कर निकल तो जाते हैं ।''

तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''प्रथम आवरण[१] हो जाता है ऐसी अपरिपक्वता रहती है, वह किस योग[२] से रहती है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''देश-कालादिक जो आठ हैं, उनमें जैसा पूर्व संस्कार में जोर[३] है, वैसा ही एक-एक में है । इसलिए जब उसका योग होता है तब जरूर बन्धन होता है और पूर्व के संस्कार का जोर रहने नहीं देता है । यदि संस्कार में लिखा उतना ही सुकृत-दुष्कृत हो तो वेद, शास्त्र, और पुराण; उनमें विधि-निषेध के जो भेद कहे हैं कि 'यह करें और यह न करें,' वे सभी मिथ्या हो जायें; किन्तु बड़ों ने किये शास्त्र तो मिथ्या होते ही नहीं । जो जय-विजय थे, उन्होंने यदि अयोग्य क्रिया की, तो जिस स्थान पर काल, कर्म और माया नहीं है, ऐसा जो भगवान का धाम है वहाँ से च्युत हो गए । यदि प्रह्लाद ने नारदजी को

१. क्रोधादिक दोषों का लेश, बाधा २. कारण से ३. बल, प्रधानता

प्रसन्न किया तो प्रहलाद को देशकालादिक अशुभ थे, तब भी विघ्नकारी नहीं हो सके और यदि सनकादिक को कोपायमान किये तो देशकालादिक शुभ थे तो भी जय-विजय च्युत हो गए। इसलिए **जिसे कल्याण की इच्छा हो, उसे तो जैसे महापुरुष प्रसन्न हो वैसा ही करें। वे महापुरुष भी तभी प्रसन्न होते हैं, जब किसी प्रकार से हृदय में मलिन वासना न रहे। जिसे गरीब पर क्रोधादिक का संकल्प होता हो, तो उसे बड़े पर भी होता है और अपने इष्टदेव पर भी क्रोधादिक का मलिन संकल्प होता है। इसलिए जिसे कल्याण की इच्छा हो, वे किसी पर भी मलिन संकल्प न करें।** यदि किसी पर मलिन संकल्प करता है तो उसे भगवान के भक्त तथा भगवान पर भी मलिन संकल्प हो जाता है। हमसे तो एक गरीब भी दुःखी हुआ तो हमारे अन्तर में ऐसा विचार आता है कि 'भगवान सर्वान्तर्यामी हैं, वे एक स्थान पर रहकर सभीके अन्तर को जानते हैं। इसलिए जिसे हमने दुःखी किया है, उसीके अन्तर में विराजमान होंगे, तब हमने भगवान का अपराध किया।' ऐसा समझकर उसका पैर छूकर उसे कुछ जरूरत हो वह देते हैं, परन्तु जिस प्रकार से वह प्रसन्न हो जाये, वैसा करते हैं। और फिर ऐसा विचार करके देखा कि जो अतिशय त्याग रखता है अथवा दया रखता है, उससे भगवान की भक्ति नहीं होती है; तब उपासना का भंग होता है। पूर्वकाल में जो-जो अतिशय त्यागी हुए हैं, उनके मार्ग में उपासना का नाश हो गया है। इसलिए हमने ऐसा विचार करके **परमेश्वर की उपासना रखने के लिए त्याग का पक्ष गौण करके भगवान के मन्दिर बनवाये है। उनमें यदि थोड़ा त्याग रहेगा तो भी उपासना बनी रहेगी, तो उससे अनेक जीवों के कल्याण होंगे।** जिसे भगवान की भक्ति करनी हो, उसे तो ढूंढिया-नास्तिक[१] की तरह दया रखने से कैसे ठीक रहेगा? उसे तो परमेश्वर के लिए पुष्प लाने चाहिए, तुलसी लानी चाहिए, भाजी-तरकारी लानी चाहिए, ठाकुरजी के लिए बाग-बगीचा बनवाना चाहिए, मन्दिर करवाने चाहिए। इसलिए जो अतिशय त्याग रखके और अतिशय दया रखकर मुट्ठी

१. केवल कर्मवादी नास्तिक पन्थ के अनुयायी-जिसे प्रादेशिक भाषा में 'ढुंढिया' कहते है।

बाँधकर जो बैठा रहता है, उससे भगवान की भक्ति नहीं होती है। और जब भक्ति से रहित हो जाता है तब भगवान की उपासना का नाश हो जाता है, इससे आगे जाकर अन्ध परम्परा शुरु होती है। इसलिए हमने मन्दिर बनवाये हैं; उसे भगवान की अखण्ड उपासना रखाने के लिए बनवायें हैं। **जो उपासक हो, वह अपने धर्म से भ्रष्ट होता ही नहीं है। इसलिए अपने-अपने धर्म में रहकर भगवान की भक्ति-उपासना करें, यह हमारा सिद्धान्त है।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥२७॥१६०॥

वचनामृत २८ : 'जीवनडोरी का - दयालु प्रकृति का'

संवत्* १८७९ के फाल्गुन शुक्ल २ द्वितीया के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवास स्थान पर वेदी पर पश्चिम की ओर मुखारविन्द किये विराजमान थे। उन्होंने श्वेत खेस पहना था, सफ़ेद चद्दर ओढ़ी थी, मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब दवे प्रागजी ने कहा कि ''श्रीमद् भागवत जैसा कोई ग्रन्थ नहीं है।'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''श्रीमद् भागवत तो अच्छा ही है, लेकिन स्कन्दपुराण में श्रीवासुदेवमाहात्म्य है, उसके जैसा कोई ग्रन्थ ही नहीं है; क्योंकि उन ग्रन्थ में धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति तथा अहिंसा का अतिशय प्रतिपादन किया है।'' ऐसा कहकर फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''वाल्मीकि रामायण में तथा हरिवंश में हिंसा का अतिशय प्रतिपादन किया है। रघुनाथजी भी क्षत्रिय की प्रकृति से रहे हैं। और रघुनाथजी में शरणागत वत्सलता तो थी, परन्तु जो शरणागत हो और यदि वह जरा भी अपराध में आया हो, तो उसका तत्काल त्याग कर देते हैं; जैसे सीताजी पर थोड़ा-सा लोकापवाद आया, तो वे अतिप्रिय थीं तो भी तत्काल त्याग कर दिया।'' तब मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि ''ऐसी तो रामानन्द स्वामी की प्रकृति थी।'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''हमारी

*दि. १३-२-१८२३, गुरुवार

प्रकृति तो ऐसी नहीं है; हमें तो परमेश्वर के भक्त पर अतिशय दया रहती है। और पाण्डवों में भी अर्जुन की प्रकृति बहुत दयालु थी । पुरुषमात्र में तो रामचन्द्रजी तथा अर्जुन, उनके जैसा कोई पुरुष नहीं है । सीताजी तथा द्रौपदी, उनके जैसी स्त्रीमात्र में कोई स्त्रियाँ नहीं हैं । अब हम हमारी जो प्रकृति है, उसे कहते हैं कि हमारा स्वभाव दयालु है, तब भी जो हरिभक्त का द्रोही हो उसका तो हमें अभाव आता है । यदि कोई हरिभक्त का निकृष्ट[१] बोला हो, और उसे यदि मैं सुन लूँ, तो उससे मैं बोलने की इच्छा बहुत करूँ तो भी बोलने का मन ही नहीं होता । और **जो भगवान के भक्त की सेवा-चाकरी करता है, उस पर तो हमें अतिशय प्रसन्नता होती हैं ।** और हमारी प्रकृति ऐसी है कि 'थोड़ी सी बात में नाराज भी नहीं होता हूँ,' और 'थोड़ी सी बात में प्रसन्न भी नहीं होता हूँ' और जब जिस पर प्रसन्न होने का या नाराज होने का स्वभाव बहुत दिनों तक देखता हूँ, तब प्रसन्नता और नाराजगी होती है, परन्तु किसीके कहने-सुनने से किसी पर प्रसन्नता या नाराजगी नहीं होती है । जिसका जितना गुण मेरे मन में अवगत होता है, उसका उतना गुण आता है । मुझे तो यही अंग हैं कि **''यदि भगवान का यथार्थ भक्त हो, तो मैं भी भगवान के उस भक्त का भी भक्त हूँ और मैं भगवान के भक्त की भक्ति करता हूँ ।'' यही मुझमें बड़ा गुण है । और इतना गुण जिसमें न हो तो उसमें किसी भी प्रकार की बड़ाई शोभा नहीं देती है ।**

भगवान के भक्त का जिसे-जिसे अभाव आया है, वे अतिशय बड़े थे तो भी अपनी पदवी से च्युत हो गए हैं। जिसका शुभ[२] होता है, वह भी भगवान के भक्त की सेवा से ही होता है और जिसका अनिष्ट होता है, वह भी भगवान के भक्त के द्रोह में से ही होता है । और फिर **जीव के लिए भगवान को प्रसन्न करने का उपाय तो, मन, कर्म, वचन से भगवान के भक्त की सेवा करना यही है, और भगवान के भक्त का द्रोह करना, यही भगवान**

१. निन्दित शब्द, न्यून २. कल्याण, श्रेय

को नाराज करने का उपाय है । इसलिए हमारा तो यही सिद्धान्त है कि ''भगवान की प्रसन्नता हो और भगवान के भक्त का संग हो तो भगवान से अनन्तवर्षों तक दूर रहे तो भी मन में कुछ शोक नहीं होता है । यदि भगवान के समीप रहते हो और यदि भगवान की प्रसन्नता न हो, तो उसे मैं अच्छा नहीं समझता ।' सभी शास्त्रों का भी यही सार है कि 'भगवान की प्रसन्नता जिसमें रहे वैसा ही करें ।' भगवान की प्रसन्नता जिसमें हो, वैसा जो नहीं करता है, उसे भगवान के मार्ग से गिरा हुआ समझें । जिसे भगवान तथा भगवान के भक्त का संग है, भगवान की प्रसन्नता है, और वह यदि मृत्युलोक में है, तो भी भगवान के धाम में ही है; क्योंकि जो सन्त की सेवा करता है तथा भगवान की मर्जी में रहा है, वह भगवान केसमीप जाकर ही निवास करेगा । यदि भगवान के धाम में है और भगवान की प्रसन्नता नहीं है तथा भगवान के भक्त पर ईर्ष्या है, तो वह भक्त भगवान के धाम में से भी जरूर नीचे गिर जायेगा । **इसलिए हमें तो भगवान की प्रसन्नता हो इसलिए जनम-जनम तक भगवान के भक्त की ही सेवा करनी है, और जैसा हमारा निश्चय है वैसा ही निश्चय आप भी करें ।**'' फिर मुक्तानन्द स्वामी आदिक जो सभी हरिभक्त थे, उन्होंने हाथ जोड़कर कहा कि ''हे महाराज ! हमें भी यही निश्चय रखना है ।'' ऐसा कहकर सभी हरिभक्तों ने विनती सहित श्रीजीमहाराज के चरण स्पर्श किए । तब पुनः श्रीजीमहाराज बोले कि ''यह वार्ता जो हमने कही है, वह कैसी है ? तो वेद, शास्त्र, पुराण आदिक जो-जो कल्याण के लिए पृथ्वी पर शब्द मात्र हैं, उन सबका हमने श्रवण करके उनका सार निकालकर **यह वार्ता कही है । वह परम रहस्य है और सार का भी सार है । पूर्वकाल में जिसे-जिसे मोक्ष की प्राप्त हुई है, और अब जो-जो प्राप्त होंगे और वर्तमान में जो-जो मोक्ष के मार्ग पर चल रहे हैं, उन सभीके लिए यह वार्ता है, वह जीवनडोरीरूप है ।**''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥२८॥१६१॥

वचनामृत २९ : 'भगवान में आसक्तिवाले के लक्षणों का'

संवत्* १८७९ के फाल्गुन शुक्ल ८ अष्टमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में उत्तराभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखाविन्द के समक्ष मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि "**श्रीकृष्ण भगवान के स्वरूप में जिस भक्त का चित्त अति आसक्त हुआ हो, उसके ऐसे लक्षण होते हैं कि** 'जो स्वयं मार्ग में चलकर अतिशय थक गया हो और बैठे होने की भी शरीर में शक्ति न रही हो और ऐसे समय में यदि भगवान की वार्ता का कोई प्रसंग निकलता है, तो ऐसा लगता है कि एक भी कोस नहीं चला है, ऐसा सावधान होकर वह वार्ता करने-सुनने में अतिशय तत्पर हो जाता है। अथवा किसी भी रोगादिक से पीड़ा होती हो, या चाहे कैसा भी अपमान हुआ हो और उसी समय में उस भगवान की वार्ता सुने तो तत्काल सभी दुःखों से रहित हो जाता है। और फिर चाहे कैसी भी राज्य-समृद्धि को प्राप्त करके उनमें बौरा[१] हो गया हो-ऐसा प्रतीत होता हो, और जिस क्षण उन भगवान की वार्ता सुनता है, तब उसी क्षण लगता है कि उसे किसीका संग ही नहीं हुआ है। ऐसा होकर वह भगवान की वार्ता सुनने में सावधान हो जाता है।' इस प्रकार के लक्षण जिसमें हो, उसे उन भगवान में दृढ़ आसक्ति हुई है-ऐसा जानें।"

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि "उन भगवान में दृढ़ आसक्ति किससे होती है ?" तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "या तो पूर्वजन्म का ऐसा अति बलवान संस्कार हो अथवा जिस सन्त की भगवान में ऐसी दृढ़ आसक्ति हो, उसे सेवा करके प्रसन्न करें; इन दोनों से ही भगवान में ऐसी दृढ़ आसक्ति होती है, किन्तु इसके अलावा दूसरा उपाय नहीं है।"

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥२९॥१६२॥

*दि. १८-२-१८२३, मंगलवार

१. विक्षिप्त

वचनामृत ३० : 'सुवर्ण और स्त्री; बन्धन न करे, उसका'

संवत्* १८७९ के द्वितीय चैत्र शुक्ल ९ नवमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के बरामदे में गद्दीतकिया पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत खेस पहना था, श्वेत चद्दर ओढ़ी थी, काले पल्ले की धोती[१] सिर पर बाँधी थी, श्वेत पुष्प का हार पहना था, सफेद फूलों का तुर्रा पाग में लटक रहा था और अपने मुखारविन्द के सन्मुख साधु तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''श्रीमद् भागवत आदिक जो सत्शास्त्र हैं, वे सत्य हैं और उन शास्त्रों में जो कहा गया है, वह वैसा ही होता है, परन्तु दूसरी तरह से नहीं होता। देखिए तो, श्रीमद् भागवत में सुवर्ण में कलि का निवास कहा है, तो वह सुवर्ण हमें देखना भी अच्छा नहीं लगता। जैसा बन्धनकारी सोना है, वैसा ही बन्धनकारी रूप भी है; क्योंकि, जब रूपवती स्त्री हो, वह जब सभा में आती है, तब कैसा भी धीरजवान हो, उनकी भी दृष्टि उसके रूप में आकृष्ट हुए बिना नहीं रहती। **इसलिए सोना और स्त्री; ये दोनों अति बन्धनकारी हैं। इन दोनों पदार्थों का बन्धन तो तब नहीं होता, जब प्रकृतिपुरुष से पर जो शुद्ध चैतन्य ब्रह्म है, उन्हें ही एक सत्य समझता हो तथा उन ब्रह्म को ही अपना स्वरूप मानता हो और ब्रह्मरूप होकर परब्रह्म ऐसे जो श्रीकृष्णभगवान, उनका भजन करता हो और उन ब्रह्म से[२] समीप जो प्रकृति और प्रकृति के कार्यमात्र, उन्हें असत्य जानता हो, नाशवन्त जानता हो, तुच्छ समझता हो, मायिक जो नामरूप है उनमें अतिशय दोषदृष्टि रखता हो तथा उन समस्त नामरूप में अतिशय वैराग्य हो जाये, उन्हें सोना और स्त्री बन्धन नहीं करता है, दूसरों को तो जरूर बन्धन करता है।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥३०॥१६३॥

---

*दि. १९-४-१८२३, शनिवार **१.** पतली (महीन) धोती **२.** उत्तरवर्ती

वचनामृत ३१ : 'मनन द्वारा ब्रह्म का संग करने का'

संवत्* १८८० के श्रावण शुक्ल ४ चतुर्थी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवास स्थान पर वेदिका पर गद्दी-तकिया बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, काले पल्ले की धोती[१] मस्तक पर बाँधी थी और अपने मुखारविन्द के समक्ष परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब प्रागजी दवे के पास श्रीमद् भागवत अन्तर्गत कपिलगीता का कथावाचन करवा रहे थे। फिर कथा की समाप्ति हुई, तब श्रीजीमहाराज परमहंसों के प्रति बोले कि "**सर्व कारण के भी कारण तथा अक्षरातीत एवं पुरुषोत्तम ऐसे जो वासुदेव भगवान हैं, वे महापुरुषरूप से महामाया में वीर्य को धरते हैं; वह पुरूष अक्षरात्मक है, मुक्त है; और उसे ब्रह्म कहते हैं।** और उस पुरुष ने माया में वीर्य धरा तब उस माया द्वारा प्रधानपुरुष द्वारा वैराजपुरुष उत्पन्न हुए, तब वे वैराजपुरुष उन-उन पुरुष के पुत्र कहलाते हैं। जैसे इस जगत में कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादिक जो प्राकृत मनुष्य हैं और उनकी स्त्री से उसका पुत्र होता है, उस तरह वे वैराजपुरुष होते हैं। ऐसे जो वैराजपुरुष, वे इस जीव के जैसे ही हैं तथा उनकी क्रिया भी इस जीव के जैसी ही है। और उस वैराजपुरुष का द्विपरार्धकाल तक का आयुष्य है। इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयरूप उनकी तीन अवस्थायें हैं; जैसे जीव की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति; ये तीन अवस्थायें हैं। उस वैराजपुरुष के विराट, सूत्रात्मा, अव्याकृत; ये तीन देह हैं। वे देह अष्टावरण से युक्त हैं, वे देह महत्तत्वादिक जो चौबीस तत्त्व हैं उनके द्वारा हुए हैं। तो उस विराट में इन्द्रियों, अन्तःकरण और देवताओं ने प्रवेश किया और उसे क्रियान्वित करने लगे, और विराट का जीव भी अन्दर था तो भी वह विराट उठा[२] नहीं। जब क्षेत्रज्ञ ऐसे जो वासुदेव भगवान ने

*दि. १०-८-१८२३, रविवार **१.** पतली (महीन) धोती

२. स्वयं जरा भी क्रिया करने में समर्थ न हुआ, क्रियान्वित नहीं हुआ।

पुरुषरूप से उसमें प्रवेश किया तब वह विराटदेह उठा और वे वैराजपुरुष अपनी क्रिया[१] में समर्थ हुए । और वे ही भगवान इस जीव को प्रकाशित करने के लिए सुषुप्तिरूप माया से पर रहते हुए इस जीव में साक्षीरूप से रहे हैं, तो भी जीव को देह, इन्द्रियाँ तथा विषय; उनका संग बहुत हुआ है, इसलिए संगदोष के कारण यह जीव देहादिकरूप हो गया है । तो उनके संग को छोड़कर यह **जीव ऐसा समझे कि 'मेरा स्वरूप तो माया से मुक्त तथा पर ऐसा जो ब्रह्म है, वह है ।' इस तरह निरन्तर मनन करता हुआ ब्रह्म का संग करता है, तब उन ब्रह्म का गुण इस जीव में आता है ।** परन्तु उसने यह वार्ता सुनी हो तो भी निरन्तर स्मृति नहीं रहती है, यह बड़ा दोष है । इस तरह ईश्वर जो वैराजपुरुष और यह जीव, उन सभीके प्रकाशक तो पुरुषरूप से पुरुषोत्तम ऐसे वासुदेव हैं । और वे वैराजपुरुष भी जीव की तरह बद्ध है, वे द्विपरार्ध[२] तक अपना आयुष्य भोगते हैं तब तक बद्ध रहते है और उनका प्रलय होता है तब उसे उन पुरुष का सम्बन्ध साक्षात् होता है । क्योंकि उसका बाप जो पुरुष है वह समर्थ है, तो उसे इतना संभालता है । वैराजपुरुष का माया से सम्बन्ध रहा है । इसलिए प्रलय के अन्त में पुनः माया से उत्पन्न होता है । यह जीव है, वह जैसा स्वयं बद्ध है और असमर्थ है, उसी तरह ही उसका जो बाप है वह भी बद्ध तथा असमर्थ होता है । इसलिए वह बाप पुत्र की क्या सहाय करे ? इसलिए उसे सुषुप्तिरूप माया का सम्बन्ध निरन्तर रहता है, टलता नहीं है । वह तो जब पहले कहा उस तरह निरन्तर अपने प्रकाशक जो ब्रह्म है, उनका मनन द्वारा संग करता है तब टलता है ।

और फिर वे विराटपुरुष भी संकर्षण, अनिरुद्ध तथा प्रद्युम्न की उपासना करते हैं । उनमें प्रलयरूप अवस्था में संकर्षण की उपासना करते हैं, स्थितिरूप अवस्था में प्रद्युम्न की उपासना करते हैं और उत्पत्तिरूप अवस्था में अनिरुद्ध की उपासना करते हैं । वे संकर्षणादि तीन जो हैं वे वासुदेव भगवान के सगुण रूप हैं । उनकी उपासना के बल से जो वैराजपुरुष हैं, वे उत्पत्ति, स्थिति और

१. क्रिया करने २. काल

प्रलयरूप क्रिया में सामर्थ्य को प्राप्त होते हैं । और जब तक उन तीनों की उपासना करते हैं, तब तक उसे उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयरूप जो माया का सम्बन्ध है, वह टलता नहीं है, और जब वे निर्गुण ऐसे जो वासुदेव भगवान हैं, उनकी उपासना करते हैं तब वह वैराजपुरुष माया का त्याग करके ब्रह्मरूप होता है। जैसे यह जीव है वह ब्रह्मादिक देवरूप भगवान की उपासना करता है, तब धर्म, अर्थ, कामरूप फल को प्राप्त होता है और जब भगवान के अवतार जो रामकृष्णादिक हैं, उनकी उपासना करता है, तब ब्रह्मरूप होता है और उसकी मुक्ति होती है; उस तरह उन विराटपुरुष को भी हैं । और उन वैराजपुरुष द्वारा अवतार होते हैं, ऐसा शास्त्र में कहा है, उसका तो ऐसा समझे कि 'वे जो वासुदेवनारायण हैं, वे पुरुषरूप से वैराजपुरुष में आकर विराजमान रहते हैं तब अवतार कहे जाते है ।' **इसलिए वे सभी अवतार तो वासुदेव भगवान के ही हैं ।** और वे वासुदेव भगवान जब प्रतिलोमरूप से उस वैराजपुरुष से अलग हो जाते हैं तब तो केवल वैराजपुरुष से अवतार होना सम्भव ही नहीं है। इसलिए उससे[१] अवतार तो उसमें[२] वासुदेव ने प्रवेश किया है, इसलिए कहे है । और उसमें[३] वासुदेव जो क्षेत्रज्ञ है, उन्होंने प्रवेश नहीं किया था तब वे वैराजपुरुष अपनी क्रिया करने में भी समर्थ नहीं हुए थे । पूर्व में जो पुरुष कहे हैं, वे माया में गर्भ धारण करते हैं, तब प्रधानपुरुष द्वारा एक वैराजपुरुषरूप पुत्र उत्पन्न होता है और उसी माया में से अनेक प्रधानपुरुषों द्वारा दूसरे भी बहुत से ऐसे वैराजपुरुषरूप ब्रह्माण्ड होते हैं । **वे पुरुष तो निरन्न हैं, मुक्त हैं, ब्रह्म हैं और माया के कारण हैं । वे माया में लोमरूप से रहते हैं तो भी उन्हें माया का बाध नहीं होता और माया में उन्हें भोग की इच्छा नहीं हैं; वे तो स्वयं ब्रह्मसुख से सुखी हैं एवं पूर्णकाम हैं ।** जो वैराजपुरुष ईश्वर हैं, वे माया के भोगों को भोगकर प्रलयकाल में माया का त्याग करते हैं । जो जीव है, वह तो माया के भोगों को भोगकर दुःखी होता हुआ माया में ही लीन हो जाता है ।''

१. वैराजपुरुष से । २. वैराजपुरुष में । ३. वैराजपुरुष में ।

तब शुकमुनि ने पूछा कि ''पुरुषोत्तम वासुदेव हैं, वे पुरुषरूप से अनेक ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय के कर्ता हैं। इसलिए पुरुषरूप से ही बहुधा शास्त्र में पुरुषोत्तम को कहे गए है, तब पुरुष में और वासुदेव में कितना भेद है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जैसे इस जीव में तथा वैराजपुरुष ईश्वर में भेद है । और फिर जैसे ईश्वर में तथा पुरुष में[१] भेद है, उस तरह पुरुष एवं पुरुषोत्तम ऐसे जो वासुदेव भगवान हैं, उनमें ऐसा अधिकतर भेद है । और पुरुषोत्तम वासुदेव तो सभीके स्वामी हैं । और **ऐसे अक्षरात्मक पुरुष ब्रह्मरूप बहुत से हैं, वे तो वासुदेव के चरणारविन्द की उपासना करते हैं और स्तुति करते हैं । इस प्रकार पुरुषोत्तम, पुरुष, ईश्वर, जीव और माया ये पाँच भेद अनादि हैं ।** तो इस प्रकार की वार्ता हमने बहुत बार की है, परन्तु इसका मनन करके अच्छी तरह से अपने अन्तर में निश्चित[२] नहीं करते हैं, इसलिए शास्त्र के शब्द को सुनकर समझ में ठिकाना नहीं रहता है और यदि यथार्थरूप से दृढ़ता की हो, तो उनकी समझ उन शब्द को सुनने से कभी भी बदलती नहीं है । इसलिए इस वार्ता का अच्छी तरह से[३] विचार करें और लिखिए ।'' इस प्रकार से श्रीजीमहाराज ने यह वार्ता कही है, उसे लिखी है ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥३१॥१६४॥

वचनामृत ३२ : 'थूहर के पेड़ का - निर्विघ्न भक्ति का'

संवत्* १८८० के श्रावण शुक्ल ५ पञ्चमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवास स्थान पर विराजमान थे । श्रीजीमहाराज ने अंग पर सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, सिर पर काले पल्ले की धोती[४] बाँधी थी, कण्ठ में पुष्पों के हार विराजमान थे तथा कानों पर पुष्प के गुच्छ विराजमान थे, मस्तक पर पुष्पों के तुर्रे विराजमान थे

*दि. ११-८-१८२३, सोमवार

१. प्रकृतिपुरुष में २. दृढ़ता ३. बहुत ही ४. पतली (महीन) धोती

और अपने मुखारविन्द के समक्ष परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज समस्त हरिभक्तों के प्रति बोले कि "इस संसार में अपने कुटुम्बीजनों का सम्बन्ध है, वह तो जैसे थूहर का पेड़ हो, अथवा बरगद या पीपल की डाली हो, उसे एक स्थान से काटकर दूसरे स्थान पर रोप दिया जाये तो उगकर वृक्ष हो जाती है, और आम या नीम हो और उसे एकबार काट दिया तो दूसरी बार नहीं लगता । उस तरह कुटुम्बी के बिना दूसरे का जो सम्बन्ध है, वह तो आम के वृक्ष के समान है, उसे एकबार काट दिया, तो फिर से नहीं लगता और **कुटुम्बियों का सम्बन्ध तो थूहर तथा बरगद के वृक्ष जैसा है, उसे काट दिया हो तो भी धरती में रहा रहा भी फलित हुए बिना नहीं रहता ।** इसलिए कुटुम्बी का वह सम्बन्ध तो, तब टलता है जब स्थूल, सूक्ष्म और कारण; इन तीन देहों से भिन्न ऐसा जो इस देह में रहनेवाला जीवात्मा है, उसे अपना स्वरूप जानकर, उसमें भगवान की मूर्ति को धारण करके जाति, वर्ण, आश्रम के मान को छोड़कर केवल भगवान के स्मरण में तत्पर हो जाये, तब कुटुम्बी का सम्बन्ध भली भाँति टलता है; इसके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है ।

और फिर **जीव का जो कल्याण होता है तथा जीव माया को तैरकर ब्रह्मस्वरूप होता है, उसका कारण तो पुरुषोत्तम ऐसे जो वासुदेव भगवान हैं, उनके प्रत्यक्ष स्वरूप का ज्ञान, ध्यान, कीर्तन और कथादिक ही हैं ।** उससे ही यह जीव माया को तैर जाता है और अति महत्ता को प्राप्त होता है और भगवान का जो अक्षरधाम है, उसे प्राप्त होता है । आत्मनिष्ठा, वैराग्य और धर्म, वे तो भगवान की भक्ति में सहायरूप उपकरण हैं, परन्तु भगवान की भक्ति के बिना अकेले वैराग्य, आत्मनिष्ठा तथा धर्म, वे जीव को माया तैरने के साधन नहीं हैं । यदि अतिशय धर्म, आत्मनिष्ठा और वैराग्य न हो, और अकेली भगवान की भक्ति हो तो भी उस जीव का कल्याण होता है, और माया को तैर जाता

है, इतना धर्मादिक से भक्ति में विशेष है। तो भी धर्मादिक अंग की सहायता हो तो उस भक्ति में किसी प्रकार का विघ्न नहीं होता है। यदि धर्मादिक अंगों की सहायता न हो तो विषम देशकालादि से भक्ति में विघ्न जरूर होता है। इसलिए धर्मादिक अंग सहित भक्ति करें। और इसी तरह से भक्ति करनेवाला जो भक्त है, उसे भी यदि अशुभ देश, काल, क्रिया और संग में प्रवृत्ति हो जाये तो भगवान का भक्त हो, उसका भी अन्तर मलिन हो जाता है और उसके स्वभाव[१] का ठिकाना नहीं रहता। इसलिए अशुभ देश, अशुभ काल, अशुभ क्रिया तथा अशुभ संग का त्याग करके शुभ देश, शुभ काल, शुभ संग और शुभ क्रिया में सदा प्रवृत रहें, परन्तु अशुभ देशादिक का संग करे ही नहीं।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥३२॥१६५॥

वचनामृत ३३ : 'निष्कामी वर्तमान का'

संवत्* १८८० के श्रावण कृष्ण १३ त्रयोदशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवासस्थान पर पलंग पर गद्दी-तकिया बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज सभी सन्तों तथा सभी हरिभक्तों के प्रति ऐसा कहने लगे कि ''पहले हम हमारे अंग[२] की बात कहते हैं। बाद में आप सभी ने जिस प्रकार से अपना-अपना मोक्ष माना हो, तथा हम इस प्रकार का बर्ताव करेंगे तो इस लोक में और परलोक में भगवान हम पर प्रसन्न रहेंगे, ऐसा जो माना हो उसे कहिए।'' ऐसा सबको कहकर श्रीजीमहाराज अपने अंग की बात करने लगे कि **''हमें तो जिस पदार्थ में प्रीति दिखाई दे, तो उसका जब**

*दि. ३-९-१८२३, बुधवार

१. रुचि-संस्कार का

२. धर्म, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, आत्मनिष्ठादिक साधनों में से किसीकी प्रधानता अथवा उनमें अभिरुचि।

त्याग करते हैं तब सुख होता है । भगवान के भक्त के सिवा जो मनुष्यमात्र हैं अथवा पदार्थमात्र हैं, उनकी यदि मन में स्मृति हुई हो तो उनसे अतिशय दूरी करते हैं, तब सुख होता है । **यदि भगवान का भक्त हो, उसका तो किसी भी प्रकार से हृदय में अभाव आता ही नहीं है ।** हमें तो इच्छा न हो तो भी पञ्चविषय हैं, वे जबरदस्ती से आकर प्राप्त होते हैं, तब भी हम उन्हें स्वीकारते नहीं हैं और पैर से ठुकरा देते हैं । जिस दिन से हमनें जन्म लिया है, उस दिन से लेकर आज दिन तक किसी भी दिन जाग्रत में अथवा स्वप्न में द्रव्य का या स्त्री का अशुभ संकल्प हुआ हो, तो **यह समस्त परमहंसों की कसम है ।** इस तरह से हम सदैव निर्दोष हैं । जो हमारे प्रति दोषबुद्धि करेगा, तो उसे जाग्रत में तथा स्वप्न में अशुभ संकल्प होंगे और उसे देह त्याग करते वक्त बहुत कष्ट होगा । हमारे हृदय में तो एक भगवान के स्वरूप का ही चिन्तन रहता है । ऊपर से तो भगवान का भक्त हो, उनके जीव का श्रेय हो इसलिए एकमेक[१] होकर रहते हैं । **जिस दिन हमारे हृदय में भगवान तथा भगवान के भक्त के सिवा अन्यत्र कहीं भी स्नेह दिखाई देगा तो हम ऐसा मानेगें कि 'हम अपनी स्थिति में से डिग गए ।'** परन्तु हमें ऐसा निश्चय है कि हम ऐसी स्थिति से डिगते ही नहीं । यह हमने हमारा जो अंग था उसे बताया । अब आप सब अपने-अपने अंग की बात कहिए ।'' फिर सभी सन्त तथा सभी हरिभक्तों ने जैसा जिसका अंग था वैसा कहा कि इसलोक में और परलोक में यदि इस तरह के अंग में हम रहेंगे तब हमारे पर भगवान प्रसन्न होंगे; इस तरह कहा। उन सभी हरिभक्तों के अंग का विस्तार है कि किसीने तो भगवान के बिना अन्यत्र वैराग्य का कहा, और किसीने आत्मनिष्ठा का कहा; किसीने भगवान में प्रीति होने का कहा; किसीने धर्म में रहने की बात कही, इस तरह से बहुत प्रकार से कहा, लेकिन श्रीजीमहाराज ने मन में जो निश्चित करके रखा था, उसे किसीने नहीं कहा ।''

१. मिलझुलकर

तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "**एक निष्कामी वर्तमान दृढ़ हो, तो उसे इसलोक में तथा परलोक में कहीं पर भगवान से दूरी नहीं रहती और हमें भी उस पर से कभी भी स्नेह कम नहीं होता है ।** और हम यहाँ टिके हैं, वह भी यहाँ के हरिभक्तों की निष्कामी वर्तमान की अति दृढ़ता देखकर टिके हैं । **जिसका निष्कामी वर्तमान दृढ़ हो, तो उससे हम हजार कोस दूर जाते हैं तो भी उसके पास ही रहते हैं और जिसकी उस निष्कामी वर्तमान में शिथिलता है और वह यदि हमारे पास रहता है तो भी वह लाख कोस दूर है । हमें तो निष्कामी भक्त हो, उसके ही हाथ की सेवा प्रिय लगती हैं ।** इसलिए यह मूलजी ब्रह्मचारी हैं, वह अतिशय दृढ़ निष्कामी हैं, तो हमें उनके द्वारा की हुई सेवा अतिशय प्रिय लगती है । दूसरा कोई सेवा चाकरी करता है, तो वह ऐसी प्रिय नहीं लगती । और, हम जो-जो वार्ता करते हैं, उसमें भी निष्कामी वर्तमान का ही अतिशय प्रतिपादन होता है । हम जिस दिन से प्रकट हुए हैं, उसी दिन से निष्कामी वर्तमान को ही अतिशय दृढ़ करते आये हैं । और सभा बैठी हो वहाँ किसी स्त्री अथवा पुरुष को देखने में फर्क पड़ जाये तब वह कितनी भी युक्ति करके छिपायें तो भी हमारे जानने में आये बिना रहता ही नहीं है, तब उस मनुष्य पर हमारी अतिशय नाराजगी हो जाती है और हमारा मुख भी सांवला हो जाता है, और उसका दुःख भी अतिशय होता है, परन्तु मुहब्बत होने से ज्यादा नहीं कहते हैं । और फिर साधुदावा[१] है, इसलिए हृदय में समझ रखते हैं । यदि जो राजा के जैसी रीति हो, तो उसके सिर पर अधिक दण्ड होता । इसलिए सभी बड़े परमहंसों तथा बड़ी-बड़ी स्त्री भक्तों को हमने पहले से ही कह रखा हैं कि 'सत्संग में किसी पुरुष को अथवा किसी स्त्री को कदाचित् यदि निष्कामी वर्तमान में चूक हो जाये तो हमें मत सुनाइए' । क्योंकि जब हम ऐसी बात सुनते हैं तब जैसे बाँझ के घर पुत्र आया हो, और उसकी मृत्यु हो जाये, और उसे जैसा शोक होता है वैसा हमें भी शोक होता है । मन में ऐसा विचार हो जाता है कि 'समस्त सत्संग को छोड़कर चले जायें ।'

---

१. साधुता का धर्म जो दया, अहिंसा आदि रखा है ।

इसलिए जो निष्कामी वर्तमान रखता है वही हमें प्रिय है तथा उसका और हमारा इसलोक-परलोक में दृढ़ मिलाप रहता है ।''

फिर हरजी ठक्कर ने प्रश्न पूछा कि ''यह निष्कामी वर्तमान कौन से उपाय से अतिशय दृढ़ होता है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''उसका एक प्रकार का उपाय नहीं है, उसके तो तीन प्रकार के उपाय हैं । जैसे हाँकनेवाला, बैलों, पहियों, धुरा, जुआ तथा मचिया(१) ऐसे बहुत से सामानों से एक गाड़ी(२) कहलाती है, उस तरह निष्कामी व्रत दृढ़ रखने के लिए अनेक सामग्रियां चाहिए। **उनमें भी तीन उपाय हैं, वे तो अतिशय मुख्य हैं । उनमें एक तो, मन को वश करें** कि मन में अखण्ड ऐसा मनन करें कि 'मैं आत्मा हूँ, देह नहीं हूँ;' और भगवान की कथा श्रवणादिक जो नवधा भक्ति है, उनमें मन को अखण्ड लगा के रखें, परन्तु क्षणमात्र मन को निष्क्रिय(३) न रहने दें । जैसे किसी पुरुष को भूत वश हुआ था, तो जब वह कोई काम नहीं दिखाए, तब उसे खाने को तैयार हो जाता था उस तरह यह मन है, वह भी भूत जैसा है । उसे जब भगवद्-भक्ति में नहीं रखते हैं तब अधर्म के संकल्प करता है, तब उस भूत की तरह जीव को खाने को तैयार हुआ कहलाता है । इसलिए मन को अखण्ड भगवान की कथा कीर्तनादिक में जुटा के रखें, तभी वह मन वश हुआ कहलाता है । **दूसरा उपाय यह है कि प्राण को नियम में रखें ।** उसे जैसे भगवान ने गीता में कहा है कि 'आहार-विहार युक्त रखें, परन्तु खाने की अतिशय लोलुपता न रखें ।' इस प्रकार से रहे तब प्राण नियम में हुआ कहलाता है । यदि प्राण को नियम में न किया हो तो खाने की मन में अधिक तृष्णा रहती है, फिर अनन्त प्रकार के जो रस हैं उनमें रसना इन्द्रिय स्वच्छन्दता पूर्वक वेग से प्रवृत्त रहती है, तब दूसरी इन्द्रियाँ वश में की हो, वे भी सब स्वतन्त्र हो जाती हैं इसलिए आहार को नियम में रखकर प्राण को नियम में करें । **तीसरा उपाय यह है कि इस सत्संग में, जिसे-जिसे जो-जो नियम बताए गए हैं, उनमें देह को रखकर देह को नियम में करें । इस प्रकार से इन तीनों**

१. बैल गाड़ी पर बैठने के लिए ऊँचा स्थान । २. बैलगाड़ी ३. खाली, भजन-स्मरण-सेवा रहित ।

उपायों को जो दृढ़ रखता है, उसे निष्कामी वर्तमान अतिशय दृढ़ होता है । उसमें ऐसा न समझे कि 'इस प्रकार से रखना बहुत कठिन है ।' क्योंकि जो साधु ही है, उसे तो ऐसा रखना कुछ कठिन नहीं है । साधु हो वह तो काम, क्रोध, लोभादिक शत्रुओं का बल हो तो भी भगवान को प्रसन्न करने के लिए उनका त्याग करता है, तभी ही वह पक्का साधु कहालाता है । **मनुष्य देह से न हो सके, ऐसा क्या है ? जिसे नित्य अभ्यास रखकर किया जाता है वह होता है ।** जैसे कुएँ के किनारे पर महाकठिन पत्थर रहता है, उस पर नित्य पानी खींचते रहने से नरम डोरी भी उसमें धारी कर देती है; उस तरह जो साधु ही हैं और वे जिस स्वभाव को टालने का नित्य अभ्यास रखेंगे, तो वह स्वभाव कब तक टिकेगा ? वह तो निश्चित ही नाश हो जायेगा । इसलिए जिसे निष्काम व्रत रखना हो, वे कहे ऐसे जो तीन उपाय हैं, उन्हें दृढ़ करके रखें ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥३३॥१६६॥

वचनामृत ३४ : 'तत्त्व जड़ है या चैतन्य ? उसका'

संवत्* १८८० के भाद्रपद शुक्ल १ प्रतिपदा के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वाभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में विराजमान थे । उन्होंने श्वेत धोती पहनी थी, सफेद चद्दर ओढ़ी थी, सिर पर काले पल्ले की धोती[१] बाँधी थी और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और परमहंस दुक्कड़[२]-सरोद लेकर गान कर रहे थे ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''कीर्तन रखिए, प्रश्न-उत्तर करें तो आलस मिटेगी ।'' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज बोले कि ''प्रथम मैं एक प्रश्न पूछता हूँ कि इस जीव में माया के कार्य जो इन्द्रियाँ-अन्तःकरण आदिक चौबीस तत्त्व हैं, वे रहते हैं, तो वे तत्त्व जड़ हैं या चैतन्य हैं ?'' तब परमहंसों ने कहा कि

वच.३४, दि. ५-९-१८२३, शुक्रवार

१. पतली (महीन) धोती २. तबला

''सही में वे तत्त्व चैतन्य तो कहलाते है !'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जब ये तत्त्व चैतन्य हैं तब इस शरीर में जीव है, उसके साथ चौबीस तत्त्वों के भी चौबीस जीव हुए । तो जब इस जीव का कल्याण होगा, वो भी सभीके भाग में बँटा हुआ आयेगा और जो पाप करेगा वो भी सभीके भाग में बँटा हुआ आयेगा । तब सुख-दुःख का जो भोक्तापन तो एक जीव में ही नहीं कहलायेगा और संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण इन तीन प्रकार के जो कर्म हैं, वे भी एक जीव को ही नहीं कहलायेंगे । नारदादिक जो पूर्व में मुक्त हो गए हैं, उनका अपना-अपना एक जीव ही मुक्त हुआ है, परन्तु उनके साथ चौबीस तत्त्वों के जीव तो मुक्त हुए हैं ऐसा नहीं कहा है ।'' इस प्रकार से आशंका करके तत्त्वों को निर्जीव सिद्ध कर दिया । फिर उनमें परमहंसों ने जिस-जिस तरह से उत्तर किये, उन-उन को आशंका करके अप्रमाणित सिद्ध कर दिया । तब फिर किसी भी तरह से परमहंसों से उत्तर नहीं हुआ । फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''लीजिए, इसका उत्तर हम करते हैं कि ये तत्त्व कार्य-कारण भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें कारणरूप जो तत्त्व हैं, वे चैतन्य हैं और कार्यरूप जो तत्त्व हैं, वे जड़ हैं । और यह जीव है, वह स्वयं विशेष सत्ता से हृदय में रहता है और अपनी सामान्य सत्ता से देह, इन्द्रियों, अन्तःकरण में तादात्म्यरूप से मिला है;[१] इसलिए वे देहादिक चैतन्य जैसे दिखते हैं लेकिन वे तो जड़ ही हैं । जब वह जीव भगवान का भक्त होकर भगवान के धाम में जाता है, तब जो जड़ तत्त्व हैं वे पड़े रहते हैं । जो ये चौबीस तत्त्व हैं, वे माया में से हुए हैं; इसलिए मायारूप हैं एवं जड़ हैं । और देह, इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरणरूप से भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं। वह तो जैसे एक पृथ्वी है, वही त्वचा, मांस, मज्जा, अस्थि और स्नायु इन पाँच रूपों में हुई है और करनेवाले की कला से वह काचरूप में भी हुई है, उस तरह यह जो माया है, वह परमेश्वर की इच्छा से देहादिकरूप में भिन्न-भिन्न प्रकार से दिखाई देती है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥३४॥१६७॥

१. अहं बुद्धि से एकरस हुआ है ।

वचनामृत ३५ : 'ज्वार की खान[१] का'
(जीव के कल्याण के लिए चार बातें)

संवत्* १८८० के भाद्रपद शुक्ल ११ एकादशी के दिन रात्रि के पिछले प्रहर में छः घड़ी शेष रही तब श्रीजीमहाराज निद्रा से उठकर श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में ज्वार की खान पर पलंग बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत खेस पहना था, सफ़ेद पिछौरी ओढ़ी थी, श्याम पल्ले की धोती मस्तक पर बाँधी थी ।

फिर परमहंसों तथा हरिभक्तों को बुलवाकर उनके प्रति बोले कि ''आज तो हमें निद्रा बहुत आई, तो उठने का बहुत यत्न किया पर उठ नहीं पाये। उस निद्रा में हमने बहुत विचार किया हैं। उस विचार करने से जो निर्धारित किया है, उसे कहते हैं कि 'मैं, रामानन्द स्वामी के पास आने से पहले भी आत्मा को साक्षात् देखता था और अब भी देखता हूँ। वह आत्मा सूर्य के समान प्रकाश से युक्त है। और इन मेरी इन्द्रियों की सभी क्रियाओं में मुझे आत्मा का क्षणमात्र भी विस्मरण नहीं होता है। परन्तु यह आत्मदर्शन होना बहुत कठिन है; ऐसा आत्मदर्शन तो पूर्व के अनेक जन्मों के सत्संस्कारवाले किसी विरले को होता है। और दूसरा तो उस आत्मा का विचार सौ वर्ष पर्यन्त करता है, तो भी आत्मा का दर्शन नहीं होता है। वह तो कब होता है ? तो जब श्रीकृष्णभगवान की मूर्ति का ध्यान करता है, तब उस आत्मा को देखना, वह कुछ कठिन नहीं है; और भगवान के ध्यान के बिना केवल आत्मा के विचार से आत्मा की प्रतीति होती है या दिखाई देती है, ऐसी तो आशा कोई भी न रखें। और भगवान की उपासना करना, भगवान के चरित्र का गान करना-सुनना, तथा भगवान का नामस्मरण करना तथा अपने-अपने धर्म में रहना, इस तरह से अपने जीव का कल्याण होना यह कुछ कठिन नहीं है, वह तो जैसे जहाज में बैठकर समुद्र को तैरना, ऐसा सुगम मार्ग है। और **आत्मदर्शन से कल्याण करना, वह तो**

*दि. १६-९-१८२३, मंगलवार **१.** गाँवों मे अन्न संग्रह के लिए जमीन में खोदकर विशेषरूप से लेपन करके बनाई हुई कोठी, जो उपरसे बन्द रहती है।

जैसे तुंबा बाँधकर समुद्र तैरने जैसा कठिन मार्ग है । हम जो आत्मज्ञान की वार्ता करते हैं, उनमें तो इतना ही प्रयोजन है कि 'यदि अपनी आत्मा को देह से पृथक् मान ले, तो देह में प्रीति न रह पाये तथा देह के सम्बन्धी में प्रीति न रहे तथा भगवान की भक्ति में कोई विघ्न न हो,' इतना ही प्रयोजन है । परन्तु केवल उससे ही[१] कल्याण हो जायेगा, ऐसा तो माने ही नहीं ।'

और फिर जगत में ऐसी वार्ता है कि 'मन हो चंगा तो कठौती में गंगा' यह बात मिथ्या है । वह तो कैसा भी समाधिनिष्ठ हो या विचारवान हो, और वह भी यदि स्त्रियों के प्रसंग में रहने लगे तो उसका धर्म किसी प्रकार से रहता ही नहीं और चाहे कैसी भी धर्मवाली स्त्री हो, और उसे यदि पुरुष का सहवास होने लगे तो उसका भी धर्म रहता ही नहीं । **इस तरह स्त्री-पुरुष को परस्पर सहवास होने लगे तो भी उनका धर्म रहे, ऐसी तो आशा ही न रखें । तो यह बात तो ऐसी ही है, परन्तु उसमें किसी प्रकार का संशय न रखें ।** इसलिए धर्म में तो कब रहा जाये ? तो परमहंस हो तथा ब्रह्मचारी हो, और वे यदि अपने जो ब्रह्मचर्यादिक नियम कहे हैं, उनमें रहे तो उनसे धर्म में रहा जाता है । स्त्री हो, वह भी यदि अपने-अपने नियम जो कहे हैं, उनमें रहे तो उससे धर्म में रहा जाता है । और दूसरे जो सत्संगी गृहस्थ हैं, वे भी यदि अपने-अपने जो नियम कहे है, उनमें रहे तथा युवा अवस्थावाली जो अपनी माता, बहन और पुत्री हैं, उन के साथ भी एकान्त में न बैठे तथा उनके सामने भी दृष्टि लगाकर न देखें, तब उससे धर्म में रहा जाता है । इस प्रकार से **धर्म में रहना तथा भगवान के स्वरूप की उपासना करना तथा भगवान के अवतार चरित्रों का श्रवण-कीर्तन करना तथा भगवान का नामस्मरण करना; ये चार बातें ही जीव के अतिशय कल्याण के लिए हैं । और ये आप सभी तो मुझे भगवान जानते हैं,** तो हमने जहाँ-जहाँ उत्सव-समैया किये हैं, और जिस स्थान पर परमहंस, ब्रह्मचारी तथा हरिभक्त सत्संगी स्त्री-पुरुष सभी इकट्ठे हुए हो और हमने कीर्तन गान करवाये हो, तथा वार्ता की

१. आत्मदर्शन से ही ।

हो, तथा हमारी पूजा हुई हो; इत्यादिक जो **हमारी चरित्र-लीला है, उन्हें कहें तथा सुनें, तथा उनका मनमें चिन्तन करें। जिसे ऐसा स्मरण अन्तकाल में यदि हो जाये, तो उसका जीव भगवान के धाम को जरूर प्राप्त होता है। इसलिए ऐसे जो हमारे सभी चरित्र, क्रिया तथा नामस्मरण; वे कल्याणकारी हैं।** और इस तरह हमने स्वरूपानन्द स्वामी को वार्ता कही थी। उस वार्ता का जब मन में स्मरण किया, तब देह में जो बीमारी का बहुत दुःख था, वह सब निवृत्त हो गया और परम शान्ति हुई। परन्तु आत्मा को तो वे भलीभांति सहज ही देखते थे, तो भी उससे कोई सिद्धि[१] नहीं हुई। और फिर परोक्ष जो श्रीकृष्ण-रामचन्द्रादिक भगवान के अवतार हैं, उनके जो चरित्र हैं, वे जहाँ-जहाँ कहे हो, उसे भी सुनें और कहें। और इन चार बातों की दृढ़ता होने के लिए हमने श्रीमद् भागवत आदिक आठ ग्रन्थों का अतिशय प्रतिपादन किया है; इसलिए उन ग्रन्थों का श्रवण करें तथा पढें[२] और उन चार बातों की ही वार्ता करें।

और फिर भगवान की मूर्ति की उपासना, भगवान के चरित्र और भगवान का नामस्मरण; इन तीन साधन के बिना केवल धर्म से कल्याण होना, वह तो तुंबा बाँधकर समुद्र को तैर के पार करने जैसा कठिन है। और **भगवान की मूर्ति का आश्रय हो, तथा भगवान के चरित्रों को गाता-सुनता हो, तथा भगवान का नामस्मरण करता हो; तो यदि उसमें धर्म न हो तो वह सिर पर पत्थर रखकर समुद्र पार करने की इच्छा रखता हो ऐसा जानें और उसे चांडाल जैसा जानें।** इसलिए उन चार साधनों से ही जीव का कल्याण होता है, परन्तु उनके सिवा दूसरा कोई साधन नहीं है कि जिससे कल्याण हो जाये। और मुक्तानन्द स्वामी आदिक साधुओं के जो काव्य-कीर्तन हैं, उन्हें गाना और सुनना तथा भगवान के अवतार-चरित्र युक्त ऐसे जो काव्य-कीर्तन हैं, वे यदि दूसरे कवि के हो तो उन्हें भी गाना और सुनना; परन्तु कबीर तथा अखा के जो काव्य-कीर्तन हैं, तथा उनके जैसे जिनके-जिनके काव्य-कीर्तन हो, उन्हें न

१. लाभ २. अध्ययन करें।

गायें तथा सुनें भी नहीं । आप सबको मुझमें विश्वास है, फिर यदि मैं आपको जैसे-तैसे उल्टे मार्ग पर चढ़ा दूँ, तो जैसे सबको कुएँ में ढकेलकर ऊपर से पत्थर की शिला ढक दे तब उसे निकलने की आशा ही नहीं रहती, उस तरह आप भी मेरे वचन के विश्वास से उल्टे मार्ग पर चढ़ जायें तो, इसमें मेरा क्या भला होगा ? इसलिए यह वार्ता आपके कल्याण की है, उसे मैंने आपको स्नेह से कहा है, इसलिए आप सभी, अब इसी तरह से समझकर दृढ़ता से रहें[१] ।'' ऐसा कहकर फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''यदि आप सभीने यह हमने जो वार्ता कही है, उस तरह से रहने का निश्चय किया हो तो, एक-एक आकर मेरा चरण-स्पर्श करके कसम खाइए और ऐसी प्रतिज्ञा करिए कि ''हमें दृढ़तापूर्वक ऐसा ही बर्ताव करना है ।'' तत्पश्चात् सभी परमहंस तथा सत्संगी प्रसन्नतापूर्वक उठकर श्रीजीमहाराज के चरणकमल का स्पर्श करके, नमस्कार करके पुनः बैठ गए । फिर सभी स्त्रियों को भी इस तरह कहा तब स्त्रियों ने भी दूर से खड़े होकर इस तरह बर्ताव करने का निश्चय करके सौगन्ध ली । तब श्रीजीमहाराज प्रसन्न होकर अपने निवासस्थान पर पधारे ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥३५॥१६८॥

वचनामृत ३६ : 'अखण्ड वृत्ति के चार उपाय का'

संवत्* १८८० के भाद्रपद शुक्ल १५ पूर्णिमा के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमाभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''प्रश्न-उत्तर करिए,'' तब मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''भगवान के स्वरूप में अखण्ड वृत्ति रहने का क्या उपाय है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''उसके उपाय तो चार प्रकार हैं । उनमें **एक तो जिसके चित्त का चिपकने का[२] स्वभाव हो,** उसे जहाँ लगये वहाँ

*दि. २०-९-१८२३, शनिवार **१.** बर्ताव करें **२.** आसक्त होने का

वह लग जाता है, तो जैसे पुत्रकलत्रादिक में चिपकता है[१] उस तरह परमेश्वर में भी लगता है;[२] इसलिए एक तो यह उपाय है। और **दूसरा उपाय यह है कि अतिशय शूरवीरता।** वह शूरवीरता जिसके हृदय में हो, और उसे यदि भगवान के सिवा दूसरा संकल्प हो जाये तो, वह स्वयं शूरवीर भक्त है, इसलिए उसके हृदय में अतिशय विचार होने लगते हैं, उन विचारों से संकल्पमात्र को टालकर भगवान के स्वरूप में अखण्ड वृत्ति रखता है। और **तीसरा उपाय तो भय है।** वह जिसके हृदय में जन्म, मृत्यु तथा नरक-चौराशी का भय अतिशय रहता हो, उस भय से भगवान के स्वरूप में अखण्ड वृत्ति रखता है। और **चौथा उपाय तो वैराग्य है।** तो जो पुरुष वैराग्यवान होता है, वह सांख्यशास्त्र के ज्ञान से देह से अपनी आत्मा को भिन्न समझकर, उस आत्मा के बिना दूसरे सभी मायिक पदार्थों को असत्य समझकर, फिर उस आत्मा में परमात्मा को धारण करके उसका अखण्ड चिन्तन करता है। और इन चार उपायों के बिना तो जिस पर भगवान कृपा करते हैं, उसकी तो बात ही नहीं कहलाती; परन्तु इनके बिना तो अनन्त उपाय दूसरे किये जायें तो भी भगवान में अखण्ड वृत्ति नहीं रहती है। और भगवान में अखण्ड वृत्ति रहनी, यह तो बड़ा भारी काम है। **वह जिसके अनेक जन्मों के सुकृत् उदय हुए हो, उसे भगवान के स्वरूप में अखण्ड वृत्ति रहती है, ओर दूसरों को तो अखण्ड वृत्ति रखना महादुर्लभ है।"**

इस तरह से भगवान के स्वरूप में अखण्ड वृत्ति रखने की बात करके फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "इस संसार में 'माया-माया' कहते हैं, उस माया का रूप हमने देख लिया है कि "**भगवान के सिवा दूसरी जगह पर जो प्रीति रहती है, वह ही माया है।**" और इस जीव को अपना जो देह है तथा देह के सगे सम्बन्धी हैं तथा देह का भरण-पोषण करनेवाला, इतने में तो जैसी पञ्चविषय में जीव को अतिशय प्रीति है, उनसे भी विशेष प्रीति है। इसलिए **<u>जिसे देह तथा देह के सगे सम्बन्धी तथा देह के भरण-पोषण करनेवालों</u>**

१-२. आसक्त होता है

में से स्नेह टूट गया, तो वह पुरुष भगवान की माया को तैर चुका है। और जिस पुरुष को भगवान के सिवा दूसरे में से प्रीति टूटती है उसे[१] **भगवान में प्रीति होती है। जब भगवान में स्नेह हुआ तब उसकी भगवान में अखण्ड वृत्ति रहती है।** और जब भगवान में अखण्ड वृत्ति रहने लगे तब उसे दूसरा कुछ करना रहा नहीं है, वह तो कृतार्थ हुआ है।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥३६॥१६९॥

वचनामृत ३७ : 'स्वभाविक प्रकृति टालने का- ज्ञानी भी प्रकृति जैसा आचरण करता है, उसका'

संवत्* १८८० के भाद्रपद कृष्ण १ प्रतिपदा के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमाभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''गीता में कहा है कि 'ज्ञानी[२] हो, वह भी अपनी प्रकृति के अनुसार आचरण करता है और शास्त्र में कहा ऐसा जो निग्रह, उसका जोर नहीं चलता; इसलिए यह स्वाभाविक प्रकृति है, वह कौन से उपाय से टलती है ?'' फिर सभी मुनिमण्डल ने विचार करके देखा, परन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का उत्तर हो सके ऐसा दिखाई दिया नहीं। तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''इसका उत्तर ऐसा है कि उस स्वभाव का त्याग कराने के लिए जो सत्पुरुष उपदेश करते हो, उनके **वचन में अतिशय विश्वास हो** और उपदेश करनेवाले पर सुननेवाले को **अतिशय प्रीति हो,** और उपदेश करनेवाला हो, वह **चाहे कैसे भी दुःख लगा के कठिन वचन कहें, तो भी**

---

*दि. २१-९-१८२३, रविवार

१. यह अर्थ ''**परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि**'' इस स्मृति में कहा है।

२. ''**सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि । प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥**''– ३/३३ यह गीता वचन का अर्थ है।

उन्हें हितकारी ही मानता रहे, तब स्वाभाविक जो प्रकृति है, वह भी नाश हो जाती है; परन्तु इसके बिना दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसलिए जिसे अपनी प्रकृति टालने की इच्छा हो, उसे परमेश्वर तथा सत्पुरुष, उस स्वभाव टालने के लिए चाहे कितने भी तिरस्कार करें और चाहे कैसे भी कठिन वचन कहें तो भी किसी प्रकार से दुःखी न हो और कहनेवाले का गुण ही ग्रहण करें। इस प्रकार से बर्ताव करें, तो कैसे भी न टल सके ऐसी प्रकृति हो, तो भी वह टल जाती है।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥३७॥१७०॥

वचनामृत ३८ : 'मांचा भगत का - प्रवेश का'

संवत्* १८८० के भाद्रपद कृष्ण ६ षष्ठी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वाभिमुख द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के समक्ष परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''संसारी[१] जीव हैं, उन्हें तो कोई धन देनेवाला मिले या पुत्र देनेवाला मिले तो वहाँ तुरन्त प्रतीति[२] आती है और भगवान का भक्त हो उसे तन्त्र-मन्त्र, नाटक-चेटक में कहीं भी प्रतीति आती ही नहीं है, और **जो हरिभक्त होकर तन्त्र-मन्त्र में विश्वास रखता है, वह सत्संगी है तो भी उसे अर्धविमुख जानें।** और **भगवान के जो सच्चे भक्त होते हैं, वे बहुत नहीं होते।** भगवान के यथार्थ भक्त तो कारियाणी गाँव में मांचा भक्त थे, वे सत्संग होने से पूर्व मार्गी के पन्थ में थे, तो भी निष्कामी वर्तमान में फर्क नहीं पड़ा और स्वयं बालब्रह्मचारी रहे। और कोई कीमियागर[३]

*दि. २६-९-१८२३, शुक्रवार

१. इस लोक में दो प्रकार के मनुष्य हैं, उन में कितने भगवान के भक्त हैं और कितने अभक्त हैं उसमें। २. विश्वास, श्रद्धा, आस्था

३. रासायणिक प्रक्रिया में प्रवीण होने का दावा करनेवाला ठग।

उनके घर आकर रुका था, उसने तांबे से चांदी बनाकर दिखाया और फिर उस भक्त से कहा कि 'आप सदाव्रती[१] हैं, इसलिए आपको यह बूटी[२] दिखाकर चांदी बनाना सिखाता हूँ ।' तब उस भक्त ने लाठी लेकर उसे गाँव से बाहर निकाल दिया और उससे ऐसा कहा कि 'हमें तो भगवान के सिवा दूसरे किसी पदार्थ की इच्छा नहीं हैं ।' बाद में उस भक्त को सत्संग हुआ तब भगवान के एकान्तिक भक्त हुए । इसलिए जो एकान्तिक भक्त होते हैं, उनमें एक तो **आत्मनिष्ठा** होती है, और दूसरा **वैराग्य** होता है, और तीसरा अपना **धर्म** दृढ़ता से युक्त होता है, और चौथा श्रीकृष्ण भगवान में अत्यन्त **भक्ति** होती है । **और वह एकान्तिक भक्त जब देह त्याग करता है, तब उसका श्रीकृष्ण भगवान में प्रवेश होता है । और जो एकान्तिक नहीं होते हैं, उनका तो ब्रह्मादिक में प्रवेश होता है अथवा संकर्षणादिक में प्रवेश होता है;** परन्तु एकान्तिक हुए बिना श्रीकृष्णवासुदेव में प्रवेश नहीं होता है । उस प्रवेश को तो इस तरह समझें कि जैसे अतिशय लोभी हो, उसका धन में प्रवेश होता है, और अतिकामी हो, उसका मनपसंद स्त्री में प्रवेश होता है, और जैसे बहुत ही दौलतवाला हो, लेकिन वह निःसन्तान हो, और उसे पुत्र की प्राप्ति हो तो उसका पुत्र में प्रवेश होता है । उसी तरह जिसका जीव जिसके साथ[३] बँधा हो, उसमें उसका प्रवेश जानें; परन्तु जैसे जल में जल मिलता है और अग्नि में अग्नि मिल जाती है, उस तरह प्रवेश नहीं होता है । वह तो **जिसका जिसमें प्रवेश होता है, उसको अपने इष्टदेव के बिना दूसरे किसी भी पदार्थ में स्नेह नहीं होता है और एक उनकी ही रटना लगी रहती है, और उनके बिना जीता है तो महादुःख के दिन भोगकर जीता है, लेकिन सुख नहीं होता है ।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥३८॥१७२॥

---

१. सदाव्रत-अन्नदान करनेवाले

२. जडीबुट्टी-चमत्कारी औषध या वनस्पति अथवा किमियागिरी ।

३. आसक्ति से ।

वचनामृत ३९ : 'स्वाभाविक गुण रहने का'

संवत्* १८८० के भाद्रपद कृष्ण १० दशमी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन से घोड़ी पर सवार होकर श्रीलक्ष्मीवाड़ी में पधारे थे । फिर वहाँ चबूतरे पर पलंग बिछवाकर उस पर विराजमान हुए थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''देश, काल, क्रिया, संगादिक से भी अपने में जो ऐसा गुण हो, वह जाये ही नहीं, ऐसा जिनमें जो स्वाभाविक गुण हो, उसे कहिए ।'' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज बोले कि ''लीजिए, **हम हमारे में ऐसे स्वाभाविक गुण रहते हैं, उन्हें कहते हैं कि** एक तो हमें ऐसा रहता है कि पाँच प्रकार के विषय सम्बन्धित जो-जो पदार्थ हैं, उनका देह से चाहे कितना भी योग[१] हो जाये तो भी उनका मन में संकल्प नहीं होता है तथा स्वप्न में भी नहीं आता है । और दूसरा यह कि बहार से चाहे कितनी भी प्रवृत्तियों में रहे हो, परन्तु जब अन्तर्दृष्टि करके अपनी आत्मा की ओर देखते हैं, तो कछुये के अंग के समान समस्त वृत्तियाँ संकुचित होकर आत्मस्वरूप को प्राप्त हो जाती हैं और परम सुखरूप से रहा जाता है । और तीसरा यह है कि चैतन्यरूप एवं तेजोमय ऐसा जो भगवान का अक्षरधाम है, उसमें सदा साकारमूर्ति ऐसे श्रीकृष्णवासुदेव विराजमान हैं, और वे साकाररूप से ही सब के कर्ता हैं । परन्तु निराकार से तो कुछ भी नहीं होता है; इस तरह साकार की दृढ़ प्रतीति[२] है, तो कितने ही वेदान्त[३] के ग्रन्थ पठन करवायें और सुनें तो भी यह प्रतीति नहीं टली । और चौथा यह है कि जो कोई स्त्री-पुरुष हो, और उनके सम्बन्ध में मुझे यह जानने में आये कि 'यह तो उपर से दम्भ करके भगवान की भक्ति करता है; परन्तु वह भगवान का सच्चा भक्त नहीं है,' तो उसे देखकर मन में प्रसन्नता नहीं होती है और उसके साथ

*दि. २९-९-१८२३, सोमवार

१. संसर्ग, प्राप्ति २. निष्ठा ३. शुष्क अद्वैतवेदान्त के ।

सुमेल[१] भी नहीं होता । जो भगवान का यथार्थ भक्त हो, उसे देखकर ही मन प्रसन्न होता है और उसके साथ ही सुमेल होता है । **ये चार गुण हमारे में स्वाभाविकरूप से रहे हैं, वे हमने कहे ।** अब आप सब लोग कहिए,'' फिर जो वरिष्ठ परमहंस और अग्रणी हरिभक्त थे, उन्होंने जिनमें जो गुण ऐसा था, उसे अवगत कराया ।

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''जो बड़ा हो उसमें निष्कामरूप धर्म है, वह अवश्य होना चाहिए और दूसरे साधन में तो थोड़ा-सा कच्चापन हो तो चल सकता है, किन्तु उसकी तो दृढ़ता अतिशय होनी चाहिए, क्योंकि वह बड़ा[२] है, उसकी प्रतिष्ठा[३] से सब की प्रतिष्ठा[४] कहलाती है ।''

इस तरह से वार्ता करने के बाद पुनः दादाखाचर के राजभवन में पधारकर सन्ध्या आरती, नारायणधुन, स्तुति करके सभी साधुओं की तथा हरिभक्तों की सभा हुई, तब श्रीजीमहाराज ने अग्रणी-अग्रणी परमहंसो से पूछा कि 'हमने पञ्चमस्कन्ध तथा दशमस्कन्ध का अतिशय प्रतिपादन किया है । इसलिए इन दोनों ग्रन्थों का जो रहस्य है, वह जैसे आपकी समझ में आया हो, उसे कहिए ।'' तब सभी बड़े परमहंसो ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार जैसा ज्ञात हुआ वैसा अवगत कराया । फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''लीजिए, अब हम इन दोनों ग्रन्थों का रहस्य कहते हैं कि रहस्य तो क्या ? तो चाहे कैसा भी शास्त्री हो, पौराणिक[५] हो, अतिशय बुद्धिवाला हो, वह भी सुनकर उस बात को निश्चितरूप से सत्य मान ले और हाँ कहे । परन्तु उसे किसी भी प्रकार का संशय न रहे कि 'यह वार्ता ऐसी नहीं होगी,' इस प्रकार से जो अवगत कराना उसका नाम रहस्य कहलाता है, और इन दोनों ग्रन्थों में तो दशम स्कन्ध का तो यह रहस्य है कि उपनिषद्, वेदान्त तथा श्रुति-स्मृति में जिसे ब्रह्म कहे हैं, ज्योतिःस्वरूप कहे हैं, ज्ञानरूप कहे हैं, तत्त्व कहे हैं, सूक्ष्म कहे हैं, और निरञ्जन, क्षेत्रज्ञ, सर्वकारण, परब्रह्म, पुरुषोत्तम, वासुदेव, विष्णु, नारायण, निर्गुण ऐसे-ऐसे नाम से जिन्हें परोक्षरूप से कहे हैं, वे यह प्रत्यक्ष वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्णवासुदेव हैं ।

---

१. सुहृदयता, आत्मीयता २. अग्रणी ३-४. शोभा ५. पुराणवेत्ता

इस तरह से जहाँ-जहाँ स्तुति का भाग है, वहाँ वहाँ ऐसे-ऐसे स्तुति के शब्दों को लेकर प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण भगवान को ही कहे हैं, परन्तु श्रीकृष्ण भगवान से अधिक कुछ नहीं कहा है; तथा समस्त जगत की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय के कर्ता; वे भी श्रीकृष्ण भगवान ही हैं, ऐसा कहा है। और पञ्चमस्कन्ध में तो उन श्रीकृष्ण भगवान का माहात्म्य कहा है। तथा वे श्रीकृष्ण भगवान इस जगत की स्थिति के लिए तथा अपने भक्तजनों को सुख देने के लिए अनेक प्रकार की मूर्तियों को धारण करके खण्ड-खण्ड प्रति रहते हैं, ऐसा कहा है। और स्वयं ने स्थापित की ऐसी जो मर्यादायें, उनमें जो रहता है वह अतिशय महत्ता को प्राप्त होता है, और जो नहीं रहता है वह बड़ा हो तो भी अपनी स्थिति से च्युत हो जाता है। और जो साधारण जीव हो और वह मर्यादा का लोप करता है तो उसकी अधोगति होती है, ऐसा कहा है। वे ही जो श्रीकृष्णवासुदेव हैं, उन्होंने वसुदेव-देवकी को प्रत्यक्ष चतुर्भुजरूप में अद्भुत बालकरूप से दर्शन दिया, वे अनादि वासुदेवरूप हैं। वे श्रीकृष्ण भगवान धर्म, अर्थ, काम में प्रवृत्त हुए हैं; तो धर्म, अर्थ, काम के लिए जो-जो चरित्र भगवान ने किये हैं, उनका जो गान करते हैं अथवा श्रवण करते हैं, वे सभी जीव समस्त पापों से मुक्त होकर परमपद को प्राप्त होते हैं। उन वासुदेव भगवान के जन्म, कर्म तथा मूर्ति ये सभी दिव्यस्वरूप हैं और वे जो वासुदेव श्रीकृष्ण हैं, वे ही सर्वोपरि हैं, इस तरह इन दो ग्रन्थों का रहस्य है। और जो शुकजी जैसे ब्रह्मस्थिति को प्राप्त हुए हों, उन्हें भी उन श्रीकृष्ण परब्रह्म की उपासना-भक्ति करनी है और दशम[१] में कहे जो श्रीकृष्ण भगवान के चरित्र हैं, उन्हें शुकजी जैसे को भी गान करना है तथा सुनना है। उसे शुकजी ने ही कहा कि

परिनिष्ठतोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया ।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ॥

ऐसे जो वासुदेव भगवान हैं, उनके आकार में दृढ़ प्रतीति[२] रखें। यदि भगवान के आकार में दृढ़ प्रतीति होगी और कदाचित् वह जीव कुछ पाप करेगा,

१. दशमस्कन्ध २. विश्वास, निष्ठा

तो भी उसका उद्धार होगा; **क्योंकि पाप करता है उसका तो प्रायश्चित कहा है, परन्तु भगवान को जो निराकार समझना, वह तो पञ्च महापाप से भी अति बड़ा पाप है । इस पाप का कोई प्रायश्चित नहीं है ।** और भगवान को साकार जानकर निष्ठा रखी हो, और कदाचित् उससे कुछ पाप हो गया हो तो उसका[१] क्या भार है ? वह पाप तो भगवान के प्रताप से सब जल जायेगा और उसका जीव भगवान को प्राप्त होगा । इसलिए भगवान के आकार में दृढ़ प्रतीति[२] रखकर उनकी दृढ़ उपासना करें, ऐसा हम आप सबको कहते हैं । तो इस वार्ता को सभी दृढ़ करके रखें ।'' इस प्रकार से श्रीजीमहाराज सबको शिक्षा के वचन कहकर भोजन करने के लिए पधारे ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥३९॥१७२॥

वचनामृत ४० : 'एक दण्डवत् प्रणाम अधिक करने का'

संवत्* १८८० के आश्विन कृष्ण ३ तृतीया के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवास स्थान पर विराजमान थे । फिर स्नान करके, श्वेतवस्त्र धारण करके अपने आसन पर विराजमान हुए और अपना देवार्चनादिक जो नित्यकर्म है, उसका समापन करके उत्तर की ओर मुख से श्रीकृष्ण भगवान को साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करने लगे । तो, प्रतिदिन जितने दण्डवत् प्रणाम करते थे, उनसे उस दिन उन्होंने एक दण्डवत् प्रणाम अधिक किया । यह देखकर शुकमुनि ने पूछा कि ''हे महाराज ! आज आपने एक प्रणाम अधिक क्यों किया ?''

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''नित्य प्रतिदिन तो हम श्रीकृष्ण भगवान को नमस्कार करके ऐसा कहते थे कि 'हे महाराज ! इस देहादिक में अहं-ममत्व हो, उन्हें आप टाल दीजिए ।' और आज तो हमें ऐसा विचार हुआ कि 'भगवान के भक्त का मन से, वचन से और देह से जो थोड़ा-सा भी जाने-

*दि. २२-१०-१८२३, बुधवार

१. पाप का २. विश्वास, निष्ठा

अनजाने में द्रोह हो जाता है, और उससे जैसा इस जीव को दु:ख होता है, वैसा दूसरे किसी भी पाप से नहीं होता है।' इसलिए जाने-अनजाने में मन से, वचन से, देह से भगवान के भक्त का जो कुछ द्रोह हुआ हो, तो उस दोष के निवारण करने के लिए एक प्रणाम अधिक किया, और हमने तो ऐसा समझा है कि 'भगवान के भक्त के द्रोह से जैसा इस जीव का अनिष्ट होता है, और इस जीव को कष्ट होता है, वैसा किसी भी पाप से नहीं होता है; और भगवान के भक्त की मन से, वचन से, देह से जो भी सेवा हो सके और उससे जैसा इस जीव का श्रेय होता है तथा इस जीव को सुख होता है, वैसा दूसरे किसी भी साधन से नहीं होता है।' भगवान के उस भक्त का जो द्रोह होता है; वह तो लोभ, मान, ईर्ष्या और क्रोध इन चार बातों से होता है और भगवान के भक्त का जो सन्मान होता है, वह तो जिसमें ये चार दोष न हो, उससे होता है, **इसलिए जिसे इसी देह में परम सुखी होना हो, तथा देहत्याग करने के बाद भी परम सुखी होना हो, वे भगवान के भक्त का मन से, वचन से, देह से द्रोह न करें।** और यदि भगवान के भक्त का कुछ भी द्रोह हो जाये तो उनकी वचन से प्रार्थना करें और मन से तथा देह से उन्हें दण्डवत् प्रणाम करें और फिर से द्रोह न हो, ऐसे बर्ताव करने का प्रयास करें; परन्तु एकबार द्रोह करके दण्डवत् प्रणाम किया और फिर पुन: द्रोह करके दण्डवत् प्रणाम करना, इस तरह से बर्ताव न करें। और यह वार्ता नित्य प्रतिदिन स्मरण में रहे इसलिए आज से समस्त सन्त तथा सभी हरिभक्तमात्र, ऐसा नियम रखें कि 'भगवान की पूजा करके अपने नित्य नियम के जो दण्डवत् प्रणाम हो, उन्हें करें, तथा **तत्पश्चात् दिनभर में जो कुछ जाने-अनजाने में मन से, वचन से, देह से भगवान के भक्त का द्रोह हुआ हो, उनके निवारण के लिए एक दण्डवत् प्रणाम प्रतिदिन करें,' ऐसी हमारी आज्ञा है, उसका सभी पालन करिए।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥४०॥१७३॥

वचनामृत ४१ : 'मानरूपी हड्डी का'

संवत्* १८८० के कार्तिक कृष्ण ११ एकादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कण्ठ में पीले पुष्पों का हार पहने थे, पाग में पीले पुष्पों के तुर्रे लगायें थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज कृपा करके अपने भक्तजनों को उपदेश करते हुए बोले कि "जिसे परमेश्वर का भजन करना हो, उसे भगवान की अथवा भगवान के भक्त की सेवा-चाकरी मिले तब अपना बड़ा भाग्य मानकर सेवा करें; उसे भी भगवान की प्रसन्नता के लिए तथा अपने कल्याण के लिए भक्तिपूर्वक ही करें, परन्तु कोई प्रशंसा करे उसके लिए न करें। और जीव का तो ऐसा स्वभाव है कि 'जिसमें स्वयं को मान मिलता है, वही करना अच्छा लगता है,' परन्तु मान के बिना अकेली तो भगवान की भक्ति करनी भी अच्छी नहीं लगती है। और जैसे श्वान सूखी हड्डी को एकान्त में ले जाकर उसे व्यर्थ चबाता है, फिर उससे खुद का मुँह छिल जाता है और वह हड्डी खूनवाली हो जाती है, उसे चाटकर प्रसन्न होता है, परन्तु मूर्ख यह नहीं जानता है कि 'मेरे ही मुँह का खून है, उसमें मैं स्वाद मानता हूँ।' उस तरह **भगवान का भक्त होता है तो भी मानरूपी हड्डी को नहीं छोड़ सकता और जो-जो साधन करता है, उसे मान के वश होकर करता है; परन्तु केवल भगवान की भक्ति जानकर भगवान की प्रसन्नता के लिए नहीं करता** है और भगवान की भक्ति करता है, उसमें भी मान का स्वाद आता है तब करता है; परन्तु केवल भगवान की प्रसन्नता के लिए नहीं करता है। मान के बिना केवल भगवान की प्रसन्नता के लिए भगवान की भक्ति तो रतनजी तथा मीयांजी जैसे कोई ही करते होंगे, परन्तु सभीसे तो मान का स्वाद नहीं छोड़ा जा सकता।" फिर इस पर मुक्तानन्द स्वामी ने तुलसीदास की साखी कही कि

*दि. २८-११-१८२३, शुक्रवार

कनक तज्यो कामिनी तज्यो, तज्यो धातु को संग ।
तुलसी लघु[१] भोजन करी, जीवे मान के रंग ॥

इस साखी को सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि "जीव को जैसा मान में से स्वाद आता है, वैसा तो किसी पदार्थ में से नहीं आता है । इसलिए **मान का त्याग करके भगवान को जो भजता है, उसे तो सभी हरिभक्तों में अतिशय बड़ा जानें ।"**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥४१॥१७४॥

वचनामृत ४२ : 'सगुण-निर्गुणपना अक्षर में है, उसका'

संवत्* १८८० के मार्गशीर्ष कृष्ण १२ द्वादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वीद्वार के कक्ष के बरामदें में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब भगवदानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज को प्रश्न पूछा कि "हे महाराज! भगवान के एक-एक रोम में अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड रहते हैं, वे किस प्रकार से रहते हैं ? तथा ब्रह्माण्ड में कौन-कौन से स्थान पर भगवान के अवतार होते हैं ?" तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "**पुरुषोत्तम भगवान का जो अक्षरधाम है, उनके दो भेद है । एक सगुणपना और दूसरा निर्गुणपना ।** और पुरुषोत्तमनारायण हैं, वे तो सगुण नहीं कहलाते हैं और निर्गुण भी नहीं कहलाते हैं । सगुण-निर्गुण भेद तो अक्षर में है । **वे अक्षर निर्गुणभाव से तो अणु से भी अतिसूक्ष्म स्वरूप से हैं और सगुणस्वरूप से तो जितना बड़ा पदार्थ कहलाता है, उन से भी अतिशय बड़े हैं ।** उन अक्षर के एक-एक रोम में अणु की तरह अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड रहते हैं, वे ब्रह्माण्ड कहीं अक्षर में छोटे नहीं हो जाते हैं, वे तो अष्टावरण सहवर्तमान[२] रहते हैं, परन्तु अक्षर की अति बड़ाई है, उनके आगे ब्रह्माण्ड अतिशय छोटे दिखाई देते हैं । जैसे गिरनार पर्वत है, वह मेरु के आगे अतिशय छोटा दिखाई देता है और लोकालोक पर्वत

*दि. २९-१२-१८२३, सोमवार **१.** अल्प **२.** सहित, विद्यमान

के आगे मेरु पर्वत अतिशय छोटा दिखाई देता है; उस तरह ब्रह्माण्ड तो इतने के इतने ही रहते हैं, परन्तु अक्षर की अतिशय बड़ाई है, उसके आगे अतिशय छोटे दिखाई देते हैं, इसलिए अणु के समान कहलाते हैं। अक्षरब्रह्म तो जैसे सूर्य का मण्डल है, वैसे हैं। तो सूर्य जब सिर पर आता है तब सूर्य के योग से दशों दिशाओं की कल्पना होती है, उस तरह अक्षरधाम है। उन अक्षर से ऊपर, नीचे तथा चारों ओर सभी दिशाओं में ब्रह्माण्ड की कोटियाँ[१] है। तथा भगवान जो पुरुषोत्तम हैं, वे तो अक्षरधाम में सदैव विराजमान रहते हैं और वे सत्य संकल्प हैं। अक्षरधाम में रहते हुए ही जिस ब्रह्माण्ड में जो-जो रूपों प्रकाशित करने हो, वैसे-वैसे रूपों को प्रकाशित[२] करते हैं। जैसे श्रीकृष्णभगवान ने रासक्रीड़ा की, तब वे स्वयं एक थे, तो जितनी गोपांगनाएँ थीं उतने रूप में हो गए; उस प्रकार **पुरुषोत्तम भगवान ब्रह्माण्ड-ब्रह्माण्ड प्रति जहाँ जैसा रूप प्रकाशित करना हो वहाँ वैसे रूप को अक्षरधाम में रहते हुए प्रकाशित[३] करते हैं और स्वयं तो सदा के लिए[४] अक्षरधाम में रहते हैं। और जहाँ उन पुरुषोत्तम की मूर्ति है वहाँ ही अक्षरधाम का मध्य है।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥४२॥१७५॥

वचनामृत ४३ : 'ब्रह्मस्वरूप प्रीति का'

संवत्* १८८० के पौष शुक्ल ४ चतुर्थी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में अयोध्यावासी[५] के घर गद्दी-तकिया पर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और प्रेमानन्द स्वामी सरोद लेकर कीर्तन गान कर रहे थे।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''लीजिए, प्रश्न-उत्तर करते हैं। ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज ने पूछा कि ''भगवान का जो भक्त गुणातीत हों और केवल

---

*दि. ५-१-१८२४, सोमवार

१. शृंखलाएँ २. प्रकट ३. प्रकट ४. सदैव ५. धर्मदेव-भक्तिमाता का परिवार

सत्तारूप से रहता हो, और उसमें वैराग्यरूप जो सत्त्वगुण, तथा विषय में प्रीतिरूप जो रजोगुण तथा मूढ़तारूप जो तमोगुण; इन तीनों गुणों के भाव तो न हों और वह तो केवल उत्थान रहित[१] रहते हुए शून्यसमता को धारण करके रहता है तथा सुषुप्ति जैसी अवस्था रहती है। इस प्रकार सत्तारूप से रहता जो निर्गुण भक्त है, उसे भगवान में प्रीति रहती है या नहीं रहती ?[२] यह प्रश्न है।'' फिर मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि ''जो सत्तारूप रहता है, उसे भगवान में प्रीति तो रहती है।'' तब[३] श्रीजीमहाराज ने पूछा कि ''सत्तारूप से रहा ऐसा जो भक्त है, उसे भगवान में जो प्रीति है वह आत्मा की सजातीय[४] है या विजातीय[५] है?'' तब मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि ''वह प्रीति तो आत्मा की सजातीय[६] है।'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि मध्वाचार्य, निम्बार्क और वल्लभाचार्य; उन्होंने आत्मारूप रहकर भगवान में जो प्रीति करनी है, उस प्रीति को ब्रह्मस्वरूपिणी[७] कही है। इसलिए **गुणातीत होकर भगवान में जो प्रीति करते हैं, वे ही ब्रह्मस्वरूप हैं, ऐसा बड़े-बड़े आचार्यों का सिद्धान्त है।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥४३॥१७६॥

वचनामृत ४४ : 'दैवी-आसुरी जीव के लक्षण का'

संवत्* १८८० के पौष शुक्ल ८ अष्टमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वाभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

*दि. ९-१-१८२४, शुक्रवार

१. स्थिर **२.** राग पर्याय जिसका है ऐसी प्रीति रजोगुण का कार्य होने से गुणातीत भक्त में उसका संभव नहीं हैं, ऐसा जानकर यह संशय किया है। **३.** परन्तु इस निर्गुण भक्त की जो प्रीति, वह भगवान के माहात्म्यज्ञान मूलक है, इसलिए निर्गुण है। **४.** आत्मा के साथ एकीभूत (एकरूप); इसलिए पृथक् न रहनेवाली। **५.** आत्मा से पृथक्ता से रहनेवाली।

६. निर्गुण भक्त की प्रीति भगवान की महिमा मूलक है। जो महिमा है उसका आधार आत्मा है इसलिए वह प्रीति आत्मा के साथ ऐकीभूत (एकरूप) है, पृथक् नहीं है।

७. ब्रह्मरूप अपने आत्मा से अपृथक् सिद्ध है, इसलिए ब्रह्मरूप कहीं है।

तब श्रीजीमहाराज ने मुक्तानन्द स्वामी को पूछा कि ''जब किसी हरिभक्त का अवगुण आता है तब पहले जितने उसमें दोष सूझ रहे थे[१] उतने के उतने ही सूझते हैं या कुछ अधिक दिखाई देते हैं ?'' फिर मुक्तानन्द स्वामी बोले कि ''अनुमान से तो ऐसा लगता है कि पहले सूझ रहे थे[२] उतने के उतने ही सूझ रहे[३] हैं ।'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''इस बात पर आपकी दृष्टि नहीं पड़ी । यदि उतने के उतने ही अवगुण सूझते हों तो, अवगुण आया ऐसा कैसे कहा जाये ? इसलिए यह तो अनिष्ट देश, काल, क्रिया, संग आदिक के योग से बुद्धि विपरीत होकर दूसरी ही तरह की हो जाती है; इससे अवगुण अधिक सूझते हैं । तब ऐसा समझना कि 'बुद्धि में अशुभ देशकालादिक का दूषण लगा है ।' और हम तो ऐसा जानते हैं कि **'जिसे पूर्व में महत्पुरुष का संग होगा अथवा भगवान का दर्शन हुआ होगा, उसे तो अपने ही अवगुण दिखते हैं, किन्तु दूसरे हरिभक्त के अवगुण दिखते ही नहीं हैं।'** और ऐसे जिसके लक्षण हों उसे **दैवी जीव जानें ।** और जो आसुरी जीव होते हैं, उन्हें तो अपने में एक भी अवगुण नहीं दिखाई देता और दूसरे जो हरिभक्त हैं, उनमें ही केवल अवगुण दिखाई देते हैं; ऐसी जिसकी बुद्धि हो, उसे **आसुरी जीव जानें ।** वह आसुरी जीव यदि सत्संग में रहा हो अथवा सन्त के मण्डल में रहा हो, परन्तु जैसे कालनेमि, रावण और राहु थे उनके जैसे रहता है, परन्तु उसे सन्त का संग नहीं लगता । इसलिए परिपक्व हरिभक्त होते हैं, उन्हें अपने ही अवगुण सूझते हैं, लेकिन दूसरे हरिभक्तों के दोष को तो दिखते ही नहीं हैं।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥४४॥१७७॥

वचनामृत ४५ : 'इक्यावन भूतों की टोली को निकालने का'

संवत्* १८८० के पौष कृष्ण १ प्रतिपदा के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वाभिमुख द्वार के कक्ष

*दि. १७-१-१८२४, शनिवार

१. दिखते थे २. दिखाई देते थे ३. दिखाई देते है ।

के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि "आप सभी मुनिमण्डल, ब्रह्मचारी, गृहस्थ सत्संगी, पार्षद तथा अयोध्यावासी, ये **आप सभी मेरे कहलाते हैं**[१] **। तो यदि मैं तत्परता रखकर आप सब को नियम में न रखूं और आप सब कुछ गफ़लतता से रहते हों, तो हमसे नहीं देखा जाता । इसलिए जो-जो मेरे कहलाते हैं, उनमें मुझे एक तिलमात्र कसर नहीं रहने देनी है । इसलिए आप सब भी एकदम सावधान रहिए; यदि जरा भी गफ़लतता रखोगे तो आपका पैर नहीं टिकेगा ।** मुझे तो आप सभी भगवान के जो भक्त हैं, उनके हृदय में किसी प्रकार की वासना तथा किसी प्रकार का अयोग्य स्वभाव, उसे नहीं रहने देना है। और माया के तीन गुण, दश इन्द्रियाँ, दश प्राण, चार अन्तःकरण, पञ्चभूत, पञ्चविषय तथा चौदह इन्द्रियों के देवता; उनमें से किसी का संग नहीं रहने देना है। **इन सभी मायिक उपाधियों से रहित सत्तामात्र ऐसी जो आत्मा है, तद्रूप होकर भगवान की भक्ति करें ऐसे सभी को करने हैं । परन्तु किसी भी प्रकार का माया का गुण नहीं रहने देना है ।** इस जन्म में सभी कसर नहीं टली तो बद्रिकाश्रम में जाकर तप करके समग्र वासना जलाकर भस्म करनी है तथा श्वेतद्वीप में जाकर निरन्नमुक्तों के साथ तप करके समग्र वासना जलाकर भस्म करनी है, परन्तु भगवान के बिना दूसरे कोई पदार्थ में प्रीति रह जाये ऐसा नहीं रहने देना है। इसलिए समस्त हरिभक्त तथा समस्त मुनिमण्डल सावधान रहियेगा।" इतनी वार्ता करके श्रीजीमहाराज अपने निवास स्थान पर पधारे।

पुनः उसी दिन सायंकाल में फिर से सभा करके विराजमान हुए। तब आरती होने के बाद श्रीजीमहाराज बोले कि[२] "सात्त्विक कर्म करके देवलोक में जाते हैं और राजस कर्म करके मध्यलोक की प्राप्ति होती है, और तामस

१. और मैं आप सभी का गुरु हूँ, गुरु की क्रिया शिष्य को शिक्षा देना वह है, शिष्यों की क्रिया गुरु की आज्ञा पालें वह है, ऐसा गुरु-शिष्य का धर्म, शास्त्र में व्यवस्थित किया है।

२. इस भुवन में रहे हुए लोग गुणात्मक है, और उनके कर्म भी गुणात्मक है, उस में,

कर्म करके अधोगति को प्राप्त होते हैं। उसमें कोई ऐसी आशंका करे कि 'राजस कर्म करने से मनुष्यलोक की प्राप्ति होती है, तब तो समस्त मनुष्यों को सुख-दुःख समान होना चाहिए[१]।' तो इसका उत्तर यह है कि एक रजोगुण है, उसके देशकालादिक के योग से अनन्त प्रकार के भेद होते हैं। इसलिए राजस कर्म का एक समान निर्धारण[२] रहता नहीं है; वह तो जैसा देश, काल, संग और क्रिया का योग रहता है वैसा कर्म होता है। उनमें[३] भी **भगवान के भक्त सन्त तथा भगवान के अवतार नाराज हो जायें ऐसा कोई कर्म हो जाये तो इसी देह से मृत्युलोक में यमपुरी के जैसा दुःख भोगता है। और भगवान तथा भगवान के भक्त प्रसन्न हों जायें ऐसा कर्म किया जाये तो इसी देह से परमपद प्राप्त किया हो, ऐसा सुख भोगता है।** और भगवान तथा भगवान के सन्त को नाराज करता है, तो यदि उसने स्वर्ग में जाने जैसे कर्म किया हो तब भी उसका नाश हो जाता है और नरक में पड़ना पड़ता है; और भगवान तथा भगवान के सन्त प्रसन्न हो जाये वैसा कर्म किया हो, और उसे यदि नरक में जाने योग्य प्रारब्ध हो, तो भी उन अनिष्टकर्मों का नाश हो जाता है और परमपद को प्राप्त करता है। इसलिए जो समझदार हैं, वे तो भगवान तथा भगवान के भक्त प्रसन्न हो, वैसे ही रहें। और अपने सम्बन्धी जो मनुष्य हैं, उन्हें भी ऐसा उपदेश करना कि 'भगवान तथा भगवान के सन्त जिस-जिस प्रकार से अपने पर प्रसन्न हों और कृपा करें, वैसा ही हमें रहना है।' और भगवान तथा भगवान के सन्त को अग्नि ने जब प्रसन्न किया होगा तब अग्नि को ऐसा प्रकाश प्राप्त हुआ है; तथा सूर्य-चन्द्रादिक जो प्रकाशमान हैं, उन्होंने भी भगवान तथा भगवान के सन्त को शुभ कर्मों से प्रसन्न किया होगा तब ऐसे प्रकाश को पाये हैं; और देवलोक, मृत्युलोक में जो-जो सुखी हैं, उन सभी ने भगवान तथा भगवान के सन्त को प्रसन्न किया होगा, तब ऐसे प्रताप को प्राप्त हुए हैं।

---

१. वह क्यों नहीं है ? २. व्यवस्था ३. इसलिए सुखदुःख में भेद है। इस देह से भोग्य जो कर्म है, उसे प्रारब्ध कहा है, जो कर्म जन्मांतर में भोग्य है, उसे क्रियमाण (वर्तमान कर्म) कहा है, उस क्रियमाण कर्म में जो विशेष, उसे कहते है।

और देवलोक, मृत्युलोक में जो-जो सुखी हैं उन सभी ने भगवान तथा भगवान के सन्त को प्रसन्न किया होगा, उसी प्रताप से सुखी हैं। इसलिए **जो अपनी आत्मा के श्रेय की इच्छा रखते हैं, वे तो सद्ग्रन्थ में कहे जो स्वधर्म हैं, उनमें रहकर भगवान तथा भगवान के सन्त प्रसन्न हो, वही उपाय करें।''**

॥ इति वचनामृतम गढ़डा मध्य ॥४५॥१७८॥

वचनामृत ४६ : 'मरणडोरी का, एकान्तिक धर्म में से पतन होने का'

संवत्* १८८० के पौष कृष्ण ११ एकादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कक्ष के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, पीली छींट की रजाई ओढ़ी थी और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी तथा झांझ-मृदंग लेकर सन्त कीर्तन गान कर रहे थे।

फिर जब कीर्तन गान समाप्त हुआ तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''इस संसार में जो सत्पुरुष हैं,[१] उन्हें तो किसी जीव को लौकिक पदार्थ की हानि या वृद्धि देखकर उसकी तरफ का हर्ष-शोक नहीं होता है ओर जब किसी का मन भगवान के मार्ग में से च्युत हो जाता[२] है, तब मातम होता है; क्योंकि थोड़ा समय जीना है तो उसका परलोक बिगड़ेगा, इसलिए उसे बड़ी हानि होती है। और भगवान के जो अवतार पृथ्वी पर होते हैं, वे धर्म के स्थापन के लिए होते हैं, वे केवल वर्णाश्रम के धर्म स्थापन के लिए ही नहीं होते है; क्योंकि वर्णाश्रम के धर्म को तो सप्तर्षि आदिक जो प्रवृत्ति धर्म के आचार्य हैं, वे भी स्थापन करते हैं। इसलिए इतने[३] के लिए ही भगवान के अवतार नहीं होते है; **भगवान के अवतार तो अपने एकान्तिक भक्तों के जो धर्म हैं, उन्हें**

*दि. २६-१-१८२४, सोमवार **१.** वे तो अपने एकान्तिक धर्म का ही प्रयत्नपूर्वक रक्षण करते हैं और देह के मरण को मरण मानते नहीं, परन्तु अपने एकान्तिक धर्म में से भ्रष्ट होने को ही मरण मानते हैं और फिर... **२.** पीछे हटता **३.** धर्म स्थापन

प्रवर्तन करवाने के लिए होते हैं । और फिर जो एकान्तिक भक्त हैं, उनका देह से मरना, वह मरण नहीं है; उनका तो एकान्तिक के धर्म में से च्युत हो जाये, यही मरण है । तो जब भगवान या भगवान के सन्त, उनका हृदय में अभाव आया, तब उस भक्त को एकान्तिक के धर्म में से पतित हुआ जानें । और यदि वह क्रोध से पतित हुआ हो तो उसे सर्प का देह आया[१] जानें । और वह यदि काम से पतित हुआ हो तो यक्ष-राक्षस का अवतार आया[२] जानें । इसलिए जो एकान्तिक के धर्म में से च्युत होकर ऐसे देह को प्राप्त हुए हैं, और यदि वह धर्मनिष्ठ[३] हों अथवा तपस्वी हों तो भी उन धर्म से तथा तप से देवलोक में जाते हैं, परन्तु **जिसने भगवान का तथा भगवान के सन्त का अभाव लिया, वह तो भगवान के धाम को तो प्राप्त ही नहीं होता ।** और फिर जो पञ्च महापाप से युक्त हो, और उसे यदि भगवान तथा भगवान के सन्त का अवगुण न आया हो, तब तो उसके पाप नष्ट हो जाते हैं एवं भगवान के धाम में निवास होता है । **इसलिए पञ्च महापाप से भी भगवान का तथा भगवान के भक्त का अवगुण लेना, यह बड़ा पाप है ।"**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥४६॥१७९॥

वचनामृत ४७ : 'पाताल तक पृथ्वी फटने का'

संवत्* १८८० के माघ कृष्ण १० दसमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वाभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदें में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, पीली छींट की रजाई ओढ़ी थी और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि "जिस सन्त के पास चार साधु रहते हों, उन्हें यदि मन देकर[४] मानवता[५] से रखना आता हो तो उनके पास साधु हर्ष

*दि. २४-२-१८२४, मंगलवार

१-२. आयेगा **३.** धर्मवाले **४.** दिल से - आत्मीयभाव से **५.** ममता

से रहते हैं और जिसे साधु को रखना नहीं आता हो, उसके पास साधु रहते भी नहीं हैं । और **जिस साधु को मोक्ष की गरज**[१] **हो, उसे तो ज्यों दुःख देते हैं**[२] **और विषय का खण्डन करते हैं, त्यों अति प्रसन्न होता है ।** जैसे इन मुक्तानन्द स्वामी को क्षयरोग हुआ है, वह दहीं–दूध, मीठा–स्निग्ध; कुछ नहीं खाने देता; उस तरह जो समझदार हों, उन्हें ऐसा लगता है कि 'इस रोग ने अच्छा अच्छा खाने–पीने का सभी खण्डन कर दिया, इसलिए यह तो क्षयरोग के रूप में, जाने किसी बड़े सन्त का समागम तो हुआ है क्या ?' ऐसा लगता है । क्योंकि **शिश्न तथा उदर इन दोनों में जीव को जो आसक्ति है, यह ही असत्पुरुषपना है ।** वह क्षयरोग इन दोनों प्रकार की खोट को दूर करे ऐसा है; उस तरह उस रोग की तरह जो सत्पुरुष हों, वे विषय का खण्डन करते हों तब मुमुक्षु हों, वे उसमें दुःखित न हो जायें । और जो खाने–पीने की लालच से या कपड़े–लत्ते की लालच से अथवा अपने मन पसंद पदार्थों की लालच से किसी बड़े सन्त के साथ रहता हो, उसे तो साधु ही न जानें; **उसे तो लबाड़**[३] **जानें तथा कुत्ते जैसा जानें ।** और ऐसा मलिन आशयवाला जो होता है, वह अन्त में विमुख हो जाता है ।

और तो सन्त को जो अच्छा पदार्थ देता है, उस में जो ईर्ष्या करता है तथा जो पञ्चविषय का लालची हो, वे दोनों तो पञ्च महापापी से भी अति दुष्ट हैं । इसलिए जो समझदार हो उसे सन्त के समागम में रहकर ऐसा मलिन आशय अन्तर में रखना नहीं चाहिए; क्योंकि यह सभा तो जैसी बद्रिकाश्रम में तथा श्वेतद्वीप में है वैसी है, उसमें बैठकर जब मलिन वासना नहीं टली तब दूसरा टालने का ठिकाना कहाँ मिलेगा ? और जो पञ्चविषय हैं, वे तो पूर्व में देव–मनुष्यादिक में अनन्त देह से अपने जीव ने भोगें हैं, तो भी उन विषयों की अभी तक तृप्ति नहीं हुई है; तो अब **भगवान के भक्त होकर वर्ष, या दो वर्ष,**

१. अनिवार्य जरूरत २. निम्न व्यवहार तथा सामान्य भोग का भी खण्डन करके ।
३. लालची

या पांच वर्ष तक विषय भोगकर पूर्ण नहीं हो पायेंगे । जैसे पाताल तक पृथ्वी फटी हो, उसे पानी से भरने लगें तो कभी भी भरेगी नहीं, उस तरह इन्द्रियाँ हैं, उन्हें विषयों से कभी तृप्ति नहीं हुई है और होगी भी नहीं। इसलिए अब तो विषय की आसक्ति का त्याग करके, और साधु ज्यों डांटकर कहें, त्यों गुण लें परन्तु अवगुण न लें । उसे मुक्तानन्द स्वामी के कीर्तन में कहा है कि '**शूली**[१] **ऊपर शयन करावे, तोय साधु ने संगे रहिये रे...**' इसलिए ऐसा अवसर प्राप्त करके तो अशुभ वासना को टालकर ही मरना है, परन्तु अशुभ वासना सहित मरना नहीं है और 'इस देह में से निकलकर नारद, सनकादिक, शुकजी के समान ब्रह्मरूप होकर भगवान की भक्ति करनी है,' ऐसी वासना रखें । ऐसा करने पर यदि ब्रह्मलोक में या इन्द्रलोक में निवास हो जायेगा, तो भी कोई चिन्ता नहीं है । जैसे शौचक्रिया करने गए और पाखाने में सिरतक गिर गए तो नहा धोकर पवित्र हो जाये किन्तु उसमें पड़े रहना नहीं है; उस तरह शुभ वासना रखते-रखते, ब्रह्मलोक में या इन्द्रलोक में जाना पड़ा तो ऐसा समझना कि 'सिर तक नरक के खड्डे में गिरे हैं,' ऐसा जानकर शुभवासना के बल से ब्रह्मलोक, इन्द्रलोक के भोगों का त्याग करके भगवान के धाम में पहुँचना है, परन्तु बीच में कहीं नहीं रुकना है । ऐसा निश्चय रखें । और फिर जैसे अपनी सेवा गृहस्थ करते हैं अथवा त्यागी करते हैं, उस तरह हमें भी हरिभक्त का माहात्म्य जानना चाहिए । जैसे हमारी चाकरी[२] मूलजी ब्रह्मचारी माहात्म्य जानकर करते हैं, उस तरह हम भी ब्रह्मचारी का माहात्म्य जानते हैं । **जैसे गृहस्थ अन्न-वस्त्र द्वारा हमारी सेवा करते हैं, वैसे हमें भी उनका माहात्म्य समझकर बातचीत**[३] **से उनकी सेवा करनी है; इस तरह से परस्पर माहात्म्य समझकर हरिभक्त की सोहबत**[४] **रखे ।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥४७॥१८०॥

१. परिशिष्ट में ८०७ देखो २. सेवा ३. कथा-उपदेश ४. संगत

वचनामृत ४८ : ' ''वन्दु'' कीर्तन का - सन्त के मध्य में जन्म धारण करने का'

संवत्* १८८० के माघ कृष्ण १४ चतुर्दशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वाभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, तुलसी की नवीन श्वेत कण्ठियाँ कण्ठ में धारण की थीं, पाग में पीले पुष्पों का तुर्रा विराजमान था, कण्ठ में पुष्पों के हार धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब साधु प्रेमानन्द स्वामी भगवान के ध्यान के अंग की गरबीयां(१), जो **'वन्दु सहजानन्द रसरूप अनुपम सारने रे लोल'** यह गान कर रहे थे। फिर जब गान हो चुका तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''बहुत सुन्दर कीर्तन गाये; इस कीर्तन को सुनकर तो हमारे मन में ऐसा विचार हुआ कि **'इस तरह से इसे(२) भगवान की मूर्ति का चिन्तन है, इसलिए इस साधु को तो उठकर साष्टांग दंडवत् प्रणाम करें !'** और जिसे इस तरह से अन्तःकरण में भगवान का चिन्तन होता हो और ऐसी वासना से युक्त यदि देह त्याग करता है, तो उसे फिर से गर्भवास में जाना ही नहीं पड़ता। और इस तरह से भगवान का चिन्तन करते हुए जीवित हो तो भी वह परमपद को प्राप्त हुआ ही है। जैसे श्वेतद्वीप में निरन्नमुक्त हैं, वैसे ही वह भी निरन्नमुक्त हो चुका है। देहक्रिया तो योग्य हो उतनी सहज ही होती है। जिसे भगवान के स्वरूप का इस तरह से चिन्तन होता है, वह तो कृतार्थ हुआ है और उसे कुछ करने को बाकी नहीं रहा है; जिसे भगवान के बिना दूसरे पदार्थ का चिन्तन करते हुए देह छूटेगा, उसे कोटि कल्प में भी दुःख का अन्त आता नहीं है। **इसलिए ऐसा अवसर आया है, उसे प्राप्त करके भगवान के बिना दूसरे पदार्थों का चिन्तन छोड़कर एक भगवान के स्वरूप का ही चिन्तन करें।**

*दि. २८-२-१८२४, शनिवार

१. राग गान का एक विशेष प्रकार, गरबी। २. प्रेमानन्द स्वामी को।

यदि भगवान के स्वरूप का चिन्तन न हो सके तो भी धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति; इनसे युक्त ऐसे जो ये साधु हैं, उनके बीच पड़े रहें। हमारे अन्तर में भी यह ही वासना है कि इस देह का त्याग करेंगे फिर किसी प्रकार का जन्म होने का निमित्त तो नहीं है, तो भी अन्तर में ऐसा विचार करते हैं कि **जन्म धारण करने का कोई कारण उत्पन्न करके भी सन्त के मध्य में जन्म लेना है, ऐसा ही चाहते हैं।** जिसे इस कीर्तन में कहा ऐसा चिन्तन होता हो, वह तो काल, कर्म और माया के पाश से मुक्त हो चुका है; और जिसके घर ऐसे पुरुष ने जन्म धारण किया है, उनके माँ-बाप भी कृतार्थ हो गए, ऐसा जानें। और भगवान के बिना दूसरे विषय का जो चिन्तन करता है, उसे तो अतिशय भूला हुआ जानें। और स्त्री, पुत्र और धनादिक पदार्थ, वे तो जिन-जिन योनि में जाता है, उन सभी में मिलते हैं; परन्तु ऐसे ब्रह्मवेत्ता सन्त का संग तथा श्रीवासुदेवभगवान का साक्षात्कार दर्शन तथा चिन्तन, यह तो अतिशय दुर्लभ है। इसलिए **जैसे विषयीजन को पञ्चविषय का चिन्तन अन्तःकरण में होता रहता है; उस तरह जिसके अन्तर में भगवान का अखण्ड चिन्तन होता रहे तो इससे बढ़कर मनुष्य देह का दूसरा कोई लाभ नहीं है। वह तो सभी हरिभक्त में मुखिया[१] है।** उस भक्त को शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध; ये पञ्चविषय हो, तो भी भगवान सम्बन्धी ही होते हैं; और उनके श्रवण[२] तो भगवान की अखण्ड कथा सुनने की इच्छा करते हैं, त्वचा तो भगवान के स्पर्श की इच्छा करती है, नेत्र तो भगवान तथा भगवान के सन्त के दर्शन करने की इच्छा करते हैं, रसना[३] तो भगवान के महाप्रसाद के स्वाद की इच्छा रखती है और नासिका तो भगवान को समर्पित जो पुष्प-तुलसी; उनके सुगन्ध की इच्छा रखती है, परन्तु परमेश्वर के सिवा अन्य वस्तु को सुखदायी जाने ही नहीं। इस तरह से जो रहता है, वह भगवान का एकान्तिक भक्त कहलाता है।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥४८॥१८१॥

१. अग्रणी २. कान ३. जिह्वा

वचनामृत ४९ : 'कथा-कीर्तनादिक में तृप्ति न होने का'

संवत्*[१] १८८० के फाल्गुन शुक्ल २ द्वितीया के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार की अटारी के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकीया बिछवाकर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और पाग में श्वेत पुष्पों का हार लटकता हुआ रखा था और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनिमण्डल तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''प्रत्यक्ष भगवान की जो मूर्ति तथा दूसरे जो मायिक आकार; इन दोनों में तो बहुत फर्क है । परन्तु जो अज्ञानी हैं तथा अतिशय मूर्ख हैं, वे तो भगवान तथा मायिक आकार को समान[(१)] समझते हैं; क्योंकि, मायिक आकार को जो देखनेवाले हैं और मायिक आकार के जो चिन्तन करनेवाले हैं, वे तो अनन्तकोटि कल्प तक नरक-चौरासी में भटकते हैं । और **जो भगवान के स्वरूप के दर्शन करनेवाले हैं तथा भगवान के स्वरूप का चिन्तन करनेवाले हैं, वे तो काल, कर्म और माया इन सब के बन्धन से मुक्त होकर अभय पद को प्राप्त होते हैं और भगवान के पार्षद होते हैं । इसलिए हमें तो भगवान की कथा-कीर्तन या वार्ता या भगवान का ध्यान, उनसे कभी भी मन की तृप्ति होती ही नहीं है और आप सबको भी इसी तरह से करना है ।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥४९॥१८२॥

वचनामृत ५० : 'रहस्य का - जगत की वासना का'

संवत्*[२] १८८० के चैत्र कृष्ण २ द्वितीया के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार की अटारी के बरामदे में रात्रि के समय विराजमान थे ।

---

*[१]दि. २-३-१८२४, मंगलवार *[२]दि. १५-४-१८२४, गुरुवार

१. एक

उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''आज तो हमारा जो रहस्य है, उसे आप सबको अपना समझकर कहते हैं कि जिस तरह से नदियाँ समुद्र में लीन हो जाती हैं, और जैसे सती तथा पतिंगा अग्नि में भस्म हो जाते हैं, और जैसे शूरवीर रण में फना हो जाता हैं; उस तरह एकरस परिपूर्ण ऐसा जो ब्रह्मस्वरूप है, उसमें हमने हमारी आत्मा को लीन कर रखी है । **तेजोमय ऐसा जो अक्षरब्रह्म है, उसमें मूर्तिमान ऐसे जो पुरुषोत्तम भगवान तथा उन भगवान के जो भक्त हैं, उनके साथ अखण्ड प्रीति जोड़ रखी है और इसके सिवा किसी पदार्थ में प्रीति नहीं है; ऐसा हमें अखण्ड रहता है ।** उपर से तो हम अतिशय त्याग की फूत्कार नहीं दिखाते हैं, परन्तु जब हम हमारे अन्तर को देखकर दूसरे हरिभक्त के अन्तर की ओर देखते हैं, तब बड़े-बड़े परमहंस तथा बड़ी-बड़ी सांख्ययोगी स्त्रियाँ, उन सभी की जरा सी इच्छा[१] जगत के प्रति दिखती है, लेकिन हमारे अन्तर में तो कभी स्वप्न में भी जगत सम्बन्धी संकल्प होता नहीं है । भगवान तथा भगवान के भक्त की भक्ति से हमे गिराने के लिए कोई समर्थ नहीं है; ऐसा दिखाई देता है । और जिस दिन भगवान की प्राप्ति नहीं हुई थी, उसी दिन भी भगवान की शक्ति जो काल, वह भी इस जीव का नाश नहीं कर पाया, और कर्म भी इस जीव का नाश नहीं कर पाया, और माया भी अपने में लीन नहीं कर सकी, और अब तो भगवान मिले हैं, तो फिर काल, कर्म, माया का क्या भार है ? ऐसा जानकर ऐसी हिम्मत बाँधी है कि 'अब तो भगवान तथा भगवान के भक्त के सिवा किसी में प्रीति नहीं रखनी है ।' और **जो हमारी सोहबत रखेंगे, उनके हृदय में भी किसी प्रकार की वासना रहने देनी नहीं है ।** क्योंकि मुझ जैसी जिसे अन्तर की दृढ़ता है उसी के साथ ही हमें मेल होता[२] है । जिसके हृदय में जगत के सुख की वासना हो, उस के साथ तो

१. शुभ वासना २. आत्मीयता होती है ।

हम प्रीति करते हैं तो भी नहीं होती है। इसलिए **भगवान के जो निर्वासनिक भक्त हैं, वे ही हमें प्रिय हैं। यह हमारे अन्तर का रहस्य है, उसे कहा।''** इस प्रकार से श्रीजीमहाराज ने अपने भक्तजनों की शिक्षा के लिए बात कही।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥५०॥१८३॥

वचनामृत ५१ : 'आत्मसत्तारूप रहनेवालों के लक्षण का'

संवत्* १८८० के चैत्र कृष्ण ९ नवमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में दक्षिणाभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया बिछवाकर विराजमान थे। और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज ने परमहंसों को प्रश्न पूछा कि ''किसी समय तो जीव सुषुप्ति[१] में जाता है, तब अतिशय सुख होता है; और किसी समय में तो सुषुप्ति में जाता है, तो भी उद्वेग मिटता नहीं है, उसका क्या कारण है? यह प्रश्न है।'' फिर बड़े-बड़े सन्त थे, वे इस प्रश्न का समाधान करने लगे, परन्तु यथार्थ समाधान नहीं हुआ। तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''यह तो रजोगुण का बल बढ़ जाता है, इसलिए सुषुप्ति में भी तमोगुण के साथ रजोगुण का विक्षेप रहता है; इसलिए सुषुप्ति में भी सुख का अभाव रहता है। इसलिए **गुण का संग जब तक रहता है तब तक कोई जीव सुखी नहीं रहता और जब आत्मसत्तारूप रहता है, तभी सुखी रहता है।''**

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''आत्मसत्तारूप रहते हैं उनके क्या लक्षण हैं?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''शिव, ब्रह्मा जैसे कोई समर्थ नहीं कहलाते हैं। वे तो नारद जैसे के भी गुरु हैं; और वे जिस प्रकार से ब्रह्मस्वरूप में रहते हैं, वैसा दूसरों को रहना कठिन है, तो भी देश, काल, क्रिया, संग, मन्त्र, शास्त्र, दीक्षा और ध्यान; ये आठ यदि अशुभ हुए तो उनके

*दि. २२-४-१८२४, गुरुवार

१. निद्रा

योग से उन शिव, ब्रह्मा जैसे को भी अन्तर में अतिशय दुःख हुआ । इसलिए चाहे कैसा भी निर्गुण हो और आत्मसत्तारूप से रहता हो, और यदि उसे अनिष्ट देशकालादिक का योग हो जाये तो उसे जरूर अन्तर में दुःख होता है। **इसलिए महापुरुषों की बँधी हुई जो मर्यादा है, उसका लोप करके कोई सुखी नहीं होता है ।** इसलिए जितने त्यागी हैं, वे तो त्यागी के धर्म के अनुसार रहें और जितने गृहस्थ हरिभक्त हैं वे गृहस्थधर्म के अनुसार रहें। जितनी स्त्रियाँ हरिभक्त हैं, वे स्त्रियों के धर्म अनुसार रहें और यदि उससे कम बर्ताव करे तो भी सुख नहीं होता है और यदि उससे अधिक बर्ताव करे तो भी सुख नहीं होता है; क्योंकि परमेश्वर के कहे जो धर्म हैं, उस के अनुसार ही ग्रन्थ में लिखा होता है, उनमें किसी प्रकार का अवरोध[१] आये ऐसा नहीं होता है, और सुखपूर्वक पालन हो सके ऐसा होता है, और उससे कम-अधिक रहने जाये तो रहनेवाला जरूर दुःखी होता है । इसलिए सत्पुरुष की आज्ञा के अनुसार जो रहता है, वह ही शुभ देशकालादिक में रहता है और जो **सत्पुरुष की आज्ञा से बाहर निकला, वही उसे अनिष्ट देशकालादिक का योग हुआ है । इसलिए जो सत्पुरुष की आज्ञा के अनुसार रहता है, वही आत्मसत्तारूप रहता है ।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥५१॥१८४॥

वचनामृत ५२ : 'त्यागी तथा गृहस्थ की शोभा का'

संवत्* १८८० के चैत्र कृष्ण ११ एकादशी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन से घोड़ी पर सवार होकर श्रीलक्ष्मीवाड़ी पधारे थे और वहाँ वेदी पर विराजमान हुए थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कण्ठ में पुष्प का हार पहना था, पाग में फूलों का तुर्रा विराजमान था और अपने मुखारविन्द के समक्ष मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

*दि. २५-४-१८२४, रविवार

१. कठिनाई, बाधा

और स्वयं[१] के सन्मुख मुनिमण्डल झांझ-मृदंग लेकर कीर्तन गान कर रहे थे। तो जब कीर्तन गान हो चुका तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''लीजिए, अब वार्ता करते हैं, उसे सुनिये। इस संसार में गृहस्थाश्रमी और त्यागी इन दोनों के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। तो जो गृहस्थ को शोभारूप है, वह त्यागी को दूषणरूप होता है और जो त्यागी को शोभारूप है, वह गृहस्थ को दूषणरूप होता है। उसे जो बुद्धिमान होते हैं, वे जानते हैं, परन्तु दूसरा नहीं जान पाता। इसलिए इसका भेद[२] कहते हैं कि जो गृहस्थाश्रमी हैं, उसे धन-दौलत, हाथी-घोड़ा, गाय-भैंस, कोठी-हवेली, स्त्री-पुत्र, मूल्यवान वस्त्र-आभूषण; ये सभी पदार्थ शोभारूप हैं; और ये ही सभी पदार्थ तो जो त्यागी है, उन्हें दोषरूप हैं। और त्यागी है, उसे वन में रहना, वस्त्र बिना खुला एक कौपीन युक्त रहना, सिर पर टोपी पहनना, दाढी-मूंछ मुंडा देना, भगवे वस्त्र रखने, और कोई गालियाँ दे या धूल डाले तो अपमान को सहन करना, यह ही त्यागी को परम शोभारूप है। और **त्यागी की जो यह शोभा है, वह ही गृहस्थ को परम दोषरूप है। इसलिए इस संसार में से निकला हो और त्यागी हुआ हो, उसे तो ऐसा विचार करना कि 'मैं कौन से आश्रम में रहा हूँ, ?' बुद्धिमान हो, वे ऐसा विचार करें। परन्तु मूर्ख की तरह विचार किये बिना कोई अयोग्य कार्य[३] के वेग में न चल पड़े।** जो समझदार हों, उसे कोई डाँटकर कहे तब स्वीकार करता हुआ गुण ग्रहण करता हैं और जो मुर्ख हो, उसे कोई हित की बात करे तब वह मुरझा[४] जाता है। और मुकुन्द ब्रह्मचारी तथा रतनजी ये दोनों उदास नहीं होते हैं, तो इनके साथ हमें बहुत मेल[५] होता है। और फिर जो श्रद्धापूर्वक सेवा-चाकरी करता है, वह हमें प्रिय हैं; और श्रद्धा बिना कोई भोजन लाता है तो वह भोजन अप्रिय लगता है। वस्त्र लाए तो वह वस्त्र धारण करने का मन नहीं होता, पूजा लाए तो पूजा अप्रिय लगती है। जो श्रद्धापूर्वक करते हैं, वह अतिशय प्रिय लगता है। और श्रद्धा से भक्ति करता

१. श्रीजीमहाराज २. विस्तार, विवरण ३. अघटित परधर्मक प्रवृत्ति।
४. उदास, व्यथित ५. लगाव, आत्मीयता

हो, और दूसरा कोई उसमें भक्ति करने आता है और उसके उपर ईर्ष्या करता है, तो वह[१] हमें प्रिय नहीं लगता । इसलिए **श्रद्धा सहित और ईर्ष्या रहित जो भक्ति करता है, वह हमें अतिशय प्रिय लगता है ।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥५२॥१८५॥

वचनामृत ५३ : 'अपना अवगुण न सूझता हो, वह ही मोह है, उसका'

संवत्* १८८० के वैशाख शुक्ल ५ पञ्चमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवास स्थान पर गद्दी-तकिया बिछवाकर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के आगे मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''शास्त्र में जो मोह कहा है, उस मोह का रूप यह है कि **'जब हृदय में मोह व्याप्त होता है तब उस जीव को अपना अवगुण तो दिखता ही नहीं है ।' इसलिए अपना अवगुण सूझता न हो, यह ही मोह का रूप है ।** और फिर जीवमात्र को अपनी बुद्धिमत्ता का अतिशय मान रहता है, परन्तु ऐसा विचार नहीं करता है कि 'मुझे मेरे जीव की खबर नहीं है कि इस शरीर में जीव रहा है वह काला है या गोरा है ? या लम्बा है कि छोटा है ?' इसका कुछ भी ज्ञान नहीं है, फिर भी बड़े पुरुष हों अथवा भगवान हों, उनमें भी खोट निकालता है और ऐसा समझता है कि 'ये महापुरुष हैं अथवा भगवान हैं, परन्तु इतना ठीक नहीं करते हैं ।' इस तरह खोट निकालता है, परन्तु वह मुर्ख ऐसा नहीं जानता है कि 'ये भगवान तो अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों में रहते जो जीव तथा ईश्वर, उनको जैसे हथेली में जल की बूंद को देखते हैं, वैसे देखते हैं, और अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों के आधार हैं, लक्ष्मी के पति हैं,

---

*दि. ३-५-१८२४, सोमवार

१. ईर्ष्या

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों के कर्ता-हर्ता हैं; शेष, शारदा और ब्रह्मादिक देव भी जिसकी महिमा के पार को नहीं पाते हैं तथा निगम[१] भी जिनकी महिमा को 'नेति नेति' कहते हैं ।' इसलिए **ऐसे जो परमेश्वर हैं, उनके चरित्र में और उन भगवान की जो समझ है, उसमें जो दोष देखता है, उसे विमुख एवं अधर्मी जानें और सभी मूर्खों का राजा जानें ।** भगवान तथा भगवान के भक्त की तो अलौकिक समझ रहती है, उसे देहाभिमानी जीव कैसे समझ सकता है ? इसलिए अपनी मूर्खता से भगवान तथा भगवान के भक्त का अवगुण लेकर विमुख हो जाता है और उन **भगवान के यथार्थ भक्त जो सत्पुरुष हैं, वे तो अलौकिक दृष्टि से युक्त रहते हैं ।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥५३॥१८६॥

वचनामृत ५४ : 'सभी साधनों से सत्संग अधिक कहा है, उसका - गोखर का - आत्मबुद्धि का'

संवत्* १८८० के ज्येष्ठ शुक्ल ७ सप्तमी के दिन तृतीय प्रहर के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन से घोड़ी पर सवार होकर श्रीलक्ष्मीवाड़ी में पधारे थे । वहाँ बहुत समय तक तो घोड़ी घुमायी, फिर उस वाड़ी स्थित वेदी पर विराजमान हुए थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, मस्तक पर काले पल्ले की धोती बाँधी थी, कण्ठ में मोगरे के पुष्पों का हार विराजमान था तथा पाघ में तुर्रा विराजमान था और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनिमण्डल तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज ने मुनियों के प्रति प्रश्न पूछा कि ''एकादश स्कन्ध के बारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण भगवान ने उद्धव के प्रति कहा है कि '**अष्टांगयोग**[२],

*दि. ४-६-१८२४, शुक्रवार

१. वेद २. ''**न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च । न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ॥ व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः । यथावरुन्धे सत्संगः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥** इस श्लोक का अर्थ है ।

सांख्य, तप, त्याग, तीर्थ, व्रत, यज्ञ और दानादिक; इनसे मैं वैसा वश नहीं होता हूँ जैसा सत्संग से वश होता हूँ ' ऐसा भगवान ने कहा है। इसलिए सभी साधनों से सत्संग अधिक हुआ। तो जिसे समस्त साधनों से सत्संग अधिक दिखता है, उस पुरुष के कैसे लक्षण होते हैं ?'' तब जैसा जिसको समझ में आया उसने वैसा कहा, परन्तु यथार्थ उत्तर न हुआ। तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसे भगवान के सन्त में ही आत्मबुद्धि है, जैसे कोई राजा हो और वह निःसन्तान हो, फिर उसे वृद्धावस्था में पुत्रजन्म हो, फिर वह लड़का उसे गालियाँ दे तथा मूँछ खींचे तो भी अभाव नहीं आता है और किसीके लड़के को मारे तथा गाँव में अनीति करे तो भी किसी प्रकार से उसका अवगुण आता ही नहीं है; क्योंकि, उस राजा को अपने पुत्र में आत्मबुद्धि हो गई है; **ऐसी जिसे भगवान के भक्त में आत्मबुद्धि होती है, उसने ही सभी साधनों से अधिक कल्याणकारी सत्संग को जाना है।** यह वार्ता भागवत में कही है कि

यस्यात्मबुद्धिः[१] कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥

इस श्लोक में इस वार्ता को यथार्थ कहीं है।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥५४॥१८७॥

वचनामृत ५५ : 'सोनी की पीढ़ी का '

संवत्* १८८० के ज्येष्ठ शुक्ल ११ एकादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वाभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर नवानगर का सुनहरे पल्लेवाले श्वेत वस्त्र से पाग बाँधी थी, सफ़ेद पिछौरी ओढ़ी थी, श्वेत खेस पहना

*दि. ७-६-१८२४, सोमवार

१. जिस पुरुष को वात, पित्त और श्लेष्मरूप तीन धातुमय शरीर में आत्मबुद्धि है और स्त्री पुत्रादिक में आत्मीयबुद्धि है और भूमि के विकारभूत प्रतिमा आदि में पूजनीय देवताबुद्धि है और जल में तीर्थबुद्धि है, उस पुरुष को यदि आत्मबुद्धि आदि बुद्धियाँ भगवान के एकान्तिक ज्ञानी भक्त में न हो, तो उसे पशुओं में भी कनिष्ठ गधा जानें। (भाग. १०/८४/१३)

था और श्रीजीमहाराज के मुखारविन्द के समक्ष मुनि तथा देश–देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी । और उस समय मुनि झांझ–मृदंग लेकर कीर्तन गान कर रहे थे ।

जब वे मुनि कीर्तन भक्ति कर चुके, तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसका आज जैसा अंग हो, वैसा सत्संग होने से पहले भी थोड़ा सा रहता तो है; इसलिए आज तो सभी जिसका जैसा अंग हो वे वैसा कहिए । उनमें प्रथम तो हम जैसा हमारा अंग है, वैसी वार्ता कहते हैं, उसे सुनिये । जब हमारी बाल अवस्था थी तब भी देव मन्दिर हो, वहाँ दर्शन के लिए जाना, कथा–वार्ता सुनना, सन्त समागम करना, तीर्थ करने जाना; ऐसा सब अच्छा लगता था । और जब गृह त्याग करके निकले तब तो वस्त्र रखना भी अच्छा नहीं लगता था और वन में ही रहना अच्छा लगता था । और भय तो लेशमात्र लगता ही नहीं था और वन में बड़े–बड़े सर्प, सिंह, हाथी इत्यादिक अनन्त जानवर देखने में आये, परन्तु किसी भी प्रकार से हृदय में मरने का तो डर ही नहीं लगता था । इस तरह से महावन में सदा निर्भय रहते थे । फिर तीर्थ में घूमते–घूमते श्रीरामानन्द स्वामी के पास आये और फिर श्रीरामानन्द स्वामी जब अन्तर्धान हुए, उसके बाद सत्संग के हित के लिए कुछ डर रखने लगे । परन्तु अन्तर में अखण्ड विचार ऐसा रहता है कि जैसे मनुष्य को मृत्यु के समय पृथ्वी पर सुलाया हो, तब उस मनुष्य में से सभीको अपने स्वार्थ की वासना टल जाती है और उस मरनेवाले को भी संसार से मन उदास हो जाता है; **वैसे की वैसे ही हमें अपनी ओर का तथा दूसरों की ओर का अन्त अवस्था जैसा सदा रहता है । और जितने मायिक पदार्थमात्र हैं, वे सभी नाशवंत तथा तुच्छ जैसे जानने में आते हैं,** परन्तु ऐसा भेद नहीं जानने में आता कि 'यह उत्तम पदार्थ है तथा यह निकृष्ट पदार्थ है ।' जितने मायिक पदार्थमात्र हैं, वे तो सभी एक समान दिखाई देते हैं । जैसे बगल का बाल है, उनमें कौन सा अच्छा और कौन सा खराब ? वे तो अच्छा–खराब सभी एक समान है; उस तरह मायिक पदार्थ

भी सभी समान हैं। और कुछ अच्छा-ख़राब कहते हैं, वह तो भगवान के भक्त को अच्छा लगाने के लिए कहते हैं कि यह अच्छा भोजन है, यह अच्छा वस्त्र है, यह अच्छा गहना है, यह अच्छा घर है, यह अच्छा घोड़ा है, यह सुन्दर पुष्प है; यह तो भक्त को अच्छा लगे इसलिए कहते हैं। और **हमारी सभी क्रियायें हैं, वे भगवान के भक्त के लिए हैं, परन्तु अपने सुख के लिए एक भी क्रिया नहीं है।** और भगवान के जो एकान्तिक भक्त होते हैं, उनका जो मन है वह भगवान के स्वरूप का ही चिन्तन करता है, वाणी तो भगवान के यश को ही गाती है, हाथ तो भगवान या भगवान के भक्त की सेवा-परिचर्या को ही करते हैं, कान तो भगवान के यश को ही अखण्ड सुनते हैं; इस तरह भगवान की भक्ति जानकर जो-जो क्रियायें करते हैं, वे होती हैं, परन्तु उन भगवान की भक्ति के सिवा तो हम सभी पदार्थों से उदासी हैं। जैसे कोई बड़ा राजा हो, और उसे एक ही पुत्र हो, और वह राजा साठ-सत्तर वर्ष का हो जाये और फिर उसके पुत्र की मृत्यु हो जाये तब उस राजा का मन समस्त पदार्थों से उदास हो जाता है; उस तरह हमें भी खाते-पीते, घोड़े पर चढ़ते, प्रसन्नता-अप्रसन्नता में सभी काल में मन सदा उदास ही रहता है।

और हृदय में ऐसा विचार रहता है कि 'हम तो देह से पृथक् आत्मा हैं, परन्तु देह जैसे नहीं हैं।' फिर हृदय में ऐसा विचार रहता है कि आत्मा में शायद रजोगुण, तमोगुण आदिक कोई माया का भाग मिश्रित न हो जाये! उनका सतत बार-बार समीक्षण करते रहते हैं। **जैसे साढ़े सोलह अंशवाला सोना हो और उसे सुनार की पीढ़ी[१] पर ले जाये और यदि मालिक की जरा सी नजर चूक जाये तो सुनार सोना निकालकर उसमें चांदी मिला देता है। उस तरह यह हृदयरूपी तो सुनार की पीढ़ी है और उसमें मायारूपी सुनार है;** वह स्वयं बैठा हुआ संकल्परूप जो हथौड़ा है, उससे अखण्ड टच-टच टचका मारता रहता है, और जैसे सुनार के लड़के-स्त्री हो, वे सांकेतिक बात करके उन्हें

१. दुकान

यदि हाथ लग जाये तो कुछ भी सोना चुरा लेते हैं; उस तरह इन्द्रियाँ-अन्तःकरण ये सब मायारूप जो सुनार है उनके लड़के-स्त्री हैं, वे कंचनरूप जो चैतन्य है, उसमें तीनगुण तथा पञ्चविषय में आसक्ति तथा देहाभिमान तथा काम, क्रोध, लोभादिकरूप जो चाँदी है उसे मिलाकर ज्ञान-वैराग्यादिक गुणरूप जो सोना है उसे निकाल लेते हैं। और जिस सोने में से सोना निकालकर चांदी मिश्रित किया जाये तब वह सोना बारह अंशवाला हो जाता है और फिर उस सोने को तपा-तपाकर पुनः सोलह अंशवाला किया जाये, तब होता है; उस तरह इस जीव में रज, तम आदिक जो चांदी मिली है, उसे पिघालकर निकाल दें, फिर कंचनरूपी जो एक आत्मा है वह ही रहती है, परन्तु दूसरी मायिक मिलावट कुछ नहीं रहती है।' इस प्रकार के विचार में हम रात-दिन लगे रहे हैं; यह हमने हमारा अंग है, उसे कहा। अब इस तरह जिसे जो अंग हो उसे कहिए,'' फिर सन्तमण्डल ने ऐसा कहा कि ''हे महाराज ! आप में तो मायिक गुण का भाग[१] होता ही नहीं है। आप तो कैवल्य मूर्ति हैं; परन्तु यह जो आपने सभी बातें कही, वह तो हमारे अंग की है और आपने कहा जो विचार, उसे हम सबको रखना चाहिए।'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज ''जय सच्चिदानन्द'' कहकर अपने निवास स्थान पर पधारे।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥५५॥१८८॥

वचनामृत ५६ : 'कुसुम्भी वस्त्र का'

संवत्* १८८१ के आषाढ़ शुक्ल ५ पञ्चमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वाभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनिमण्डल की सभा तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

---

*दि. १-७-१८२४, गुरुवार

१. मायिक गुण का अंश।

साधु दुक्कड़–सरोद लेकर कीर्तन गान कर रहे थे। तब कीर्तन भक्ति हो जाने के बाद श्रीजीमहाराज ऐसा बोले कि "यह कीर्तन सुनने से तो हमारी आत्मा विचार में चली गई। तब उसमें ऐसा दिखाई दिया कि '**भगवान में जो अतिशय प्रीति है, वह बहुत बड़ी बात है।**' फिर तो **गोपालानन्द स्वामी आदिक** जो भगवान में प्रीतिवाले हरिभक्त हैं, वे सभी याद आ गए और उन सभीके अन्तःकरण तथा उन सभीके जीव और उनकी जो भगवान में प्रीति, वे सभी दिखने में आया। फिर हमने हमारी आत्मा का समीक्षण किया, तब हमारी भगवान में जैसी प्रीति दिखाई दी वैसी दूसरों की प्रीति नहीं दिखाई दी; क्योंकि, कुछ अशुभ[१] देशकालादिक का जब योग होता है, तब वे सभी बड़े हैं, तो भी जरा सा उनकी बुद्धि में फर्क आ जाता है। उस समय ऐसा लगता है कि 'अन्त में तो नींव कच्ची दिखती है।' तो यदि बहुत से अशुभ देशकालादिक का योग हो जाये तो भगवान में प्रीति है, उसका कोई ठिकाना रहता नहीं है।' इसलिए इन सब को देखते हुए हमें हमारी ओर का उचित लगता है कि 'चाहे कैसा भी अनिष्ट देशकालादिक का योग हो जाये, तो भी किसी भी प्रकार से हमारा अन्तःकरण फिरता[२] नहीं है।' और '**भगवान में प्रीति तो उसकी ही सच्ची है कि जिसे भगवान के बिना दूसरे कोई पदार्थ में प्रीति ही न हो।**' सभी सद्ग्रन्थों का भी यही रहस्य[३] है कि जो[४] भगवान हैं, वे ही परम सुखदायक हैं और परम सार वस्तु हैं। उन प्रभु के बिना जो–जो दूसरे पदार्थ हैं, वे अतिशय तुच्छ हैं और अति असार हैं। और जिसे भगवान जैसी दूसरे पदार्थ में भी प्रीति हो, उसकी तो नींव बहुत कच्ची है। **जैसे कुसुम्भी वस्त्र हो,** वह बहुत सुन्दर दिखता हो, परन्तु जब उस पर पानी पड़ता है, फिर उसे धूप में सुखाते हैं, तब वह बिल्कुल बेकार हो जाता है और सफेद वस्त्र जैसा भी नही रहता है; उस तरह जिसे पञ्चविषय में प्रीति हो, उसे जब कुसंग का योग होता है तब कोई ठिकाना नहीं रहता है। इसलिए **जो भगवान का भक्त**

१. अनिष्ट २. चलित

३. भगवान में ही सभीसे अधिक प्रीति सब प्रकार से करें, क्योंकि। ४. भगवान

हो, उसे तो भगवान को प्रसन्न करने के लिए पञ्चविषय का अतिशय त्याग करना चाहिए, परन्तु भगवान में जो प्रीति है, उनमें विघ्न करे ऐसा कोई पदार्थ प्रिय न रखें ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥५६॥१८९॥

वचनामृत ५७ : 'छिपकली के दृष्टान्त का- बिल्ली जैसे भक्त का'

संवत्* १८८१ के आषाढ़ शुक्ल ६ षष्ठी के दिन सन्ध्या आरती के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वाभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । उनके मस्तक पर श्वेत पाग पुष्पों के तुर्रे सहित विराजमान थी, श्वेत चद्दर ओढ़ी थी, सफेद खेस ओढ़ा था और श्रीजीमहाराज के मुखारविन्द के समक्ष परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी । और मशाल का प्रकाश हो रहा था तथा मुनिमण्डल दुक्कड़ एवं सरोद लेकर भगवान के कीर्तन का गान कर रहे थे ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''सुनिये, एक वार्ता करते हैं कि जब आप कीर्तन गा रहे थे तब हमने कीर्तन सुनते जो विचार किया है, उस विचार को कहते हैं कि **भगवान में प्रीति करनी है, वह एक सत्तारूप रहकर ही करें।** और वह सत्तारूप आत्मा कैसी है ? तो जिसमें माया एवं माया के कार्य जो तीन गुण तथा देह, इन्द्रयाँ, अन्तःकरण उनका कोई आवरण नहीं है । और आत्मा में कुछ आवरण जैसा दिखाई देता है, वह अज्ञान से दिखाई देता है, परन्तु जिसने ज्ञान-वैराग्य से उसका सभी प्रकार से निषेध कर दिया है उसे तो उन आत्मा में किसी प्रकार का आवरण नहीं है । उस आत्मारूप से रहना वह केवल ब्रह्म होकर मस्त रहना, उसके लिए नहीं है; वह तो स्वयं को आत्मारूप रहने का यह प्रयोजन है कि 'मैं आत्मा हूँ,' तो मुझमें किसी भी प्रकार का माया का आवरण नहीं है, तो आत्मा से पर जो परमात्मा नारायणवासुदेव, उनमें तो माया

*दि. २-७-१८२४, शुक्रवार

का लेश भी कैसे हो ?' **इस तरह से भगवान में किसी भी प्रकार का दोष न आये, उसके लिए आत्मनिष्ठा दृढ़ करके रखें ।** और उन आत्मा के प्रकाश में विचार को रखकर सत्तारूप में जो[१] प्रवेश करने लगे तो उनका नाश कर डालें । **जैसे दीपक के प्रकाश में छिपकली आकर जो-जो जन्तु आते हैं, उनका नाश कर देती है; उस तरह आत्मा का जो प्रकाश, उसमें रहा जो विचार[२], वह[३] आत्मा के सिवा दूसरे पदार्थों का नाश कर देता है ।**

और फिर जिसे परमेश्वर में प्रीति रहती है, उसे तो परमेश्वर के सिवा दूसरे कोई पदार्थ में प्रीति नहीं रहती है। परमेश्वर के बिना दूसरा जो-जो पदार्थ अधिक लगता है, उनका जो अतिशय त्याग किया जाये, **वह त्याग सच्चा है ।** और वह पदार्थ छोटा हो या बड़ा हो, परन्तु उसका जो त्याग करना है, उसका ही नाम त्याग कहलाता है । **जो पदार्थ भगवान के भजन में बाधक होता हो, उसे तो न छोड़ सके और दूसरा ऊपर से तो बहुत त्याग किया हो, परन्तु उसका वह त्याग वृथा[४] है ।** और ऐसा कुछ न मान लें कि 'उत्तम पदार्थ हो, वह ही भगवान के भजन में विघ्न करता है और तुच्छ पदार्थ हो, वह नहीं करता है।' यह तो जीव का ऐसा स्वभाव है कि जैसे किसीको मीठा प्रिय लगता है, किसीको खारा प्रिय लगता है, किसीको खट्टा प्रिय लगता है, किसीको कड़वा प्रिय लगता है, उस तरह जीव की तो ऐसी तुच्छ बुद्धि है कि जो अल्प पदार्थ है, उसे भी भगवान से अधिक प्रिय करके रखता है । जब भगवान की महत्ता के सामने देखते हैं, तब तो ऐसा कोई पदार्थ नहीं है कि 'जिनके कोटि वें से, एक भाग के अंश में आ सके ।' ऐसे भगवान को यथार्थ जानकर यदि स्नेह किया हो, तो मायिक पदार्थ जो पिण्ड ब्रह्माण्डादिक, उनमें कहीं भी प्रीति नहीं रहती है। मायिक पदार्थ सभी तुच्छ हो जाते हैं, और उन भगवान का जब यथार्थ महिमा जानने में आया तब चित्रकेतु राजाने करोड़[५] स्त्रियों का त्याग किया और समस्त पृथ्वी का चक्रवर्ती राज्य था, उस राज्य का भी त्याग किया । वे ऐसा समझते थे कि 'उन भगवान के सुख के आगे एक सौ लाख स्त्रियों का

१. माया का भाव २. ज्ञानरूपी विचार ३. विचार ४. मिथ्या, निरर्थक ५. भागवत ६/१६/१५

जो सुख है उसकी क्या गणना है ? और चक्रवर्ती राज्य के सुख की भी क्या गणना ?' और उससे इन्द्रलोक तथा ब्रह्मा के लोक के सुख की भी क्या गणना ?

और ऐसे जो भगवान हैं, उनके बिना जो दूसरे पदार्थ में प्रीति करता है, वह तो अतिशय तुच्छ बुद्धिवाला है । जैसे कुत्ता सूखी हड्डी को एकान्त में ले जाकर व्यर्थ चबाता है, और उसमें सुख मानता है; उस तरह मूर्ख जीव है, वह दु:ख में सुख मानकर तुच्छ पदार्थ में प्रीति करता है । **जो भगवान का भक्त कहलाता है, और उसे भगवान से दूसरे पदार्थ में तो प्रीति अधिक हो, वह तो केवल बिल्ली जैसा भक्त[१] है । जो भगवान का यथार्थ भक्त होता है, उसे तो भगवान से दूसरा कोई पदार्थ अधिक होता ही नहीं है।** और ज्ञान, वैराग्य, भक्ति एवं धर्म से युक्त ऐसा जो भगवान का भक्त है, वह तो ऐसा जानता है कि 'शूरवीर हो, वह युद्ध करते समय शत्रु के सामने जाता है, परन्तु डरता नहीं है, वह शूरवीर सच्चा है । और शूरवीर हो, और लड़ाई में काम न आया तथा गांठ में[२] धन हो, और वह खर्च करने में-व्यय करने में काम न आया, वह व्यर्थ है । उस तरह मुझे भगवान मिले हैं, तो जो जीव मेरा संग करता है, उसके आगे मैं कल्याण की बात न करूँ तो मेरा ज्ञान क्या काम में आया ?' ऐसा विचार करके उपदेश करने के लिए कोई थोड़ी-बहुत उपाधि रहती हो तो भी परमेश्वर की बात करने में कायरता न रखें ।'' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज ने तुलसीदास के तीन पदों का गान करवाया । उन तीनों पदों के नाम एक तो - **'ज्याकी[३] लगन राम सो नाहि,'** तथा दूसरा - **'एहि कह्यों सुनु वेद चहु'** तथा तीसरा - **'ज्याकुं प्रिय न राम वैदेही'** इन तीनों पदों का गान करवाने के बाद श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिस तरह से इन पदों में कहा है, उसी तरह से हमें रहना हैं । वैसे रहते-रहते अगर कुछ अधूरा रहा और इतने में यदि देहान्त हो गया तो भी मरकर नरक-चौरासी में जाना नहीं है या कोई भूत-प्रेत नहीं होना है; बहुत सा खराब से खराब देह मिलेगा तो भी इन्द्र के जैसा या ब्रह्मा के जैसा तो मिलेगा ही, परन्तु उससे निम्न नहीं मिलेगा ।

१. बगलाभक्त, दंभी, ढोंगी - आडंबरी २. अपने पास ३. देखें परिशिष्ट पेज नं. ८०६

इसलिए निर्भय रहकर भगवान का भजन करें ।'' ऐसा कहा तब श्रीजीमहाराज को मुकुन्द ब्रह्मचारी बुलाने आये उनके साथ वे भोजन के लिए पधारे ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥५७॥१९०॥

वचनामृत ५८ : 'सम्प्रदाय की पुष्टि का'

संवत्* १८८१ के श्रावण शुक्ल ४ चतुर्थी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वीद्वार के कक्ष के बरामदे में गद्दी-तकिया बिछवाकर विराजमान थे। श्रीजीमहाराज ने सर्वे श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनिमण्डल तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ''जो-जो आचार्य हुए हैं, उनके सम्प्रदायों की पुष्टि दीर्घकाल तक कौन से उपाय से रहती है ?'' फिर मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि ''एक तो सम्प्रदाय सम्बन्धी ग्रन्थ हो तथा दूसरा शास्त्र में कहा ऐसा वर्णाश्रम का धर्म हो तथा तीसरा अपने इष्टदेव में अतिशय दृढ़ता हो; इन तीनों के योग से अपने सम्प्रदाय की पुष्टि होती रहती हैं ।'' फिर श्रीजीमहाराज ने ब्रह्मानन्द स्वामी तथा नित्यानन्द स्वामी से भी पूछा, तब उन्होंने भी इसी तरह से कहा । तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''लीजिए, इस प्रश्न का उत्तर हम करते हैं कि सम्प्रदाय की पुष्टि तो ऐसे होती है कि सम्प्रदाय के जो इष्टदेव हो, उनका जिस प्रयोजन से पृथ्वी पर जन्म हुआ हो और जन्म धारण करके उन्होंने जो-जो चरित्र किये हो और जो-जो आचरण[१] किये हो, उन आचरणों में धर्म भी सहज में आ जाता है और उन इष्टदेव की महिमा भी आ जाती है। इसलिए **अपने इष्टदेव के जो जन्म से लेकर देह त्याग तक चरित्र, उनका जो शास्त्र है, उनसे सम्प्रदाय की पुष्टि होती है ।** वह शास्त्र संस्कृत हो अथवा भाषा हो, परन्तु वही ग्रन्थ सम्प्रदाय की पुष्टि करता है; किन्तु उनके सिवा दूसरा ग्रन्थ अपने सम्प्रदाय की पुष्टि नहीं करता है । जैसे रामचन्द्र के

*दि. २९-७-१८२४, गुरुवार **१.** चरित्र, लीला

उपासक हो, उसे वाल्मीकि-रामायण से ही अपने सम्प्रदाय की पुष्टि होती है; तथा श्रीकृष्ण भगवान के जो उपासक हो, उन्हें दशम स्कन्ध तथा एकादश स्कन्ध; ये दो जो भागवत के स्कन्ध हैं, उनसे अपने सम्प्रदाय की पुष्टि होती है; परन्तु रामचन्द्र के उपासकों तथा श्रीकृष्ण के उपासकों की वेद से अपने सम्प्रदाय की पुष्टि नहीं होती है। इसलिए अपने सम्प्रदाय की रीति का जो शास्त्र हो, वही आनेवाले दिनो में अपने सम्प्रदाय को पुष्ट करता है।'' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज ने मुक्तानन्द स्वामी को कहा कि ''आप भी अपने सम्प्रदाय सम्बन्धी तथा अपने इष्टदेव सम्बन्धी जो वाणी[१] तथा शास्त्र, वही जीवन पर्यन्त करते रहिए तथा आपका देह रहे तब तक आप को यही आज्ञा है।'' फिर श्रीजीमहाराज का यह जो वचन था, उसे मुक्तानन्द स्वामी ने अति आदरपूर्वक सिर पर धारण किया और श्रीजीमहाराज को दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार किया।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥५८॥१९१॥

वचनामृत ५९ : 'परम कल्याण का'

संवत्* १८८१ के श्रावण शुक्ल १२ द्वादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के बरामदे में पलंग पर पूर्व की ओर मुख किये विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''**चार वेद, पुराण, इतिहास इन सब में यही बात है कि 'भगवान तथा भगवान के सन्त हैं, वे ही कल्याणकारी हैं, और भगवान के जो साधु हैं, वे तो भव-ब्रह्मादिक देव से भी अधिक हैं। तो भगवान तथा भगवान के सन्त की जब प्राप्ति हुई, तब इस जीव को उससे बढ़कर दूसरा कोई कल्याण नहीं है, यही परम कल्याण है।**

*दि. ६-८-१८२४, शुक्रवार

१. कीर्तन एवं वार्ताग्रन्थ।

भगवान के सन्त की सेवा तो बहुत बड़े पुण्यवाले को मिलती है, परन्तु अल्प पुण्यवाले को नहीं मिलती है। इसलिए भगवान के सन्त के साथ तो ऐसी प्रीति रखें कि जैसी प्रीति स्त्री पर है या पुत्र पर है या माता-पिता तथा भाई पर है, वैसी प्रीति रखें; तब उस प्रीति से जीव कृतार्थ हो जाता है। अपने जो स्त्री-पुत्रादिक हो, वे तो कुपात्र होते हैं तथा कुलक्षणवाले होते हैं तो भी किसी भी प्रकार से उनका अवगुण इस जीव को नहीं आता है; और भगवान के जो भक्त होते हैं वे तो सभी शुभगुणों से युक्त होते हैं, किन्तु यदि उन्होंने जरा सा कटुवचन कहा हो, तो उसकी अँटी[१] जीवन पर्यन्त छोड़ते नहीं है। ऐसी जिसकी वृत्ति है, उसे तो जैसी अपने सम्बन्धी पर प्रीति है, वैसी तो भगवान के भक्त पर कहलाती ही नहीं है। तब उसका कल्याण भी नहीं होता है। सन्त की महिमा तो पहले कही ऐसी बड़ी है, उन सन्त की तथा भगवान की प्राप्ति हुई हैं, तो भी किसी को ऐसी डगमगाहट रहती है कि 'मेरा कल्याण होगा कि नहीं होगा ?' इसका क्या कारण है ? तो उस जीव को पूर्व जन्म में भगवान या भगवान के सन्त की प्राप्ति नहीं हुई थी, तथा उनकी सेवा भी उसने नहीं की थी; उसे तो इस जन्म में ही नई शरुआत[२] है, जो अगले जन्म में फलीभूत होगी। **जिसे पूर्वजन्म में भगवान या भगवान के भक्त की प्राप्ति हुई होगी, तथा उनकी सेवा की होगी, उसे तो इस जन्म में भगवान या भगवान के भक्त में से प्रीति मिटती ही नहीं है, और निश्चय में भी डगमगाहट नहीं होती;** और काम, क्रोध, लोभ सम्बन्धी संकल्प तो कदाचित् रहता हो, परन्तु भगवान का निश्चय तो किसी भी तरह से मिटता नहीं है, तो किसीके वचन से नहीं मिटता इसमें क्या कहना ? उसे तो यदि अपना मन डगमगाहट[३] कराये तो भी डगमगाहट नहीं होती। उसकी दृढ़ता तो जैसी 'नाथभक्त की[४] है या जैसी विष्णुदास की[५] थी या जैसी हिमराजशाह की[६]

१. द्वेष, गांठ २. प्रारम्भ ३. संशय ४. वड़ोदरा नगर के वैश्य भक्त।
५. डभाण गाँव के वैश्य भक्त। ६. सुंदरीयाणा गाँव के व्यापारी भक्त।

थी या जैसी काशीदास को[१] है या जैसी भालचन्द्र शेठ को[२] थी या जैसी दामोदर को[३] है; ऐसी दृढ़ता हो, तब समझना कि यह पूर्वजन्म का भगवान का भक्त है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥५९॥१९२॥

वचनामृत ६० : 'विक्षेप टालने का - पक्ष रखने का'

संवत्* १८८१ के श्रावण कृष्ण ४ चतुर्थी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कक्ष के पूर्वाभिमुख बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने श्वेत पाग मस्तक पर बाँधी थी, श्वेत पिछौरी ओढ़ी थी तथा सफेद खेस पहना था और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि ''प्रश्न उत्तर करिए ।'' तब मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! इस संसार में तो कितने प्रकार के विक्षेप आते हैं, उसमें भगवान का भक्त किस प्रकार की समझ रखे तब अन्तर में सुख रहता है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''इसका उत्तर तो हमें जैसा दिखता हैं, वैसा कहते हैं कि **अपने देह से भिन्न जो अपनी आत्मा है, उसका जो निरन्तर अनुसंधान तथा मायिक ऐसे जो पदार्थमात्र, उनकी नाशवन्तता का जो अनुसंधान तथा भगवान के माहात्म्य ज्ञान का जो अनुसंधान;** इन तीनों के होने से कोई विक्षेप बाधक नहीं बनता । जब किसी प्रकार के विक्षेप का योग आता है, तब उपर से तो चित्त का धर्म है तो विक्षेप जैसा लगता है, परन्तु उस विक्षेप का तो अपने चैतन्य में कोई दंश[४] बैठता नहीं है । यह कैसे जानने में आता है ? तो जब सोते है, तब बाह्य जो विक्षेप है, वह कभी भी स्वप्न में दिखाई ही नहीं देता । और जो चैतन्य में विक्षेप प्रवेश कर गया हो, वह तो तीनों अवस्थाओं में दिखाई देता है । इसलिए स्वप्न में किसी प्रकार से विक्षेप नहीं दिखता है, उससे ऐसा जानने में आता है कि चैतन्य में किसी तरह से विक्षेप

*दि. १४-८-१८२४, शनिवार **१.** बोचासण गाँव के वैश्य भक्त ।
२. सुरत शहर के वैश्य भक्त । **३.** अमदावाद शहर के वैश्य भक्त । **४.** घाव, असर

लगता नहीं है ।' और जो भगवान का भक्त हो, और उसे किसी प्रकार के दुःख का विक्षेप हुआ हो, वह तो अच्छी तरह से अन्तर में जानने में आता है, परन्तु न दिखाई दे ऐसा नहीं है । और वह तो रघुनाथ जैसा विमुख हो उसे तो नहीं दिखाई देता है; तो जब रामानन्द स्वामी ने देह त्याग किया और सभी सत्संगी रोने लगे तब भी रघुनाथदास को जरा भी शोक नहीं हुआ; और वह हसता था तथा दूसरों के आगे बात करता जाता था । इसलिए **भगवान के भक्त को दुःख आ पड़े तब तो जो चांडाल तथा विमुख हो, उसे दुःख नहीं होता है, परन्तु जो भगवान का भक्त है, वह तो हरिभक्त के दुःख से जरूर दुःखी होता है ।**

और जो भगवान का भक्त हो, उसे कोई मार डालता हो अथवा उसे कोई दुःख देता हो, तब भगवान के उन भक्त के बीच में जाकर जो मरता है या घायल होता है, तो शास्त्र में ऐसा कहा है कि 'उसके ब्रह्महत्यादिक जो पञ्च महापाप, वे सभी नाश हो जाते हैं;' **ऐसा भगवान के भक्त का पक्ष रखने का प्रताप है ।** भगवान के भक्त का वचन जिसे बाण की तरह हृदय में असह्य लगता हो, और उसकी वैरभाव से अँटी[१] हो जाये, वह जीवनपर्यन्त छूटे नहीं ऐसा जो चाण्डाल जैसा जीव हो, वह धर्म से युक्त हो, त्याग से युक्त हो, तप से युक्त हो, वे सभी व्यर्थ हैं; और दूसरे भी कोटिशः साधन करता है, परन्तु उसके जीव का किसी कालमें कल्याण नहीं होता है । और इस संसार में जैसे कोई स्त्री हो, वह अपने पति पर तथा अन्य पुरुष पर समान प्रीति रखती हो तो वह वेश्या जैसी दुष्टा कहलाती है; उस तरह इस संसार में जो ऐसा पुरुष हो कि 'हमें तो सभी साधु समान है, किसे अच्छा और किसे बुरा कहें ? तो वह सत्संगी कहलाता हो, तो भी उसे विमुख जानें । और जो पुरुष ऐसा समझता है कि 'हम कुछ उल्टा-पुल्टा बोलेगें तो अपना मनुष्य अवगुण लेगा;' इस तरह से अपना अच्छापन बनाये रखने के लिए भगवान का या भगवान के भक्त का

१. द्वेष

कोई निष्कृष्ट[१] वचन बोलता है, और उसे सुनता रहता हो, तो वह सत्संगी कहलाता हो तो भी उसे विमुख समझें । जैसे अपने सगे-सम्बन्धी हों, अथवा माता-पिता हों, उनका पक्ष रहता है, वैसा भगवान के भक्त का दृढ़ पक्ष रखें। और **भगवान के भक्त के साथ किसी तरह का विक्षेप हो जाये तो पानी में लकीर की तरह फिर एक हो जाता है, किन्तु अँटी[२] न रखें; वही भगवान का यथार्थ भक्त कहलाता है।''** इतनी वार्ता करके फिर श्रीजीमहाराज ऐसा बोले कि ''मैं तो दत्तात्रेय, जड़भरत, नारद और शुकजी के समान दयावान हूँ। और पूर्वदेश में एक समय नागे वैरागियों[३] की जमात के साथ था, तब मुझे सभी वैरागियों ने कहा कि चौलाई की भाजी को तोड़िए।' तब मैंने कहा कि 'इसमें तो जीव है, तो उसे हम नहीं तोड़ेंगे ।' तब एक आदमी तलवार निकालकर गुर्राया, तो भी हमने हरी भाजी नहीं तोड़ी, ऐसा हमारा दयावाला स्वभाव है; तो भी **यदि कोई भगवान के भक्त को क्रूर दृष्टि से देखता हो, और वह यदि अपना सगा-स्नेही हो तो भी ऐसा लगता है कि 'उसकी आंखे फोड़ डालें और हाथ से यदि भगवान के भक्त को दुःखी करता है तो उस हाथ को काट डालें;' ऐसा उनका अभाव आता है, परन्तु वहाँ दया नहीं रहती । और ऐसा जिसे भगवान का तथा भगवान के भक्त का पक्ष हो, वही भगवान का पूर्ण भक्त कहलाता है ।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥६०॥१९३॥

वचनामृत ६१ : 'नियम, निश्चय और पक्ष का'

संवत्* १८८१ के श्रावण कृष्ण ७ सप्तमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कक्ष के पूर्वी बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने मस्तक पर सुनहरा पल्ले का श्वेत शेला बाँधा था, दूसरा श्वेत शेला ओढ़ा था, सफ़ेद खेस पहना था, मोगरे

---

*दि. १७-८-१८२४, मंगलवार

१. निन्दित शब्द, न्यून २. द्वेष ३. नागा बावा

के फूलों के हार पहने थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसमें तीन बातें होती हैं, वह पक्का सत्संगी कहलाता है । वे तीन बातें कौन सी हैं ? **एक तो अपने इष्टदेव ने जो नियम धारण करवायें हो,** उन्हें अपने सिर वास्ते[१] रखकर दृढ़ करके पालन करता हो परन्तु उस धर्म का कभी त्याग न करता हो । और **दूसरा, भगवान के स्वरूप का जो निश्चय है,** वह अतिशय दृढ़ता से हो, परन्तु उसमें कोई संशय डाले तो संशय न हो, और अपना मन संशय डाले तब भी संशय नहीं होता; भगवान का ऐसा अडिग निश्चय हो । और **तीसरा, अपने इष्टदेव को भजते हो ऐसे जो सत्संगी वैष्णव, उनका पक्ष रखना,** तो जैसे मात-पिता अपने बेटा-बेटी का पक्ष रखते हैं, और जैसे पुत्र हो, वह अपने पिता का पक्ष रखता है, तथा जैसे स्त्री हो, वह अपने पति का पक्ष रखती है; उस तरह भगवान के भक्त का पक्ष रखें । **ये तीन गुण जिसमें परिपूर्ण हो, वह पक्का सत्संगी कहलाता है ।** और हरिभक्तों की सभा में आगे आकर बैठता हो, तब दूसरों को ऐसा लगता है कि 'वह बड़ा[२] सत्संगी है ।' **परन्तु बड़ों की तो इस तरह परीक्षा है कि गृहस्थ हो,** वह तो अपना सर्वस्व भगवान तथा भगवान के भक्त के वास्ते कर रखें और सत्संग के लिए अपना प्राण देना पड़े, तो दे देता है । और जिस क्षण अपने इष्टदेव आज्ञा करें कि 'तू परमहंस बन जा' तो वह तत्काल परमहंस हो जाता है । ऐसे जिसके लक्षण हो, वह हरिभक्तों की सभा में आगे बैठता हो अथवा पीछे बैठता हो, परन्तु **उसे ही समस्त हरिभक्तों में बड़ा[३] जानें ।** और **जो त्यागी हो,** वह जब देश-परदेश में जाये और वहाँ कनक-कामिनी का योग हो जाये, तब भी उसमें फर्क[४] न पड़े और अपने जो- जो नियम हैं, उन सभीको दृढ़तापूर्वक रखें, **वह सभी त्यागी में बड़ा कहलाता है ।'**

१. सिर कटने पर भी नियम न छोड़े २-३. अग्रगण्य ४. बदलाव, आसक्ति, बन्धन

और फिर संसार में जो कोई रजोगुणी बड़ा मनुष्य कहलाता हो, और वह जब सभा में आता है, तब उसे आदर(१) करके समस्त सभा के अग्रभाग में बैठाना चाहिए; वह तो व्यवहार है, उसे ज्ञानी हो, त्यागी हो, उन्हें भी रखना चाहिए और यदि न रखें तो उसमें से अनिष्ट होता है। जैसे राजा परीक्षित ऋषि के आश्रम में गए तब ऋषि समाधि में थे, तो राजा का सम्मान न हो सका। फिर उस राजा को रोष हुआ, तो मरा हुआ सर्प था, उसे ऋषि के गले में डाल दिया। फिर उन ऋषि के पुत्र ने शाप दिया, जिससे उस राजा की सात दिन में मृत्यु हो गई । और जब ब्रह्मा की सभा में दक्ष प्रजापति आये, तब शिवजी खड़े न हुए और वचन से भी दक्ष का सन्मान न हुआ । बाद में दक्ष को रोष हुआ, तो शिव का यज्ञ में से भाग निकाल दिया। बाद में नंदीश्वर और भृगुऋषि को परस्पर शाप हुए । फिर उस पाप से सती(२) दक्ष के यज्ञ में जल मरे और वीरभद्र ने दक्ष का मस्तक काटकर अग्नि में होम दिया और दक्ष का मुख बकरे का हो गया । **इसलिए गृहस्थ तथा त्यागी; उन सभीको यह रीति रखनी है कि 'संसार व्यवहार में जो बड़ा मनुष्य कहलाता हो, उसका सभा में किसी भी तरह से अपमान न करें;'** और यदि अपमान करते हैं तो उससे अवश्य दु:ख होता है और भजन स्मरण में भी विक्षेप होता है। इसलिए इस वार्ता को सत्संगी गृहस्थ समस्त तथा त्यागी सभी दृढ़ता करके रखें ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ।६१॥१९४॥

वचनामृत ६२ : 'आत्मनिष्ठा, पतिव्रतापन, और दासत्व का'

संवत्* १८८१ के मार्गशीर्ष शुक्ल २ द्वितीया के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में उत्तराभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी तथा सफेद शाल(चौफाळ) ओढ़ी थी तथा सफेद खेस पहना

*दि. २२-११-१८२४, सोमवार

१. सत्कार २. पार्वतीजी

था और श्रीजीमहाराज के मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज ने अपने भतीजे अयोध्याप्रसादजी और रघुवीरजी को बुलवाकर कहा कि ''आप हमसे प्रश्न पूछें ।' फिर प्रथम अयोध्याप्रसादजी ने प्रश्न पूछा कि ''इस संसार में ऐसा पुरुष है, जो आठों प्रहर तो संसार की उपाधियों में रहा हो, और कैसा भी योग्य-अयोग्य कर्म भी हो जाता हो, और वह एक घड़ी या दो घड़ी भगवान का भजन करता हो, तब उस भजन से उसके पूरे दिन में किये पाप जलते हैं या नहीं जलते हैं ? यह प्रश्न है ।'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''पूरा दिन प्रवृत्ति मार्ग में रहकर चाहे कैसी भी क्रिया की हो, जब भगवान का भजन करने बैठता है, उस समय उस **भजन करनेवाले की इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और जीव वे सभी एकाग्र होकर यदि भजन में जुट जाये, तो इस तरह एक घड़ी या आधी घड़ी भी यदि भगवान के भजन में जुट जाये तो समग्र पाप जलकर भस्म हो जाते हैं** । यदि इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और जीव वे एकाग्र होकर यदि भगवान के भजन में नहीं जुटते हैं, तो उसके भजन से तो घड़ी या आधी घड़ी में पाप नहीं जलते हैं, और उसका जो कल्याण, वह तो भगवान के प्रताप से होता है । इस का यही उत्तर है ।''

फिर रघुवीरजी ने प्रश्न पूछा कि हे महाराज ! इस जीव का मोक्ष तो कैसे करे तब होता है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''**जिन्हें अपने कल्याण की इच्छा हो, वे अपना देह, धन, धाम, कुटुम्ब-परिवार; उन सभीको भगवान की सेवा में जुटा दें और भगवान की सेवा में जो पदार्थ काम न आये, तो उसका त्याग कर दें** । इस तरह जो भगवान परायण रहता हो, वे गृहस्थाश्रमी हो तब भी मरता है तब भगवान के धाम में नारद-सनकादिक की पंक्ति में बैठता है तथा परम मोक्ष को प्राप्त होता है । इसका यही उत्तर है ।''

इस प्रकार श्रीजीमहाराज वार्ता करके फिर अपनी इच्छा से बोले कि ''हम जिस दिन से विचार करते हैं, उस दिन से हमारी नजर में ऐसा आता है कि **जीव के कल्याण के लिए तीन अंग हैं, वे अति सुखदायी हैं।** उसमें **एक तो अतिशय आत्मनिष्ठा,** जो शुकजी की तरह आत्मारूप होकर परमेश्वर का भजन करना। और **दूसरा, पतिव्रता का अंग,** जो गोपियों की तरह पतिभाव से भगवान का भजन करना। और **तीसरा, दासपने का अंग,** जो हनुमानजी तथा उद्धवजी की तरह दासभाव से भगवान का भजन करना। इन तीन अंगों के बिना किसी भी तरह से जीव का कल्याण नहीं होता है। हम तो इन तीनों अंगों को दृढ़ करके रखते हैं। और इन तीनों अंगों में से जिसको एक भी अंग दृढ़तापूर्वक हो, तो वह कृतार्थ होता है। अब इन तीनों अंगवालों के जो लक्षण हैं, उसे पृथक्-पृथक् करके कहते हैं। **इसमें आत्मनिष्ठावाले का तो यह लक्षण है कि** एक ओर तो आत्मा है, और एक ओर देह, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, तीन गुण, पञ्चविषय; इत्यादिक माया की टोली है। और इन दोनों के बीच में जो विचार रहता है, वह विचार ज्ञानस्वरूपी है। वह विचार जैसे वायु रहित स्थान में दीपक की लौ अतिशय स्थिर होकर रहती है, वैसे स्थिर होकर रहता है। वह विचार देह, इन्द्रियाँ, तथा अन्तःकरण; उनको आत्मा के साथ एक होने नहीं देता। वह विचार भी आत्मा के साथ एक नहीं होता है। जब उस विचार को जीव प्राप्त होता है, तब उस जीव की वृत्ति काशी तक दूर हो, तो वड़ताल तक आ जाती है। फिर वह विचार जब दृढ़ होता है, तब वड़ताल से इस गढ़डा तक आ जाती है। फिर इस गढ़डा जितनी लम्बी वृत्ति हो, वह सिमटकर अपने देह तक सीमित रहती है। और फिर देह में से वृत्ति संकुचित होकर इन्द्रियों के गोलक में ही रहती है। इसके बाद इन्द्रियों के गोलक से इन्द्रियों की वृत्तियाँ हैं, वे अन्तःकरण सन्मुख हो जाती हैं। और फिर इन्द्रियों की तथा अन्तःकरण की जो वृत्ति है, वह आत्मा में लीन हो जाती है, तब इस जीव के वासनालिंग देह का नाश हुआ कहलाता है। और यह जो विचार है, वह जब इस जीव

के साथ मिलता है, तब उस जीव के हृदय में प्रकाश होता है तथा अपनी आत्मा का ब्रह्मरूप से दर्शन होता है और उस ब्रह्म में परब्रह्म जो नारायण हैं, उनका भी दर्शन होता है। उस दर्शन करनेवाले को ऐसा अनुभव होता है कि **'मैं आत्मा हूँ और मुझमें जो परमात्मा हैं, वे अखण्ड रहे हैं।' और इस तरह की अखण्ड स्थिति रहती हो, वह आत्मनिष्ठा की अति उत्तम दशा है ।**

और **पतिव्रता का जो अंग है, वह तो ब्रज की गोपियों के जैसा होना चाहिए । जैसे गोपियों ने जिस दिन से श्रीकृष्णभगवान के चरणारविन्द का स्पर्श किया उस दिन से जितने संसार सम्बन्धी जो सुख हैं, वे सभी विष[१] के समान हो गए;** वैसे जिसे पतिव्रता के अंग की भक्ति हो, वह तो चाहे इन्द्र जैसा रूपवान पुरुष हों, तथा देवता जैसा हो, तथा कोई राजा हो, और उसे जब देख ले, तब जैसे सड़े हुए कुत्ते को देख ले अथवा विष्ठा को देख ले तब अतिशय ग्लानि पाकर दृष्टि वापस खींच लेता है; उस तरह दृष्टि वापस खींच जाये, वह उत्तम पतिव्रता की रीति है। इसलिए जिसकी एक भगवान में ही पतिभाव से वृत्ति जुड़ गई है, उसका मन दूसरे कोई पुरुष को देखकर प्रसन्न होता ही नहीं है ।

और **तीसरा, जिसे दासभाव से भक्ति का अंग है,** उसे भी अपने जो इष्टदेव हैं, उनका ही दर्शन प्रिय लगता है और उन्हीं की वार्ता सुननी प्रिय लगती है तथा अपने इष्टदेव का ही स्वभाव प्रिय लगता है, और उनके ही पास रहना प्रिय लगता है। ऐसी प्रीतिवाला हो तो भी अपने इष्टदेव की सेवा के लिए तथा प्रसन्नता के लिए रात-दिन ऐसी इच्छा करता रहे कि 'मुझे मेरे इष्टदेव यदि कोई आज्ञा करें तो मैं अतिशय हर्षपूर्वक करूँ।' फिर अपने इष्टदेव हैं, वे आज्ञा करें तो दूर जाकर रहे तो भी प्रसन्न होकर रहता है, परन्तु किसी भी प्रकार से अन्तःकरण में दुःखी नहीं होता है और **आज्ञा में ही परम आनन्द मानता है । यह दासत्वभक्ति की उत्तम दशा[२] है । ऐसे दासत्व भक्तिवाले तो**

१. जहर २. स्थिति

आज गोपालान्द स्वामी हैं और दूसरे मुक्तानन्द स्वामी हैं । और इन तीन अंगवाले भगवान के जो भक्त हैं, उनमें उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ पक्ष[१] हैं। इनसे जो बाहर रहे, वे तो केवल पामर कहलाते हैं । इसलिए इन तीनों में से एक अंग परिपूर्ण हो जाये, और उसके बाद देह त्याग करे, वह तो ठीक है और इन तीनों में से एक भी अंग जिसे परिपक्व न हुआ हो तब उसे जो मरना है वह ठीक नहीं है और वह तो पाँच दिन ज्यादा जीवित रहे और अपनी अज्ञानता को टालकर इन तीनों अंगों में से किसी भी एक अंग को दृढ़ करके मरता है, यह ही ठीक है ।

और फिर इस जीव का तो ऐसा स्वभाव दिखाई देता है कि 'जब गृहस्थाश्रम में रहता है तब संसार का त्याग करना अच्छा लगता है, और जब त्याग कर देता है तब फिर से संसार सम्बन्धी सुख के संकल्प होते रहते हैं ।' इस तरह से इस जीव का विपरीत स्वभाव दिखाई देता है। इसलिए **जो भगवान के दृढ़ आश्रित हो, वे तो ऐसे उलटे[२] स्वभाव का त्याग करके और अपना मनचाहा सभीका त्याग करके भगवान को भजें और भगवान के सिवा दूसरी समस्त वासना को टालकर मरना; वही ठीक है ।** जिन्हें भगवान में अतिशय प्रीति न हो, वे तो आत्मनिष्ठा को ही विचार करके दृढ़ करें । क्योंकि भगवान के जो भक्त हैं, उन्हें या तो आत्मनिष्ठा दृढ़ होनी चाहिए अथवा तो भगवान में अतिशय दृढ़ प्रीति होनी चाहिए । और इन दोनों अंगों में से जिसे एक भी अंग की अतिशय दृढ़ता न हो, वे तो **इस सत्संग के जो नियम हैं, उनमें दृढ़तापूर्वक रहे,** तब ही सत्संगी रहा जाता है; अन्यथा सत्संग से बाहर निकल जाता है ।

और **भगवान का जो भक्त है, उसे तो जिस-जिस प्रकार के दुःख आते हैं, उन दुःखों को देनेवाले काल, कर्म, माया उनमें से कोई नहीं है; यह तो स्वयं भगवान ही अपने भक्त की धीरज देखने के लिए दुःखों**

१. स्थिति, भेद २. विपरीत, अयोग्य

को प्रेरित करते हैं, और फिर जैसे कोई पुरुष पर्दे के पीछे रहकर देखता रहता है; उस तरह भक्त के धीरज को भगवान भी भक्त के हृदय में रहकर देखते रहते हैं; 'परन्तु काल, कर्म, माया का क्या भार है, जो भगवान के भक्त को पीड़ा दे सके ? वह तो भगवान की ही इच्छा है ।' ऐसा समझकर भगवान का भक्त हो, वह मग्न[१] रहें ।''

यह वार्ता सुनकर मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! ये तीन जो अंग आपने कहे हैं, वह बात तो अति सूक्ष्म है तथा कठिन है, यह तो किसीकी ही समझ में आती है तथा किसीके ही बर्ताव में आती है, लेकिन सभीको नहीं आती है । और इस सत्संग में तो लक्षावधि मनुष्य है, उन सबको तो यह वार्ता समझनी कठिन है । इसलिए वे क्या करें तो उनका श्रेय हो?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''वह तो **इन तीन अंगवालों में से, जो हरिभक्त हैं, उनका दासानुदास होकर उनकी आज्ञा में रहे, तो वह कुछ भी न समझता हो तो भी वह इसी देह से भगवान का पार्षद हो चुका है और कृतार्थ हो चुका है ।** इस संसार में भगवान तथा भगवान के भक्त की तो महिमा अतिशय बड़ी है, तो चाहे कैसा भी पामर और पतित जीव हो, परन्तु भगवान तथा भगवान के भक्त का आश्रित हो जाये तो वह जीव कृतार्थ हो जाता है; ऐसी भगवान तथा भगवान के भक्त की महिमा है । इसलिए जिसे भगवान के भक्त की सेवा प्राप्त हुई है वे तो निधड़क[२] रहें । और इन तीन अंगों की जो हमने वार्ता की है, वह तो खास करके[३] इन मुक्तानन्द स्वामी के लिए कही है । और **मुक्तानन्द स्वामी पर हमें बहुत स्नेह है** और उनके शरीर में बीमारी है, तो शायद किसी बात की समझ में खामी न रह जायें, ऐसा जानकर यह वार्ता कही है ।'' फिर मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि ''हे महाराज! मैंने भी जाना है कि मेरे लिए ही यह वार्ता कही है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥६२॥१९५॥

---

१. आनन्दित २. निःशंक ३. प्रायः, मुख्यतः

वचनामृत ६३ : 'बल प्राप्त होने का'

संवत्* १८८१ के मार्गशीर्ष कृष्ण २ द्वितीया के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवासस्थान पर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख भजनानन्द स्वामी श्रीमद्भागवत का पाठ कर रहे थे और परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि "हे महाराज ! द्रष्टा[१] और दृश्य[२] के मध्य में जो विचार रहता है, वह द्रष्टा तथा दृश्य को अलग-अलग रखता है। उस में जीव का ज्ञातृत्व[३] किसे जानें एवं इन्द्रियाँ-अन्तःकरण का ज्ञातृत्व[४] किसे जानें ?" तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "हमें तो ऐसा जानने में आता है कि जिसका जीव अतिशय बल को प्राप्त हुआ हो, उसे तो अन्तःकरण की जो वृतियाँ हैं, वे जीव की ही वृतियाँ हैं। और उसकी चार क्रियाओं से[५] चार विभाग दिखाई देते हैं। और उस अन्तःकरण में और इन्द्रियों में ज्ञातृत्व है, वह जीव का ही हैं; तो इन्द्रियों-अन्तःकरण को जहाँ घटित हो वहाँ चलने देता है और जहाँ घटित नहीं होता है वहाँ नहीं चलने देता है। जिसका जीव अतिशय बल को प्राप्त हुआ हो, उसे तो खराब स्वप्न भी नहीं आता है। और जिसका जीव निर्बल होता है, वह तो सांख्य के मत का अनुसरण करके एक द्रष्टा ऐसी जो अपनी आत्मा है, उसी आत्मारूप से रहें; परन्तु इन्द्रियाँ-अन्तःकरण के साथ मिल[६] न जायें। इस तरह से सत्तारूप रहते हुए उसका जीव बल को प्राप्त होता है। इससे भी बल प्राप्त करने का एक अतिशय बड़ा उपाय है कि **भगवान तथा भगवान के जो सन्त हैं, उनमें जिसे प्रीति हो, तथा उनकी सेवा में अतिशय श्रद्धा हो, तथा भगवान की नवधा भक्ति से युक्त हो, उसके जीव को तो तत्काल अतिशय बल प्राप्त होता है।** इसलिए जीव को बल

*दि. ८-१२-१८२४, बुधवार

१. देखनेवाला आत्मा २. दिखता है -जगत ३-४. जानपना

५. मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ६. जुट

प्राप्त करने के लिए भगवान तथा भगवान के भक्त की सेवा जैसा दूसरा कोई उपाय नहीं है ।'

और फिर हम हमारे अन्तर की वार्ता कहते है कि जब हम उनहत्तर[१] के वर्ष में बीमार पड़े थे, तब कैलास तथा वैकुण्ठ दिखने में आये, तथा नन्दीश्वर की सवारी और गरुड़ की सवारी भी हमने की । ऐसा हमें देखने में आया, परन्तु उस सामर्थ्य में हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगा । फिर तो हम केवल सत्तारूप रहने लगे तब समस्त उपाधि की शान्ति हो गई । फिर उसमें भी हमें ऐसा विचार हुआ कि **'सत्तारूप रहने से भी भगवान तथा भगवान के भक्त के साथ देह धारण करके रहना, यह श्रेष्ठ है ।'** इसलिए हमें ऐसा डर लगा कि 'शायद सत्तारूप रहने लगेंगे और फिर देह धारण न कर पायें तो !' इसलिए देह धारण करके भगवान तथा भगवान के भक्त के साथ रहा जाये और उनके लिए जो सेवा हो सके, वह ही अतिशय श्रेष्ठ साधन है । जब जीव का अन्त समय आता है, तब अनन्त प्रकार की आधि तथा व्याधि प्रगट होती है । फिर भगवान तथा भगवान के सन्त का जब दर्शन होता है, तब समस्त दुःखों का नाश हो जाता है । ऐसा भगवान की तथा भगवान के भक्त की बड़ी की महिमा है । और **भगवान के भक्त हैं, वे तो केवल ब्रह्म की ही मूर्तियाँ हैं; उनमें मनुष्यभाव लाए ही नहीं ।** जैसे अपने देह के कुटुम्बी होते हैं, और उसे उनकी प्रीति[२] के लिए हम डाँटकर कहते हैं, और हमे वे डाँटकर कहते हैं, परन्तु अन्तर में किसीको अँटी[३] नहीं पड़ती है; उस तरह भगवान के भक्त के साथ रहना चाहिए। **जिसे भगवान तथा भगवान के भक्त के साथ अँटी[४] हो जाती है, उसे तो हमें देखना भी अच्छा नहीं लगता है और उस पर से रोष भी कभी मिटता नहीं है ।** इस संसार में पञ्च महापाप करनेवाले का कभी छुटकारा होता है; किन्तु भगवान के भक्त का द्रोह करनेवाले का कभी भी छुटकारा नहीं होता है । इसलिए भगवान के भक्त की जो सेवा करना, उसके समान कोई पुण्य नहीं है और भगवान के भक्त का द्रोह करना, उसके समान कोई पाप

१. १८६९ २. हित, लाभ ३-४. गाँठ, ग्रन्थि, द्वेष

भी नहीं है । इसलिए **जिसे अपने जीव को बलवान करना हो, वह तो भगवान या भगवान के भक्त की मन, कर्म, वचन से शुद्धभाव से सेवा करें ।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥६३॥१९६॥

वचनामृत ६४ : 'पुरुषोत्तम भट्ट के प्रश्न का'

संवत्* १८८१ के पौष शुक्ल ७ सप्तमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया बिछवाकर उत्तराभिमुख मुखारविन्द किये विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के आगे मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! भगवान के जो अवतार हैं, वे सभी समान ही हैं या उनमें अधिक-न्यूनभाव है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''हमने व्यासजी के किये हुए जो सभी ग्रन्थ हैं, वे सुने और फिर पूर्वापर विचार करके देखा तब उनमें से हमें ऐसा समझ में आया हैं कि मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंहादिक भगवान के जो अवतार हैं, उन समस्त अवतारों के अवतारी, वह श्रीकृष्ण भगवान हैं; परन्तु दूसरे अवतार की तरह श्रीकृष्ण भगवान, वे अवतार नहीं हैं, वे तो अवतारी ही हैं । ऐसे जो श्रीकृष्ण भगवान हैं, वे अपने इष्टदेव हैं । और उन श्रीकृष्ण भगवान के चरित्र श्रीमद् भागवत पुराण के दशम स्कन्ध में सम्पूर्ण कहे हैं; इसलिए हमने अपने उद्धव सम्प्रदाय में दशम स्कन्ध को अतिशय प्रमाण किया है । और दूसरे जो सभी अवतार हैं, वे भी श्रीकृष्ण भगवान के ही हैं । इसलिए इस अवतार तथा इस अवतार के प्रतिपादन करनेवाले जो ग्रन्थ हैं, उन सभीको हमें मानना हैं, परन्तु विशेषरूप से तो श्रीकृष्ण भगवान तथा उनके प्रतिपादन करनेवाले जो ग्रन्थ हैं, उन्हें ही मानें ।''

*दि. २७-१२-१८२४, सोमवार

फिर पुरुषोत्तम भट्ट ने प्रश्न पूछा कि "भगवान जीव के कल्याण के लिए इस जगत का सर्जन करते हैं, तो विश्व की रचना न की हो और माया के उदर में जीव हो, उनका भगवान यदि कल्याण करे तो क्या न हो सके ? जब कि इतना विश्व सर्जन करने का भगवान प्रयास करते हैं ? यह प्रश्न है।" तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "भगवान श्रीकृष्णपुरुषोत्तम हैं, वे तो राजाधिराज हैं, और अखण्ड मूर्ति हैं और अपने अक्षरधामरूप जो तख्त[१] उस में सदा विराजमान हैं। उस अक्षरधाम के आश्रय में अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड रहते हैं। तो जैसे कोई बड़ा चक्रवर्ती राजा हो, उनके पास असंख्य गाँव हो, उनमें से एक-दो गाँव उजड़[२] गए हो या बसे हो, परन्तु वह तो उस राजा की गिनती में भी नहीं होते हैं; उस तरह श्रीकृष्ण भगवान तो अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के पति है, उन ब्रह्माण्डों का कहीं एक साथ प्रलय नहीं हो जाता है और उनमें से एक-आध ब्रह्माण्ड का प्रलय हो जाये, वह तो भगवान की गिनती में भी नहीं है। उन श्रीकृष्ण भगवान का देवकीजी से जो जन्म, वह तो कथन मात्र है। वे श्रीकृष्ण तो सदा अजन्मा हैं। और उन श्रीकृष्ण भगवान का जो अक्षरधाम है, वह व्यतिरेकरूप से तो प्रकृतिपुरुष से पर है तथा अन्वयरूप से तो सब जगह है[३]। जैसे आकाश है, वह तो अन्वयरूप से तो सर्वत्र है तथा व्यतिरेकरूप से तो चार भूतों से पर है, वैसे ही श्रीकृष्ण भगवान का अक्षरधाम है। उस धाम में भगवान अखण्ड विराजमान रहते हैं। उस धाम में रहते हुए अनन्तकोटि जो ब्रह्माण्ड हैं, उनमें जहाँ जिसको जैसा दर्शन देना उचित हो, वहाँ उसे वैसा दर्शन देते हैं और जिसके साथ बोलना उचित होता है, उसके साथ बोलते हैं और जिसका स्पर्श करना उचित लगता हो, उसका स्पर्श करते हैं। जैसे कोई सिद्धपुरुष हो, वह एक स्थान पर बैठा हुआ हजारों को देखता है और हजारों कोस की वार्ता को सुनता है, उस तरह भगवान अपने अक्षरधाम में रहते हुए अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड में जहाँ जैसा प्रतीत होना उचित हो, वहाँ वैसे दिखाई देते है और स्वयं तो सदा अपने अक्षरधाम में ही हैं। एक ठिकाने पर रहते हुए भी जो अनन्त स्थानों में

१. राजसिंहासन २. बिखर ३. प्रत्येक अणु में।

प्रतीत होते[१] है, वह तो अपनी योगकला है। जैसे रासमण्डल में जितनी गोपियाँ थीं, उतने ही[२] स्वयं हो गए। इसलिए **एक स्थान में रहते हुए जो अनन्त स्थानों में दिखाई देना, वही भगवान की योगकला से व्यापकता है; परन्तु आकाश की तरह अरूपता से व्यापकता नहीं है।** और भगवान की जिस योगमाया से पचास करोड़ योजन जो पृथ्वी का मण्डल है, वह प्रलय काल में परमाणुरूप हो जाता है और वह पृथ्वी फिर से सृष्टिकाल में परमाणु में से पचास करोड़ योजन हो जाती है। और जब वर्षाऋतु आती है तब गडगडाहट-बिजली तथा मेघ की घटायें छा जाती हैं। इत्यादिक सभी आश्चर्य हैं, वे भगवान की योगमाया से होते हैं।

ऐसे जो श्रीकृष्ण भगवान हैं, वे मुमुक्षुओं को सभी प्रकार से भजन करने योग्य हैं, क्योंकि दूसरे अवतार में तो एक या दो कलाओं का प्रकाश[३] होता है, और श्रीकृष्ण भगवान में तो सर्व कलायें हैं। इसलिए वे श्रीकृष्ण भगवान तो रसिक भी हैं, त्यागी भी हैं, ज्ञानी भी हैं, राजाधिराज भी हैं, कायर भी हैं, शूरवीर भी हैं, अतिशय कृपालु भी हैं, योगकला में प्रवीण भी हैं, अतिशय बली भी हैं तथा अतिशय छली भी है। इसलिए सर्व कलाओं से सम्पन्न तो एक श्रीकृष्ण भगवान ही हैं। उन श्रीकृष्ण भगवान का जो अक्षरधाम है, उनके आश्रित जो अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड, वे भी सदैव रहते हैं। उनमें से जिस ब्रह्माण्ड की सौ वर्ष की आयु पूरी हो जाती है, तब उस ब्रह्माण्ड का नाश हो जाता है, उससे[४] कहीं समस्त ब्रह्माण्डों का नाश नहीं होता है। इसलिए प्रलयकाल में किस लिए कल्याण करना चाहिए ? सभी ब्रह्माण्ड रहते ही तो हैं ! इस तरह इस प्रश्न का समाधान है।" इस प्रकार से परोक्षरूप से अपने पुरुषोत्तमरूप की वार्ता श्रीजीमहाराज ने कही। उसे सुनकर सभी हरिभक्त ऐसा जानते थे कि वे ही जो श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम हैं, वे ही ये भक्ति-धर्म के पुत्र श्रीजीमहाराज हैं।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥६४॥१९७॥

---

१. दिखते २. उतने स्वरूप में। ३. ऐश्वर्य ४. एक ब्रह्माण्ड के नाश से।

वचनामृत ६५ : 'कुतर्कबुद्धिवाले का'

संवत्* १८८१ के पौष शुक्ल ११ एकादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के पास में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के आगे मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि "सुनिये, भगवान की वार्ता करते हैं।" तब ताल-पखावज लेकर सन्त कीर्तन कर रहे थे, तो शान्त हो गए और सभी हाथ जोड़कर सुनने बैठे। तब श्रीजीमहाराज बोले कि "जीव के कल्याण के लिए भगवान के रामकृष्णादिक जो अवतार होते हैं, उन्हें तो माया का कार्य ऐसा जो यह जगत है, उनमें किसी भी जगह पर मोह नहीं होता है और अपने अलौकिक प्रताप से निःशंक रहते हैं। और अपने भक्तजन की भक्ति को अंगीकार करने के लिए पञ्चविषय को भी अच्छी तरह से भोगते[१] हैं। उन्हें देखकर **इस संसार में जो फोगट तर्क-वितर्क करनेवाले**[२] **मनुष्य**[३] **हैं, वे परमेश्वर में दोष ठहराते हैं**[४] और ऐसा जानते हैं कि 'ये तो परमेश्वर कहलाते हैं, तो भी इनको अपने से भी ज्यादा संसार में आसक्ति है।' ऐसा जानकर भगवान को भी अपने जैसे मनुष्य समझते हैं, परन्तु भगवान की जो अलौकिक महिमा है, उन्हें जानते नहीं है; यही भगवान की माया है। और ब्रह्मस्थिति को प्राप्त किये ऐसे जो आत्मदर्शी साधु हैं, उन्हें भी इस संसार में किसी भी पदार्थ को देखकर मोह नहीं होता है तब ब्रह्म से पर परब्रह्म ऐसे जो श्रीकृष्ण भगवान हैं, उन्हें माया तथा माया के कार्यों से जो निर्लिप्त रहा जाता है, उनमें तो क्या कहना है ? वह तो रहा ही जाता है। और आत्मनिष्ठावाले जो सन्त हैं, उन्हें आत्मनिष्ठा तथा तीव्र वैराग्य, ये दोनों हो, उससे किसी भी प्रकार का बन्धन तो नहीं होता है, परन्तु यदि उसे भगवान में भक्ति न हो, तो जैसे बहु प्रकार के

*दि. १-१-१८२५, शनिवार **१.** स्वीकारते **२.** कुतर्कबुद्धिवाले **३.** जैसे वैसे बोलकर शब्द के अर्थ को उल्टा लेकर अपने को होशियार माननेवाले। **४.** आरोपित करते है।

भोजन तथा बहु प्रकार के व्यंजन किये हो, और उनमें यदि एक नमक न हो, तो वे सभी निरर्थक[१] हो जाते है। उस तरह भगवान की भक्ति के बिना अकेला जो ब्रह्मज्ञान है तथा वैराग्य है, वे तो व्यर्थ[२] ही हैं और सदा अकल्याणकारी ही हैं, ऐसा जानकर शुकदेवजी ब्रह्मस्वरूप हुए थे, तो भी श्रीमद् भागवत को पढ़ते रहे[३] और श्रीकृष्ण भगवान की दृढ़ भक्ति करने लगे । **इसलिए आत्मनिष्ठावाले को यदि भगवान की भक्ति न हो, तो यह उसे बड़ा दूषण है ।** जिसे भगवान की भक्ति हो, उसे भी यदि आत्मनिष्ठा तथा वैराग्य न हो, तो जैसी भगवान में प्रीति है, वैसी दूसरे पदार्थ में भी प्रीति हो जाती है। इसलिए भक्तिमार्गवाले को भी यह बड़ा दूषण है। और **भगवान का जो ऐसा परिपक्व भक्त हो, उसने तो भगवान की यथार्थ महिमा जानी[४] है; इसलिए उसे तो परमेश्वर के सिवा दूसरा सभी तुच्छ समझ में आया है, इसलिए किसी भी पदार्थ में वह मोहित नहीं होता है । इसलिए आत्मनिष्ठा, वैराग्य तथा भगवान में भक्ति; ये तीनों एक साथ हो, तब किसी भी प्रकार की खोट नहीं कहलाती है ।** और ऐसा जो हो, वह तो भगवान का ज्ञानी भक्त कहलाता है, एकान्तिक भक्त कहलाता है, अनन्य भक्त कहलाता है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥६५॥१९८॥

वचनामृत ६६ : 'सदगुरुओं से प्रश्नों का - गोला हाथ में लेने का'

संवत्* १८८१ के पौष शुक्ल १ प्रतिपदा के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वाभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, पीले पुष्पों के तथा लाल गुलदावदी के फूलों के हार कण्ठ में विराजमान थे, पीले पुष्पों का तुर्रा पाग में विराजमान था और अपने

*दि. ५-१-१८२५, बुधवार

१. बेस्वाद, निकम्मा २. निरर्थक, फलरहित ३. सतत मनन-चिन्तन करते रहे । ४. समझी

मुखारविन्द के सन्मुख मुनिमण्डल तथा देश–देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब अपने आगे सरोद और दुक्कड़ लेकर सन्तमण्डल विष्णुपद गा रहे थे । कीर्तन समाप्त होने के बाद श्रीजीमहाराज बोले कि ''आज तो हमें बड़े बड़े सन्तों से प्रश्न पूछना है ।'' ऐसा कहकर प्रथम आनन्द स्वामी से पूछने लगे कि ''कोई ऐसा पुरुष हो, जो उसमें बुद्धि अल्प हो, तो भी अपने में जो दोष है उसे देखता है, और दूसरे हरिभक्त में जो दोष हो, उसे नहीं देखता है और गुण हो, उनको ही देखता है । और दूसरा जो पुरुष है, उसे तो बुद्धि बहुत है, तो भी अपने अवगुण को देखता ही नहीं है और दूसरे हरिभक्त में रहे गुण का त्याग करके केवल दोष को ही देखता है, इसका क्या कारण होगा कि अल्प बुद्धिवाला हो, वह भी अपने दोष को देखता है और बहुत बुद्धिवाला है, उसे अपने दोष सूझते नहीं है ? यह प्रश्न है ।'' तब आनन्द स्वामी को जैसा सुझाई दिया वैसा उत्तर किया, लेकिन प्रश्न का समाधान हुआ नहीं । तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''इसका उत्तर यह है कि **इस जन्म में अथवा कोई जन्मान्तर में उसने**(१) **कोई भगवान के बड़े भक्त का अपराध किया है, उसी पाप से उसकी बुद्धि दोष से युक्त है । इसलिए उसे हरिभक्त के दोष सूझते हैं और अपने दोष नहीं सुझाई देते है;** यह ही इसका उत्तर है ।''

ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज नित्यानन्द स्वामी से प्रश्न पूछने लगे कि ''भगवान को प्राप्त करने का एक ही साधन है या बहुत साधनों से भगवान की प्राप्ति होती है ? तब आप कहेंगे कि 'ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और धर्म इन चार साधनों से प्राप्ति होती है ।' तो जब इन चार साधनों से भगवान की प्राप्ति होती है, तब एक भगवान के आश्रय से ही कल्याण होता है, ऐसे अनन्यभाव का निर्धारण(२) नहीं रहा ।'' फिर नित्यानन्द स्वामी ने बहुत प्रकार से उत्तर किया,

१. अधिक बुद्धिवाले ने ।

२. अन्य किसी साधनों से परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती है ऐसा सिद्धान्त ।

लेकिन प्रश्न का समाधान नहीं हुआ । तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "**कल्याण तो एक भगवान के आश्रय से ही होता है ।** परन्तु भगवान हैं, वे अति समर्थ हैं और उनकी आज्ञा को ब्रह्मादिक सभी देव पालन करते हैं तथा काल-मायादिक जो सभी ब्रह्माण्डों के कारण हैं, वे भी भगवान के भय से सावधान होकर भगवान की आज्ञा में रहते हैं । इसलिए **भगवान का भक्त हो, वह उन भगवान की आज्ञा है, उसे दृढ़ करके मानें; यह ही भगवान के भक्त का लक्षण है ।** इसलिए सभी साधन अतिदृढ़ करके रखें । अतः **एक भगवान द्वारा ही कल्याण है । और जो साधन हैं, वे तो भगवान की प्रसन्नता के लिए है;** यह ही इस प्रश्न का उत्तर है ।"

फिर श्रीजीमहाराज ब्रह्मानन्द स्वामी से पूछने लगे कि "इस देह में जीव है, वह साकार है या निराकार है ?" फिर ब्रह्मानन्द स्वामी ने कहा कि "जीव तो साकार है ।" तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि "यदि जीव साकार हो तो वह करचरणादिक से युक्त हुआ; तब दशम स्कन्ध में वेदस्तुति के अध्याय में ऐसा कहा है कि 'भगवान तो उन जीवों के कल्याण के लिए उन जीव की जो बुद्धि, इन्द्रियाँ, मन एवं प्राण हैं, उसका सृजन करते हैं ।' यदि वह जीव साकार ही हो तो उसके लिए बुद्धि, इन्द्रियां, मन, प्राण के सर्जन का क्या काम है ?' इसलिए इस तरह के शास्त्र के वचन को देखने से ऐसा ही निर्धारण होता है कि, जीव तो स्वरूप-स्वभाव से तो सत्तामात्र है तथा चैतन्य वस्तु है और अनादि अज्ञानरूप ऐसा जो कारण शरीर है, उससे युक्त है । और जैसे चुम्बकपाषाण हो, वह लोहे को खींचकर लोहे के साथ चिपका रहता है, वैसे उस जीव का भी चिपकने का स्वभाव है, तो मायिक ऐसे जो स्थूल तथा सूक्ष्म; इन दोनों शरीर के साथ चिपकता है और वह जीव अज्ञान से उन शरीरों में अपनापन मानता है, परन्तु वस्तुतः तो वह जीव शरीर जैसा नहीं है ।"

फिर ब्रह्मानन्द स्वामी ने कहा कि "जब भगवान की भक्ति से इस जीव के अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, तब इस जीव को स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों मायिक देहों का सम्बन्ध रहता नहीं है । तब वह जीव भगवान के धाम में जाकर किस प्रकार के आकार से युक्त होकर रहता है ?" फिर

श्रीजीमहाराज बोले कि ''जब उस जीव के अज्ञान की निवृत्ति होती है तब इसे मायिक तीन देहों का संग छूट जाता है । तब वह जीव केवल चैतन्य सत्तामात्र रहता है। फिर इस जीव को भगवान की भूमि आदिक जो आठ प्रकार की प्रकृतियाँ हैं, उनसे भिन्न जो चैतन्य प्रकृति है, उसका भगवान की इच्छा से देह बँधता है और उस देह से[१] युक्त होकर भगवान के अक्षरधाम में रहता है; इस तरह से इस प्रश्न का उत्तर है ।''

फिर गोपालानन्द स्वामी को श्रीजीमहाराज पूछने लगे कि[२] —''अष्टांगयोग सिद्ध होता है अथवा आत्मदर्शन होता है, वह तो भगवान तथा भगवान के सन्त की कृपा से होता है[३] । तब वह योग तथा आत्मदर्शन सिद्ध होने के कारण जो भगवान तथा भगवान के सन्त हैं, उनके प्रति वृत्ति गौण हो जाती है और अष्टांगयोग तथा आत्मदर्शन में अधिक लगन लग जाती है, उसका क्या कारण होगा ?'' फिर गोपालानन्द स्वामी ने कहा कि ''उसे योगाभ्यास करते हुए योग सिद्ध होता है, जिसका कुछ मान आता है; जिससे भगवान के प्रति वृत्ति कुछ गौण हो जाती है ।''

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''जब सिद्ध दशा को प्राप्त करता है, तब यह योगी है, वह ब्रह्मरूप होता है। तो ब्रह्म में तो किसी प्रकार का मान रहता नहीं[४] है । इसलिए उत्तर सम्भवित नहीं है ।'' फिर गोपालानन्द स्वामी बोले कि ''हे महाराज ! यह तो कुछ समझ में नहीं आता है; इसलिए आप कृपा करके कहें ।'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''इसे तो ऐसा समझना है कि[५] जब अपनी खोट निकालनी हो तब उसे बड़ों के वचन का प्रमाण लेकर निकालें।

१. चैतन्य देह से । २. इस लोक में बहुत पुरुष भगवान को भजते हैं, उनमें कितने भक्तों को.. ३. इसलिए उन भक्तों को भगवान और उनके संतों के प्रति ही प्रीति होना उचित है, तथापि किसी भक्त को । ४. देहाभिमानीओं में ही मानदोष का संभव है । ५. वैसे भक्त ने योगसिद्धिवालों का और आत्मदर्शनवालों का वर्तन-प्रकार जाना नहीं हैं, पुरातन शुक आदि योगी ब्रह्मरूप होकर भी उसमें विश्रांति न पाकर भगवान की भक्ति ही करते थे, ऐसा वृत्तांत न जानने से भगवान और उनके संतों के प्रति वृत्ति गौण होती है और आत्मदर्शन में अधिक लगन लगती है । इसलिए प्रथम पुरातन योगीओं का वर्तन-प्रकार जानना चाहिए और यह जो अपनी कमी उसे टालें और...

जैसे कोई व्यवहारिक कार्य हो, और उस कार्य को अतिशय सिद्ध करना हो, तब श्रेष्ठ-श्रेष्ठ मनुष्यों से प्रमाणित करें; उस तरह यहाँ भी यह प्रमाण है कि शुकदेवजी ब्रह्मस्वरूप हुए थे तो भी अति प्रीतिपूर्वक श्रीमद् भागवत को पढ़े और आज दिन तक भी भगवान की भक्ति ही करते हैं। और शौनकादिक अठ्ठासी हजार ऋषि हैं, वे ब्रह्मस्वरूप हैं, तो भी सूतपुराणी के मुख से भगवान की कथा को सुनते हैं। इस प्रकार के वचनों का प्रमाण भक्ति की दृढ़ता के लिए लेना है। और जो खोट अपने जानने में न आती हो, उसके लिए भगवान के समक्ष प्रार्थना करें कि 'हे महाराज ! मुझ में जो-जो खोट हो, उसे कृपा करके नाश कर दीजिए।' **जैसे किसी पुरुष के सिर पर कलंक लगा हो और उस कलंक को मिटाने का कोई साक्षी न हो, तब वह लोहे का तपा हुआ लाल-लाल गोला हो, उसे उठाकर अपना कलंक मिटाता है; उस तरह जो दोष दिखाई न देता हो, तब उस दोष को मिटाने के लिए भगवान की स्तुति करें, यह तो लोहे का गोला हाथ में लेने जैसी बात है।** ऐसा करके अपनी खोट को टालें; यह आपके प्रश्न का उत्तर है।"

फिर श्रीजीमहाराज मुक्तानन्द स्वामी से पूछने लगे कि "भगवान को यथार्थ जान लिए हो[१], और भगवान तो कोई चमत्कार न दिखाते हों और दूसरे जो जन्त्र-मन्त्रवाले हों, वे तो चमत्कार दिखाते हों, तो उन्हें देखकर भगवान का भक्त हो, उसका मन भगवान में से कुछ डिगता है या नहीं डिगता ?" फिर मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि "हे महाराज ! जिसे भगवान का यथार्थ निश्चय हो, उसे तो भगवान के बिना अन्यत्र कहीं प्रतीति आती ही नहीं है और यदि दूसरी जगह प्रतीति आई तो उसे भगवान का निश्चय ही नहीं है। वह तो गुणबुद्धिवाला हरिभक्त कहलाता है, परन्तु भगवान का यथार्थ भक्त नहीं कहालाता।" तब श्रीजीमहाराज बोले कि "यह ही इसका उत्तर है।"

इसके बाद श्रीजीमहाराज ने शुकमुनि से पूछा कि "भगवान का भक्त हो और वह भगवान तथा भगवान के सन्त को साक्षात्कार प्राप्त हुआ, तब उसे

१. यह प्रगट परमात्मा हैं।

जीवित रहते हुए क्या प्राप्ति होती है और मृत्यु होने के बाद क्या प्राप्ति होती है ?'' फिर शुकमुनि बोले कि ''हे महाराज ! इसका उत्तर तो आप करेंगे तभी होगा ।'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''**जिसे भगवान तथा भगवान के सन्तों की प्राप्ति हुई है, उसे जीवित रहते ही भगवान के कथा-कीर्तन करते हुए ही दिन तथा रात व्यतीत होती है और तीनों अवस्थाओं से पर जो अपना जीवात्मा है, उसका ब्रह्मरूप से साक्षात् दर्शन होता है और भगवान के बिना अन्य पदार्थमात्र में वैराग्य होता है। और अधर्म का त्याग करके धर्म में रहा जाता है और जब देह त्याग करता है तब ऐसे भक्त को भगवान अपने जैसा ही करते है**[१] । जैसे भगवान ने ब्रह्मा से कहा है कि 'हे ब्रह्मा ! जैसा मैं हूँ, तथा जैसी मेरी महिमा है तथा जैसे मेरे गुण व कर्म हैं, वैसा मेरे अनुग्रह से आपको विज्ञान हो ।' ऐसा जो ब्रह्मा को कहा है, उस तरह अपने जो अनन्य भक्त हैं, उन सभी को भगवान ऐसी प्राप्ति कराते हैं । और जैसे भगवान काल, कर्म तथा माया से रहित हैं, वैसे ही भगवान के भक्त भी काल, कर्म तथा माया से रहित होते हैं और अखण्ड भगवान की सेवा में रहते हैं; ऐसी देह त्याग करने के बाद प्राप्ति होती है । यह ही इस प्रश्न का उत्तर है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥६६॥१९९॥

वचनामृत ६७ : 'गंगाजलवाले कुआँ का'

संवत्* १८८१ के माघ कृष्ण ३ तृतीया के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवास में गंगाजलवाले कुएँ के पास चबूतरे पर पलंग रखवाकर, उस पर गद्दी-तकिया बिछवाकर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और अपने समक्ष साधु दुक्कड़-सरोद लेकर विष्णुपद गा रहे थे ।

---

*दि. ५-२-१८२५, शनिवार **१.** दिव्याकार, निर्गुण, स्वतन्त्र, अलिप्त इत्यादि ।

तब कीर्तन भक्ति सम्पन्न होने के बाद श्रीजीमहाराज बोले कि ''हम सभी सन्तों के प्रति प्रश्न करते हैं कि भगवान का भक्त हो, वह देह त्याग करके ब्रह्मरूप होकर भगवान के धाम में जाता है, फिर उसमें तथा भगवान में क्या भेद रहता है, जिससे स्वामी-सेवकभाव का नाता रहता है ? क्योंकि भगवान का वह भक्त है, वह भी जैसे भगवान स्वतन्त्र हैं तथा काल, कर्म, और माया के आवरण से रहित हैं, वैसा ही हो जाता है । इसलिए उनमें क्या भेद रहता है, जिससे स्वामी-सेवकभाव रहता है ? यह प्रश्न है ।'' तब परमहंसों ने जिसे जैसा समझ में आया, उन्होंने वैसा उत्तर किया, लेकिन श्रीजीमहाराज के प्रश्न का समाधान नहीं हुआ । फिर सभी सन्तों ने कहा कि ''हे महाराज! आप के प्रश्न का उत्तर तो आप ही करेंगे तभी होगा ।'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''इसका उत्तर यह है कि 'भगवान का भक्त हो, उसे भगवान को जैसे जानलिए हो कि भगवान इतनी सामर्थी से युक्त हैं और इतनी शोभा से युक्त हैं और ऐसे सुखस्वरूप हैं; इस तरह से उस भक्त ने भगवान की जितनी महिमा जानी है और जितने प्रताप से युक्त भगवान को जाना है, वह भक्त जब देह त्याग करके भगवान के धाम में जाता है तब रूप तथा सामर्थी तो वह भक्त की भी वैसी ही होती है। फिर भी भगवान की सामर्थी और भगवान की सुन्दरता इत्यादिक, जो प्रताप हैं, वे उस भक्त को भगवान में अतिशय दिखाई देते हैं; तब वह भक्त ऐसा जानता है कि 'मैंने जितना प्रताप जाना था तथा सुन्दरता जानी थी उतना ऐश्वर्य और उतनी सुन्दरता तो मुझे भी भगवान ने दी है, तो भी भगवान का ऐश्वर्य एवं भगवान की सुन्दरता, वह तो अतिशय-अपार दिखती है ।' इसलिए मेरे जैसे अनन्त भगवान के साधर्म्यपन को प्राप्त हो चुके हैं, तो भी भगवान जैसा होने में कोई समर्थ होता नहीं है। क्योंकि भगवान की महिमा, गुण, कर्म, जन्म और सामर्थ्य तथा सुन्दरता तथा सुखदायकता इत्यादिक जो अनन्त कल्याणकारी गुण हैं, उनके पार को शेष, शारदा, ब्रह्मादिक देवता तथा चार वेद; वे पाते नहीं हैं और भगवान स्वयं भी अपनी महिमा के पार को नहीं

पाते हैं । इसलिए भगवान तो सभी सामर्थ्यों से अपार हैं । और उन भगवान को भजकर अनन्तकोटि वैष्णव भगवान सदृश हुए हैं, फिर भी भगवान में से किसी भी प्रकार का प्रताप अणु जितना भी न्यून नहीं हुआ है। जैसे मीठे जल का समुद्र भरा हो, उसमें से मनुष्य, पशु, पक्षी सभी जितना चाहे उतना जल पीते हैं तथा पात्र भर ले तो भी कम नहीं होता है। क्योंकि वह समुद्र तो अगाध[१] है, **वैसे ही भगवान की महिमा भी अतिशय-अपार है;** इसलिए किसी भी प्रकार से बढ़े-घटे ऐसा नहीं है । इसलिए भगवान के जो-जो भक्त ब्रह्मस्वरूप हुए हैं, तो भी भगवान के दृढ़ दास होकर भगवान का भजन करते हैं । **इस प्रकार से भगवान के भक्त भगवान के साधर्म्यपना को प्राप्त होते हैं, तो भी स्वामी-सेवकभाव रहता है; यह ही इस प्रश्न का उत्तर है ।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा मध्य ॥६७॥२००॥

॥ श्रीगढडा मध्य प्रकरणं समाप्तम् ॥

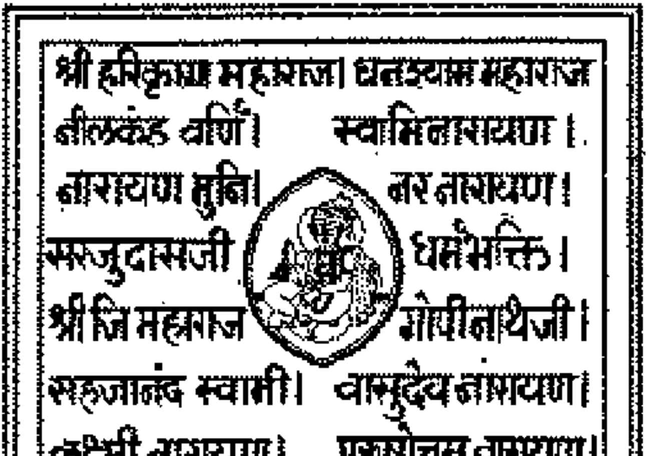

१. अपार, अखूट

श्रीवरताल प्रकरणम्

इसलिए सत्पुरुष का
आश्रय करता है तब
कैसा भी पापी हो,
तो भी अति पवित्र हो जाता है
और उसे समाधि हो जाती है।
और सत्पुरुष का द्रोही हो,
और वह कैसा भी
धर्मवाला जानने में आता है,
तो भी महापापी है
और उसे किसी भी काल में
भगवान के दर्शन हृदय में होता ही नहीं है।
– वरताल ॥१४॥

इस तरह से
भगवान तथा उत्तम लक्षणवाले जो सन्त हैं,
उनकी अति प्रेम से
समान सेवा जो करता है,
तो वह कनिष्ठ भक्त हो,
और वह दो जन्मों में तथा चार जन्मों में
तथा दस जन्मों में या **सौ जन्मों में**
उत्तम भक्त जैसा होनेवाला हो,
तो इसी ही जन्म में उत्तम भक्त हो जाता है।
– वरताल ॥५॥

वरताल

वेद की ऋचाओं से भी महान 'शिक्षापत्री' की रचना, इस ब्रह्माण्ड में एक और एकमात्र स्व स्वरूप 'श्रीहरिकृष्ण महाराज' की स्थापना, 'आचार्यपद' की स्थापना जैसे अद्भुत कार्य जिस पवित्र धरती पर हुए हैं, वह है श्री स्वामिनारायण सम्प्रदाय का सर्वोच्च तीर्थस्थान वरतालधाम।

स्वयं के करकमलों से स्वयं की मूर्ति प्राणप्रतिष्ठा, यह हिन्दु संस्कृति का अभूतपूर्व प्रसंग है, आश्रित वात्सल्यवारिधि श्रीहरि ने स्वयं कृपा करके यह कार्य जोबनपगी जैसे प्रेमीभक्तों केवहाँ वरतालधाम में किया है।

श्री लक्ष्मीनारायण देव भक्तजनों की मनोकामना पूर्ण करते हैं। ''वृत्तालये स भगवान् जयतीह साक्षात्'' वे श्री हरिकृष्ण प्रभु आश्रित जनों को अभयदान प्रदान करते हैं।

ऐतिहासिक महान कार्यों के साथ-साथ वरतालधाम की रंगलीलाएँ भी ऐतिहासिकरूप से प्रसिद्ध हैं। गोमती तालाब के किनारे ज्ञानचर्याएँ और धर्म-अधर्म, दैवी-आसुरी, पात्र-कुपात्र का अद्भुत आलेखन का निरूपण वरताल के वचनामृत में हुआ हैं। उतना ही नहीं, यहाँ सौ जन्म की कसर मात्र, मात्र इस जन्म में ही परिपूर्ण हो जाती है, ऐसे उपायों का भी निर्देश किया गया है। पढ़कर देखिए इस ब्रह्मचर्चा की दिव्यऋचाओं के समान २०-२० वचनामृतों की शब्दकलिकाओं को।

॥ वृत्तालये स भगवान् जयतीह साक्षात् ॥

श्रीवरताल प्रकरणम्

वचनामृत १ : 'निर्विकल्प समाधि का'

संवत्* १८८२ के कार्तिक शुक्ल ११ एकादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर से उत्तर की ओर गोमतीजी के तट पर आम की बगिया में सिंहासन पर गद्दी-तकिया बिछवाकर विराजमान थे । उन्होंने श्वेत सुरवाल और सफेद अंगरखा पहना था, गहेरे रंग का रेंटा कमर में बाँधा था, मस्तक पर सुनहरे तारों के पल्लेवाला कुसुम्भी रेंटा बाँधा था, कन्धे पर जरी[१] के पल्लेवाला कुसुम्भी रेंटा विराजमान था, कण्ठ में गुलाब के पुष्पों के हार विराजमान थे, सिर पर गुलाब के फूलों के तुर्रे विराजमान थे, भुजाओं में गुलाब के गजरे तथा बाजूबन्द बाँधे थे । ऐसी शोभा को धारण करते हुए उत्तर की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब वड़ोदरावाले शोभाराम शास्त्री ने श्रीजीमहाराज को प्रश्न पूछा कि "हे महाराज ! मुमुक्षु हो, वह जब निर्विकल्प समाधि को प्राप्त होता है तब गुणातीत होता है तथा भगवान का एकान्तिक भक्त होता है; तब जिसे निर्विकल्प समाधि नहीं होती है, तो उसकी क्या गति होती है ?" तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "प्राण का निरोध होता है तब ही निर्विकल्प समाधि

*दि. २१-११-१८२५, सोमवार

१. जरकसी

होती है, ऐसा नहीं है। निर्विकल्प समाधि की रीति तो दूसरी है। उसे कहते है सुनिये, श्रीमद् भागवत में कहा है कि

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः ।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः[१] ॥

इस श्लोक का ऐसा अर्थ है कि 'विश्व के सर्ग-विसर्गादिक जो नव लक्षण हैं, उससे जानने में आये ऐसा आश्रयरूप[२] जो श्रीकृष्णभगवान का स्वरूप है, उसमें जिस मुमुक्षु की अचल मति हुई हो; जैसे यह आम का वृक्ष है, उसे एकबार दृढ़ करके जान लिया, फिर काम प्रवेशता है, क्रोध प्रवेशता है, लोभ प्रवेशता है, तो भी किसी तरह से आम के प्रति भ्रान्ति नहीं होती है कि 'आम का वृक्ष होगा या नहीं होगा ?' **उस तरह जिसे प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण भगवान के स्वरूप का दृढ़ निश्चय हुआ, और उसमें[३] किसी भी प्रकार का कुतर्क न हो, तो उस पुरुष के प्राण लीन न हुए हो, तो भी निर्विकल्प समाधि है, और प्राण लीन हुए तो भी निर्विकल्प समाधि है।** और जिसे उन भगवान के स्वरूप में संकल्प-विकल्प रहते हों कि 'ब्रह्मपुर में भगवान का स्वरूप कैसा होगा ? और श्वेतद्वीप तथा वैकुण्ठ में भगवान का स्वरूप कैसा होगा ? तथा उस स्वरूप का दर्शन कब होगा ? इस प्रकार के संकल्प-विकल्प करता रहता है, परन्तु प्रकट भगवान मिले हैं, उन्हें ही सभीके कारण

---

१. **सर्ग** :- महदादि पृथिव्यन्त तत्त्वों की उत्पत्ति अर्थात् वैराजपुरूष तक की सृष्टि। **विसर्ग** :- ब्रह्माने की हुई सृष्टि। **स्थानम्** :- भगवान की सर्वोत्कर्ष शत्रुविजयादिरूप स्थिति। **पोषणम्** :- भगवान का जगत के रक्षणरूप अनुग्रह। **उतय** :- कर्मवासना **मन्वन्तर कथा** :- सद्धर्म, भगवान ने अनुग्रह किया हुआ मन्वन्तराधिपो का धर्म। **ईशानुकथा** :- भगवान के अवतार चरित्रों की कथा तथा उनके एकान्तिक भक्तों की अनेकविध आख्यानवाली सत्कथा। **निरोध**:- जीव समुदाय का अपनी-अपनी कर्मशक्तिओं के साथ सूक्ष्मावस्थ प्रकृति में रहना, वह। **मुक्ति** :- देवमनुष्यादिरूप का त्याग करके स्वरूप से (अपने अपहतपाप्मत्वादि गुणाष्टक से विशिष्ट ऐसे रूप से) रहना, वह। **आश्रय** :- जिससे जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है, जिसे 'परब्रह्म परमात्मा' इत्यादि शब्द से श्रुतिस्मृतियाँ कहती है, वह। (भाग. २/१०/१)

२. आश्रय करने योग्य। ३. निश्चय में।

जानकर, उनसे ही[१] स्वयं को कृतार्थ नहीं मानता है। तथा ऐसे को यदि दैव[२] इच्छा से समाधि हो जाये तो भी संकल्प–विकल्प मिटते नहीं हैं और समाधि में जो–जो दिखाई देता है, उससे[३] नया–नया देखने की इच्छा करता है, परन्तु मन के विकल्प मिटते नहीं हैं, ऐसा हो, उसे समाधि है, तो भी सविकल्प है, और समाधि न होती हो तो भी सविकल्प है। इसलिए जो ऐसा हो वह गुणातीत एकान्तिक भक्त नहीं कहलाता है। और **जिसे भगवान के स्वरूप का दृढ़ निश्चय हो और उसे समाधि है, अथवा नहीं है तो भी उसे सदा निर्विकल्प समाधि ही है।''**

फिर दीनानाथ भट्ट ने प्रश्न पूछा कि ''मन में संकल्प–विकल्प टालने का उपाय करता हो, और यदि मन को नहीं जीत सकता है, तो उसकी कौनसी गति होती है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''कौरवों को तथा पाण्डवों को युद्ध करने का प्रारम्भ हुआ तब कौरवों तथा पाण्डवों ने विचार किया कि 'हम ऐसे स्थान पर युद्ध करें कि उस युद्ध में जिस किसी की मृत्यु हो, तो भी उनके जीव का श्रेय हो जाये।' ऐसा विचार करके कुरुक्षेत्र में युद्ध किया। फिर[४] जीत गए उनका भी श्रेय हुआ और उस संग्राम में जो मारे गए उन्हें भी देवलोक की प्राप्ति हुई और राज्य से भी अधिक सुख को प्राप्त हुए। उस तरह **जो मन के साथ लड़ाई छेड़ता है और यदि मन को जीत लेता है तो निर्विकल्प स्थिति को प्राप्त होता है और भगवान का एकान्तिक भक्त होता है, और यदि मन के आगे हार जाये तो भी योगभ्रष्ट होता है।** इसके बाद एक जन्म में अथवा दो जन्म में अथवा बहुत जन्मों में भी आखिरकार वह एकान्तिक भक्त होता है, परन्तु उसने प्रयत्न किया वह व्यर्थ नहीं होता। इसलिए **बुद्धिमान हो, उसे तो अपने कल्याण के लिए मन के साथ जरूर वैर बाँधना है।** फिर वह मन को जीतेगा तो भी अच्छा है और वह मन से हार जायेगा तो भी योगभ्रष्ट होगा; उसमें आखिरकार तो अच्छा

१. प्रगट स्वरूप से ही। २. भगवदिच्छा अथवा पूर्व के संस्कार के बल से।
३. समाधि में दिखाई दिए ऐश्वर्यों से भी अधिक। ४. युद्ध में जो।

है । इसलिए जो कल्याण की इच्छा रखते हैं, उन्हें तो मन के साथ अवश्य बैर बाँधना है ।''

॥ इति वचनामृतम् वरताल ॥१॥२०१॥

वचनामृत २ : 'चार शास्त्र से भगवान को जानने का - कानदासजी के प्रश्न का'

संवत्* १८८२ के कार्तिक शुक्ल १३ त्रयोदशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर से उत्तर दिशा की ओर गोमतीजी के तट पर आम के वृक्ष के नीचे पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने पीले ताश(१) का सुरवाल पहना था, लाल किमखाब की मिरजई पहनी थी, मस्तक पर जरीदार पल्ले की कुसुम्भी पाग बाँधी थी, जरीदार पल्ले का कुसुम्भी शेला कन्धे पर डाला था, पाग के उपर चम्पा के पुष्पों के हार विराजमान थे, कण्ठ में श्वेत पुष्पों के हार विराजमान थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''कुछ प्रश्न-उत्तर करिए ।'' तब गाँव बुवा के पटेल कानदासजी ने हाथ जोड़कर पूछा कि ''हे महाराज ! भगवान किस प्रकार से प्रसन्न होते हैं ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''यदि भगवान का द्रोह न किया जाये तो भगवान प्रसन्न होते हैं, तब(२) कहेंगे कि द्रोह तो क्या है ? तो जो, इन समस्त जगत के कर्ता-हर्ता भगवान हैं, उन्हें कर्ता-हर्ता न समझकर विश्व के कर्ता-हर्ता काल को जानता है अथवा माया को जानता है अथवा कर्म को जानता है अथवा स्वभाव को जानता है; तो यह भगवान का द्रोह है । क्योंकि भगवान सभीके कर्ता-हर्ता हैं, उनका त्याग करके केवल काल, कर्म, स्वभाव और माया को जगत के कर्ता-हर्ता कहते हैं इसलिए भगवान का यह अति द्रोह है(३) । वहाँ दृष्टान्त है, जैसे आप गाँव

*दि. २३-११-१८२५, बुधवार

१. ताश नामक कपड़ा जो सोने-चाँदी के बादले से बुना जाता है, रेशमी वस्त्र **२.** आप

३. और उन्हें शास्त्र का लेशमात्र ज्ञान नहीं है, ऐसा जाना जाता है क्योंकि, **'यः कालकालः'**

के पटेल[१] हैं, तो यदि गांव में आपकी मुखियागीरी न रहने दे, तो वह आपका द्रोही कहलाता है । और फिर जैसे चक्रवर्ती राजा हो, उसका हुकुम मिथ्या करके जो राजा न हो उसका हुकुम चलाता है, तो वह पुरुष राजा का द्रोही कहलाता है । और फिर जैसे कोई ऐसे कागज[२] लिख-लिखकर भेजे कि हमारा राजा है, वह बिना नाक-कान का है अथवा बिना हाथ-पैर का है।' इस तरह से राजा का रूप सम्पूर्ण हो, उसे खण्डित करके वर्णन करता है, वह राजा का द्रोही कहलाता है । उस तरह भगवान हैं, वह कर-चरणादिक समग्र अंगों से सम्पूर्ण हैं और लेशमात्र भी कोई अंग से विकल[३] नहीं हैं और सदा मूर्तिमान ही हैं, उन्हें अकर्ता कहना या अरूप कहना तथा भगवान बिना दूसरे जो कालादिक हैं, उन्हें कर्ता कहना; यह ही भगवान का द्रोह है । इस प्रकार का जो भगवान का द्रोह है, उसे जो न करता हो, उसने भगवान की सम्पूर्ण पूजा की है, और इसके बिना तो चन्दन-पुष्पादिक से पूजा करता है तो भी भगवान का द्रोही है । इसलिए **भगवान को जगत के कर्ता-हर्ता जानता है तथा मूर्तिमान जानता है, उसके पर ही भगवान प्रसन्न होते हैं ।**

वेद में तो नारायण ने स्वयं अपने मुख से भगवान का स्वरूप बहुत रीति से वर्णन करके कहा है, परन्तु वह किसी के समझ में नहीं आया, तब सांख्यशास्त्र के द्वारा चौबीस तत्त्व कहे और पच्चीसवां भगवान का स्वरूप

इत्यादि श्रुतिस्मृति में काल आदि को भगवान की शक्तिरूप में वर्णित किया है । जगत्सर्ग आदि में काल आदि की स्वतन्त्रता नहीं ही है क्योंकि, वे भगवान की प्रेरणा से ही विश्वसर्गादि उन-उन क्रियाओं को करते हैं, उसे भागवत में कहा है कि "**द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च । यदनुग्रहत: सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया ॥**" जैसे चक्रवर्ति राजा की आज्ञा से छोटे-छोटे राजा प्रजा का प्रशासन करते हैं, और वैसे ही भगवान की आज्ञा से ही काल आदि का विश्वसर्गादिक में कर्तव्य है, उसी तरह ही जो जन भगवान को सर्वनियन्ता और सर्वकर्ता जानते हैं, वे ही भक्त कहलाते हैं और जो इस तरह जानते नहीं हैं, वे भगवान के द्रोही कहलाते हैं ।

१. मुखिया, प्रधान २. परचा ३. विकलांग, विकृत, खण्डित

कहा है। उस सांख्य के आचार्य जो कपिल मुनि हैं, उन्होंने ऐसा विचार किया कि "स्थूल, सूक्ष्म और कारण, उनमें जीव एकरूप होकर रहता है और इनसे अलग जीव नहीं रह पाता है। जो ईश्वर हैं, वे भी अपनी उपाधि जो विराट, सूत्रात्मा तथा अव्याकृत; उनमें एकरूप से रहते हैं परन्तु उनके बिना नहीं रह सकते हैं। इसलिए सांख्यशास्त्र ने जीव को तथा ईश्वर को चौबीस तत्त्वों के साथ ही गिना है और पच्चीसवें परमात्मा कहे हैं।" और योगशास्त्र के आचार्य जो हिरण्यगर्भ ऋषि हैं, उन्होंने चौबीस तत्त्व कहकर पच्चीसवाँ जीव को कहा है, उसी तरह पच्चीसवें ईश्वर को कहा है, और परमात्मा को छब्बीसवें कहे हैं, इस तरह से सांख्यशास्त्र तथा योगशास्त्र ने भगवान का स्वरूप कहा, तो भी भगवान के स्वरूप का साक्षात्कार ज्ञान नहीं हुआ और अनुमान के अनुसार तो हुआ कि 'सांख्य के मत से जो चौबीस तत्त्व से पर है, वह वस्तु[१] सत्य है और योग के मत से चौबीस तत्त्व से पर जीव-ईश्वर हैं और उनसे पर परमात्मा हैं, वे सत्य हैं। इस तरह से परमात्मा के स्वरूप का दोनों शास्त्रों द्वारा अनुमान प्रमाण से ज्ञान हुआ, परन्तु वे भगवान काले हैं कि पीले हैं ? या लम्बे हैं कि ठिंगने हैं ? या साकार हैं कि निराकार हैं ? ऐसा कुछ ज्ञान नहीं हुआ।

फिर स्वयं वासुदेव भगवान ने पञ्चरात्र नाम से तन्त्र[२] किया। जिसमें ऐसा प्रतिपादन किया है कि 'श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम भगवान हैं, वे अपने अक्षरधाम में सदा दिव्य साकार मूर्तिमान रहते हैं। वे ही भगवान श्वेतद्वीपवासी जो अनन्त निरन्नमुक्त हैं, उन्हें पाँच बार अपना दर्शन देते हैं, तथा वैकुण्ठलोक में वे ही भगवान चतुर्भुज मूर्तिरूप से लक्ष्मीजी के सहित हैं, और उन्होंने शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हैं तथा विष्वकसेनादिक जो पार्षद हैं, उनसे सेवित हैं। वे ही भगवान पूजने योग्य तथा भजने योग्य तथा प्राप्त करने योग्य हैं, और वे ही भगवान राम-कृष्णादिक अवतारों को धारण करते हैं तथा वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध; इन चतुर्व्यूहरूप से रहते हैं।' इस तरह से साकार मूर्ति का प्रतिपादन किया है। फिर उसी पञ्चरात्र तन्त्र को नारदजी ने फिर से

१. बात २. शास्त्र

किया तब वह नारद पञ्चरात्र कहलाया । उसमें इस तरह से भगवान के स्वरूप का प्रतिपादन किया है कि 'किसी प्रकार से संशय नहीं रहा ।' इसलिए श्रीमद् भागवत में कहा है कि

नारायणपरा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः ।
नारायणपरा लोका नारायणपरा मखाः ॥
नारायणपरो योगो नारायणपरं तपः ।
नारायणपरं ज्ञानं नारायणपरा मतिः ॥[१]

तथा

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः ।
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः ॥
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः ।
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः ॥[२]

---

१. अर्थ :- वेदो नारायण परक हैं, प्रतिपाद्य अथवा कारण है, ऐसे हैं। "**सर्व वेदा यत्पदमामनन्ति**" "**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**" इत्यादि श्रुतिस्मृति हैं । इन्द्रादि देवताएं नारायण के अंग से हुए हैं, इसलिए उनके शरीरभूत हैं। "**चन्द्रमा मनसो जातः**" इत्यादि श्रुति है। कर्मप्राप्य स्वर्गादि लोक नारायण ही हैं स्वामी जिनके, ऐसे है। यज्ञ नारायण परक है, आराध्य अथवा प्रधान जिन्हें है ऐसे है। विवेकादिजन्य उपासनात्मक योग नारायण परक ही है, ध्येय जिसमें है ऐसे है। विद्या के अंगभूत तप नारायण ही परक है, पर्यवसानभूमि जिनकी है, ऐसा है । शास्त्रजन्य ज्ञान नारायण ही परक है, ज्ञेय जिसे है ऐसा है, योग के फलरूप अर्चिरादि गति नारायण ही परक है, गन्तव्य (पाने योग्य) जिसे है, ऐसी हैं। (भाग. २/५/१५, १६)

२. अर्थ :- पूर्वोत्तर भागद्वयात्मक वेद वासुदेव ही परक - तात्पर्यभूमि जिनकी है, ऐसे हैं। अग्नि आदिक देवता की पूजारूप योगादिक वासुदेव परक ही है, प्रधानरूप से आराध्य जिसे है, ऐसे हैं। इन्द्रादिक के उपासनारूप योग वासुदेव परक ही है, विषय जिसे है ऐसे है। इसतरह समग्र वेद से वेद्य एक वासुदेव ही पर-प्रधानता से आराध्य जिन्हें है ऐसे हैं। प्रकृतिपुरुष का विवेकरूप ज्ञान वासुदेव परक ही है, - विषय जिन्हें है ऐसा है। कृच्छ्रचान्द्रायणादिक तप वासुदेव परक ही है, आराधना पर है । वर्णाश्रमविहित श्रौत स्मार्त धर्म वासुदेव पर अर्थात् वासुदेव के आधीन स्थिति प्रवृत्तिवाला है। धर्म प्राप्य स्वर्गादिप्राप्तिरूप गति वासुदेव परक है, अर्थात् एक वासुदेव ही प्राप्त करने योग्य हैं। (भाग. १/२/२८, २९)

इस तरह से इन चार[१] शास्त्रों से श्रीकृष्णनारायण वासुदेव के स्वरूप का ही प्रतिपादन किया है । और इन चार शास्त्रों से जो भगवान के स्वरूप को समझता है, वह ही पूरा ज्ञानी कहलाता है । जैसे दूध है, उसे नेत्र से देखते हैं तब सफेद दिखाई देता है, नाक से सूंघते हैं तब सुगन्धवान दिखाई देता है, उंगली से छूते हैं तब ठंडा-गरम मालूम होता है और जिह्वा से चखते है तब स्वादिष्ट मालूम होता है; परन्तु एक इन्द्रिय से दूध के स्वरूप का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं होता है, जब सभी इन्द्रियों से पता लगाते हैं तब सम्पूर्ण ज्ञान होता है । उस तरह वेदादिक चार शास्त्रों से जब भगवान के स्वरूप को समझता है तब भगवान के स्वरूप का सम्पूर्ण ज्ञान होता है । और ऐसा जो जानना उसे सम्पूर्ण ज्ञान कहते हैं । भगवान भी ऐसा समझ ने से ही प्रसन्न होते हैं, परन्तु परमेश्वर को प्रसन्न करने का दूसरा उपाय नहीं है । इसलिए इस तरह से जो समझता है, वह ही पूरा ज्ञानी कहलाता है और भगवान भी उसी पर ही अतिशय प्रसन्न होते हैं ।''

॥ इति वचनामृतम् वरताल ॥२॥२०२॥

वचनामृत ३ : 'चार प्रकार के महापुरुष का'

संवत्* १८८२ के कार्तिक कृष्ण ११ एकादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर में सिंहासन पर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कण्ठ में गुलाब के पुष्पों के हार धारण किये थे, मस्तक पर पाग में तुर्रे विराजमान थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनिमण्डल समस्त तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''अपने उद्धव सम्प्रदाय में ज्ञान, वैराग्य, धर्म और भगवान की भक्ति; ये चार बातें[२] जिसमें हों, वह एकान्तिक भक्त कहलाता है; और अपने सत्संग में बड़ा[३] करने योग्य भी वह ही है । ये

*दि. ६-१२-१८२५, मंगलवार

१. वेद (वेदान्त) सांख्य, योग, पञ्चरात्र २. मोक्षोपयोगी चार साधन । ३. अग्रणी

चार सम्पूर्ण न हो, और एक ही मुख्यरूप से हो, तो भी तीन जो बाकी रहे हैं, वे एक के अन्तर्गत आ जायें, ऐसा एक कौनसा है, जो उन चारों में श्रेष्ठ है ?'' तब गोपालानन्द स्वामी ने तथा मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि ''हे महाराज ! ऐसा तो एक धर्म है, वह धर्म हो तो तीनों बातें[१] उस पुरुष में आ जाती है ।''

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''धर्म तो कई विमुख[२] मनुष्य है, उसमें भी होता है, तो क्या उसे सत्संग में बड़ा[३] करेंगे ?'' फिर यह बात सुनकर किसीसे उत्तर नहीं दिया गया । तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि माहात्म्य सहित भगवान की भक्ति हो और आत्मनिष्ठा, धर्म तथा वैराग्य सामान्यरूप से हो, तो भी धर्म में से वह कभी भी च्युत नहीं होता । क्योंकि, जो भगवान का माहात्म्य जानता हो, वह तो ऐसा विचार करता है कि 'भगवान की आज्ञा में ब्रह्मादिक समग्र देव रहते हैं, उन भगवान की आज्ञा का मुझ से कैसे लोप हो ?' ऐसा जानकर भगवान के नियम में निरन्तर रहता है ।''

तब शुकमुनि ने पूछा कि ''जब एक माहात्म्य सहित भक्ति से सम्पूर्ण होता है, तब केवल भक्ति ही क्यों न कहीं, और चार साधन क्यों कहे गए ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि[४] ''**अतिशय माहात्म्य सहित भक्ति भगवान के प्रति हो, तो एक भक्ति में तीनों बातें आ जाती हैं** और सामान्य भक्ति हो, तो एक में तीनों नहीं आते । इसलिए 'चार बातों सहित जो भक्ति है, वह जिसमें हो, उसे एकान्तिक भक्त कहते हैं,' ऐसा कहा है। और ऐसी असाधारण भक्ति तो पृथुराजा को थी, जब भगवान ने वरदान माँगने को कहा, तब भगवान की कथा सुनने के लिए दश हजार कान माँगे[५] परन्तु

---

१. साधन २. जो सत्संग से बाहर हो ऐसे भिन्न पन्थ-मत के लोग । ३. अग्रणी

४. भक्ति तो असाधारण और साधारण (परा और अपरा) ऐसे भेद से दो प्रकार की है, उस में।

५. "**विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वर:**'' ऐसा भागवत में (४-२०-२४) कहा है, दस हजार कानों द्वारा कथाश्रवण करने से जितना आनन्द होता है उतना आनन्द दो कानों से कथाश्रवण करने से होता है, ऐसा अभिप्राय समझे ।

दूसरा कुछ नहीं माँगा । और जिन गोपियों को रासक्रीड़ा में नहीं जाने दिया, तो देह त्याग करके श्रीकृष्ण के पास चली गई । ऐसी असाधारण भक्ति हो, तो ज्ञानादिक तीनों एक भक्ति में आ जाते हैं[१] ।''

तब ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि ''ऐसी असाधारण भक्ति किस उपाय से आती है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''महापुरुष की सेवा से आती है । **वे महापुरुष भी चार प्रकार के हैं ।** एक तो दीपक जैसे, और दूसरे मशाल जैसे, और तीसरे बिजली जैसे और चौथे बड़वानल अग्नि के जैसे; इनमें जो दीपक जैसे होते हैं, वे तो विषयरूप वायु से बुझ जाते हैं । और मशाल जैसे होते हैं, वे भी उनसे अधिक विषयरूप वायु लगे तो उससे बुझ जाते हैं । और बिजली जैसे जो होते है, वे तो मायारूपी वर्षा के पानी से भी नहीं बुझते हैं । और बड़वानल अग्नि जैसे होते हैं, वे तो ज्यों बड़वानल समुद्र में रहता है, परन्तु समुद्र के जल से बुझाने पर भी नहीं बुझता और समुद्र के जल को पीकर मूलद्वार से निकाल देता है । वह पानी मीठा होता है, उसे मेघ लाकर संसार में वर्षा करते हैं, उससे विविध प्रकार के रस होते हैं । उस तरह ऐसे जो महापुरुष हैं, वे समुद्र के जल जैसे खारे जीव होते हैं उन्हें भी मीठा कर देते हैं । **इस प्रकार से ये चार प्रकार के जो महत्पुरुष कहे हैं, उनमें जो बिजली के अग्नि जैसे तथा समुद्र के अग्नि जैसे महापुरुष हैं, उनकी सेवा यदि अपने-अपने धर्म में रहकर मन, कर्म, वचन से करता है, तो उस जीव के हृदय में माहात्म्य सहित भक्ति आती है ।** तो बिजली की अग्नि जैसे तो साधनदशावाले भगवान के एकान्तिक साधु हैं और बड़वानल अग्नि जैसे तो सिद्धदशावाले भगवान के परम एकान्तिक साधु हैं, ऐसा जानें ।''

॥ इति वचनामृतम् वरताल ॥३॥२०३॥

---

१. जिस पुरुष को सामान्यरूप से भगवान में भक्ति है, उसे तो धर्म आदि तीन अंग सिद्ध करने है ।

वचनामृत ४ : 'फुहारा का'

संवत्* १८८२ के मार्गशीर्ष शुक्ल १० दशमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर में विराजमान थे । उहोंने अंग पर सभी श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि "प्रश्न-उत्तर करिए ।" तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि "भक्तिमार्ग में प्रवृत्त हुआ ऐसा जो भगवान का भक्त है, उसे ऐसा एक साधन कौन सा है कि एक साधन करने से जितने कल्याण के लिए साधन हैं, वे सभी एक उस साधन में आ जायें ?" फिर श्रीजीमहाराज बोले कि **"तीस लक्षणों से युक्त ऐसे जो सन्त हैं, उनका जो संग है, उसे मन, कर्म, वचन से रखे, तो जितने कल्याण के लिए साधन हैं, उतने सभी उनके संग में आ जाते हैं ।"**

इस प्रकार से उत्तर करके फिर श्रीजीमहाराज प्रश्न पूछने लगे कि "भगवान का एकान्तिक भक्त ऐसा जो योगी हो, वह सांख्यशास्त्र तथा योगशास्त्र इन दोनों का मत एक वासुदेवनारायण पर[१] है, ऐसा जानता है। इसलिए वह योगी किस प्रकार से भगवान के स्वरूप में वृत्ति रखे ? कैसे अपने मन को चलाये[२] ? और वह मन के साथ मूर्ति को कैसे रखे ?, और वह किस तरह से अन्तर में वृत्ति रखे ?, वह किस तरह से बाहर वृत्ति रखे ? और निद्रारूपी लय तथा संकल्प-विकल्परूपी विक्षेप है, उनसे कैसी योग की कला से अलग हो जाये[३] ? इसका उत्तर कहिए ।" फिर मुक्तानन्द स्वामी ने और गोपालानन्द स्वामी ने जैसा आया वैसा कहा, लेकिन किसीसे उत्तर न हो सका। तब श्रीजीमहाराज बोले कि[४]"जैसे जल का फुहारा हो,

*दि. १९-१२-१८२५, सोमवार

१. परक, भगवान का ही सर्वाधिक प्रतिपादन करने परक

२. नियन्त्रित करे, वश करे ३. इस तरह छः प्रश्न हैं ।

४. प्रथम, तीसरे और चौथे प्रश्न का उत्तर देते है

उसके योग से भँवर[१] होने से जल ऊंचा उछलता है, उस तरह अन्तःकरणरूपी जो फुहारा है, उस में जीव की वृत्ति है, वह घुमरी खाकर पँच इन्द्रियों द्वारा उछलती है। उसे जो योगी होते हैं, वे दो प्रकार करके,[२] एक वृत्ति से तो अपने हृदय में साक्षीरूप से रहे ऐसे जो श्रीवासुदेव भगवान हैं, उनका चिन्तन करते हैं और दूसरी वृत्ति है, उसे तो दृष्टि द्वार से बाहर रखते हैं और उस वृत्ति से बाहर भगवान का चिन्तन करते हैं। वो भी नखशिख पर्यन्त समग्र मूर्ति का एक साथ ही चिन्तन करते हैं परन्तु एक-एक अंग का अलग-अलग चिन्तन नहीं करते हैं। जैसे बड़ा मन्दिर हो, उसे पूरा एक साथ ही देखते हैं[३] तथा जैसे विशाल पर्वत हो, उसे पूरा एक साथ ही सम्पूर्ण देखते हैं, इस तरह भगवान के स्वरूप को देखते हैं, परन्तु एक-एक अंग को नहीं देखते हैं। और उस मूर्ति को जब अपनी दृष्टि के आगे दूरी पर धारण करता है, और तब उस मूर्ति के पास में दूसरा कुछ भी पदार्थ दिखाई दे तो वह उस मूर्ति को दूरी पर धारण की है, उसे निकट लाकर अपनी नासिका के अग्रभाग पर उस मूर्ति को रखें, ऐसा करते हुए भी यदि आसपास कुछ पदार्थ दिखाई दे तो अपनी भ्रकुटि के मध्यमभाग में मूर्ति को धारण करें, ऐसा करने पर भी यदि आलस्य या निद्रा जैसा भासित हो, तो फिर मूर्ति को दृष्टि के आगे दूर धारण करें। फिर **जैसे लड़के पतंग को उड़ाते हैं, उस तरह मूर्तिरूपी पतंग को अपनी वृत्तिरूपी जो डोरी है, उससे मूर्ति को ऊँचा चढ़ाए और फिर पुनः नीचे लाए और अगल-बगल में डुलाते[४] हैं,** इस तरह योगकला से जब सचेत हो जाये तब फिर मूर्ति को नासिका के अग्रभाग में धारण करते हैं, और वहाँ से भ्रकुटि में लाकर हृदय में मूर्ति को उतारते हैं। और हृदय में साक्षीरूप से रही जो मूर्ति है और बाहर रही जो मूर्ति है, उन दोनों को एक करते हैं[५]। फिर अन्तःकरण की दो प्रकार की वृत्तियाँ हों वे एक हो जाती हैं। ऐसा करते हुए यदि आलस्य या निद्रा जैसा प्रतीत

१. घुमरी २. उस दो प्रकार की वृत्तियाँ में। ३. दूसरे प्रश्न का उत्तर देते है। ४. घुमाते
५. पांचवें प्रश्न का उत्तर देते है।

हो, तो पुनः दो प्रकार से वृत्तियों को करके मूर्ति को बाहर ले आयें, इस तरह से जो श्रोत्र, त्वक्, रसना तथा घ्राण; उनके द्वारा भी योगकला को सिद्ध करें और वैसे ही मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार; उनके द्वारा भी भगवान की मूर्ति को धारण करें[१] । और इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण उन सभी को सांख्य विचार से ही अलग करके अकेले चैतन्य में ही भगवान की मूर्ति को धारण करें । और उस **भगवान की मूर्ति को हृदय में या बाहर धारण किया हो, और उस समय कोई व्यवहार सम्बन्धी विक्षेप बाधा करे तो उस विक्षेप का भी मूर्ति को धारण करनेरूप उपाय से ही समाधान करते हैं, परन्तु विक्षेप में अपनी योगकला का त्याग नहीं करते हैं ।** इस तरह से योगकला से युक्त होकर वे योगी रहते हैं ।''

|| इति वचनामृतम् वरताल ||४||२०४||

वचनामृत ५ : 'भगवान में माया न समझने का - समान सेवा का'

संवत्* १८८२ के मार्गशीर्ष कृष्ण ४ चतुर्थी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर से उत्तर दिशा की ओर गोमतीजी के तट आम के वृक्ष नीचे वेदी पर पलंग पर उत्तराभिमुख होकर विराजमान थे । उन्होंने अति महीन[२] ऐसे श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कण्ठ में गुलाब के पुष्पों के बहुत हार पहने थे, श्रवण[३] पर बड़े दो-दो गुलाब के पुष्प के गुच्छे धारण किये हुए थे, पाग में गुलाब के पुष्प के तुर्रे विराजमान थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनिमण्डल समग्र तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''टेढ़े-मेढ़े[४] प्रश्न करिए कि जिससे सभी की आलस्य उड़ जाये ।'' ऐसा कहकर स्वयं पश्चिम की ओर तकिया रखकर एक ओर करवट ले के[५] बैठे । फिर मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि

*दि. २९-१२-१८२५, गुरुवार

१. छठवें प्रश्न का उत्तर देते है । २. सूक्ष्म ३. कान ४. कठिन, तर्क प्रधान ५. बदल के

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।[१]

इस श्लोक में श्रीकृष्णभगवान ने ऐसा कहा है कि 'जो पुरुष मुझे प्राप्त करता है, वह दुःख[२] से भी न तैर सके ऐसी जो मेरी गुणमयी माया है, उसे तैर जाता है ।' तब जिसे भगवान की प्राप्ति हुई है, उसे भगवान का भजन करते हुए अन्तर में कुछ संकल्प-विकल्प का विक्षेप हो जाता है, उसे माया के बिना दूसरा कौन करता होगा ? यह प्रश्न है ।'' तब श्रीजीमहाराज लेटे हुए थे, वे उठकर बैठ गए और अति करुणार्द्र होकर बोलने लगे कि ''माया के जो तीन गुण हैं, उनमें तमोगुण के तो पञ्चभूत तथा पञ्चमात्राए हैं; और रजोगुण की दश इन्द्रियाँ, बुद्धि तथा प्राण हैं । और सत्वगुण के मन तथा इन्द्रियाँ-अन्तःकरण के देवता हैं । तो जो-जो भक्त हो गए हैं, उन सभी में इन तीनों गुणों के कार्यरूप जो भूत, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण तथा देवता वे सभी थे । इसलिए इसका यह उत्तर है कि परमेश्वर को यथार्थरूप से परमेश्वर जान लिए कि '**इन भगवान के स्वरूप में किसी भी प्रकार से मायिक भाव नहीं है तथा ये भगवान तो माया और माया का कार्य जो तीन गुण हैं, उनसे पर[३] हैं ।' ऐसा जिसे भगवान का दृढ़ निश्चय हुआ है, वह भगवान की माया को तैर चुका है ।** और अपने में तो माया के गुण का कार्य जो भूत, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण; वे अपनी-अपनी क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं, तो भी वह माया को तैर चुका कहलाता है ।' क्योंकि उस माया का कार्य अपने में तो रहता है, परन्तु स्वयं को भजन करने योग्य ऐसे जो प्रकट प्रमाण श्रीवासुदेव भगवान हैं, उन्हें तो वह माया के गुणों से पर समझता है । इसलिए उसे भी माया से पर ही जानें । और ब्रह्मादिक देव तथा वसिष्ठ, पराशर, विश्वामित्रादिक ऋषि, इन सभी में गुण का प्रवेश दिखाई दिया है, उसे शास्त्र में भी लिखा है । इसलिए वे क्या मुक्त नहीं कहलाते हैं ? और माया को तैर चुके नहीं कहलाते हैं ? सभी मुक्त हैं और सभी माया को तैर चुके हैं,

---

१. गीता : ७/१४ २. कष्ट ३. अलिप्त, नियन्ता

और यदि ऐसा उत्तर न किया जाये, तो इस प्रश्न का समाधान नहीं हो सकता । इसलिए यही उत्तर है ।''

फिर नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज ! भगवान के आश्रय में जाना है, उस आश्रय का क्या रूप[१] है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''भगवान ने गीता में कहा है कि

सर्वधर्मान्[२] परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

इस श्लोक में ऐसा कहा है कि 'दूसरे समस्त धर्मों का परित्याग करके मेरी एक की ही शरण में आ जा, तो मैं तुझ को समस्त पापों से मुक्त करा दूँगा, तू शोक मत कर[३] ।' और ऐसा जो भगवान का दृढ़ आश्रयवाला है, उसे महाप्रलय जैसा दुःख आ पड़े, तो भी उस दुःख से रक्षा करनेवाले भगवान के सिवा दूसरे को जानता नहीं है । और अपने को जिस-जिस सुख की इच्छा हो, उसे भी भगवान से ही प्राप्त करने की इच्छा रखता है, परन्तु **प्रभु के बिना दूसरों को सुखदायक जानता नहीं है और प्रभु की जैसी इच्छा हो, उसके ही अनुसार रहता है, ऐसा जो होता है, वह प्रभु का शरणागत जीव कहलाता है; और वही भगवान का अनन्य भक्त कहलाता है ।'**

फिर नाजा भक्त ने पूछा कि ''जिसे भगवान का परिपूर्ण आश्रय न हो और बोलने में तो निश्चितरूप से जो हरिभक्त हैं, उनके जैसा ही निश्चय का बल दिखाता है, उसे किस तरह से परखा जाये ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''भगवान के भक्त का उत्तम-कनिष्ठ निश्चय तो साथ में रहने से और साथ में व्यवहार करने से जैसा हो वैसा परख में आ जाता है । फिर **जिसे थोड़ा निश्चय रहता है, वह उद्विग्न होकर सत्संग की भीड़[४] से रास्ता निकालकर एकान्त का अवलम्बन लेकर जैसा बनता है, वैसा भजन**

१. शरणागत का लक्षण क्या है ? ऐसा प्रश्नार्थ समझे । २. गीताः १८/६६
३. श्रीकृष्ण भगवान ने कहे प्रपन्नभक्त के लक्षण में न्यूनता पूर्ण करते हुए कहते हैं ।
४. दबाव, समूह

करता है, परन्तु हरिभक्त की भीड़[१] में रहा नहीं जाता । इसलिए भगवान का आश्रय भी उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ; इन तीन प्रकारों का हैं और इनसे[२] भक्त भी तीन प्रकार के हैं ।''

तब फिर से नित्यानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''यह कसर मिट जाये तब कनिष्ठ[३] हो, वह इसी जन्म में ही उत्तम भक्त होता है या नहीं होता है?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि **''जैसे भगवान की मानसी पूजा करता है, वैसे ही जो उत्तम हरिभक्त हों, उनकी भी भगवान की प्रसादी से भगवान के साथ मानसीपूजा करें** तथा जैसे भगवान के लिए थाल[४] बनाता है, वैसे ही भगवान के जो उत्तम भक्त हैं, उनके लिए भी थाल बनाकर उन्हें भोजन करायें; और जैसे भगवान के लिए पाँच रुपये का खर्च करता है, वैसे ही उन बड़े सन्तों के लिए भी खर्च करें । इस तरह से **भगवान तथा उत्तम लक्षणवाले जो सन्त हैं, उनकी अति प्रेम से समान सेवा जो करता है, तो वह कनिष्ठ भक्त हो, और वह दो जन्मों में तथा चार जन्मों में तथा दस जन्मों में या सौ जन्मों में उत्तम भक्त जैसा होनेवाला हो, तो इसी ही जन्म में उत्तम भक्त हो जाता है । ऐसा भगवान तथा भगवान के भक्त की समान सेवा करने का फल है ।''**

॥ इति वचनामृतम् वरताल ॥५॥२०५॥

वचनामृत ६ : 'चीमनरावजी के प्रश्न का'

संवत्* १८८२ के मार्गशीर्ष कृष्ण ११ एकादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर आगे मंच पर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कण्ठ में पुष्प के हार धारण किये थे, पाग में पुष्पों के तुर्रे लटक रहे थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

---

*दि. ४-१-१८२६, बुधवार

१. दबाव, समुह **२.** तीन प्रकार के निश्चय से ।

३. कनिष्ठ निश्चयवाला भक्त **४.** भोग लगाता है ।

तब चीमनरावजी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! जीव जब प्रथम प्रलयकाल में कारण शरीर से युक्त होते हुए माया में लीन थे, फिर सृष्टिकाल में इन जीवों को स्थूल, सूक्ष्म देहों की प्राप्ति हुई तथा देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदिकरूपों में जो विचित्रता हुई, वह कर्म से हुई ? अथवा भगवान की इच्छा से हुई ? और यदि कर्म द्वारा हुई ऐसा कहा जाये, तो जैन मत की सत्यता होती है,[१] और यदि भगवान की इच्छा से हुई, ऐसा कहा जाये तो भगवान में विषमता तथा निर्दयता आती है; इसलिए उसे जैसा हो वैसा कृपा करके कहें ।'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''यह प्रश्न आपको पूछना नहीं आया। क्योंकि जो कारण शरीर है, उसमें स्थूल-सूक्ष्म ये जो दो देह हैं, वे बीजवृक्ष न्याय से रहते हैं, इसलिए इसे कारण शरीर कहते हैं। यह जो कारण शरीर है वह अविद्यात्मक है, तथा अनादि है, तथा संचितकर्म से युक्त है । जैसे बीज तथा छिलके का नित्य सम्बन्ध है, भूमि तथा गन्ध का नित्य सम्बन्ध है, उस तरह जीव तथा कारण शरीर का नित्य सम्बन्ध है । और जैसे पृथ्वी में बीज रहते हैं, वे वर्षाऋतु में जल के योग को प्राप्त होकर उग जाते हैं, उस तरह माया में कारण शरीर युक्त रहते ऐसे जो जीव हैं, वे उत्पत्तिकाल में फलप्रदाता ऐसे जो परमेश्वर हैं, उनकी दृष्टि को पाकर अपने-अपने कर्मों के अनुसार विविध प्रकार के देह को पाते[२] हैं । और नास्तिक ऐसे जो जैन

१. क्योंकि वे केवल कर्म से ही जगत की उत्पत्ति कहते हैं ।

२. अभिप्राय इतना है कि - जैसे बीज पृथ्वी-जल आदि के सम्बन्ध बिना अंकुरित नहीं होता परन्तु उसका सम्बन्ध होने से ही अंकुरित होता है । इसलिए अंकुरित होने में पृथ्वी, जल आदि साधारण कारण माने जाते हैं । अंकुरों में जो विचित्रता लानी है, वह पृथ्वी-जल आदि में नहीं है, परन्तु अपने-अपने बीज में ही है, इसलिए विचित्रता लाने में स्व-स्वबीज ही विशेष कारण माना जाता है । अर्थात् आम्र आदि प्रत्येक बीज के अंकुरों में पृथ्वी-जल आदि साधारण कारण है, परन्तु जैसा बीज हो उसी तरह अंकुरों में विचित्रता आती है । जब तक साधारण कारण से निर्वाह होता हे तब तक पृथ्वी-जलादिक में विशेष कारण की कल्पना करने की जरुरत नहीं है, ऐसा न्याय है । इसी तरह जगत की सृष्टि परमात्मा की इच्छा बिना होती नहीं । परन्तु उनकी इच्छा से ही होती है । इसलिए सृष्टि होने में परमात्मा कारण हैं, परन्तु उसमें जो देव-मनुष्यादि और सुखी-

हैं, वे तो केवल कर्म को ही कर्ता कहते हैं, परन्तु परमेश्वर को कर्मफलप्रदाता नहीं कहते हैं। उस नास्तिक का मत गलत(१) हैं। इसलिए(२) अकेले काल का ही बल कोई कहता हो, वह भी प्रमाण नहीं है, तथा अकेले कर्म का कोई बल कहता है, वह भी प्रमाण नहीं है, तथा अकेले परमेश्वर की इच्छा का बल कोई कहता है, वह भी प्रमाण नहीं है, वह तो जिस समय जिसकी प्रधानता रहती है, उस समय शास्त्र में उसी की ही प्रधानता कही होती है, परन्तु

दुःखी इत्यादि विचित्रता हुई, उसमें परमात्मा कारण नहीं हैं। उसमें तो जीवगत जो अनादि कर्मविशेष वही विशेष कारण है। इसलिए परमात्मा में पक्षपात या निर्दयतारूप दोष नहीं है। इस विषय में व्याससूत्र है कि – **"वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति ॥"** अर्थ :- परमात्मा में किसे देव, तो किसे मनुष्य, तो किसे पशु, तो किसे स्थावर योनि देकर उत्कृष्ट, मध्यम और कनिष्ठ भाव करने से पक्षपात या अतिघोर दुःखयोग करने से निर्दयता नहीं, क्योंकि उसमें परमात्मा को कर्म की अपेक्षा है – विषम सृष्टि में सृज्यमान जो क्षेत्रज्ञ(जीव) उनके कर्म की अपेक्षा रखते हैं। इसलिए उनके-उनके कर्म के अनुसार वैसी-वैसी योनि और सुख-दुःख देते हैं। इसलिए वैषम्य – नैर्घृण्य नहीं है। कर्म की अपेक्षा न रखकर स्वेच्छा से ही विचित्र सृष्टि करे तो नैर्घृण्य आये, पर वैसा तो करते नहीं हैं। विषमता में कर्म ही विशेष कारण है। ऐसा श्रुति भी दर्शाती हैं – **"साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति । पुण्यः पुण्येन कर्मणा पापः पापेन कर्मणा ॥"** इत्यादि, देवादि विचित्र भाव में प्रधान कारण तो सृज्यमान क्षेत्रज्ञों(जीवों) की प्राचीन कर्मशक्ति है। परमात्मा तो निमित्तमात्र हैं, ऐसा पराशर मुनि भी कहते हैं **"निमित्तमात्रमेवासौ सृज्यानां सर्गकर्मणि । प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः॥ निमित्तमात्रं मुक्त्वैव नान्यत्किञ्चिदपेक्षते । नीयते तपतां श्रेष्ठ स्वशक्त्या वस्तु वस्तुताम्।** (क्षेत्रज्ञों और उनके कर्म प्रवाहों अनादि हैं। इसलिए सृष्टि समय में कर्म का विभाग नहीं था, ऐसी शंका का अवकाश नहीं है। उक्त हेतु से ही परमात्मा श्रीकृष्ण भगवान स्वयं को कर्ता होने पर भी अकर्ता कहते हैं। **"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः । तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥"** जैसे राजा प्रजा को निग्रहानुग्रह करता है, उस में खुद कर्ता है। तथापि उनके कर्म के अनुसार ही करते हैं। इसी वजह से राजा अकर्ता हैं अर्थात् राजा में विषमता और निर्दयतारूप दोष नहीं है, वैसे परमात्मा कर्ता होने पर भी अकर्ता हैं। अर्थात् वैषम्य-नैर्घृण्य नहीं है।

१. मिथ्या

२. अब मतभेद से कही हुई, कालादिक की स्वतन्त्र कर्तृत्व का निषेध करके उनकी कैसी कर्तृता है, उसका प्रकार युक्ति से प्रतिपादन करते है।

सभी स्थानों पर उसी का प्रमाण[१] न लें । क्योंकि जब प्रथम इस विश्व की रचना हुई तब प्रथम का जो सत्ययुग था, उसमें सभी मनुष्यों के संकल्प सत्य होते थे और सभी ब्राह्मण थे और मन में संकल्प करते थे तब संकल्पमात्र से ही पुत्र की उत्पत्ति होती थी और सभीके घर कल्पवृक्ष थे और जितने मनुष्य थे, वे सभी परमेश्वर का ही भजन करते थे । जब त्रेतायुग आया तब मनुष्य के संकल्प सत्य नहीं रहे, जब कल्पवृक्ष के नीचे जाते थे तब संकल्प सत्य होते थे तथा स्त्री का स्पर्श करते थे तब पुत्र की उत्पत्ति होती थी । जब द्वापरयुग आया तब स्त्री का अंग संग करते थे तब पुत्र की उत्पत्ति होती थी । और इस तरह से जो सत्ययुग, त्रेतायुग की रीति, वह सभी सत्ययुग, त्रेतायुग में नहीं होती है, वह तो प्रथम सत्ययुग तथा त्रेतायुग थे, उनमें थी । उसी तरह जब शुभ काल बलवानरूप से प्रवृत्त रहता है, तब जीव के अशुभ कर्मों की सामर्थ्य को न्यून कर देता है । और जब अतिशय दुर्भिक्ष[२] वर्ष आता है तब सभी प्रजा को दु:ख आता है अथवा घमासान लड़ाई होती है तब लक्षावधि मनुष्य एककाल में मारे जाते हैं; तब क्या सबका एक साथ शुभ कर्म समाप्त हो गया ? वह तो अशुभ काल का ही अतिशय सामर्थ्य है, उसने जीवों के शुभ कर्मोंके बल को हटा दिया । इसलिए जब बलवान काल का वेग प्रवृत्त होता है तब कर्म का मेल रहता नहीं है, कर्म में सुख लिखा हो, तो वह दु:ख हो जाता है और कर्म में जीवित रहना लिखा हो तो वह काल से[३] मर जाता है। इस तरह से जब काल का बलवान वेग होता है तब काल से[४] ही सब कुछ होता है, ऐसा शास्त्र में लिखा होता है । और **जब बहुत से मनुष्य भगवान के एकान्तिक भक्त होते हैं, तब कलियुग में भी सत्ययुग होता है ।** उस स्थान पर, एकान्तिक भक्त के भगवान की भक्ति सम्बन्धी जो शुभ कर्म हैं, उनका जोर[५] शास्त्र में कहा होता है, परन्तु काल का जोर कहा नहीं होता है। इस वार्ता को जाने बिना, जो नास्तिक मतवाले हैं, वे केवल कर्म

---

१. प्रधानता २. अकाल, सूखा ३. अशुभ काल की प्रधानता से, जैसे दुर्भिक्ष, युद्ध
४. काल के प्रभाव से ५. प्रबलता, प्रधानता

को ही सर्वकर्ता कहते हैं, परन्तु ऐसा नहीं जानते हैं कि वह तो भगवान के जो एकान्तिक भक्त हैं, उनके कर्मों का सामर्थ्य कहा है, परन्तु विमुख जीव के कर्म का ऐसा सामर्थ्य नहीं कहा है। और जब भगवान ऐसा संकल्प धारण करके प्रकट होते हैं कि 'इस देह से तो पात्र-कुपात्र जिन-जिन जीवों को मेरी मूर्ति का योग होता है, उन सभी का कल्याण करना है।' तब काल का तथा कर्म का कोई सामर्थ्य नहीं रहता है, तब तो अकेले परमेश्वर का ही सामर्थ्य रहता है। तो जब भगवान ने कृष्णावतार धारण किया, तब महापापिनी[१] जो पूतना थी, उसने भगवान को ज़हर पिलाया, उसे श्रीकृष्ण भगवान ने अपनी माता जो यशोदाजी, उनके समान गति प्रदान की। और दूसरे भी महापापी[२] दैत्य थे, वे भगवान को मारने आये थे, उन्हें भी श्रीकृष्ण भगवान ने परमपद प्रदान किया। और दूसरे भी जिन-जिन भावों से श्रीकृष्ण भगवान के सम्बन्ध को प्राप्त हुए, उन सब का कल्याण किया। इसलिए इन स्थानों पर तो परमेश्वर का ही बल अतिशय कहा है, किन्तु काल का या कर्म का कोई सामर्थ्य नहीं कहा है। इसलिए जिस स्थान पर जैसा प्रकरण[३] हो, उस स्थान पर वैसा जानें।''

॥ इति वचनामृतम् वरताल ॥६॥२०६॥

वचनामृत ७ : 'दैवी-आसुरी जीवों के लक्षण का - अन्वय-व्यतिरेक का'

संवत्* १८८२ के मार्गशीर्ष कृष्ण १४ चतुर्दशी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीवरताल स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर के आगे मंच पर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

---

*दि. ७-१-१८२६, शनिवार

१. **"जिघांसयाऽपि हरये स्तनं दत्त्वाऽप सद्गतिम्''** (भाग.१०/६) में कथा है।

२. **"वैरेण यं नृपतय: शिशुपालपौण्ड्रशाल्वादयो... तत्साम्यमापु:''** (भाग. ५/४८) में कहा है। **३.** जिस की प्रधानता हो।

तब हरिभक्त परस्पर भगवद्वार्ता कर रहे थे, उसमें ऐसा प्रसंग निकला कि दैवी[१] तथा आसुरी[२] ये दो प्रकार के जीव हैं। उनमें दैवी जीव होते हैं, वे तो भगवान के भक्त ही होते हैं और आसुरी होते हैं, वे तो भगवान से विमुख ही रहते हैं। तब चिमनरावजी ने श्रीजीमहाराज को प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! आसुरी जीव होते हैं, वे किसी भी प्रकार से दैवी होते हैं या नहीं होते हैं ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''आसुरी[३] जीव तो दैवी होते ही नहीं। क्योंकि वे तो जन्म से ही आसुरभाव से युक्त हैं। और यदि किसी भी प्रकार से आसुरी जीव सत्संग में आ पड़ा हो, तो भी आसुरभाव तो टलता नहीं है। फिर सत्संग में रहते हुए ही जब शरीर का त्याग करता है तब ब्रह्म में[४] लीन होता है और पुनः बाहर[५] निकलता है। इस तरह अनन्त बार ब्रह्म में लीन होता है और बाहर निकलता है, तब उसका आसुरभाव है, वह नष्ट होता है, परन्तु उसके बिना[६] तो आसुरभाव का नाश नहीं होता है।''

फिर शोभाराम शास्त्री ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! भगवान[७] का अन्वयपना कैसे है और व्यतिरेकपना कैसे[८] है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले

---

१. **"अभयं सत्त्वसंशुद्धिः"** इत्यादि वचन से श्रीकृष्ण भगवान ने कही हुई दैवी संपदा से युक्त अथवा विष्णुभक्ति परायण।

२. **"दम्भो दर्पोऽभिमानश्च"** इत्यादि वचन से गीता में कही हुई आसुरी संपदा से युक्त अथवा विष्णु भक्ति से विमुख। जो विष्णु भक्ति परायण है वह दैवी और - जो उससे विपरीत है वह आसुरी ऐसा अग्निपुराण में कहा है - **"द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च । विष्णुभक्ति परो दैव आसुरस्तद्विपर्ययः ॥"** इति।

३. आसुरी जीव को दैवी होना दुर्लभ है, वे दो प्रकार के हैं - एक जन्म से ही आसुरभाव से युक्त है और दूसरे आसुर संग से आसुर भाव से युक्त है। उसमें जो दूसरे है वे तो उत्तम सत्पुरुष की निष्कपट सेवा करने से और सधर्म नवधा भक्ति करने से आसुरभाव त्याग करके दैवी हो जाते है और जन्म से।

४. अक्षरब्रह्म के प्रकाश में।

५. भगवान की इच्छा से निकलकर भक्ति करके फिर से ही उसमें लीन होता है।

६. दूसरे किसी उपाय से। ७. माया और माया के कार्य में। ८. किस तरह से।

कि ''अन्वय-व्यतिरेक की वार्ता[१] तो ऐसी है कि भगवान आधे से माया में अन्वय हुए है तथा आधे से अपने धाम में व्यतिरेक रहे हैं, ऐसा नहीं है। वह तो भगवान का स्वरूप ही ऐसा है कि माया में अन्वय होते हुए भी व्यतिरेक ही हैं, किन्तु भगवान को ऐसा भय नहीं है कि 'शायद[२] मैं माया में जाऊँ और अशुद्ध हो जाऊँ !' भगवान तो माया में आते हैं तब माया भी अक्षरधामरूप हो जाती है और चौबीस तत्त्वों में आते है तो चौबीस तत्त्व भी ब्रह्मरूप हो जाते हैं। उसे श्रीमद्भागवत में कहा है कि '**धाम्ना**[३] **स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥**' इत्यादिक अनन्त वचनों से भगवान के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। जैसे वृक्ष का बीज हो, उसमें भी आकाश है। फिर उस बीज में से वृक्ष हुआ, तब उस वृक्ष की डालियां, पत्तियां, फूल, फल इन सभी में आकाश अन्वय हुआ, परन्तु जब वृक्ष को काटते हैं तब वृक्ष कटता है, उसके साथ आकाश कटता नहीं है, और वृक्ष को जलाते हैं तब आकाश जलता नहीं है। उस तरह भगवान भी माया तथा माया के कार्य में अन्वय होते हुए भी आकाश की तरह व्यतिरेक ही हैं, इस तरह से भगवान के स्वरूप का अन्वय-व्यतिरेकपना है।''

॥ इति वचनामृतम् वरताल ॥७॥२०७॥

वचनामृत ८ : 'मकड़ी की लार का'

संवत्* १८८२ के पौष शुक्ल ४ चतुर्थी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर के आगे मंच पर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

---

*दि. १२-१-१८२६, गुरुवार

१. बात २. यदि

३. जैसे भगवान को अक्षरधाम अबन्धक है, वैसे माया भी अबन्धक है, ऐसा तात्पर्य इस स्थल पर समझें। ब्रह्मरूप शब्द का भी वैसा ही तात्पर्य समझें। (भाग. १/१/१)

तब मुनि दुक्कड़ सरोद लेकर कीर्तन गान कर रहे थे । उस समय श्रीजीमहाराज ने अन्तर्दृष्टि करके ध्यानमुद्रा से युक्त होकर थोड़ी देर तक दर्शन दिये और फिर नेत्रकमल को खोलकर समस्त सभा के सन्मुख देखकर बोले कि "अब सभी सुनिये, बात[१] करते हैं कि इन नेत्रों की जो वृत्ति है, वह अरूप[२] है, तो भी उस वृत्ति के बीच में कोई स्थूल पदार्थ आता है, तब वह वृत्ति रुक जाती है । इसलिए वह वृत्ति भी स्थूल है तथा पृथ्वीतत्त्वप्रधान है। और उस वृत्ति को जब परमेश्वर का भक्त परमेश्वर के स्वरूप में रखता है तब वह वृत्ति प्रथम तो पतली डोरी की भांति पीली[३] दिखती है। और जैसे मकड़ी हो, वह अपनी लार को एक स्तंभ से दूसरे स्तंभ तक लम्बी करती है, फिर वह मकड़ी कभी तो इस स्तंभ पर जाती है, कभी तो उस स्तंभ पर जाती है और कभी तो दोनों स्तंभों के बीच में बैठती है । उस तरह मकड़ी के स्थान पर जीव है और एक स्तंभ के स्थान पर भगवान की मूर्ति है और दूसरे स्तंभ के स्थान पर अपना अन्तःकरण है तथा लार के ठिकाने पर वृत्ति है, उसके द्वारा[४] ध्यान को करनेवाला जो योगी है, वह कभी तो भगवान के स्वरूप के साथ संलग्न होकर रहता है और कभी तो अन्तःकरण में रहता है और कभी तो अन्तःकरण तथा भगवान, उनके मध्य में रहता है । इसप्रकार से रहते हुए पृथ्वीतत्त्वप्रधान ऐसी जो पीली वृत्ति है, वह जब जलतत्त्वप्रधान होती है तब श्वेत दिखाई देती है, जब अग्नितत्त्वप्रधान होती है तब रक्त[५] दिखाई देती है, जब वायुतत्त्वप्रधान होती है तब हरी दिखाई देती है, और जब आकाशतत्त्वप्रधान होती है तब श्याम दिखाई देती है, फिर पञ्चभूत की प्रधानता मिटकर वृत्ति निर्गुण होती है, तब अतिशय प्रकाश युक्त दिखाई देती है और भगवान के स्वरूप के आकार[६] होती है । इसलिए इस तरह से **भगवान के स्वरूप में जो वृत्ति रखता है, वह अतिशय पवित्रतापूर्वक रहें । जैसे देव की पूजा के लिए तत्पर हुआ हो, वह देव के समान पवित्र होकर यदि देव की पूजा करता**

१. अध्यात्मवार्ता २. अरूप जैसी जानने में आती है, ऐसा वाक्यार्थ समझें । ३. और लंबी ४. वृत्ति द्वारा ५. लाल ६. तदाकार, भगवदाकार

है, तब उसकी पूजा को देव अंगीकार करते हैं । उस तरह परमेश्वर में वृत्ति रखता हो, उसे भी सांख्यशास्त्र की रीति से स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण; इन तीनों देह से अपना स्वरूप भिन्न समझकर, केवल आत्मारूप होकर परमेश्वर के स्वरूप में वृत्ति रखनी है । फिर ऐसे वृत्ति रखते-रखते जब वह वृत्ति भगवान के स्वरूप में लीन हो जाये, वह ही ध्यान करनेवाले योगी को निद्रा कही है। परन्तु सुषुप्ति में लीन होना, ऐसी उन योगी की निद्रा नहीं होती है ।''

॥ इति वचनामृतम् वरताल ॥८॥२०८॥

वचनामृत ९ : 'भगवान का निर्गुण सुख कैसे ज्ञात हो ? उसका'

संवत्* १८८२ के पौष शुक्ल ८ अष्टमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर के आगे मंच पर गद्दी-तकिया बिछवाकर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज ने समस्त मुनिमण्डल के प्रति प्रश्न पूछा कि ''राजसी, तामसी और सात्त्विकी; ये तीन प्रकार का जो मायिक सुख है, वह जैसे तीनों अवस्थाओं में जानने में आता है; उस तरह निर्गुण ऐसा जो भगवान सम्बन्धी सुख है, वह कैसे[१] जानने में आता है ?'' फिर इस प्रश्न का उत्तर समस्त मुनिमण्डल मिलकर करने लगे, परन्तु उसका समाधान नहीं हुआ । तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''पृथ्वी आदिक चार भूत के बिना अकेला ही आकाश हो, और जितने आकाश में तारे हैं, उतने चन्द्रमा हों और उनका जैसा प्रकाश होता है, वैसा चिदाकाश[२] का प्रकाश है । उस चिदाकाश के मध्य में भगवान की मूर्ति सदैव विराजमान है । उस मूर्ति में जब समाधि होती है तब **एक**

---

*दि. १६-१-१८२६, सोमवार

१. भगवान के भक्त को तीन अवस्था में । २. अक्षरधाम

क्षणमात्र के लिए भगवान के स्वरूप में स्थिति हुई हो तो, उस भजन करनेवाले को ऐसा जानने में आता है कि 'हजारों वर्ष पर्यन्त मैंने समाधि में सुख भोगा है ।' इस तरह से भगवान के स्वरूप सम्बन्धी जो निर्गुण सुख है, वह जानने में आता है । और जो मायिक सुख है, उसे बहुत समय तक भोगा हो, तो भी अन्त में क्षण जैसा लगता है । इसलिए भगवान के स्वरूप सम्बन्धी जो निर्गुण सुख है, वह अखण्ड-अविनाशी है, और जो मायिक सुख है, वह नाशवंत है ।''

॥ इति वचनामृतम् वरताल ॥९॥२०९॥

वचनामृत १० : 'जीव का कल्याण होने का'

संवत्* १८८२ के पौष शुक्ल ११ एकादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के प्रांगण[१] में नीम के वृक्ष के नीचे पाट पर गद्दी-तकिया बिछवाकर विराजमान थे, अंग[२] पर सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

उस समय गाँव भादरण के पाटीदार भगुभाई आये । उन्होंने श्रीजीमहाराज के प्रति प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! जीव का कल्याण कैसे होता है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज ने कहा कि ''**इस पृथ्वी पर राजारूप एवं साधुरूप; इन दो प्रकारों से भगवान के अवतार होते हैं ।** उनमें राजारूप से पृथ्वी पर जब प्रकट होते हैं, तब तो उनतालीस लक्षणों से युक्त होते हैं और साधुरूप से जब पृथ्वी पर प्रकट होते हैं तब तो तीस प्रकार के लक्षणों से युक्त होते हैं[३] । और जो राजारूप भगवान हों, वे तो चौंसठ प्रकार की कलाओं से युक्त

*दि. १९-१-१८२६, गुरुवार

१. सान्निध्य में, छत्रछाया में **२.** शरीर **३.** वे दोनों लक्षण, कल्याण की इच्छा रखनेवाले पुरुष को प्रथम जानना है और इस लोक में साधुरूप तथा राजारूप अवतारों का देहक्रिया से तो साधर्म्य नहीं है पर आश्रितजनों का कल्याण करने में तो साधर्म्य हैं ।

होते हैं तथा साम, दाम, भेद, दण्ड; ये चार प्रकार के जो उपाय हैं, उनसे युक्त होते हैं तथा शृंगार आदिक जो नव रस हैं, उन से युक्त होते हैं। और वे भगवान जब साधुरूप में रहते हैं, तब उनमें यह लक्षण नहीं होते हैं। और जो राजारूप भगवान हों, उन्हें यदि आपत्काल आया हो तो मृगया[१] करके भी जीते हैं और चोर हो उसकी गर्दन भी काट डालते हैं[२] और घर में स्त्रियाँ भी रखते हैं। और साधुरूप में भगवान होते हैं,[३] वे तो अतिशय अहिंसामय रहते हैं। वे हरे तृण को भी नहीं तोड़ते हैं और काष्ट की तथा चित्रांकित स्त्री का भी स्पर्श नहीं करते हैं[४]। इसलिए साधुरूप जो भगवान की मूर्ति और राजारूप जो भगवान की मूर्ति; इन दोनों की रीति एक नहीं होती है। और श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में पृथ्वी तथा धर्म के संवाद से राजारूप जो श्रीकृष्णादिक भगवान के अवतार हैं, उनके उनतालीस लक्षण कहे हैं। और एकादश स्कन्ध में श्रीकृष्ण भगवान तथा उद्धव के संवाद से साधुरूप जो दत्तात्रेय, कपिल आदिक भगवान के अवतार, उनके तीस लक्षण कहे हैं। इसलिए जिसे अपने कल्याण की इच्छा हो, वे उन-उन लक्षणों से उन भगवान को जानकर उन भगवान की शरण में जायें और उनका दृढ़ विश्वास रखें, और उनकी आज्ञा में रहकर उनकी भक्ति करें, यही कल्याण का उपाय है। और **भगवान जब पृथ्वी पर प्रत्यक्ष न हों, तब उन भगवान से मिले जो साधु हैं, उनका आश्रय करें, तो उनसे भी जीव का कल्याण होता है। और जब ऐसे साधु भी न हों तब भगवान की प्रतिमा में दृढ़ प्रतीति[५] रखें तथा स्वधर्म में रहकर भक्ति करें। उससे भी जीव का कल्याण होता है।"**

|| इति वचनामृतम् वरताल ||१०||२१०||

---

१. शिकार २. जान ले ले, मार डाले

३. उसमें सर्व योगकलाएं रहती हैं तथा त्याग और अष्टांगयोग और रस तो एक शान्त नाम का ही रहता है और

४. और भगवान में दृढ़ भक्ति हो। ५. विश्वास, आस्था, श्रद्धा

वचनामृत ११ : 'जीव के नाश का, सत्पुरुष में स्नेह, वही आत्मदर्शन का साधन, उसका'

संवत्* १८८२ के पौष शुक्ल १५ पूर्णिमा के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के प्रांगण[१] में नीम के वृक्ष नीचे पाट पर गद्दी-तकिया बिछवाकर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कण्ठ में सफेद पुष्प के हार पहने थे, कर्ण के ऊपर पुष्पों के गुच्छे धारण किये हुए थे, पाग में फूलों के तुर्रे लटक रहे थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख समस्त मुनिमण्डल तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि[२] "हमारा तो ऐसा स्वभाव है कि एक तो भगवान और दूसरे भगवान के भक्त, और तीसरे ब्राह्मण और चौथा कोई गरीब मनुष्य; इन चार से तो हम अतिशय डरते हैं कि 'शायद उनका द्रोह न हो जाये ! ।' और ऐसे तो दूसरे किसी से हम डरते नहीं हैं । क्योंकि इन चारों के सिवा दूसरे का कोई द्रोह करता है तो, उसके देह का नाश होता है, परन्तु जीव का नाश नहीं होता है, और **इन चारों में से किसी एक का भी द्रोह करता है, तो उसका जीव भी नाश हो जाता है ।"**

इस बात को सुनकर मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि "हे महाराज! जीव को तो अविनाशी कहा है, उसका नाश तो कैसे जाना जायें ?" तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "पर्वत का या दूसरा ऐसा ही, जो कोई जड़ देह मिलता है, तो उसमें कभी भी जीव का कल्याण नहीं होता है, इसलिए उसके जीव का नाश हो गया ऐसा जानें । इसलिए जिसे अपने कल्याण की इच्छा हो, वह इन चार में से किसी का द्रोह न करें । और फिर **भगवान तथा भगवान के भक्त, उनके आगे किसी भी प्रकार से मान न रखें । क्योंकि मान**

*दि. २३-१-१८२६, सोमवार

१. सान्निध्य में, छत्रछाया में **२.** मेरे आश्रितजनों, भगवान के भक्त, ब्राह्मण और रंक उनका कभी भी द्रोह न करें, क्योंकि उससे जीव का नाश होता है ।

है, वह तो क्रोध, मत्सर, ईर्ष्या तथा द्रोह; उनका आधार है, और मानी हो उसकी भक्ति भी आसुरी कहलाती है । और भगवान के भक्त को यदि डराता हो, और वह प्रभु का भक्त हो तो भी उसे असुर जानें । और हमारा तो यह स्वभाव है कि ब्राह्मण का तथा गरीब का तथा भगवान के भक्त का कोई द्रोह करता है, वह तो हमें देखना भी अच्छा नहीं लगता है और इस लोक में तथा परलोक में, उसकी और हमारी सोहबत[१] रहनेवाली नहीं है ।'' इतनी वार्ता करके फिर श्रीजीमहाराज ने दो पदों का गान कराया कि **''मारा हरिजी शुं हेत न दीसे रे तेने घेर शीद जइये ।''** एक तो यह और दूसरा यह कि **''मारा वालाजी शुं वहालप दीसे रे तेनो संग केम तजिये ।''**[२] और फिर इन दोनों पद को सीखने की सत्संगीमात्र को आज्ञा की और ऐसा कहा कि ''इन दो पदों में जो वार्ता है, उसका नित्य गान करके स्मरण में रखें ।''

ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर के आगे एक मंच था, उस पर आकर विराजमान हुए । फिर गोपालानन्द स्वामी ने पूछा कि 'इस संसार में जो पण्डित हैं, वे शास्त्र, पुराण सभी को पढ़ते हैं, किन्तु उन्हें भगवान की तथा सन्त की जैसी है वैसी महिमा क्यूँ समझमें नहीं आती हैं?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''शास्त्र, पुराण पढ़ते तो हैं; लेकिन उन्हें भगवान का आश्रय नहीं है । इसलिए काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, मत्सर ने उनके जीव को पराजित कर दिया है तथा कामादिक जो शत्रु हैं, वे उन्हें कभी भी सिर नहीं उठाने देते हैं । फिर वह पण्डित भगवान तथा भगवान के सन्त को अपने जैसा ही समझता है कि 'जैसे हमारे कामादिक शत्रु कभी भी निवृत्ति नहीं हो पाते हैं, वैसे इनके भी कामादिक शत्रु निवृत्ति नहीं हो पाते होंगे ।' इस तरह भगवान तथा भगवान के सन्त में दोष समझता है; इसलिए शास्त्र, पुराण पढ़ता है, किन्तु उसे भगवान तथा भगवान के सन्त का जैसा है वैसा यथार्थ माहात्म्य समझ में नहीं आता है ।''

---

१. संगत २. ये दोनो पद परिशिष्ट में पेज नं. ८०७ पर है ।

फिर श्रीजीमहाराज ने दीनानाथ भट्ट तथा समस्त मुनिमण्डल के प्रति प्रश्न पूछा कि "ब्रह्मस्वरूप ऐसे जो सत्पुरुष, वे तो तीन शरीर और तीन अवस्थाओं से पर रहते हैं और चौदह इन्द्रियों की क्रियाओं को तो अपने में एक भी मानते नहीं होते हैं, उन्हें जो अज्ञानी जीव हैं, वे पहचान पाते नहीं हैं। और जब उसकी महापुरुष के समान स्थिति होती है तब वे महापुरुष जिस तरह रहते हैं, वह सत्य मानने में आता है। और जब तक उन सत्पुरुषों की महिमा उसे जाननें मे न आये तब तक ब्रह्मस्वरूप में स्थिति भी नहीं होती है, और आत्मा में स्थिति हुए बिना सत्पुरुष की महिमा भी जानने में आती नहीं है। इसलिए परस्पर विरोध आया, तो इस विरोध को टालने का उपाय कहिए ?" फिर जिनकी जैसी दृष्टि पहुँची उन्होंने वैसा उत्तर किया, परन्तु इस प्रश्न का समाधान नहीं हुआ। तब श्रीजीमहाराज बोले कि "लीजिए, हम उत्तर करते हैं। इसका उत्तर तो यह है कि पृथ्वी पर भगवान के जो अवतार, उनको मिले हुए जो सन्त हैं, उनके साथ जब उसे अतिशय प्रीति होती है, तब उन सत्पुरुषों में उसे किसी प्रकार से दोष दिखाई नहीं देता है। और जिसे जिसके साथ दृढ़ प्रीति हो, उसे उनका अवगुण किसी भी प्रकार से आता ही नहीं है; और उनके वचन भी सत्य मानने में आते हैं, इसतरह लौकिक मार्ग में भी रीति है तथा कल्याण के मार्ग में भी रीति है। इसलिए **सत्पुरुष में दृढ़ प्रीति, यह ही आत्मदर्शन का साधन है और सत्पुरुष की महिमा जानने का भी यही साधन है और परमेश्वर के साक्षात दर्शन होने का भी यह ही साधन है।**"

॥ इति वचनामृतम् वरताल ॥११॥२११॥

वचनामृत १२ : 'महिमा सहित निश्चय का'

संवत्* १८८२ के पौष कृष्ण २ द्वितीया के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के प्रांगण[१] में नीम के वृक्ष के

*दि. २५-१-१८२६, बुधवार **१.** सान्निध्य में, छत्रछाया में।

नीचे पाट पर गद्दी-तकिया सहित पलंग था उस पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत खेस पहना था और अन्दर की ओर श्वेत पिछौरी युक्त गुलाबी रंग की शाल ओढ़ी थी, मस्तक पर सफ़ेद पाग बाँधी थी, कण्ठ में गुलाब के पुष्पों का हार पहना था और अपने मुखारविन्द के समक्ष मुनिमण्डल तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

इस समय श्रीजीमहाराज अन्तर्दृष्टि करके बहुत समय तक विराजमान रहे थे। फिर नेत्रकमलों को खोलकर सभी हरिभक्त की सभा की ओर करुणाकटाक्ष[१] भाव से देखते हुए श्रीजीमहाराज बोले कि "आज तो सभी को निश्चय की बात करनी है। तो सभी सावधान होकर सुनिये कि अनन्तकोटि सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि के समान प्रकाशमान ऐसा जो अक्षरधाम है, उसमें श्रीपुरुषोत्तम भगवान सदा दिव्यमूर्तिरूप में विराजमान हैं। और **वे ही भगवान जीवों के कल्याण के लिए पृथ्वी पर रामकृष्णादिक अवतार को धारण करते हैं; तब उन भगवान के स्वरूप का जिसे सत्समागम से दृढ़ निश्चय होता है, उसका जीव द्वितीया के चन्द्रमा की तरह प्रतिदिन बढ़ता जाता है।** और जिस तरह चन्द्रमा में जैसे-जैसे सूर्य की कला आती है, वैसे-वैसे वह चन्द्रमा वृद्धि को प्राप्त होता है, तो जब पूर्णमासी आती है तब चन्द्रमा सम्पूर्ण हो जाता है। उस तरह भगवान का परिपूर्ण निश्चय होने के पूर्व तो वह जीव अमावास्या के चन्द्र की तरह कलारहित खद्योत[२] जैसा[३] होता है। फिर जैसे-जैसे परमेश्वर की महिमा सहित निश्चय को प्राप्त होता है, वैसे-वैसे वृद्धि को प्राप्त करके पूर्णमासी के चन्द्र के जैसा वह जीवात्मा होता है। फिर उसे इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण निश्चय में से डिगाने में समर्थ नहीं होते हैं, और परमेश्वर चाहे कैसे भी चरित्र करें तो भी उसे किसी भी तरह से भगवान में दोष नहीं

१. करूणायुक्त नजर

२. अंधेरे में जो शरीर में से प्रकाश झगमगाता है, ऐसा बरसाती मौसम का उड़नेवाला कीड़ा। जुगनू

३. अल्प प्रकाश-अल्प सामर्थ्यवाला

दिखाई देता है। ऐसा जिसको महिमा सहित भगवान का निश्चय हो, वह भक्त निर्भय हो चुका है। और उसी भक्त को यदि क्वचित् असत् देश, असत् काल, असत् संग तथा असत् शास्त्रादिक के योग से अथवा देहाभिमान से भगवान के चरित्र में सन्देह हो जाये और भगवान का अभाव आ जाये, तो वह जीव पूर्णमासी के चन्द्रमा जैसा था, किन्तु पुनः अमावस्या के चन्द्रमा जैसा हो जाता है। इसलिए अपने में जो कुछ भी खोट[१] हो, वह उस जीव को अधिकतर बाधक नहीं होती है, परन्तु परमेश्वर के चरित्र में किसी भी प्रकार से सन्देह हो अथवा परमेश्वर का किसी भी प्रकार से अभाव आता है, तब वह जीव कल्याण के मार्ग से तत्काल गिर जाता है। जैसे वृक्ष की जड़ कट जाये तब वह वृक्ष अपने आप ही सूख जाता है, **उस तरह जिसे भगवान में किसी भी प्रकार से दोषबुद्धि हुई, तो वह जीव किसी भी तरह से विमुख हुए बिना नहीं रहता है।** और जिसे निश्चय का अंग दुर्बल हो, और वह सत्संग में रहा हो, तो भी उसे ऐसे संकल्प-विकल्प होते हैं कि 'क्या पता मेरा तो कल्याण होगा या नहीं होगा ? और जब मैं मरूँगा तब देवता बनूँगा या राजा बनूँगा या भूत बनूँगा ?' जिसे भगवान के स्वरूप का परिपूर्ण निश्चय न हो, उसे ऐसे संकल्प होते हैं। और **जिसे भगवान के स्वरूप का परिपूर्ण निश्चय हो, वह तो ऐसा समझता है कि 'मुझे तो भगवान मिले, उसी दिन से मेरा कल्याण हो चुका है। और जो कोई मेरा दर्शन करेगा या मेरी बात सुनेगा, वह जीव भी समस्त पापों से मुक्त होकर परमपद को प्राप्त करेगा।'** इसलिए इस तरह से भगवान का निश्चय महिमा सहित रखकर अपने में कृतार्थता मानें, यह बात सभी सावधान होकर रखें।" तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज ने कहा कि "**धन्य वृन्दावनवासी वटनी छाया रे, ज्यां हरि बेसता,**" माहात्म्य का यह कीर्तन[२] गाइए। फिर वह कीर्तन गाया। फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "इस तरह श्रीकृष्ण भगवान ने भी भागवत में कहा है कि

१. त्रुटि २. नरसिंह महेता का।

अहो अमी देववरामरार्चितं पादाम्बुजं ते सुमनः फलार्हणम् ।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मनस्तमोपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम् ॥[१]
ऐसे परमेश्वर के योग को प्राप्त करके वृक्ष का जन्म हो, वह भी कृतार्थ हो जाता है। इसलिए जिस वृक्ष के नीचे भगवान बैठे हों, उस वृक्ष को भी परमपद का अधिकारी जानें। और **जिसके हृदय में भगवान की महिमा सहित दृढ़ निश्चय न हो, उसे तो नपुंसक जैसा जानें, उसके वचन से तो किसी जीव का उद्धार नहीं होगा।** जैसे राजा हो, वह नपुंसक हो और उसका राज्य चला जाता हो, और वंश न रहता हो, तो भी उससे उसकी स्त्री को पुत्र नहीं होता है; और सभी मुल्क में से अपने समान नपुंसक को बुलवाकर उस स्त्री के संग में रखे तो भी स्त्री को पुत्र नहीं होता है। उस तरह जिसे भगवान का निश्चय महिमा सहित नहीं है, तो उसके मुख से गीता, भागवत जैसे सद्ग्रन्थ को सुने, तो भी उससे किसी का कल्याण नहीं होता है। और फिर जैसे दूध तथा शक्कर हो, और उसमें सर्प की लार गिरी, फिर उसे जो कोई पीता है उसका प्राण चला जाता है। उस तरह माहात्म्य सहित भगवान का जो निश्चय है, उससे रहित ऐसा जो जीव है, उसके मुख से गीता, भागवत को सुनता है, उससे किसी का कल्याण नहीं होता है, उसमें से तो उलटा अनिष्ट ही होता है।''

॥ इति वचनामृतम् वरताल ॥१२॥२१२॥

वचनामृत १३ : 'ब्रह्म व्यापक हों, तो मूर्तिमान कैसे कहलाता है ?'

संवत्* १८८२ के पौष कृष्ण ७ सप्तमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के प्रांगण[२] में नीम के वृक्ष के

---

*दि. ३०-१-१८२६, सोमवार

१. देववर अमरों ने पूजे हुए आपके चरणारविंद को यह वृक्ष पुष्प-फलादिकरूप पूजा साधन लेकर, जो अज्ञानता से स्वयं को कनिष्ठ वृक्ष का जन्म प्राप्त हुआ है, वे उनके नाश के लिए अपनी शिखा से अर्थात् मस्तक के अग्रभाग से आपको प्रणाम करते हैं। यह अति आश्चर्य की बात है। (भाग. १०/१५/५)

२. सान्निध्य में, छत्रछाया में।

नीचे पाट पर गद्दी-तकिया बिछवाकर विराजमान थे । उन्होंने अंग[१] पर सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कण्ठ में श्वेत पुष्पों के हार पहने थे, हस्तकमल से एक अनार के फल को उछाल रहे थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी । और श्रीजीमहाराज के ऊपर स्वर्ण के कलश सहित छत्र विराजमान था । ऐसी शोभा को धारण करते हुए श्रीजीमहाराज विराजमान थे ।

उस समय गाँव भादरण के पाटीदार भगुभाई श्रीजीमहाराज के पास आये थे । उन्हों ने पूछा कि "हे महाराज ! यह समाधि तो कैसे होती होगी[२] ?" तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "जीवों के कल्याण के लिए इस भरतखण्ड में भगवान अवतार धारण करते हैं । वे भगवान जब राजारूप में होते हैं तब तो उनतालीस लक्षणों से युक्त होते हैं और दत्त, कपिल जैसे साधुरूप में होते हैं तब तो तीस लक्षणों से युक्त होते है । उन भगवान की मूर्ति दिखने में तो मनुष्य के समान ही होती है, परन्तु वे अतिशय अलौकिक मूर्ति है । जैसे पृथ्वी पर सभी पत्थर हैं, वैसे चुम्बक भी पत्थर है, परन्तु चुम्बक पत्थर में सहज ही ऐसा चमत्कार रहता है कि 'चुम्बक के पर्वत के समीप से जहाज गुजरता हो तब उसके खूँटे[३] चुम्बक के पत्थर की ओर खिंच जाते है । उस तरह **भगवान की जो मूर्ति राजारूप में है तथा साधुरूप में है, उस मूर्ति का जब जो जीव श्रद्धा से दर्शन करते है, उनकी इन्द्रियाँ भगवान की ओर खिंच जाती[४] हैं, तब समाधि हो जाती है ।** जैसे श्रीकृष्ण भगवान का दर्शन करके गोकुलवासी सभी को समाधि हुई थी और भगवान ने उस समाधि में अपना धाम दिखाया था । उसी तरह से जिस-जिस समय में भगवान के अवतार रहते हैं, उस-उस समय में भगवान की मूर्ति में ऐसा चमत्कार जरूर रहता है । **तो जो श्रद्धा सहित भगवान का दर्शन करते हैं, उनकी सभी**

१. शरीर २. अष्टांगयोग सिद्ध होने के बाद समाधि होने का नियम है, उसके बिना भी आपके दर्शन मात्र से कितनों को समाधि होती हैं, वह होने का क्या हेतु है, ऐसा प्रश्नार्थ समझें ।
३. लोहे की कीले । ४. आकृष्ट हो जाती है ।

इन्द्रियाँ भगवान की ओर खिंच जाती हैं और तत्काल समाधि हो जाती है । और किसी समय में भगवान को बहुत जीवों को अपने सन्मुख करने हो, तब तो अभक्त जीव हो अथवा पशु हो उन्हें भी भगवान को देखकर समाधि हो जाती है, तब तो भगवान के भक्त को होती है, उसमें क्या आश्चर्य है ?''

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''ब्रह्म है, वह तो सर्वत्र व्यापक है, ऐसा सभी कहते हैं; तो जो व्यापक होता है उन्हें मूर्तिमान कैसे कहा जायें और जो मूर्तिमान होते हैं उन्हें व्यापक कैसे कहा जायें ? यह प्रश्न है ।'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''ब्रह्म तो एकदेशी है, परन्तु सर्वदेशी नहीं है । और वह ब्रह्म तो श्रीकृष्ण भगवान हैं, वे एकदेशस्थ होते हुए सर्वदेशस्थ हैं । जैसे किसी पुरुषने सूर्य की उपासना की हो, फिर सूर्य उसे अपने समान दृष्टि देते हैं, तब वह पुरुष जहाँ तक सूर्य की दृष्टि पहुँचती है वहाँ तक देखता है । और फिर जैसे सिद्धदशावाला पुरुष हो, वह हजारों तथा लाखों कोस दूरी पर कोई बात करता हो, उसे जैसे पास में बात करता हो और सुनता है वेसे सुनता है, उसी तरह लाखों कोस दूरी पर कोई वस्तु पड़ी हो, उसे मनुष्य के जितना हाथ होता हैं, उससे भी उठा लेता है; वैसे श्रीकृष्ण भगवान एक स्थान पर रहते हुए, अपनी इच्छा से जहाँ दर्शन देना हो, वहाँ दर्शन देते हैं और एकरूप होते हुए अनन्तरूप से दिखाई देते हैं । और जो सिद्ध होते हैं, उनमें भी दूरश्रवण-दूरदर्शनरूप चमत्कार रहता है, तब परमेश्वर में रहे, इसमें क्या आश्चर्य है ? और भगवान को ग्रन्थ में व्यापक कहे हैं, वह तो मूर्तिमान हैं, वे ही अपने सामर्थ्य से एक स्थान पर रहते हुए सभी को दर्शन देते हैं, इस तरह से व्यापक कहे हैं; परन्तु आकाश की तरह अरूप होते हुए व्यापक नहीं हैं। **भगवान तो सदा मूर्तिमान ही हैं । वे मूर्तिमान भगवान अक्षरधाम में रहते हुए ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों में दिखाई देते हैं ।''**

|| इति वचनामृतम् वरताल ||१३||२१३||

वचनामृत १४ : 'विमुख जीव जिन्हें धर्मी जानते हैं वे धर्मी नहीं हैं, तथा जिन्हें पापी जानते हैं वे पापी नहीं हैं'

संवत्* १८८२ के पौष कृष्ण ९ नवमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर के आगे विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब वड़ोदरा के वाघमोड़िया रामचन्द्र ने श्रीजीमहाराज को प्रश्न पूछा कि "हे महाराज ! जो जीव कुपात्र दिखता हो, उसे भी समाधि हो जाती है, उसका क्या कारण होगा ?" तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "धर्मशास्त्र में जो वर्णाश्रम के धर्म कहे हैं, उससे जो बाहर रहता है, उसे सभी लोग ऐसा जानते हैं कि 'यह कुपात्र मनुष्य है।' और उस **कुपात्र को भगवान या भगवान के सन्त का यदि हृदय में गुण आ जायें, तो उसे यह बड़ा पुण्य होता है** और वर्णाश्रम के धर्मों का लोप किया था, उसका जो पाप लगा था वे सभी नष्ट हो जाते हैं, और वह जीव अतिशय पवित्र हो जाता है। इसलिए उसका भगवान के स्वरूप में चित्त जुट[१] जाता है तब समाधि हो जाती है। और जो पुरुष धर्मशास्त्र ने कहे ऐसे जो वर्णाश्रम के धर्म, उनका पालन करता हो, तब उसे सभी लोग धर्मवाला जानते हैं; परन्तु भगवान तथा भगवान के साधु, उनका यदि वह द्रोह करता है, तो उन सत्पुरुष के द्रोह का ऐसा पाप लगता है कि 'वर्णाश्रम के धर्म पालन करने का जो पुण्य है, उसे जलाकर भष्म कर डालता है।' इसलिए **सत्पुरुष का द्रोह करनेवाला है, वह तो पञ्च महापाप करनेवाले से भी अधिक पापी है।** क्योंकि जो पञ्च महापाप किये हैं, वे तो सत्पुरुष के आश्रय में जाने से छूट पाते हैं, परन्तु सत्पुरुष का द्रोह करता है, उसे तो किसी काल में छूटने का उपाय नहीं है। क्योंकि अन्य स्थान

*दि. १-२-१८२६, बुधवार

१. लग, चित्त की वृत्ति अत्यन्त आकर्षित हो जाती है।

में पाप किया हो, वह तो तीर्थ में जाने से छूट पाता है, और तीर्थ में जाकर पाप करता है, वह तो वज्रलेप होता है। **इसलिए सत्पुरुष का आश्रय करता है तब कैसा भी पापी हो, तो भी अति पवित्र हो जाता है और उसे समाधि हो जाती है। और सत्पुरुष का द्रोही हो, और वह कैसा भी धर्मवाला जानने में आता है, तो भी महापापी है और उसे किसी भी काल में भगवान के दर्शन हृदय में होता ही नहीं है।** इसलिए जिसे विमुख जीव पापी जानते हैं, वे पापी नहीं है, और जिसे विमुख धर्मी जानते हैं, वे धर्मी नहीं हैं।''

॥ इति वचनामृतम् वरताल ॥१४॥२१४॥

वचनामृत १५ : 'दैवी-आसुरी होने के हेतु का'

संवत्* १८८२ के पौष कृष्ण ११ एकादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर के आगे नीम के वृक्ष के नीचे मंच पर गद्दी-तकिया बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने किमखाब का सुरवाल तथा मिरजई पहनी थी, मस्तक पर बड़े सुनहरा पल्ले का कुसुम्भी शेला बाँधा था, बड़े सुनहरे पल्ले का कुसुम्भी शेला कन्धे पर विराजमान था, मस्तक पर सुवर्ण कलशवाला छत्र विराजमान था और अपने मुखारविन्द के सन्मुख समस्त मुनिमण्डल तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

उस समय शोभाराम शास्त्री ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! दैवी और आसुरी; ये दो प्रकार के जीव हैं। वे अनादि[१] काल के हैं या किसी संयोग से हुए हैं ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''दैवी तथा आसुरी ये दो प्रकार के जीव हैं, वे प्रथम तो प्रलय काल में माया में लीन हुए थे; फिर जब जगत का सर्ग[२] होता है तब वे दो प्रकार के जीव अपने-अपने भावों से युक्त होते हुए उत्पन्न होते हैं। और कई साधारण जीव हैं, वे तो दैवी तथा आसुरी के

*दि. ३-२-१८२६, शुक्रवार

१. स्वभावतः आसुरी ही हैं या किसी निमित्त से हैं, ऐसा भावार्थ समझें। २. सर्जन-उत्पत्ति

संग से दैवी तथा आसुरी होते हैं और कई दैवी तथा आसुरी जीव हैं, वे तो जैसे-जैसे कर्म करते जाते हैं वैसे-वैसे भावों को प्राप्त होते रहते हैं । उनमें आसुरभाव होने में तथा दैवी भाव होने में मुख्य हेतु तो सत्पुरुष का कोप तथा अनुग्रह है । जैसे जय-विजय भगवान के पार्षद थे, उन्होंने सत्पुरुष ऐसे जो सनकादिक, उनका द्रोह किया, तब असुरभाव को प्राप्त हो गए और प्रह्लादजी दैत्य थे, उन्होंने नारदजी का उपदेश ग्रहण किया, तो परमभागवत सन्त कहलाये। इसलिए **बड़े पुरुष का जिसके ऊपर कोप होता है, वह जीव आसुरी हो जाता है तथा जिस पर बड़े पुरुष प्रसन्न होते हैं, वह जीव दैवी हो जाता है;** किन्तु दैवी-आसुरी होने का दूसरा कारण नहीं है । इसलिए जिसे अपना कल्याण करना हो, वे भगवान तथा भगवान के भक्त का किसी भी प्रकार से द्रोह न करें । और जिस प्रकार से भगवान तथा भगवान के भक्त प्रसन्न हों, वैसा करें ।''

॥ इति वचनामृतम् वरताल ॥१५॥२१५॥

वचनामृत १६ : 'बड़े आदमी के साथ मेल[१] नहीं खाता, उसका'

संवत्* १८८२ के पौष कृष्ण १३ त्रयोदशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के प्रांगण[२] में नीम के वृक्ष के नीचे मंच पर गद्दी-तकिया बिछवाकर विराजमान थे । उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख समस्त मुनिमण्डल तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

उस सभा में वड़ोदरा के शास्त्री बैठे थे । उन्होंने ऐसा कहा कि ''हे महाराज ! यदि आप किसी बड़े आदमी को चमत्कार दिखाएँ तो उससे बहुत संवर्धन[३] होता है ।'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि **''बड़े आदमियों से हमारी**

*दि. ४-२-१८२६, शनिवार

१. बनती नहीं **२.** सान्निध्य में, छत्रछाया में **३.** लौकिक लाभ, सत्संग में जन संख्या का विस्तार या सभी तरह से अच्छा होता है, ऐसा शास्त्री का अभिप्राय है

बहुत जमती नहीं है, क्योंकि, उन्हें राज्य का तथा धन का मद रहता है और हमें त्याग का तथा भक्ति का मद रहता है, इसलिए कोई किसी को झुक जाये ऐसा काम नहीं है । और यदि किसी बड़े आदमी को समाधि कराते हैं तो कुछ गाँव-जागीर देंगे, उसकी हमारे हृदय में लालच नहीं है । क्योंकि गाँव-जागीर तो सुख के लिए इच्छते हैं, तो **हमें तो नेत्र बन्द करके भगवान की मूर्ति का चिन्तन करते हैं, उसमें जैसा सुख है, वैसा चौदह लोक के राज्य में भी नहीं है ।** और यदि भगवान के भजन जैसा राज्य में सुख हो, तो स्वायंभुव, मनु आदिक जो बड़े-बड़े राजा थे, वे सभी राज्य का त्याग करके वन में तप करने के लिए क्यों जायें ? और भगवान के भजन जैसा स्त्री में सुख हो, तो चित्रकेतु राजा करोड़ स्त्रियों का क्यों त्याग कर दें? और **भगवान के भजन के सुख के आगे तो चौदह लोक का जो सुख है, उसे नरक जैसा कहा है । इसलिए जो भगवान के सुख से सुखी हुआ हो, उसे तो ब्रह्माण्ड में जो विषय का सुख है, वह नरक तुल्य दिखता है ।** और हमें भी भगवान के भजन का सुख है, वह ही सुख दिखता है; दूसरा सभी दुःखरूप दिखता है । इसलिए परमेश्वर का भजन-स्मरण करते हुए जिसे सहजरूप में सत्संग होता है, उसे कराते हैं, परन्तु किसी प्रकार का अन्तर में आग्रह नहीं है । **आग्रह तो केवल भगवान के भजन का और भगवान के भक्त का सत्संग रखने का है ।** यह हमारे अन्तर का रहस्य अभिप्राय था, जिसे हमने आपके आगे कहा ।''

॥ इति वचनामृतम् वरताल ॥१६॥२१६॥

वचनामृत १७ : 'ज्ञानी जितेन्द्रिय है, उसका'

संवत्* १८८२ के पौष कृष्ण अमावस्या के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण की सामनेवाली हवेली पर गद्दी-तकिया बिछवाकर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और

*दि. ६-२-१८२६, सोमवार

अपने मुखारविन्द के आगे समस्त साधु तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि "पञ्च ज्ञानइन्द्रियाँ तथा पञ्च कर्मइन्द्रियाँ हैं, वे अपने-अपने विषयों को यथार्थ जानती हैं । तो ज्ञानी तथा अज्ञानी को इन्द्रियों के द्वारा एक समान व्यवहार होता है; परन्तु ज्ञानी है, उनकी इन्द्रियाँ, अज्ञानी से अलग प्रकार से[१] व्यवहार करती नहीं है । इसलिए ज्ञानी को जितेन्द्रिय कहे हैं, उसे कैसे जानें ? यह प्रश्न है ।" फिर मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि "निर्विकल्प समाधि होती है तब जितेन्द्रिय होते हैं, ऐसा प्रतीत होता है ।" फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "निर्विकल्प समाधिवाले को भी जब पञ्चविषय ग्रहण करना हैं, वह तो सभी की तरह इन्द्रियों द्वारा ही ग्रहण होता हैं, इसलिए जितेन्द्रियता कैसे है ?" फिर मुक्तानन्द स्वामी ने बहु प्रकार से उत्तर किया, लेकिन समाधान नहीं हुआ । तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि "इसका उत्तर तो ऐसा है कि 'शब्दादिक जो पञ्चविषय हैं, उनमें जो दोष रहे हैं, उन्हें जानें । और भगवान की जो मूर्ति है, उनमें जो कल्याणकारी गुण हैं, उन्हें भी जानें और मायिक जो पञ्चविषय, उन्हें भोगने से जीव को नरक के कुण्ड की प्राप्ति होती है तथा महा दु:ख भोगने पड़ते हैं, उन्हें भी जानें । और ऐसा जब जानता है, तब उसे पञ्चविषय का अतिशय अभाव आता है और उसमें वैर बुद्धि होती है । फिर जिसके साथ जिसे वैर हुआ, उसे उसमें किसी भी तरह से प्रीति होती ही नहीं है । ऐसा समझकर **जब पञ्चविषय का मन में से जिसे अतिशय अभाव हो जाता है, वह जितेन्द्रिय पुरुष कहलाता है ।** फिर भगवान की श्रवण-कीर्तनादिक भक्ति से अपना जीवन पूर्ण करता है, परन्तु विमुख जीव की तरह पञ्चविषय में आसक्त नहीं होता है, ऐसा हो, वह जितेन्द्रिय कहलाता है ।"

फिर श्रीजीमहाराज ने दूसरा प्रश्न पूछा कि "एक त्यागी सन्त हैं, वे तो केवल निवृत्तिमार्गवाले हैं और वे ऐसा जानते हैं कि 'हम आत्मा हैं,' परन्तु

१. विषय ग्रहणरूप

देह को अपना रूप मानते नहीं हैं, और उनके देह की रीति तो जड़ तथा उन्मत्त के जैसी होती है, और उन पुरुष को जाति, वर्ण, आश्रम; उसका अभिमान रहता नहीं है। तथा खाना, पीना, उठना, बैठना; वे सब उन्मत्त[1] जैसा होता है, किन्तु लोक में मिलता हो, ऐसा नहीं होता है। और ऐसे जो त्यागी होते हैं, उनको किसी का संग भी नहीं रहता है। जैसे वन का मृग हो, उस की तरह उन्मत्त होता हुआ अकेला घूमता रहता है, और उसे किसी भी प्रकार का बन्धन भी नहीं होता है। और दूसरे त्यागी सन्त हैं, वे तो निवृत्तिमार्गवाले हैं तो भी प्रवृत्ति मार्ग में रहते हैं, और जिस प्रवृत्ति के योग से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, आशा, तृष्णा इत्यादिक दोष हृदय में प्रवृत्त हो जायें, वैसी क्रिया में प्रवृत्त होते हैं, तब किसी प्रकार का विकार भी अन्तर में हो जाता है। इसलिए उस त्यागी को उस प्रवृत्तिमार्ग में रहना उचित है या उचित नहीं है ? और फिर इस प्रवृत्तिमार्ग में रहते हुए किस तरह से निर्विकार रहा जाये ? और आप कहेंगे कि 'यदि परमेश्वर की आज्ञा से वे प्रवृत्ति मार्ग में रहते हैं तो बन्धन नहीं होता है।' इस पर यह आशंका है कि 'परमेश्वरकी आज्ञा से भांग पी ले, तो क्या पागल नहीं होता ? जरूर पागल होता है।' इसलिए वह त्यागी किस तरह से प्रवृत्ति मार्ग में रहें तब बन्धन न हों ? यह प्रश्न है।''

फिर नित्यानन्द स्वामी तथा शुकमुनि इस का समाधान करने लगे, लेकिन यथार्थ उत्तर हुआ नहीं। तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जो केवल निवृत्तिधर्मवाले त्यागी हैं, और उन्मत्त कि तरह रहते हैं, उन्हें तो केवल आत्मनिष्ठावाले जानें। और फिर जो निवृत्तिधर्मवाले त्यागी भगवान की भक्ति से युक्त हैं, उन्हें तो परमेश्वर ने कहे ऐसे जो नियम हैं, उनमें रहकर भगवान तथा भगवान के भक्त सम्बन्धी जो प्रवृत्तिमार्ग है, उसमें सावधान होकर प्रवृत्त होना है। और **भगवान तथा भगवान के भक्त के लिए जो यह प्रवृत्तिमार्ग में जुटना है, उसका नाम ही भक्ति है।** और ऐसी प्रवृत्तिवाले जो त्यागी हैं, उनके बराबर

१. बेध्यान, दुर्लक्ष्य

निवृत्तिमार्गवाला जो केवल आत्मनिष्ठ त्यागी है, वह नहीं हो सकता । क्योंकि यह तो त्यागी है, तथा निवृत्तिमार्गवाला है, तो भी भगवान तथा भगवान के भक्त की सेवा के लिए प्रवृत्ति में प्रवृत्त होता है । और भगवान का भक्त यह जो त्यागी है, वह तो परमेश्वर के नियम में रहकर प्रवृत्तिमार्ग में रहें, किन्तु परमेश्वर के नियम से अधिक भी न रहें तथा न्यून भी न रहें । और काम, क्रोध, लोभ, मोह, आशा, तृष्णा, स्वाद; इत्यादिक जो विकार हैं, उनका त्याग करके भगवान तथा भगवान के भक्त की सेवा के लिए प्रवृत्तिमार्ग में रहें, तो उन्हें किसी भी प्रकार का बन्धन नहीं होता है । और केवल आत्मनिष्ठावाला जो त्यागी है, उनसे तो यह त्यागी अतिशय श्रेष्ठ है और भगवान की कृपा का पात्र है ।''

॥ इति वचनामृतम् वरताल ॥१७॥२१७॥

वचनामृत १८ : 'अवश्यरूप से वार्ता जानने का'

संवत्* १८८२ के माघ शुक्ल १ प्रतिपदा के दिन श्रीजीमहाराज श्रीवरताल स्थित सन्ध्या आरती होने के बाद श्रीलक्ष्मीनारायण के मण्डप में गद्दी-तकिया बिछवाकर विराजमान हुए थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने चारों ओर मण्डप के ऊपर तथा नीचे समस्त परमहंस तथा देश-देश के सभी हरिभक्त बैठे थे ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''यह आप सब बड़े बड़े परमहंस हैं, तो आप को हम प्रश्न पूछते हैं कि सत्संगी हो उसे अवश्यरूप से कौन-कौन सी वार्ता जाननी चाहिए ? क्योंकि उससे कोई पूछे अथवा अपने मन में कोई तर्क हो आये, तब यदि उस वार्ता को जान रखी न हो, तो उसका समाधान कैसे होगा ?'' ऐसा प्रश्न पूछकर स्वयं ही बोले कि ''लीजिए, इसका उत्तर हम ही करते हैं कि **एक तो अपना उद्धव सम्प्रदाय है, उसकी रीति जाननी चाहिए तथा दूसरी, गुरुपरंपरा जाननी चाहिए;** वह कैसे ? तो उद्धव, वे

*दि. ७-२-१८२६, मंगलवार

रामानन्द स्वामी के रूप में थे और वे रामानन्द स्वामी श्रीरंगक्षेत्र में स्वप्न में[१] साक्षात् रामानुजाचार्य से वैष्णवी दीक्षा को प्राप्त हुए थे । इसलिए रामानन्द स्वामी के गुरु तो रामानुजाचार्य हैं और उन रामानन्द स्वामी के शिष्य हम हैं । इस तरह से गुरुपरम्परा[२] जानें । और **हमने हमारे धर्मकुल का स्थापन किया है, उसकी रीति जानें । और तीसरा, हमारे सम्प्रदाय में अति प्रमाणरूप जो शास्त्र हैं, उन्हें जानें ।** उन शास्त्रों के नाम हैं (१) वेद (२) व्याससूत्र (३) श्रीमद्भागवत पुराण (४) महाभारतस्थ विष्णुसहस्रनाम (५) भगवद् गीता (६) विदुरनीति (७) स्कन्धपुराण के विष्णु खण्ड में रहा वासुदेवमाहात्म्य तथा (८) याज्ञवल्क्य स्मृति । ये जो आठ शास्त्र हैं, उन्हें जानें। और **चौथा, सत्संगियों के जो-जो नियम हैं, उन्हें जानें ।** और **पाँचवाँ, अपने इष्टदेव जो श्रीकृष्ण भगवान हैं, उन्हें जानें,** तथा स्थानक, सेवक तथा कार्य; उनके भेद से उन श्रीकृष्ण भगवान की मूर्तियों की बहुरूपता है, उन्हें जानें । और **उन श्रीकृष्ण भगवान के जो परोक्षरूप तथा प्रत्यक्षरूप हैं, उन्हें जानें ।** उनमें परोक्षरूप तो किस तरह से ? तो माया के तम से पर ऐसा जो गोलोक है, उसके मध्य जो अक्षरधाम, उसमें श्रीकृष्ण भगवान रहते हैं, वे द्विभुज हैं और कोटि-कोटि सूर्य के समान प्रकाशमान हैं, श्यामसुन्दर हैं, राधिकाजी और लक्ष्मीजी के सहित हैं, नन्द, सुनन्द एवं श्रीदामादिक जो पार्षद हैं, उनसे सेवित हैं, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों की जो उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय, उनके कर्ता हैं तथा महाराजाधिराजरूप से विराजमान हैं । और ऐसे जो भगवान हैं, वे चतुर्भुजरूप को धारण करते हैं, अष्टभुजरूप को धारण करते हैं, और सहस्रभुजरूप को भी धारण करते हैं, तथा वासुदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध एवं प्रद्युम्न; ये जो चतुर्व्यूह तथा केशवादिक जो चौबीस व्यूह; इन सभी रूपों को धारण करते हैं, तथा वराह, नृसिंह, वामन, कपिल, हयग्रीव इत्यादिक जो अनेक अवतार हैं, उनको धारण करते है, और स्वंय तो सदा द्विभुज हैं । और

१. समाधि में ।

२. गुरुपरंपरा को ही संप्रदाय कहते है । "**संप्रदायो गुरुक्रमः**" ऐसा कोश में भी कहा है ।

उपनिषद् तथा सांख्यशास्त्र तथा योगशास्त्र तथा पञ्चरात्र; इनमें इसी ही स्वरूप का वर्णन किया है। इस तरह से परोक्षरूप से भगवान का स्वरूप कहा[१]।

और **सभी जो आचार्य हुए हैं, उनमें व्यासजी बड़े[२] आचार्य हैं।** उन व्यासजी के जैसे[३] तो शंकराचार्य नहीं कहलाते, रामानुजाचार्य नहीं कहलाते, मध्वाचार्य नहीं कहलाते, निम्बार्क नहीं कहलाते, विष्णुस्वामी नहीं कहलाते, वल्लभाचार्य नहीं कहलाते; क्योंकि, वे आचार्य यदि व्यासजी के वचन का अनुसरण करते हैं, तभी उन आचार्यों के वचनों का लोक में प्रमाण होता है, अन्यथा नहीं होता है। और व्यासजी को तो दूसरे किसी की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि **व्यासजी तो वेद के आचार्य हैं, तथा स्वयं भगवान हैं। इसलिए हम सभी को तो व्यासजी के वचन का ही अनुसरण करना हैं।** और वे जो व्यासजी हैं, उन्हें जीव के कल्याण के लिए वेद[४] के विभाग किये, तथा सत्रह पुराण किये तथा महाभारत किया, फिर भी उन व्यासजी के मन में ऐसा हुआ कि 'जीव के कल्याण का उपाय जैसा है वैसा यथार्थ नहीं कहा गया।' और इस कारण से अपने मन में सन्तोष नहीं हुआ। तत्पश्चात् समग्र वेद, पुराण, इतिहास, पञ्चरात्र, योगशास्त्र, सांख्यशास्त्र; उनका साररूप ऐसा जो श्रीमद्भागवत पुराण है, उसे व्यासजी करने लगे। उस भागवत में सभी अवतारों से श्रीकृष्ण भगवान को ही अधिकता से कहा है, और सभी अवतारों को धारण करनेवाले जो हैं, वे ही स्वयं श्रीकृष्ण भगवान हैं। और उन श्रीकृष्ण भगवान ने उद्धव के प्रति गुणविभाग के अध्याय में कहा है कि 'मैं निर्गुण हूँ और मेरे सम्बन्ध को जो प्राप्त होता है, वह भी निर्गुण हो जाता है।' इसलिए

---

१. प्रत्यक्षरूप तो धरातल में रहनेवाले नराकार जाने। नराकार श्रीकृष्ण भगवान के समस्त चरित्र, साक्षात् भगवान व्यासमुनि ने पुराण आदि में वर्णन किये हैं, उसे अति भक्ति से मुमुक्षुओं को सुनना चाहिए।

२. वरिष्ठ, प्रधान, मुख्य

३. समान, कार्य-कारण होने से तुलना नहीं होती।

४. ऋगादि चार प्रकार से।

कामभाव, द्वेषभाव, भयभाव, सम्बन्धभाव, स्नेहभाव; इनमें से जिस-जिस भाव से उन श्रीकृष्ण भगवान का जिस जीव ने आश्रय किया, वे निर्गुण हो गए। इसलिए वे श्रीकृष्ण भगवान तो निर्गुण हैं। इस प्रकार से व्यासजी ने श्रीकृष्ण भगवान को कहा है। और उन व्यासजी ने ऐसा सिद्धान्त किया है कि 'सभी अवतार को धारण करनेवाले जो परमेश्वर हैं, वे ही स्वयं श्रीकृष्ण भगवान हैं और दूसरे जो अवतार हैं, वे उनके हैं।' और यदि उन श्रीकृष्ण भगवान को निर्गुण न कहकर शुद्ध सत्त्वात्मक कहेंगे, तो उसे भागवत के पूर्वापर सम्बन्ध की खबर ही नहीं है और उसमें बड़ी बाधा आयेगी; क्योंकि गोपियों ने श्रीकृष्ण को भगवान नहीं जाना था और कामभाव से उन ही श्रीकृष्ण भगवान का भजन किया, उससे वे गोपियाँ निर्गुण हो गई, तब उन श्रीकृष्ण भगवान को शुद्ध सत्त्वात्मक कैसे कहा जाये ? इसलिए श्रीकृष्ण भगवान तो निर्गुण ही हैं। तथा श्रीकृष्ण भगवान ने स्वयं अर्जुन के प्रति कहा है कि

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत: ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥[१]

उन श्रीकृष्ण भगवान ने अपने जन्म के समय वसुदेव-देवकी को परमेश्वरपन की प्रतीति कराने के लिए जो चतुर्भुजरूप दिखाया तथा ब्रह्मा को जो अनेक चतुर्भुजरूप दिखाएं तथा अक्रूर को जो शेषशायीरूप दिखाया तथा अर्जुन को विश्वरूप दिखाया; इत्यादिक रूपों के भेद से श्रीकृष्ण भगवान की उपासना के जो भेद कहते हैं, वह तो उचित है। परन्तु वे श्रीकृष्ण भगवान व्रज में बालमुकुन्द कहलाये, मुरलीमनोहर कहलाये, राधाकृष्ण कहलाये तथा बछड़े चराये, गायें चरायी, गोवर्धन पर्वत को धारण किया, गोपियों के साथ रासक्रीड़ा की तथा मथुरापुरी में आकर कंस को मारा, यादवों को सुखी किये तथा सान्दीपनी ब्राह्मण के घर विद्या पढ़ी तथा कुब्जा के साथ विहार किया तथा द्वारिकापुरी में निवास किया और रुक्मिणी आदिक अष्ट पटरानियों से

१. हे अर्जुन ! पुर्वोक्त प्रकार से जो पुरुष मेरे जन्म-कर्म को यथार्थरूपमें जानते हैं, वे पुरुष देह का त्याग करके फिर से जन्म को पाता नहीं परन्तु मुझे पाता है। (गीता : ४।९)

विवाह किया तथा सोलह हजार स्त्रियों से विवाह किया तथा हस्तिनापुर में रहे और पाण्डवों की समस्त कष्टों से रक्षा की और द्रौपदी की लाज रखी और अर्जुन के सारथी बने; इत्यादिक स्थानक के भेद से श्रीकृष्ण भगवान की जो अनेक लीलाएँ हैं; इससे उन श्रीकृष्ण भगवान के द्विभुज स्वरूप में उपासना के भेद न करें, और जो करेंगे वे वचनद्रोही–गुरुद्रोही हैं। उन श्रीकृष्ण भगवान के आचरण जो, ग्वालों का उच्छिष्ट खाया, तथा रासरमण किया; इत्यादिक अनेक प्रकार के हैं, उस आचरण जैसा तो श्रीकृष्ण भगवान के भक्त आचरण न करें। उन श्रीकृष्ण भगवान ने एकादशस्कन्ध में तथा भगवद्गीता में तथा वासुदेवमाहात्म्य में जैसे साधु के लक्षण कहे हैं, तथा वर्णाश्रम के धर्म कहे हैं तथा अपनी भक्ति करने को कहा है; उसी अनुसार बर्ताव करें, परन्तु उन **श्रीकृष्ण भगवान के आचरण के अनुसार आचरण न करें और जो करेगा वह विमुख है, हमारा सत्संगी नहीं है। अपने इष्टदेव ऐसे जो वे श्रीकृष्ण भगवान हैं, उनके आचरण के अनुसार जैसे आचरण नहीं करना है, वैसे ही आप सभी का आचार्य तथा गुरु तथा उपदेष्टा; ऐसा जो मैं हूँ, तो मेरे देह के जो आचरण हैं, उसके अनुसार भी आप को नहीं करना है** और हमारे सम्प्रदाय में जैसे जिसके धर्म कहे हैं, ऐसे जो हमारे वचन हैं, उनके अनुसार आप सभी रहें, परन्तु हमारे आचरण के अनुसार न रहें। यह जो हमने वार्ता कहीं है, उसे समस्त परमहंस तथा समस्त सत्संगी सीख लीजिए तथा उसी के अनुसार समझकर ऐसे ही बर्ताव करें और दूसरों के आगे ऐसे ही वार्ता करें।'' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज भोजन करने पधारे। इस प्रकार की वार्ता को सुनकर सभी साधु तथा सत्संगी; वे ऐसा समझते थे कि **'वे परोक्ष जो श्रीकृष्ण भगवान कहे हैं, वे ही ये भक्ति धर्म के पुत्र श्रीजीमहाराज हैं, परन्तु उनसे पर कोई नहीं है और वे ही हमारे इष्टदेव हैं और गुरु भी वे ही हैं'** ।

॥ इति वचनामृतम् वरताल ॥१८॥२१८॥

वचनामृत १९ : 'भक्त होने का - अविवेक का'

संवत्* १८८२ के माघ शुक्ल २ द्वितीया के दिन श्रीजीमहाराज सायंकाल के समय श्रीवरताल स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर में पूर्व की ओर रूपचौकी पर गद्दी-तकिया बिछवाकर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

फिर जब ठाकुरजी की सन्ध्या आरती हो गई, तब श्रीजीमहाराज बोले कि "सुनिये, भगवान की वार्ता करते हैं कि **इस जीव को जब भरतखण्ड में मनुष्यदेह प्राप्त होता है तब भगवान के अवतार या भगवान के साधु; वे जरूर पृथ्वी पर विचरण करते होते हैं, उनकी यदि उस जीव को परख हो जाये तो वह जीव भगवान का भक्त होता है ।** फिर वह भगवान का भक्त हुआ, तो उसे भगवान के बिना दूसरे कोई पदार्थ में प्रीति रखनी उचित नहीं है । क्योंकि भगवान के धाम का जो सुख है, उनके आगे मायिक पञ्चविषय का सुख है, वह तो नरक जैसा है और जो नरक के कीड़े हैं, वे तो नरक में परम सुख मानते हैं, परन्तु जो मनुष्य होते हैं, वे तो उस नरक को परम दुःखदायी जानते हैं । उस तरह जिसे भगवान की परख हुई है, वह तो भगवान का पार्षद हुआ है और वह भगवान का पार्षद मिटकर विष्टा के कीड़े की तरह मायिक पञ्चविषय के सुख की इच्छा न करे । और **जो भगवान का भक्त हो, वह तो जिन-जिन मनोरथों को करता है, वे सभी सत्य होते हैं ।** इसलिए भगवान के बिना दूसरे पदार्थ की अज्ञानता से जो इच्छा करते हैं, वह ही उसे बड़ा अविवेक है । इसलिए **जो भगवान का भक्त है, उसे तो चौदह लोक के जो भोग-सुख हैं, उन्हें काकविष्टा तुल्य समझने चाहिए और मन, कर्म, वचन से भगवान तथा भगवान के भक्त में ही दृढ़ प्रीति करनी चाहिए ।** और ऐसा समझना चाहिए कि 'जो

*दि. ८-२-१८२६, बुधवार

भगवान का भक्त हो, और उसे यदि कदाचित् भगवान के सिवा दूसरी वासना रह गई हो, तो वह भी इन्द्र की पदवी को प्राप्त होता है, या ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है परन्तु प्राकृत जीव की तरह नरक-चौरासी में तो जाता ही नहीं है। तब जो भगवान का यथार्थ भक्त है, उनकी जो महिमा तथा उनका जो सुख है, उसका तो वर्णन ही कैसे किया जाये ?' इसलिए भगवान का भक्त हो, वह तो भगवान में ही दृढ़ प्रीति रखें।''

॥ इति वचनामृतम् वरताल ॥१९॥२१९॥

वचनामृत २० : 'जनक जैसी समझ का'

संवत्* १८८२ के माघ शुक्ल ३ तृतीया के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के प्रांगण में नीम के वृक्ष के नीचे वेदीका पर गद्दी-तकिया बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कण्ठ में चमेली[१] के पुष्पों का हार विराजमान था, मस्तक पर लाल रेशमी वस्त्र का छत्र विराजमान था और अपने मुखारविन्द के समक्ष मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज ने परमहंस से प्रश्न पूछा कि ''रजोगुण में से काम की उत्पत्ति होती है और तमोगुण में से क्रोध तथा लोभ की उत्पत्ति होती है, इसलिए कामादिका का बीज न रह पाये, ऐसा एक साधन कौन सा है ?'' फिर शुकमुनि ने कहा कि ''जब निर्विकल्प समाधि होती है और जब आत्मदर्शन होता है, तब ही उसके हृदय में से कामादिक का बीज जल जाता है।'' तब श्रीजीमहाराज ने आशंका की कि ''शिव, ब्रह्मा, शृंगिऋषि, पराशर, नारद; उनको क्या निर्विकल्प समाधि नहीं थी ? जो काम से वे सभी विक्षेप को प्राप्त हुए, इसलिए वे सभी निर्विकल्प समाधिवाले ही थे, तो भी इन्द्रियों की वृत्ति अनुलोम हुई तब कामादिक से विक्षेप को प्राप्त हुए, इसलिए आपने

*दि. १०-२-१८२६, शुक्रवार

१. चंबेली, नवमालिका

कहा इस तरह से इस प्रश्न का उत्तर नहीं हुआ । और जैसे ज्ञानी निर्विकल्प समाधि में जाते हैं तब निर्विकार रहते हैं, वैसे ही अज्ञानी सुषुप्ति में निर्विकार रहता है । और जब इन्द्रियों की वृत्ति अनुलोम हो जाती है, तब तो ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही कामादिक से विक्षेप को प्राप्त होते हैं; उसमें तो ज्ञानी–अज्ञानी की कोई विशेषता[१] दिखाई देती नहीं है । इसलिए अब दूसरे परमहंस उत्तर करिए ।'' फिर तो गोपालानन्द स्वामी, देवानन्द स्वामी, नित्यानन्द स्वामी, मुक्तानन्द स्वामी; वे सभी मिलकर जिनको जैसा लगा उन्होंने वैसा उत्तर किया, परन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का किसीसे समाधान हुआ नहीं ।

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''जैसे जनक विदेही थे, वे प्रवृत्तिमार्ग में थे तो भी निर्विकार थे । और जब जनक की सभा में सुलभा नाम की सन्यासिनी आई, तब जनक राजा सुलभा के प्रति बोले कि ''तू मेरे चित्त को मोहित करने का प्रयास कर रही है, परन्तु मेरे गुरु जो पञ्चशिख ऋषि, उनकी कृपा से मैं सांख्य तथा योग; इन दो मतों का मैंने अनुसरण किया है, इसलिए मेरे आधे शरीर को चन्दन लगाये और आधे शरीर को तलवार से काटे, यह दोनों मुझे समान है और यह मेरी मिथिलापुरी जल जाये, तो भी मेरा कुछ भी जलता नहीं है । इस तरह मैं प्रवृत्ति में रहा हुआ असंगी तथा निर्विकारी हूँ । इस तरह से राजा जनक ने सुलभा के प्रति कहा और शुकदेवजी के भी गुरु राजा जनक कहलाये । इसलिए इस प्रश्न का यही उत्तर है कि '**इन्द्रियों की वृत्ति अनुलोमरूप से रहती हो, और प्रवृत्तिमार्ग में रहा हो, तो भी यदि राजा जनक की तरह जिसके हृदय में ज्ञान की दृढ़ता हुई हो, तो वह किसी भी प्रकार से विकार को प्राप्त नहीं होता ।**' और जिसे जैसा जानना चाहिए वैसा यथार्थ जान लिया हो कि यह तो सार है और यह तो असार है । फिर एक भगवान की मूर्ति के बिना जितने मायिक आकार हैं, वे सभी अतिशय दुःखदायक हैं और नाशवन्त हैं, ऐसा जानता हो और स्वयं

१. भेद, फर्क

को देह, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण; उनसे अलग आत्मारूप में जानता हो, फिर उसे ऐसा कोई पदार्थ नहीं है कि 'मोहित करने के लिए समर्थ हो सके ।' क्योंकि, वह तो समस्त मायिक आकार को तुच्छ कर पाता है । और इस तरह से जिसके हृदयमें समझदारी की दृढ़ता[१] हो गई हो और उसकी सभी इन्द्रियाँ प्रवृत्तिमार्ग में अनुलोमरूपसे रहती हों, तो भी वह कामादिक से क्षोभ को नहीं प्राप्त होता । ऐसा जो हरिभक्त हो, वह त्यागी हो अथवा गृहस्थ हो, परन्तु उनके हृदय में से कामादिक का बीज नष्ट हो जाता है । और ऐसा जो हो, वह ही समस्त हरिभक्तों में श्रेष्ठ वैष्णव है । **इसलिए गृही-त्यागी का कोई मेल नहीं है, जिसकी समझ बड़ी है, उसे ही सभीसे बड़ा हरिभक्त जानें ।** और शिव ब्रह्मादिक में जो खोट कहलाती है, उसका तो ऐसा है कि कितने में तो इस प्रकार की समझ की कसर है तथा कितने में तो ऐसी समझ रही हो, तो भी अशुभ देश, काल, संग, क्रियादिक के योग से उन्हें कामादिक विकाररूप खोट कहलाई है । **इसलिए ऐसी समझ हो, तो भी किसी भी प्रकार से कुसंग तो करना ही नहीं है, यह सिद्धान्त वार्ता है ।''**

॥ इति वचनामृतम् वरताल ॥२०॥२२०॥

॥ श्रीवरताल प्रकरणं समाप्तम् ॥

१. निश्चय, पक्वता

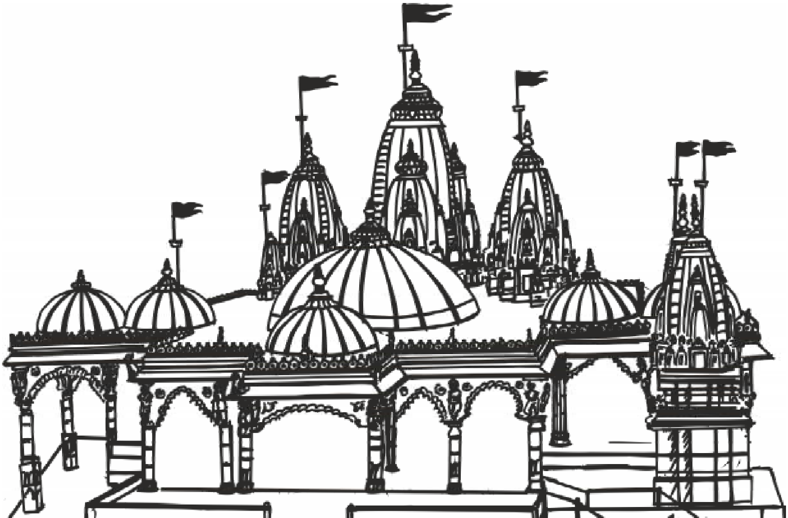

श्रीनरनारायणदेव मन्दिर - अहमदाबाद

गढ़डा अन्त्य प्रकरण में

ऐसे जो ये प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम भगवान,
उनके स्वरूप में और अक्षरधाम में रहे जो भगवान हैं,
उनके स्वरूप में कुछ भी भेद नहीं है;
वे दोनों एक ही हैं।
और ऐसे जो यह प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम भगवान हैं,
वे अक्षरादिक सभीके नियन्ता है,
ईश्वरों के भी ईश्वर हैं,
समस्त कारणों के भी कारण हैं, सर्वोपरि हैं,
समस्त अवतारों के अवतारी हैं
और आप सभीको एकान्तिक भाव से
उपासना करने योग्य हैं। और इन भगवान के
जो पूर्व में बहुत ही अवतार हुए हैं,
वे भी नमस्कार करने योग्य हैं
और पूजन करने योग्य हैं।''

– ग.अं.३८

अहमदाबाद

संप्रदाय के इतिहास में जब से मंदिर के स्थापत्य का शुभारंभ हुआ, तब से भगवान श्रीस्वामिनारायण के करकमलों से सब से प्रथम शिलान्यास और प्रतिष्ठा की महानिराजन–आरती श्रीअहमदाबाद में हुई है। अरे ! जो गुजरात का पुरातन एवं संप्रदाय (उत्तर विभाग) का सनातन प्रमुख स्थान है, ऐसे अहमदाबाद की प्रसंशा कौन कर सकता है ?

ब्रिटिश सरकार से मन्दिर निर्माण हेतु भूमि प्राप्त कर उसमें भरतखण्ड के अधिपति श्रीनरनारायण देव की स्थापना, जो हिन्दु संस्कृति की अस्मिता के गाथा का सुवर्णपृष्ठ है ।

सत्संग के समृद्ध इतिहास के पन्नों में अनेक लीलाओं के साथ–साथ वचनामृत जैसा अध्यात्म चिंतन के उत्तुंग शिखरों पर चमत्कारी ध्यान–उपासना की बातें (कथाएँ) अहमदाबाद के नाम पर अंकित हुई है । अहमदाबाद सिर्फ नगर नहीं है, श्रीहरि का प्यारा–प्यारा धाम हैं ।

श्रीअहमदाबाद प्रकरणम्

वचनामृत १ : 'चमत्कारिक ध्यान का'

संवत्* १८८२ के माघ कृष्ण ११ एकादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीअहमदाबाद स्थित श्रीनरनारायण के मन्दिर में पश्चिम की ओर मुखारविन्द किये विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कण्ठ में गुलाब के पुष्पों के हार विराजमान थे तथा कान के ऊपर गुलाब के पुष्पों के गुच्छ विराजमान थे, पाग में गुलाब के पुष्प के तुर्रे विराजमान थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

उस सभा में श्रीजीमहाराज अन्तर सन्मुख दृष्टि करके विराजमान थे। फिर नेत्रकमल को खोलकर सब के सामने देखा। फिर ऐसा बोले कि ''हमें एक ध्यान के अंग की वार्ता[१] करनी है, वह वार्ता मोक्षधर्म में भी कही है। और जो बड़े-बड़े उस ध्यान से सिद्धदशा को प्राप्त हुए हैं, वे भी हमने बहुत देखे हैं और हमारे भी अनुभव में ऐसा रहता है कि अनन्त प्रकार के ध्यान हैं, परन्तु यह जो बात कहनी है, उसके बराबर दूसरा कोई ध्यान नहीं होता, जैसे कोई चमत्कारी मन्त्र हो, अथवा चमत्कारी औषधि हो, उसमें स्वाभाविक ही चमत्कार रहता है, उस तरह जो यह ध्यान हमें कहना है, उस ध्यान में भी ऐसा स्वाभाविक ही चमत्कार है कि तत्काल सिद्धदशा को प्राप्त हो जाता है। अब वह वार्ता करते हैं, उस ध्यान को करनेवाला जो है, वह दाहिने नेत्र में सूर्य का ध्यान करें और बायें नेत्र में चन्द्र का ध्यान करें। इस तरह से ध्यान करते-करते सूर्य तथा

---

*दि. ४-३-१८२६, शनिवार **१.** बात

चन्द्रमा जैसे आकाश में है, वैसे के वैसे ही नेत्र में दिखने लगें, तब दाहिना जो नेत्र है, वह उष्ण होने लगता है और बायाँ नेत्र है वह शीतल होने लगता है, तब सूर्य की धारणा बायें नेत्र में करें तथा चन्द्र की धारणा दाहिने नेत्र में करें। इस तरह से धारणा करके फिर सूर्य तथा चन्द्र को अन्तर्दृष्टि से हृदयाकाश में देखते रहें और देखनेवाला जो अपना जीव है, उनके रूप को भी देखें और देखनेवाला जो जीवात्मा है, उनमें परमात्मा का ध्यान करें। फिर उसका जो वासनालिंग देह है, वह जैसे रहट[१] का चक्र घूमता है, उस तरह आकाश में घूमता दिखाई देता है। फिर इस तरह से ध्यान करते हुए, भगवान का जो विश्वरूप है, उनका दर्शन उसे होता है, और उस रूप[२] में जो चौदह लोक की रचना है, वह दिखाई देती है। और वह स्वरूप अतिशय बड़ा भी नहीं दिखता है। जैसे वटपत्रशायी भगवान एक बड़ के पत्र में छोटे से बालक होकर सोये थे और उन्हीं भगवान के उदर में मार्कण्डेय ऋषि ने समग्र ब्रह्माण्ड देखा। इस तरह से भगवान का ध्यान करते हुए, जितने भी शास्त्र में पदार्थ कहे हैं, वे सभी उनकी दृष्टि में आते हैं, तब उनके जीवात्मा में जो कुछ नास्तिक भाग रहता हो, वह मिट जाता है, और उसका जीव अति बलवान होता है, और शास्त्र में जो-जो कहा है, वह सभी सत्य है, ऐसी उसे दृढ़ प्रतीति आती है। और अणिमादिक अष्ट सिद्धियाँ[३] हैं, वे भी उस ध्यान करनेवाले के पास आकर उपस्थित होती हैं। और जहाँ तक सूर्य की तथा चन्द्र की किरणे पहुँचती हो, वहाँ तक उसकी दृष्टि पहुँच पाती है, ऐसी अनन्त सिद्धियाँ प्रकट होती हैं, परन्तु परमेश्वर का भक्त है, इसलिए किसी भी सिद्धि को नहीं ग्रहण करता है, केवल परमेश्वर का ही ध्यान करता है, तब उस ध्यान को करनेवाला नारद, सनकादिक, शुकजी के समान सिद्धदशा को प्राप्त होता है। **इसलिए अनन्त प्रकार के ध्यान हैं, लेकिन तत्काल सिद्धदशा को प्राप्त कराये, ऐसा तो यह ही ध्यान है।"**

---

१. सूत कातने का चरखा २. विश्वरूप

३. अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, ईशित्व, वशित्व, प्राप्ति, प्राकाम्य।

इतनी वार्ता के बाद मुक्तान्द स्वामी ने पूछा कि ''ऐसा ध्यान तो अष्टांग योग के मार्ग से प्राणायाम करता हो उसे ही सिद्ध होता है या दूसरों को भी सिद्ध होता है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''प्राणायामवाले का कोई मेल नहीं है, वह तो जो ऐसे ध्यान का अभ्यास करने लगे और वह परमेश्वर का एकान्तिक भक्त हो, तो उसे ही यह ध्यान सिद्ध होता है; परन्तु दूसरे जीव से तो उस मार्ग में चला ही नहीं जाता। इसलिए उस ध्यान के जो अधिकारी हैं, उन्हें तो कहा ऐसा जो यह ध्यान, उसके अलावा दूसरा तत्काल सिद्ध होने का कोई उपाय नहीं है।''

॥ इति वचनामृतम् अहमदाबाद ॥१॥२२१॥

वचनामृत २ : 'नहा-धोकर पूजा करने का'

संवत्* १८८२ के फाल्गुन शुक्ल ११ एकादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीअहमदाबाद स्थित श्रीनरनारायण के मन्दिर के आगे वेदी पर पाट पर गद्दी-तकिया बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने सफेद खेस धारण किया था, सफ़ेद चद्दर ओढ़ी थी, मस्तक पर गुलाबी रंग का फेंटा बाँधा था, उस पाग में गुलाब के पुष्प के तुर्रे झुल रहे थे, कानों पर गुलाब के दो गुच्छ लगाये थे, कण्ठ में गुलाब के पुष्प के हार पहने थे और दोनों भुजाओं में गुलाब के बाजूबन्द बाँधे थे, दोनों हाथों में गुलाब के पुष्प के गजरे पहने थे। इस प्रकार समस्त अंगो पर गुलाब के पुष्पों से गरकाब[१] हुए थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज सभी परमहंसों प्रति बोले कि ''एक प्रश्न पूछता हूँ कि एक परमेश्वर का भक्त है, वह तो जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति; उनसे पर रहता है, और मलिन रज, तम, तथा मलिन सत्त्व; उनका त्याग करके शुद्ध सत्त्वमय रहता है, और ऐसा होता हुआ परमेश्वर को भजता है। और दूसरा जो भक्त

*दि. २०-३-१८२६, सोमवार

१. सुवासित, निमग्न, सरोवर

है, वह तो त्रिगुणात्मक रहता है और परमेश्वर के प्रति अतिशय प्रीति से युक्त रहता है । इन दोनों भक्तों में कौन सा भक्त श्रेष्ठ है ?'' फिर सन्तमण्डल ने तो ऐसा कहा कि ''भगवान में प्रीतिवाला श्रेष्ठ है ।''

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'एक तो नहा-धोकर पवित्र होकर भगवान की पूजा करता है तथा एक तो मलमूत्र से भरा हुआ भगवान की पूजा करता है, इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है ।'' तब मुनिमण्डल ने कहा कि ''पवित्र होकर भगवान की पूजा करता है, वह श्रेष्ठ है ।''

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जो मायिक उपाधि का त्याग करके भगवान को भजता है, उसे आप न्यून कहते हैं और जो मायिक उपाधि से सहित होता हुआ परमेश्वर में प्रीतिमान है, उसे श्रेष्ठ कहते है; तो वह किस तरह से श्रेष्ठ है ?'' फिर इस प्रश्न का किसीसे समाधान नहीं हुआ, तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''गीता में चार प्रकार के भक्त कहे हैं । उनमें ज्ञानी को ही भगवान ने अपनी आत्मा कहा है । इसलिए **जो मायिक उपाधि का त्याग करके ब्रह्मरूप होकर भगवान को भजता है, वह ही भक्त श्रेष्ठ है ।** क्योंकि नित्य प्रलय जो सुषुप्ति, और निमित्त प्रलय जो ब्रह्मा की सुषुप्ति, तथा प्राकृत प्रलय जो प्रकृति का सभी कार्य प्रकृति में लीन हो जाना, **और आत्यन्तिक प्रलय जो ज्ञान प्रलय है, उसमें तो प्रकृति पर्यन्त सभी ब्रह्म के प्रकाश में लीन हो जाते हैं ।** और नित्य प्रलय में जीव की उपाधि लीन हो जाती है और निमित्त प्रलय में ईश्वर की उपाधि लीन हो जाती है, और प्राकृत प्रलय में पुरुष की सभी उपाधियाँ लीन हो जाती हैं । परन्तु जब सृष्टि का सर्जन होता है तब इन तीनों को अपनी-अपनी उपाधियाँ लगती हैं । **और आत्यान्तिक प्रलय जो ज्ञानप्रलय, उससे जिसने मायिक उपाधि का त्याग किया, उसे तो पुनः कभी भी मायिक उपाधि नहीं लगती है ।** और यदि वह किसी समय देह धारण करता है, तो जैसे भगवान स्वतन्त्र होते हुए देह धारण करते हैं, वैसे वह भी स्वतन्त्र होता हुआ देह धारण करता है, परन्तु काल, कर्म और माया; उनके आधीन होकर देह धारण नहीं करता है । **इसलिए ब्रह्मरूप होकर जो परमेश्वर को भजता**

है, वह ही श्रेष्ठ है और यह वार्ता है, वह तो, जो परमेश्वर का अनन्य भक्त है तथा एकान्तिक भक्त के लक्षणों से युक्त है, उसे ही समझ में आती है।''

॥ इति वचनामृतम् अहमदाबाद ॥२॥२२२॥

वचनामृत ३ : 'बरगद की बरोह का - उपशम का'

संवत्* १८८२ के फाल्गुन कृष्ण २ द्वितीया के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीअहमदाबाद स्थित श्रीनरनारायण देव के मन्दिर के सन्मुख चबूतरे पर पलंग बिछवाकर उस पर विराजमान थे। उनके मस्तक पर गुलाबी रंग की पाग विराजमान थी, उस पाग में गुलाब एवं चमेली के हार विराजमान थे तथा अपने मुखारविन्द के समक्ष मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज ने समग्र मुनिमण्डल प्रति प्रश्न पूछा कि ''जीव मात्र हैं, वे पञ्चविषय के आधार से जीते हैं। वह या तो बाह्य पञ्चविषय को भोगता है, और जब बाह्य पञ्चविषय का योग न हो तब अन्तःकरण में पञ्चविषय का चिन्तन करता रहता है, किन्तु वह जीव विषय के चिन्तन के बिना तथा विषय को भोगे बिना क्षणमात्र भी नहीं रह सकता है। जैसे बरगद का वृक्ष है, उसकी जो जड़ें हैं, वे ही बरगद को हरा रखती हैं, और दूसरी सभी जड़े उखड़ गई हों, और यदि एक बरोह पृथ्वी में लगी हुई हो तो भी वह बरगद का वृक्ष हरा रहता है। **उस तरह उपर से**(१) **कदाचित् पञ्चविषय का त्याग किया है, लेकिन अन्तर में विषय का चिन्तन होता है, वह ही उसे जन्म-मरण का हेतु है।** ऐसे जो पञ्चविषय हैं, वे परमेश्वर के भक्त को किस तरह से जन्म-मरण के हेतु नहीं हैं ? यह प्रश्न है। फिर इसका उत्तर जैसा समझ में आया वैसा मुक्तानन्द स्वामी ने किया, लेकिन यथार्थ समाधान हुआ नहीं। तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''लीजिए, इस प्रश्न का उत्तर हम करते हैं कि **मायामय ऐसे जो तीन शरीर हैं, उनकी भावना से रहित केवल आत्मसत्तारूप रहकर**

*दि. २५-३-१८२६, शनिवार **१.** बाहर से।

जो भक्त परमेश्वर की मूर्ति का चिन्तन करता हो, उसे भगवान के चिन्तन के बल से जब उपशम अवस्था रहती है तब उस भक्त को उपशम के बल से पञ्चविषय जन्म मरण के हेतु नहीं होते हैं । जैसे मही जैसी या साबरमती जैसी नदी दोनों किनारों पर बहती हों, तब हाथी, घोड़ा, वृक्ष सब बह जाते हैं, परन्तु कोई नहीं ठहर सकता है, उस तरह उपशमवाले को भी चाहे कैसे भी रमणीय भोग इन्द्रियों को प्राप्त हुए हों, परन्तु जब अन्तर सन्मुख दृष्टि करता है तब जिस तरह पूर्व जन्म में देखे हों और वे इस जन्म में विस्मृत हो जाते हैं, वैसी उनकी विस्मृति हो जाती है । **इस तरह जिस भक्त को रहता है उसे उपशम कहते हैं ।** उस उपशम की महिमा अति बड़ी है । और जो इस संसार में अज्ञानी स्त्री पुरुष हों, और उन्हें विवाह से पहले अतिशय प्रीति रहती हो, और फिर उन्हें विवाह कराके तीन रात तथा तीन दिन तक जगाये हों तथा चलाये रखे हों, और फिर उन दोनों को साथ रखे हों तो वे निद्रावशात् एक दूसरे के रूप का या स्पर्श का सुख भोगने में समर्थ नहीं होते हैं, और एक दूसरे को आलिंगन किये हों, तो भी जैसे काष्ठ आमने-सामने बाँध रखे हों, वैसे सोते रहते हैं, परन्तु पञ्चविषय का एक भी सुख नहीं आता है । वह जो अज्ञानकाल में सुषुप्ति में उपशम को प्राप्त हुए हैं, तो भी किसी भी प्रकार के विषय का पता नहीं रहता है, **तो जो ज्ञानी है और परमेश्वर के स्वरूप के ध्यान से उपशमदशा को प्राप्त हुआ है, उसे पञ्चविषय कैसे बाधित करते हैं ? करते ही नहीं । इसलिए जो उपशम दशा को प्राप्त हुआ, उन्हें पञ्चविषय जन्म-मरण के हेतु नहीं होते हैं ।**''

फिर नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि ''उपशम दशा प्राप्त करने का आपने कहा जो आत्मरूप होकर भगवान का ध्यान करनेरूप उपाय है, वह तो अति कठिन है । इसलिए इससे अतिरिक्त दूसरा उसका सुगम उपाय हो, तो कहिए?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''**एक तो भगवान का अतिशय माहात्म्य समझता हो, और दूसरा भगवान तथा भगवान के भक्त की सेवा-चाकरी, दर्शन करना; उनमें अतिशय वेगवान श्रद्धा रहती हो, ऐसा जो**

भगवान का भक्त है, उसे यह उपशम दशा प्राप्त होती है । परन्तु हमें ऐसा प्रतीत होता है कि **'जो सेवक मानी होगा वह तो किसी को भी प्रिय नहीं लगता होगा ।'** और मानी सेवक के पास जो टहल–चाकरी कराना, वह तो जैसे दुष्काल[१] पड़े तब बड़े आदमी भी कोदरा[२] खाकर जीते हैं, उस तरह मानी सेवक के पास सेवा–चाकरी कराना, वह भी ऐसी है। **स्वामी की प्रसन्नता तो जैसी निर्मानी सेवक पर रहती है, वैसी मानी पर नहीं रहती । इसलिए स्वामी की रुचि में रहे वह ही सेवक सच्चा है ।''**

फिर शुकमुनि ने पूछा कि ''जिसे विवेक और ज्ञान न हो, वह स्वामी को कैसे प्रसन्न करे ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''मूलजी ब्रह्मचारी तथा रतनजी; वे कहाँ अतिशय बुद्धिशाली हैं ? फिर भी कल्याण की गरज अतिशय है। इसलिए भगवान जिस तरह से प्रसन्न हों, वैसा करना तो उन्हें आता है । और फिर **इस समय में तो अयोध्यावासी स्त्रीपुरुष सभी जैसे हमारी रुचि में रहते हैं,** वैसे तो परमहंस तथा सांख्ययोगी तथा कर्मयोगी सत्संगी; वे भी हमारी रुचि में नहीं रहते हैं, क्योंकि **अयोध्यावासियों ने तो अपना जीवन अतिशय ही सत्संग परायण किया है ।** इसलिए अयोध्यावासी की तरह भगवान को प्रसन्न करना किसी को नहीं आता है। और वे अयोध्यावासी तो बहुत विश्वासी हैं। इसलिए कोई कपटी होगा तो उन्हें ठग जायेगा, इसलिए उन्हें किसी कार्य का आरम्भ करना हो, तब अग्रणी परमहंस तथा अग्रणी सत्संगी गृहस्थ, उनसे पूछकर उस काम को करने दें, किन्तु किसी एक के कहने से न करने दें। इस तरह त्यागी तथा गृहस्थ सत्संगी अयोध्यावासी की संभाल रखें, ऐसी हमारी आज्ञा है ।''

॥ इति वचनामृतम् अहमदाबाद ॥३॥२२३॥

॥ श्रीअहमदाबाद प्रकरणम् समाप्तम् ॥

---

१. अकाल, सुखा

२. कोद्रव, कोदो, कोदई, बिना परिश्रम से हुआ कुत्सित धान्य ।

श्रीगढ़डा अन्त्य प्रकरणम्

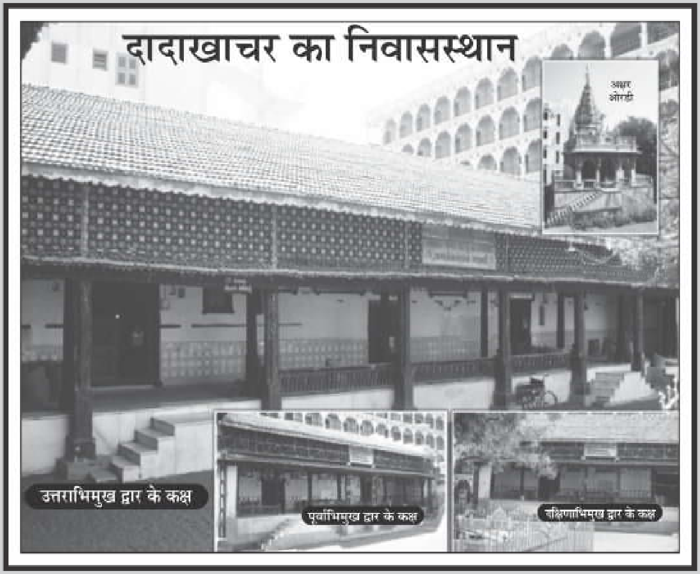

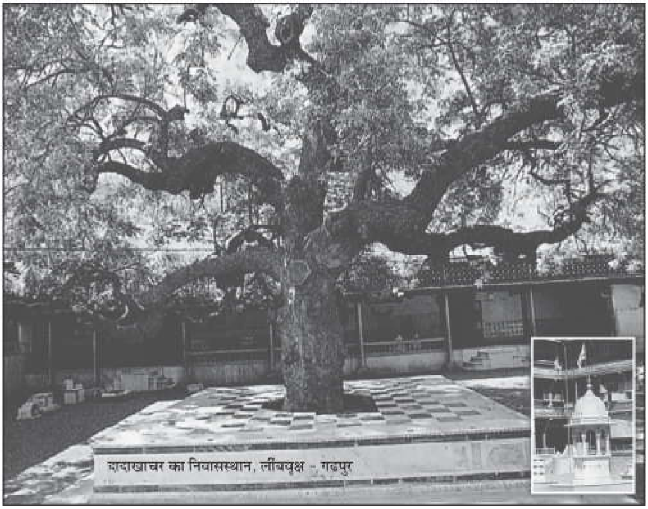
दादाखाचर का निवासस्थान, लींबवृक्ष - गढपुर

श्रीगढ़डा अन्त्य प्रकरणम्

ऐसे जो ये प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम भगवान,
उनके स्वरूप में और अक्षरधाम में रहे जो भगवान हैं,
उनके स्वरूप में कुछ भी भेद नहीं है;
वे दोनों एक ही हैं।
और ऐसे जो यह प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम भगवान हैं,
वे अक्षरादिक सभीके नियन्ता है,
ईश्वरों के भी ईश्वर हैं,
समस्त कारणों के भी कारण हैं, सर्वोपरि हैं,
समस्त अवतारों के अवतारी हैं
और आप सभीको एकान्तिक भाव से
उपासना करने योग्य हैं। और इन भगवान के
जो पूर्व में बहुत ही अवतार हुए हैं,
वे भी नमस्कार करने योग्य हैं
और पूजन करने योग्य हैं।''

– ग.अं.३८

गढ़पुरधाम

श्रीस्वामिनारायण भगवान जिसे अपना घर समझकर २९ वर्ष तक रहे थे ऐसे 'गढ़डा' के पवित्रनाम मात्र से ही हम पावन होते हैं ।

नवखण्ड धरा पर यह धाम सर्वोपरि है । यहाँ की गली-गली में ही नहीं, इस धरा के कण-कण में परब्रह्म के अलौकिक स्पंदनों की अनुभूति का एहसास केवल स्मरण करने से होता है, सम्प्रदाय का कोई भी ऐसा शास्त्र नहीं है जिसमें 'गढ़पुर' नाम का उल्लेख न हो ।

इस गढ़पुर की धरा पर दासत्व के आदर्श दादाखाचर और लाडुबा-जीवुबा जैसे निष्काममूर्ति भक्तों के प्रेमधागे से बँधन में रहे श्रीहरि नित्य परमहसों के साथ ज्ञान गोष्ठी करते थे, भक्तों के साथ प्रश्न-परिप्रश्नों में जुड़ते थे और 'यावत् चन्द्रदिवाकरौ' मोक्ष के अमूल्य रसायण समान वचनामृतों की वर्षा होती थी ।

श्रीहरि के निवासभूत इस गढ़डा में दादाखाचर का दरबारगढ़ (राजभवन), अक्षरभवन, श्रीगोपीनाथजी देव मन्दिर एवं मन्दिर में विराजमान समान आकार की गोपीनाथजी की मूर्ति, लक्ष्मीवाड़ी, राधावाड़ी और जिनके स्मरणमात्र से ही जन्म-जन्मांतर के कल्मष (पापों) का नाश होता है, ऐसी उन्मत्त गङ्गा (घेला नदी) जैसे अनेक पावन स्थान हैं ।

॥ वृत्तालये स भगवान् जयतीह साक्षात् ॥

श्रीगढ़डा अन्त्य प्रकरणम्

वचनामृत १ : ज्ञान तथा स्नेह के अंग का’

संवत्* १८८२ के वैशाख कृष्ण ११ एकादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के चौक के अन्दर की ओर पश्चिमी द्वार के कक्ष के ऊँचे बरामदे में गद्दी-तकिया युक्त सुन्दर रंगीन पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, मस्तक पर बड़ी श्वेत पाग में सुन्दर मोगरे के पुष्प का तुर्रा विराजमान था, कण्ठ में मोगरे के पुष्प का हार विराजमान था, दोनों हाथों में उन पुष्पों के गजरे विराजमान थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज ने परमहंसों को पूछा कि ‘‘परमेश्वर के भक्त को अशुभ देश-कालादिक का योग हो जाये तो भी भगवान की भक्ति में विघ्न न हो, ऐसी कौन सी समझ है ?’’ फिर परमहंसों को जैसा समझ में आया वैसा कहा, लेकिन यथार्थ उत्तर न हुआ । फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ‘‘जो भगवान को भजता है, उसे एक तो दृढ़ वैराग्य होना चाहिए और दूसरी आत्मनिष्ठा होनी चाहिए; उनमें यदि वैराग्य न हो तो, जब मन चाहा पदार्थ मिल जाये तब जैसे भगवान में प्रीति करता है वैसे दूसरे पदार्थ में भी भगवान के जैसी प्रीति हो जाती है । और यदि आत्मनिष्ठा न हो तो, जब शरीर में सुख-दुःख आता है,

---

*दि. १-६-१८२६, गुरुवार

तब उस भक्त की वृत्तियाँ विचलित[१] हो जाती हैं, फिर जिसे सुखदायी समझता है, उसमें प्रीति करने लगता है, और जिसे दुःखदायी समझता है, उसके साथ द्वेष करने लगता है, इस तरह से उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। इसलिए **भगवान के भक्त को आत्मनिष्ठा और वैराग्य; ये दोनों अतिशय दृढ़ होने चाहिए, क्योंकि वैराग्य से तो भगवान की मूर्ति के बिना दूसरे मायिक आकारमात्र असत्य हो जाते हैं तथा आत्मनिष्ठा से मायिक जो सुख तथा दुःख; वे मिथ्या हो जाते हैं।** और जिसे वैराग्य तथा आत्मनिष्ठा न हो, उसे तो निर्विकल्प समाधि हुई हो तो भी जब तक समाधि में रहता है तब तक सुखशान्ति रहती है और जब समाधि में से बाहर निकलता है, तब नारायणदास की तरह अच्छे पदार्थों को देखकर मूर्ख सी चेष्टा करने लगता है[२] ।''

''और फिर जो भगवान के भक्त होते हैं, उन्हें तो भगवान में **ज्ञान का** अंग होता है, या तो **स्नेह का** अंग होता है । इनमें **जिसे ज्ञान का अंग हो, वह तो भगवान का अतिशय माहात्म्य समझता है, और जिसे स्नेह का अंग हो, उसे तो भगवान के बिना आधी घड़ी भी चलता नहीं,** उस ज्ञान के अंगवाले तो झीणाभाई, देवराम और प्रभाशंकर हैं। इस प्रकार से जो हरिभक्त भगवान का माहात्म्य जानते हैं, उन्हें ज्ञान के अंगवाले जानें । जैसा व्रज की गोपियों को भगवान में स्नेह था, इस तरह के जो हरिभक्त होते हैं, उन्हें स्नेह का अंग जानें[३] । जिसे ज्ञान का अंग हो, वह भगवान को अन्तर्यामी जानता है, और ऐसा जानता है कि 'भगवान तो किसीका कहा सुनते ही नहीं है, भगवान तो जिस भक्त का जैसा अंग होता है, उसे वैसा जानकर उसी तरह से कहते हैं, परन्तु किसीके कहने से[४] चलते नहीं है ।' और जो ऐसा जानता है कि 'भगवान तो किसीके कहने से मुझ में भूल नहीं है तो भी मुझे कहते हैं ।'

१. बिखर जाती है । २. तो दूसरे की क्या बात कहें ?

३. उस स्नेह के अंगवाले तो सच्चिदानन्द मुनि, कृपानन्द मुनि, पूजा भक्त आदि हैं ।

४. सलाह से ।

उसे तो भगवान के स्वरूप का ज्ञान ही नहीं है[१] । और इस संसार में भी जिस मनुष्य को जिसके साथ स्वार्थ हो, उसका किसी तरह से अवगुण नहीं लेता है। क्योंकि, उसे अपने स्वार्थ का स्नेह है, तो जिसने भगवान से जन्म-मरण के भय से छूटने का स्वार्थ जाना हो, उसे किसी भी प्रकार से भगवान का अवगुण नहीं आता है और ऐसा जानता है कि 'भगवान तो किसीके कहने से[२] बदल जाते हैं,' ऐसा समझकर जो भगवान का अवगुण लेता है, उसे तो ज्ञान का अंग भी नहीं है और स्नेह का भी अंग नहीं है ।'' इस तरह से कहकर श्रीजीमहाराज ने बड़े-बड़े परमहंसों को कहा कि 'आप अपना इन दोनों में से जो अंग है,' उसे कहें । फिर सभी परमहंसों ने कहा कि ''हमें तो ज्ञान का अंग है ।''

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''**जिसे स्नेह का अंग होता है, उसे तो अपने जो प्रियतम हैं, उनके लिए, जो करने योग्य न हो[३], वह भी होता है ।** क्योंकि इस संसार में जो चोर है, उसे अपनी औरत तथा लड़के; उनमें स्नेह रहता है। और जब चोरी करने जाता है तब दूसरे मनुष्य को मारकर अपने घरके मनुष्य को द्रव्य देता है। और वह चोर बहुत निर्दय है, फिर भी अपने कुटुम्बी पर स्नेह है, तो उनके साथ निर्दय नहीं होता है। उस तरह जिसे भगवान तथा भगवान के भक्त के साथ स्नेह हो, उसे भगवान या भगवान के भक्त पर क्रोध या ईर्ष्या आती ही नहीं है तथा अवगुण भी किसी तरह से आता ही नहीं। ऐसा जिसे स्नेह हो, उसे स्नेह का अंग कहते हैं। और जिसे ज्ञान या स्नेह; इन दोनों में से एक भी अंग नहीं है; उसे मूर्ख सी चेष्टा करनेवाला[४] कहते हैं ।'' इतनी वार्ता[५] कहकर श्रीजीमहाराज अपने निवास स्थान पर पधारें ।

---

१. और जिसे भगवान में स्नेह हो वह तो भगवान के मनुष्य चरित्र में से कभी भी दोष ग्रहण करता नहीं है, भगवान की मनुष्यलीला को कल्याणरूप जानता है ।

२. बदलने से ३. अकार्य ४. अस्थिर मनवाला

५. संगवकाल में (सूर्योदय के बाद छः से बारह घड़ी तक का काल । प्रातःकाल से लेकर तीन मुहूर्त तक का समय)

फिर उसी दिन सायंकाल के समय दादाखाचर के राजभवन में पूर्वीद्वार के कक्ष के बरामदे में गद्दी-तकिया बिछे पलंग पर विराजमान हुए थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कण्ठ में मोगरे के पुष्पों का हार पहना था और अपने मुखारविन्द के समक्ष मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

उनके समक्ष साधु दुक्कड़-सरोद बजाकर कीर्तन गा रहे थे। तो कीर्तन भक्ति जब कर चुके तब श्रीजीमहाराज ने ऐसी आज्ञा की कि "**हमारी लिखी हुई जो शिक्षापत्री है, उसका पाठ हमारे आश्रित जो त्यागी साधु तथा ब्रह्मचारी तथा गृहस्थ स्त्री-पुरुष; वे सभी प्रतिदिन करें** और जिसे पढ़ना न आता हो, वे प्रतिदिन श्रवण करें और जिसे श्रवण करने का योग न मिले, वे शिक्षापत्री की नित्य पूजा करें। ऐसा हमने शिक्षापत्री में ही लिखा है। **इसलिए इन तीनों में से जिसे फर्क**[१] **हो जाये, वे एक उपवास करें, ऐसी हमारी आज्ञा है।**" इस प्रकार की श्रीजीमहाराज की जो आज्ञा है, उसे पालन करने का नियम उन सभीने धारण किया कि "हे महाराज ! आप जैसा कहते हैं वैसा हम लोग पालन करेगें।" उसे सुनकर श्रीजीमहाराज अतिशय प्रसन्न होकर सभी साधुओं को तथा ब्रह्मचारी को गले मिले और समस्त सत्संगियों के हृदय पर अपने चरणारविन्द दिए।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ।१॥२२४॥

वचनामृत २ : 'सभी अर्थ सिद्ध होने का - प्रकट गुरुरूप हरि का'

संवत्* १८८२ के ज्येष्ठ शुक्ल ६ षष्ठी के दिन सायंकाल के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के प्रांगण में पूजा चौकी पर विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर श्याम पल्ले की श्वेत पाग बाँधी थी, सफेद चद्दर ओढ़ी थी, सफेद खेस पहना था, पाग में मोगरा के पुष्पों का तुर्रा लगाया था और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

---

*दि. ११-६-१८२६, रविवार **१.** चूक

तब श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि "जगत को नाशवान देखता है और देह का त्याग करके चैतन्य अलग हो जाता है, उसे भी देखता है, तो भी इस जीव को जगत की प्रधानता हृदय से मिटती नहीं है। और परमेश्वर को सभी प्रकार से सुख के सिन्धु[१] जानता है तो भी परमात्मा में जीव का चित्त लगता नहीं है, उस तरह उसके हृदय में सत्संग भी मुख्य नहीं होता है, और धन, स्त्री आदिक जो सांसारिक पदार्थ हैं, उनमें से प्रीति मिटती नहीं है। उसका कारण क्या होगा ?" फिर मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि "जीव के हृदय में वैराग्य न होने से जगत की प्रधानता नहीं मिटती है और भगवान में प्रीति नहीं होती है।" तब श्रीजीमहाराज बोले कि "वैराग्य की न्यूनता है, यह तो बात सच्ची है; परन्तु हमें तो ऐसा लगता है कि जिसे सत्संग होते-होते[२] जैसा अंग बँधता है, वैसे के वैसा सदैव रहता है, लेकिन उसके बिना दूसरा नहीं होता[३] है। और सत्संग से उस अंग की पुष्टि तो होती है, लेकिन अंग तो वही का वही रहता है। और जब जिसे जो अंग बँधता है, तब अंग बँधते वक्त उसका चित्त विभ्रान्त जैसा हो जाता है। जैसे कामी हो, उसका चित्त काम से विभ्रान्त होता है, तथा जैसे क्रोधी हो, उसका चित्त क्रोध से विभ्रान्त होता है, तथा जैसे लोभी हो, उसका चित्त लोभ से विभ्रान्त होता है, उस तरह उसका चित्त अंग बँधते समय विभ्रान्त हो जाता है। फिर उस विभ्रान्ति[४] में जैसा अंग बँधता है, वैसा अंग रहता है। इसलिए जो ज्ञानी हो, उन्हें अपना जो अंग हो, उसे परखके रखना चाहिए। तो जब काम क्रोधादि से अपनेको विक्षेप होता हो तब अपने अंग का विचार किया जाये तो वे कामादिक क्षीण हो जाते हैं। जैसे कोई गृहस्थ हो, उसकी अपनी माता, बहन और पुत्री; जो अतिशय स्वरूपवान हो, उसे देखकर यदि बुरा संकल्प हो जाये तो फिर उसकी कैसी वेदना होती है ? वैसी वेदना जब सत्संग के बिना दूसरा पदार्थ प्रधान हो जाये तब होनी चाहिए। और जब ऐसी वेदना अयोग्य पदार्थ के संकल्पों को देखकर न होती हो, उसके

१. समुद्र २. जब भगवान का निश्चय होता है, तब। ३. उसमें किसे आत्मनिष्ठा की प्रकृति बँधती है, किसे दासपना की प्रकृति बँधती है, तो किसे पतिव्रता की प्रकृति बँधती है।
४. विभ्रम, भ्रांति दशा में।

हृदय में तो सत्संग भी प्रधान नहीं रहता है । **समस्त साधनों के फलरूप तो यह सत्संग है,** उसे श्रीकृष्ण भगवान ने उद्धवजी के प्रति एकादश स्कन्ध में कहा है कि '**अष्टांगयोग तथा सांख्यविचार, शास्त्र पठन तथा तप, त्याग, योग, यज्ञ एवं व्रतादिक से मैं ऐसा वश नहीं होता हूँ, जैसा सत्संग से वश होता हूँ ।**' इसलिए हमें तो ऐसा लगता है कि **पूर्व जन्म का संस्कार होगा, वह भी सत्पुरुष के योग से हुआ होगा, और आज भी जिसे संस्कार होता है, वह सत्पुरुष के योग से ही होता है ।** इसलिए ऐसे सत्पुरुष का सत्संग प्राप्त हुआ है, तो भी जिसे जैसा है वैसा समझ में नहीं आता है, उसे अतिशय मन्द बुद्धिवाला जानें । क्योंकि जैसी श्वेतद्वीप में सभा है तथा जैसी गोलोक, वैकुण्ठलोक में सभा है तथा जैसी बद्रिकाश्रम में सभा है, उनसे भी मैं इस सत्संगी की सभा को अधिक जानता हूँ और सभी हरिभक्तों को अतिशय प्रकाश से युक्त देखता हूँ । इनमें यदि लेशमात्र भी मिथ्या कहते हैं, तो **इस सन्त सभा की सौगंध है ।** तो सौगंध क्यूं खानी पड़ती है ? क्योंकि, सबको ऐसी अलौकिकता समझ में आती नहीं है और दिखने में भी आती नहीं है, इसलिए सौगंध खानी पड़ती है । और ब्रह्मादिक को भी दुर्लभ ऐसा जो यह सत्संग है, उनमें आकर परमेश्वर के सिवा जिसे दूसरे पदार्थ में प्रीति रहती है, उसका कारण यह है कि '**जैसी इस जीव को परोक्ष**[१] **में प्रतीति है वैसी प्रत्यक्ष**[२] **में दृढ़रूप से प्रतीति नहीं होती है ।**' **उसे श्रुति में कहा है कि 'जैसी परोक्ष देव में जीव को प्रतीति है, वैसी यदि प्रत्यक्ष गुरुरूप हरि में आ जाये, तो जितने अर्थ**[३] **प्राप्त होनेवाले कहे हैं, उतने सभी अर्थ उसे प्राप्त होते हैं ।' और जब ऐसा सन्त समागम प्राप्त हुआ, तब देह छोड़कर जिसे प्राप्त करने थे वे तो इसी देह में**[४] **मिल गए है ।** इसलिए जिसे परमपद कहते हैं, मोक्ष कहते हैं, वह तो इस जीवन में ही प्राप्त हो चुका है। और यह वार्ता जो कही, वह दिखती तो स्थूल जैसी है परन्तु वह तो अतिशय सूक्ष्म है । तो जो इस तरह रहता है, उसे ऐसा समझ में आता है कि 'यह वार्ता

१-२. भगवद् स्वरूप में ३. चार पुरुषार्थ ४. जन्म में ।

अति सूक्ष्म हैं । और दूसरे को तो समझ में भी नहीं आती है, ऐसी अतिशय सूक्ष्म वार्ता है ।' इसप्रकार वार्ता करके श्रीजीमहाराज ''जय सच्चिदानन्द'' कहकर अपने निवासस्थान पर पधारे ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥२॥२२५॥

वचनामृत ३ : 'दया और स्नेह का'

संवत्* १८८३ के आषाढ़ कृष्ण १ प्रतिपदा के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवासस्थान पर विराजमान थे । और उसी दिन ठक्कर हरजी ने अपने घर पर श्रीजीमहाराज को पधारने को कहा, तब श्रीजीमहाराज वहाँ पधारे । फिर पूर्वी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया बिछवाकर श्रीजीमहाराज को विराजमान किये, फिर हरजी ठक्कर ने श्रीजीमहाराज की केसर-चन्दनादिक से पूजा की । इस तरह श्रीजीमहाराज पूर्व की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कण्ठ में मोगरे के फूलों के हार तथा दोनों भुजाओं में मोगरे के फूलों के गजरे तथा पाग में इन्हीं पुष्पों के तुर्रे अतिशय विराजमान थे और श्रीजीमहाराज के मुखारविन्द के सन्मुख मुनिमण्डल तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

उस समय श्रीजीमहाराज ने सभी सन्त मण्डल को प्रश्न पूछा कि ''जिस हरिभक्त के हृदय में दया और स्नेह; ये दोनों स्वाभाविकरूप से रहते हों, तब स्नेह का स्वरूप तो शहद जैसा है, जो जहाँ-तहाँ चिपकता[१] है, तथा दया का स्वभाव ऐसा है कि जहाँ-तहाँ दया करता है । तब भरतजी ने मृग पर दया की थी, तो उस मृगी के उदर से जन्म लेना पड़ा । और जो दयावान हो, उसे जिस पर दया आती है, उसके साथ स्नेह हुए बिना रहता नहीं है । और उस **दया तथा स्नेह को टालने का उपाय तो आत्मज्ञान तथा वैराग्य ये दोनों हैं ।** वह आत्मज्ञान ऐसा है कि जिसमें दूसरा कुछ प्रवेशता ही नहीं है । और

*दि. २०-७-१८२६, गुरुवार **१.** तुच्छ पदार्थ में भी स्नेह हो जाता है ।

वैराग्य का ऐसा स्वरूप है कि सभी नामरूप को नाशवान बताता है । इसलिए आत्मज्ञान और वैराग्य; इन दोनों से दया और स्नेह का नाश हो जाता है । और स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण; इत्यादिक सभी उपाधियों का भी नाश हो जाता है और केवल ब्रह्मसत्तामात्र रहता है । फिर उसे भगवान तथा भगवान के भक्त में दया और स्नेह रहता है या नहीं रहता है ? यह प्रश्न है ।'' तब मुक्तानन्द स्वामी तथा शुकमुनि तथा नित्यानन्द स्वामी इत्यादिक परमहंसों ने जिनकी जैसी दृष्टि पहुँची वैसा उन्होंने उत्तर किया । परन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का यथार्थ समाधान हुआ नहीं ।

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''लीजिए, हम उत्तर करते हैं, इसका तो उत्तर यह है कि ज्ञान तथा वैराग्य से तीन शरीर, तीन अवस्था और तीन गुण; इन सभी मायिक उपाधियों से चैतन्य अलग हो जाता है और केवल सत्तामात्र रहता है, परन्तु मायिक उपाधि का लेश भी नहीं रहता है । तब जैसे दीपक का अग्नि तो दीअली[१], तेल तथा बाती; इन तीनों के योग से दृष्टिगोचर होता है तथा ग्रहण करने में आता है, परन्तु जब इन तीन प्रकार की उपाधियों का संग छूट जाता है तब वह अग्नि किसीकी दृष्टि में भी नहीं आता है और ग्रहण भी नहीं होता है; और उपाधियों से[२] युक्त हो तब ही दृष्टि में आता है तथा ग्रहण करनें में आता है, उस तरह ज्ञान वैराग्य द्वारा सभी मायिक उपाधियों की निवृत्ति हो जाती है, तब यह जीवात्मा है वह केवल ब्रह्मसत्तामात्र रहता हैं और वह मन-वाणी से अगोचर है तथा किसी भी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं किया जा सकता । फिर उस समय तो उसे **यदि शुद्ध सम्प्रदाय से भगवान का ज्ञान प्राप्त हुआ हो और भगवान तथा भगवान के भक्त का माहात्म्य यथार्थरूप से समझ में आया हो, उसे तो समस्त मायिक उपाधियों का संग टल जाता है और अपना जीवात्मा ब्रह्मरूप हो जाये तो भी भगवान तथा भगवान के भक्त के प्रति जो दया तथा प्रीति; वे निरन्तर रहती हैं ।** वहाँ दृष्टान्त है कि 'जैसे दीपक की ज्योति है, उसे जब उपाधि का संग मिट जाता है तब वह अग्नि किसी भी इन्द्रिय से ग्रहण न हो सके ऐसा आकाश में रहता है, तो भी उस

१. मिट्टी का दीआ जिसमें इन्धन रखा जाता है । २. इन तीनों वस्तुओं के संग से ।

अग्नि में सुगन्ध और दुर्गन्ध का जो पाश[१] लगा हो वह नहीं मिटता। जैसे वायु है, वह तो अग्नि से भी अधिक असंगी है, तो भी उसे सुगन्ध और दुर्गन्ध का पाश लगता है। वैसे ही जीवात्मा को ज्ञान-वैराग्य से मायिक उपाधि का संग मिट जाता है तो भी सत्संग का जो पाश लगा है, वह टलता नहीं है। और वह ब्रह्मरूप होता है तो भी नारद, सनकादिक और शुकजी की तरह भगवान तथा भगवान के भक्त में अतिशय दया और प्रीति से युक्त रहता है, वहाँ श्लोक है कि

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया ।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ॥[२]

तथा

हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान्[३] **बादरायणि: ।**
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रिय: ॥

तथा

'आत्मारामाश्च[४] **मुनियो'** तथा **'प्रायेण**[५] **मुनियो राजन् ॥'** एवं गीता में कहा है कि

ब्रह्मभूत:[६] **प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।**
सम: सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥[६]

इत्यादिक बहुत से श्लोक से प्रतिपादन किया है कि 'भगवान के भक्त हो, वे ज्ञान-वैराग्य से मायिक उपाधियों का त्याग करके ब्रह्मरूप हुए हों तो भी भगवान तथा भगवान के भक्त के प्रति दया तथा प्रीति से युक्त रहते हैं।' और जो भगवान का भक्त नहीं है, केवल आत्मज्ञान और वैराग्य से मायिक

१. असर, गहरा प्रभाव २. पंचाला-२ की टिप्पणी में अर्थ है।

३. भगवान के गुणों से जिसकी बुद्धि आकर्षित हुई है और विष्णुजन जिन्हें प्रिय है ऐसे भगवान शुकमुनि भागवतरूप जो बड़ा आख्यान उसे निरंतर पढ़ते (अध्ययन) थे। (भाग. १/७/११)

४. पंचाला-२ की टिप्पणी में अर्थ है।

५. अधिकतर विधि-निषेध की अटपटी क्रियाओं में से निवृत्त हुए, निर्गुणावस्था में रहते मुनि, भगवान के चरित्ररूप गुणों का गान करते हैं। (भाग. २/१/७)

६. लोया-७ की टिप्पणी में अर्थ दिया हुआ है।

उपाधियों को नष्ट करके सत्तामात्र रहता हो, उसे तो साधन दशा में भगवान की उपासना से रहित ऐसे जो केवल आत्मज्ञानी हैं, उनके संगरूप कुसंग का पाश लगा है; इसलिए भगवान तथा भगवान के भक्त के प्रति दया और स्नेह नहीं होते हैं। जैसे वायु तथा अग्नि को दुर्गन्ध का पाश लगा है, उसी तरह उसे भी उस कुसंग का पाश लगा है, जो किसी प्रकार से टलता नहीं। जैसे अश्वत्थामा ब्रह्मरूप हुआ था, परन्तु उसे कुसंग का पाश लगा था; इसलिए श्रीकृष्ण भगवान तथा उन भगवान के भक्त जो पाण्डव; उनके प्रति दया तथा स्नेह नहीं हुए। उस तरह **जो केवल आत्मज्ञानी हैं वे ब्रह्मरूप होते हैं तो भी उसे कुसंग का पाश मिटता नहीं है और भगवान तथा भगवान के भक्त में दया तथा स्नेह नहीं होते हैं। इसलिए भगवान के भक्त को तो मायिक उपाधियों का संग मिट जाता हैं, तो भी भगवान तथा भगवान के भक्त, उनमें अतिशय दया और प्रीति वृद्धि को प्राप्त होती है। परन्तु किसी भी प्रकार से दया तथा प्रीति मिटती नहीं है, अखण्ड रहती है।''** इस प्रकार से वार्ता करके श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहकर अपने निवासस्थान पर पधारे।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥३॥२२६॥

वचनामृत ४ : 'बाधितानुवृत्ति का'

संवत्* १८८३ के श्रावण शुक्ल ३ तृतीया के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवासस्थान पर अटारी के बरामदे में गद्दी-तकिया बिछवाकर उत्तर की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के समक्ष मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''भगवान का भक्त हो, और वह ज्ञान वैराग्य से युक्त हो, तथा विचार के बल से स्वयं को बन्धनकारी ऐसी जो मायिक पदार्थ

*दि. ६-८-१८२६, रविवार

में प्रीति, उसका नाश कर दिया हो, तो भी उस भक्त को जब तक निर्विकल्प समाधि नहीं होती है, तब तक बाधितानुवृत्ति[१] रह जाती है। उससे[२] विचार में ऐसा रहता है कि 'शायद मुझे माँ, बाप, स्त्री, पुत्र, द्रव्य, कुटुम्ब, देह, गेह; उनमें प्रीति रह न गई हो ?'' ऐसे डरता रहता है। जैसे कोई शूरवीर पुरुष हो, उसने अपने समस्त शत्रुओं को मार डाला हो, तो भी उस मृत शत्रुओं से कभी-कभी डर जाता है तथा स्वप्न में उन शत्रुओं को देखता है तब भयभीत हो जाता है। उस तरह से उस ज्ञानी भक्त को भी, जिन-जिन पदार्थों को अन्तर में से मिथ्या कर दिया है और उनमें से प्रीति तोड़ दी है तो भी बाधितानुवृत्ति से अन्तर में मायिक पदार्थ के बन्धन से डर लगता है। अथवा धन-कलत्रादिक[३] पदार्थ की किसी समय स्मृति हो आती है तब मन में भय लग जाता है कि 'शायद मुझे बन्धन हो जाये' ! इस तरह से **जो पदार्थ अन्तर में से असत्य कर दिये, उन पदार्थों की स्मृति हो जाय, उसे बाधितानुवृत्ति कहते हैं।** वह बाधितानुवृत्ति जब निर्विकल्प समाधि होती है तब नाश होती है और उस पुरुष को खाने-पीने का तथा दिन-रात का तथा सुख-दुःख का, कोई पता नहीं रहता है। और जब उस निर्विकल्प समाधि में से बाहर निकलता है, और सविकल्प समाधि में रहता है तब बाधितानुवृत्ति रहती तो है। इसलिए उस हरिभक्त को बुखार आये अथवा देह छूटने का समय हो तब बाधितानुवृत्ति के योग से भगवान के सिवा दूसरे पदार्थ की भी कभी स्मृति हो आती है और उस समय पर जो बोला जाता है तो वह प्रलाप[४] जैसा बोला जाता है। और 'ओई बाप, ओई माँ' ऐसे बचन भी बोले जाते हैं। तब जो इस बाधितानुवृत्ति के मर्म को न समझता हो, उसके हृदय में उस हरिभक्त का अवगुण आ जाता है कि 'यह भगवान का भक्त कहलाता था और अन्तकाल में ऐसा क्यों प्रलाप करता है ?' ऐसा जो अवगुण लिया जाता है, वह बाधितानुवृत्ति का मर्म जाने बिना लिया

१. बाधितानुवृत्ति यानी नष्ट वासना की पुनरावृत्ति; जैसे बर्तन में से सुगंध-दुर्गंध युक्त पदार्थ निकाल ने के बाद भी उसका अंश उसमें रहता है, वैसे चित्त में वासना का भ्रम होता है, वह।
२. बाधितानुवृत्ति से ३. धन-स्त्री आदि ४. बकवाद

जाता है। इस संसार में कितने पापी मनुष्य होते हैं, और वे अन्त समय में बोलते-चलते खबरदार होकर देह का त्याग करते है अथवा कोई सिपाही या राजपूत हो, और उसे शरीर में घाव लगने से खबरदार होता हुआ तथा बोलते-चलते मर जाता है । इसलिए भगवान से विमुख हो, और वह खबरदार रहता हुआ शरीर का त्याग करता है, तो भी क्या उसका कल्याण होता है ? उसका तो नरक में ही निवास होता है । और **भगवान का भक्त हो, वह भगवान का नाम-स्मरण करता हुआ शरीर त्याग करता है अथवा बाधितानुवृत्ति के योग से बेहोश होकर प्राण त्याग करता है तो भी भगवान का वह भक्त भगवान के चरणारविन्द को ही प्राप्त होता है ।''**

और उसी दिन संध्या के समय श्रीजीमहाराज अपने निवासस्थान में अटारी के बरामदे में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख साधु तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज ने बड़े-बड़े परमहंसों के प्रति प्रश्न पूछा कि ''इस देह में जीव रहता है, वह एक स्थान में किस तरह से रहता है और समस्त शरीर में किस तरह से व्याप्त होकर रहता है, उसे कहिए ?' फिर जिसको जैसा लगा, उसने वैसा कहा, परन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का किसीसे समाधान हुआ नहीं। तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जैसे देह में अन्नादिक रस का विकार वीर्य है, उस तरह पञ्च महाभूत के विकाररूप ऐसा एक मांस का चक्र हृदय में है, उसमें जीव रहता है । वह जैसे चिथड़े का पलीता हो, उसे तेल में भिगोकर आग से सुलगाया हो, उसी तरह जीव है वह तो मांस के चक्र के साथ चिपटकर रहता है । और फिर जैसे लोहे की कील हो, उसमें अग्नि व्याप्त हुआ हो, उस तरह मांस के चक्र में जीव तो विशेष सत्ता से व्याप्त होकर रहता है और सामान्य सत्ता से सारे शरीर में व्याप्त होकर रहता है । इसलिए जिस-जिस जगह पर देह में दुःख होता है वह सभी दुःख जीव को ही है, परन्तु शरीर के सुख-दुःख से वह जीव भिन्न नहीं कहलाता है । और कोई ऐसा कहेगा कि 'जीव तो प्रकाशमान है और मांस का चक्र तथा देह तो प्रकाश से रहित है, तो उन

दोनों को एक दूसरे से मिले हुए कैसे कहा जाता है ? तो इसका उत्तर ऐसा है कि जैसे तेल, दीअली[१] और बाती; उनके सम्बन्ध बिना अकेली अग्नि की ज्योति आकाश में आधारहीन[२] नहीं रहती है। उस तरह पञ्चभूत का विकाररूप ऐसा जो मांस का चक्र, उसके सम्बन्ध बिना अकेला जीव नहीं रहता है। और जैसे दीअली से, तेल से और बाती से अग्नि अलग है, तो दिअली के टूटने से अग्नि का नाश नहीं होता है, उस तरह मांस के चक्र में और देह में जीव व्याप्त होकर रहता है तो भी देह के मरने से जीव मरता नहीं है। और देह के साथ सुख-दुःख को तो प्राप्त होता तो है, परन्तु देह के जैसा उस जीव का नाशवान स्वभाव नहीं है। इस तरह से जीव अविनाशी है तथा प्रकाशरूप है और देह में व्यापक है। और जैसे मन्दिर में एक स्थान पर दीपक रखा हो, उस दीपक की अग्नि की ज्योति विशेषरूप से तो बाती पर व्याप्त होकर रहती है और सामान्यरूप से तो सारे घर में व्याप्त होकर रही है। उस तरह **जीवात्मा है, वह भी विशेषरूप से तो पञ्च महाभूत का विकाररूप जो मांस का चक्र है उसमें व्याप्त होकर रहता है और सामान्यरूप से तो सर्व शरीर में व्याप्त होकर रहता है। इस तरह से इस देह में जीव रहता है, और उस जीव में परमेश्वर भी साक्षीरूप से रहते हैं[३] ।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥४॥२२७॥

वचनामृत ५ : 'माहात्म्ययुक्त भक्ति का'

संवत्* १८८३ के भाद्रपद शुक्ल ११ एकादशी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कक्ष के बरामदे में गद्दी-तकिया पर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कण्ठ में मोगरे के पुष्पों के हार पहने थे, पाग में मोगरा के पुष्प के तुर्रे विराजमान थे, हाथ पर मोगरे के पुष्पों के गजरे विराजमान थे और अपने मुखारविन्द के आगे मुनिमण्डल तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

*दि. १२-९-१८२६, मंगलवार **१.** मिट्टी का दीआ जिसमें इन्धन रखा जाता है

२. उपर-उपर आकाश में। **३.** वह जीव को उपासना करने योग्य है।

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा कि "कोई प्रश्न पूछिए ?" तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि "हे महाराज ! भगवान की जो भक्ति है, उसमें किसी प्रकार का विघ्न न हो, ऐसी तो कौन-सी भक्ति है ? तथा जिस भक्ति में कुछ विघ्न होता है वह किस प्रकार की भक्ति है ?" तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "तृतीय स्कन्ध में 'कपिलगीता' में माता देवहूति ने कपिलजी के प्रति कहा है कि

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्यत्प्रहूणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कथं पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥
अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥[१]

इन दोनों श्लोकों से भगवान का जैसा माहात्म्य कहा है तथा कपिलजी ने माता देवहूति के प्रति अपना माहात्म्य कहा है कि

मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात् ।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात् ॥[२]

इस प्रकार माहात्म्य सहित भगवान की भक्ति हो, उसमें तो किसी प्रकार का विघ्न आता नहीं है और माहात्म्य जाने बिना प्राकृत बुद्धि से जो भक्ति करता है, तो उसमें विघ्न आता है ।"

---

१. हे भगवन् ! कदाचित् यदि जो आपके नामका श्रवण-कीर्तन करने से और प्रणाम करने से और आपका स्मरण करने से श्वपच भी तत्काल यज्ञ करने जैसा पवित्र माना जाता है अर्थात् पवित्र होता है तो आपके दर्शन से पवित्र होता है और कृतार्थ होता है उसमें क्या कहना ? यह एक आश्चर्य की बात है कि श्वपच को भी जिह्वाग्र में आपका नाम है वह श्वपच भी आपके नामोच्चारण से आपकी भक्ति से रहित ऐसे कर्मठों से श्रेष्ठ बनता है और जिन लोगों ने आपके नामका उच्चारण किया है उन्होंने ही तप किया है उन्होंने हि होम किया है एवं तीर्थ में स्नान किया है वे ही सदाचारवाले हैं, उन्होंने ही वेद का अभ्यास किया है ऐसा जाने ।

(भाग. ३-३३/६-७)

२. समग्र जगत को सुख देनेवाला यह वायु मेरे भय से बहता है । सूर्य मेरे भय से तपता है इन्द्र मेरे भय से बरसता है । अग्नि मेरे भय से जलाता है । मृत्यु मेरे भय से प्राणियों में विचरण करता हैं । (भाग. ३/२५/४२)

फिर तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''इस माहात्म्य युक्त भक्ति आने का क्या साधन है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''**शुक-सनकादिक जैसे जो बड़े पुरुष हैं, उनकी जो सेवा तथा प्रसंग; उनमें से माहात्म्य सहित रही ऐसी जो भक्ति है, वह जीव के हृदय में उदय होती है ।**''

फिर शुकमुनि ने पूछा कि ''एक तो भगवान का भक्त ऐसा है कि उसे भगवान का निश्चय भी परिपक्व है, तथा काम, क्रोध, लोभ, मोहादिक जो विकार हैं, वे एक भी उसके हृदय में आते नहीं है, और दूसरा भक्त है, उसे तो भगवान का निश्चय परिपक्व है, परन्तु काम, क्रोध, लोभ, मोहादिक विकारों से अन्तर में विक्षेप होता है । ये दो प्रकार के भक्त जब देह का त्याग करते हैं तब इन दोनों भक्तों को भगवान के धाम में समान सुख की प्राप्ति होती है या अधिक-न्यून सुख की प्राप्ति होती है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''भगवान के जिस भक्त को भगवान का निश्चय भी परिपूर्ण हो और काम, क्रोध, लोभादिक से विक्षेप को न प्राप्त होता हो, और अतिशय त्यागी तथा अति वैराग्यवान तथा अति आत्मनिष्ठावाला हो और यदि वह प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण भगवान की मूर्ति के सिवा कुछ भी दूसरे की इच्छा रखता है तो उसे न्यून सुख की प्राप्ति होती है । और दूसरा जो भक्त है उसे भी भगवान का निश्चय तो परिपूर्ण है तो भी हृदय में काम, क्रोध, लोभ, मोहादिक का विक्षेप आता है तब अपने हृदय में परिताप होता है तथा भगवान जो प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण उनकी मूर्ति के बिना दूसरे कोई पदार्थ की इच्छा नहीं रखता है, उसे आत्मनिष्ठा, वैराग्य यदि कम है तो भी वह देह का त्याग करके भगवान के धाम में बहुत बड़े सुख को प्राप्त होता है । क्योंकि प्रथम कहा जो भक्त है, वह ऊपर से तो त्यागी एवं निष्कामी दिखाई देता है, परन्तु भगवान की मूर्ति के बिना दूसरी आत्मदर्शनादिक प्राप्ति की हृदय में इच्छा है इसलिए वह सकाम भक्त कहलाता है । और उसे परलोक में जरूर न्यून सुख की प्राप्ति होती है । और जो दूसरा भक्त कहा, वह ऊपर से तो सकाम जैसा दिखता है, परन्तु वह भक्त भगवान की मूर्ति के बिना हृदय में दूसरा कुछ भी चाहता नहीं है, और भगवान की मूर्ति के बिना अन्य सुख

की इच्छा का यदि संकल्प हो जाये तो मन में अतिशय परिताप होता है, इसलिए वह निष्काम भक्त कहलाता है । वह जब शरीर का त्याग करता है तब बहुत बड़े सुख को प्राप्त होता है तथा भगवान का पार्षद होता है और श्रीकृष्ण भगवान की मूर्ति में अतिशय प्रीति से युक्त होता है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥५॥२२८॥

वचनामृत ६ : 'जीव और मन की मित्रता का'

संवत्* १८८३ के भाद्रपद कृष्ण ५ पञ्चमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवासस्थान पर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज समस्त हरिभक्तों पर कृपादृष्टि करके बोले कि ''भगवान का भक्त हो और भगवान की कथा, कीर्तन, श्रवणादिक जो नवधा भक्ति है, उसे यदि हरिभक्त के साथ ईर्ष्या रखकर करता है, तो उस भक्ति से भगवान अतिशय प्रसन्न नहीं होते हैं और ईर्ष्या का त्याग करके केवल अपने कल्याण के लिए भक्ति करता हो परन्तु लोक को दिखाने के लिए न करता हो तो उस भक्ति से भगवान प्रसन्न होते हैं । इसलिए **जिसे भगवान को प्रसन्न करना है, वह तो लोक रिझावन के लिए तथा किसी की ईर्ष्या से भक्ति न करें, केवल अपने कल्याण के लिए ही करें ।** और भगवान की भक्ति करते हुए अपनेसे कुछ अपराध हो जाये, उसका दोष दूसरे के सिर पर आरोपण न करें। और **जीवमात्र का तो ऐसा स्वभाव है कि** जब अपनी कुछ भूल दिखती है तब ऐसा कहता है कि 'मुझे दूसरे किसी ने भुलाया तब मुझसे भूल हुई परन्तु मुझमें कोई दोष नहीं है ।' किन्तु ऐसा कहनेवाला महामूर्ख है । क्योंकि दूसरा तो कोई कहेगा कि 'तू कुएँ में गिर जा ।' तब उसके कहने से क्या कुएँ में गिर जायें ? इसलिए **दोष**[१] **तो गलती करता है उसका ही है** और दूसरे के

*दि. २१-९-१८२६, गुरुवार **१.** गुनाह

सिर दोष देता है । उसी तरह ही इन्द्रियाँ और अन्तःकरण का दोष निकालना, ये भी जीव की मूर्खता ही है । **जीव और मन तो परस्पर अति मित्र हैं ।** जैसे दूध की तथा पानी की मित्रता है, उस तरह जीव को तथा मन को मित्रता है । तो जब दूध और पानी को मिलाकर अग्नि पर रखते हैं तब पानी दूध के नीचे बैठ जाता है और स्वयं जलता है परन्तु दूध को जलने नहीं देता है, तब दूध भी पानी को बचाने के लिए स्वयं उफनकर आग को बुझा देता है । इस तरह दोनों को परस्पर मित्राचारी है । उसी तरह जीव को तथा मन को परस्पर मित्रता है । तो जो बात जीव को अच्छी न लगती हो, उस बात का मन में संकल्प होता ही नहीं है । जब जीव को कुछ अच्छा लगता हो, तब ही मन जीव को समझाता है । तो कैसे समझाता है ? तो जीव जब भगवान का ध्यान करता है, तब मन कहेगा कि 'भगवान की भक्त कोई स्त्री हो, उसका भी साथ में ध्यान करें ।' फिर उसके सभी अंगों का चिन्तन कराकर, फिर जैसे दूसरी स्त्री के प्रति दुर्विचार करता है, उस तरह उनके प्रति[१] दुर्विचार करता है; तब यदि उस भक्त का जीव अतिशय निर्मल हो, तब तो मन का कहा नहीं मानता है और अतिशय रोष होता है, तो मन ऐसा फिर से कभी भी संकल्प नहीं करता। और यदि उसका जीव मलिन होता है और पाप से युक्त होता है, तो मन का कहा मानता है । तब फिर मन उसे अशुभ संकल्प करा कराके कल्याण के मार्ग से गिरा देता है । इसलिए कल्याण के मार्ग से विपरीत रीति से अधर्म की बात को अपना मन कहे या दूसरा कोई मनुष्य कहे, तो उनके साथ जो शुद्ध मुमुक्षु है, उसे अतिशय वैर हो जाता है । फिर अपना मन अथवा दूसरा मनुष्य तो फिर से उसीकी उसी बात को कहने नहीं आता है । और **मन है, वह तो जीव का मित्र ही है, तो जीव को अप्रिय लगे ऐसा संकल्प करता ही नहीं है । और जब मन को कोई अयोग्य संकल्प हो जाता है तब, यदि जीव को मन पर अतिशय रोष आता हो तो फिर से मन में ऐसा संकल्प होता ही नहीं है ।** और जब मन को सदैव अयोग्य संकल्प होते रहते हो तब

१. स्त्री भक्त के प्रति ।

उसे अपने जीव का ही दोष समझना है, परन्तु अकेले मन की गलती न समझें। इस तरह समझकर भगवान की भक्ति करता है तो उसे किसी विमुख जीव का तथा अपने मन का जो कुसंग है, वह लेशमात्र भी नहीं छू सकता और निर्विघ्न होकर भगवान का भजन करता है।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥६॥२२९॥

वचनामृत ७ : 'वज्र की कील का'

संवत्* १८८३ के भाद्रपद कृष्ण ६ षष्ठी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवासस्थान में गद्दी-तकिया पर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और कण्ठ में मोगरा के पुष्पों के हार पहने थे, पाग में मोगरा के पुष्पों के तुर्रे विराजमान थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज सभी हरिभक्तों के प्रति बोले कि 'हमारे अन्तर का जो सिद्धान्त है, उसे कहते है कि **जिसे अपने कल्याण की इच्छा हो उसे तो भगवान तथा भगवान के साधु, उनसे अधिक दूसरा कुछ जगत में सुखदायी नहीं है। इसलिए जैसे अपने शरीर में जीव को आत्मबुद्धि रहती है, वैसी भगवान तथा भगवान के सन्त में आत्मबुद्धि रखनी चाहिए और भगवान के भक्त का पक्ष दृढ़ करके रखना चाहिए।** और उस पक्ष को रखते हुए आबरू बढ़ जाये या घट जाये, अथवा मान हो या अपमान हो, अथवा शरीर जिये या मरे, किन्तु किसी भी प्रकार से भगवान और भगवान के भक्त का पक्ष न छोडें; और उनका अभाव आने[1] न दें और भगवान के भक्त के समान देह तथा देह के सगे-सम्बन्धी को प्रिय न रखें। **इस तरह से जो हरिभक्त रहता है, उसे अति बलवान ऐसे जो काम, क्रोधादिक शत्रु; वे**

*दि. २२-९-१८२६, शुक्रवार

१. होनें

भी पराभव नहीं कर सकते । और भगवान का जो ब्रह्मपुर धाम है, उसमें भगवान सदैव साकार मूर्ति विराजमान हैं तथा भगवान के भक्त भी उन भगवान के धाम में मूर्तिमान होते हुए भगवान की सेवा में रहते हैं । उन भगवान का जिन्हें प्रत्यक्ष प्रमाण दृढ़ आश्रय हो, वे मन में ऐसा डर न रखें कि 'मैं शायद मरके भूत प्रेत हो जाउ या शायद इन्द्रलोक को ही प्राप्त हो जाऊँ या शायद ब्रह्मलोक[१] को ही प्राप्त हो जाऊँ ।' ऐसी आशंका मन में न रखें । क्योंकि जो ऐसा भगवान का भक्त होता है, वह तो भगवान के धाम को ही प्राप्त होता है, परन्तु भगवान उसे बीच में कहीं नहीं रहने देते । और जो भक्तजन हैं, वे भी अपना जो मन है, उसे परमेश्वर के चरणारविन्द में दृढ़ करके रखें । **जैसे वज्र की पृथ्वी हो, उसमें वज्र की कील लगाई हो, तो किसी भी प्रकार से निकलती[२] नहीं है । उस तरह भगवान के चरणारविन्द में अपने मन को दृढ रखें । इस तरह से भगवान के चरणारविन्द में जो अपने मन को रखता है; उसे मरकर भगवान के धाम में जाना, ऐसा नहीं है । वह तो इसी ही देह में भगवान के धाम को प्राप्त हो चुका है ।''** ऐसी वार्ता करके 'जय सच्चिदानन्द' कहकर सर्व सभा को उठने की आज्ञा की ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥७॥२३०॥

वचनामृत ८ : 'सदैव सुखी रहने का'

संवत्* १८८३ के भाद्रपद कृष्ण ९ नवमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया बिछ्वाकर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कण्ठ में मोगरा के पुष्पों के हार विराजमान थे, पाग में मोगरा के पुष्पों के तुर्रे विराजमान थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

*दि. २५-९-१८२६, सोमवार

१. ब्रह्माजी का स्थान, सत्यलोक २. उखड़ती

तब श्रीजीमहाराज ने मुनिमण्डल को प्रश्न पूछा कि "भगवान का भक्त हो, उसे ऐसा कौन सा उपाय है कि जिससे सदैव सुखी रहा जाये ?" तब बड़े-बड़े साधु थे उन्हें जैसा जिनको समझ में आया, उन्होंने वैसा उत्तर किया। फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "इसका उत्तर तो ऐसा है कि भगवान के भक्त को एक तो दृढ़ वैराग्य हो और दूसरा अतिशय दृढ़ स्वधर्म हो, और जिसने इन दोनों साधनों द्वारा सभी इन्द्रियों को जीतकर अपने वश में कर लिया हो,[१] जिसे भगवान तथा भगवान के भक्त में अतिशय प्रीति हो, जिसे भगवान तथा भगवान के भक्त के साथ अतिशय मित्रभाव रहता हो, जो कभी भी भगवान तथा भगवान के भक्त से उदास न हो जाये, और जो भगवान तथा भगवान के भक्त के संग में ही प्रसन्न रहता हो, परन्तु उसे किसी विमुख जीव का संग अच्छा न लगता हो, **ऐसे लक्षण जिस हरिभक्त के होते हैं, वह इस लोक में तथा परलोक में सदैव सुखी रहता है।** और वैराग्य तथा स्वधर्म; उनसे जिसने अपनी इन्द्रियों को वश न किया हो, तो वह भगवान तथा भगवान के भक्त के संग में रहता हुआ भी दुःखी रहता है। क्योंकि **जिसने अपनी इन्द्रियाँ न जीती हों, उसे किसी भी जगह सुख नहीं होता है।** और भगवान की भक्ति करता हो तो भी जब इन्द्रियाँ विषयों में आकृष्ट हो जाती हैं तब उस हरिभक्त के हृदय में अति दुःख होता है। इसलिए **जो अपनी सभी इन्द्रियों को जीतकर वश करता है वह ही सदा सुखी रहता है।** और जिसने सभी इन्द्रियों को जीतकर वश कर ली हो, उसी को ही वैराग्यवान और धर्मवाला जानें, परन्तु जिसकी इन्द्रियाँ वश न हुई हों, उसे वैराग्यवान तथा धर्मवाला न जानें। और **जो वैराग्यवान तथा धर्मवाला हो, उसकी तो सभी इन्द्रियाँ नियम में रहती हैं और वह सदैव सुखी रहता है।"**

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि "हे महाराज ! भगवान का भक्त हो, उसे भगवान की भक्ति में कौन सा अतिशय बड़ा विघ्न है ?" फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "**भगवान के भक्त को यह ही बड़ा विघ्न है कि जो अपने में**

१. यह मुख्य साधन है।

दोष हो, उसे देखता नहीं है, और भगवान तथा भगवान के भक्त से जिसका मन अलग हो जाये, और भगवान के उस भक्त से जो बेगरज[१] हो जाये, यह ही[२] उसे अतिशय बड़ा विघ्न है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥८॥२३१॥

वचनामृत ९ : 'जानपनारूप द्वार का'

संवत्* १८८३ के आश्विन शुक्ल ११ एकादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कक्ष के बरामदे में विराजमान थे । उन्होंने सर्वे श्वेत वस्त्र धारण किये थे, पुष्प के हार तथा गजरा विराजमान थे, पाग पर पुष्प के तुर्रे झुके हुए थे और अपने मुखारविन्द के समक्ष मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज ने सभी हरिभक्तों को कहा कि ''जो हमारे बड़े-बड़े परमहंस हैं, उनकी जैसी स्थिति है तथा समझ है, उसे हम आप सभी स्त्री-पुरुषों को कहते हैं, उसे सुनने[३] के बाद जिस तरह आप सभी रहते हैं, और जैसी आपकी स्थिति है, वैसे आप कह दिखाइए ।'' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज बोले कि ''हमारे मुनिमण्डल में जो बड़े-बड़े सन्त हैं, उन्हें ऐसा रहता है कि अपने हृदय में जो जानपना[४] है, वह भगवान के धाम का द्वार है, उस द्वार पर सभी सन्त खड़े हैं । जैसे राजा के नौकर हैं, वे राजा के महल के द्वार पर खड़े होते हुए कोई चोर-उचक्के को राजा के पास जाने नहीं देते है । और उस राजा के चाकर को ऐसी हिम्मत रहती है कि 'कोई राजा के पास विघ्न करने जाये तो उसके टुकड़े कर डालेंगे, लेकिन किसी भी प्रकार से राजा के पास पहुँचने

*दि. ११-१०-१८२६, बुधवार

१. बेपरवाह २. यह तीन दोष ।

३. आप सभी भक्तों को अपनी वैसी स्थिति अच्छी तरह से सिद्ध करनी है ।

४. स्व स्थिति का अनुभान, ज्ञान, आत्मा-परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान तथा धर्म, वैराग्य और भक्ति का हृदय में यथार्थ बोध ।

नहीं देगें ।' इस तरह हिम्मत सहित ढ़ाल, तलवार बाँधकर खड़े रहते हैं । उस तरह **ये सभी सन्त हैं, वे जानपनारूप जो भगवान के धाम का द्वार, वहाँ खड़े रहते हैं, और उस जानपना के भीतर जो अक्षरधाम, उनमें भगवान हैं, उनके दर्शन करते हैं और उन भगवान के साथ अपने हृदय में धन, स्त्री आदिक जो मायिक पदार्थ हैं, उन्हें प्रवेश नहीं करने देते है ।** और कोई मायिक पदार्थ जोर जबरजस्ती से हृदय में प्रवेश करने आता हैं, तो उसका नाश कर देते हैं, परन्तु किसी भी तरह से जिस स्थान में भगवान को हृदय में प्रस्थापित किये[१] हैं, उस स्थान पर प्रवेश करने नहीं देते और शूरवीर की तरह सावधान होकर खड़े रहते हैं । और हानि, वृद्धि, सुख-दुःख, मान-अपमान आदिक अनन्त प्रकार के विघ्न आते हैं, उनसे अपने मुकाम से डिगते नहीं है। तब कोई आशंका करे कि 'वहाँ से डिगते नहीं है, तब देह की क्रिया जो खान-पान आदिक उसे कैसे करते होंगे ?' तो उसे दृष्टान्त से कहते हैं कि जैसे पनिहारी हो, वह कुएँ पर जल भरने जाती है, तब कुएँ के किनारे पर पैर रखा हो, उसका भी ख्याल रखती है कि 'शायद कहीं कूएँ में गिर जाऊँ ?' और दूसरी वृत्ति से कूएँ से जल खींचती है । और दूसरा दृष्टान्त, जैसे कोई पुरुष घोड़े पर चढ़ा हो, तब घोड़े के पायदान पर पैर रखे हो, वहाँ भी ध्यान रखता है और घोड़े की लगाम पकड़ रखी हो, वहाँ भी ध्यान रखता है और दौड़ते समय मार्ग में वृक्ष आये, गड्ढा आये, पत्थर आये, वहाँ भी ध्यान रखता है । **इसी तरह से ये सभी साधु हैं, वे अन्तर सन्मुख दृष्टि रखकर भगवान की सेवा में भी रहते हैं और देह की क्रिया भी करते हैं, तथा अपनी स्थिति में से डिगते नहीं हैं ।**'' इस तरह से श्रीजीमहाराज ने बड़े-बड़े जो सन्त हैं, उनकी स्थिति कह दिखाई । और फिर ऐसा बोले कि ''आप सभी को भी इस तरह अन्तर सन्मुख दृष्टि रखकर निरन्तर भगवान की सेवा में रहना है और भगवान के सिवा अन्य पदार्थ को प्रिय न होने दें । इस बात की अतिशय सावधानी रखें । और जैसे राजा का चाकर है, वह राजा के पास गाफ़िल होकर खड़ा हो, तो राजा के पास

१. धारण किये है ।

चोर-उचक्के पहुँच जाते हैं, तब उस चाकर की चाकरी मिथ्या होती है । उस तरह हरिभक्त को भी भगवान के सिवा दूसरे पदार्थ में प्रीति हो जाये तो जिस स्थान पर अपने हृदय में जानपने में भगवान रहते हैं, उस स्थान पर धन, स्त्री आदिक दूसरे पदार्थ भी प्रवेश कर जाते हैं, तब उसकी भक्ति मिथ्या हो जाती है । **इसलिए अपनी भक्ति को निर्विघ्न रखकर जो परमेश्वर के चरणारविन्द को प्राप्त करने की इच्छा रखता है, वह जानपनारूप[१] जो भगवान के धाम का द्वार, वहाँ पर सावधान होकर रहें और भगवान के सिवा अन्य पदार्थ को वहाँ प्रवेश करने न दें ।**'' इस तरह श्रीजीमहाराज ने अपने समस्त भक्तजनों को शिक्षा के वचन कहें ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥९॥२३२॥

वचनामृत १० : 'वृन्दावन और काशी का'

संवत्* १८८३ के आश्विन कृष्ण १२ द्वादशी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कक्ष के बरामदे में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख साधु तथा देश-देश के सत्संगी हरिभक्तों की सभा बैठी थी ।

उस समय श्रीजीमहाराज के पास एक माध्वी सम्प्रदाय का विद्वान् ब्राह्मण आया । श्रीजीमहाराज ने उससे पूछा कि ''आपके सम्प्रदाय के ग्रन्थ में वृन्दावन को ही भगवान का धाम कहा है । और ऐसा भी कहा है कि 'महाप्रलय में भी वृन्दावन का नाश नहीं होता है ।' और शिवमार्गी हैं, वे ऐसा कहते हैं कि 'महाप्रलय में काशी का नाश नहीं होता है ।' यह बात हमारी समझ में नहीं आती है; क्योंकि महाप्रलय में तो पृथ्वी आदिक पञ्चभूत का अतिशय प्रलय हो जाता है, तब वृन्दावन तथा काशी कैसे रहते होंगे ? और किसके आधार से रहते होंगे ? इस प्रकार का अतिशय बड़ा संशय होता है ?'' ऐसी वार्ता करके

*दि. २८-१०-१८२६, शनिवार

१. ज्ञानरूप

श्रीजीमहाराज ने भागवत की पुस्तक मंगवाकर एकादश स्कन्ध में से तथा द्वादश स्कन्ध में से जो चार प्रकार के प्रलय का प्रसंग था, उसे पढ़कर सुनाया। फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "इन भागवत तथा गीता के मतों को देखने से तो, जितना प्रकृतिपुरुष से हुआ है, वह महाप्रलय में कुछ भी नहीं रहता है। यदि महाप्रलय में वृन्दावन अखण्ड रहता हो, तो उसके प्रमाण का व्यासजी के ग्रन्थ का श्लोक तथा वेद की श्रुति सुनाइए। क्योंकि, व्यासजी से दूसरे कोई बड़े आचार्य नहीं हैं और दूसरे तो जो-जो आचार्य हुए हैं, उन्होंने व्यासजी के किये ग्रन्थ का आश्रय लेकर अपने-अपने सम्प्रदाय चलायें है। इसलिए आदि आचार्य जो व्यासजी हैं, उनके जो वचन हैं, वे उन सभी आचार्यों के वचनों से अति प्रमाणरूप हैं। इसलिए व्यासजी के वचन तथा वेद की श्रुति से जो 'वृन्दावन महाप्रलय में नष्ट नहीं होता' ऐसा जो प्रमाण उसे सुनाइए, जिससे हमारा संशय निवृत्त हो जाये। और जो-जो आचार्य हुए हैं, उन्होंने पद्मपुराण के वचन से अपना-अपना मत स्थापित किया है, वह तो पद्मपुराण में क्षेपक[१] श्लोकों को मिला-मिलाकर स्थापन किया है। उन्हें जो उनके मतवाले हैं वे मानते हैं, परन्तु दूसरे कोई मानते नहीं हैं[२]। इसलिए श्रीमद् भागवत जैसे प्रसिद्ध पुराण का वचन सुनाइए तब हमें प्रतीति आये। क्योंकि व्यासजी ने वेद, पुराण, इतिहास इन सभी का सार-सार ग्रहण करके श्रीमद् भागवत किया है। इसलिए जैसा भागवत प्रमाणरूप है, वैसे दूसरे पुराण अतिशय प्रमाणित नहीं हैं और जैसी भगवद्गीता प्रमाणरूप है वैसा समग्र भारत[३] प्रमाणित नहीं है। इसलिए ऐसे बलवान शास्त्र का वचन कह सुनाइए तब हमारी हाँ होगी[४]।"

इस प्रकार के श्रीजीमहाराज के जो वचन, उन्हें सुनकर वह ब्राह्मण ऐसा बोला कि "हे महाराज ! आपने जो प्रश्न किया है, वह सत्य है, और आपके प्रश्न का उत्तर करने में इस पृथ्वी पर कोई समर्थ नहीं है और मेरे मन को तो

१. अपनी इच्छानुसार नये बनाये हुए अतिरिक्त श्लोक।

२. ऐसा कितने ही विद्वान् कहते हैं।

३. महाभारत ४. हमें मानने में आये।

आपके स्वरूप की दृढ़ प्रतीति आई है कि 'आप तो समस्त आचार्यों के आचार्य हैं और ईश्वरों के ईश्वर हैं ।' इसलिए मुझे[1] आपका जो सिद्धान्त है, उसे कृपा करके कहिए ।'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि[2] ''**वेद, पुराण, इतिहास तथा स्मृतियाँ; इन सभी शास्त्रों में से हमने यह सिद्धान्त किया है कि 'जीव, माया, ईश्वर, ब्रह्म तथा परमेश्वर; ये सभी अनादि हैं ।** और माया है, वह तो पृथ्वी के स्थान पर है और पृथ्वी में रहते जो बीज, उनके स्थान पर जीव है और ईश्वर तो मेघ के स्थान पर है । तो परमेश्वर की इच्छा से पुरुषरूप जो ईश्वर हैं, उनका माया के साथ सम्बन्ध होता है तब जैसे मेघ के जल के सम्बन्ध से पृथ्वी में रहते जो बीज, वे सभी अंकुरित हो आते हैं, उस तरह माया में से अनादिकाल के जो जीव थे, वे उदय[3] हो आते हैं, परन्तु नये जीव[4] नहीं होते हैं । इसलिए जैसे ईश्वर अनादि है, वैसे माया भी अनादि है और उस माया में रहते जो जीव, वे भी अनादि हैं । परन्तु वे जीव परमेश्वर के अंश नहीं हैं । वे तो अनादि जीव ही हैं । वे जीव जब परमेश्वर की शरण में जाते हैं, तब भगवान की माया को तैर जाते हैं और नारद-सनकादिक की तरह ब्रह्मरूप होकर भगवान के धाम में जाते हैं और भगवान के पार्षद होते हैं । इस प्रकार से हमारा सिद्धान्त है ।'' इस तरह के श्रीजीमहाराज के जो वचन, उन्हें सुनकर

---

१. आपके प्रश्न का उत्तर और ।

२. ब्रह्मरूप अनेक मुक्तों के निवासस्थानभूत वृन्दावन नामक अपने ब्रह्मपुर धाम में श्रीकृष्ण सदाकाल विराजमान हैं । सच्चिदानन्दरूप दिव्यमूर्ति श्रीकृष्ण हैं और अक्षरब्रह्म नामक दिव्य धाम भी सदा अखण्ड रहता है । वे श्रीकृष्ण भूतकाल में प्रकट होकर व्रजभूमि में स्थित वृन्दावन में निवास करके रहे थे, जिस स्थान में श्रीकृष्ण हो, वहाँ वृन्दावन नामक ब्रह्मपुर भी निश्चयरूप से होगा ही । जो जन भगवान की इच्छा से ही दिव्य दृष्टि को पाते हैं, वे तो भगवान और उनके धाम को स्पष्ट देखते हैं । दिव्यदृष्टि पाये हुए भक्तों को भूमि पर स्थित वृन्दावन में सनातन ब्रह्मपुराधिपति श्रीकृष्ण भगवान और सनातन वृन्दावनसंज्ञित ब्रह्मपुर दिखता है । इसलिए उसकी नित्यता वे कहते हैं, परन्तु भूमिस्थ वृन्दावन की नित्यता नहीं है । जैसे राजपुरुष (राज्याधिकारी) में राजा का उपचार होता है, वैसा ही इस तरह तुम्हारे प्रश्न का शास्त्रोक्त उत्तर हुआ, अब हमारा सिद्धान्त कहता हूँ ।

३. सृष्टिरूप में, जिसे व्यष्टि कहते है ४. उत्पन्न

उस ब्राह्मण ने अपने वैष्णव मत का त्याग करके श्रीजीमहाराज का समाश्रय किया और 'उद्धव सम्प्रदाय' की दीक्षा ग्रहण की ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥१०॥२३३॥

वचनामृत ११ : 'सीताजी के जैसी समझ का'

संवत्* १८८४ के आषाढ़ शुक्ल ३ तृतीया के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के समक्ष मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि "हम एक प्रश्न पूछते हैं कि इन्द्रियाँ और मन; इन दोनों को जीतने का एक साधन है या इन्द्रियों को जीतने का अलग साधन है तथा मन को जीतने का अलग साधन है ? यह प्रश्न है ।" फिर जो बड़े-बड़े परमहंस थे, उन्हें जैसा जिनको लगा वैसा उन्होंने कहा, किन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का समाधान नहीं हुआ । फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "इसका उत्तर तो ऐसा है कि[१] **'वैराग्य, स्वधर्म, तप तथा नियम; इन चार साधनों से इन्द्रियाँ जीती जाती हैं । और भगवान की माहात्म्य सहित जो नवधा भक्ति, उससे मन जीता जाता है ।"**

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि "**जैसी निर्विकल्प समाधि में भगवान के भक्त को शान्ति रहती है, वैसी शान्ति समाधि के बिना भी रहे, ऐसा कौन सा उपाय है ?**" फिर श्रीजीमहाराज ने कहा कि "जैसी अपने देह के प्रति आत्मबुद्धि और दृढ़ प्रीति रहती है, वैसी ही भगवान तथा भगवान के भक्त के प्रति आत्मबुद्धि और दृढ़ प्रीति रहे, तो जैसी निर्विकल्प समाधि में शान्ति रहती है, वैसी शान्ति इस समाधि के बिना भी सदैव रहती है, यही इसका उत्तर है ।"

---

*दि. २७-६-१८२७, बुधवार

१. इन्द्रियाँ और मन जीतने का अलग-अलग साधन है, उसमें ।

फिर श्रीजीमहाराज ने पुनः परमहंसों के प्रति प्रश्न पूछा कि ''चाहे कैसे भी अशुभ देश, कालादिक प्राप्त हो जायें, तो भी किसी भी तरह से कल्याण के मार्ग से पीछे हटे ही नहीं, ऐसा जो हरिभक्त हो, उसे किस प्रकार की समझ रहती है कि जिस समझ से इस प्रकार की उसे दृढ़ता बनी रहती है कि उसमें किसी प्रकार का विघ्न नहीं होता है ?'' फिर जो बड़े-बड़े सन्त थे, उनमें जैसा जिनको लगा वैसा उन्होनें उत्तर किया, परन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का समाधान हुआ नहीं । तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''इसका उत्तर तो ऐसा है कि **जीव को जैसी देह में आत्मबुद्धि है, वैसी ही भगवान तथा भगवान के भक्त में आत्मबुद्धि रहे तो उसे किसी भी प्रकार का विघ्न नहीं होता है ।** और चाहे कैसे भी देश, कालादिक अनिष्ट आ जायें, उनसे वह भगवान तथा भगवान के भक्त से विमुख नहीं होता है ।''

फिर पुनः श्रीजीमहाराज ने परमहंसों के प्रति प्रश्न पूछा कि ''जानकीजी को रामचन्द्रजी ने वनवास दिया तब जानकीजी अतिशय विलाप करने लगीं । तब लक्ष्मणजी भी अतिशय दिलगीर[१] हुए । फिर सीताजी लक्ष्मणजी के प्रति बोलीं कि ''मैं अपने दुःख के कारण नहीं रो रही हूँ, मैं तो रामचन्द्रजी के दुःख के कारण रो रही हूँ। क्योंकि रघुनाथजी अतिकृपालु हैं, तो लोकापवाद के कारण मुझे वन में छोड़ दिया, परन्तु अब वे ऐसा विचार करते होंगे कि 'सीता को मैने बिना अपराध वन में छोड़ दिया है ।' ऐसा विचार करते हुए कृपालु होने से वे मन में बहुत दुःखी होते होंगे। इसलिए रामचन्द्रजी से कहियेगा कि 'सीता को तो कुछ दुःख नहीं है, वह वाल्मीकि ऋषि के आश्रम में जाकर सुखपूर्वक आपका भजन करेंगी। इसलिए आप सीता के दुःख से कोई दुःख न रखें ।'' ऐसा सीताजी ने लक्ष्मणजी के द्वारा कहलवाया, परन्तु किसी भी तरह से रामचन्द्रजी का अवगुण लिया नहीं । इस तरह जो भगवान तथा भगवान के भक्त का किसी भी प्रकार से अवगुण न लेता हो और वैराग्य तथा धर्म; वह तो सामान्यरूप से रहता हो; ऐसा तो एक हरिभक्त है । और दूसरा हरिभक्त

१. दुःखी

है, उसे तो वैराग्य तथा धर्म तो अति धारदार[१] है, किन्तु सीताजी के जैसी समझ नहीं है। ये दो प्रकार के हरिभक्त हैं, उनमें से किसके साथ अतिशय प्रीति रखकर संग करना चाहिए ?'' फिर चैतन्यानन्द स्वामी ने कहा कि 'धर्म तथा वैराग्य यदि सामान्यरूप से रहते हों, तो भी **जिसकी जानकीजी के जैसी समझ हो, उसका ही अतिशय प्रीतिपूर्वक समागम करें, परन्तु अतिशय वैराग्य तथा धर्मवाला हो, और भगवान तथा भगवान के भक्त का अवगुण लेता हो, तो उसका संग न करें।**'' तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि ''यथार्थ उत्तर हुआ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥११॥२३४॥

वचनामृत १२ : 'करामात का'

संवत्* १८८४ के आषाढ़ कृष्ण ८ अष्टमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवास स्थान की अटारी के झरोखे में विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के समक्ष मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज अपने भक्तजन को शिक्षा प्रदान करने के लिए वार्ता[२] करने लगे कि ''**जिसे अपने कल्याण की इच्छा हो, वे किसी प्रकार का मान न रखें** कि 'मैं उच्चकुल में जन्म को प्राप्त हुआ हूँ, या मैं धनवान हूँ, या मैं रूपवान हूँ, या मैं पण्डित हूँ।' ऐसा किसी प्रकार का मन में मान न रखें। **और गरीब सत्संगी हो, उसके भी दासानुदास होकर रहें।** और भगवान तथा भगवान के भक्त का जिसे अवगुण आया हो और वह सत्संगी कहलाता हो, तो भी उसे हड़काये कुत्ते जैसा जानें। जैसे हड़काये कुत्ते की लार जिसे छू ले उसे भी हड़क[३] लगता है, उस तरह जिसे भगवान तथा भगवान के भक्त का अवगुण आया हो, उसके साथ जो प्रीति रखता है अथवा उसकी बात सुनता

*दि. १६-७-१८२७, सोमवार

१. कठोर २. कथा ३. पागल कुत्ते के काटने से होता रोग विशेष।

है, तो वह प्रीति करनेवाला तथा बात को सुननेवाला विमुख जैसा होता है। और तो जैसे क्षयरोग हुआ हो, वह किसी औषध से मिटता ही नहीं, वैसे जिसे भगवान तथा भगवान के भक्त का अवगुण आया हो, उसके हृदय में से कभी आसुरी बुद्धि टलती नहीं है। और अनन्त ब्रह्महत्या की हो, अनन्त बालहत्या की हो, अनन्त स्त्रीहत्या की हो, अनन्त गौहत्या की हो, अनन्त गुरुपत्नी का संग किया हो, तो उसका भी किसी काल में छुटकारा होता है, और शास्त्र में उन पापों से छूटने के उपाय भी कहे हैं। परन्तु भगवान तथा भगवान के भक्त के अवगुण लेनेवाले को किसी शास्त्र में उन पापों से छूटने का उपाय नहीं कहा है। **और जहर खाये, समुद्र में गिर जाये, पर्वत पर से गिर जाये अथवा कोई राक्षस मिले और खा जाये, तो एक ही बार मरना पड़ता है, और जो भगवान तथा भगवान के भक्त का द्रोही है, उसे तो अनन्तकोटि कल्पों तक मरना पड़ता है तथा जन्म लेना पड़ता है।** और फिर शरीर में चाहे कैसा भी रोग हुआ हो, और उससे शरीर का अन्त हो जाये, अथवा कोई शत्रु मिले और शरीर का नाश कर दे, परन्तु जीव का नाश नहीं होता है। और **भगवान तथा भगवान के भक्त का द्रोह करने से तो जीव का भी नाश हो जाता है।** तब कोई कहेगा कि 'जीव का नाश कैसे होता होगा ?' तो वहाँ दृष्टान्त है, जैसे हिजड़ा तो पुरुष भी नहीं कहलाता है और स्त्री भी नहीं कहलाता है, वह तो केवल नपुंसक कहलाता है। उस तरह जो भगवान तथा भगवान के भक्त का द्रोह करनेवाला है, उसका जीव भी ऐसा निकम्मा हो जाता है कि 'कभी भी अपने कल्याण के उपाय को कर ही नहीं सकता है।' इसलिए उसका जीव नष्ट हो गया है, ऐसा जानें। ऐसा जानकर भगवान तथा भगवान के भक्त का द्रोह करें ही नहीं। और फिर अपने देह के जो सगे-सम्बन्धी हो, और वे सत्संगी हो, तो भी उनमें अतिशय प्रीति न रखें। जैसे दूध में शक्कर मिली हो, और उसमें सर्प की लार गिरी हो, और उसको जो पीता है, उसके प्राण निकल जाते हैं, वैसे अपने देह के जो सगे सम्बन्धी हो, और वे हरिभक्त हो, तो भी उनमें देह के सम्बन्धरूप सर्प की लार गिरी है, इसलिए उनसे प्रीति

करनेवाले का जरूर अकल्याण होता है। ऐसा समझकर **जिन्हें अपने कल्याण की इच्छा हो, वे देह के जो सगे सम्बन्धी हो, उनके साथ प्रीति न रखें। इस तरह संसार में से निःस्पृह होकर भगवान के चरणारविन्द में प्रीति रखकर भगवान का भजन करते रहें।** यह जो हमने बात की हैं, उसे जो अन्तर में रखेगा, उसे किसी तरह से कल्याण के मार्ग में विघ्न होगा ही नहीं और यह जो बात है, वह करामात[१] जैसी है।'' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराजने वार्ता की समाप्ति की।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥१२॥२३५॥

वचनामृत १३ : 'विपरीत देशकाल में एकान्तिक धर्म रहने का'

संवत्* १८८४ के आषाढ़ कृष्ण ९ नवमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वीद्वार के कक्ष के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कण्ठ में मोगरा के पुष्पों के हार पहने थे, पाग में तुर्रे विराजमान थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और आगे मुनिमण्डल दुक्कड़-सरोद लेकर कीर्तन गान कर रहे थे।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''कीर्तन रखिए, अब भगवद्वार्ता करते हैं।'' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज ने मुनिमण्डल के प्रति प्रश्न पूछा कि ''जीव का देह है, वह तो पूर्वकर्म के अधीन है, उसका एक निर्धार रहता नहीं है। तो कभी स्वस्थ रहता है और कभी कर्माधीन होकर रोगग्रस्त हो जाता है, और कभी स्वतन्त्र रहता है, कभी पराधीन भी हो जाता है, और जहाँ तय किया हो उस स्थान पर रहा जाये या रहा ही न जाये। और कभी हरिभक्त के मण्डल में रहते हो, तब कर्म या काल के योग से अलग हो गए और अकेले ही रह गए, तब जो-जो नियम रखने की दृढ़ता हो, उनका कुछ मेल रहता ही नहीं

*दि. १७-७-१८२७, मंगलवार

१. चमत्कारिक

है, अथवा अंग्रेज जैसा कोई राजा हो, और उसने कहीं परवश कर दिया अथवा अपने मन तथा इन्द्रियाँ, वे अंग्रेज जैसे हैं, उसी ने ही परवश कर दिया, तब जो सन्त के मण्डल में रहना तथा सत्संग की मर्यादा का पालन करना, उनका कोई मेल रहता नहीं है । और शास्त्र में तो ऐसा ही कहा है कि 'धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति; ये चार सम्पूर्ण हों तब एकान्तिक भक्त कहलाता है और ऐकान्तिक की जो मुक्ति है,' उसे प्राप्त करता है और काल, कर्म के योग से देह की व्यवस्था तो एक ही एक रहती हो, ऐसा नहीं दिखाई देता । इसलिए भगवान के भक्त को कैसे एकान्तिकता रहती हैं ? यह प्रश्न है ।'' फिर गोपालानन्द स्वामी, चैतन्यानन्द स्वामी, नित्यानन्द स्वामी, मुक्तानन्द स्वामी, ब्रह्मानन्द स्वामी, शुकमुनि इत्यदिक बड़े-बड़े जो साधु थे, उन्होंने जैसा जिनको समझ में आया, वैसा उत्तर किया, लेकिन इस प्रश्न का समाधान नहीं हुआ ।

तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''जैसे हमें भगवान में निष्ठा रहती है, वैसे हम कहते हैं कि हमें तो चाहे कैसा भी सुख-दुःख आये तथा सम्पत्ति-विपत्ति आये, उनमें ऐसा रहता है कि एक तो भगवान की अतिशय महत्ता जानते हैं, उससे इस संसार में बड़े-बड़े राजाओं की समृद्धि तथा राज्यलक्ष्मी; उसको देखकर लेशमात्र भी अन्तर में उसका प्रभाव नहीं पड़ता । और ऐसा समझते हैं कि 'हमे तो भगवान से कुछ अधिक नहीं है, और हमारा मन तो भगवान के चरणारविन्द में लगा दिया है ।' और भगवान के साथ ऐसी दृढ़ प्रीति की है कि उस प्रीति को काल, कर्म, माया में से कोई भी टालने में समर्थ नहीं है और अपना मन भी इस प्रीति को टालने को करता है तो भी भगवान में से वह प्रीति नहीं टलती है, इस तरह की दृढ़ता है, तो चाहे कैसा भी सुख-दुःख आता है, तो भी नहीं टलती और मन में स्वाभाविक ऐसी रुचि रहती है कि 'शहर हो या हवेली हो या राजदरबार हो, वहाँ तो अच्छा लगता ही नहीं हैं । वन हो, पर्वत हो, नदी हो, वृक्ष हो, एकान्त स्थान हो, वहाँ अतिशय अच्छा लगता है । ऐसा जानते हैं कि 'एकान्त में बैठकर भगवान का ध्यान किया जाये तो ठीक है ।' ऐसी सदैव रुचि रहती है । और जब हमें रामानन्द स्वामी का

दर्शन नहीं हुआ था, तब मुक्तानन्द स्वामी के साथ हमने ऐसा ठहराया था कि 'मुझे रामानन्द स्वामी के दर्शन कराइए तो हम दोनों वन में जाकर भगवान का अखण्ड ध्यान किया करेंगे और कभी भी बस्ती में तो आयेंगे ही नहीं' । ऐसा मन का निश्चय था । तो अभी भी मन वैसे का वैसा ही है । और **भगवान तथा भगवान के जो भक्त हैं, उनमें तो ऐसा दृढ़ स्नेह है कि उसे काल, कर्म और माया; उनमें से कोई भी टालने को समर्थ नहीं है । और अपना मन टालने का करता है तो भी हृदय में से टलता ही नहीं है । ऐसी भगवान तथा भगवान के भक्त के साथ अतिशय प्रीति है ।** और कितनी बार हम सत्संग में से चले जाने के लिए उदास हुए हैं, लेकिन भगवान के भक्त का समूह देखकर टिके हैं, तो किसी भी तरह से छोड़कर नहीं जा पाते । जिसे मैं भगवान का भक्त नहीं जानता, तो उस स्थान पर मुझे रखने के कोटि उपाय किये जायें तो भी नहीं ही रहा जाता और चाहे कैसी भी हमारी सुश्रूषा[१] करें तो भी अभक्त के साथ हमें बनती नहीं है । इस तरह से भगवान तथा भगवान के भक्त के साथ हमने हमारे मन को अतिशय प्रीति से जोड़ रखा हैं और उन भगवान के सिवा दूसरा कोई पदार्थ प्रिय नहीं रखा हैं; इसलिए क्यों भगवान में प्रीति नहीं रहेगी ? और **भगवान की कथा कीर्तनादिक करते हैं तब तो ऐसी मस्ती आ जाती है कि 'लगता है कि दीवाने हो जायेंगे ।'** और जितना विवेक रहता है, वह तो किसी भक्तजनों के पोषण[२] के लिए रहता है, परन्तु मन में तो वैसी की वैसी ही खुमारी रहती है, और ऊपर से तो लोक में मिलता व्यवहार रखते हैं ।

और **वे भगवान हैं, वे ही इस देह के प्रवर्तक हैं ।** वे चाहे तो देह को हाथी पर बैठाए, और चाहे तो बंदीखाने में डलवा दें और चाहें तो इस देह में कोई बड़ा रोग डाल दें, परन्तु कभी भी भगवान के आगे ऐसी प्रार्थना नहीं करनी है कि 'हे महाराज ! यह मेरा दुःख है, उसे टालिए ।' क्योंकि हमें अपनी देह को भगवान की रुचि[३] में रखनी है; तो जैसी भगवान की रुचि हो, वैसा

१. सेवा २. सत्संग लाभ ३. मरजी

ही हमें प्रिय[1] है, परन्तु भगवान की इच्छा से लेशमात्र भी अपनी इच्छा अलग नहीं रखनी है । और **हमने जब तन-मन-धन भगवान को अर्पण कर दिये तब, अब भगवान की इच्छा है, वह ही हमारा प्रारब्ध है । उनके सिवा दूसरा कोई प्रारब्ध नहीं है । इसलिए भगवान की इच्छा से चाहे कैसा भी सुख-दुःख आ जाये, उसमें किसी तरह से आकुल न हो जायें और जिसमें भगवान प्रसन्न रहें, उसमें ही हमें प्रसन्न रहना है ।** इस प्रकार की भगवान में जो दृढ़ प्रीति है, उससे युक्त ऐसा जो वह भक्त है, उसके जो धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति; उनकी रक्षा को तो वे भगवान स्वयं ही करते हैं । कभी देश-काल की विषमता से बाहर से तो धर्मादिक के भंग जैसा दिखाई देता हो, परन्तु उस भक्त के हृदय में तो धर्मादिक का भंग होता ही नहीं है ।'' इस तरह से श्रीजीमहाराज ने अपने उपदेशों से भगवान के जो अति दृढ़ भक्त हैं, उन्हें जैसा समझना चाहिए और जैसी भगवान में दृढ़ प्रीति करनी चाहिए, वह सभी वार्ता कह सुनाई ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥१३॥२३६॥

वचनामृत १४ : 'कायस्थ के अविवेक का - लंबकर्ण का'

संवत्* १८८४ के आषाढ़ कृष्ण ११ एकादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कक्ष के बरामदे में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, मस्तक पर पाग में पुष्पों के तुर्रे लटक रहे थे, कण्ठ में पुष्पों के हार पहने थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और मुनिमण्डल कीर्तन गान कर रहे थे ।

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि ''कीर्तन-भक्ति की समाप्ति करिए, अब प्रश्न-उत्तर करते हैं ।'' फिर मुक्तानन्द स्वामी ने हाथ जोड़कर पूछा कि ''हे महाराज ! परमेश्वर से तो दूसरा कुछ सार वस्तु नहीं है, फिर भी उन परमेश्वर

*दि. १९-७-१८२७, गुरुवार १. अनुकूल

में इस जीव को दृढ़ प्रीति क्यों नहीं होती है ? यह प्रश्न है।'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''उसे विवेक[१] नहीं है। यदि विवेक हो तो, ऐसा विचार होता है कि मुझे तो ब्रह्मचर्य व्रत है, तो भी स्त्री के सुख की तृष्णा हृदय में से टलती नहीं है। तो यह बहुत बुरा है। और उस स्त्री का सुख तो चौरासी लाख योनियों में जहाँ-जहाँ जन्म लिए वहाँ-वहाँ सर्वत्र प्राप्त हुआ है; वह भी मनुष्य देह से अधिक प्राप्त हुआ है। क्योंकि वह जीव जब बकरा हुआ होगा तब हजार बकरियों को स्वयं अकेला भोगता होगा और जब घोड़ा या भैंसा या सांढ़ या बूढ़ा बन्दर; इत्यादिक पशु के देह को प्राप्त हुआ होगा तब उसमें[२] अपनी-अपनी जाति की अतिशय रूपवान एवं यौवनवान ऐसी अनन्त स्त्रियाँ तो हर एक उसे मिली होगी। उसमें प्रारब्ध का कोई कारण नहीं है तथा भगवान की कृपा का भी कारण नहीं है; ये तो सहज ही मिलीं थीं। और अब भी यदि वह भगवान का भजन नहीं करेगा तो, जिन-जिन योनियों में जायेगा वहाँ-वहाँ अनन्त स्त्रियाँ प्राप्त होंगी। और उसमें किसी देवता का भी सेवन-पूजन नहीं करना पड़ेगा और किसी मन्त्र का जप भी नहीं करना पड़ेगा; वह तो सहज ही उन स्त्री आदिक के सुख को प्राप्त करेगा। और इस जीव ने कितनी बार देवता होकर देवलोक के भी सुख भोगें हैं और कई बार चक्रवर्ती राजा होकर पृथ्वी पर भी अनन्त सुख भोगें हैं, तो भी इस जीव को स्त्री आदिक जो पदार्थ हैं, उन्हें भोगने की तृष्णा टलती नहीं है।[३] और **स्त्री आदिक का जो सुख है,**

---

१. सार-असार का २. उस शरीर में।

३. इसलिए मायिक सुख किसे भी दुर्लभ नहीं, भगवान संबंधित सुख तो सभी सुखों से अतिदुर्लभ है। भगवान के सुख की प्राप्ति के लिए बड़े मुनि वन में जाकर अति घोर तप करते हैं। चक्रवर्ती राजा भी राज्य का त्याग करके तप करने वन में जाते हैं। भगवान का वैसा सुख भी उनकी कृपा से ही अभी मुझे प्राप्त हुआ है। उस सुख का त्याग करके दूसरे तुच्छ विषयसुख की इच्छा कैसे की जाय ? इस तरह जो भक्तों को सारासार विवेक हैं, उन्हें तो भगवान में ही अत्यधिक प्रीति विवेक हैं, उन्हें तो भगवान में ही अत्यधिक प्रीति होती हैं, और मायिक पदार्थ में कभी भी अतिशय प्रीति नही होती, ऐसे सदसद्विवेक से रहित जो हैं उन्हें टलती नहीं हैं।

उसकी अतिशय दुर्लभता जानता है और उसका अति माहात्म्य समझकर उनमें प्रीति करता है, वह प्रीति किसी प्रकार से टालने पर टलती नहीं है। इसी पाप से परमेश्वर में दृढ़ प्रीति नहीं होती है । और ऐसी मलिन वासना इस जीव को होती है, उसे हमनें प्रत्यक्ष देखा है । जब हम छोटे थे तब अयोध्यापुरी में शिव का एक मन्दिर था, वहाँ जाकर हम सोते थे । वहाँ एक कायस्थ शिव का पूजन करने के लिए नित्य आता था । वह शिव की पूजा करके गाल बजाकर शिव के पास ऐसा वर माँगता था कि 'हे महाराज ! हे शिवजी ! मुझे कभी मनुष्य का अवतार मत दीजिए । क्योंकि मनुष्य देह में तो तांबा खा-खाकर मर गए, परन्तु स्त्री का सुख अच्छी तरह से[१] नहीं भोगा जाता । इसलिए हे शिवजी ! मुझे तो जन्मों जनम लम्बकर्ण का ही अवतार दीजिए, जिससे लाज-मर्यादा को छोड़कर अच्छी तरह से स्त्री का सुख तो भोगा जाय । इस तरह नित्य शिवजी के पास वर माँगता था ।' इस तरह इस जीव के हृदय में पापरूप वासना होती है, इसलिए उसे किसी भी प्रकार से परमेश्वर से प्रीति नहीं होती है ।''

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पुनः पूछा कि ''हे महाराज ! जिसे ऐसा अतिशय अविवेक हो, उसे तो भगवान में प्रीति नहीं होती है, परन्तु जिसे ऐसा समझ में रहता है कि 'भगवान समस्त सुखों के निधि हैं तथा भगवान के बिना जो दूसरे पदार्थ हैं वे तो केवल दुःखदायी ही हैं ।' तो भी उसे भगवान में प्रीति नहीं होती है, उसका क्या कारण है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''उस जीव को पूर्वजन्म में अथवा इस जन्म में कोई अतिशय अनिष्ट[२] देश, काल, संग तथा क्रिया; उनका योग हो गया है; इससे अतिशय तीक्ष्ण कर्म हुए हैं, उन अनिष्ट कर्मों का उसके चित्त में पाश लगा है, इसलिए सार-असार को जानता है तो भी उसे असार का त्याग करके परमेश्वर में दृढ़ प्रीति नहीं होती है । और जिस तरह से अशुभ देश, काल, क्रिया और संग के योग से अनिष्ट कर्म का

१. भरपूर मात्रा में । २. अशुभ

चित्त में पाश लगा है, **उसी तरह से अतिशय पवित्र देश, पवित्र काल, पवित्र क्रिया एवं पवित्र संग; इनके योग से यदि अतिशय तीक्ष्ण सुकृत कर्म हो जायें, तो उनके योग से अति तीक्ष्ण जो अनिष्ट पापकर्म उनका नाश हो जाता है; तब उसे भगवान में दृढ़ प्रीति होती है ।** इस प्रश्न का यही उत्तर है ।''

फिर अयोध्याप्रसादजी ने पूछा कि[१] ''एक[२] की तो बुद्धि भी बहुत है, और शास्त्र में भी बहुत दृष्टि पहुँचती है, और दूसरा[३] है, उसकी तो बुद्धि भी थोड़ी है, तथा शास्त्र में भी बहुत जानता नहीं है; और जो बहुत बुद्धिवाला है, वह सत्संग में से विमुख हो जाता है और अल्प बुद्धिवाला है वह दृढ़ता से सत्संग में रहता है, उसका क्या कारण है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''**इस संसार में दैवी और आसुरी दो प्रकार के जीव हैं; इनमें जो आसुरी जीव होता है, उसे अधिक बुद्धि हो, तो भी सत्संग में से विमुख ही होता है और जो दैवी जीव होता है, और उसे थोड़ी बुद्धि हो, तो भी किसी समय सत्संग में से विमुख नहीं होता हैं ।** जैसे मिर्ची का बीज हो, नीम का बीज हो, और शिंग वछनाग[४] का बीज हो, उसे बोकर नित्य शक्कर के जल से सींचा जाये तो भी मिर्ची तो तिखी ही होती है, और नीम तो कड़वा ही होता है, और शिंग वछनाग तो जहर ही होता है । क्योंकि उनका बीज अनिष्ट[५] है । और गन्ने को बोकर नीम के पत्ते की खाद डालकर कड़वा पानी सींचा जाये, तो भी गन्ने का रस मीठा ही होता है । उस तरह जो दैवी जीव हैं, वे भगवान के सन्मुख ही रहते हैं और आसुरी जीव हैं, वे विमुख ही होते हैं ।''

फिर शुकमुनि ने पूछा कि ''दैवी तथा आसुरी जीव हैं, वे कैसे जानने में आते हैं ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''दैवी जीव हो, उसे काम,

१. इस लोक में आपके सत्संगी भक्त दो पुरुष है, उसमें । २-३. भक्त
४. सिंगवाला वछनाग, एक जहरीला पौधा - जिस की जड या कंद विषैले होते हैं, उसे वत्सनाभ, बचनाग, बछनाभ, तेलिया नाम से भी जाना जाता है । ५. बुरा, खराब

क्रोध, लोभादिक दोष हो, वे अशुभ देशकालादिक के योग से होते हैं; फिर जब शुभ देशकालादिक का योग हो जाये, तो थोड़े ही समय में नाश हो जाते हैं। और आसुरी जीव के जो काम, क्रोध, लोभादिक दोष हैं, वे कभी भी नाश नहीं होते हैं। और उसे एक बार यदि कुछ कठोर वचन कहा हो, तो जीता है तब तक भूलता नहीं है, और वह आसुरी जीव यदि सत्संगी हुआ हो तो, सभीसे बेहतरीन हरिभक्त दिखाई देता है, परन्तु जैसे भाल देश में पहले समुद्र था, तो जलोढ़ मिट्टी[१] जमा होने से रसाल जमीन हुई है, तो जहाँ तक जलोढ़ मिट्टी रहती है वहाँ तक यदि खोदा जाये तो पानी मीठा निकलता है और उससे यदि गहरा खोदा जाये तो समुद्र के जैसा खारा-जहर पानी निकलता है; **उस तरह आसुरी जीव हो, और वह हरिभक्त हुआ हो और उसकी रुचि[२] को मरोड़कर जरा सा छेड़ा जाये तो जितनी पहले साधु की सेवा की हो, उससे लाख गुना द्रोह करने पर भी मन में सन्तोष नहीं होता है।''**

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज ! आपने ऐसा कहा कि 'आसुरी जीव हो, और हरिभक्त हुआ हो, तो जब तक उसकी रुचि अनुसार रखते हैं तब तक तो सत्संगी रहता है और यदि उसकी रुचि के अनुकूल न रखा जाये तो विमुख हो जाता है।' तो जब तक विमुख न हुआ हो, ऐसे समय में उसका देहान्त हो जाये, तो आसुरी रहता है या दैवी होता है ?'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''वह असुरी जीव जब तक सही तरह से रहता हो, और ऐसे समय में देहान्त हो जाये तो वह दैवी होता है, और भगवान की भक्ति करके परमपद को प्राप्त होता है।''

फिर नृसिंहानन्द स्वामी ने पूछा कि ''नवधा भक्ति में श्रेष्ठ भक्ति कौन-सी है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''नवधा भक्ति में से जिसे जिस भक्ति करने से भगवान में दृढ़ स्नेह होता है, वही भक्ति उस के लिए श्रेष्ठ है।''

---

१. पानी की बाढ़ से आई हुई मिट्टी। २. प्रकृति

फिर गोपालानन्द स्वामी ने पूछा कि ''जिनकी बाल अवस्था[१] हो अथवा यौवन अवस्था हो, उसे कैसे पुरुष का संग रखना है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जो उम्र से भी वृद्ध हो, और धर्म, ज्ञान तथा वैराग्य जिसे दृढ़ हो, और भगवान में भी दृढ़ प्रीति हो, ऐसे पुरुष का संग प्रीतिपूर्वक वे दोनों करें ।''

फिर नाजा जोगिया ने पूछा कि ''एक का क्रोध से भगवान में मन जुड़ा है और एक का भय से भगवान में मन जुड़ा है, और एक का स्नेह से भगवान में मन जुड़ा है; इन तीन में कौन सा श्रेष्ठ है ?'' फिर श्रीजीमहाराज ने कहा कि ''जिसका मन प्रीति से भगवान में जुड़ा है वह श्रेष्ठ है ।''

फिर शिवानन्द स्वामी ने पूछा कि ''भगवान का भक्त तो है, लेकिन जैसा श्रीजीमहाराज ने कहा ऐसा जो सार-असार का विवेक न हो, और वैराग्य भी न हो, उसे ऐसा विवेक तथा भगवान के सिवा अन्य पदार्थ में वैराग्य तो कैसे होता है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''यदि पहले से ही भगवान में दृढ़ प्रीति हो जाये तो विवेक तथा वैराग्य तो स्नेह के योग से प्रकट हो जाते हैं। और जिसे जिस पदार्थ में स्नेह होता है, उसे स्नेह कहते हैं अथवा कामना कहते हैं। तो जिन-जिन पदार्थों में स्नेह हो, और उनमें यदि कोई अवरोध करता है, तो उस पर क्रोध हो जाता है। वह मनुष्य के देह में तो होता है, परन्तु पशु को भी क्रोध हो जाता है। जैसे पाड़ा हो, वह कामना से भैंस पर आसक्त हुआ हो और दूसरा भैंसा आ जाये तो उसे मार डालता है, इस तरह पशु-पक्षी में सर्वत्र दिखाई देता है। उस तरह जिसे भगवान में दृढ़ प्रीति हो, उसे जो पदार्थ उस प्रीति में अवरोध करने आता है तो उस पर तुरन्त क्रोध हो जाता है और उस पदार्थ का तत्काल त्याग कर देता है। इसलिए **यदि भगवान में दृढ़ प्रीति हो, तो अपने आप ही वैराग्य तथा विवेक हो जाते हैं ।**''

फिर तब शिवानन्द स्वामी ने पूछा कि ''बुद्धिमान तो दोनों ही पुरुष हैं। उनमें एक तो परमेश्वर जैसा कहे वैसा ही मान ले ऐसा विश्वासी है और दूसरा

१. किशोर अवस्था - पंद्रह वर्ष तक की ।

तो परमेश्वर के वचन हो, उसमें भी जितना मानना उचित लगता है उतना ही मानता है; इन दोनों में कौन सा श्रेष्ठ है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''विश्वासी है, वह ही श्रेष्ठ है । उसे रामकथा में रामचन्द्रजी ने कहा है कि 'जो मेरे दृढ़ विश्वास से रहता है, उसकी जैसे माता बालक की रक्षा करती है वैसे मैं रक्षा करता हूँ ।' इसलिए विश्वासी है, वह ही श्रेष्ठ है ।''

फिर आत्मानन्द स्वामी ने पूछा कि ''मन में तो ऐसा निश्चय है कि शरीर रहेगा तब तक परमेश्वर की मरजी में ही रहना है; तो भी ऐसा जानता है कि परमेश्वर तथा सन्त को कैसे करें तो अपना विश्वास आये ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''विश्वास तो परमेश्वर को तथा सन्त को तब आता है जब अतिशय बीमार हो जाये और उस बीमारी में चाकरी भी अच्छी तरह से न हुई हो तो भी किसी का अवगुण न लें और स्वयं उद्विग्न भी न हो जायें; तथा गलती बिना भी परमेश्वर तथा सन्त, वे उनका अतिशय अपमान करें तो भी किसी का अवगुण न ले; तब उसका परमेश्वर को तथा सन्त को विश्वास आता है । और तीसरा प्रकार यह है कि जितने सत्संग के नियम हैं, उनमें से यदि लेशमात्र भी चूक हो जाये तो अतिशय दुःखी हो जाये, और उसका तत्काल प्रायश्चित कर लेता है । और यदि मन में खराब संकल्प हो जाये, तो दूसरे को देह से वर्तमान में चूक हो, उतना ही दुःखी होता है और त्रस्त होता है । तब उसका परमेश्वर को तथा सन्त को परिपूर्ण विश्वास आता है कि यह किसी भी काल में सत्संग में से विचलित नहीं होगा ।''

फिर भगवदानन्द स्वामी ने पूछा कि ''जिस भक्तजन के मन में भगवान और भगवान के भक्त का अखण्ड माहात्म्य हो, वह दूसरों को कैसे जानने में आये ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिसके मन में भगवान का तथा भगवान के भक्त का अखण्ड माहात्म्य हो, वह भगवान और भगवान के भक्त की निष्कपट भाव से प्रीति से सेवा करता है और सभी सन्तों को पैर पड़े;[१] और कोई सन्त बीमार हो तो उनका सिर दबाये, पैर दबाये और

१. प्रणाम - वंदन करे ।

खाने-पीने का ध्यान रखे; और अपने पास अपनी मन पसन्द प्रिय वस्तु मिलती है, तो उसे सन्त को देकर फिर अपने काम में उपयोग करे। इस तरह मन, कर्म, वचन से जो रहता है, उसके अन्तर में भगवान का एवं सन्त का माहात्म्य अखण्ड है ऐसा जानें।''

तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज ने सन्तों से प्रश्न पूछा कि[1] ''धर्म, ज्ञान, वैराग्य और भक्ति; इन चारों में अति तीव्रता से रहा हो, तो भी धर्म में कुछ सांकर्य आ जाये और वैराग्य में किसी जगह राग रह जाये, और भक्ति में कुछ शिथिलता हो जाये और ज्ञान में भी कुछ देह आसक्ति रह जाये, उसका क्या कारण होगा?'' फिर गोपालानन्द स्वामी और ब्रह्मानन्द स्वामी ने कहा कि ''धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति; ये चारों जिसमें तीव्र रहे हैं, ऐसे जो ईश्वर मूर्ति समर्थ हैं, उनमें कुछ कसर जैसी दिखाई देता है, वह तो केवल दया होने से रहती है; परन्तु दूसरी किसी प्रकार की कसर नहीं है। **और ऐसे जो बड़े हैं, वे बाह्य दृष्टि रखकर वर्ताव करते हैं तब कितने ही जीवों को जड़भरत जैसे और शुकजी जैसे कर देते हैं। इसलिए ऐसे जो अतिशय बड़े हैं, उन्हें जो व्यावहारिक दृष्टि से रहना, वह केवल जीवों पर दया होने से है।**'' फिर श्रीजीमहाराज ने कहा कि ''इसका उत्तर यह ही है।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥१४॥२३७॥

वचनामृत १५ : 'मरहमपट्टी अनुकूल होने का'

संवत्* १८८४ के आषाढ़ कृष्ण १३ त्रयोदशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवासस्थान की अटारी के झरोखे पर विरामजान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कण्ठ में मोगरा के पुष्पों के हार पहने थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

---

*दि. २१-७-१८२७, शनिवार

१. परमात्मा का कोई एकान्तिक भक्त है, उसे।

तब मुक्तानन्द स्वामी को श्रीजीमहाराज ने कहा कि "आज तो हमने हमारे रसोईया हरिभक्त के साथ बहुत बाते की।" तब मुक्तानन्द स्वामी बोले कि "हे महाराज ! कैसी बात कही ?" तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "बात तो इस प्रकार कही थी कि भगवान का भक्त हो, और वह भगवान की मानसीपूजा करने बैठता है तथा भगवान का ध्यान करने बैठता है, उस समय उसका जीव पहले जिन-जिन अनिष्ट देश-कालादिक के योग से पञ्चविषयों से पराजित हुआ हो अथवा काम, क्रोध, लोभादिक के योग से पराजित हुआ हो, उन सभी की उसे स्मृति हो आती है। जैसे कोई शूरवीर पुरुष हो, और उसे संग्राम में जाकर घाव लगे हो और वह जख्मी होकर लौटकर खटिया पर सोता है, फिर उसे जब तक मरहमपट्टी अनुकूल न होने लगे तब तक घाव की वेदना टलती नहीं है और निद्रा भी नहीं आती है; और जब मरहमपट्टी अनुकूल हो जाये तब घाव की पीड़ा टल जाती है और निद्रा भी आती है। उस तरह अनिष्ट देश, काल, संग और क्रिया के योग से जीव को पञ्चविषय के जो घाव लगे हैं, वे जब **नवधा-भक्ति अन्तर्गत जिस भक्ति करने से उन पञ्चविषयों के घाव की पीड़ा न रहे और पञ्चविषय का स्मरण न हो, यह ही उसे मरहमपट्टी अनुकूल हुई, ऐसा जानें**[१] **और यह ही उसे भजन-स्मरण का अंग दृढ जानें।** फिर उस अंग में रहकर मानसी पूजा करें, नाम स्मरण करें, जो करना हो उसे अपने अंग में रहकर करें, तो उसे अतिशय समास[२] होता है। और यदि अपने अंग को पहचाने नहीं तो जैसे घायल को पट्टियों का असर नहीं होता है और सुख नहीं होता है, उस तरह उसे भजन स्मरण में किसी प्रकार से सुख नहीं होता है। और पञ्चविषय के जो घाव[३] उसे लगे हों, उनकी पीड़ा टलती नहीं है। इसलिए उस नवधा भक्ति में से जिस भक्ति करने से अपना मन भगवान में लग जाये और भगवान बिना दूसरा संकल्प न करता हो, तब

१. इसलिए नौ प्रकार की भक्ति में से खुद को अति प्रिय जो कोई भक्ति, उससे असत्स्मृति का जब नाश होता है तब ध्यान पूजा का सुख होता है।

२. लाभ, पोषण ३. राजस प्रकृति प्रधान वैभवी।

वह हरिभक्त ऐसा जानें कि 'मेरा तो यह ही अंग है ।' फिर इस प्रकार की भक्ति को वह प्रधान रखें, यह सिद्धान्त वार्ता है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥१५॥२३८॥

वचनामृत १६ : 'पतिव्रता के प्रण का'

संवत्* १८८४ के आषाढ़ कृष्ण अमावस्या के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वीद्वार के कक्ष के बरामदे में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कण्ठ में मोगरा के पुष्पों के हार पहने थे, पाग में तुर्रे अतिशय शोभायमान झुके हुए थे और अपने मुखारविन्द के समक्ष मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''समस्त मुनिमण्डल तथा समस्त गृहस्थ हरिभक्तों के प्रति हम प्रश्न पूछते हैं, तो जिससे उत्तर हो, वे करें । तो प्रश्न यह है कि 'भगवान का भक्त हो, उसे अवगुणवाले का त्याग करने में जरा भी देर नहीं लगती है, परन्तु जिनमें अतिशय शुभ गुण हों, उनका किस तरह से त्याग होता है ? और जिनमें शुभ गुण हों, वे तो अपने सम्बन्धी हों अथवा दूसरा कोई हो, लेकिन गुणवान के साथ सहज ही प्रीति होती है, और उन गुणों के योग से जो प्रीति हुई है, वह टालने से टलती ही नहीं है; इसलिए भगवान के भक्त को भगवान के सिवा दूसरी जगह चाहे कितना भी गुणवान हो, उसके साथ प्रीति ही न हो सके, ऐसा कौन सा उपाय हैं ? यह प्रश्न है ।'' तब जो बड़े-बड़े सन्त थे, उन्हें जैसा लगा वैसा उत्तर किया, परन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का समाधान नहीं हुआ । फिर श्रीजीमहाराज ने कहा कि ''लीजिए हम उत्तर करते हैं । इसका उत्तर यह है कि जैसे पतिव्रता स्त्री हो, उसे अपना पति कंगाल हो, तथा कुरूप हो, अथवा रोगी या वृद्ध हो, तो भी दूसरे जो तालेवर[१] और रूपवान और यौवनवान पुरुष को देखकर लेशमात्र मन में गुण आता नहीं है । और जो पतिव्रता हो, वह अन्य पुरुष के सामने भाव से देखती है अथवा

*दि २३-७-१८२७, सोमवार १. रजोगुण प्रधान धनवान व्यक्ति ।

हँसकर बोलती है, तब उसका पतिव्रतापन नष्ट हो जाता है। और उस पतिव्रता के घर कोई अतिथि[१] आये हो, तो उसे अन्न-जल देती है तथा अपने पति के जो सम्बन्धी पुरुष, उन्हें भी अन्न-जल देती है, वह तो पति के सम्बन्धी जानकर देती है; परन्तु अपने पति के समान दूसरे पुरुषमात्र के साथ लेशमात्र भी प्रीति नहीं होती। और अपने पति के जैसा दूसरे पुरुष का गुण भी नहीं आता है, और अपने पति की मरजी के अनुसार ही रहती है। इस तरह से पतिव्रता स्त्री को अपने पति के साथ दृढ़ प्रण[२] है। **उसी ही तरह भगवान के भक्त को भी भगवान के साथ दृढ़ टेक होनी चाहिए। और जिस रूप में भगवान का दर्शन अपने को हुआ है, और उनके साथ जिसे पतिव्रता के जैसी दृढ़ प्रीति हो गई है, उसे बड़े-बड़े जो दूसरे मुक्त साधु, उन के साथ भी प्रीति होती ही नहीं है। और अपने इष्टदेव जो भगवान, उनके जो अन्य अवतार हैं, उनके साथ भी प्रीति नहीं होती है।** केवल जिस स्वरूप की अपने को प्राप्ति हुई हो, उसके साथ ही प्रीति रहती है। और उनकी मरजी के अनुसार ही रहे; और दूसरों को जो कुछ मानता है, उसे तो उनके जानकर मानता है। ऐसी जिसे अपने इष्टदेव जो भगवान हैं, उनमें पतिव्रता के जैसी दृढ़ भक्ति हो, और वह चाहे कैसे भी दूसरे गुणवान को देखता है, परन्तु उसमें प्रीति होती ही नहीं है। जैसे हनुमानजी श्रीरघुनाथजी के भक्त हैं। वे रामावतार के बाद दूसरे कितने भगवान के अवतार हुए हैं, लेकिन हनुमानजी को रामचन्द्रजी में ही पतिव्रता के जैसी भक्ति रही है। इसलिए हनुमानजी की भक्ति तो पतिव्रता के जैसी है। इस तरह भगवान के भक्त का जो प्रण है, उसकी पतिव्रता के जैसी भक्ति कहलाती है और जिसका अंग ऐसा न हो, तो उसकी व्यभिचारिणी के जैसी भक्ति कहलाती है। **इसलिए जान बूजकर अपना नाक कटे ऐसी भक्ति न करें और भगवान का भक्त तो समझ विचार कर के पतिव्रता के जैसी दृढ़ भक्ति करें।**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥१६॥२३९॥

१. महेमान २. टेक, निष्ठा, प्रतिज्ञा

वचनामृत १७ : 'भरतजी के आख्यान का'

संवत्* १८८४ के श्रावण शुक्ल ६ षष्ठी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वीद्वार के कक्ष के बरामदे में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कण्ठ में पुष्पों का हार पहना था और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''श्रीमद् भागवत में भरतजी का आख्यान जैसा चमत्कारी है, वैसी तो कोई कथा चमत्कारी नहीं है । क्योंकि भरतजी तो ऋषभदेव भगवान के पुत्र थे । और भगवान के लिए समस्त पृथ्वी का राज्य त्याग करके वन में गए थे । और वहाँ भगवान का भजन करते-करते मृगी[१] के बच्चे में उन्हें स्नेह हुआ, तब अपने मन की वृत्ति उस मृग के आकार में हो गई । फिर ऐसे बड़े थे तो भी उस पाप से मृग का अवतार आया । **इसलिए अनन्त प्रकार के पाप हैं, किन्तु उन सभी पापों से भगवान के भक्त को भगवान के सिवा दूसरी जगह जो स्नेह करना, वह अति बड़ा पाप है ।** इसलिए जो समझदार हो, और वह यदि उन भरतजी की बात[२] का विचार करे तब हृदय में अति डर लगता है कि 'शायद भगवान के बिना दूसरे कहीं स्नेह हो जाये तो ! ।' इस तरह का अतिशय डर लगता है । और भरतजी ने जब मृग के देह का त्याग करके ब्राह्मण के घर जन्म लिया, तब भगवान के बिना दूसरे ठिकाने स्नेह हो जाये, उस डर से संसार के व्यवहार में चित्त दिया ही नहीं और जान बूझकर पागल की तरह रहे, और जिस प्रकार से भगवान में अखण्ड वृत्ति रह सके, वैसे ही रहते थे ।'' इतनी बात करके श्रीजीमहाराज ठाकुरजी की आरती हुई, वहाँ पधारे ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥१७॥२४०॥

---

*दि ३०-७-१८२७, सोमवार

१. हिरनी २. प्रसंग

वचनामृत १८ : 'वासना जीर्ण होने का'

संवत्* १८८४ के श्रावण कृष्ण १० दशमी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वीद्वार के कक्ष के बरामदे में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कण्ठ में पुष्पों के हार पहने थे, पाग में पुष्पों के तुर्रे लटक रहे थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज के भतीजे जो रघुवीरजी, उन्होंने प्रश्न पूछा कि "जैसी जाग्रत अवस्था में जीव की स्थिति रहती है, वैसी स्वप्न अवस्था में क्यूँ नहीं रहती है ?" तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "जीव जैसा जाग्रत अवस्था में रहता है, वैसा ही स्वप्न अवस्था में रहता है । क्योंकि, जाग्रत अवस्था में जैसी वासना हो, वैसी ही स्वप्न अवस्था में स्फुरणा होती है(१) ।"

फिर निर्लोभानन्द स्वामी ने पूछा कि "हे महाराज ! जाग्रत अवस्था में तो कभी देखे भी न हो, और सुने भी न हो, वैसे-वैसे पदार्थ स्वप्न में स्फुरित हो आते हैं; उसका क्या कारण होगा ?" फिर श्रीजीमहाराज बोले कि "जो न देखे हो और न सुने हो, ऐसे जो पदार्थ स्फुरित होते हैं, वे तो पूर्व जन्म के जो कर्म हैं, उनकी वासना के कारण स्फुरित होते हैं ।"

---

*दि १७-८-१८२७, शुक्रवार

१. अभिप्राय ऐसा है कि - जीव की तीनों अवस्थायें त्रिगुणात्मक हैं, सत्त्वादिक हर-एक गुण भी पृथक्-पृथक् दूसरे गुण से मिश्रित है, इसलिए सत्त्वगुण रज: तम से मिश्रित है । रजोगुण तम: सत्त्व से मिश्रित है । इस तरह तम: सत्त्व मिश्रित रजोगुण जिसमें प्रधान है, ऐसी स्वप्नावस्था में रजोगुण की प्रधानता रहती है । कदाचित् तमोगुण की अधिकता है । तमोगुण सत्त्व रज से मिश्रित है । स्वप्नसंज्ञित अवस्था रजोगुणात्मक रहती है । उसमें तम: सत्त्व से मिश्रित होने से बुद्धि मन्द होती है । इससे अनुभव किया हुआ स्वप्न भी जीव कह सकता नहीं । कदाचित स्वप्नावस्था में सत्त्वगुण की अधिकता होने से जीव की स्थिति जाग्रत के जैसी होती है । और स्वप्न में अनुभव किये अर्थ की स्मृति भी यथाक्रम से होती है । स्वप्नावस्था में रजोगुण की अधिकता प्राय: रहती है, इसलिए भ्रांति होती है, इससे जाग्रत के जैसी जीव की स्थिति रहती नहीं ।

फिर अखण्डानन्द स्वामी ने पूछा कि ''हे महाराज ! इस जीव को पूर्व जन्म के जो कर्म हैं, उन कर्मों की प्रबलता भगवान का भक्त होता है, तो भी कब तक रहती है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''इस जीव को जब सत्पुरुष का संग होता है, तब ज्यों-ज्यों समागम करता रहता है, त्यों-त्यों पूर्वकर्म सम्बन्धी जो वासना है, वह क्षीण होती जाती है । फिर उसे जन्म मरण भोगवाये ऐसी वह वासना रहती नहीं है । जैसे तीन वर्ष का तथा चार वर्ष का पुराना धान[१] हुआ, वह खाने में आता तो है, परन्तु बोया जाय तो अंकुरित नहीं होता है, उस तरह पूर्व कर्म की जो वासना है, वह जीर्ण होती है तब जन्म मरण को भोगवाये ऐसी रहती नहीं है । तब कोई ऐसा पूछेगा कि 'वासना जीर्ण हुई' यह कैसे जानने में आये ? वहाँ दृष्टान्त - जैसे कोई पुरुष ढालें-तलवारें लेकर आमने-सामने लड़ाई करते हो, तो जब तक आमने-सामने ज्यों के त्यों खड़े रहते हैं तब तक उन दोनों का बल बराबर दिखाई देता है, और जब एक पुरुष का पैर पीछे हट गया तब वह हारा कहलाता है । उस तरह भगवान का जो भक्त है, उसे भगवान सम्बन्धी तथा विषय सम्बन्धी जो संकल्प हैं, वे जब तक समानरूप से रहते हैं, तब तक ऐसा जाने कि 'वासना बलवान है' । और **जब भगवान सम्बन्धी जो संकल्प हैं, वे विषय सम्बन्धी संकल्प को हटा दें, तब ऐसा जाने कि 'वासना जीर्ण हो गई है' ।''**

फिर श्रीजीमहाराज ने परमहंसों के प्रति प्रश्न पूछा कि ''भगवान के जिस भक्त को देहाभिमान की निवृत्ति हो गई हो, और पञ्चविषय का अभाव हो गया हो, यह दूसरे सभी भक्तों को कैसे परख में आता है ?'' फिर मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि ''हे महाराज ! आपके इस प्रश्न का उत्तर हम से नहीं होगा; इसलिए आप कृपा करके कीजिए ।'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''भगवान का भक्त गृहस्थाश्रमी हो अथवा त्यागी हो, और उसे देहाभिमान तथा पञ्चविषय में से आसक्ति, वह तो निवृत्त हो गई हो,[२] फिर परमेश्वर की आज्ञा से जिस तरह

१. शालि, चावल

२. उस भक्त की जो-जो क्रियाएं हैं वे सब भगवान की आज्ञा से ही हैं इसलिए वह भक्त भगवान की आज्ञा अनुसार ही क्रियाओं को करता है परन्तु अपनी इच्छा से कोई क्रिया करता नहीं है ।

से उचित हो, उस तरह देहाभिमान भी रखना चाहिए और जिसे जैसा योग्य हो वैसे पञ्चविषय भी भोगने चाहिए। वहाँ दृष्टान्त – जैसे अतिशय दुर्बल पशु हो, उसके नीचे खंभा धँसाकर[१] और सींग-पूँछ पकड़कर खड़ा करते हैं, तो जब तक वे मनुष्य पकड़कर रखते है तब तक खड़ा रहता है और जब मनुष्य छोड़ देते हैं तब जमीन पर गिर जाता है। उस तरह जो निर्वासनिक हो, उसे तो परमेश्वर की आज्ञा से जब तक जितनी क्रिया करने में लगाते हैं, उतनी ही क्रिया को करके रहने देता है। जैसे कोई पुरुष के हाथ में तीर कमान हो, तो जब तक वह पुरुष खींचता है तब तक कमान कड़क हो जाती है और जब वह पुरुष कमान को खींचने से छोड़ दे तब वह कमान ढ़ीली हो जाती है। **उस तरह जो निर्वासनिक पुरुष हैं, वे तो जितनी परमेश्वर की आज्ञा हो, उतने ही व्यवहार में जुड़ते हैं परन्तु आज्ञा से बहार कुछ भी नहीं करते हैं, और जो सवासनिक हो, वे तो जिन-जिन व्यवहार में जुड़े हो, उस व्यवहार में से अपने आप मुक्त नहीं हो पाते, और परमेश्वर की आज्ञा से भी छूट नहीं पाते। इस तरह निर्वासनिक पुरुष और सवासनिक पुरुष के लक्षण हैं।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥१८॥२४१॥

वचनामृत १९ : 'त्यागी के दो कुलक्षण का'

संवत्* १८८४ के श्रावण कृष्ण १३ त्रयोदशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कण्ठ में मोगरे के एवं कर्णिकार के[२] पुष्पों के हार विराजमान थे और अपने मुखारविन्द के समक्ष मुनिमण्डल तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

---

*दि. २०-८-१८२७, सोमवार

१. लकड़ियां लगाकर २. कनकचंपा, कनियारी

तब श्रीजीमहाराज बोले कि "**जिसने संसार का त्याग किया हो, ऐसे जो हरिभक्त है, उन्हें दो कुलक्षण हैं जो इस सत्संग में शोभा नहीं होने देते हैं । उनमें एक तो कामना और दूसरी अपने कुटुम्बीजनों में प्रीति;** यह दो कुलक्षण जिसमें होते हैं, वह तो हमें पशु जैसा दिखाई देता है[1] । उनमें भी जिसे अपने सम्बन्धी में अधिक स्नेह रहता है, उसका तो हमें अतिशय अवगुण आता है । इसलिए जिसने संसार त्याग किया हो, उसे तो लेशमात्र भी अपने सम्बन्धियों के साथ स्नेह नहीं रखना चाहिए । क्योंकि, **जो पञ्च महापाप हैं, उनसे भी देह के सम्बन्धी में स्नेह रखना, वह अधिक पाप है ।** इसलिए भगवान के जो त्यागी भक्त है, उन्हें तो इस देह से तथा देह के सम्बन्धी से अपने चैतन्य को अलग जानना चाहिए कि 'मैं आत्मा हूँ और मुझे किसीके साथ लेशमात्र सम्बन्ध नहीं है ।' और देह के जो सम्बन्धी हैं, उनकी तो चौरासी लाख जाति के समान तुलना करनी चाहिए, और उन सम्बन्धियों को सत्संगी समझकर उनका माहात्म्य समझने लगे, तब एक तो सम्बन्ध का ही स्नेह रहता है और फिर उनका हरिभक्त सम्बन्धित माहात्म्य समझता है, फिर भगवान तथा भगवान के भक्त से सम्बन्धी में अधिक स्नेह हो जाता है, इसलिए जिनमें स्वाभाविक स्नेह रहा ही है, ऐसे जो अपने सम्बन्धी, उन्हें हरिजन जानकर यदि उनमें स्नेह करता है तो उसका जन्म खराब हो जाता है । और यदि देह का सम्बन्धी न हो, परन्तु जो अपनी सेवा-चाकरी करता हो, उसमें भी स्वाभाविक स्नेह हो जाता है । इसलिए जो समझदार हो, वह अपनी चाकरी करता हो और वह हरिभक्त हो, तो भी उसमें स्नेह न रखें । जैसे दूध और शक्कर मिली हो, उसमें सर्पने मुँह डाला हो, तो वह भी जहर कहलाता है । उस तरह **जिसमें सेवा-चाकरीरूप स्वार्थ मिला हो, और वह हरिभक्त हो, तो भी उसमें तो अपना स्वार्थ लेकर स्नेह न रखें ।** क्योंकि उससे[2] अपने जीव को बन्धन होता है और जिस तरह भगवान का चिन्तन होता है, वैसे ही जिसमें अपना स्वार्थ रहता है, उसका भी चिन्तन होने लगता है । यही उसे भगवान के भजन में विघ्न

१. इसलिए मुमुक्षु त्यागी अष्ट प्रकार से स्त्री का त्याग रखें । २. स्नेह से

कहलाता है । जैसे भरतजी को हिरनी का बच्चा ही अविद्या-मायारूप हुआ । **इस तरह जो-जो भगवान के भजन में अन्तरायरूप हुए हो, उनका भगवान के भक्त को अविद्यारूप जानकर अतिशय त्याग करना है ।** और इस प्रकरण की जो वार्ता है, उसे सन्तमण्डल तथा सांख्ययोगी हरिभक्त समस्त, वे प्रतिदिन कहें और सुनें । उसे इस प्रकार करें कि जिसके मण्डल में जो बड़ा हो, वह प्रतिदिन यह बात करें और दूसरे सुनें । और जो अग्रणी हो, और जिस दिन बात नहीं करता है, तो वह उस दिन उपवास करें । और जो श्रोता हो, वे श्रद्धा से भगवान की इस बात को सुनने न आयें, तो वह भी उपवास करें । और इस वचन को अतिशय दृढ़ करके रखें ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥१९॥२४२॥

वचनामृत २० : 'स्वभाव, प्रकृति या वासना का'

संवत्* १८८४ के श्रावण कृष्ण ३० अमावस्या के दिन रात्रि के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवास स्थान पर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के समक्ष साधु तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब दीनानाथ भट्ट ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज काल[१] तो भगवान की शक्ति है, तथा कर्म तो जो जीव ने किये हों वे हैं, परन्तु स्वभाव तो वस्तुतः क्या होगा ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''**जीवने पूर्वजन्म में जो कर्म किये हैं, वे कर्म परिपक्व अवस्था को प्राप्त होकर जीव के साथ एकरस हो गए हैं । जैसे लोहे में अग्नि का प्रवेश हो जाता है, वैसे परिपक्वता को प्राप्त होकर जीव के साथ एकरस हुए जो कर्म है, उन्हें ही स्वभाव कहते है और उन्हें ही वासना तथा प्रकृति कहते हैं ।**''

---

*दि. २२-८-१८२७, बुधवार

१. काल, कर्म और स्वभाव; यह तीन, जीवों को सुखदुःख की प्राप्ति में निमित्त है, उसमें ।

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! जीव के साथ एकरसता को प्राप्त हुए ऐसे जो कर्म हैं, उन्हें ही स्वभाव तथा वासनारूप से कहते हैं; उस वासना को टालने का क्या उपाय है ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''**इस वासना को टालने का उपाय तो, आत्मनिष्ठा सहित श्रीकृष्ण भगवान की भक्ति करनी; यही दिखता है ।** और यदि आत्मनिष्ठा रहित अकेली ही श्रीकृष्ण भगवान की भक्ति हो, तो जैसे भगवान में स्नेह करता है वैसे दूसरे पदार्थ में भी स्नेह हो जाता है । इसलिए आत्मनिष्ठा सहित भक्ति करनी; यही वासना टालने का उपाय है और आत्मनिष्ठावाले को भी यदि किसी अशुभ देश-कालादिक के योग से अज्ञानी की तरह ही क्षोभ हो जाता है, किन्तु अधिक समय तक टिक नहीं पाता ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥२०॥२४३॥

वचनामृत २१ : 'सोने के तार का - धर्म में भक्ति के समान गौरवता का'

संवत्* १८८४ के भाद्रपद शुक्ल ९ नवमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया बिछ्वाकर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और कण्ठ में चमेली के पुष्पों के हार विराजमान थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनिमण्डल समस्त तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज ने गोपालानन्द स्वामी को तथा शुकमुनि को प्रश्न-उत्तर करने की आज्ञा की । फिर शुकमुनि ने गोपालानन्द स्वामी को प्रश्न पूछा कि ''भगवान की जो भक्ति है, उससे भगवान की माया को जीव तैर जाता है और अक्षरधाम को प्राप्त होता है । और जो धर्म है, उससे तो देवलोक की प्राप्ति होती है और उन पुण्यों के नाश से देवलोक में से पुनः वह जीव गिर

*दि. ३१-८-१८२७, शुक्रवार

जाता है। और भगवान के जो अवतार होते हैं, वे तो जब–जब धर्म की ग्लानि[१] होती है तब–तब उस धर्म के स्थापन के लिए होते है; परन्तु भक्ति के स्थापन के लिए नहीं होते हैं। और जो प्राप्ति भक्ति द्वारा होती है, वह प्राप्ति धर्म से नहीं दिखाई देती है। इसलिए भक्ति के समान किस प्रकार से धर्म में गौरव[२] आता है ? यह प्रश्न है।'' फिर गोपालानन्द स्वामी इस प्रश्न का उत्तर करने लगे, तब जो–जो बातें कही, उनमें धर्म तो भक्ति के अंगरूप होने लगा, परन्तु किसी भी तरह से धर्म में भक्ति के समान गौरव आता नहीं था। फिर इस बात को सुनकर श्रीजीमहाराज अतिशय हँसने लगे और ऐसा बोले कि ''इस प्रश्न का उत्तर बहुत कठिन है। इसलिए लीजिए, हम इसका उत्तर करते हैं कि[३] 'वह धर्म तो दो प्रकार का है; एक निवृत्ति धर्म है और दूसरा प्रवृत्ति धर्म है। तो यह दोनों प्रकारों का धर्म तो भगवान के सम्बन्ध से सहित भी है और भगवान के सम्बन्ध से रहित भी है। **उनमें भगवान के सम्बन्ध से सहित जो धर्म है, वह तो नारद, सनकादिक, शुकजी, ध्रुव, प्रह्लाद, अम्बरीष इत्यादिक जो भक्तजन हैं, उनका हैं; और इस धर्म को ही भागवत धर्म कहते हैं तथा एकान्तिक धर्म कहते हैं और वह धर्म तथा भक्ति दो नहीं हैं, एक ही हैं।** और जिस धर्म की स्थापना के लिए भगवान के अवतार होते हैं, वे भी इसी धर्म के स्थापन के लिए होते हैं। और जो केवल वर्णाश्रम के धर्म हैं, वे तो भागवत धर्म से अतिशय गौण है। और भागवत धर्म से तो जीव भगवान की माया को तैरकर पुरुषोत्तम के धाम को प्राप्त होते हैं। इसलिए भागवत धर्म और भक्ति, उनका तो एक समान गौरव है और प्राप्ति भी एक समान ही है। इस तरह भक्ति की तथा धर्म की समान महत्ता है, और केवल जो वर्णाश्रम के धर्म, वे तो उनसे अतिशय दुबले हैं और उनका फल भी नाशवान् है।''

---

१. ह्रास, नाश २. बड़ाई, मोक्षादि उत्कृष्ट फल देने का सामर्थ्य।

३. जो धर्म है वह जगत को धारण करनेवाला है, इसलिए उसका रक्षण करने से सर्व जगत का रक्षण होता है।

और हमारा भी मत यह है कि 'भगवान तथा भगवान के एकान्तिक भक्त, उनके बिना किसीके साथ स्नेह करते हैं तो भी नहीं होता है।' और हमें तो ऐसा दिखाई देता है कि 'जड़भरत, शुकदेव, दत्तात्रेय, ऋषभदेव भगवान; उनके समान हमारे जीव का झुकाव है।' इसलिए हमें भी वन, पर्वत और जंगल; उनमें ही रहना अच्छा लगता है, परन्तु बड़े-बड़े शहर-नगर हो, उनमें रहना अच्छा नहीं लगता है, ऐसा हमारा सहज स्वभाव है; तो भी भगवान तथा भगवान के भक्त के लिए लाखों मनुष्य की भीड़[१] में रहते हैं तो भी हमें जैसे वन में रहने से निर्बन्ध रहा जाता है, वैसा ही रहा जाता है। हम अपने स्वार्थ के लिए लाखों मनुष्यों में नहीं रहते हैं, हम तो भगवान तथा भगवान के भक्त के लिए मनुष्यों की भीड़ में रहते हैं। **भगवान के भक्त के लिए चाहे कितनी ही प्रवृत्ति करनी पड़े तो भी उसे हम निवृत्ति जानते हैं।** और भगवान का जो भक्त है, और वह चाहे कितने भी गुनाह में आया हो, तो भी हमें उसका अवगुण आता नहीं है। हम तो ऐसा जानते हैं कि भगवान के भक्त में यदि कोई स्वाभाविक अल्पदोष हो, तो भी उसे न देखें और वह दोष जो अपने में हो, तो उसे टालने का उपाय करें; परन्तु भगवान के भक्त में उस प्रकार का दोष हो तो भी उस हरिजन का अवगुण न लें। हरिभक्त का अवगुण तो जब बड़े वर्तमान में से च्युत हो जाये तब लें और दूसरे अल्पदोष हो तो भगवान के भक्त का अवगुण न लें। और भगवान का भक्त हो, उसे वाद-विवाद से जीतकर हर्षित न हों, उसके साथ तो हारकर ही खुश रहें। और **जो वाद-विवाद से भगवान के भक्त को जीतता है, वह तो पञ्च महापापों के जो करनेवाले हैं, उनसे भी अधिक पापी है। और हमारे आगे जो कोई भगवान के भक्त का निकृष्ट[२] वचन बोलता है, वह तो हमें देखने में भी बुरा लगता है।** जो भगवान के भक्त का अवगुण लेता है, उसके हाथ का तो अन्न-जल भी अच्छा नहीं लगता। देह का सम्बन्धी हो, परन्तु यदि भगवान के भक्त का अवगुण लेता है, तो उसके साथ भी अतिशय अप्रीति हो जाती है। क्योंकि हम

१. समूह जीवन के बन्धन तथा कठिनाइयों में। २. निन्दा

सब तो आत्मा हैं, तो हमें देह तथा देह के सम्बन्धियों के साथ क्यों स्नेह रखना चाहिए ? हमने तो सत्तारूप रहकर भगवान तथा भगवान के भक्त के साथ स्नेह किया है, परन्तु देहबुद्धि से प्रीति नहीं की है। जो सत्तारूप नहीं रह सकता, उसे तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरादिक जो शत्रु हैं, वे पीड़े बिना रहते ही नहीं । इसलिए **जो आत्मसत्तारूप रहकर भक्ति नहीं करते होंगे, उनका रूप तो इस सत्संग में जाहिर[1] हुए बिना रहता ही नहीं है । क्योंकि यह सत्संग है वह तो अलौकिक है और जैसे श्वेतद्वीप, वैकुण्ठ, गौलोक में भगवान के पार्षद हैं, उनके जैसे ही ये सभी सत्संगी हैं ।** और हम तो जैसे सबसे पर जो दिव्य अक्षरधाम, उसमें जो भगवान के पार्षद हैं उनके समान यदि इन सत्संगी को नहीं जानते हैं तो **हमें भगवान तथा भगवान के भक्त की सौगन्ध है ।**

जिसे ज्ञान, वैराग्य, धर्म और भक्ति; ये अतिशय दृढ़ नहीं होंगे, वे तो आखिरकार शिथिल हुए बिना नहीं ही रहेगा। जैसे मोम से लगी डोरी हो, और वह शीतकाल और वर्षाकाल में कड़ी बनी रहती है परन्तु जब गर्मी आती है तब जरूर ढीली हो जाती है। उस तरह यहाँ पर हरिभक्त को सभी प्रकार से सुख रहता हो और सत्संग में भी सन्मान होता रहता हो, उस रूप जो वर्षाकाल तथा शीतकाल है, उसमें तो ज्ञान, वैराग्य, धर्म, एवं भक्ति वे बहुत से कड़े[2] दिखाई देते हैं; परन्तु जब सत्संग में अपमान होता हो तथा देह से भी दु:खी होता हो, उस रूप जो ग्रीष्मऋतु, उसमें तो ज्ञान, वैराग्य, धर्म और भक्ति; वे मोम चढ़ी डोर की तरह शिथिल हो जाते हैं। तो भी हम तो उसका त्याग करते नहीं हैं, परन्तु वह ही अपने आप मन में असहाय होकर सत्संग में से पीछे हो जाता है। फिर वह सत्संगी कहलाता हो, तो भी उसके अन्तर में सत्संग सम्बन्धी सुख नहीं रहता है। इसलिए सत्संग करना हो, तो आत्मसत्तारूप होकर अति दृढ़ता से करें, परन्तु देह तथा देह के सम्बन्धी के साथ स्नेह रह जाये, ऐसा

१. प्रकट २. अतिदृढ़

सत्संग न करें । **जैसे सोने का तार हो, वह छः ऋतुओं में समान रहता है किन्तु ग्रीष्म के ताप से ढीला नहीं होता है, उस तरह जिसका सत्संग दृढ़ हो, उसे कैसे भी दुःख आ पड़े तथा सत्संग में कितना भी अपमान हो, परन्तु उसका मन किसी भी प्रकार से सत्संग में से पीछे नहीं हटता है । ऐसे जो दृढ़ सत्संगी वैष्णव हैं, वे ही हमारे सगे सम्बन्धी हैं और वे ही हमारी ज्ञाति हैं और इस देह से भी ऐसे वैष्णव के साथ ही रहना है और श्रीकृष्ण भगवान के धाम में भी ऐसे वैष्णवों के साथ ही रहना है, ऐसा हमारा निश्चय है ।** और आपको भी उसी प्रकार से निश्चय रखना चाहिए । क्योंकि आप सभी हमारे आश्रित हुए हैं, इसलिए हमें आपको हित की बात हो, उसे कहनी चाहिए । और मित्र भी उसीको ही जानें कि 'अपने हित की बात हो, उसे दुःख लगाकर भी कहें । यही मित्र का लक्षण है, उसे समझ रखिए ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥२१॥२४४॥

वचनामृत २२ : 'सखी-सखा के भाव का'

संवत्* १८८४ के भाद्रपद कृष्ण ४ चतुर्थी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कक्ष के बरामदे में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे, पाग में श्वेत पुष्पों के तुर्रे झुके हुए थे, कण्ठ में सफेद पुष्पों के हार विराजमान थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और परमहंस दुक्कड़-सरोद लेकर उनके समक्ष विष्णुपद गा रहे थे । उस समय श्रीजीमहाराज अन्तर सन्मुख दृष्टि करके विराजमान थे ।

फिर श्रीजीमहाराज ऐसे बोले कि ''जैसा प्रेमलक्षणा भक्ति से युक्त हरिजन का अंग इस कीर्तन में कहा है, ऐसा तो झीणाभाई का अंग है तथा पर्वतभाई और मूलजी इनके भी ऐसे अंग थे । इसलिए हम अन्तर सन्मुख दृष्टि

*दि. ९-९-१८२७, रविवार

करके विचार कर रहे थे और दूसरे भी सत्संग में ऐसे अंगवाले होंगे । और **जिन्हें प्रेमलक्षणा भक्ति का अंग आता है उन्हें पञ्चविषय में से प्रीति टल जाती है और आत्मनिष्ठा रखे बिना ही रहती है ।''**

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ''नरसिंह मेहता तो सखीभाव से श्रीकृष्ण भगवान को भजते थे और कितने नारदादिक भगवान के भक्त हैं, वे तो दासभाव से भगवान को भजते हैं । इन दो प्रकार के भक्तों में किसकी भक्ति श्रेष्ठ जानें ?'' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''नरसिंह मेहता, गोपियाँ तथा नारद-सनकादिक; इनकी भक्ति में दो प्रकार नहीं हैं, वह तो एक ही प्रकार है[१]। और देह तो पुरुष का तथा स्त्री का; दोनों मायिक हैं और नाशवान हैं; और भजन को करनेवाला जो जीवात्मा है, वह पुरुष भी नहीं है और स्त्री भी नहीं है, वे तो सत्तामात्र चैतन्य हैं । जब वह देह का त्याग करके भगवान के धाम में जाता है तब परमेश्वर की जैसी मरजी हो वैसा उसका आकार बँधता है अथवा उस भक्त को जैसा सेवा का अवकाश[२] मिले वैसा आकार धारण करके भगवान की सेवा करता है । जो भगवान का भक्त है, उसे जैसे भगवान में प्रीति हो, उसी तरह यदि धन, स्त्री आदिक पदार्थ में प्रीति हो जाये, तो वह भगवान का दृढ़ भक्त नहीं कहलाता है । **परमेश्वर का भक्त होकर भक्ति करते-करते जो पाप करता है और सत्संग में ही कुवासना बाँधता है, वह पाप तो उसे वज्रलेप होता है । कुसंग में जाकर परस्त्री का संग करता है, उससे भी सत्संग में भगवान के भक्त ऊपर कुदृष्टि से देखा गया हो, तो उसका अधिक पाप है ।** इसलिए जिसे भगवान में दृढ़ प्रीति करनी है, वह तो किसी भी प्रकार का पाप अपनी बुद्धि में रहने न दें । क्योंकि जो सत्संगी हरिजन हैं, वे तो जैसे अपनी माँ, बहन या पुत्री हो, वैसे हैं । और इस संसार में अतिशय जो पापी होते हैं वे अपने गोत्र[३] की स्त्रियों के प्रति कुदृष्टि रखते हैं; इसलिए **जो हरिजन के प्रति कुदृष्टि रखता है वह अतिशय पापी है और**

१. दोनों भक्ति में क्रियाभेद होने पर भी प्रेम में भेद नहीं है ।

२. अवसर ३. कुल की

उसका कभी भी छुटकारा होता नहीं है । इसलिए जिसे रसिक भक्त होना हो, वह इस प्रकार के पाप का त्याग करने के बाद रसिक भक्त बनें ।

और सभी पापों में से बड़ा पाप यह है कि भगवान तथा भगवान के भक्त में दोषबुद्धि हो जाये, और उस दोषबुद्धि से भगवान तथा भगवान के भक्त के साथ वैर बँध जाये । इसलिए कोटि गौ हत्या की हो, तथा मद्य-मांस का भक्षण किया हो, तथा असंख्य गुरुस्त्री का संग किया हो, तो इस पाप से तो कभी भी छुटकारा होता है, किन्तु **भगवान तथा भगवान के भक्त का जो द्रोही है, उसका तो किसी काल में उस पाप से छुटकारा नहीं होता है ।** और वह पुरुष हो तो राक्षस हो जाता है और स्त्री हो तो राक्षसी हो जाती है । फिर वह किसी जन्म में असुर मिटकर भगवान का भक्त नहीं होता है । और जिसने भगवान के भक्त का द्रोह करना आरम्भ किया हो, और परिपक्व द्रोह बुद्धि हो गई हो, उसकी तो किसी भी तरह से द्रोह बुद्धि टलती नहीं है। और द्रोह करने की प्रारम्भिक स्थिति में हो, और ऐसा जाने कि 'भगवान और भगवान के भक्त का मैंने द्रोह किया है, यह बड़ा पाप किया है, इसलिए मैं तो अतिशय नीच हूँ और भगवान तथा भगवान के भक्त; वे तो बहुत बड़े हैं,' इस तरह **जो भगवान का तथा भगवान के भक्त का गुण लेता है और अपने में दोष देखता है, तो कैसे भी बड़े पाप किये हों तोभी वे नाश हो जाते हैं ।** और भगवान अपने भक्त के द्रोह करनेवाले पर जैसे नाराज होते हैं, तथा दुःखी होते हैं, वैसे किसी भी पाप से दुःखी नहीं होते हैं । जब वैकुण्ठलोक में जय-विजय ने सनकादिक का अपमान किया तब भगवान तत्काल सनकादिक के पास आये और सनकादिक के प्रति ऐसा बोले कि "आप जैसे साधु हैं, उनका जो द्रोह करता है, वे तो मेरे शत्रु हैं । इसलिए आपने जय-विजय को शाप दिया, यह बहुत अच्छा किया, और आपके जैसे भगवदीय ब्राह्मण, उनका यदि मेरा हाथ द्रोह करता है तो उस हाथ को भी मैं काट डालता हूँ, तो दूसरे की क्या बात कहनी ?" इस तरह वैकुण्ठनाथ भगवान सनकादिक के प्रति बोलें, और जय-विजय थे वे भगवदीय के अपराधरूप जो पाप, उसके

कारण दैत्य हुए । इस तरह जिसने भगवान के भक्त का द्रोह किया है, वे सभी बड़ी पदवी से गिर गए हैं, यह बात शास्त्र में प्रसिद्ध है । इसलिए **जिसे अपने कल्याण की इच्छा हो, वे भगवान के भक्त का द्रोह न करें और यदि जाने-अनजाने में कुछ द्रोह हो गया हो तो चरणस्पर्श करके, स्तुति करके, जैसे वे प्रसन्न हो वैसा करें ।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥२२॥२४५॥

वचनामृत २३ : 'मानसी पूजा का'

संवत्* १८८५ के आश्विन शुक्ल १५ पूर्णिमा की रात्रि के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवासस्थान पर प्रांगण के बीच में पलंग बिछवाकर उस पर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के समक्ष परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

फिर श्रीजीमहाराज कृपा करके सभी हरिजनों के प्रति बोले कि ''भगवान का जो भक्त हो, वह नित्य भगवान की मानसी पूजा करें । उस मानसी पूजा करने की ऐसी रीति है कि 'ग्रीष्मकाल, शीतकाल तथा वर्षाकाल इन तीनों ॠतुओं में भिन्न-भिन्न मानसी पूजा करें । उनमें ग्रीष्मकाल के चार महीने तक तो ऐसे पूजा करें कि निर्मल, ठंडे, सुगन्धित, पवित्र जल से भगवान को प्रथम स्नान कराए, और फिर धोया हुआ, सफेद खेस जो सुन्दर महीन एवं घना हो उसे पहनने के लिए दें । और फिर सुन्दर आसन पर विराजमान ऐसे जो भगवान, उनके प्रत्येक अंग में सुन्दर मलयागिरि चन्दन घिसकर कटोरी में रखा हो, उसका आलेपन करें[१] । उसे प्रथम तो ललाट पर अर्चा करके ललाट का अच्छी तरह से दर्शन करें; तथा हाथ में लेपन करके हाथ का अच्छी तरह से दर्शन करें, तथा हृदय, उदर, जांघ, पिंडली; इत्यादिक जो अंग, उन पर चन्दन का लेपन करके

*दि. २२-१०-१८२८, बुधवार

१. अर्चा करें ।

उन-उन अंग का ध्यान पूर्वक दर्शन करें। तथा चरणारविन्द के उपले भाग पर एवं तलुओं में सुन्दर कुमकुम लगायें और चरणारविन्द का ध्यान से दर्शन करें। फिर मोगरा, चमेली, गुलाब, चंपा इत्यादिक जो सुगन्धित पुष्प, उनके हार तथा कंकण[१], बाजूबंद, टोपी इत्यादिक जो आभूषण, वे पुष्पों के पहनाएं। और मोगरे के पुष्प के समान सफेद एवं महीन, तथा बहुत भारी न हो ऐसा वस्त्र मस्तक पर धारण करायें तथा सफेद, महीन तथा हल्की ऐसी जो सुन्दर पछौरी, उसे ओढ़ायें। फिर ऐसे भगवान को भेंटें, उसे तो एक बार भेंटें, दो बार भेंटें, जिस प्रकार अपने हृदय में स्नेह होता है वैसे आलिंगन करें; तथा भगवान के चरणारविन्द को अपनी छाती में धारण करें, तथा मस्तक पर धारण करें। और उस भेंटन से भगवान के अंग का जो चन्दन अपने अंग में लग जाये तथा भगवान के चरणारविन्द को अपनी छाती में तथा मस्तक पर धारण किये थे, उससे जो कुमकुम लग जाये तथा पुष्पहार के चिह्न इत्यादिक जो-जो अपने अंग में लग जाये, उनको धारण करें; अर्थात् ऐसा समझे कि 'भगवान का प्रसादी चन्दन, कुमकुम और हार, वे मेरे अंगों से स्पर्श हुए हैं।'

''शीतकाल के चार महीने तक तो ऐसे पूजा करे कि प्रथम तो भगवान को उष्ण जल से स्नान करायें और फिर सफेद खेस पहनने के लिए दें और फिर पलंग पर मखमल का गद्दा बिछाकर, उस पर सफ़ेद चद्दर बिछाकर उस पर भगवान को विराजमान करें। फिर सुरवाल पहनायें तथा मिरजई पहनायें तथा सुनहरे तारवाला भारी कुसुम्भी रंग का रेंटा मस्तक पर बाँधें। तथा कमर पर मूल्यवान कमरबँध रेंटा बँधायें। तथा कन्धों पर मूल्यवान रेंटा धारण करायें तथा हीरा, मोती, सोना तथा मूंगा[२] के जो विभिन्न आभूषण, उन्हें प्रत्येक अंग में धारण करायें। तथा मोती की माला पहनायें। और वस्त्र पहनाकर तथा आभूषण पहनाकर भगवान के उन-उन अंगों का अच्छी तरह से दर्शन करें और भगवान के ललाट में कुमकुम का एक टीका लगायें।''

१. कंगन २. उस नाम का मणि विशेष।

"तथा वर्षाकाल के चार महीनों तक ऐसे पूजा करें कि माने कि भगवान किसी गाँव से आये हैं तो श्वेत वस्त्र सभी भीग गए हैं अथवा परमहंस के साथ नदी में नहाने पधारे थे वहाँ से भीगकर आये हैं। फिर इन भीगे वस्त्रों को उतराकर सभी कौसुम्भ वस्त्र पहनने को दें तथा ललाट पर पीला जो केसर चन्दन उसका लेपन करें। और ग्रीष्मकाल हो तब चौगान जगह पर तथा फुलवारी में भगवान विराजमान हैं, इस तरह भगवान को मन में धारण करें। और शीतकाल या वर्षाकाल हो, तब कोई बढ़िया मकान की मंजिल के उपर भगवान विराजमान हैं अथवा घर के भीतर विराजमान हैं, इस तरह भगवान को मन में धारण करें। और भगवान को भोजन कराने कौन सी वस्तु दी जाय ? तो भक्ष्य,[१] भोज्य,[२] लेह्य[३] और चोष्य[४] जो अपने मन में खाने की रुचि हो, भगवान के लिए वैसे चिन्तन करें और वैसे भगवान को रुचिकर न हो तो भी अपनी रुचि के भोजन ही भगवान के लिए चिन्तन करें। और अन्य जो धूप, दीप, आरती इत्यादिक उपचार; उसे यथायोग्य भगवान को अर्पण करें। **इस तरह तीनों ऋतुओं में जो भिन्न-भिन्न पूजा करता है तो उस भक्त को भगवान में स्नेह की वृद्धि होती है,** और उनके जीव को बहुत पुष्टि होती है। इसलिए जिसने यह बात सुनी है, वे याद रखें[५] और प्रतिदिन इसी प्रकार भगवान की मानसी पूजा करें। और ऐसी बात हमने कभी भी कही नहीं हैं।"

और फिर श्रीजीमहाराज ने एक दूसरी बात कही कि "जब भगवान तथा भगवान के भक्त, वे अपने पर प्रसन्न हो जाये तब उस भक्त को ऐसा विचार करना कि 'मेरे बड़े भाग्य है कि मेरे पर भगवान तथा भगवान के भक्त प्रसन्न हुए।' और शिक्षा के लिए भगवान तथा भगवान के भक्त अपने को डांटते हैं, तब भी ऐसा विचार करें कि 'मेरे बड़े भाग्य है कि मुझे भगवान और भगवान के भक्त डांटते हैं, जिससे मुझमें अवगुण होंगे वे निकल जायेंगे।' इस तरह डाटे तब भी प्रसन्न होना है, परन्तु डांटते हैं तब मन में शोक न करें और व्यथित[१]

१. बिना पकाया खा सके ऐसा। २. पकने के बाद खा सके ऐसा। ३. चाटकर खा सके ऐसा। ४. चुसकर खाया जाय ऐसा। ५. उसी प्रकार हररोज मानसी पूजा करें।

न हो जायें और अपने जीव को अति पापी न मानें, प्रसन्न रहें । यह बात भी रखने योग्य है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥२३॥२४६॥

वचनामृत २४ : 'सोलह साधन का - ज्ञानांश के वैराग्य का'

संवत्* १८८५ के आश्विन कृष्ण १२ द्वादशी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीगोपीनाथजी के मन्दिर में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख साधु तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज से मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''भगवान के जो भक्त हैं, वे अक्षरधाम में भगवान की सेवा में रहते हैं, उस सेवा की प्राप्ति के जो साधन; वे कौन से है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''श्रद्धा, स्वधर्म, वैराग्य, सभी प्रकार से इन्द्रियों का निग्रह करना, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, साधु का समागम, आत्मनिष्ठा, माहात्म्यज्ञान से युक्त ऐसी जो भगवान की निश्चल भक्ति, सन्तोष, निर्दम्भता, दया, तप, अपनेसे गुणों से बड़े जो भगवान के भक्त उनमें गुरुभाव रखकर उन्हें बहु प्रकार से मानना, अपने समान जो भगवान के भक्त उनके प्रति मित्रभाव रखना, अपनेसे न्यून जो भगवान के भक्त हैं उनके प्रति शिष्यभाव रखकर उनका हित करना; **इस तरह से इन सोलह साधनों से भगवान के एकान्तिक जो भक्त हैं, वे अक्षरधाम में भगवान की सेवा को श्रेष्ठरूप से प्राप्त होते हैं ।''**

फिर शुकमुनि ने प्रश्न पूछा कि ''अपने सभी सन्त वर्तमान(२) में रहते हैं, फिर भी उनमें ऐसा कौन-सा लक्षण है कि जिससे ऐसा जाना जाये कि उन्हें आपत्काल आयेगा तो भी वे धर्म में से नहीं विचलित होंगे ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''भगवान के जो-जो छोटे-बड़े वचन हैं, उन पर

*दि. ४-११-१८२८, मंगलवार

१. उद्विग्न २. निष्काम, निर्लोभ आदि पञ्च वर्तमान की मर्यादा ।

जिसकी निरन्तर दृष्टि रहती हो, परन्तु वचन से बहार पैर रखना हो, उसमें अति कठिनाई होती हो और उन वचन से आगे पैर रखके अधिक भी न रहता हो और न्यून भी न रहता हो, उसे जाना जाये कि वह धर्म में से आपत्काल में भी विचलित नहीं होगा ।''

फिर श्रीजीमहाराज ने कृपा करके ऐसी वार्ता कही कि ''प्रकृति[१] का जो त्याग होना, वह जीव के लिए बहुत कठिन है । फिर भी यदि सत्संग में स्वार्थ दिखाई देता हो, तो उस प्रकृति को टालना कठिन नहीं पड़ता । जैसे दादाखाचर के घर के लोगों को हम को रखने का स्वार्थ है, तो हमें जो प्रकृति अच्छी नहीं लगती है उसे रखते नहीं हैं; उस तरह स्वार्थ से प्रकृति टलती है। तथा भय से भी टलती है परन्तु वह अतिशय[२] टलती नहीं है । क्योंकि, जब कोई मनुष्य रहता है तब उसका भय रहता है और मनुष्य न हो तो नहीं रहता है । जैसे राजा के भय से चोर प्रकृति का त्याग करता है । **और जिसका जो स्वभाव हो, उस पर वारंवार हमने कठोर वचन के डंक मारे हो, और व्यथित किया हो, तो भी वह किसी तरह से पीछे न हटा हो, उस पर तो हमें ऐसा स्नेह रहता है, उसे जाग्रत-स्वप्न में स्मरण किये बिना वह स्नेह वैसे के वैसा रहा जाता है और कुछ भी हो जाये, किन्तु वह स्नेह टलता नहीं है ।''**

और फिर जिन हरिभक्तों में जो अंग हो, उनमें से एक अंग सरस रहता है, उसे कहते हैं कि ''दादाखाचर को विश्वास का अंग, राजबाई को त्याग का अंग, और जीवुबाई को श्रद्धा का अंग, और लाडुबाई को हमारी प्रसन्नता करनी यह अंग, और नित्यानन्द स्वामी को हमारी प्रसन्नता करनी यह अंग, और ब्रह्मानन्द स्वामी को सत्संग की मर्यादा का किसी भी प्रकार से भंग न हो जाये ऐसा आग्रह - यह अंग, और मुक्तानन्द स्वामी को हमारी प्रसन्नता करनी तथा हमारा विश्वास - यह अंग, और सोमलाखाचर का सदा एक समान रहन-सहन

१. स्वाभाविक गुण का त्याग करना ।

२. मूलतः, पूर्णतः नहीं टलती है, जब भय रहता है तब तक प्रकृति का मात्र संकोच होता है।

का अंग, और चैतन्यानन्द स्वामी को ऐसा कि किसी भी तरह से महाराज प्रसन्न रहें ऐसे हमसे रहा जाये तो ठीक' – यह अंग, और स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी को निश्चय तथा माहात्म्य – यह अंग, और ठाकुर झीणाभाई को ऐसा कि 'भगवान के बिना दूसरे पदार्थ में शायद मेरा अंग बन्धन में न आ जाये !' – ऐसा अंग, और बड़े आत्मानन्द स्वामी को हमारे वचन का उल्लंघन न हो जाये'' – ऐसा अंग, इस प्रकार बहुत से बड़े परमहंस तथा हरिभक्त; उनके अंग कहे ।''

और फिर ऐसा बोले कि ''यहाँ की अग्रणी तीन स्त्रियाँ तथा गोपालानन्द स्वामी, ब्रह्मानन्द स्वामी, मुक्तानन्द स्वामी, नित्यानन्द स्वामी, शुकमुनि, सोमला खाचर, दादा खाचर; ये आप सभी जैसे अभी इस वर्तमान समय में कैसे उत्तम रीति से रहते हैं, फिर भी यदि देश, काल, संग, क्रिया; इन चारों में विषमता हो जाये तो ऐसे का ऐसा रंग रहता नहीं है, इस बात में कोइ संशय नहीं है। और कदाचित् विषय में बँध गया हो, परन्तु **यदि जिसमें जितना ज्ञानांश अधिक हो, तो उस विषय के बन्धन को तोड़कर निकल जाता है ।** वह ज्ञानांश तो क्या है ? तो ऐसी समझ रहे कि 'मैं जो जीव, तो ऐसा हूँ, तथा देह, तो ऐसा है तथा देह के सम्बन्धी तो ऐसे हैं तथा प्रकृति, पुरुष, विराट, सूत्रात्मा, अव्याकृत; उनके स्वरूप, तो इस प्रकार के हैं तथा भगवान तो इस प्रकार के हैं तथा भगवान का धाम, तो इस प्रकार का है ।' इत्यादिक जो ज्ञानांश, उसकी अन्तर में दृढ़ता की ग्रन्थि जो हो चुकी हो और फिर जो वैराग्य उदय होता है, वह वैराग्य सही है। और इसके बिना दूसरा जो वैराग्य है, वह तो ऊपर से दिखाई देता है परन्तु उसमें बल नहीं रहता, बल तो ज्ञानांश से उत्पन्न हुआ जो वैराग्य है उसमें ही है। जैसे दीपक की अग्नि को वायु लगता है तब बुझ जाती है और बड़वानल अग्नि तथा मेघ में जो बिजली की अग्नि, वह जल में रहती है पर उस जल का पराभव उसे नहीं होता है, प्रज्जवलित होकर रहती है । उस तरह ज्ञानांश रहित जो वैराग्य, उसे जब विषय का सम्बन्ध होता है तब वह वैराग्य टीकता नहीं है, और ज्ञानांश से हुआ जो वैराग्य, उसे विषय का

सम्बन्ध हो जाये तो भी वह वैराग्य क्षीण[१] नहीं होता, बड़वानल अग्नि की तरह प्रज्वलित होकर रहता है । और ऐसा जो ज्ञानांश, उसकी किसी भी तरह से आपके मन में ग्रंथी बैठ जाये, इसलिए हम निरन्तर वार्ता करते रहते हैं । क्योंकि किसी वार्ता का घाव लग जाये तो[२] ऐसी अँटी पड़ जाती है । और जो ऐसा नहीं समझता है, और 'यह मेरी जाति, यह मेरी माँ, यह मेरा बाप, ये मेरे सगे सम्बन्धी;' इस तरह की अहं-ममता से युक्त जिसकी समझ है, उसे तो अति प्राकृत मतिवाला नासमझ जानें ।''

और फिर श्रीजीमहाराज ने कृपा करके ऐसी वार्ता कही कि ''मुमुक्षु को उत्कृष्ट गुण की प्राप्ति होती है, उसका कारण क्या है ? तो भगवान की कथा-वार्ता सुनने में जिसे जितनी प्रीति रहती है, उसको उतना जगत का अभाव होता है तथा काम, क्रोध, लोभादिक दोषों का नाश होता है । और **यदि कथावार्ता में जिसे आलस्य रहती है, उनके सम्बन्ध में ऐसे अनुमान करे कि 'उसमें बड़े गुन नहीं आयेंगे ।'** और शास्त्र में नव प्रकार की भक्ति कही है, उनमें श्रवण भक्ति की प्रथम गिनती की है । इसलिए यदि श्रवण भक्ति जिसमें है, तो प्रेमलक्षणा पर्यन्त सभी भक्ति के अंग उसे प्राप्त होंगे ।'' इस तरह वार्ता कही ।

और उसी दिन मध्याह्न समय दादाखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वारा के कक्ष के बरामदे के आगे सभी परमहंस की पंक्ति भोजन के लिए बैठी थी । उस समय पर श्रीजीमहाराज नीम के वृक्ष के नीचे पलंग बिछवाकर विराजमान थे ।

तब श्रीजीमहाराज ने परमहंस के आगे ऐसी बात कही कि ''**स्त्रियाँ हरिभक्त हैं, उनका माहात्म्य तो अधिक न समझें;** क्योंकि, माहात्म्य के बहाने से मन में उनका मनन होता है, इसलिए स्वप्न में आते है । इसलिए माहात्म्य लेना हो तो सभी का समानरूप से लें कि 'ये सभी भगवान के भक्त हैं ।' परन्तु अधिक-न्यूनरूप से माहात्म्य न लें । और यदि अधिक-न्यूनरूप

१. मन्द २. प्रभाव पड़ने पर ।

से माहात्म्य समझा जाये, तो उसमें बड़ा विघ्न है । **उसी ही तरह स्त्रियां पुरुषों का माहात्म्य भी समानरूप से समझें और यदि ऐसा नहीं समझा जाये तो उन स्त्रियों को भी बड़ा विघ्न है ।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥२४॥२४७॥

वचनामृत २५ : 'श्रीजी की प्रसन्नता का - यथार्थ भक्त का'

संवत्* १८८५ के कार्तिक शुक्ल १० दशमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज ने कृपा करके इस प्रकार वार्ता कही कि ''भगवान सम्बन्धी भक्ति, उपासना, सेवा, श्रद्धा, धर्मनिष्ठा; इत्यादिक जो-जो करना है, उनमें अन्य फल की इच्छा न रखें । 'ऐसा सत्शास्त्र में कहा है वह तो सत्य है, परन्तु इतनी तो इच्छा रखें कि 'इनसे(१) मुझ पर भगवान की प्रसन्नता हों ।' इतनी इच्छा रखें । और ऐसी इच्छा रखे बिना अहेतुक(२) करता है तो वह तमोगुणी कहलाता है । **इसलिए भगवान की भक्ति आदिक जो गुण, उनसे भगवत्प्रसन्नतारूप फल की इच्छा रखें ।** और यदि इसके बिना दूसरी इच्छा रखता है तो चतुर्धा मुक्ति आदिक फल की प्राप्ति होती है ।''

''और भगवान की प्रसन्नता तो बहुत से उपचारों द्वारा जो भक्ति करता है उसी पर ही होती हैं परन्तु गरीब पर नहीं होती हैं, ऐसा नहीं है; गरीब हो और वह श्रद्धा सहित जल, पत्र, फल, फूल भगवान को अर्पण करता है तो उतने में भी प्रसन्न होते हैं । क्योंकि, भगवान तो अति बड़े हैं, तो जैसे कोई राजा हो, उनके नाम का एक श्लोक ही कोई बनाकर ले आये तो उसे गाँव देते हैं, उस प्रकार भगवान तुरन्त प्रसन्न होते हैं ।''

*दि. १६-११-१८२८, रविवार **१.** भक्ति, उपासना, सेवा इत्यादि से । **२.** निरर्थक, निष्प्रयोजन

"और फिर भगवान का यथार्थ भक्त तो कौन कहलाता है ? तो **अपने देह में कोई दीर्घ रोग आ जाय, तथा अन्न खाने को न मिले, वस्त्र न मिले, इत्यादिक चाहे कितना ही दुःख अथवा सुख; वह आ पड़े, तो भी भगवान की उपासना, भक्ति, नियम, धर्म, श्रद्धा; इनमें से रंचमात्र भी शिथिल न हो, रत्ती भर सरस होता है, उसे यथार्थ हरिभक्त कहते हैं।**"

फिर श्रीजीमहाराज को राजबाई ने प्रश्न पूछवाया कि "हे महाराज ! कौन से गुण से आप प्रसन्न होते हैं और कौन से दोष से नाराज होते हैं ?" तब श्रीजीमहाराज बोले कि "इतने तो वचन में दोष हैं। वे कौन से ? तो अपने अन्तर में कुछ ही विशेष वर्तन करना हो, तो उसका हमे एकबार कह दें कि 'हे महाराज ! यदि आप कहे तो मैं इस प्रकार रहूँ; परन्तु वारंवार न कहें कि 'हे महाराज ! मैं इस प्रकार रहूँ या उस प्रकार रहूँ, तो आप क्यों मुझे कहते नहीं है ?' **वह अच्छा नहीं लगता है।** और **मुझे अपना इष्टदेव समझता है, और बार-बार मेरे वचन पर प्रतिवचन करता है, वह अच्छा नहीं लगता है।** और मैं किसीके आगे बात करता हूँ और उस समय बुलाये बिना बीच में बोलता है, **वह अच्छा नहीं लगता है।** और भगवान का ध्यान करना, तथा धर्मपालन करना, भक्ति करनी इत्यादिक जो-जो शुभ क्रिया करनी है उन्हें जो भगवान पर डालता है कि 'भगवान करायेंगे तो होगा', **वह अच्छा नहीं लगता है।** और 'ऐसा मैं करूँगा, ऐसा मैं करूँगा,' ऐसा केवल अपना ही बल रखता है परन्तु भगवान का बल नहीं रखता है, **वह अच्छा नहीं लगता है।** और **जिसे बोलने में अपनी योग्यता का ठिकाना न हो, वह तो अतिशय अच्छा नहीं लगता है।** और दूसरे व्यावहारिक कार्य करने हो, उसमें तो लज्जा तथा आलस्य न हो, और भगवान की वार्ता करनी, कथा करनी, कीर्तन गान करना; उनमें लज्जा रखता हो और आलस्य रखता हो, **वह अच्छा नहीं लगता है।** और **त्याग का अथवा भक्ति का अथवा किसी प्रकार का जो अहंकार बोलने में लाता है, वह अच्छा नहीं लगता है।** और सभा बैठी हो तब सबसे अन्त में आकर बैठता है, परन्तु अपने को जहाँ उचित हो वहाँ पर नहीं बैठता है, **वह अच्छा नहीं लगता हैं।** तथा कोई बड़े उस सभा में बैठे हों, और उसे

कोहनी मारकर जगह करके स्वयं बैठ जाता है, **वह अच्छा नहीं लगता है ।** और स्त्रियाँ लोग हो, और वे अपने अंग को ढंककर लज्जा सहित रहे, **वह अच्छा लगता है ।** तथा चलते है तब नीची दृष्टि रखकर चले, परन्तु अनियन्त्रित दृष्टि न रखें, **वह अच्छा लगता है ।** और हमारे दर्शन करते समय कोई स्त्री-पुरुष आये अथवा कुत्ता निकले या पशु निकले या कुछ खड़बड़ाहट हो, तब दर्शन छोड़कर उस ओर बार-बार देखता है, परन्तु **एक दृष्टि से दर्शन न करता हो, उसके ऊपर तो इतना रोष होता है कि 'क्या करें ? साधु हुए हैं, नहीं तो इनको कुछ ताड़न करते ।'** परन्तु यह तो नहीं हो सकता; क्योंकि, साधु को किसीको ताड़न करना, यह अति अयोग्य कर्म है । और **जो कपट रखता है, परन्तु अपने मन में जो संकल्प है, वह जिसे कहने योग्य हो उनके आगे भी न कहे, वह अच्छा नहीं लगता है ।** और मान तथा क्रोध तथा किसीसे दबकर रहना, वह क्या ? तो अपने मन में जैसा हो वैसा दूसरे से दबकर कहा न जाय । **ये तीनों बातें तो अतिशय अनिष्ट है ।** और हरिभक्त को परस्पर बराबरीपन रहता हो, परन्तु एक-एक का भार न रहे, **यह भी अतिशय अनिष्ट है ।**''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥२५॥२४८॥

वचनामृत २६ : 'मन-इन्द्रियों को दबाकर रहते हो, ऐसे सन्त का'

संवत्* १८८५ के कार्तिक शुक्ल ११ एकादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीगोपीनाथजी के मन्दिर में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज ने ऐसी वार्ता कही कि ''**भगवान की तरह सेवा करने योग्य हो ऐसे जो सन्त, वे कैसे होते हैं ? तो इन्द्रियाँ, अन्तःकरण**

*दि. १७-११-१८२८, सोमवार

आदिक जो माया के गुण, उनकी जो क्रिया, उनको स्वयं दबाकर रहते हैं, किन्तु उनकी क्रिया से स्वयं दबते नहीं है; और भगवान सम्बन्धी क्रिया को ही करते हैं और पञ्च वर्तमान में दृढ़ रहते हैं; और स्वयं को ब्रह्मरूप मानते हैं और पुरुषोत्तम भगवान की उपासना करते हैं । ऐसे जो सन्त, उसे मनुष्य जैसे न जानें तथा देव जैसे भी न जानें; क्योंकि, ऐसी क्रिया देव-मनुष्य में नहीं होती है । और ऐसे सन्त मनुष्य है तो भी भगवान के समान सेवा करने योग्य हैं । इसलिए जिसे कल्याण की गरज हो ऐसे जो पुरुष, वे ऐसे सन्त की सेवा करें । और ऐसे साधुगुण से युक्त जो स्त्रियाँ हो, उनकी सेवा स्त्रियाँ करें ।''

फिर श्रीजीमहाराज को आत्मानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि ''इस सत्संग में जो वर्तमान का प्रबँध है, उसमें जब तक रहता है तब तक तो जैसा-तैसा हो, उसे भी पञ्चविषय से बन्धन नहीं होता है; परन्तु किसी देशकाल के योग से यदि सत्संग से बाहर निकला जाये तो भी जिसे पञ्चविषय बन्धन न कर पाये, वह पुरुष कैसा होता है ? उनके लक्षण कहिए ।' तब श्रीजीमहाराज बोले कि **''जिसकी बुद्धि में धर्मांश विशेषरूप से रहता हो, और आस्तिकता हो कि** ''इसलोक में जो अच्छे-बुरे कर्म करते हैं, उनका जो अच्छा-बुरा फल उसे जरूर परलोक में भोगता है,' ऐसी दृढ़ मति जिसे हो तथा लज्जा हो कि 'अनिष्ट करेंगे तो इस लोक में लोगों के सामने क्या मुख दिखायेंगे ?'' **ऐसा जो होता है, वह कहीं भी जाता है तो भी उसे कोई पदार्थ तथा स्त्रीआदिक, वे बन्धन नहीं कर सकते ।** जैसे मयाराम भट्ट हैं तथा मुलजी ब्रह्मचारी हैं तथा निष्कुलानन्द स्वामी हैं, इस प्रकार के जो होते हैं, उन्हें स्त्री-धनादिक पदार्थ का योग होता है, तो भी वे डिगते[१] नहीं हैं । और ऐसा हो, और उसे जो एक आत्मनिष्ठापन[२] हो कि मैं तो आत्मा हूँ, ब्रह्म हूँ, तो मुझमें शुभ-अशुभ क्रिया लगती नहीं है, 'मैं तो असंग हूँ,' ऐसा अंग हो, तथा दूसरा ऐसा हो कि 'भगवान

१. विचलित नहीं होते । २. आत्मनिष्ठा का गुण-भाव

की महिमा बहुत समझता है और उस महिमा की बहुत वार्ता करता है कि 'कुछ धर्म विरुद्ध यदि बर्ताव हो जायेगा, उसका क्या भार[१] है ? भगवान की महिमा बहुत बड़ी है,' इन दो प्रकारों के जो होते हैं, उनमें ये दो प्रकारों के जो दोष, वे धर्म के पालन करने में बड़े विघ्नरूप हैं। इसलिए इस प्रकार समझता हो तो उचित होगा कि 'आत्मनिष्ठा भी यथार्थ हो, तथा भगवान का माहात्म्य भी अच्छी तरह से समझता हो, और निष्कामता, निर्लोभता, निःस्वादता, निःस्नेहता, निर्मानता इत्यादिक जो धर्म; उन्हें भगवान की प्रसन्नता के लिए समझकर दृढ़ता से पालन करता हो, और ऐसा समझता हो कि 'मैं उन धर्मों का पालन करूँगा तो मुझ पर भगवान बहुत प्रसन्न होंगे और यदि मुझे किसी तरह धर्म में कुछ भंग पड़ेगा तो भगवान की मुझ पर बहुत नाराजगी होगी ।' इस तरह जिसके अन्तर में दृढ़ ग्रन्थी होती है, वह भक्त तो उस धर्म में से कभी भी विचलित होता ही नहीं । और जो ऐसा है, उसे कोई मायिक पदार्थ बन्धन नहीं कर सकता । और इस प्रकार की समझदारीवाला न हो और दूसरा चाहे कैसा भी ज्ञानवाला हो या भक्तिवान हो, उसे भी धर्म में से कुछ भंग तो हो जाता है तथा मायिक पदार्थ बन्धन तो कर सकता है, यह सिद्धान्त वार्ता है ।''

फिर पुनः श्रीजीमहाराज ने कृपा करके ऐसी वार्ता कही कि ''हमें अहंकार पसन्द नहीं है । वह अहंकार भक्तिभाव का हो, त्यागभाव का हो, वैराग्यपना का हो, ब्रह्मरूपता का हो, समझदारी का हो, वर्तमान पालने का हो; इस तरह के जो-जो **अहंकार हैं, वे हमें पसन्द नहीं है । और दम्भ पसन्द नहीं है ।** वह दम्भ तो क्या ? तो अपने हृदय में भगवान का निश्चय, भक्ति और धर्म वे थोड़े हो, और दूसरों के आगे अपनी महत्ता बढ़ाने के लिए उपर से तो उसे बहुत दिखाते हैं, वह पसन्द नहीं है । और **स्वयं को तथा भगवान को जो अभेदरूप से भजता है वह पसन्द नहीं है ।** तथा जो नियम धारण किया हो, उस नियम को घड़ीभर में छोड़ दे और फिर घड़ीभर में पालन करने लगे, इस तरह से जो शिथिल रहता हो, **वह पसन्द नहीं है ।** और भगवान की महिमा तो अधिक बड़ी समझे और **स्वयं को अतिशय**

१. मलाल, खेद, रंज

तुच्छरूप समझे किन्तु देह से भिन्न जो आत्मा, उस रूप में स्वयं को मानता न हो, वह पसन्द नहीं है ।' और **अब जो पसन्द है, उन्हें कहते हैं कि** भगवान की महिमा यथार्थ समझता हो, अपने देह से व्यतिरिक्त जो अपनी आत्मा उसे ब्रह्मरूप समझता हो, और धर्म में दृढ़ रहा हो और भगवान की अचल भक्ति करता हो, **इस तरह का स्वयं हो तो भी सत्संग में कोई कुछ न समझता हो, जिसे भगवान का निश्चय तो हो, उसे बड़ा समझे और उसके आगे स्वयं को अति तुच्छ जाने, और वार्ता करने में अपने मुख से अपनी समझदारी का कैफ किसीके आगे लेश भी न दिखाये, ऐसा जो हो, वह हमें बहुत पसन्द है ।''** इस तरह श्रीजीमहाराज वार्ता करके अपने निवास स्थान पर पधारे ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥२६॥२४९॥

वचनामृत २७ : 'किसी भी प्रकार की अँटी नहीं रखने का'

संवत्* १८८५ के कार्तिक शुक्ल १५ पूर्णिमा के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीगोपीनाथजी के मन्दिर में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज ने वार्ता कही कि **''शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध; इन पञ्चविषयों से सम्बन्धित जो सुख है, वह दिव्य मूर्ति ऐसे जो भगवान पुरुषोत्तम, उनकी सुखमय मूर्ति, तद्रूप जो एक स्थल, उनमें रहता है ।** वह यदि भगवान की मूर्ति के दर्शन कर रहा हो, तब रूप का सुख प्राप्त होता है तथा अन्य स्पर्श आदिक चार विषय, उनका भी सुख प्राप्त होता है; वह एक ही समय में होता है । और दूसरे मायिक जो पञ्चविषय हैं, उनमें तो एक विषय का सम्बन्ध होता है तब एक विषय का ही सुख प्राप्त होता है, परन्तु दूसरे का नहीं होता है । इसलिए मायिक विषय में भिन्न-भिन्नरूप

*दि. २१-११-१८२८, शुक्रवार

से जो सुख रहता है और वह सुख तो तुच्छ है और नाशवान है और अन्त में अपार दुःख का कारण है । और **भगवान में तो सर्व विषयों का सुख एक काल में प्राप्त होता है और वह सुख महा अलौकिक है तथा अखण्ड, अविनाशी है ।** इसलिए जो मुमुक्षु हों, वे मायिक विषय में से सर्व प्रकार से वैराग्य प्राप्त करके अलौकिक सुखमय ऐसी जो भगवान की दिव्यमूर्ति, उसमें सर्व प्रकार से जुड़ जायें ।''

और पुनः श्रीजीमहाराज ने ऐसी वार्ता कही कि ''**जिस हरिभक्त को भगवान की भक्ति की गरज हो, तथा सन्त समागम की गरज हो, तो वह चाहे कैसा भी अपना स्वभाव हो, तो उसे टालकर जैसे वे सन्त कहते हैं और उनकी मरजी हो, वैसे रहता है ।** और वह स्वभाव तो ऐसा हो कि 'चैतन्य[१] के साथ जुड़कर एकरस हो गया हो, तो भी उसे सत्संग की गरजवाला टाल देता है ।'' इसी विषय में अपनी वार्ता कही कि ''हमारा पहले त्यागी स्वभाव था, परन्तु यदि श्रीरामानन्द स्वामी के दर्शन की गरज थी, तो मुक्तानन्द स्वामी की आज्ञा के अनुसार रहे, किन्तु हमारे मन की इच्छा के अनुसार कुछ भी नहीं किया ।''

''और फिर जो हरिभक्त हो, उसे किसी तरह की अँटी[२] बाँधनी, उसका ऐसा तरीका है कि एक तो निष्कामादिक वर्तमान की अँटी कर दी हो, और एक ऐसी अँटी कर दी हो कि 'इस स्थान पर मैं आसन लागता हूँ तो निद्रा आती है और दूसरी जगह पर नहीं आती' इत्यादिक अनेक प्रकार की जो तुच्छ स्वभाव की अँटी की हो, इन दोनों को एक प्रकार की न समझें । **वर्तमान की अँटी तो अपनी जीवनरूप है, और उसमें बहुत माल[३] है, इस प्रकार माहात्म्य सहित उसकी अँटी करें । और दूसरे स्वभाव की अँटी की हो, उनमें तो तुच्छता जानें और उसे सन्त छुड़ाये तो छोड़ दें किन्तु प्रथम की**

---

१. जीव २. टेक, मन में ठानी हुई बात, दृढ़ता या प्रतिज्ञाबद्ध बर्ताव, ग्रन्थि, पकड़, मन की गांठ।
३. भारी लाभ

अँटी छोड़े नहीं । और इन दोनों को एक समान समझता है, तो उसमें मूढ़ता[१] जानें । जैसे बालक हो, उसने मुट्ठी में बदाम[२] पकड़ रखी हो, उसे कोई छुड़ायें तो छोड़ता नहीं है, और रुपिया की मुठ्ठी भरी हो, और सोनामहोर की मुठ्ठी भरी हो, उसे छुड़ाये तो उसे छोड़ता नहीं है । तब उस बालक ने बदाम तथा रुपया और सोनेमोहर में समान माल[३] समझा, इसलिए उस बालक में मूढ़ता[४] है । और फिर जैसे किसीके हाथ में बदाम हो और चोर आकर कहता है कि 'तू छोड़ दें, नहीं तो तलवार से सिर काट दूँगा ।' तब समझदार हो तो उसे दे देता है, और मूर्ख हो, तो नहीं देता है । उस तरह इन दो प्रकार की अँटी में न्यूनता-अधिकता समझें । और ऐसा न हो, और दोनों में समानता[५] जानता है तो उसका अँटीदार[६] स्वभाव जानें और उसे मानी जानें । और अँटी होने से वह वर्तमान का पालन करता हो, यदि मरणपर्यन्त वैसे की वैसे निभता[७] रहे तब तो ठीक है; परन्तु उसका पूरा विश्वास नहीं आता है । क्योंकि, यदि उसे किसी प्रकार के वचनों की चोट लग जाये अथवा उसका मान न रहे, तब वैसा वह नहीं रहेगा । और जो अँटी रखकर वर्तमान का पालन करता हो तथा भक्ति करता हो, वह तो राजर्षि कहलाता है और जो भगवान की प्रसन्नता के लिए भगवान की भक्ति करता है तथा वर्तमान का पालन करता है, वह तो ब्रह्मर्षि कहलाता है तथा वह साधु कहालाता है । इस तरह से इन दोनों में फल का भेद भी है ।''

और फिर ऐसी बात कही कि ''**मान, ईर्ष्या, तथा क्रोध ये तीनों दोष तो काम से भी अतिशय अनिष्ट हैं । क्योंकि, कामी पर तो सन्त दया करते हैं, परन्तु मानी पर नहीं करते हैं ।** और मान में से ईर्ष्या तथा क्रोध उत्पन्न होते हैं, इसलिए मान बड़ा दोष है । और मान के कारण सत्संग से पतन हो जाता है वैसा काम से पतन नहीं होता है । क्योंकि, अपने सत्संग में गृहस्थ हरिभक्त बहुत हैं, वे सत्संग में पड़े रहते हैं । इसलिए मान, ईर्ष्या और क्रोध इन तीनों पर हमें अतिशय अभाव रहता है । और हमारे जो-जो वचन लिखे

१. मूर्खता, विवेक रहित २. पहले के जमाने में किसी प्रदेश की बहुत कम मूल्यवाली मुद्रा-नगद ३. मूल्य ४. मूर्खता ५. समानभाव ६. दुराग्रही ७. टिकता

हुए हैं, उनमें भी ऐसा ही होगा, उसे विचार करके देखा जाये तब पता चल जायेगा; इसलिए भगवान का माहात्म्य समझकर मान को टालें ।''

पुनः श्रीजीमहाराज ने ऐसी वार्ता कही कि ''भगवान का निश्चय तो किसे कहते हैं ? तो जैसे इस संसार में प्रथम बालपन में से माँ-बाप, वर्ण, आश्रम, जात-पात, पशु, मनुष्य, जल, अग्नि, पृथ्वी, वायु और आकाश इत्यादिक जिन-जिन पदार्थ का निश्चय हुआ है, वह शास्त्र द्वारा हुआ है । और शास्त्र न सुने हो तो लोक में जो शब्द हैं वे शास्त्र से ही प्रचलित हुए हैं, उनसे उसका निश्चय किया है । उस तरह **शास्त्र में कहे जो निष्काम, निर्लोभ, निर्मान, निःस्वाद, निःस्नेह इत्यादिक सन्त के लक्षण; उन्हें सुनकर ऐसे लक्षण जहाँ दिखाई दे वैसे जो सन्त हैं, उन्हें तथा भगवान को साक्षात् सम्बन्ध होता है; इसलिए ऐसे सन्त के वचन से भगवान का निश्चय करना तथा उनके वचन में दृढ़ विश्वास रखना; उसे निश्चय कहते हैं ।''**

तत्पश्चात् बड़ौदा के नाथभक्त ने श्रीजीमहाराज को प्रश्न पूछा कि ''जिसे भगवान का दृढ़ निश्चय हो, ऐसा जो भगवान का भक्त, उनके जो सम्बन्धिजन, उनका कल्याण उस भक्त के सम्बन्ध से होता है या नहीं होता ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''यदि उसके सम्बन्धियों को तथा उसके पितृओं को उसमें स्नेह हो तो उनका कल्याण होता है और स्नेह न हो तो नहीं होता है । और यदि सम्बन्धी भी न हो, और यदि उन्हें उस भक्त में स्नेह हो, तो उनका भी श्रेय होता है । क्योंकि उसे मृत्यु का समय आता है तब उन्हें वह भक्त का स्मरण हो आता है, और उस भक्त की वृत्ति तो भगवान के साथ निरन्तर लगी है, और उस भक्त का उन्हें स्मरण होता है, इसलिए उनका कल्याण होता है ।''

पुनः श्रीजीमहाराज बोले कि ''हम आत्मा के स्वरूप की वार्ता करते हैं तथा भगवान के स्वरूप की वार्ता करते हैं, उस वार्ता से जैसा उनका सुख है वैसा ही सुख तो आता नहीं है । और जैसा उनका यथार्थ सुख है, वह तो समाधि से जानने में आता है तथा देह त्याग करने के बाद जानने में आता है, परन्तु केवल वार्ता से जानने में नहीं आता हैं । जैसे रूप का सुख तो नेत्र से

भोगा जाता है, फिर उस सुख की मुख से प्रशंसा करते हैं कि 'बहुत अच्छा रूप देखा,' तब उस सुख का अनुभव जैसा नेत्र को हुआ वैसा मुख को नहीं हुआ । तथा श्रवण से शब्द को सुना, नासिका से गन्ध सूंघा, त्वचा से स्पर्श ग्रहण किया, जिह्वा से रस चक्खा, फिर उन-उन सुखों की वचनों से प्रशंसा करते हैं कि, 'बहुत अच्छी गन्ध थी, बहुत अच्छा रस था, बहुत अच्छा स्पर्श था, बहुत अच्छा शब्द था,' ऐसा कहा तो सही, परन्तु जिस तरह उन-उन इन्द्रियों को उन-उन सुखों का अनुभव हुआ वैसा वचन से नहीं हुआ । उस तरह समाधि से तथा देह त्याग करने के बाद जैसा भगवान के सुख का अनुभव होता है और आनन्द होता है तथा आत्मा के सुख का अनुभव एवं आनन्द होता है वैसा उनकी केवल बात करने से नहीं होता है । और यदि इन दोनों की वार्ता सुनकर उसका मनन तथा निदिध्यास किया जाय तो उसका साक्षात्कार होता है और जब साक्षात्कार होता है तब समाधि द्वारा जैसा इन दोनों का अनुभव तथा आनन्द होता है वैसा ही होता है ।' इसलिए इन दोनों की वार्ता सुनकर उसका मनन एवं निदिध्यास करें ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥२७॥२५०॥

वचनामृत २८ : 'भगवान के मार्ग से पतन होने का'

संवत्* १८८५ के कार्तिक कृष्ण १ प्रतिपदा के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीगोपीनाथजी के मन्दिर में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''भगवान की भक्ति में से दो प्रकार से जीव च्युत[१] हो जाता है। एक तो शुष्कवेदान्त के ग्रन्थ को सुनकर दूसरे आकारों को मिथ्या करता है, उस तरह श्रीकृष्णादिक जो भगवान के आकार हैं उन्हें भी मिथ्या करता है; ऐसे शुष्क वेदान्तियों को अति अज्ञानी जानें । और दूसरा जो

*दि. २२-११-१८२८, शनिवार १. पतन

ऐसा समझता है कि 'भगवान को भजेंगे तो गोलोक एवं वैकुण्ठ लोक में स्त्रीभोग, खानपान आदिक जो पञ्चविषय के सुख हैं, उन्हें प्राप्त करेंगे ।' फिर उस सुख की आसक्ति होने से भगवान को भी भूल जाता है, और उलटा ही कुबुद्धिवाला होकर ऐसा समझता है कि 'यह सुख न हो तो उस धाम में राधिका, लक्ष्मी आदिक स्त्रियों के साथ भगवान भी रमण करते हैं; इसलिए वह सुख भी सही है ।' परन्तु भगवान को पूर्णकाम तथा आत्माराम नहीं समझता है और ऐसी जो भगवान की क्रियायें हैं वे तो अपने भक्त के सुख के लिए हैं। इसलिए ज्ञान-वैराग्य सहित भगवान की भक्ति करें। और उन भगवान के स्वरूप को जिसने इस प्रकार समझा हो कि "**सर्व सुखमय मूर्ति तो वे भगवान ही हैं तथा अन्यत्र पञ्चविषय में जो सुख है, वह तो उन भगवान के सुख का किञ्चित् लेश**[१] **है ।' इस तरह भगवान को माहात्म्य सहित जो समझा हो, वह किसी भी पदार्थ में बँधता ही नहीं है । 'और उन भगवान के धाम के सुख के आगे दूसरे लोक के जो सुख, वे तो नरक जैसे है ।'** ऐसा मोक्ष धर्म में कहा है । इस तरह भगवान के भक्त समझें और जो ऐसा न समझता हो तो वह दोनों प्रकार से भगवान में से गिर जाता है ।"

फिर श्रीजीमहाराज को सुराखाचर ने प्रश्न पूछा कि "भगवान को तथा सन्त को जैसे है वैसे निश्चयरूप से जानने से भी, किसी का अन्तर पीछे हट जाता[२] है, उसका क्या कारण है ?" फिर श्रीजीमहाराज ने उत्तर किया कि "उसने भगवान का निश्चिय किया था तब ही उसमें[३] अपरिपक्वता रह गई है। वह क्या ? तो कोई स्वाद होने से अच्छा-अच्छा खाना चाहता हो, और भगवान तथा सन्त उसका[४] खण्डन करते हैं तब उसका अन्तर पीछे हट जाता है[५] तथा काम का संकल्प रह गया हो, और उसका[६] खण्डन करें, तथा लोभ रहा हो और उस लोभ को छुड़ाये और कहते हैं कि 'यह तेरा धन, माल, खेत, वाड़ी उसे किसीको दे दो ।' तब उस वचन का पालन नहीं हो पाता, इससे पीछे हट

१. अंश २. कल्याण के मार्ग में शिथिलता आ जाती है । ३. निश्चय में ।
४. स्वाद का ५. मन उदास हो जाता है । ६. काम का

जाता है। तथा मान हो, और उस मान का सन्त तथा भगवान खण्डन करते हैं तथा अपमान करते हैं, तब उससे भी पीछे हट जाता है। इस तरह निश्चय हो और अपने में जो-जो अवगुण रह गए हो, उससे पीछे हट जाता है। और जिसने निश्चय किया हो, उस समय में ही उन अवगुणों को टालकर किया हो, तो वह पीछे नहीं हटता है। और वे अवगुण अभी भी जिन-जिन में होंगे, वे यदि विचार करके अपने अन्तर सन्मुख देखते हैं तब पता चलता है कि इस प्रकार के अंग से मैं अपरिपक्व हूँ, तो यदि मुझे पालन करने को कहा जायेगा तो मैं विमुख हो जाऊँगा।' इस प्रकार यथार्थ जानता है।''

फिर ब्रह्मानन्द स्वामी तथा शुकमुनि तथा सुराखाचर इन तीनों को श्रीजीमहाराज ने पूछा कि ''आप जिसके कारण पीछे हट जाते हैं[१] ऐसा आपमें कौन सा अवगुण है ?'' तब उन तीनों ने कहा कि ''हे महाराज ! मानरूपी दोष है, इसलिए कोई समान कक्षावाले सन्त अपमान करते है तब कुछ उद्विग्नता[२] होती है।'' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''हम पूछते हैं कि **'द्युपतय[३] एव ते न ययुरन्तमनन्ततया ।'** इस तरह माहात्म्य सहित भगवान को समझ लिए हो, ऐसे जो भगवान, उनके जो सन्त हैं, उनके साथ मान, ईर्ष्या, क्रोध कैसे होते हैं ? और यदि होते हैं तो जानने में फर्क है। क्योंकि, गवर्नर साहब को जान लिया है कि ये समग्र पृथ्वी का पादशाह है और बलवान है, और यदि उनका एक गरीब सा सन्देशवाहक[४] आया हो, तो उसका हुक्म जो बड़ा राजा हो, वह भी मानता है, और जैसा कहता है वैसा चलाया चलता है।' क्योंकि उन राजा ने ऐसा जान लिया है कि बलशाली जो गवर्नर साहब, उनका वह सन्देशी है। और जिससे जो बलवान है, उसके आगे मान नहीं रहता। उस तरह जिसने भगवान को समग्र ऐश्वर्य-समृद्धि के स्वामी जान लिया हो, तो उसे सन्त के आगे मान कैसे रह सकता है ?'' तब ब्रह्मानन्द स्वामी ने कहा कि

१. विचलित-मन्द हो जाते हैं, कल्याण के मार्ग में शिथिलता आ जाती है।

२. क्लेश, ग्लानि, व्यथा **३.** लोया-१० की टिप्पणी में अर्थ दिया है। **४.** राजदूत

''हे महाराज ! आप ठीक कहते हैं । जिसने इस तरह माहात्म्य सहित भगवान को जान लिया हो, तो मान, ईर्ष्या, क्रोध; वे सन्त के आगे होते ही नहीं । फिर श्रीजीमहाराज बोले कि ''देखिए तो, उद्धवजी कितने बड़े थे और कितने चतुर[१] थे, परन्तु यदि भगवान की महत्ता को जानते थे, तो उन भगवान में स्नेहवाली जो व्रज की गोपियाँ, उनके चरण की रज को प्राप्त करने के लिए वनलताओं का अवतार मांगा । उसे कहा है कि

आसामहो[२] चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥

तथा ब्रह्मा ने भी कहा कि

अहो[३] भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥

इस तरह ब्रह्मा भी भगवान का माहात्म्य जानते थे, तब ऐसा बोले, इसलिए **भगवान की तथा सन्त की जो इस तरह महत्ता जानता हो, तो मान, ईर्ष्या, क्रोध रहता ही नहीं है और उनके आगे दासानुदास होकर रहता है और चाहे कितना भी अपमान करे तब भी उनके संग को छोड़कर दूर जाने की इच्छा ही न करें ।** और मन में ऐसा नहीं होता है कि 'अब तो कहाँ तक सहन किया जाय ? हम तो हमारे घर बैठे हुऐ ही भजन करेंगे । इसलिए इस प्रकार माहात्म्य समझा जाय तो मान टलता है ।'' इस प्रकार वार्ता कही ।

---

१. व्यवहार कुशल एवं शास्त्रज्ञ ।

२. अहो ! जो गोपीयाँ, किसीसे भी त्याग न हो सके ऐसे सम्बन्धिजन का और आर्यों के धर्ममार्ग का त्याग करके वेदों को भी ढूँढने योग्य ऐसी मुकुंद भगवान की पदवी को भजती हैं । अर्थात् भगवान के ध्यानपरायण हुई हैं । तो इन गोपियों की चरणरज के स्पर्शवाली वृन्दावन में स्थित झाड़ी, लता, औषधी इत्यादि के मध्य में मैं भी कुछ हो जाऊँ (बन जाऊँ) अर्थात् कुछ तृण या कीटादिरूप में गोपियाँ के चरणरेणु के स्पर्श के लिए योग्य बन जाऊँ, ऐसी इच्छा करता हूँ ।
(भाग. १०/४७/६१)

३. परमानन्दरूप, सनातन पूर्ण, श्रीकृष्णाख्य परंब्रह्म जिनके मित्ररूप रहे है, इसलिए वे नन्दगोप व्रजवासियों के अहो अहो भाग्य है । उनके भाग्य का वर्णन हो सके ऐसा नहीं हैं ।
(भाग. १०/१४/३२)

और पुनः श्रीजीमहाराज ने ऐसी वार्ता कही कि ''भगवान का भक्त हो, और उसे किसी कर्मयोग से शूली पर चढ़ाया हो, और उस समय पर हम भी उसके पास खड़े रहे हो, परन्तु उस भक्त के हृदय में ऐसा संकल्प नहीं होता है कि 'यह भगवान मुझे शूली के कष्ट से छुडायें तो ठीक।' इस तरह से **अपने देह के सुख का संकल्प न हो, और जो कष्ट पड़ता है, उसे भोग लें, ऐसा जो निष्काम भक्त, उसके पर भगवान की बहुत प्रसन्नता होती है।''**

और फिर श्रीजीमहाराज ने ऐसी वार्ता कही कि ''भगवान सम्बन्धी सुख को कौन प्राप्त करता है ? तो उसे कहते हैं कि जैसे मछली को जल है वह जीवनरूप है, तो जल का योग जब तक रहता है तब तक उस जल में मछली चलती है, हिलती-फिरती है, और क्रीड़ा करती है और जब जल का वियोग होता है तब उसकी चंचलता समाप्त हो जाती है और मर जाती है। उस तरह जिसे पञ्चविषय से जीवनपना जब तक मान लिया है, और उनसे सुख माना है और उनका वियोग होता है तब मृतप्राय जैसा हो जाता है। **ऐसा जो होता है, वह भगवान के सुख को कभी भी प्राप्त नहीं होता। और पञ्चविषय से जिसे जीवनपना टल गया है, वह ही भगवान के सुख का अनुभव करता है और भोगता है और ऐसे को ही भगवान के सुख की प्राप्ति होती है।''**

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥२८॥२५१॥

वचनामृत २९ : 'बीस-बीस वर्ष के दो हरिभक्त'

संवत्* १८८५ के पौष शुक्ल २ द्वितीया के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में हवेली के आगे चबूतरे पर पलंग बिछवाकर रात्रि के समय विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के समक्ष साधु तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज ने शुकमुनि को प्रश्न पूछा कि ''दो सत्संगी हैं, उनकी अवस्था बीस-बीस वर्ष की है तथा दोनों को निश्चय, स्नेह, भक्ति, वैराग्य, धर्म;

*दि. ७-१-१८२९, बुधवार

वे समान हैं। और उनमें से एक को तो प्रारब्ध योग से विवाह करके स्त्री मिली और एक को न मिली और सांख्ययोगी रहा और उसे भी विवाह करने की तो इच्छा थी किन्तु मिली नहीं। तब इन दोनों को तीव्र वैराग्य तो पहले से ही नहीं था; इसलिए विषय भोग में दोनों को तीक्ष्ण वृत्ति थी। वह तीक्ष्ण वृत्ति जो गृहस्थ हुआ है उसकी कम होती है या सांख्ययोगी की होती है ? उसे कहिए। और वेद तो ऐसा कहते हैं कि 'जिसे तीव्र वैराग्य हो, वे ब्रह्मचर्य आश्रम से ही सन्यास लें। और जिसे मन्द वैराग्य हो, वे विषयभोग की तीक्ष्णता टालने के लिए गृहस्थाश्रम करें और फिर वानप्रस्थ लें और फिर सन्यास ग्रहण करें।' इसलिए विचार करके उत्तर करिए ?'' तब शुकमुनि इसका उत्तर करने लगे किन्तु हुआ नहीं। तब श्रीजीमहाराज ने इसका उत्तर किया कि ''वह गृहस्थाश्रमी श्रेष्ठ है, और दूसरा जो सांख्ययोगी है वह बुरा[१] है। क्योंकि उसे तीव्र वैराग्य नहीं है। इसलिए उसने विषय को तुच्छ एवं असत्य जाने नहीं है। वैसे भी अपनेमें आत्मनिष्ठा की भी कुछ दृढ़ता नहीं है। इसलिए वह सत्संग से बाहर जाय और विषय का योग हो जाये तब बँध जाता है। और यदि विषय का योग न हो तो सत्संग की फिर से लालच रखता है और सत्संग में आता है। और जो गृहस्थ है, उसे छः महीने पर सन्त के दर्शन होते हैं तो भी पोषण बना रहता है। इसलिए मन्द वैराग्यवाले को त्याग करना ठीक नहीं है। त्याग तो तीव्र वैराग्यवाले को करना, वह ठीक है। और मन्द वैराग्यवाला त्याग करता है, तो उसका त्याग देह पर्यन्त निभता नहीं है। वर्ष पर, दो वर्ष पर, दस वर्ष पर उनके त्याग में विघ्न जरूर पड़ता है।''

तब शुकमुनि ने आशंका की कि ''हे महाराज ! ये जो मन्द वैराग्यवाला त्यागी है, वह सन्त से भगवान के माहात्म्य की बात सुने और फिर स्वयं मन में विचार करता है, तो क्या उसे तीव्र वैराग्य नहीं आता ? और पहले से ही तीव्र वैराग्य तो किसीको प्रारब्ध के योग से होगा; और अधिकतर तो ऐसा प्रत्यक्ष दिखता है कि इसे वैराग्य नहीं था किन्तु बाद में हुआ; तब उसका क्या समझें ?''

---

१. कनिष्ठ, न्यून

तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि "इसका तो उत्तर ऐसा है कि अपने विचर से तथा किसी भी तरह से तीव्र वैराग्य नहीं होता । यदि धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति; इन चार गुणों से सम्पन्न ऐसे जो बड़े साधु हो, उनके साथ उसे अतिशय स्नेह हो जाये, जैसे भगवान के साथ स्नेह होता है, तब तो वह देखता है, सुनता है, बोलता है, इत्यादिक जिन-जिन क्रियाओं को करता है, उसे तो स्वयं को जो बड़े सन्त के साथ स्नेह है, उनकी मरजी के अनुसार ही करता है, 'परन्तु उनकी मर्जी न हो, ऐसी कोई क्रिया नहीं करता । और उन सन्तों की मरजी से बाहर रहने में उसके मन में निरन्तर भय रहता है कि यदि मैं उनकी मरजी के अनुसार बर्ताव नहीं करूँगा तो वे मेरे साथ स्नेह नहीं रखेंगे ।' इसलिए निरन्तर उनकी मरजी के अनुसार रहता है । इसलिए **यदि सन्त के साथ ऐसा स्नेह हुआ हो, तो वैराग्य न हो, तो भी उसका त्याग पार हो जाता है ।** और देखिए तो, अपने सत्संग में स्त्रियाँ-पुरुष और परमहंस हैं, उन सभी को हमारे पर स्नेह है, तो अग्रणी जो दो-तीन स्त्रियाँ हैं, उनके समान दूसरी सभी स्त्रियाँ वर्तमान पालन करती हैं, क्योंकि वे मन में ऐसा समझती हैं कि 'यदि हम सावधान होकर वर्तमान नहीं पालेंगे तो हम पर महाराज का स्नेह नहीं रहेगा और वे नाराज हो जायेंगे ।' तथा परमहंस में भी ऐसा है तथा दूसरे जो सत्संगी तथा ब्रह्मचारी तथा पार्षद; उन सभीमें भी ऐसा है । तथा देश-देश के हरिभक्त नर-नारी दूर रहते है, वे भी वर्तमान में खबड़दार रहते हैं और ऐसा जानते हैं कि 'यदि हम लोग यथार्थ रीति से बर्ताव नहीं करेंगे तो महाराज नाराज हो जायेंगे।' इसलिए हमारे प्रति स्नेह से बन्धन में रहे हुए सब लोग धर्म में दृढ़तापूर्वक रहते हैं, परन्तु वैराग्य तो किसीको कम होगा और किसीको ज्यादा होगा, उसका कोई मेल नहीं है । और हम पञ्चाला[१] में पहले बीमार हुए थे और उसमें से[२] कुछ हो गया होता तो जैसी इस समय सभीकी वृत्तियाँ है, वैसी नहीं रहती । तब तो **जो तीव्र वैराग्यवाले होते हैं वे धर्म में रहते तथा उनके साथ जिसने अपने जीव को स्नेह से बाँध[३] रखा हो, वे धर्म में रहते तथा**

१. इस नाम का गाँव । २. बीमारी से । ३. जोड़

जो सत्संग का योग रखते हैं और भगवान को अन्तर्यामी जानकर अपने-अपने जो नियम कहे हैं, उनके अनुसार रहते हो, तो धर्म में रहा जाये और उसके बिना दूसरों का तो कुछ ठीक नहीं रहता । इसलिए हमने जो प्रश्न पूछा था उसका यह हमने जो कहा यही उत्तर है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥२९॥२५२॥

वचनामृत ३० : 'पांच वार्ता के अनुसंधान का'

संवत्* १८८५ के पौष शुक्ल १५ पूर्णिमा के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीगोपीनाथजी के मन्दिर में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''हमारे मन में ये दो बातें अच्छी लगती[१] हैं और वहाँ मन अटकता है । उनमें एक तो जिसे ऐसा हो कि 'एक चैतन्य के तेज का राशि[२] है और उसके मध्य में श्रीपुरुषोत्तम भगवान की मूर्ति सदा विराजमान है,' ऐसा दृढ़ निश्चय हो, और उन भगवान की उपासना, भक्ति करता हो **यह बात अभीष्ट है;** परन्तु केवल चैतन्य तेज को मानता हो, और उसकी उपासना करता हो, और भगवान को सदा साकार न मानता हो तथा उनकी उपासना न करता हो, तो वह अभीष्ट नहीं है । और दूसरा यह है कि ऐसे जो भगवान हैं, उनके लिए जो तप करता हो, तथा योग की साधना करता हो, तथा पञ्चविषय का अभाव करता हो, तथा वैराग्यवान हो; इत्यादिक जिन-जिन साधनों को भगवान की प्रसन्नता के लिए निर्दम्भता से करता हो, **वह अभीष्ट है ।** और ऐसे को देखकर हमारा मन प्रसन्न होता है कि 'उसे शाबाश है कि वह इस तरह रहता है ।'

---

*दि. १९-१-१८२९, सोमवार

१. अभीष्ट २. समूह

और फिर **इन पांच वार्ताओं का हमें नित्य निरन्तर अनुसन्धान रहता है ।** उनमें **एक तो यह कि** हमें इस देह का त्याग करके जरूर मर जाना है और उसका विलम्ब नहीं दिखाई देता, यह तो ऐसा ही निश्चित दिखाई देता है कि '**इस घड़ी, इस क्षण में हमें मरना है ।**' और सुख-दुःख, प्रसन्नता-अप्रसन्नता सभी क्रियाओं में ऐसा अनुसन्धान रहता है; ऐसा वैराग्य कहा । और **दूसरा यह है कि** हम मरेंगे उसमें इतना काम तो हमने कर लिया है और इतना बाकी है, उसे करना है, ऐसा निरन्तर अनुसन्धान रहता है । और **तीसरा यह है कि** हमारे मन में पञ्चविषय की वासना टल गई है या नहीं टली है ? और ऐसा जानता हूँ कि टल तो गई है तब उन-उन विषयों की जो क्रिया, वो क्यों होती है ? तब शायद न टली हो ! ऐसा अविश्वास का निरन्तर अनुसन्धान रहता है । और **चौथा यह है कि** मुक्तानन्द स्वामी आदिक बड़े-बड़े साधुओं तथा अन्य भी बड़े-बड़े हरिभक्त; ये जो सभी हैं उन्हें पञ्चविषय की वासना टल गई है या नहीं ? और इनकी वासना टल गई है, और इनको इसकी नहीं टली है । इस तरह सभीके हृदय के सामने देखते रहना, ऐसा अनुसन्धान रहता है । और **पाँचवां यह है कि** यदि मैं मेरे मन को उदासीन करने लगूँ तो कौन जाने कंही भी चला जाऊँ और देह छूट जाये। इसलिए ऐसा जानते हैं कि 'मन को उदासीन न करना ।' क्योंकि, भला ! हमारे योग से ये सभी नर-नारी, परमहंस प्रसन्नता से बैठे हुए भगवद्भक्ति करते हैं, तब यह ठीक है । और **भगवद्भक्ति को करते देखकर मन में बड़ी प्रसन्नता होती है कि मरना तो सबको है, परन्तु इस तरह से भक्ति करना, यही जीने का बड़ा लाभ है । ऐसा निरन्तर अनुसन्धान रहता है ।''** इस तरह श्रीजीमहाराज ने अपने भक्तों की शिक्षा के लिए अपने वर्तन से वार्ता कही और वे स्वयं तो साक्षात् श्रीपुरुषोत्तमनारायण हैं ।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥३०॥२५३॥

वचनामृत ३१ : 'छाया के दृष्टान्त से ध्यान का'

संवत्* १८८५ के माघ शुक्ल ४ चतुर्थी के दिन सायंकाल श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर सफेद फेंटा बाँधा था, श्वेत खेस पहना था तथा लाल किनार की विलायती श्वेत धोती ओढ़ी थी और अपने मुखारविन्द के समक्ष परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब परमहंस बाजे बजाके कीर्तन का गान कर रहे थे। तो **'हरि मेरे हालर की लकरी'** यह कीर्तन[१] गान कर चुके तब महाराज ने कहा कि **'जमुना के तीर ठाडो'** यह कीर्तन[२] गाइए। फिर वह कीर्तन गाने लगे तब उस समय श्रीजीमहराज बहुत देर तक विचार करते रहे और फिर बोले कि "अब कीर्तन रखिए हम यह एक वार्ता करते हैं, वह है तो छोटी सी लेकिन ध्यान करनेवाले को बहुत ठीक पड़े ऐसी है। और वह बात हमने किसी दिन कही नहीं है।" फिर तो नेत्रकमल को बन्द करके विचार करने लगे और फिर बोले कि "कोटि-कोटि चन्द्रमा, सूर्य तथा अग्नि उनके जैसा तेज का समूह है और वह तेज का समूह समुद्र जैसा दिखाई देता है। ऐसा ब्रह्मरूप तेजोमय जो भगवान का धाम, उसमें जो पुरुषोत्तम भगवान की आकृति रही है और उन आकृति में से वे स्वयं भगवान अवतार धारण करते हैं। और वे भगवान कैसे हैं ? तो क्षर-अक्षर से परे हैं और समस्त कारणों के भी कारण हैं और अक्षररूप ऐसे जो अनन्तकोटि मुक्त हैं, उन्होंने सेवा की हैं चरणकमल जिनके, वैसे हैं। और **ऐसे जो वे भगवान, वे ही स्वयं दया करके जीवों का परम कल्याण करने के लिए अभी प्रकट प्रमाण रहते हुए आप सभीकी दृष्टि को गोचर[३] होते हुए साक्षात्रूप से रहे हैं। इसलिए उस धाम में रही जो मूर्ति तथा यह प्रकट श्रीकृष्ण की मूर्ति उनमें अधिकरूप से सादृश्य है।**

---

*दि. ७-२-१८२९, शनिवार **१.** सूरदास कवि विरचित।

२. प्रेमानन्दमुनि विरचित दोनों कीर्तन परिशिष्ट में दिए हैं। **३.** आंखों के सामने - प्रत्यक्ष।

उन श्रीकृष्ण की जो मनुष्यरूप मूर्ति है, उनके ध्यान को करनेवाला जो होता है, उस की जो दृष्टि, भगवान के उस रूप के बिना अन्यरूप विषयमात्र में अतिशय वैराग्य को पाकर उन भगवान के रूप में ही लुब्ध हो जाये, तब उसे उन **प्रत्यक्ष भगवान की मूर्ति और धाम की मूर्ति उन दोनों में ही तनिक सा भी भेद नहीं दिखता है ।** और उस मूर्ति तथा इस मूर्ति के रूप, अवस्था वे समान दिखाई देते हैं । तथा वह मूर्ति जितनी ऊँची है और जितनी पुष्ट है वैसी की वैसी ही यह मूर्ति दिखाई देती है, परन्तु उसमें और इनमें एक रोम का भी भेद[१] नहीं दिखाई देता है । अतिशय एकत्व[२] दिखाई देता है । इसी तरह से उसमें और इस मूर्ति में भेद[३] तनिक भी नहीं है । **वह मूर्ति और यह मूर्ति एक ही है ।** ऐसी जो प्रत्यक्ष मूर्ति, उनका ध्यान नेत्र के आगे बाहर[४] करता है तब तो उसमें और इसमें लेशमात्र भी फर्क[५] नहीं है । और उसी मूर्ति का ध्यान करनेवाला प्रतिलोमरूप से जब अपने नेत्रों में देखता है तब वही मूर्ति जैसी प्रथम दिखाई देती थी वैसी नहीं दिखाई देती है और नेत्र की पुतली में जितनी मूर्ति है उतनी दिखाई देती है । फिर यदि वह ध्यान करनेवाला प्रतिलोमरूप से कण्ठ से नीचे तक भीतर की ओर ध्यान करके देखता है तब उसी मूर्ति को जो पहले दो प्रकार से देखता था वैसे नहीं देखता है और उसी मूर्ति को बहुत बड़ी, बहुत ऊँची, बहुत मोटी, तथा बहुत ही भयंकर ऐसी देखता है; जैसे मध्याह्नकाल का सूर्य हो तब परछांई पुरुष के शरीर बराबर होती है और उसी सूर्य की अस्त वेला होती है तब परछांई अधिक लम्बी हो जाती है, परन्तु पुरुष के शरीर के समान नहीं रहती है । उस प्रकार वह मूर्ति भी पहले कही ऐसी बड़ी होती है । फिर उस मूर्ति को हृदय में रही जो बुद्धि, उस बुद्धि में देखता है तथा उस बुद्धि में रहा जो अपना जीव, उसमें देखता है तब उसी मूर्ति को अंगुष्ठमात्र परिमाण[६] में देखता है और द्विभुज दिखाई दे या चतुर्भुज दिखाई दे, परन्तु पहले तीन प्रकार से देखी वैसी नहीं दिखाई देती । और फिर तो उस

---

१. फर्क २. एकरूपता ३. फर्क ४. उन्मेष नेत्र से, अर्ध खुले नेत्र से ।
५. भेद, अन्तर ६. नाप

ध्यान करनेवाले को प्रतिलोमरूप से अपने जीव से पर[१] कोटि-कोटि सूर्य, चन्द्र, अग्नि के तेज के समूह में वह मूर्ति दिखाई देती है। तो जैसी दृष्टि समक्ष दिखाई देती थी उसी तरह की दिखाई देती है, परन्तु जरा भी फर्क[२] नहीं दिखाई देता। **इसलिए गुणातीत ऐसा जो अक्षरधाम है, उसमें जो मूर्ति है, वही मूर्ति प्रत्यक्ष है, उन दोनों में फर्क[३] नहीं है। जैसे धाम की मूर्ति गुणातीत है वैसे ही मनुष्य मूर्ति भी गुणातीत है।** और पहले जो मूर्ति में फर्क पड़ा, वह तो गुणमय ऐसे जो स्थानक हैं उनके कारण पड़ा। तो नेत्र में सत्त्वगुण और कण्ठ में रजोगुण और बुद्धि में स्थित जो जीव, वे भी गुणमय हैं।'' इस प्रकार से वार्ता करके बोले कि ''पहले गा रहे थे वे कीर्तन गाइए।'' इस तरह से श्रीजीमहाराज ने अपने पुरुषोत्तम स्वरूप के निरूपण की वार्ता परोक्षरूप होकर कही।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥३१॥२५४॥

वचनामृत ३२ : 'माहात्म्य की आड़ में पाप करने का'

संवत्* १८८५ महा शुक्ल ५ पंचमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के आगे मुनि तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी और गवैया परमहंस वसन्त के कीर्तन गा रहे थे।

तब श्रीजीमहाराज ने मुक्तानन्द स्वामी आदिक साधुओं को कहा कि **'विषया[४] विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिन:'** इस श्लोक का अर्थ करिए।'' तब उन्होंने रामानुजभाष्य सहित अर्थ किया। तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि ''इसका तो हमने ऐसा निश्चय किया है कि युवावस्था जिसे हो, वह आहार क्षीण[५] करें और युक्ताहार-विहार पूर्वक[६] रहें। और आहार क्षीण होता है; तब

---

*दि. ८-२-१८२९, रविवार **१.** अधिक, विशेष **२-३.** भेद

४. लोया-१० की टिप्पणी में अर्थ दिया है। **५.** अल्प, थोड़ा सा **६.** आहार-विहार युक्त रखें।

देह का बल क्षीण होता है और तभी ही इन्द्रियाँ जीती जाती हैं, उसके बिना इन्द्रियाँ जीती नहीं जा सकती और ऐसा होता हुआ[१] अपने मन को भगवान की नवप्रकार की भक्ति में रुचि सहित रखें तथा भक्ति में प्रीति रखें, इन दो प्रकारों से जो रहता है तब उसका सत्संग पार होता है।[२] और यदि ऐसा न हुआ तो वह जब तब जरूर इन्द्रियों के वश होकर विमुख होता है। वह तो गोवर्धन जैसा समाधिनिष्ठ हो तब भी उसे इसका भय है, तब दूसरों की क्या बात ? और आहार नियम में करना हो तो बहुत से उपवास लगातार करने लगे उससे नहीं होता, ऐसा करने से तो तृष्णा बढ़ जाती है और उलटा आहार बढ़ जाता है और उपवास समाप्त होता है तब दूगना आहार करने लगता है[३]। इसलिए वह तो धीरे-धीरे आहार को घटाने लगे तब नियम में आता है। जैसे मेघ छोटी-छोटी बूंद से बरसता है, फिर भी बहुत पानी होता है, उस तरह धीरे-धीरे आहार को नियम में करें। और ऐसा करते हैं तब इन्द्रियाँ नियम में आती है और भक्ति में प्रीति हो तब पार पड़ता है, यह निश्चित वार्ता है।''

और फिर श्रीजीमहाराज ने ऐसी वार्ता कही कि ''भगवान का जो सच्चा भक्त हो, उसे भगवान का माहात्म्य समझने की कैसी रीति है ? तो 'जो भगवान हैं, वे तेजोमय ऐसा जो अपना अक्षरधाम, उनमें सदा साकारमूर्ति होते हुए विराजमान हैं, और सभीके कारण हैं, सभीके नियन्ता हैं, सभीके अन्तर्यामी हैं, अनेककोटि ब्रह्माण्डों के राजाधिराज हैं, और अलौकिक दिव्य सुखमयमूर्ति हैं और माया के गुण से रहित हैं।' इस तरह से प्रत्यक्ष भगवान को जानकर, उन भगवान के बिना जो दूसरे समस्त मायिक पदार्थमात्र हैं उन्हें अतिशय तुच्छ और नाशवंत समझता है और एक भगवान में ही प्रीति करता है और नव प्रकार की भक्ति को करता है। और फिर ऐसा समझता है कि 'ऐसे अतिशय बड़े जो भगवान हैं उनकी मर्यादा में काल, माया, ब्रह्मा, शिव, सूर्य, चन्द्रमा इत्यादिक सभी समर्थ हैं, वे भी निरन्तर रहते हैं।' ऐसा जानकर उन

१. इन्द्रियजीत होकर २. पार पड़ता है, अन्त तक रहता है।
३. अधिक वेग से अतिशय आहार करता है।

भगवान ने बाँधी[1] जो धर्ममर्यादा है, उसमें उन भगवान की प्रसन्नता के लिए स्वयं निरन्तर रहता है, परन्तु उस धर्ममर्यादा का कभी लोप करता नहीं है। और जो कुबुद्धिवाला है, वह कैसा समझता है ? तो 'ऐसे बड़े जो भगवान है वे तो पतितपावन हैं, अधमउद्धारण हैं। इसलिए कुछ धर्म विरुद्ध अनुचित आचरण हो जायेगा, तो उसकी क्या चिन्ता है ? भगवान तो समर्थ हैं।' **इस तरह माहात्म्य की आड़ लेकर बिलकुल ही पाप करने से डरता नहीं है। ऐसा जो है वह तो दुष्ट है, पापी है।** और ऐसी समझवाला हो और वह उपर से तो भक्त जैसा दिखाई देता हो तो भी उसे भक्त न जानें और उसका संग कभी न करें। और भक्त तो प्रथम कही उसी तरह की समझवाले को ही जानें और उसका ही संग करें।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥३२॥२५५॥

वचनामृत ३३ : 'चार वस्तु से बुद्धि में फर्क न हो, उसका'

संवत्* १८८५ फाल्गुन शुक्ल ११ एकादशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीगोपीनाथजी के मन्दिर में विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज ने सभी परमहंसों के आगे ऐसी वार्ता कही कि ''धन, दौलत, स्त्री, और पुत्र इत्यादिक जो पदार्थ हैं, उनसे जिसकी बुद्धि में फर्क न पड़े और इनके लिए किसीके प्रति आस्था न हो, ऐसे तो सत्संग में थोड़े से गिनती के ही हरिभक्त होते हैं, परन्तु अधिक नहीं होते।'' ऐसा कहकर पुनः बोले कि ''**ऐसे तो ये मुक्तानन्द स्वामी तथा गोपालानन्द स्वामी हैं। तो उन्हें कोई दूसरा कैसा भी हो, और चमत्कार दिखाए तो भी उसका कोई**

*दि. १६-३-१८२९, सोमवार

१. प्रस्थापित की।

प्रकार से प्रभाव होता ही नहीं । और कैसा हो, उन्हें किसीका प्रभाव न पड़े ? तो जो ऐसा समझता हो कि 'इस देह से भिन्न जो आत्मा है, वह मैं हूँ तथा मैं तो प्रकाशमान सत्तारूप हूँ और उस मेरे स्वरूप में प्रत्यक्ष भगवान अखण्ड विराजमान हैं और उन भगवान के आकार बिना अन्य जो प्राकृत आकार मात्र हैं, वे असत्य हैं तथा अनन्त दोषों से युक्त हैं। ऐसा वैराग्य हो और भगवान का माहात्म्य यथार्थ जानता हो, उसे किसी भी प्रकार का बुद्धि में भ्रम नहीं होता है, परन्तु यह बात अति कठिन है। क्योंकि, वे[१] ऐसे बड़े हैं तो भी यदि उन्हें मान का बहुत योग होने लगे तथा रुपया और सोनामुहरों के ढेर आगे आकर पड़ने लगे तथा रूपवती ऐसी जो स्त्रियाँ, उनका योग होने लगे, तो वे त्यागी हैं तो भी इनसे[२] उनका ठीकाना रहता नहीं है। और यदि ऐसा योग होने लगे तो आज अपने त्यागियों में जो अत्यन्त निकृष्ट[३] होगा, उनके जैसा रहे या न रहे, इसमें भी संशय है। क्योंकि उन पदार्थों का तो योग ही ऐसा है। जैसे ये हम सब बैठे हैं, तो कितने समझदार[४] है ! परन्तु यदि शराब की शीशी का पान किया हो तो कोई ठिकाना रहता नहीं है; उस तरह इन पदार्थों का संग जरूर लगे बिना रहता ही नहीं है। इसलिए इन पदार्थों का योग यदि न होने दिया जाये तो वे इनसे बच जाते हैं और उनका योग होने से पहले उनका भय रखा जाये कि 'शायद मुझे इनका योग हो जाय !' । और यह वार्ता शास्त्रों में प्रसिद्ध है कि 'इनका संग तो एक भगवान को नहीं लगता है।' इसलिए कहा है कि **'ऋषिं[५] नारायणमृते'** तथा **'येऽन्ये[६] स्वतः परिहृतादपि बिभ्यति स्म।''**

फिर श्रीजीमहाराज ऐसा बोले कि ''वासुदेव भगवान का एकान्तिक भक्त किसे कहते हैं ?' तो जिसमें स्वधर्म, ज्ञान, वैराग्य और माहात्म्य युक्त ऐसी

१. मुक्तानन्द स्वामी तथा गोपालानन्द स्वामी २. स्त्री, धन, मान आदि पदार्थ से ।

३. न्यून ४. धर्मादि सत्साधनों से युक्त, विवेकी ।

५. लोया १३ की टिप्पणी में अर्थ दिया है ।

६. आप से दूसरे जीव है वे स्वयं के द्वारा त्याग किये हुए विषय सेवन से भी भय पाते हैं, अर्थात् वासनामात्र से बँधते हैं । (भाग. ११-६-१७)

वासुदेव भगवान की अनन्य भक्ति, इतने[१] हो उसे एकान्तिक भक्त कहते हैं। और उनकी गति ऐसी कही है कि उनका वासुदेव भगवान में प्रवेश होता है।' **तो प्रवेश तो क्या ?** तो तेज के मण्डल में दिव्यमूर्ति ऐसे जो वासुदेव भगवान हैं, उनमें उस भक्त को स्नेह रहा हो, उस स्नेह के द्वारा वासुदेव भगवान की मूर्ति में उसके मन का निरन्तर अनुसन्धान रहता है, तथा आसक्त होता हुआ रहता है और इस तरह से रहता हुआ उन वासुदेव भगवान की सेवा में भी बाहर से रहता है। 'जैसे लक्ष्मीजी हैं, वे वासुदेव भगवान के हृदय में चिह्नरूप से स्नेह को आधिक्य से रहे हैं, और बाहर से स्त्रीरूप से सेवा में भी रहती हैं।' उस तरह उस एकान्तिक भक्त का वासुदेव भगवान में प्रवेश जानें। और अभी भी जिस भक्त को भगवान की कथा, कीर्तन, नामस्मरण इत्यादिक जो दस प्रकार की भक्ति तथा भगवान का माहात्म्य तथा स्वधर्म तथा वैराग्य तथा आत्मनिष्ठा तथा सन्त का समागम इनका व्यसन हो, तो वह ऐसा हो कि 'इनके बिना किसी भी तरह से चले ही नहीं[२]।' जैसे अफीम आदिक का व्यसनी हो उसे उनके बिना चलता नहीं है और वह अफीम तो कडुवा जहर है तो भी अफीम के व्यसनी को अफीम बिना चलता नहीं है। तथा शराब का व्यसन हो, तो वह शराब भी पीता है, तब गला जलता है वैसा है, तब भी उसके बिना चलता नहीं है। तो उसे बहुत रुपये दिया जाये तब भी उस व्यसन से वह[३] प्रिय नहीं होता है और लेता नहीं है। क्योंकि, यह व्यसन उसके जीव के साथ जुट[४] गया है। उस तरह जिसे भगवद्भक्ति आदिक क्रिया का व्यसन हो गया हो, तो कैसा भी कुसंग हो जाये तो भी उनके बिना उसे चलता ही नहीं है। और उनके बिना दूसरे कार्य में उसका मन प्रसन्न नहीं होता। और भगवद्भक्ति आदिक क्रिया में उसका जीव जुट[५] गया हो और उसका ही उसे अति इश्क[६] हो, ऐसा जो भगवान का भक्त है, उसका भी वासुदेव भगवान में प्रवेश है ऐसा जानें। और वह भगवद्भक्त कैसा होता है ? तो भगवान की सेवा के बिना

---

१. साधन, गुण २. रहा ही न जाये। ३. रुपये

४. एकरस, खून में व्याप्त हो गाया है। ५. एकरस ६. अनुराग

चतुर्धा मुक्ति की भी इच्छा नहीं करता है तो दूसरे की क्या बात ? जो ऐसा हो उसे भगवान का एकान्तिक भक्त समझें । उसे किसी पदार्थ में इश्क नहीं रहता, और ऐसा न हो, और क्वचित् भगवान की भक्ति में लगाव होता है और यदि कुसंग का योग हो जाये तो भक्ति को भूल जाता है और वह दूसरे रास्ते पर चढ़[१] जाता है, उसे तो प्राकृत देहाभिमानी कहते हैं, परन्तु वह भक्त यथार्थ नहीं है और उसका विश्वास नहीं ।''

और फिर श्रीजीमहाराज ने इस प्रकार वार्ता कही कि ''**भगवान के भक्त को स्त्री, धन, देहाभिमान और स्वभाव इन चारों में कच्चापन हो और वह भगवान की भक्ति करता हो तो भी उसकी भक्ति का विश्वास नहीं है । उसकी भक्ति में जरूर विघ्न आता है ।** क्योंकि कभी ही[२] उसे स्त्री-धन का योग हो जाये तब भक्ति का ठिकाना नहीं रहता है, और उसमें आसक्त हो जाता है । तथा देहाध्यास हो, तो जब देह में रोगादिक कष्ट प्राप्त हो तथा अन्न-वस्त्रादिक न मिलता हो अथवा कोई कठिन वर्तमान पालन करने की आज्ञा हो, तब भी उसे भक्ति में भंग[३] होता है और व्याकुल[४] हो जाता है और कोई विचार नहीं रहता और मूर्ख सी चेष्टा करने लगता[५] है । तथा किसी प्रकार का स्वभाव हो, उसे सन्त टोकने लगे तथा उस स्वभाव के अनुसार उसे व्यवहार करने न दे, दूसरी तरह से वर्ताव करवाये तब भी वह व्यथित हो जाता है और उससे सन्त के समागम में रहा नहीं जाता । तब भक्ति तो कहाँ से रह सकती है ? इसलिए जिसे दृढ़ भक्ति प्राप्त करनी हो, वे इन चार बातों में कच्चापन न रखें । और इन चार में अपरिपक्वता हो तो भी समझकर धीरे-धीरे त्याग करें, तब वासुदेव भगवान की निश्चल भक्ति होती है । यह वार्ता तो ऐसी ही है, परन्तु इसमें कोई संशय नहीं है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥३३॥२५६॥

---

१. भक्ति उपासना को छोड़कर परोपकारादि अन्य मार्ग में लग जाता है ।

२. क्वचित् ३. बाधा ४. विकल, आतुर ।

५. विवेकभ्रष्ट होकर अपने मन से वर्ताव करने लगता है ।

वचनामृत ३४ : 'भगवान में ही वासना रहने का'

संवत्* १८८५ के चैत्र शुक्ल ३ तृतीया के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीगोपीनाथजी के मन्दिर में विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज को शुकमुनि ने प्रश्न पूछा कि ''भगवान के अलावा दूसरे मायिक पदार्थमात्र में वासना न रहे और एक भगवान में ही वासना रहे, उसके दो साधन दिखाई देते हैं। एक तो भगवान में प्रीति और दूसरा ज्ञान सहित वैराग्य, ये दो साधन हैं । तब ये दो साधन तो जिसे अतिशयता से न रहते हो और भगवान का निश्चय और विश्वास तो हो, ऐसे को भी एक भगवान की ही वासना रहे, और दूसरे पदार्थ की वासना न रहे ऐसा तीसरा कोई उपाय है ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''यह प्रश्न यथार्थ है और इन दोनों साधनों से ही एक भगवान की वासना रहती है और अन्य पदार्थ की नहीं रहती है, यह ठीक है । और यदि ये दो साधन न हो तो उसे भगवान के सिवा अन्य पदार्थ की वासना टलती नहीं है। इसलिए जीते जी दुःखी रहता है और भगवान का निश्चय है इसलिए देहान्त के बाद उसका कल्याण भगवान करते हैं। और भगवान के सिवा अन्य पदार्थ की वासना टालने के जैसे ये दो साधन हैं वैसा तीसरा भी एक[१] है । वह क्या ? तो जिसके जैसे नियम कहे है, उनमें सावधान होकर रहे। वे नियम कौन से हैं ? तब एक तो स्वधर्म सम्बन्धी नियम । वह कैसे? तो जैसे आत्मनिवेदी साधु-ब्रह्मचारी के नियम हैं वैसे ही आत्मनिवेदी न हो तो भी स्त्री को न देखने का नियम रखें, तथा स्त्री की वार्ता न सुनने का नियम रखें । इस प्रकार से पञ्चविषयों के त्याग सम्बन्धी नियम को दृढ़ता से सावधान होकर पालन करे, तथा भगवान और भगवान के भक्त, उनकी देह से परिचर्या[२]

---

*दि. ६-४-१८२९, सोमवार

१. साधन २. सेवा

करे, तथा भगवान की कथा सुनें, इत्यादिक नव प्रकार की भक्ति सम्बन्धी जो नियम हैं, उनका पालन करें, तब उनके मन में भी शुभ संकल्प होने लगते हैं। इस प्रकार से दो प्रकार के नियम में जो रहता है, तो उसे वैराग्य और भगवान में प्रीति ये दोनों न हो तो भी वे हो जाते हैं और अतिशय बलवान हो जाता है और उसे पदार्थ में अशुभ वासना टलकर एक भगवान की वासना दिन प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होती रहती है ।''

तब फिर श्रीजीमहाराज को शुकमुनि ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! जो क्रोध है, वह किससे उत्पन्न होता है ? तो स्वयं को जिस पदार्थ की कामना हो तथा जिसमें स्वयं ने ममत्व बाँध रखा हो और उसका भंग कोई करता है तब उसे उससे से क्रोध उत्पन्न होता है; और कामना जो इच्छा, उसका भंग हुआ हो तब वह काम था, वह क्रोधरूप में परिवर्तित हो जाता है । इसलिए इसका तो ऐसा स्वभाव ही हुआ कि इसमें क्रोध उत्पन्न होता है और ऐसा होने पर भी क्रोध न उत्पन्न हो, ऐसा है कि नहीं ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जो बड़े साधु हैं, उन्होंने भगवान की आज्ञा होने से अथवा शास्त्र दृष्टि से माहात्म्य जानकर अपनी इच्छा से अनेक जीवों को धर्ममर्यादा में रखाने के लिए तथा भगवान के मार्ग में चढ़ाने के लिए, ऐसा शुभ संकल्प मन में रखा हो और उसमें प्रवृत्त हुए हो; और कोई जीव धर्ममर्यादा का भंग करके अधर्म में प्रवृत्त होने लगे, तब उन बड़े पुरुषों को उस जीव पर क्रोध उत्पन्न हो आता है । क्योंकि, अपना जो शुभ संकल्प, उसका उसने भंग किया । इसलिए **धर्म मर्यादा में रखवाने की शिक्षा के लिए उसके उपर क्रोध करके उसे शिक्षावचन न कहा जाय, तो मर्यादा का भंग होता रहे और उस जीव का अच्छा नहीं होता है । इसलिए इस तरह से तो क्रोध होता है, वह ठीक है और इसमें कोई बाधा नहीं है ।** क्योंकि ऐसे मार्ग में जो बड़े साधु प्रवृत्त हुए हैं, उनके आश्रय में हजारों मनुष्य रहते हैं, उसे कुछ रोष करके कहे बिना कैसे चल सकता है ? और क्रोध तो तब नहीं होता है कि 'जिसमें से क्रोध

होता है उसका त्याग कर दे ।' और अकेले वन में फिरता रहे, तब क्रोध नहीं होता है; परन्तु ऐसा तो उनसे कैसे किया जाय ? क्योंकि उन्होने तो अनेक जीवों को वार्ता करके भगवद्सन्मुख करना है और उनका जो कल्याण होता है, उसका जो महाफल, उसे शास्त्र दृष्टि से समझा है तथा इस तरह की जो भगवान की आज्ञा, उनका माहात्म्य जाना है। इसलिए क्रोध हो जाये तब भी वह जो अपना शुभ संकल्प, उसका त्याग करते ही नहीं । और फिर **जिसे किसी बड़े साधु के साथ स्नेह हुआ हो और उनमें अपने कल्याण होने का स्वार्थ माना हो और ऐसा जानता हो कि 'इन साधु से ही मेरा अच्छा होगा' ऐसा जो है, उसे क्रोध का स्वभाव होने पर भी उन बड़े साधु पर उसे किसी दिन क्रोध नहीं होता और वह क्रोध को छोड़ ही देता है । इस तरह से भी क्रोध चला जाता है ।** और पदार्थ के लेन-देन के लिए और तुच्छ पदार्थ के लिए जो साधु पर क्रोध करता है, उसे तो साधु का माहात्म्य तथा साधु का जो इस तरह का मार्ग, वह समझ में ही नहीं आया है और समझ में आया होता तो तुच्छ पदार्थ के लिए क्रोध नहीं करता। और **बुद्धिमान हो, समझदार हो और तुच्छ पदार्थ के लिए साधु के प्रति क्रोध करता हो तो उसकी बुद्धि राजा के कर्मचारी जैसी व्यवहारिक जानें । परन्तु साधुता की बुद्धि उसे आई ही नहीं है,** ऐसा जानें ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥३४॥२५७॥

वचनामृत ३५ : 'प्रकृति मरोड़ने का - भक्त के द्रोह से भगवान के द्रोह का'

संवत्* १८८५ के चैत्र शुक्ल ९ नवमी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीगोपीनाथजी के मन्दिर में विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख साधु तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

*दि. १२-४-१८२९, रविवार

तब श्रीजीमहाराज से शुकमुनि ने प्रश्न पूछा कि ''हे महाराज ! जिसके हृदय में भगवान का तथा भगवान के भक्त का दृढ़ आश्रय हो, जो आश्रय, कैसा भी आपत्ति काल आ पड़े तथा देह को सुख-दुःख, मान-अपमान, देश-काल की विषमता; इत्यादिक से भी न जाये, वह कैसे जानने में आये कि 'उसे ऐसा आश्रय है। और उसके मन का अभिप्राय तथा देह का आचार[१] वह कैसा होता है ? उसे कहिए।'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''जिस भक्त को एक भगवान में ही महिमा[२] प्रतीत होती हो और भगवान से दूसरा कोई पदार्थ अधिक न जानता हो, और भगवान के सिवा अन्य सभीको तुच्छ जानता हो; तथा अपनी जो प्रकृति[३] हो, उसे भगवान तथा साधु वे मरोड़ते हैं[४] और प्रकृति के अनुसार न चलने दे और प्रकृति हो उससे विपरीत वर्ताव कराये, तब वह उद्विग्न न हो जाये और प्रकृति को विपरीत करे उसमें दुःखी न हो जाये तथा **अपनी प्रकृति चाहे कैसी भी कठिन हो, उसे छोड़कर जैसे भगवान तथा साधु कहते हैं, वैसा ही सरलता से रहता हो। ऐसी दो प्रकार की जिसकी समझ हो, उसे चाहे कैसा भी आपत्काल आ पड़े तो भी भगवान का आश्रय नहीं टलता।''**

तब फिर शुकमुनि ने पूछा कि ''मुरझाता तो हो; क्योंकि प्रकृति को मरोड़ते हैं तब जीव को उद्वेग तो होता है; परन्तु उस उद्वेग में भी कोई फर्क है या नहीं ?'' तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''**प्रकृति को मरोड़ते हैं और उद्वेग हो जाये तब जो अपना ही अवगुण लेता हो, परन्तु भगवान का तथा साधु का अवगुण न ले, वह अच्छा[५] है।** और जो अपना अवगुण न ले और भगवान का तथा साधु का अवगुण लेता है तब उसका विश्वास नहीं। और ऐसा जो हो, उसके आश्रय का भी ठिकाना नहीं।''

तब फिर शुकमुनि ने पूछा कि ''जिसकी जो प्रकृति हो उसे भगवान तथा साधु ने किसी दिन मरोड़ी न हो, तब वह अपने मन में कैसे समझता है कि

---

१. आचरण २. सर्वाधिक्य, सर्वोत्कृष्टता ३. स्वभाव

४. अपनी प्रकृति विरुद्ध-प्रतिकूल आचरण करायें। ५. उचित, योग्य, यथार्थ

'मेरी प्रकृति को मरोड़ेंगे तब मेरा ठिकाना नहीं रहेगा ।' क्योंकि स्वयं ने जिस बात का प्रयोग न किया हो उसका विश्वास कैसे होता है ?" तब श्रीजीमहाराज बोले कि "वह तो अपने मन के जो संकल्प हैं, उनके सामने दृष्टि रखें कि 'मेरे मन में भगवान के बिना दूसरे पञ्चविषय सम्बन्धी भोग हैं, उनमें किसकी वासना बलवान है और बलवानरूप से(१) कौन से विषय का संकल्प होता है?' इस तरह विचार करे तो जैसा स्वयं है, वैसा मालूम होता है, परन्तु दूसरी तरह से मालूम नहीं पड़ता । और जब वह विचार करता है तब इस तरह विचार करें कि 'इस पदार्थ का मुझे बलवान संकल्प है और उसमें मैं प्रवृत्त होता हूँ और उसमें से जब मुझे साधु मरोड़ेंगे तब मुझे ठीक नहीं रहेगा,' इस तरह उसे अपना निश्चय होता है । और बलवान प्रकृति हो, और फिर भी यदि उसकी प्रकृति को भगवान तथा साधु किसी दिन मरोड़ते नहीं, तब तो वह पार हो जाता है और यदि मरोड़ा जाये तब तो उसका ठिकाना नहीं रहता; अन्त में अति उद्विग्न होकर विमुख हो जाता है ।"

और पुनः श्रीजीमहाराज ने ऐसी वार्ता कही कि "साधु के द्रोह का शास्त्र में सबसे अधिक पाप कहा गया है, उसका क्या कारण है ? तो उन साधु के हृदय में साक्षात् श्रीकृष्ण भगवान रहते हैं; इसलिए साधु का द्रोह करता है तब भगवान का द्रोह होता है । क्योंकि उस साधु का द्रोह करता है तब उनके हृदय में रहे जो भगवान वे दुःखी होते हैं, तब उन भगवान के द्रोह का अधिक पाप है; इसलिए सन्त के द्रोह का सबसे अधिक पाप कहा गया है । और कंस, शिशुपाल, पूतना इत्यादिक जो दैत्य, उन्होंने भगवान का द्रोह किया और उनका भी भक्त की तरह भगवान ने कल्याण किया, इसका क्या अभिप्राय है कि उन दैत्यों ने वैरबुद्धि से भी भगवान का चिन्तन किया तब भगवान ने ऐसा जाना कि 'वैरबुद्धि से भी उन दैत्यों ने मेरा चिन्तन किया तथा मेरे सम्बन्ध को प्राप्त हुए; इसलिए मुझे उनका कल्याण करना है ।' इस तरह से उन पर भगवान की दया की अधिकता(२) जानें । और फिर ऐसा

१. अधिक तीव्रता से । २. आधिक्य

जाने कि 'वे वैरबुद्धि से आश्रित हुए, उनका भी भगवान ने कल्याण किया, तो जो भक्त भक्ति से उनका आश्रय लेंगे और भगवान को भक्ति से प्रसन्न करेंगे, उनका भगवान क्यों कल्याण नहीं करेंगे ? करेंगे ही ।' इस तरह से भगवान की दया की अधिकता दिखाकर मनुष्य को भगवान की भक्ति में प्रवृत्त कराना, ऐसा अभिप्राय शास्त्र के रचयिता का है; परन्तु ऐसा नहीं है कि 'दैत्यों की तरह भगवान को जो प्रिय न हो उसे करें। इसलिए भगवान पर वैरभाव रखकर जो भगवान का द्रोह करते हैं और अप्रिय करते हैं उन्हें तो दैत्य ही जानें और यह पक्ष तो दैत्य का है । और जैसी भगवान की रुचि हो उसीके अनुसार ही वर्तन करें, और भक्ति करें, और भगवान तथा भगवान के भक्त को प्रसन्न करना है, ऐसा भगवान के भक्त का पक्ष[१] है ।''

फिर शुकमुनि ने श्रीजीमहाराज को पूछा कि ''**हे महाराज ! साधु के हृदय में भगवान रहते हैं और उनके द्रोह से भगवान का द्रोह होता है और उनकी सेवा करे तो भगवान की सेवा होती है, उस साधु के लक्षण क्या है ?** उसे कहिए ।'' तब श्रीजीमहाराज थोड़ी देर विचार करके कृपा करके बोले कि

(१)''**प्रथम तो मुख्य लक्षण यह है कि भगवान को कभी भी निराकार न समझें, सदैव दिव्य साकार मूर्ति समझें** । और चाहे कितनें ही पुराण, उपनिषद, वेद इत्यादिक ग्रन्थों का श्रवण करे और उनमें निराकार जैसा सुनने में आये तो भी ऐसा जानें कि 'या तो हमें उस शास्त्र का अर्थ समझ में नहीं आता और या तो उसमें कैसा कहा होगा ?, परन्तु भगवान तो सदा साकार ही हैं ।' और यदि साकार समझता नहीं है तो उनकी उपासना दृढ़ नहीं कहलाती । और साकार न हो, उसमें आकाश की तरह कर्तापन नहीं कहलाता तथा एक देश[२] में रहनापन[३] नहीं कहा जाता है । इसलिए **भगवान तो सदा साकार ही हैं** । और अनेक ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय

---

१. मत-सिद्धान्त २. स्थान ३. रहने का धर्म-गुण

के कर्ता हैं और सदा अपने अक्षरधाम में विराजमान हैं तथा राजाधिराज हैं और **वे ही यह प्रत्यक्ष हैं ।** इस तरह जो यह समझदारी, वह किसी भी तरह से किसी भी काल में डिग[१] न हो जाये, सदा ऐसा ही समझता हो; एक तो यह लक्षण होता है ।

(२) तथा **उन भगवान की जो एकान्तिकी भक्ति, उसे स्वयं करता हो, और उन भगवान का जो नाम-स्मरण तथा कथा-कीर्तनादिक उसे कोई करता हो, उसे देखकर मन में बहुत प्रसन्न होता हो ।**

(३) तथा **उन भगवान के भक्त में[२] रहना हो उसमें कोई स्वभाव बाधक न बने और उस स्वभाव को छोड़ दे परन्तु भगवद्भक्त के संग का त्याग न करें ।** और अपने उस स्वभाव को साधु खण्डन करे तब साधु का अभाव न लें और अपने स्वभाव का अवगुण लेता रहता है परन्तु दुःखी होकर भक्त के समूह में से दूर रहने का किसी दिन मन संकल्प भी नहीं करता है, ऐसे ही ऐसे भक्त के समूह में पड़ा रहे ऐसा हो ।

(४) तथा **उत्तम वस्त्र, स्वादिष्ट भोजन, अच्छा जल तथा जो-जो कोई उत्तम पदार्थ अपनेको प्राप्त होते हैं, तो मन ऐसा संकल्प करें कि 'यह पदार्थ मैं भगवान के भक्त को दे दूँ तो ठीक रहेगा' और वह पदार्थ उन्हें देकर प्रसन्न रहे ऐसा हो ।**

(५) तथा भक्त के समूह में रहता हो, और उसकी ओर का ऐसा न हो कि 'यह तो कितने ही वर्ष साथ में रहा फिर भी इसके अन्तर की तो कुछ थाह नहीं लग पायी और यह तो कौन जाने किस तरह का होगा ? इसका तो कुछ मालूम नहीं पडता है,'' ऐसा न हो और जैसा वह अन्दर-बाहर हो, उसे सभी जाने कि 'यह तो ऐसा है, **ऐसा जो सरल स्वभाववाला हो ।**

(६) **और शान्त स्वभाववाला हो फिर भी कुसंगी की सोहबत जँचती न हो और वह[३] हो जाये तो क्रोधित हो जाता है; इस तरह से**

---

१. चलायमान, विचलित २. भक्त के मध्यम में-समूह में । ३. सोहबत

विमुख के संग की स्वाभाविक अरुचि रहती हो । ऐसे छः लक्षणों से युक्त जो साधु है, उनके हृदय में साक्षात् भगवान विराजमान हैं ऐसा जानें । और ऐसे साधु का द्रोह करता है तो भगवान का द्रोह करने के समान पाप लगता है और ऐसे सन्त की सेवा करता है तो भगवान की सेवा करने के समान फल होता है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥३५॥२५८॥

वचनामृत ३६ : 'कल्याण के असाधारण साधन का'

संवत्* १८८५ के वैशाख शुक्ल १ प्रतिपदा के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में से घोड़ी पर सवार होकर श्रीलक्ष्मीवाड़ी पधारे थे, उस वाड़ी में स्थित चबूतरे पर विराजमान हुए थे और सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज ने सभी परमहंसों तथा हरिभक्तों के प्रति प्रश्न किया कि ''इस जीव को कल्याण का असाधारण साधन क्या है कि जिसमें वह प्रवृत्त रहे तो उसका निश्चित कल्याण हो जाये और उसमें दूसरे कोई विघ्न प्रतिबन्ध न कर पायें ? उसे कहिए । तथा ऐसे कल्याण के साधन में बड़ा विघ्न कौन सा है कि जिसके कारण उसमें से निश्चित पतन हो जाये ? उसे भी कहिए ।'' फिर सभीने अपनी बुद्धि के अनुसार उत्तर किया लेकिन उस प्रश्न का समाधान नहीं हुआ । तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''कल्याण का असाधारण साधन तो यह है कि **पुरुषोत्तम भगवान को ब्रह्मज्योति के समूह में अनादि साकार मूर्ति समझें और उनके ही सभी अवतार हैं ऐसा समझकर प्रत्यक्ष भगवान का जिस-तिस[१] भाव से आश्रय करें; और धर्म सहित उन भगवान की भक्ति करें । और ऐसी भक्ति से युक्त जो साधु हो, उनका संग करें, यह कल्याण का असाधारण साधन है ।** और उसमें दूसरे कोई विघ्न प्रतिबंध

*दि. ४-५-१८२९, सोमवार **१.** दासत्व, पतिव्रता इत्यादिक भाव से ।

नहीं करते हैं । और उस साधन में बड़ा विघ्न यह है कि 'शुष्क वेदान्ती का संग करना' । और यदि उसका संग किया जाये तो उसे कौन सा विघ्न होता है? तो उसका संग करनेवाला जो पुरुष है उसे, उससे स्नेह हो जाता है। और जो स्नेह हो जाता है वह गुण के कारण होता है । जैसे किसीने दुष्काल में अन्न देकर जीवित रखा हो, उसके पर स्नेह होता है, उसी प्रकार से जो जिसने गुण[१] किया हो, उसके पर स्नेह होता है । उस तरह वह शुष्क वेदान्ती तो उसे ऐसा गुण दिखलाता है कि 'आत्मा है उसे जन्म-मरण नहीं है और वह निराकार है, और वह[२] चाहे कितना भी पाप करता है तो भी उसे दोष नहीं लगता है,'[३] ऐसा उसे गुण बताकर भगवान की मूर्ति के आकार का खण्डन कर देता है तब उसे यह बड़ा विघ्न हुआ; क्योंकि भगवान की मूर्ति में से च्युत हो गया । इसलिए उस शुष्क वेदान्ती का संग कभी भी न करें और वे शुष्क वेदान्ती तो महा अज्ञानी हैं और भगवान के भक्तिमार्ग में ऐसा बड़ा कोई विघ्न नहीं है ।''

इतनी वार्ता करने के बाद श्रीजीमहाराज पुनः दादाखाचर के राजभवन में पधारे और पूर्वी द्वार के कक्ष के बरामदे में पलंग पर बैठकर इस प्रकार वार्ता कही कि ''हमने सभी शास्त्रों को सुनकर यह सिद्धान्त किया है, और हम इस पृथ्वी में सभी ठिकाने पर गए और वहाँ बहुत सिद्ध देखे हैं ।'' इतना कहकर गोपालादासजी आदिक साधुओं की वार्ता कह दिखाई और फिर ऐसा बोले कि ''मैं तो ऐसा जानता हूँ कि **भगवान की मूर्ति की जो उपासना तथा ध्यान उनके बिना जो आत्मा को देखना तथा ब्रह्म[४] को देखना; ये तो हो ही नहीं सकता** और उपासना से ही आत्मा दिखाई देती है, ब्रह्म दिखाई देता है, परन्तु उसके[५] बिना दिखाई ही नहीं देता । और उपासना के बिना आत्मा-ब्रह्म को देखने की इच्छा रखनी, वह कैसा है ? तो जैसे आकाश को जीभ से सौ वर्ष तक चाटा जाये तब भी कभी खट्टा-खारा स्वाद आता ही नहीं है, उस

१. उपकार २. आत्मा

३. और परमात्मा भी नित्य निर्विकारी गुणों से युक्त हैं, उस परमात्मा में और जीवात्मा में वास्तविक भेद कभी भी नहीं है । ४. परमात्मा को ५. उपासना के

तरह भगवान की मूर्ति की उपासना के बिना आत्मा-ब्रह्म दिखाई ही नहीं देते; तो चाहे इतने प्रयत्न करे तो भी नहीं दिखाई देते। और निर्बीज[१] ऐसे जो सांख्य तथा योग; उनसे आत्मा का दर्शन शास्त्र में जो कहा है, वह भले कहा, परन्तु हमने ऐसा कोई देखा नहीं है और अनुभव में भी यह वार्ता का मेल नहीं होता है, इसलिए यह वार्ता असत्य है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥३६॥२५९॥

वचनामृत ३७ : 'दरिद्रता में भी प्रथम की चीजें याद आये, उसका'

संवत्* १८८५ के वैशाख शुक्ल ३ तृतीया के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में उत्तराभिमुख द्वार के कक्ष के बरामदे में गोलाकार आसन पर विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज ने सभी साधुओं तथा सभी हरिभक्तों के प्रति ऐसी वार्ता कही कि ''जिसे भगवान के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान[२] एकबार हो गया हो, और फिर उसे देश, काल, क्रिया, संग विषम हो जाये तो भी उस ज्ञान का लेश नहीं मिट पाता । वहाँ दृष्टान्त है, जैसे कोई बड़ा राजा हो अथवा बड़ा लखपति साहुकार हो और उसका प्रारब्ध के अनुसार वह अधिकार छूट गया हो और दरिद्रपन आ गया, तब उसे घास-धान खाने को मिले अथवा डोड़ी[३] की भाजी मिले तथा कैथ, बैर, उबले करौंदे[४] इत्यादिक जैसा-तैसा खाने को मिले तब उसे खाता है, परन्तु पहले जो उसने भारी-भारी मेवे खाये थे, तथा भारी मूल्यवान चीजों जो किसीको न मिलती हो ऐसी मंगवाकर खायी हो, वे सभी याद आती है । और मन में ऐसा विचार करता है कि 'ऐसी-ऐसी भारी चीजों

---

*दि. ६-५-१८२९, बुधवार

१. निरीश्वर २. निश्चयात्मक ३. हरे पत्ते की निम्न सब्जी । ४. उबले हुए पीपल के फल ।

को मैं पहले खाता था और अब मैं ऐसा जैसा-तैसा अन्न खाता हूँ।' इस प्रकार से जब-जब खाता है तब वह याद आता है। और जो पहले से ही जैसा-तैसा अन्न खाता हो और उसे दरिद्रपन अधिक आये तब भी वही खाता है, तब उसे किस बात का स्मरण होगा ? उस प्रकार जिसने भगवान के स्वरूप का सुख तथा भगवान के भजन का सुख अपने मन में एकबार यथार्थरूप से जान लिया हो और उसे बाद में समागम का योग न रहा और बहार निकल गया तो भी उस सुख का स्मरण करता हुआ ही सुख-दुःख को प्रारब्ध के अनुसार भोगता है, किन्तु उस सुख को नहीं भूल पाता। और जिसने भगवान का सुख जाना नहीं है और उसका अनुभव नहीं हुआ है, वह तो किसका स्मरण करेगा ? वह तो पशु जैसा है।

अब उन भगवान का जो स्वरूप है, उनका ज्ञान कहते हैं कि 'भगवान का जो आकार है, वैसा आकार दूसरे देव-मनुष्यादिक प्रकृति में से जो आकार हुए है उन किसीका नहीं है। और भगवान के सिवा अन्य सभीको काल भक्षण कर लेता है। और भगवान के स्वरूप में काल का सामर्थ्य नहीं चलता, ऐसे भगवान हैं। और **भगवान के समान तो एक भगवान ही है परन्तु दूसरा कोई नहीं है। और भगवान के साधर्म्य को प्राप्त हुए ऐसे जो भगवान के धाम में भक्त हैं, उनका आकार भी भगवान जैसा[१] है,** तो भी वे पुरुष हैं और भगवान पुरुषोत्तम हैं और उन सभीमें श्रेष्ठ हैं और उनके उपास्य हैं और सभीके स्वामी हैं और उन भगवान की महिमा का कोई पार नहीं पाते। ऐसे दिव्यमूर्ति जो भगवान हैं, वे निर्गुण हैं और ध्येय हैं और उनका जो ध्यान करते हैं वे निर्गुण हो जाते हैं, ऐसा भगवान का स्वरूप है। और वे भगवान हैं, वे अपने धामरूप एकदेश में रहते हुए ही अन्वयरूप से अनेक ब्रह्माण्ड में रहे जो समस्त जीवों के समूह, उनमें उनके यथायोग्य कर्मफलप्रदातारूप से अन्तर्यामीरूप में रहते हैं, और समस्त जीवों के जीवन हैं और उनके बिना यह

१. दिव्याकार, चैतन्य, सुखरूप

जीव कुछ करने में तथा भोगने में समर्थ नहीं हो पाता । और वे जो भगवान हैं, वे सिद्धेश्वर हैं; जैसे कोई सिद्धिवाला पुरुष हो, वह यहाँ बैठा हुआ ब्रह्मा के लोक में पदार्थ हो, उसे इस हाथ से ग्रहण कर लेता है, उस तरह भगवान एक देश में रहते हुए ही अपनी योगकला के सामर्थ्य से सर्व क्रिया को करते हैं । और जैसे अग्नि जो है, वह काष्ठ में तथा पाषाण में रहती है, उस अग्नि का स्वरूप दूसरी प्रकार का है और काष्ठ-पाषाण का स्वरूप दूसरी तरह का है; उस तरह भगवान सभी जीवों में रहे हैं, उन भगवान का स्वरूप दूसरी तरह का है और उस जीव का स्वरूप दूसरी तरह का है। इस तरह के **अनन्त ऐश्वर्य युक्त ऐसे जो भगवान, वे ही स्वयं जीवों के कल्याण के लिए मनुष्य जैसे होते हैं ।' उन भगवान के स्वरूप का ज्ञान जिसे इस प्रकार से हुआ हो, और उन भगवान की भक्ति की हो और उस ज्ञान-भक्ति के सुख का अपने जीव में अनुभव एकबार यथार्थ हुआ हो तो उसकी विस्मृति कभी भी नहीं होती । और चाहे कैसा भी सुख-दुःख आ पड़े तब भी उसमें उन भगवान के स्वरूप के सुख का जो अनुभव है, उसे भूल नहीं पाता ।** जैसे उस राजा को प्रथम का जो अपना सुख, उसे दरिद्रपन में भी विस्मृत नहीं होता है वैसे । और यह वार्ता किस लिए करते हैं ? तो ऐसे सत्संग का योग अभी तो है, परन्तु कदाचित् देश, काल, प्रारब्ध की विषमता से ऐसा योग न रहे तब यदि ऐसी वार्ता समझ रखी हो तो उसके जीव का कल्याण होता है । और उसे ऐसा दृढ़ निश्चय हो, तो उसे कभी भी ऐसा नहीं समझ में आता कि 'मेरा कभी भी अकल्याण होगा ।' और ऐसा योग रहना बहुत दुर्लभ है और इस तरह से देह से रहना, वह भी दुर्लभ है। क्योंकि, कोई दिन बाहर निकला जाये तब ऐसा देह से नहीं रहा जाता, तो भी यह वार्ता समझ रखी हो तो उसके जीव का बहुत श्रेय होता है; इसलिए यह वार्ता कही है ।''

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥३७॥२६०॥

वचनामृत ३८ : 'सांख्यादिक का - सदैव सुखी रहने का'

संवत्* १८८५ के वैशाख शुक्ल १४ चतुर्दशी के दिन स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीगोपीनाथजी के मन्दिर में विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ''हमने सांख्यादिक शास्त्र के विचार से ऐसा निश्चय किया है कि माया के कार्य में से उत्पन्न हुए जो आकारमात्र वे सभी मिथ्या हैं। क्योंकि ये समस्त आकार कालक्रम से नष्ट हो जाते हैं। और भगवान के अक्षरधाम में जो भगवान का आकार है तथा उन भगवान के पार्षद जो मुक्त हैं उनके जो आकार हैं, वे सभी सत्य हैं और दिव्य हैं और अतिशय प्रकाश से युक्त हैं। और उन भगवान का तथा उन मुक्तों का जो आकार है, वह पुरुष के जैसा द्विभुज है और सच्चिदानन्दरूप है। और उस अक्षरधाम में रहे जो वे भगवान हैं, वे उन मुक्तपुरुषों के द्वारा दिव्य ऐसे जो विविध प्रकार के उपचार, उनके द्वारा सेवित हैं तथा उन मुक्तपुरुषों को परम आनन्द प्रदान करते हुए सदैव विराजमान हैं। ऐसे सर्वोपरि जो पुरुषोत्तम भगवान हैं, वे ही दया करके जीवों के कल्याण के लिए इस पृथ्वी पर प्रकट होते हुए सभी जनों को नयनगोचर रहे हैं और आपके इष्टदेव हैं और आपकी सेवा को अंगीकार करते हैं। **ऐसे जो ये प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम भगवान, उनके स्वरूप में और अक्षरधाम में रहे जो भगवान हैं, उनके स्वरूप में कुछ भी भेद नहीं है; वे दोनों एक ही हैं। और ऐसे जो यह प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम भगवान हैं, वे अक्षरादिक सभीके नियन्ता है, ईश्वरों के भी ईश्वर हैं, समस्त कारणों के भी कारण हैं, सर्वोपरि हैं, समस्त अवतारों के अवतारी हैं और आप सभीको एकान्तिक भाव से उपासना करने योग्य हैं।** और इन भगवान के जो पूर्व में बहुत ही अवतार हुए हैं, वे भी नमस्कार करने योग्य हैं और पूजन करने योग्य हैं।''

*दि. १७-५-१८२९, रविवार

पुनः श्रीजीमहाराज ने ऐसी वार्ता कही कि "**एक द्रव्यादिक का लोभ, तथा स्त्रियों के साथ बैठने-उठने की वासना, रस में जिह्वा की आसक्ति, देहाभिमान, कुसंगी में स्नेह बना रह जाये तथा सम्बन्धी में स्नेह बना रहे - ये छः बात जिसमें हो, उसे किसी दिन जीवित रहते या मरने के बाद भी सुख तो कभी होता ही नहीं है; इसलिए जिसे सुख चाहिए, वे ऐसे स्वभाव हो तो टालें । और निवृत्ति परायण होवें,** बराबरी व्यक्ति की सोहबत न रखें, और देहाभिमान से रहित तथा वैराग्य से युक्त रहें तथा भगवान का अल्प वचन हो, उनमें फर्क पड़े[१] तो उसे महत् वचन में फर्क हुआ हो ऐसा मानता हो, **ऐसे जो भगवद् भक्त बड़े साधु, उनके साथ अपने जीव को जोड़ दें और उनके वचन में मन-कर्म-वचन से रहें ।** और विषय के सम्बन्ध से तो दूर ही रहें, परन्तु उनका सम्बन्ध अपने नियम का त्याग करके न होने दें । और यदि विषय का सम्बन्ध करने लगे तो उसका ठिकाना रहता ही नहीं है, **यह सिद्धान्त वार्ता है ।**"

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥३८॥२६१॥

वचनामृत ३९ : 'विशल्यकरणी औषधि का'

संवत्* १८८६ के आषाढ़ कृष्ण १० दशमी के दिन श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कक्ष के बरामदे में विराजमान थे । उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किये थे और अपने मुखारविन्द के सन्मुख परमहंस तथा देश-देश के हरिभक्त की सभा बैठी थी ।

तब श्रीजीमहाराज ने सभी परमहंस तथा सभी सत्संगियों के आगे वार्ता कही कि "भगवान की माया तो कौनसी है ? तो '**देह के प्रति अहंबुद्धि तथा देह सम्बन्धी पदार्थ में ममत्वबुद्धि यही माया है, तो उस माया को टालना है ।** और उस माया को जिसने टाली है, वह माया को तैर चुका कहलाता है।

*दि. २५-७-१८२९, शनिवार

१. आज्ञा पालन में कमी आये तो ।

'और उस माया को टालकर भगवान में प्रीति करनी है,' इतना सर्व शास्त्र का सिद्धान्त है। उसे आज समझ लीजिए या बहुत दिनों के बाद समझें[१]। और हनुमान, नारद, प्रह्लाद वे जो बड़े-बड़े भगवान के भक्त हैं, उन्होंने भी[२] भगवान के पास ऐसा ही माँगा है कि **'अहं-ममत्वरूप माया से रक्षा करिएगा और आप के प्रति प्रीति हो जाये तथा उस माया को तैर चुके हों और आप के प्रति प्रीतिवान हों, ऐसे जो साधु हैं, उनका संग कराइएगा और उन साधु में स्नेह और ममत्व रहे।'** इसलिए हमें भी ऐसा करना है तथा ऐसा मांगना है तथा इनका श्रवण, मनन, निदिध्यास करना है।

और **भगवान का जो भक्त है, उसे आत्मनिष्ठा का बल तथा भगवान के माहात्म्य का बल, ये दो बल चाहिए।** वह आत्मनिष्ठा तो क्या है ? तो अपनी आत्मा को देह से पृथक् जानें। और साधु के साथ रहते हैं, उसमें परस्पर किसी निमित्त से बोलचाल हो जाये या किसी तरह का अहं-ममत्व हो जाये या मान, क्रोध, स्वाद, लोभ, काम, मत्सर, ईर्ष्या इत्यादिक अवगुण की प्रवृत्ति हो जाये तब यदि स्वयं को आत्मा न जानते हो तो साधु का अवगुण आता है और उससे उसका बहुत अनिष्ट होता है; इसलिए स्वयं को देह से पृथक् आत्मा जानें। और वह जो आत्मा है, वह ब्राह्मण नहीं है, क्षत्रिय नहीं है, कणबी[३] नहीं है, किसीका लड़का नहीं है, किसीका बाप नहीं है, उसकी कोई जाति नहीं है, रिश्ता नहीं है, ऐसा है। और जो आत्मा तो सूर्य तथा अग्नि जैसा तेजस्वी है और जानपना से युक्त है[४] और वह अग्नि की ज्वाला तथा सूर्य की किरण, वे तो जड़ हैं। क्योंकि वह उंगली से आवरण करने पर खिसकती नहीं है और चींटी हो, उसे उंगली से छू लिया जाये तो वह खिसककर उल्टी चल देती है; इसलिए आत्मा तो जानपना से युक्त[५] है। और जो उसे सूर्य, अग्नि जैसा कहते हैं, वह तो उसका आकार ऐसा तेजस्वी है इसलिए कहते हैं।

१. परन्तु समझकर जो भक्त इस तरह करेगा वहीं सुखी होगा दूसरे सुखी नहीं होंगे।

२. अहं-ममत्वरूप माया का त्याग करके भगवान में दृढ़ प्रीति की हैं।

३. एक वैश्य जाति, कुर्मी ४-५. ज्ञान युक्त

और वह आत्मा अनेक योनियों को प्राप्त हुई है । और ऐसा कहलाता है कि **'जितना समुद्र का पानी है उतना उस जीवने अपनी माता का दूध पिया है ।'** और वहाँ-वहाँ अनेक प्रकार से मारा गया है तो भी मरा नहीं है, जैसा है वैसा का वैसा ही है । और वह अज्ञान अवस्था में स्वयं को देहरूप में मानता था तब भी नहीं मरा, तो अब हमें उसका ज्ञान हुआ तब, तो वह कैसे मरेगा? ऐसी जो आत्मा है, उसे अपना स्वरूप मानें ।

और भगवान का माहात्म्य कैसे जानें ? तो भगवान हैं, वे अनेक ब्रह्माण्डों के राजाधिराज हैं और जिस ब्रह्माण्ड के वे राजा हैं उस ब्रह्माण्ड की कोई गिनती(१) नहीं है, उसे कहा है कि **'द्युपतय(२) एव ते न ययुरनन्तमनन्ततया त्वमपि यदन्तराऽण्डनिचया ननु सावरणाः ।'** और उन एक-एक ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा, विष्णु, शिव होते हैं तथा सात द्वीप, सात समुद्र, मेरु, लोकालोक आदिक पर्वत उनसे युक्त पृथ्वी की रचना होती है तथा चौदह लोक की रचना होती है तथा अष्ट आवरण की रचना होती है; इत्यादिक सामग्रियों से सहित जो अनेक ब्रह्माण्ड हैं, उनके राजा भगवान हैं । और जैसे इस पृथ्वी का चक्रवर्ती राजा हो, और उस राजा के जो गाँव हैं; वे तो गिनती हो सके ऐसे है, तो भी उसकी(३) कितनी महत्ता जानने में आती है ! और भगवान को तो ऐसे ब्रह्माण्डों की भी गिनती नहीं है, इसलिए भगवान की तो अत्यधिक महिमा है । और उन ब्रह्माण्डों में यह जीव है वह भगवान की आगे कौनसी गिनती में है ? कुछ भी नहीं है, अति तुच्छ है । और उन भगवान ने उन ब्रह्माण्डों में पञ्चविषय सम्बन्धी सुख जीवों को दिया है, वह सुख कैसा है ? तो उस सुख के लिए कितनें लोग अपना सिर कटवाते हैं । ऐसा महा-दुर्लभ जैसा दिखाई देता है । तब अपनी मूर्ति में तथा अपने धाम में जो सुख है, वह तो बहुत भारी है । और प्राकृत विषयसुख है वह तो अन्य पदार्थ पर आश्रित रहा है तथा पृथक्-पृथक् है । जो भगवान हैं, वे तो समस्त सुखमात्र के राशि(४) हैं । उन भगवान

१. महत्ता, गणना २. लोया-१० की टिप्पणी में अर्थ दिया है ।
३. राजा की ४. समूह, भण्डार

सम्बन्धी जो सुख है, वह अविनाशी है और महा अलौकिक है। और जैसे कोई बड़ा धनाढ्य गृहस्थ हो, वह अपने घर में अनेक प्रकार का भोजन करता हो, और वह भोजन करके उच्छिष्ट कुछ टुकड़ा-रोटी बचती है वह कुत्ते को डालता है तब वह अतिशय तुच्छ कहलाता है और जो स्वयं भोजन करता हो, वह महासुखमय कहलाता है; **उस तरह भगवान ने ब्रह्माण्ड में अनेक जीवों को पञ्चविषय सम्बन्धी सुख दिया है, वह तो कुत्ते को डाला गया जो टुकड़ा-रोटी, उसके समान अति तुच्छ है और स्वयं में जो सुख है वह तो महाश्रेष्ठ है।** और फिर सुषुप्ति अवस्था में इस जीव को भगवान बड़ा सुख प्राप्त कराते हैं, तो चाहे कैसी पीड़ा हुई हो, और सुषुप्ति में जाता है तब सुखी हो जाता है।''

''और उन भगवान के चरणकमल की रज को ब्रह्मा, शिव, लक्ष्मीजी, राधाजी, नारद, शुक, सनकादिक, नौ योगेश्वर; ऐसे-ऐसे जो बड़े हैं वे भी अपने मस्तक पर चढ़ाते हैं और मान को छोड़कर उन भगवान की निरन्तर भक्ति करते रहते हैं। और फिर उन भगवान ने जगत में विचित्र सृष्टि कैसी की है और उसमें कैसी चतुराई की है ? तो देखिए कि 'मनुष्य में से मनुष्य होता है, पशु में से पशु होता है, वृक्ष में से वृक्ष होता है, कीड़े में से कीड़ा होता है। और मनुष्य के अंग में से कोई अंग का भंग हो गया हो तो, कैसा भी कुशल हो तो भी उस अंग को वैसा के वैसा करने में किसी प्रकार से समर्थ नहीं ही होता है;'' इत्यादिक अनेक कलायें भगवान में रही हैं। इस प्रकार से भगवान का माहात्म्य जानकर तथा भगवान को सुखमय मूर्ति जानकर दूसरे सभी पदार्थों से वैराग्य होता है और एक भगवान में ही प्रीति होती है।

इस तरह प्रथम कहा जो **अपने जीवात्मा का ज्ञान तथा भगवान के माहात्म्य का ज्ञान; ये दोनों जिसे सिद्ध हुए हो, और वह चाहे कैसे भी पञ्चविषय सम्बन्धी सुख में कदाचित् बँध गया हो तो भी उसमें बँधा नहीं रहता, उसे तोड़कर निकलकर ही रहता है;** और जो विषय के सुख का

त्याग करके रहता हो, और वह बन्धन में न आये, उसका तो क्या कहना ? **इसलिए इन दोनों प्रकार के ज्ञान का श्रवण करके उनका अपने मन में वेग[१] लगा दें ।** जैसे कोई शूरवीर तथा कठोर मनुष्य हो, और उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी[२] हो, उसने इसका बाप मार डाला हो, तो उसका उसे भारी द्वेष होता है और जब उसका द्वेष हो रहा हो, और फिर उसके लड़के को मार डाले और फिर भाई को मार डाले, और फिर स्त्री को छीन ले जाये और फिर माँ को लेकर मुसलमान को सुपुर्द कर दे और फिर गाँव-जागीर[३] लूट लें, इस तरह से जैसे-जैसे उसका पराभव करता जाता है वैसे-वैसे उसको मन में बहुत ही द्वेष[४] होता है तथा जाग्रत-स्वप्न में सभी काल में उसे इसी बात का ही वेग[५] रहता है । उस तरह जिसे इन दोनों बात का निरन्तर वेग[६] रहता है तब उसे यह ज्ञान सिद्ध होता है । और उसे कैसा भी आपत्तिकाल आये तो उसमें[७] उनकी सहाय करता है । और **जैसे विशल्यकरणी औषधि लाकर हनुमानजी ने रामचन्द्र को पिलाई तब देह में जो शल्य[८] लगे थे वे सभी अपने आप देह से बाहर निकल गए; उस तरह जिसे ये दो बातें मन में दृढ़ हो गई हों, उसे इन्द्रियों को विषय भोग की जो इच्छा रही है वे शल्य हैं, वे सभी निकल जाते हैं;** अर्थात् विषयभोग में से उनकी इन्द्रियों की वृत्तियाँ निकलकर एक भगवान में लग जाती हैं । और सत्संगी भी उसे ही कहते हैं । क्योंकि **सत्यस्त्प ऐसी जो अपनी आत्मा तथा सत्यरूप ऐसे जो भगवान हैं, उनका जिसे इस तरह से संग हुआ हो, उसे सत्संगी कहते हैं ।** और ये दो प्रकार की जो वार्ता है उसे दैवी जीव सुनते हैं तब उनके हृदय में जाकर रग-रग में फैल जाती[९] है । और जो आसुरी जीव हैं, और वे सुनते हैं तब उनके तो कान से बाहर ही निकल जाती है परन्तु हृदय में प्रवेश नहीं करती है । जैसे कुत्ता हो, और वह खीर खाता है, वह उसके पेट में रहती ही नहीं है, वमन हो जाती है । और खीर जैसा तो कोई भोजन उत्तम नहीं कहलाता, तब भी उस श्वान

१. तीव्र आवेग २. शत्रु ३. खेत, जमीन ४. प्रतिशोध

५-६. तीव्र विचार ७. आपत्काल में ८. चोट, जख्म, घाव ९. व्याप्त हो जाती है ।

के पेट में रहकर रग-रग में फैलती नहीं है; और उस खीर को मनुष्य खाता है तब उसके पेट में रहती है और रग-रग में प्रवृत्त होती है और बहुत सुख होता है। उस तरह श्वान जैसा जो आसुरी जीव है उनके हृदय में तो यह बात प्रवेशती ही नहीं है और मनुष्य जैसा जो दैवी जीव है, उसके हृदय में प्रवेशती है तथा रग-रग में व्याप्त हो जाती है।'

और फिर जो भगवान हैं उनके जैसे तो वे एक ही हैं। भगवान का भजन कर-करके बहुत से भगवान के साधर्म्यपना को प्राप्त हुए हैं, तब भी वे भगवान के समान तो होते ही नहीं हैं। और यदि वे भगवान जैसे ही हो जायें, तब तो बहुत से भगवान हो जायें, तब तो जगत की स्थिति तो एक तरह की ही नहीं रह पाती। क्योंकि एक भगवान कहेंगे कि मैं जगत की उत्पत्ति करूँगा और दूसरा कहेगा, मैं जगत का प्रलय करूँगा; और फिर एक भगवान कहेंगे कि मैं वर्षा बरसाऊँगा, और दूसरा कहेगा, मैं नहीं बरसाऊँगा; और एक कहेगा, मैं मनुष्य के धर्म पशु में करूँगा और दूसरा कहेगा, मैं पशुओं के धर्म को मनुष्य में करूँगा। इस तरह से स्थिति नहीं रह पायेगी।' और यह तो देखिए, जगत में किस तरह से बराबर अदल[१] अनुसार सभी क्रियाओं की प्रवृत्ति होती है! परन्तु तिलभार भी फर्क नहीं पड़ता। इसलिए समस्त क्रियाओं के प्रवर्तन करानेवाले तथा सभीके स्वामी एक ही भगवान हैं। तथा **भगवान के साथ दूसरे को दाव[२] लग जाये ऐसा नहीं दिखाई देता। इसलिए भगवान तो एक ही है परन्तु दूसरा उनके जैसा नहीं हो पाता।** और यह सब बातें कहीं वे थोड़ीसी हैं, परन्तु उनमें सभी बातें आ गयीं। और इस बात का जो रहस्य है वह जो समझदार है उसे समझ में आता है परन्तु दूसरे को समझ में नहीं आता। इतनी बातें समझकर जिसने दृढ़ कर लीं, उसे सभी बातें सम्पूर्ण हो गयीं, उसे कुछ करना बाकी नहीं रहा। इस तरह जो हमने बात कहीं, उसे सुनकर, और उस बात की भगवान के जिस भक्त को दृढ़ता हो, उसका संग रखें, तो उसे इस बात की दिन प्रतिदिन दृढ़ता होती जायेगी। और यह बात

१. न्याय से, व्यवस्था के अनुसार। २. समानता हो सके।

हम जो करते हैं, वह कहीं बुद्धि की कल्पना से नहीं करते है तथा सिद्धता दिखाने के लिए नहीं करते है; यह तो हमारी अनुभव की हुई बात है, और जैसे हम रहते हैं वैसी बात करते हैं। क्योंकि, हमें स्त्री-धनादिक पदार्थ का अत्यधिक योग[१] है, तथा पञ्चविषय का भारी योग है, तथा सुरत, अहमदाबाद, वड़ोदरा, वरताल जाते हैं तब हजारों मनुष्य इकट्ठे होते हैं और वे सत्कारते हैं तथा गाजे-वाजे[२] अति सम्मान करके रखते हैं तथा वहाँ-वहाँ भारी-भारी जगह देखने में आती है तथा भारी-भारी वस्त्र-वाहनादिक का योग होता है; ये सभी हैं फिर भी **अपनी आत्मा के सन्मुख दृष्टि करते हैं तथा भगवान के माहात्म्य के सन्मुख दृष्टि करते हैं तब इन सभी की अति तुच्छता हो जाती है और उनमें किसी स्थान पर बन्धन नहीं होता तथा पूर्व देह की जैसे विस्मृति है, उस तरह इन सब की विस्मृति हो जाती है।** इसलिए ये दो बातें हमे सिद्ध हुई है, इसलिए हमें ऐसा रहा जाता है[३]। और दूसरा भी यदि उन दों बातों को सिद्ध करता है तो, उसे कदाचित् ऐसा कोई योग हो जाये तब भी उसे ऐसा[४] रहा जाता है; इसलिए यह बात अवश्य समझनी है।'' इस तरह से श्रीजीमहाराज ने कृपा करके दूसरे को समझ ने के लिए अपना वर्तन लेकर[५] वार्ता कहीं, और स्वयं तो साक्षात् श्रीपुरुषोत्तमनारायण हैं।

॥ इति वचनामृतम् गढ़डा अन्त्य ॥३९॥२६२॥

इस प्रकार ये जो सभी श्रीजीमहाराज के वचनामृत हैं, उन्हें **मुक्तानन्द स्वामी तथा गोपालानन्द स्वामी तथा नित्यानन्द स्वामी तथा शुकमुनि, इन चार साधुओं ने मिलकर जैसा सुना है, और जैसी अपनी बुद्धि है उनके अनुसार लिखें है।** श्रीजीमहाराज तो दिन-प्रतिदिन इसी-इसी तरह की अनेक प्रकार की वार्ता को करते हुए तथा अपने भक्तजन को आनन्द प्रदान करते हुए श्रीगढ़डा में विराजित रहते थे।

---

१. बिना चाहे बलजबरन प्राप्ति। २. धामधूम से ३. स्थिति बनी रहती है।

४. निर्बन्धन ५. दिखाकर

मुक्तानन्दश्च गोपालानन्दो मुनिरुदारधी: ।
नित्यानन्दशुकानन्दौ चत्वारो मनुयस्तु ये ॥१॥

एतै: सङ्गत्य लिखितानीत्थं धर्मजनेर्हरे: ।
वचोऽमृतानि सर्वाणि यथामति यथाश्रुतम् ॥२॥

तत्रादौ दुर्गनगरे स्वामिनोक्तानि तेन तु ।
अष्टसप्ततिसङ्ख्यानि तानि सन्तीष्टदानि हि ॥३॥

प्रोक्तानि च ततस्तेन सारङ्गपुरसंज्ञके ।
ग्रामेऽष्टादशसङ्ख्यानि तानीष्टानि भवन्ति हि ॥४॥

तेनोक्तानि ततस्तानि ग्रामे कार्यायनाभिधे ।
सन्ति द्वादशसङ्ख्यानि सर्वसौख्यकराणि हि ॥५॥

लौहाभिधे ततो ग्रामे तानि प्रोक्तानि तेन च ।
सन्त्यष्टादशसङ्ख्यानि भक्ताभीष्टप्रदानि हि ॥६॥

ग्रामे पञ्चालसंज्ञेऽथ तेन तान्युदितानि वै ।
सन्त्येकान्तिकभक्तानां प्रेष्ठानि सप्तसङ्ख्यया ॥७॥

पुनर्दुर्गपुरे तेन स्वामिना कथितान्यथ ।
सन्ति तानि सप्तषष्टिसङ्ख्यातानि हि तत्त्वत: ॥८॥

ततो वृत्तालयपुरे तेन धर्मसुतेन च ।
तानि विंशतिसङ्ख्यानि कथितानि भवन्ति हि ॥९॥

तत: श्रीनगरे तानि प्रोक्तानि त्रीणि तेन च ।
श्रीभक्तिधर्मपुत्रेण सन्ति भक्तप्रियाणि हि ॥१०॥

कथितानि पुनस्तेन स्वामिना दुर्गपत्तने ।
तानि सन्त्येकोनचत्वारिंशत्सङ्ख्यानि तत्त्वत: ॥११॥

एवं हि तानि सर्वाणि मितानि द्विरसाक्षिभि: ।
सन्ति सँल्लिखितानि श्रीमहाराजनिदेशत: ॥१२॥

इमानि ये पठिष्यन्ति श्रोष्यन्ति चादराज्जना: ।
भविष्यति हरौ तेषां भक्तिरेकान्तिकी ध्रुवम् ॥१३॥
आप्याययन्निजजनान् स्वकीयवचनामृतै: ।
जयति श्रीहरि: स्वामी श्रीमद्दुर्गपुरे प्रभु: ॥१४॥
स्वधर्मस्य च जीवात्मज्ञानस्य विरतेस्तथा ।
माहात्म्येन सह स्वीयज्ञानभक्त्योर्यथार्थत: ॥१५॥
लक्षणानि स्वभक्तेभ्यो य उवाच दयानिधि: ।
नानाविधै: प्रसङ्गैस्तं नमामो भक्तिनन्दनम् ॥१६॥
निजैर्वचोऽमृतैर्लोकेऽतर्पयद्यो निजाश्रितान् ।
प्रीतो न: सर्वदा सोऽस्तु श्रीहरिर्धर्मनन्दन: ॥१७॥
तद्वचोऽमृतपातारो ये स्युस्तत्पदसंश्रया: ।
सत्सङ्गिन: प्रसन्नास्ते भवन्त्वस्मासु सर्वदा ॥१८॥

॥ श्रीगढ़डा अन्त्यप्रकरणं समाप्तम् ॥

॥ इति श्रीभक्तिधर्मात्मज श्रीसहजानन्दस्वामिवचनामृतानि सम्पूर्णानि ॥

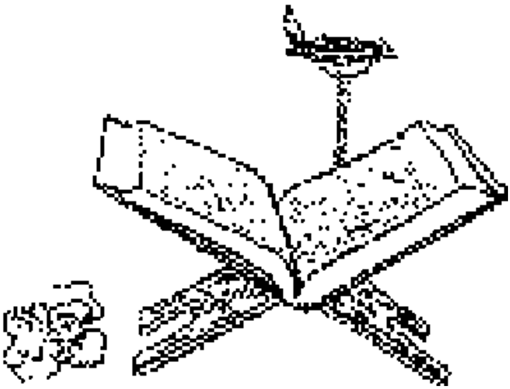

॥ वृत्तालये स भगवान् जयतीह साक्षात् ॥

भूगोल–खगोल का वचनामृतम्

श्रीजीमहाराज ने आषाढ़ी संवत् १८६३ में कार्तिक शुक्ला (१) प्रतिपदा से प्रबोधिनी (११) एकादशी तक श्रीगढ़पुर स्थित भक्तिबाग में तिनिस वृक्ष के नीचे बैठकर शुकानन्द मुनि के द्वारा, हरिभक्तों के लिए जो पत्र लिखवाया उसका उद्देश्य यही था कि 'भक्तों को भूद्वीप खण्ड, युगपरिमाण तथा प्रलयवर्णनपूर्वक भरतखण्ड में मनुष्य जन्म की दुर्लभता का वर्णन प्राप्त हो तथा मनुष्य जन्म प्राप्त करके अन्य लौकिक प्रवृत्ति का आग्रह न करके सभी मुमुक्षु मोक्षरूपी कार्य सिद्ध करने पर जोर दें । उस बात का वर्णन श्रीहरिलीलामृतम् ६-११/१२ में किया है । यह पत्र आनुपूर्विक होगा कि अन्यथा होगा, इसका विचार किये बिना उपयोगी समझकर यहाँ पृथक् मुद्रित किया गया है ।

श्रीमद् भागवत आदिक सद्ग्रन्थों[१] में लिखा है कि भरतखण्ड में मनुष्य का देह प्राप्त करना, वह अति दुर्लभ है, चिन्तामणि तुल्य है । जिस देह को पाने की इच्छा इन्द्रादिक देवता रखते हैं। उन देवताओं का विषय तथा वैभव-विलास तथा आयुष्य वह तो मनुष्यों की अपेक्षा बहुत अधिक है, परन्तु वहाँ मोक्ष का साधन नहीं होता। मोक्ष का साधन तो भरतखण्ड में मनुष्यदेह प्राप्त होने से होता है, इसके सिवा दूसरे कोई ठिकाने पर तथा किसी देह में भी नहीं होता है। इस हेतु से समस्त देशों की अपेक्षा मृत्युलोक में भरतखण्ड में मनुष्य का देह प्राप्त करना अधिक[२] माना गया है। उनके तुल्य दूसरा कोई चौदह लोकों में स्थानक नहीं है। उन चौदह लोकों के नाम – यह मृत्युलोक है, उससे ऊर्ध्व छः लोक हैं । जिसमें प्रथम भुवर्लोक है(१), उसमें मलिन देव रहते हैं। उससे ऊर्ध्व दूसरा स्वर्गलोक है(२), उसमें इन्द्रादि देव रहते हैं। उससे ऊर्ध्व तीसरा महर्लोक है(३), उसमें अर्यमादि पितृदेव रहते हैं । उससे

१. भागवत ५/१९/२१ २. विशेष, श्रेष्ठ

ऊर्ध्व चौथा जनलोक है(४), उससे ऊर्ध्व पाँचवा तपलोक है(५), इन दोनों लोक में भृग्वादि ऋषि रहते हैं। उससे ऊर्ध्व छठवां सत्यलोक है(६), उसमें ब्रह्मा रहते हैं। उस सत्यलोक सहित सातलोक हैं। उस मृत्युलोक से अधो जो नीचे सात लोक हैं, उनमें प्रथम तो अतल(१), दूसरा वितल(२), तीसरा सुतल(३), इन तीनों में दैत्य रहते हैं। इससे नीचे तलातल(४), दूसरा महातल(५), तीसरा रसातल(६), इन तीनों में निशाचर रहते हैं। और नीचे कहे उनसें नीचे सातवां पाताल है(७), जिसमें सर्प रहते हैं। ये सातलोक तो मृत्युलोक से नीचे हैं। इनके सहित सभी मिमाकर चौदह हुए। उनमें मृत्युलोक है वह श्रेष्ठ है। उस मृत्युलोक के सात द्वीप हैं, जो चक्राकार हैं और उनके बीच जंबुद्वीप हैं(१), वह एक लक्ष[१] योजन का है। उसके चारों तरफ खारे जल का समुद्र है, वह भी एक लाख योजन का है। उससे दूसरा प्लक्ष नामक द्वीप है(२), वह दो लाख योजन का है। उसके चारों तरफ समुद्र है, वह भी दो लाख योजन का है, उसका जल इक्षु, जो गन्ने के रस समान है। और उससे तीसरा शाल्मलिद्वीप है(३), वह चारों ओर फैला चार लाख योजन का है। उसके चारों तरफ समुद्र है वह चार लाख योजन का है। उसका जल तो सुरा जो शराब, उनके जैसा है। उससे चौथा कुशद्वीप है(४), वह चारों तरफ फैला है और वह आठ लाख योजन का है और उतना ही चारों तरफ समुद्र है और उसका जल घृत जो घी, उनके जैसा है। और उससे पाँचवा क्रौंचद्वीप है(५), वह सोलह लाख योजन का है और उतना ही चारों तरफ सोलह लाख योजन का समुद्र है। उसका जल तो क्षीर, जो दूध के समान है। उससे छट्ठा शाकद्वीप है(६), वह बत्तीस लाख योजन का है, उसके चारों तरफ समुद्र है वह उनके जितना है। उसका जल तो दहीं मंडोद जो दहीं के घोल के समान है। उससे सातवाँ पुष्करद्वीप है(७), वह चौंसठ लाख योजन का है। और उसके चारों तरफ समुद्र है। वह भी चौंसठ लाख योजन का है। उसका जल जो सुधा[२] के समान मधुर है। इस तरह से सात द्वीप हैं।

१. लाख २. अमृत

उनमें यह जंबुद्वीप है वह श्रेष्ठ है और उस जंबुद्वीप के नव खण्ड हैं। वह किस तरह है ? तो उस द्वीप के मध्य में सुवर्ण का मेरु पर्वत है । उस पर्वत की तराई में चारों तरफ फैला हुआ एक इलावर्त नामक खण्ड है; वहाँ संकर्षण की उपासना है और वहाँ शिवजी मुख्य भक्त हैं । और फिर उस मेरु से पश्चिम दिशा में एक केतुमाल नामक खण्ड है और उसका सुभग ऐसा दूसरा भी नाम है; और उसमें प्रद्युम्न की उपासना है और वहाँ लक्ष्मीजी मुख्य भक्त हैं । और फिर उस मेरु से उत्तर दिशा में तीन खण्ड हैं । उनमें प्रथम रम्यक नामक एक खण्ड है, उसमें मत्स्यभगवान की उपासना है और वहाँ सावर्णि मनु मुख्य भक्त हैं । और उससे उत्तर में दूसरा हिरण्यमय खण्ड है और उसमें कूर्मजी की उपासना है और वहाँ अर्यमा मुख्य भक्त हैं । और उससे उत्तर में दूसरा कुरु खण्ड है और उसमें वाराह की उपासना है और वहाँ पृथ्वी मुख्य भक्त हैं । ये पाँच खण्ड हुए । और फिर उस मेरु से पूर्व दिशा में भद्राश्व नामक खण्ड है और वहाँ हयग्रीव की उपासना है और उसमें भद्रश्रवा नामक मुख्य भक्त हैं । और फिर उस मेरु से दक्षिण दिशा में तीन खण्ड हैं । उसमें प्रथम हरिवर्ष खण्ड है, वहाँ नृसिंहजी की उपासना है और प्रहलादजी मुख्य भक्त हैं । उससे दक्षिण दिशा में दूसरा किंपुरुष नामक खण्ड है, उसमें राम-लक्ष्मणजी की उपासना है, वहाँ हनुमानजी मुख्य भक्त हैं । उससे दक्षिण दिशा में भरतखण्ड है और उसमें नरनारायण देव की उपासना है और वहाँ नारदजी मुख्य भक्त हैं । इस प्रकार से इस जंबुद्वीप के नव खण्ड कहे हैं । उनमें जो भरतखण्ड है वह अति श्रेष्ठ है । इसका क्या कारण है ? जो दूसरे आठ खण्ड हैं उनमें भोग विलास के सुख तो बहुत अधिक हैं परन्तु मोक्ष का साधन वहाँ नहीं होता है । और **मोक्ष का साधन तो एक भरतखण्ड में ही होता है । इस कारण से इस भरतखण्ड के तुल्य चौदह लोकों में दूसरा कोई ठिकाना नहीं है ।**

और फिर भरतखण्ड है उसमें भी तेरह(१३) देश है, वे अनार्य अर्थात् कठोर है। उसे कहते हैं। एक तो बंगाल(१), दूसरा नेपाल(२), तीसरा भूट[१] (३), चौथा कामाक्षी(४), पांचवा सिंध(५), छठ्ठा काबुल(६), सातवां लाहोर(७), आंठवा मुल्तान(८), नवमां ईरान(९), दसवां असतंबोल[२](१०), ग्यारहवां अरबस्तान(१०), बारहवां स्वाल(१२), तेरहवां पिलपिलाम (१३)- ये तेरह देश मलिन है, इनमें जो मनुष्य देह प्राप्त करता है, उसे मोक्ष के दाता ऐसे जो सद्‌गुरु, उनका योग मिलना तथा मोक्ष के धर्म को समझना, यह बहुत कठिन है। अब दूसरे साढ़े बारह देश हैं, वे आर्य अर्थात् उत्तम हैं। उनके नाम इस प्रकार है, प्रथम तो एक पूर्व(१), दूसरा व्रज(२), तीसरा मालव(३), चौथा मारु(४), पांचवा पंजाब(५), छठ्ठा गुजरात(६), सातवां दक्षिण(७), आंठवा मलबार(८), नवमां तिलंग(९), दसवां द्राविड(१०), ग्यारहवां बारमलार(११), बारहवां सोरठ(१२), आधा कच्छ - **ये साढ़े बारह देश उत्तम हैं। उनमें सद्‌गुरु तथा ब्रह्मवेत्ता सन्त है, उनका प्राकट्य अधिक रहता हैं।** और इन देशों में मनुष्य देह पाता है उसे धर्म, भक्ति, वैराग्य, ज्ञान यह समझ में आ सके ऐसा है और मोक्ष के मार्ग को जान सके ऐसा है। उसे कैसे जाना जा सकता है ? तो ये जो उत्तम देश हैं उन में भगवान के अवतार बहुत से होते हैं। इसलिए ये देश श्रेष्ठ हैं। और भरतखण्ड के जो सभी मनुष्य हैं वे मोक्ष का उपाय करते हैं तो मोक्ष हो सके ऐसा है और यदि नहीं करते हैं तो नहीं होता है। इसलिए जो विवेकी हैं वे हिंसादोष रहित होकर कुसंग का त्याग करके सद्‌गुरु एवम् ब्रह्मवेत्ता सन्त का आश्रय ग्रहण करके उनकी सेवा करें। और उन सद्‌गुरु एवम् सन्त, उनके लक्षण सद्‌ग्रन्थों में लिखे हुए हैं कि धर्म, भक्ति, वैराग्य, ज्ञान इत्यादिक शुभगुण संपन्न हो, उनकी परख[३] करके उनका आश्रय करें और वे कहे उनके अनुसार उनके वचनों में अपना देह, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण उन्हें रखें और भगवान का भजन करें - **यही मोक्ष का**

१. भूटान २. इस्तांबुल ३. पहचान

साधन है । तो जिन्होंने भूतकाल में किया है और वर्तमान में करते हैं और भविष्यकाल में करेंगे उन्हें अमूल्य मनुष्य देह का लाभ हुआ ऐसा जानें और उसे समझदार और महान जानें । और जो ऐसा नहीं समझता है और संसार के तुच्छ सुख में लोभित होकर काल के कौर ऐसे जो मिथ्या मतवादी गुरु हैं, उनके वचन को मानकर ऐसा जो मनुष्यदेह अमूल्य है, उसे खो देता है; और वे ही जगत में तो चतुर कहलाते हैं तथा समझदार कहलाते हैं तथा बड़े कहलाते हैं और उनकी जगत में यश-कीर्ति बहुत हो, वे तो सभी स्वप्न तुल्य हैं । जिसे सच्चा मानकर उसमें मोहित हुए हैं और मोक्ष का उपाय समझते नहीं हैं तो जो ब्रह्मवेत्ता साधु तथा सद्ग्रन्थ हैं, वे उन्हें मूर्ख कहते हैं, आत्मघाती कहते हैं, और उन्हें फिर से पुनः ऐसे **मोक्षक्षेत्र में मनुष्य का देह पाने में विलम्ब तो बहुत होता है ।**

उसे सद्ग्रन्थ के अनुसार लिखा है कि हमारे वर्ष (६६६)छेसो छियासठ और मास (८)आठ बीत जाते हैं तब ब्रह्मा का (१)एक लव होता है । ऐसे (६०)साठ लव का एक निमिष, वह हमारे वर्ष (४०,०००)चालीस हजार बीतते हैं तब ब्रह्मा का (१)एक निमिष होता है । ऐसे (६०)साठ निमिषों की (१)एक पल, जो हमारे वर्ष (२४,००,०००)चौबीस लाख बीतने पर ब्रह्मा का (१)एक पल होता है । ऐसे (६०)साठ पलों की (१)एक घड़ी, जो हमारे वर्ष (१४,४०,००,०००)चौदह करोड़ चालीस लाख व्यतीत होते हैं तब ब्रह्मा की एक घड़ी होती है । ऐसी ३० घडियों का एक दिन, जो हमारे वर्ष (४,३२,००,००,०००)चार अरब बत्तीस करोड़ होते हैं तब ब्रह्मा का एक दिन होता है । जो चार युगों की एक चौकड़ी; सत्युग के (१७,२८,०००)सत्रह लाख अठ्ठाईस हजार, त्रेतायुग के (१२,९६,०००)बारह लाख छियानवे हजार, द्वापर के (८,६४,०००)आठ लाख चौसठ हजार, कलियुग के (४,३२,०००)चार लाख बत्तीस हजार । जो[१] (४३,२०,०००)तेंतालीस लाख, बीस हजार वर्ष

१. मिलाकर

होते हैं तब एक चौकड़ी होती है । ब्रह्मा के एक दिन में ऐसी (१०००)एक हजार चौकडीयाँ युगों की होती हैं । तो ब्रह्मा के एक दिन में (१४)चौदह मनु और (१४)चौदह इन्द्र समानरूप से राज्य करके नष्ट हो जाते हैं । (१)एक मनु एवं (१)एक इन्द्र, हमारे वर्ष (३०,८५,७१,४२८)तीस करोड़ पचासी लाख इक्हत्तर हजार चारसौ अठ्ठाईस उसके उपरांत मास (६)छःऔर दिन (२५)पच्चीस, घड़ी (४२)बयालिस, पल (५१)इक्यावन, निमिष (२५)पच्चीस, लव (४२)बयालिस, उपरांत (१२)बारह लव का (१४) चौदहवां भाग, उतना एक-एक रहकर (१४) चौदह इन्द्र हो जाते हैं । वे ब्रह्मा के लव-निमिषादिक समस्त दिन में उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते है; **उसका नाम (१) प्रथम नित्य प्रलय कहलाता है ।** और उन ब्रह्मा की एक रात्रि होती है तब ब्रह्मा सोते हैं तब स्वर्ग, मृत्यु, पाताल इस त्रिलोकी का नाश होता है । तो जितना दिन है उतनी रात्रि है, जो अपने वर्ष (८,६४,००,००,०००)आठ अरब चौसठ करोड़ वर्ष होते हैं तब ब्रह्मा का अहोरात्र[१] होकर एक दिन होता है । उसका दिन-दिन प्रति नाश होता है तथा दिवसान्तर[२] में पुनः ऐसा[३] होता है और वह नाश हो जाता है, **उसका नाम (२)दूसरा निमित्त प्रलय कहलाता है ।** इसे ब्रह्मा के (१)एक दिन की अवधि कही गई है । ऐसे (३०)तीस दिनों का एक मास। ऐसे बारह मासों का (१)एक वर्ष । ऐसे (१००)एक सौ वर्ष ब्रह्मा देह रखते हैं । वे ब्रह्मा देह त्याग करते हैं तब उन चौदह लोक सहित ब्रह्माण्ड का नाश होता है, तब प्रकृति से उत्पन्न हुआ जो कार्य वह सभी प्रकृति में विलीन हो जाता है । **यह (३)तीसरा प्राकृत प्रलय कहलाता है ।** चौथा आत्यन्तिक प्रलय होता है तब तो अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड़ों का नाश होता है । उस दिन[४] तो प्रधानपुरुष के कारण ये जो प्रकृतिपुरुष हैं, वे अपने में अनन्त ब्रह्माण्डों को प्रतिलोम करके स्वयं अक्षरपुरुष के तेज में लीन हो जाते हैं । **उसका नाम (४)चौथा आत्यन्तिक प्रलय कहलाता है ।** उस प्रलयकाल में जिस तरह

१. रात-दिन २. दूसरे दिन ३. उत्पन्न ४. उस समय

प्रतिलोम होते हैं उसी तरह ही उत्पत्तिकाल में अनुक्रम से उनके द्वारा अनुलोम ही उत्पन्न होते हैं। यह तो चार प्रकार के प्रलय को कहा, परन्तु तीसरा प्राकृत प्रलय तो ब्रह्मा की आयुष्य अवधि का कहा है। ऐसे साढ़े तीन करोड़ प्राकृत प्रलय हो जाते हैं तब यह जीव है वह ऐसे मनुष्य देह को प्राप्त हुआ है; उस देह को वृथा-मिथ्या मायिक सुख तथा मतवादी गुरु के आश्रय में रहकर हार जाता है[१]। वह जीव यमयातना तथा नरक कुण्डों के दुःखों तथा लखचौरासी योनि के जो देह हैं, उनके दुःख को भोगकर उनमें पुनः साढ़े तीन करोड़ प्राकृत प्रलय कहे हैं, वैसे बीतेंगे तब पुनः मोक्ष क्षेत्र में ऐसे मनुष्य का देह को प्राप्त होता है; इतना घूमने के बाद मनुष्य देह पाने में विलम्ब होता है। इसलिए हे भाई, चाहे तो आज समझकर मोक्ष के दाता जो सद्गुरु एवम् सन्त, उनका आश्रय करके उनकी आज्ञा में अपना देह तथा इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण को रखकर अपनी आत्मा का श्रेय करके भगवान के धाम में पहुँच जाओ। और यदि आज यह बात नहीं समझोगे और ऐसा मनुष्य देह जो मोक्ष के साधन का धाम है, उसे व्यर्थ हार जावोगे[२] तो पुनः फिरसे ऐसा योग मिलने में विलम्ब तो पहले लिखा इतना है। उसके अनुसार भोगकर वह अवधि पूरी होगी उस दिन मोक्ष होने का योग आयेगा, उस दिन यदि विचार करोगे तब होगा और नहीं विचार करोगे तो उस दिन भी मोक्ष नहीं होगा; यह सिद्धान्त वार्ता है। समझदार हों वे विचार करें और मूर्ख के सिर पर तो श्रुति-स्मृति की मर्यादा नहीं है; वे तो कोई इन बात को नहीं समझेंगे।' श्रीरस्तु...

॥ खगोल-भूगोल का वचनामृत समाप्त ॥

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

१. व्यर्थ खो बैठता है। २. गँवा दोगे।

वचनामृत परिशिष्ट

संस्करण की कतिपय विशेषतायें

- विषय अनुसार वचनामृतों का विभागीकरण।
- वचनामृत में निर्देश किये गए कीर्तनों का अलग से संग्रह।
- वचनामृत में पूछे गए प्रश्नों का चार्ट एवं परिसंख्या।
- वचनामृत में आलेखित वाद्ययन्त्रों का सविस्तार एवं सचित्र विवरण।
- वचनामृत में निर्दिष्ट श्रीजीमहाराज ने धारण किये वस्त्र-परिधान का सचित्र विवरण।
- जहाँ श्रीजीमहाराज ने वचनामृत का प्रबोधन किया, उन धामों का चित्र दर्शन।
- वचनामृत में प्रबोधित संस्कृत श्लोकों का सरल अर्थ।
- ब्रह्माण्ड रचना एवं लोकान्तरों का चार्ट।
- इससे अलावा विविध जानकारी से भरपूर है यह संस्करण।

परिशिष्ट-१

वचनामृत में श्रीजीमहाराज ने धारण किए हुए वस्त्रालंकारों की जानकारी

"मैं जो वचनामृत सुनता हूँ या पढ़ता हूँ," उसे श्रीजीमहाराज कहाँ ? कब ? कहते हैं; उसके ध्यानरूप अनुसंधान के लिए महामुनि मुक्तानन्द स्वामी आदि प्रमुख संतों ने तिथि-तारीख़-स्थान-समय के साथ-साथ श्रीहरि के शृंगार का अति सुंदर आलेखन किया है। फलतः जैसा कि स्वयं श्रीजीमहाराज संतों-भक्तों के साथ ब्रह्मचर्चा कर रहे हैं और मैं सुनता हूँ" ऐसी उच्च भावना के साथ श्रवण-मनन-निदिध्यास कर सकते हैं।

प्रत्येक वचनामृत के प्रारम्भ में वचनामृत के उद्गाता श्रीजीमहाराज का 'शब्दचित्र' प्रस्तुत किया गया है, जिसके दर्शन से हम धन्य बनते हैं। इस "ओपनिंग पेरेग्राफ" (प्रथम परिच्छेद) में प्रस्तुत की गई श्रीहरि के शृंगार विषयक जानकारी का सविस्तार एवं सचित्र संग्रह जिज्ञासु एवं मुमुक्षुजनों को ध्यान आदि में उपयुक्त हो, इसलिए इस परिशिष्ट में दिया गया है।

जामो

वचनामृत में भगवान श्रीस्वामिनारायण ने धारण किए हुए विविध शृंगारों में (१) सुरवाल (२) मिरजई (डगली) (३) पाग (४) शेलु (५) खेस (६) चादर (७) चौफाल (८) रेंटो (९) फेंटो (१०) पिछौरी (११) अंगरखा (१२) मोलियुं (१३) धोती (१४) बोकानी वगैरह विशेष जानने योग्य हैं।

इस शृंगार-वस्त्रों में (१) खेस (२) पिछौरी (३) चादर (४) चौफाल (५) धोती (६) शेलु (७) रेंटो; यह सात प्रकार के वस्त्र खास करके (कमर से उपर के शरीर को ढंकने) ओढ़ने के उपयोग में लाये जाते थे। 'शेलु' ओढ़ते थे एवं माथे पर बाँधते थे। उसी तरह 'फेंटो' मस्तक पर बाँधते थे और कमर पर भी बाँधते थे। वचनामृत में खेस शब्द बहुत ही अलग-अलग प्रकार

केडियु

से इस्तेमाल हुआ है। इसलिए जहाँ ''खेस पहना था'' ऐसा शब्द लिखा हो वहाँ ''खेस'' शब्द का अर्थ ''धोती'' ऐसा लें। उदा० लोया.८, म.प्र.६६, ७१, अम.२, वगैरह और जहाँ ''खेस ओढ़ा था'' ऐसा शब्द लिखा हो वहाँ खेस शब्द का अर्थ 'उपवस्त्र' - उपर ओढ़ने का वस्त्र जैसा लें। उदा० सारंग.३, कारि.११ वगैरह, ''सफेद धोती'' पहनी थी ऐसा स्पष्ट उल्लेख मात्र ग.म.३४ के वचनामृत में ही हैं। अन्यथा सर्वत्र ''खेस'' शब्द द्वारा ''धोती'' की संज्ञा ही है। ''खेस'' का अर्थ धोती भी होता है। सारंग.३ वचनामृत में ''काली किनारी का खेस ''ओढ़ा था'' और ''सफेद खेस पहना था'' ऐसा उल्लेख हैं। खेस पहना एवं ओढ़ा है। प्रेमसखी प्रेमानन्द स्वामी ने भी 'स्वाभाविक चेष्टा' के पदों में

''पग साथलने है, लूईने सारंगपाणी।
कोरा खेसने रे, पहेरे सारी पेठे ताणी''

'खेस' शब्द द्वारा धोती की संज्ञा दी हैं। श्रीजीमहाराज कसके धोती पहनते थे। संक्षेप में खेस पहनने - ओढ़ने; दोनों प्रकार के उपयोग में लिया जाता था।

कुल वचनामृत २६२ में से १६२, वचनामृत में 'श्वेत वस्त्र धारण किया' का उल्लेख है। विदेशी वस्त्र-धारण किया का उल्लेख मात्र एक ही गढ़डा अन्त्य के ३१ के वचनामृत में है। और जिसमें श्रीजीमहाराज के शृंगार-वस्त्र में पाग-फेंटा के अलावा कोई भी उल्लेख न हो ऐसा अमदावाद का तीसरा और ग.म. का. १९ वां, यह दो ही वचनामृत हैं। उसी तरह कोई भी उल्लेख न हो ऐसा कारि. १० और ग.म.५१ यह दो ही वचनामृत हैं।

१६२ – वच. में श्वेत वस्त्र धारण किया है।
०७८ – वच. में खेस या धोती पहनने का उल्लेख है।
०१८ – वच. में सुरवाल धारण किया है।
००२ – वच. में मात्र मस्तक पर के शृंगार का उल्लेख है।
००२ वच. में शृंगार का कोई उल्लेख नहीं है।

श्रीजीमहाराज ने वचनामृत के उद्गान के २६२ दिनों में से लोया में ६ दिन और कारियाणी में एक दिन कुल सात दिन *'बोकानी'* बाँधी हैं।

इसीके साथ संप्रदाय के सुप्रसिद्ध चित्रकार श्री फतेहसिंह ए. वाला ने बहुत ही रसपूर्वक, लगन पूर्वक तैयार किए हुए चित्र और 'भगवद् गो मण्डल' (गुजराती शब्दकोश) के आधार पर संक्षिप्त जानकारी के साथ वस्त्र-शृंगार की थोड़ी जानकारी प्रस्तुत करते है।

(१) अंगरखा

– पुरुषों को पहनने का सिलाया हुआ, गले से लेकर घुंटने तक का कपड़ा।
– पुरानी पद्धति से बाँधने का कमर तक का कुर्ता।
– कोई लंबी, कोई टूंकी, किसीको छाती के मध्य में डोरी से कसके बाँधते है, किसीको दाहिने या बांयी ओर से बाँधा जाता है। अंगरखा अलग-अलग प्रकार का होता है।

अंगरखु

(२) मिरजई (डगली)

— दोहरी अंगरखी, अस्तरवाली बंडी, (अस्तर याने कपड़े के अंदर सिया हुआ पतला कपड़ा)

— कोलर बिना का और कमर तक का बाँह बिना का या बाँहवाला पोशाक ।

— बच्चे और औरतों को पहनने लायक अस्तरवाली अंगरखी ।

— एक प्रकारका बंददारा अंगा जो, कमर तक और प्राय: पूरी बाँह का होता है ।

मिरजई (डगली)

डगलो

— अस्तरवाला गरम अथवा सादा अंगरखा, गले से घूटनों तक बाँहवाला पुरुष को पहनने लायक सिलाया हुआ वस्त्र, कोट, बड़ा अंगरखा ।

(३) सुरवाल

— सुरवाल अर्थात् कमर से घुटनों तक ढ़ीला और घुटनों से नीचे तक कड़ा पायजामा, सुथनी, सुथना

— टखनी से घुटनों तक बैठता हुआ और उपर से खुल्ला ऐसा लेंघा, सुथना

— जांघ के आगे खुलता हुआ लेंघा

सुरवाल

(४) धोती

— पुरुष को कमर से नीचे के भाग को ढंकने के लिए पहनने का सिलाई बिना का लंबा श्वेत वस्त्र ।

(५) खेस

— उत्तरीय; पुरुष को कंधे पर रखने का उपवस्त्र - दुपट्टा । खेस को धोती की तरह पहना जाता है और उत्तरीय वस्त्र एवं शाल की तरह ओढ़ा जाता है ।

खेस

(६) पिछौरी (पछेड़ी)

– ओढ़ने का मोटा कीमती वस्त्र, एक प्रकार की मोटी चद्दर, जो चारों ओर से समान रहती है, ओढ़ने का मोटा कपड़ा, जिसे पिछौरा, पछेवड़ा पच्छेवड़ा कहते है, सौराष्ट्र के गांवों में 'पछेड़ी' कहते है ।

(७) चद्दर

– सफ़ेद कपड़े का पांच-सात हाथ लंबा वस्त्र

– गद्दे पर बिछाने का वस्त्र

– ओढ़ने का मोटा कपड़ा

(८) चौफाल (चोफाळ)

– दोहरी मोटी ओढ़ने की चद्दर, जिसकी लंबाई २४ हाथ होती है । गुजरात के काठियावाड़ में वह बगसरा, बीलखा, सोरठ और वंथली में अच्छी बनती हैं । चारों ओर फैला हुआ रहता है, इसलिए चौफाल कहते हैं ।

(९) शेलु

– कशीदा युक्त पल्लेवाला पतली सुंदर बुनाई का खेस ।
उत्तम प्रकार की नक्सीदार किनारीवाला उत्तरीय वस्त्र, खेस या बहुमूल्यवाला लंबा वस्त्र

– शेलु माथे पर बँधा जानेवाला और ओढ़ने मे भी उपयोग आये ऐसा कीमती वस्त्र

– स्त्रियों को पहनने की नक्सीदार पल्लेवाली एक प्रकार की कीमती साड़ी ।

(१०) शाल

– उच्च प्रकार का भरा हुआ किनारीवाला, ऊन, सूतर, रेशम वगैरह चौकोन तथा लंबचौकोन ओढ़ने का कपड़ा

– ओढ़ने का गरम कंबल

– शाल ज्यादातर ठंड से बचने ओढ़ते है, परंतु कई समय शोभा के वस्त्र के रूप में भी उसका उपयोग होता है । कश्मिरी शाल विश्व विख्यात है ।

(११) पाग (पगड़ी)

— मस्तक पर शोभा हेतु बँधा गया खास प्रकार का वस्त्र । बड़ी पगड़ी

— शृंगार के समय भगवान के मस्तक पर धारण करने की पगड़ी ।

— मस्तक पर कपड़े को लपेटकर बनाया हुआ घाट।

— प्रदेशानुसार अलग-अलग प्रकार से पाग बाँधते हैं। जैसा कि गुजराती, दक्षिणी, कच्छी इत्यादि ।

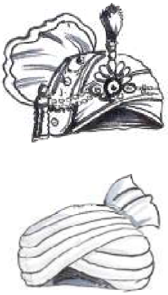

पाग (पगड़ी)

(१२) फेंटो (फेंटा)

— सिर पर बाँधने के कपड़े का अमुक आंटीदार घाट ।

— सिर पर बाँधने का कम पने का लंबा पतला कपड़ा।

— फेंटा सिर पर बाँधते वैसे ही कमर पर भी बँधा जाता है ।

फेंटो (फेंटा)

(१३) रेंटा

— कमर पर बाँधने का जरीदार किनारीवाला कीमती कपड़ा

— सिर पर बाँधने का नक्सीदार किनार का उपवस्त्र

(१४) मोलियुं

— सुनहरी छोरवाला नक्सीदार सुन्दर वस्त्र, जो वजन में भारी न हो और मस्तक पर पाग बाँधने उपयोग में लिया जाता है ।

मोलियुं

(१५) बोकानी

— दोनों कान और दाढ़ी ढंकी जाय ऐसे कपड़े को सिर पर बाँधना वह ।

— बोकानी कोई वस्त्र विशेष नहीं है, यह बाँधने की शैली, पद्धति या ढंग है ।

बोकानी

परिशिष्ट-२

वस्त्र-शृंगार के साथ साथ तत्कालीन समय में प्रसिद्ध वस्त्र और विविध कढ़ाईकाम का हलका परिचय निम्न विवरण पढ़ने से मिलेगा ।

(१) आसमानी

— आकाश जैसे रंग का, नीला (Sky, Blue) वर्ण ।

(२) किमख़ाब

— कांच के टुकड़े रखकर किया हुआ कढ़ाईकाम ।

— रेशमी कपड़े पर कशीदा और तारे-टिकलीयां वगैरह का किया हुआ कढ़ाईकाम ।

— जरीबुट्टी की बुनाई का रेशमी वस्त्र ।

— सोने-चाँदी या सुनहरे-रूपहले जरी का काम किया हुआ रेशमी या साटन का कपड़ा । किमख्वाब भी कहते है ।

(३) कुसुम्बी-कुसुम्भी

— कुसुम्बी के फुल जैसा रंग, लाल रंग (कसुंबा - मद्रास, युरोप, जपान, हिन्दुस्तान में बननेवाला एक प्रकार का यह कपड़ा गुदड़ी के पड़ और पगड़ी में इस्तेमाल होता हैं ।)

(४) झरियानी - जरीयानी

— जरीवाला (जरी-सोना-रूपा के तार के साथ बुना हुआ तंतु)

— जरी भरा हुआ ।

(५) जरकसी

— सोने-रूपे के तार की कढ़ाई (कढ़ाई या बुनाई हो वैसा)

— कशीदा की कढ़ाईवाला ।

— सूती या रेशमी कपड़े कशीदा के बुट्टे अथवा बेल हो ऐसे)

(६) बूटादार

— बूटा - बूटावाला, जिसमें सुशोभित बिंदीयां हो वैसा बूटीदार । नक्सी या कढ़ाईवाला, नमुनेदार (बूटा-कागज-कपड़े पर भरा हुआ फूल-पत्ते)

(७) डोरियानी

— बुनाई में थोड़े-थोड़े अंतर में मोटे डोरे के नमूने हो ऐसा कपड़ा, एक प्रकार की पतली समानंतर या खड़ी रेखावाला कपड़ा ।

(८) हीरकोरी

— रेशमी किनारवाला । हीर एक उत्तम प्रकार का रेशमी कहलाता है । कोई लोग हीर का अर्थ मोती भी बताते है ।

(९) ताश (तासतो)

— एक प्रकार का रेशमी कपड़ा,

— पुराने समय में हिन्दुस्तान में बुननेवाला एक प्रकार का सूती या रेशमी कपड़ा

(१०) गरम पोस

— ठंडी में सेक करने के लिए उपयोग में आनेवाली खसखस के जिंडवा की पोटली ।

— गर्म पोस अर्थात् दो कपड़ो के बीच ऊनी वस्त्र सिला हो ।

(११) गूढ़ो रंग - गहरा रंग

— गहरा रंग, गाढ़ा रंग

(१२) शण

— भींड़ी के प्रकार का रसादार छाल का एक पौधा ।

(१३) छींट

— एक प्रकार का रंगीन तरह-तरह के छींटे डालकर बनाया कपड़ा ।

(१५) मखमल

— एक प्रकार का रेशमी कपड़ा ।

परिशिष्ट-३

प्रथम परिच्छेद में श्रीजीमहाराज के शृंगार के साथ-साथ स्थान-संकेत किये हैं, उसकी थोड़ी व्याख्या नीचे दी है ।

(१) ढोलियो-पलंग

ढोलियो-पलंग

- बड़ा रंगीन पाटी भरा हुआ पलंग ।
- खाट, पलंग, सोने के लिए पाट

(२) गद्दी-तकिया

गद्दी-तकिया

- बैठने के लिए रूई भरी हुई नरम गद्दी और टेका लेने के लिए तकियावाला आसन ।
- गादी : ऊँची बेठक, तख्त ।
- तकिया : टेका लेकर बैठा जाय ऐसा पीठ, पीछे रखने या सिर के नीचे रखने का रूई अथवा रेशम से भरा हुआ गोल या लंबगोल बड़ा टेकन ।

(३) पाट

पाट

- खटिया जैसा लेकिन लकड़े की पटरियां जोड़कर बनाया हुआ बैठने का बड़ा चौकोनाकार बैठक।
- पटरियों से बना सुशोभित आसन, लोग बैठ सके ऐसी लकड़ी के पटरियों की ऊँची बैठक ।

(४) चौकी (तख्त)

चौकी (तख्त)

— चार पाये का लकड़े का आसन अच्छी बनावट की बैठक, पूजाचौकी ।

(५) चाकळो

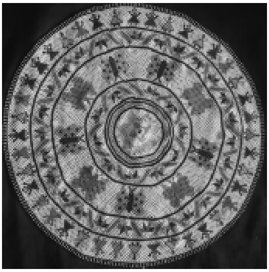

चाकळो

— बैठने के लिए गोलाकार का हीर भरा हुआ थोड़ा मोटा आसन ।

— काशीदायुक्त बहुत अच्छी तरह से बनाया हुआ गोलाकार एवं चौकोना आसन ।

(६) सिंहासन

— सिंह की आकृतिवाला ऊँचा आसन ।

(७) वेदी-वेदिका

— पीठ, बैठक, वेदी यज्ञ या होम करने के लिए बनाया हुआ मिट्टी का ऊँचा आसन ।

— बनायी गयी मिट्टी की छोटी बैठक ।

(८) चबूतरा (ओटो)

— बैठक के लिए इस्तेमाल में आनेवाली घर के पास की ऊँची जगह । चौपल

(९) मंच

— ऊँचाई पर बैठने हेतु बनाई गई बैठक ।

— चार पैरोंवाला सुंदर बैठने का सुखासन, उच्च आसन ।

परिशिष्ट-४

वचनामृत में उल्लेखित संगीत के वाद्यों-वादित्रों का परिचय

– **पखावज :- वच. ग.प्र. २१-२६ वगैरह ।**

पखावज का मूल नाम पक्षवाद्य. अर्थात् जिसे दोनों पक्ष (तरफ) से बजा सकते हैं, ऐसा वाद्य। पखावज की रचना लंबवर्तुलाकार; लकड़े से होती हैं। उसकी लंबाई ६० सेन्टिमीटर के आसपास होती है। मध्यभाग की व्यास रेखा ९० सेन्टिमीटर की होती है। पखावज दाई ओर छोटा और बायीं और बड़ा होता है। संगीतज्ञों के मत से दाई और के गोलाकार की व्यास रेखा १६. सेन्टिमीटर और बायीं ओर के गोलाकार की व्यास रेखा २.५ सेन्टिमीटर होती हैं और उसे (दोनों ओर) पक्ष के उपर भेड़ के चमड़े को मढ़ाकर बनाया जाता हैं। संस्कृत के विद्वानों के मत अनुसार पखावज को संस्कृत भाषा में मृदंग कहा जाता हैं। मृदंग का वर्णन ऋग्वेद की ऋचाओं में भी हैं। पखावज अवनद्य वाद्यों में से एक अतिप्रसिद्ध वाद्य माना जाता है। मृदंग और पखावज कई प्रकार के होते हैं। सामान्य तौर पर पखावज ओरिस्सा नृत्य में और कई बार कथक में उपयोग में आता हैं। मृदंग, पखावज की एकता में संगीतज्ञों में मतैक्य नहीं है। कई तज्ज्ञ मृदंग को पखावज से थोड़े छोटे स्वरूप का मानते हैं।

– **सारंगी :- ग.प्र.२२**

प्रो. मोलाबक्ष द्वारा संगीत में नोटेशन पद्धति दाखि़ल हुई उसके बाद से जैसे हारमोनियम के साथ गाना होता है, वैसे एक जमाने में सारंगी के

साथ गाना होता था । संगीत के तमाम वाद्यों में मानवस्वर के सबसे नजदीक का स्वर सारंगी का होता है; उसमें कोई दो मत नहीं है ।

सारंगी की अंदाजन से लंबाई ६१ सेन्टिमीटर होती है । उसका निर्माण लकड़े के एक टुकड़े के अंदर खोखलापन करके करने में आता हैं । उसके नीचे के भाग में चमड़ा जड़ा हुआ होता हैं और ऊपर की ओर लकड़ा होता हैं । नीचे के चौड़े भाग के बीच में एक घोड़ी रखने में आती है । सारंगी में ४० जितने तार होते है जिसमें से तीन या चार तार ही मुख्य होते हैं । बाकी के ३६ जितने मुख्य तार के नीचे होते हैं जिसे तरफ के तार कहते है, जिसे गाने के समय दाई और रही हुई चाबियों द्वारा राग के गाने के समय मिलाया जाता है, तार अधिकतर पीतल के होते हैं ।

सारंगी बजाते समय उसका चौड़ा भाग वादक की गोद में और उपरी भाग वादक के बाई और के कंधे पर टेका देकर रखते हैं । और दायें हाथ में घोड़े के बाल की पतली पट्टी को लेकर नीचे के तार पर घुमाया जाता हैं । और मुख्य तारों पर बायें हाथ के नख से स्वर स्पंदन करते हैं । संप्रदाय में प्रेमानन्द स्वामी प्रसिद्ध सारंगीवादक थे । तमाम वाद्यों में सारंगीवादन बहुत ही कठिन होने के कारण दिन प्रतिदिन उसकी लोकप्रियता घटती जाती हैं ।

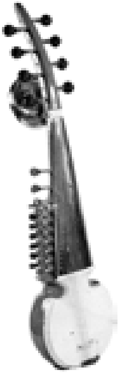

सरोद :- ग.प्र.२२, लोया.२, ग.म.४, ३४, ४३, ५६, ५७

भारतीय संगीत वाद्यों में एक समय अतिलोकप्रिय बना हुआ यह सरोद पश्चिम एशिया ''रबाब'' वाद्य का वंशज और सारंगी का छोटा स्वरूप माना जाता हैं ।

सरोद लकड़े के एक ही टूकड़े में से बनाने में आता हैं। उसका नाद घना और गुंजनमय होता हैं। सरोद की लंबाई १.०५ से १.५० मीटर होती हैं। उसका एक गोलाकार छोर का व्यास ३० सेन्टिमीटर होता हैं। सरोद में धातु के कुल १८ जितने तार होते हैं जिसमें से ६ मुख्य और १२ जितने (गौण) तरफ के तार कहलाते हैं। मुख्य तारों को दूसरे छोर पर लगायी हुई चाबी से बाँधा हुआ रहता है। यह भाग सिकुडा होता है। और उसपर धातु का एक तूँबड़ा होता हैं ।

सरोद वादन समय दायें हाथ में नारियल के छिलके से बनाई हुई नखली (मिजराब) पहनने में आती हैं। बायें हाथ से तार और दायें हाथ में रहे मिजराब से बजाया जा सकता है। सरोद के मध्य भाग को लकड़े की चमकती धातु से सजाया (जड़ा) जाता हैं। सरोद में सितार की तरह पर्दे नहीं होते है। अन्यथा सितार से बहुत ही नजदीक का उसका आकार होता हैं ।

तबला :- लोया-२, ग.म.४, ३४, ५६-५७, ग.अं. १३-२२

आज पखावज का असल स्थान तबला ने ले लिया हैं। भारतीय संगीत पद्धति में तबला सर्वमान्य वाद्य हैं ।

तबला दो होते हैं । उसमें से दायें को तबला और बायें को बांया कहते है । तबला लकड़े में से और बांया तांबे में से और खास प्रकार की मिट्टी से बनाने में आता हैं । आज तबला सर्वविदित वाद्य हैं । दोनों पर चमड़ा मढ़ा हुआ होता है । जिसे पुड़ी कहते हैं । दायें तबला की पुड़ी को चमड़े की पट्टियों से बाँधते हैं और उसके बीच लकड़े के टुकड़े होते हैं । उससे सुर की मिलावट होती हैं । दाई पुड़ी के मध्यभाग में शाही होती है । और बांयी पुड़ी के मध्यभाग में और किनार के बीच भी शाही होती हैं ।

– **सितार** :- लोया.२, ग.म.४

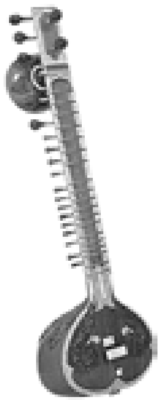

उत्तर हिन्दुस्तानी संगीत दरबार में सबसे अधिक लोक चाहना हांसिल करनेवाला वाद्य सितार हैं । सितार का जन्म वीणा से हुआ हो ऐसा जानने में मिलता हैं । अमीर खुशरो ने प्राचीन वीणा के आधार पर एक वाद्य बनाकर उस पर तीन तार चढ़ाये और 'सहेतार' नाम दिया । यहीं आज सितार के नाम से पहचाना जाता हैं ।

सितार में निम्न भाग में २५ से ४५ सेन्टिमीटर चौड़ा तूँबड़ा होता है, उसके उपर एक घोड़ी-ब्रीज लगाई हुई होती हैं । उसपर सामान्यत: १७ तार होते हैं । दंड़े के उपर के भाग में चाबियां होती हैं जिससे तार के सुर मिला सकते हैं । तार में मणकेभी होते है । तार के नीचे भी तार और उसके नीचे धातु की पट्टियां होती हैं । जिसे मिलाने से ईच्छानुसार स्वर उत्पन्न कर सकते हैं ? कई बार स्वरमाधुर्य के लिए सितार के दूसरे छोर पर तुंबड़ा रखा जाता हैं । सितार बजाने के लिए धातु की नाखुना (मिजराब) का उपयोग होता हैं। जिसे संगीत की भाषामें मिजराब के नाम से पहचाना जाता हैं ।

ताल, झांझ - मंजीरा :-

मंजीरा को कई नामों से पहचाना जाता हैं, जैसा कि झांझ, ताल अथवा मंजीरा, दूसरे कई ऐसे नामों से मंजीरा को पहचाना जाता हैं।

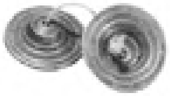

सामान्यतः मंजीरा यह दो झांझ की जोड़ी होती हैं। मंजीरा यह नृत्य तथा संगीत के

अभिन्न साधन के रूप में माना जाता हैं, यह उपकरण साधन बहुत पुराना हैं। जिसकी छाप कई पौराणिक मन्दिरों तथा स्मारकों की शिल्पकला में देखने को मिलती हैं। उसके स्वरूप में रहे हुए आंशीक भेद चित्रों से ज्यादा स्पष्ट समझे जाते हैं।

मृदंग :

मृदंग सामान्यतः दक्षिण भारत का वाद्य माना जाता है। मृदंग पखावज के साथ बहुत ही मिलता आता है परंतु दोनों की रचना में खूब फर्क हैं। दोनों वाद्यों के ताल में भी बहुत फर्क हैं। मृदंग में बायीं तरफ के भाग को आटा तथा पानी के मिश्रण द्वारा ताल का मिलान करने में आता हैं। हर एक कार्यक्रम के बाद इस मिश्रण को दूर किया जाता हैं।

मृदंग बजाते समय वादक पैर उपर पैर रखकर मृदंग को दायें पैर पर उसे जमाता हैं। मृदंग बहुत वजनदार होने से पैर उपर कपड़े का रेल करके रखते है। मृदंग में दायें हाथ द्वारा छोटी पड़ी के भाग को बजाया जाता है और आटे के मिश्रणवाले भाग को बायें हाथ द्वारा बजाने में आता हैं।

परिशिष्ट-५

वचनामृत में श्रीजीमहाराज द्वारा प्रबोधित ग्रन्थों के सन्दर्भों का संग्रह यहां रखा गया है ।

प्रमाणवचन	सन्दर्भ ग्रन्थ/क्रमांक	वचनामृत
अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः । मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः ॥	भाग. २/१०/१	वर.१
अथो विभूतिं मम मायाविनस्ता मैश्वर्यमष्टाङ्गमनुप्रवृत्तम् । श्रियं भागवतीं वा स्पृहयन्ति भद्रां परस्य मे तेऽश्नुवते तु लोके ॥	भाग. ३/२५/३७	ग.प्र.४३
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।	गीता. ६/४५	ग.प्र.१५, सा.११ ग.म.१,८,१६
अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा ॥	तै.आ. ३/११, चि.उ. ११/१	लो.७
अन्ते या मतिः सा गतिः	हिरण्यकेशीयशाखाश्रुतिः	ग.प्र.१४
अन्यक्षेत्रे कृतं पापं तीर्थक्षेत्रे विनश्यति । तीर्थक्षेत्रे कृतं पाप वज्रलेपो भविष्यति ॥	वराहपुराणः १६३।४९, १७४।५३	ग.प्र.१, ग.म.३
अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता- स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव ! नेतरथा !	भाग. १०/८७/३०	लो.१३
अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् । परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥	गीता. ९/११	लो.१८, पं.७
अहं ब्रह्मास्मि ।	बृ.उ. १/४/१०	लो.७
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः । प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥	गीता. १५/१४	पं. ४
अहो अमी देववरामरार्चितं पादाम्बुजं ते सुमनःफलार्हणम् । नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मन- स्तमोपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम् ॥	भाग. १०/१५/५	वर.१२

अहो ! भाग्यमहो ! भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् । यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥	भाग. १०/१४/३२	ग.अं.२८
आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे । कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥	भाग. १/७/१०	पं.२, ग.अं.३
आमयो येन भूतानां जायते यश्च सुव्रत ! । तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम् ॥ एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः । त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे ॥	भाग. १/५/३३-३४	ग.म.११
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ! । तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ॥	गीता. ७/१६-१७	लो.७, पं.३
आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् । या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥	भाग. १०/४७/६१	ग.अं.२८
इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो यतो जगत्स्थाननिरोधसंभवाः ।	भाग. १/५/२०	पं.२
ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ।	हिरण्यकेशीयशाखाश्रुतिः	लो.७
अेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ।	छांदोग्यो. : ६/२/१	लो.१३
एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः । न युज्यते सदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया ॥	भाग. १/११/३८	लो.१३
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः । अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥	गीता. ४/१७	लो.७
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः । स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥	गीता. ४/१८	ग.म.११
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः । त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ! ॥	गीता. ४/९	ग.म.१०, वर.१८
जन्माद्यस्य यतः... यत्र त्रिसर्गो मृषा । धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥	भाग. १/१/१	पं.७, वर.७
जितं जगत् केन मनो हि येन ।	मणिरत्नमालाः ११	सा.१
तत्सृष्टसृष्टसृष्टेषु कोऽन्वखण्डितधीः पुमान् । ऋषिं नारायणमृते योषिन्मय्येह मायया ॥	भाग. ३/३१/३७	लो.१३, ग.अं.३३

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥	श्वे.उ. ३/८	लो.७
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो ! भव विश्वमूर्ते !	गीता. ११/४६	लो.१८
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते । प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥	गीता. ७/१७-१८	पं.३, ग.म.१
त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज । उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज ॥	महा., शां. ३१६/४०, ३१८/४४	लो.१५
दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ! । इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥	गीता. ११/५१	पं.४
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥	गीता. ७/१४	लो.१३, वर.५
द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया त्वमपि	भाग. १०/८७/४१	लो.१०, अं.२८,३९
ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते । सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः । स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥	गीता. २/६२-६३	ग.म.१
न कुर्यात्कर्हिचित्सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते । यद्विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम् ॥ नित्यं ददाति कामस्य छिद्रं तमनु येऽरयः । योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली ॥	भाग. ५/६/३-४	लो.१४
न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः । यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम ॥	गीता : १५/६	ग.म.१३
नारायणपरा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः । नारायणपरा लोका नारायणपरा मखाः ॥ नारायणपरो योगो नारायणपरं तपः । नारायणपरं ज्ञानं नारायणपरा गतिः ॥	भाग. २/५/१५-१६	वर.२
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।	मुण्ड. उप. : ३/१/३	सा. ११, का.१
नेह नानास्ति किञ्चन ।	बृ.उ. ४/४/१९	पं.२
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः ।	भाग. २/१/७	पं.३
नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।	भाग. १/५/१२	लो.७

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया । गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ॥	भाग. २/१/९	पं.२,३, ग.म.३९ ग.अं.३
पश्य मे पार्थ ! रूपाणि शतशोऽथ सहस्त्रशः । नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान् ।	 गीता. ११/५ भाग. ३/५/२६	 लो.७, पं.६ पं.७
प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः । स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ॥	 भाग. ३/२५/२०	 ग.प्र.५४
प्रायेण मुनयो राजन् ।	भाग. २/१/७	ग.अं.३
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।	गीता. ४/१०	का.१
बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानामसृजत्प्रभुः । मात्रार्थं च भवार्थं च ह्यात्मनेऽकल्पनाय च ॥	 भाग. १०/८७/२	 का.१
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥	 गीता : १८/५४	 लो.७, पं.२, ग.अं.३
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते !	चर्पटपंजरी	ग.प्र.४२
भूभारः क्षपितो येन तां तनूं विजहावजः । कण्टकं कण्टकेनैव द्वयं चापीशितुः समम् ॥	 भाग. १/१५/३५-३४	 लो.१८
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च । अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्यते जगत् ॥	 गीता. ७/४-५	 लो.७
मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय !। मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥	 गीता. ७/७	 लो.७
मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादि चतुष्टयम् । नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविप्लुतम् ॥	 भाग. ९/४/६७	 ग.प्र.४३
मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात् । वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात् ॥	 भाग. ३/२५/४२	 लो.१६, ग.अं.५
मम साधर्म्यमागताः ।	गीता. १४/२	लो.१३
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः । मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥	 गीता. १५/७	 ग.म.८
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन ।	महा., शां. १२/१७/१८, १७१/५६,२६८/४	ग.प्र.३८

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥	तै.उ.आनं.:२।४(१)।१	का.१, पं.२
यत्र योगश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः । तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥	गीता. १८/७८	ग.प्र.७०
यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित् । श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कथं पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥ अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्, यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् । तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥	भाग. ३/३३/६-७	ग.अं.५
यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः । तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥	भाग. ३/७/१७	लो.१०
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥	गीता. १५/१८	लो.७, पं.६
यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।	बृ.उ. ५/७/७	लो.७
यस्याक्षरं शरीरं... एष सर्वभूतानन्तरात्मा- ऽपहतपप्मा दिव्यो देव एको नारायणः ।	सुबालोपनिषद् : ७	लो.७
यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।	बृहदारण्यकोपनिषद्, माध्यन्दिनपाठ : ५/७/२६	लो.७
यस्यात्मबद्धिःकुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः । यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज् जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥	भाग. १०/८४/१३	ग.म.५४
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी । यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥	गीता. २/६९	ग.प्र.५०,ग.म.२०
येऽन्ये स्वतः परिहृतादपि बिभ्यति स्म ।	भाग. ११/६/१७	ग.अं.३३
वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः । वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः ॥ वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः । वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः ॥	भाग. १/२/२८-२९	वर.२

विद्याविद्ये मम तनू विद्धयुद्धव ! शरीरिणाम् । मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते ॥	भाग. ११/११/३	लो.१०
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्	गीता. १०/४२	लो.७
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः । रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥	गीता : २/५९	लो.१०
श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः । ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥	गीता. ४/३९	ग.म.१६
श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥	भाग. ७/५/२३	ग.प्र.४०
स ईक्षत ।	ऐतरेयोपनिषद् : ३/१	पं.७
सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम् । शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम् ॥ ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः । स्वातत्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च ॥ प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः । गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहंकृतिः ॥	भाग. १/१६/२६-२८	ग.प्र.६२
सत्त्वं यद् ब्रह्मदर्शनम् ।	भाग. १/२/२४	लो.१०
समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।	गीता. १४/२४	ग.म.१
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥	गीता. १८/६६	ग.म.९,१७ वर.५
सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।	छां.उ. ३/१४/१	पं.२
स वेद धातुः पदवीं परस्य दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः । योऽमायया संततयानुवृत्त्या भजेत तत्पादसरोजगन्धम् ॥	भाग. १/३/३८	पं.७
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥	भाग. ३/२९/१३	ग.प्र.४३
स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया तरतमतश्चकास्स्यनलवत्स्वकृतानुकृतिः ।	भाग. १०/८७/१९	ग.प्र.४१
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।	गीता. २/४०	ग.म.९
हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः । अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः ॥	भाग. १/७/११	ग.अं.३

परिशिष्ट-६

वचनामृत में उल्लेखित कीर्तन-पदों का संग्रह ।

'संत महिमा' का कीर्तन (वचनामृत-ग.प्र.१४)

पद-१ (राग : धोळ)

सुखदायक रे (२) साचा संत नो संग, संत समागम कीजिए...टेक.
जीरे संत समागम थी टळे, आशा तृष्णा रे (२) ईर्ष्या अभिमान,
मोह, मत्सर ममता बळे, प्रकटे उरमां रे (२) प्रभु नुं द्रढ़ ज्ञान...संत. समागम (१)
जी रे संत समागम थी थया, मुनि नारद रे (२) हरि नुं मन आप,
अनेक पतित उद्धरियां, तेना जश नो रे (२) मोटो परताप...संत. समागम (२)
जी रे सिद्ध थया सत्संग थी, शुक आदिक रे (२) मुनिवर सुखरूप,
चित्त चोंट्युं हरिचरणमां, जाण्यो संत थी रे (२) मोटो मर्म अनूप...संत. समागम (३)
जी रे महिमा मोटो छे महंत नो, जेने सेवे रे (२) छूटे माया नुं जाळ,
प्रीत वधे परब्रह्म मां, मुक्तानंद कहे रे (२) तजी आळपंपाळ...संत. समागम (४)

पद-२

बड़भागी रे पामे संतनो संग, संत थी महासुख पामीये,
जी रे संत बड़ा परमारथी, टाळे उरथी रे (२), अविद्या अभिमान,
जन्म सुफल करे जंतनो, आपे अनुभवी रे (२), प्रभु प्रकट नुं ज्ञान. संत से. (१)
जी रे प्रभुसंगे प्रीत वधारवा फरे जगतमां रे (२) साचा संत सुजाण,
परमात्मा पिछाणवा परमारथी रे (२), आपे पद निर्वाण. संत से. (२)
जी रे संत ना जश श्रीमुखें कह्या, गीता मध्ये रे (२), गोविंद सुखधाम,
अनुभवी मारो आत्मा; जेना मन थी रे (२), टळ्या क्रोध ने काम. संत से. (३)
जी रे संतवचन भावे सुणे, तेना पातक रे (२), पामे सर्वे नाश,
प्रीत बधे परब्रह्ममां; मुक्तानंद कहे रे (२), पामे पद अविनाश. संत से. (४)

पद-३

साचा साधु रे (२), सुंदर गुणधाम, समझी ने सत्संग कीजिए,
जी रे संत सुलक्षणा ना, अवगुण नो रे (२), उर मां नहि लेश,
महानुभवी मुनि ते खरा, आपे सहुने रे (२), साचो उपदेश. समझी ने. (१)
जी रे संत सदा शीतल रहे क्यारे न तपे रे (२), काम क्रोध नी जाळ,
लोभ तजी ने हरि भजे, धारे उर मां रे (२), दृढ़ करी श्रीगोपाल. समझी ने. (२)
जी रे त्रिभुवन नी संपत मळे, तोय न तजे रे (२) अर्ध पळ हरिध्यान,
ब्रह्मरूप ने हरि थइ भजे, ऐवा संत ने रे (२), कीच कनक समान. समझी ने. (३)
जी रे एम शुभ लक्षण ओलखी, सदा करवी रे (२) हरिजन ने सेवा,
हरिसम हरिजन जाणवा, मुक्तानंद कहे रे (२) ते तरे ततखेव. समझी ने. (४)

पद-४

सदा करवो रे (२), हरिजन नो संग, दुर्लभ दर्शन संत ना
जी रे संतसभा मध्ये श्रीहरि सदा रहे छे रे (२) वा'लो वैकुंठनाथ,
अडसठ तीरथ एना चरण मां, एवा संत थी रे (२) वेगे थईए सनाथ. दुर्लभ. (१)
जी रे संत मिळ्या तेने हरि मिळ्या, एनो महिमा रे (२), वदे वेदपुराण,
सांख्य प्रकट संसार मां, शुकनारद रे (२), पाम्या पद निर्वाण. दुर्लभ. (२)
जी रे संतवचन साचा गणी, गयो वनमां रे (२), ध्रुव नानकडो बाळ,
प्रकट प्रभुने ते पामियो, थयो अविचळ रे (२), जश वाध्यो विशाळ. दुर्लभ. (३)
जी रे ऐवुं जाणी अहंता तजी, शुद्धभावे रे (२), करवी संत नी सेव,
मनुष्यभाव मनथी तजो, मुक्तानंद कहे रे (२), साचा संत छे देव. दुर्लभ. (४)

गढड़ा मध्य प्रकरण २१, ६७ तथा ग.अं. २२ के सन्दर्भ में विष्णुपद ।

शामळीये वा'ले सायर वलोयो रे वा'ला, मेरुनो कीधो खायो रे वाला;
वासंगी नागना वाले नेतरां रे कीधां, जो ज्यो मारा नाथनी नवायुं रे...शामलीये.
गीरिवरधारी धरीने बेठा रे वाला, भूधर भले भले आव्या रे वाला,
वलोणाना संच सर्वे लाव्या रे वाला, आपे असुरने तेडी लाव्या रे वाला...शामलीये.

सायर वलोव्यों ने रतन नीपजाव्या रे वाला, नीकळ्या रे वा'ला लक्ष्मीनारी रे वाला,
सुरने पातां असुरने पायुं रे वा'ला, चरणामृत मोरारी रे वा'ला...शामलीये.
उत्तरनां जळ मेरु डूबवा लाग्या रे वा'ला, कानुडो कामण जाणे रे वा'ला,
काचबानुं रूप धर्यु मारे वा'ले रे वाला, वलोणुं सुतर आव्युं रे वा'ला...शामलीये.
हरिनुं वलोणु हरखेथी गावुं रे वा'ला, वीख तो भोला महादेवने पायु रे वा'ला,
भणे नरसैयो नथी हमणानुं रे वा'ला, वेद पुराणे वखाण्यु रे वा'ला...शामलीये.

वचनामृत-पंचाला : ३

सखी आज मोहन दीठा रे, शेरीअे आवता रे,
मोरलीनां गीत मधुरां रे, चाल्या आवे गावता रे (१)
आवे व्हालो हसता रमता रे, गोवालोना साथमां रे,
उछाळता आवे मोहन रे, फूलदडी हाथमां रे (२)
रंगडामां रातो मातो रे, चाल्या आवे शोखमां रे,
रसियो जोवा ने काजे रे, उभी छुं गोखमां रे (३)
मोहननुं मुखडुं जोयुं रे, घुंघट नी ओटमां रे,
जोईने घायल थई छुं रे, नेणां केरी चोटमां रे (४)
हैया उपर हार जोईने रे, रह्यु मन मोहीने रे,
बहेनी प्रेमसखीना नाथने रे, रहुं छुं जोईने रे (५)

ग.म.प्र.४८

वंदु सहजानन्द रसरूप, अनुपम सारने रे लोल

– प्रेमानन्द स्वामी

सत्संगी भक्तों इस कीर्तन का प्रतिदिन गान करते है इसलिए इसका पूरा उल्लेख प्रस्तुत नहीं किया है ।

ग.म.प्र. ५७

तुलसीदास के तीन पदों का गान करवाया

पद-१

ज्याकि लगन रामसों नाहीं ।
तो नर खर कूकर सूकर सम, वृथा जियत जगमांही ॥१॥
काम क्रोध मद लोभ नींद भय, भूख प्यास सबही के ।
मनुज देह सुर साधु सराहत, सो सनेह साधे परके ॥२॥
सुर सुजन सूपुत सुलच्छान, गनियत गुन गुरुगाई ।
बिन हरि भजन इन्दारन के फल, तजत नहीं करुआई ॥३॥
कीरति कुल करतूति भूति, भली शील सरूप सलोने ।
तुलसी प्रभु अनुराग रहित जस, सालन साग अलोने ॥४॥

पद-२

अेही कह्यो ! सुंनु बेद चहुं ।
श्री रघुवीर चरन चिंतन, तजीना नाहिन ठौर कहुं ॥१॥
जा के चरन विरंचि सेई, सिधि पाई शंकर हुं ।
शुक सनकादि मुक्त विचरत, तेउ भजन करत अंज हुं ॥२॥
यद्यपि परम चपल श्री संतत, थिर न रहति कत हुं ।
हरिपद पंकज पाइ अचल भइ, करम वचन मन हुं ॥३॥
करुणासिंधु भगत चिंतामणि, सोभा सेवत हुं ।
और सकल सुर असुर इस, काल खाये उरग छहुं ॥४॥
सुरुचि कह्यो सोइ सत्य बात, अति परम वचन जब हूँ ।
तुलसीदास रघुनाथ विमुख नहिं, मिटाइ विपत्ति कबहुँ ॥५॥

पद-३

ज्या के प्रिय न राम वैदेही ।
सौ छांडिये कोटि बैरी सम, जघपि परम सनेही ।
तजियो तोहि कोटि वैरी सम, यद्यपि परम सनेही ॥१॥

तज्यो पिता प्रहलाद बिभीषण, बंदु भरत महतारी ।
बलि गुरु तज्यों कंथ व्रजवनिता, भये मुद मंगलकारी ॥२॥
नाते नेह राम के मनियत, सुहृद सुसेव्य जहां लौ ।
अंजन कहा आंखि जेहि फूटें, बहुतक कहौं कहां लौ ॥३॥
तुलसी सो सब भांति परम हित, पूज्य प्रान ते प्यारो ।
जासों होय सनेह रामपद, ऐ तो मतो हमारा ॥४॥

वरताल. प्र. ११

(राग-मलार)

मा'रा हरजी शुं हेत न दीसे रे,
तेने घेर शीद जइए, तेने संगे शीद रहिए. टेक.
हेत विना हुंकारो न देवो, जेनु हरखे शुं हैडुं न हीसे रे,
आगल जइने वात विस्तारे, जेनी आंख्युमां प्रेम न दीसे रे. तेने. (१)
भक्तिभाव नो भेद न जाणे, भुरायों थइ भाळे रे,
ललित लीला ने रंगे न राचे, पछी उलेची अंधारु टाळे रे. तेने. (२)
नाम तणो विश्वास न आवे, उंडुं ते उंडुं शोधे रे,
जाह्नवी तीरे तरंग तजी ने, पछी तटमां जइ ने कूप खोदे रे. तेने. (३)
पोताना सरखी करीने जाणे, पुरुषोत्तम नी काया रे,
नरसैयाना स्वामी नी लीला, ओल्यां मतियां कहे छे माया रे. तेने. (४)

— नरसिंह महेता

(ग.म. ४७)

(राग-मलार)

मारा व्हालाजी शुं व्हालप दीसे रे, तेनो संग शीद तजिए,
ते विना केने भजिये रे. टेक.
सन्मुख जातां शंका न कीजे, मर भाला तणो मेह वरसे रे,
हंस जय हरिजनने मलशे, काची ते काया पडशे रे. तेनो. (१)
शूली उपर शयन करावे, तोय साधु ने संगे रहीये रे,
दुरिजन लोक दुर्भाषण बोले, तेनुं सुखदुःख सर्वे सहीये रे. तेनो. (२)

अमृतपे अति मीठां मुखथी, हरिना चरित्र सुणावे रे,
ब्रह्मा भव सनकादिक जेवा, जेना दर्शन करवाने आवे रे. तेनो. (३)
नरक कूंडथी नरसुं लागे, दुरीजन नुं मुख मनमां रे,
मुक्तानंद मगन थइ मागे, व्हाला वास देजो हरिजनमां रे. तेनो. (४)

वर. प्र. १२

(राग-सोरठा)

धन्य वृंदावनवासी वटनी छाया रे ज्यां हरि बेसता,
श्रीजमुनाजी पूण्य तणो गत नहि पार रे, ना'वा हरि पेसता. टेक.
धन्य धन्य ते व्रजना साथ ने, धन्य धन्य ये नंदजी तात ने,
धन्य धन्य ते जशोदा मात ने, धन्य धन्य ते व्रजना साथ ने. धन्य. (१)
धन्य धन्य ते व्रजनी वृक्षवेली, धन्य धन्य ए सरखी साहेली,
धन्य हरि वलगी जेनी बेली, धन्य धन्य ते व्रजनी वृक्षवेली. धन्य. (२)
धन्य धन्य गोकुलनी धेनु ने, धन्य धन्य व्हालानी वेणु ने,
धन्य धन्य कामणगारी नेणु ने, धन्य धन्य गोकुलनी धेनु ने. धन्य. (३)
धन्य धन्य करुणा पुतना मासी, धन्य धन्य मृत्युनी टाळी फांसी,
व्हाले मुकत पमाडयां गोकुलवासी, धन्य धन्य करुणा पुतना मासी. धन्य. (४)
धन्य धन्य ए गोकुल गाम ने, तेने पाम्या हरिना धाम ने,
वारी जाँउ शामळा श्याम ने, धन्य धन्य ऐ गोकुल गाम ने. धन्य. (५)
धन्य नंदरायना कारज कर्या, राजा उग्रसेन ने शिरछत्र धर्या,
महेता नरसैया ने अखूट भर्या, धन्य कंसराय ना कारज कर्या. धन्य. (६)

ग.अं.प्र. ३१

हरि मेरे हालर की लकरी

हालर की लकरी, हरि मेरे हालर की लकरी, पकरी सो पकरी. हरि. १
मन कर्म वचने नंदनंदनशुं, द्रढ करी के पकरी. हरि. २
जागत सोवत हरि सपनन में, कान कान जकरी. हरि. ३
जोग ओधाजी ऐसी लगत है, ज्युं कडवी ककरी. हरि. ४

तुम तो ओधाजी बोध लय आये, शीखी सुनी नकरी. हरि. ५
सुरदास प्रभु शुं जय कहींओ, जा को मत जकरी. हरि. ६
— कवि सूरदास

ग.अं.प्र. ३१

नोंध :- वचनामृत में ''जमुना के तीर ठाडो'' एक ही पंक्ति का उल्लेख किया गया है। लेकिन इस पंक्ति से आरंभ होते दो कीर्तनों का संग्रह मिलता है, जो यहाँ प्रस्तुत किया है।

पद-१

जमुना के तीर ठाडो, जमुना के तीर,
बांके बलवीर ठाडो, जमुना के तीर. ठाडो. टेक.
हो नैना बैना बांके, बांधे बांकी पाघ शिर,
चंदन की खोर कीने, सांवरे शरीर. ठाडो. १
हो बाकी भौंहे सोहे, चित्त मोहे नासा कीर,
देखत चकित रतिपति हतधीर. ठाडो. २
हो बांके लाल बांके ग्वाल, लीयों संग भीर,
बांसुरी बजावे बाकी फीर फीर फीर. ठाडो. ३
हो भरवा गइथी हुं तो जमुना को नीर,
प्रेमानन्द को नाथ देखी गई पीर. ठाडो. ४

पद-२

राजीव नेन रसियो राजीव नेन,
उपज चेन देखी राजीव नेन. टेक.
हो विकसे वारीजसम अति छबी ऐन,
भ्रकुटि भ्रमर झुके मानु रस लेन. रसियो. १
हो चारु चितवनी मुसकनी सुखदेन,
कुटिल कटाक्ष में सुचवत सेन. रसियो. २

हो जमुना पुलिनपर चारत हे धेन,
मोहन बजावत मधुरीसी बेन. रसियो. ३
हो माइ ब्रजनारी संग डोले दिनरेन,
प्रेमानन्द छबी पर वारी कोटि मेन. रसियो. ४

पद-३

रूप रसखानी रसियो रूप रसखानी
सांवरो गुमानी रसियो रूप रसखानी. टेक.
हो तरुन किशोर छबी देखरी सयानी,
उठत कमलमुख रेखा नानी नानी. रसियो. १
हो मदन सदन द्रग जुग सखी जानी,
हर लेत मन मेरे मृद मुसकानी. रसियो. २
हो चालत मराल गति अति छबी आनी,
रतिपति मति देखी अति सकुचानी. रसियो. ३
हो ये छबी रहो रूप को निधानी,
प्रेमानन्द बिनति करत नीत ध्यानी. रसियो. ४

पद-४

रूप को रसाल प्यारो रूप को रसाल,
गिरिधर लाल प्यारो रूप को रसाल. टेक.
हो मृगमद तिलक करन शशि भाल,
नभ तजी चाहे चंदा मील्यो तत्काल. प्यारो. १
हो मृदु मुसकानी छबी अधर प्रवाल,
कंबु सम कण्ठइ भुजा सोहत विशाल. प्यारो. २
हो नवनिरद वपु उर बनमाल,
जानी निज सखाधन होत हे निहाल. प्यारो. ३
हो लालहुसे चाल पर मोहेहे मराल,
प्रेमानन्द धारी उर तज्यो हे जंजाल. प्यारो. ४

— कवि प्रेमानन्द स्वामी

पद-१

जमुना के तीर ठाडो नंदलाल बंसीवारो,
चितवत हे चित्त मोहे, बांके नेनको नजारो. टेक.
जल भरत गईथी जमुना, शिरते उघाडो उतारो,
घुंघट की ओट खोली देख्यो में कान कारो. जमुना. १
चंदन की खोर कीनी, सिर मोरमुगट धारो,
पट पीत हाथ मोरली, लीनो नंद को दुलारो. जमुना. २
आछी बजावे बांसुरी, गावे ज्युं तान प्यारो,
मधुरी सी मीठी बोलनी, मेरा मनकु विंधी डारो. जमुना. ३
चंचल विशाल नेना मनमथ को मानगारो,
प्रेमानन्द के चित्तहु ते होन न दउ न्यारो. जमुना. ४

पद-२

ठाडो कदम की छैयां व्रजराज को कनैया,
कहा कहु सलोने रूप की, कछु जात नाहि कैया. टेक.
पगियां अनुप भागपें, अनुदागसु बनैया,
केशर के तिलक शोभा, त्रुभवन की छीन लैया. ठाडो. १
कुंडल की झलक सोहे, शुक पोलनी में झैयां,
ऐ ज्युं मीन मानुं सरवर, तजी मीलन है अेयां. ठाडो. २
भ्रकुटी बंक चपल नेन, चितवनी चीतैयां,
मृग मीन नलिन खंजन, छबी देखके लजैयां. ठाडो. ३
झुकी रह्यो तकी नासा, शुक अधरबिंब पैयां,
छबी देखी प्रेमानन्द मगन, परत चरन मैया. ठाडो. ४

पद-३

इन सांवरे गुमानी मोये, कीनी हे दिवानी,
नेनन की सेनउमें मेरा, मनकुं लीनो तानी. टेक.
जमुना गइथी आली, भरवे कुं हुं जो पानी,
आये रे श्याम कूंज को, अकेली मोये जानी. इन. १
घनश्याम सुंदर छेलो, बोले जो मीठी बानी,
हसनी चितवनी मोरे, मन के बीच मानी. इन. २
अँखिया भइ उतावरी, छबी देखके लोभानी,
मोरी बांह दाहनी सो, मीलबे कुं फरकानी. इन. ३
वे तो चतुर आतुर, सुन हे सखी सयानी,
प्रेमानन्द को नाथ मीलके, कीनी हे उर निशानी. इन. ४

पद-४

देखोरी आली शोभा, बने कुंज के बिहारी,
मनोज तरुन कोटिक, छबी पें जात वारी. टेक.
चंचल विशाल नेनमें, सखी देखी खुमार,
छीन लीन शरद पंकज की, सुंदरता सारी. देखोरी. (१)
नवीन जल की द्युति, छीन लीन गिरधारी,
देखरी आकाश सोहत मानुं, जेसी झुंडी थारी. देखोरी. (२)
उर उतंग भुज अजान, नलीन नाभि प्यारी,
छीन लइ गति कल हंस की, गये मानसर विचारी. देखोरी. (३)
ब्रज की वधु विलोके, छबी बेठी के अटारी,
प्रेमानन्द को नाथ आवत, घनश्याम आनंदकारी. देखोरी. (४)

– कवि प्रेमानन्द स्वामी

परिशिष्ट-७

जिस वचनामृत में एक ही दिन में दूसरी बार, दूसरे स्थलों, दूसरे समय पर और दूसरे गाँव में सभा हुई हो; ऐसे वचनामृतों का संग्रह

वचनामृत	संवत्-प्र.अंक	सभा क्रमांक	समय	स्थल
(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
(अ) जिसमें समय अलग है । स्थल : दादाखाचर का राजभवन, श्रीगढड़ा				
३२-ग.प्र.प्र.	१८७६	पहली	सुबह	पश्चिमी द्वार का कक्ष
		दूसरी	दोपहर ढ़लते	नीम वृक्ष के नीचे ।
७८-ग.प्र.प्र.	१८७७	पहली	सुबह	पश्चिमी द्वार का कक्ष ।
			दूसरी	मध्याह्न समय में अपने पास याने अपने निवासपर
४५-ग.म.प्र.	१८८०	पहली	–	पूर्वी द्वार का कक्ष
		दूसरी	शाम को	राजभवन में ।
११-वरताल	१८८२	पहली	–	नीमवृक्ष के नीचे ।
		दूसरी	–	मन्दिर के आगे मंच पर ।
१-ग.अं.प्र.	१८८२	पहली	–	पश्चिमी द्वार का कक्ष ।
		दूसरी	शाम को	पूर्वी द्वार का कक्ष ।
४-ग.अं.प्र.	१८८२	पहली	–	अपने निवासपर ।
		दूसरी	शाम को	अपने निवासपर ।
२४-ग.अं.	१८८५	पहली	–	गोपीनाथजी के मन्दिर में ।
		दूसरी	मध्याह्न समय	उत्तरी द्वार का कक्ष ।
(आ) जिस में स्थल अलग है । श्रीगढड़ा				
१०-ग.म.प्र.	१८७८	पहली	–	लक्ष्मीवाड़ी
		दूसरी	–	पूर्वी द्वार का कक्ष ।
२१-ग.म.प्र.	१८७८	पहली	–	वासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे ।
		दूसरी		लक्ष्मीवाड़ी
३६-ग.अं.प्र.	१८८५	पहली	सुबह	लक्ष्मीवाड़ी
		दूसरी	मध्याह्न समय	पूर्वी द्वार के कक्ष
३९-ग.म.प्र.	१८८०	पहली	–	लक्ष्मीवाड़ी
		दूसरी	–	दादाखाचर का राजभवन ।
(इ) जिसमें गाँव अलग है ।				
(१) १० सा.प्र.	१८७७	पहली	–	खांभडा गाँव, नदी किनारे पेड़ तले ।
		दूसरी	–	सारंगपुर गाँव जीवाखाचर के राजभवन में ।

परिशिष्ट-८

काल (समय) दर्शन

–	१ क्रिती	= सेकंड का ३४,००० वां भाग ।
–	१ तृती	= सेकंड का ३०० वां भाग ।
–	२ तृती	= १ लव (सेकंड का १/१५० वां भाग)
–	२ लव	= १ क्षण (सेकंड का १/१७५ वां भाग)
–	३० क्षण	= १ निमिष (सेकंड का २/५ वाँ भाग)
–	६० निमिष	= १ पल (२४ सेकंड)
–	२.५ घडी	= १ होरा (१ घंटा)
–	२४ होरा	= १ दिन
–	७ दिन	= १ सप्ताह
–	३० दिन	= १ मास
–	१२ मास	= १ वर्ष
–	१०० वर्ष	= १ शताब्दी
–	१० शताब्दी	= १ सहस्त्रादि (१,००० वर्ष)
–	४३२ सहस्त्रादि	= १ युग (कलियुग : ४,३२,००० वर्ष)
–	२ युग	= १ द्वापरयुग (८,६४,००० वर्ष)
–	३ युग	= १ त्रेतायुग (१२,९६,००० वर्ष)
–	४ युग	= १ सत्युग (१७,२८,००० वर्ष)
–	१० युग	= १ महायुग (१ चोकडी : ४३,२०,००० वर्ष)
–	१००० महायुग	= १ कल्प (४,३२,००,००,००० वर्ष)
–	२ कल्प	= ब्रह्माजी की अहोरात्र (ब्रह्माजी का २४ कलाक) (८,६४,००,००,००० वर्ष)
–	१ परार्ध काल	= ब्रह्मा के (५०) वर्ष
–	२ परार्ध काल	= ब्रह्मा के १०० वर्ष (अपने - ३१,१०,४०,००,००,००,००० वर्ष)
–	ब्रह्मा का १ दिन	= १४ मनु और १४ इन्द्र राज करे ।
–	७१ महायुग (चोकडी)	= १ मनु राज करके नाश हो जाता है ।

परिशिष्ट-९

संवत् अनुसार वचनामृत का कोष्ठक

संवत्	प्रकरण	संख्या			प्रकरण	संख्या	कुलांक
१८७६	ग.प्र.	१	से		ग.प्र.	७७	७७
१८७७	ग.प्र.	७८	से		ग.म.	०१	५७
१८७८	ग.म.	०२	से		ग.म.	२३	२२
१८७९	ग.म.	२४	से		ग.म.	३०	०७
१८८०	ग.म.	३१	से		ग.म.	५५	२५
१८८१	ग.म.	५६	से		ग.म.	६७	११
१८८२	वर.		से		ग.अं.	२	२५
१८८३	ग.अं.	३	से		ग.अं.	१०	०८
१८८४	ग.अं.	११	से		ग.अं.	२२	१२
१८८५	ग.अं.	२३	से		ग.अं.	३८	१७
१८८६	ग.अं.	३९ में					०१
							२६२

संवत् १८७६ से १८८६ इन = ११ वर्ष में सबसे ज्यादा वचनामृत संवत् १८७६ के हैं और सबसे कम वचनामृत १८८६ के हैं ।

अनु. अंक	वचनामृत		श्रीजीमहाराज		प्रश्न पूछनेवाले आश्रितो								
	स्थळ	संख्या	कृपावाक्य	प्रश्न	मुक्तानंद स्वामी के प्र.	गोपालानंद स्वामी के प्र.	नित्यानंद स्वामी के प्र.	शुकमुनि के प्रश्न	ब्रह्मानंदस्वामी के प्रश्न	अन्य संतो	अयोध्याप्रसादजी महाराज	रघुवीरजी महाराज	हरिभक्त
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
१.	गढडा प्र.प्र.	७८	४०	२२	३२	५	४	३	८	४१	-	-	१७
२.	सारंगपुर (कुंडल, खांभडा)	१८	६	४	१२	-	४	-	-	१५	-	-	२
३.	कारीयाणी	१२	५	७	५	२	३	०	२	८	-	-	२
४.	लोया	१८	३	४७	८	२	११	३	३	१५	-	-	१
५.	पंचाला	७	५	१	-	-	-	-	-	२	-	-	१
६.	गढडा (मध्य)	६७	४५	२९	१७	-	-	२	२	८	१	१	३
७.	वडताल	२०	५	८	४	१	२	१	१	०	-	-	११
८.	अमदावाद	३	१	३	१	-	१	१	-	-	-	-	-
९.	गढडा अंत्य	३९	४४	१७	११	१	-	११	-	७	१	१	६
		२६२	१५४	१३८	९०	११	२५	२१	१६	९६	२	२	४३

ध्यान में लें :- श्रीजीमहाराज के अन्य आश्रितों में से सबसे ज्यादा प्रश्न - सत्संग की मां सद्गुरुश्री मुक्तानन्द स्वामी के है, महाराज के अलावा ।

परिशिष्ट-१०

‘ब्रह्माण्ड की रचना’

‘ब्रह्माण्ड की रचना’

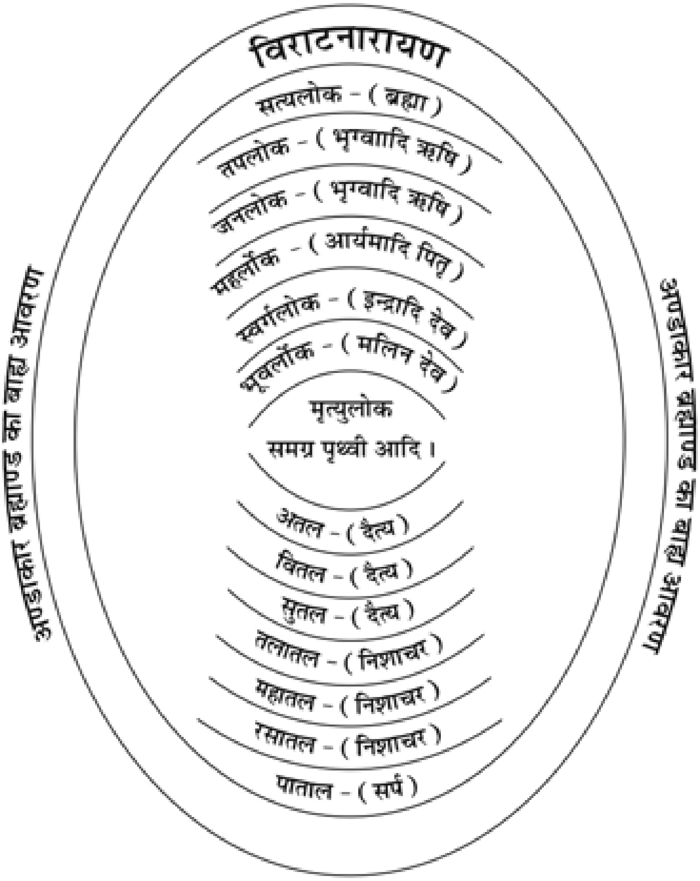

ध्यान में लें :– ग.प्र.४१, ग.प्र.६३ आदि वचनामृतों के आधार पर विराटनारायण की नाभि में से ब्रह्मा हुए और उससे समग्र सृष्टि हुई ।

पं.४ के अनुसार ब्रह्माण्डरूप गाँव के मुख्य पटेल के स्थान पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश दर्शाये हैं इसलिए यह देव त्रिपुटी ब्रह्माण्डान्तर्गत ही हैं । और ग.प्र. १३, ४१, ६३ एवं खगोल-भूगोल वगैरह अनेक वचनामृतों के अनुसार एक विराटनारायण एक ब्रह्माण्ड के मूल निधान हैं ।

परिशिष्ट-११

अष्ट आवरण से पर अक्षर

ध्यान में लें :—ग.प्र. ५१, ४१, १३, ४६, ६३ आदि वचनामृतों के आधार पर पृथ्वी से महत्तत्व तक आवरण से पर प्रकृति के गाढ़ अंधकाररूप अष्टम आवरण को भेदकर जीव मुक्तकोटि को पाकर महाराज के समान रूप, ऐश्वर्य आदि से सम्पन्न बनकर अक्षर पद को प्राप्त होता हैं ।

परिशिष्ट-१२

उत्पत्ति सर्ग

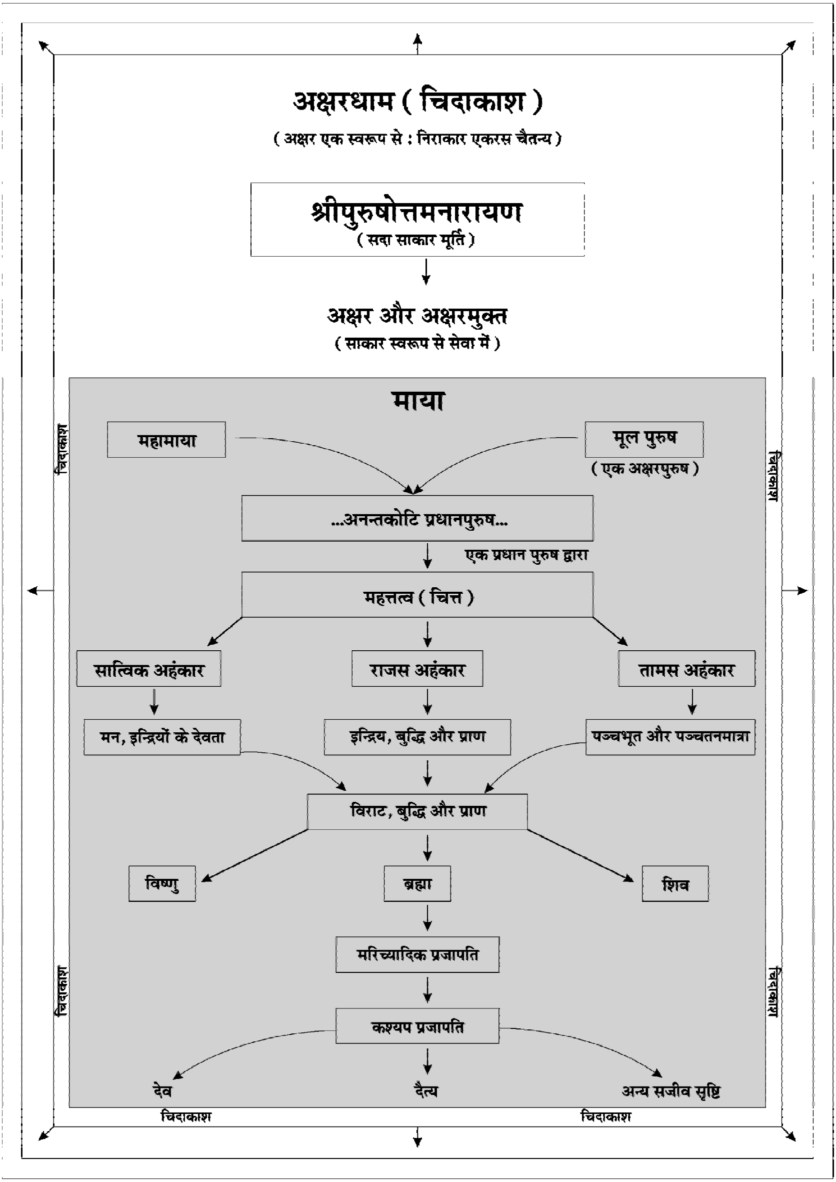

परिशिष्ट-१३

इस ब्रह्माण्ड में पुरुषोत्तमनारायण का आगमन कब हुआ ?

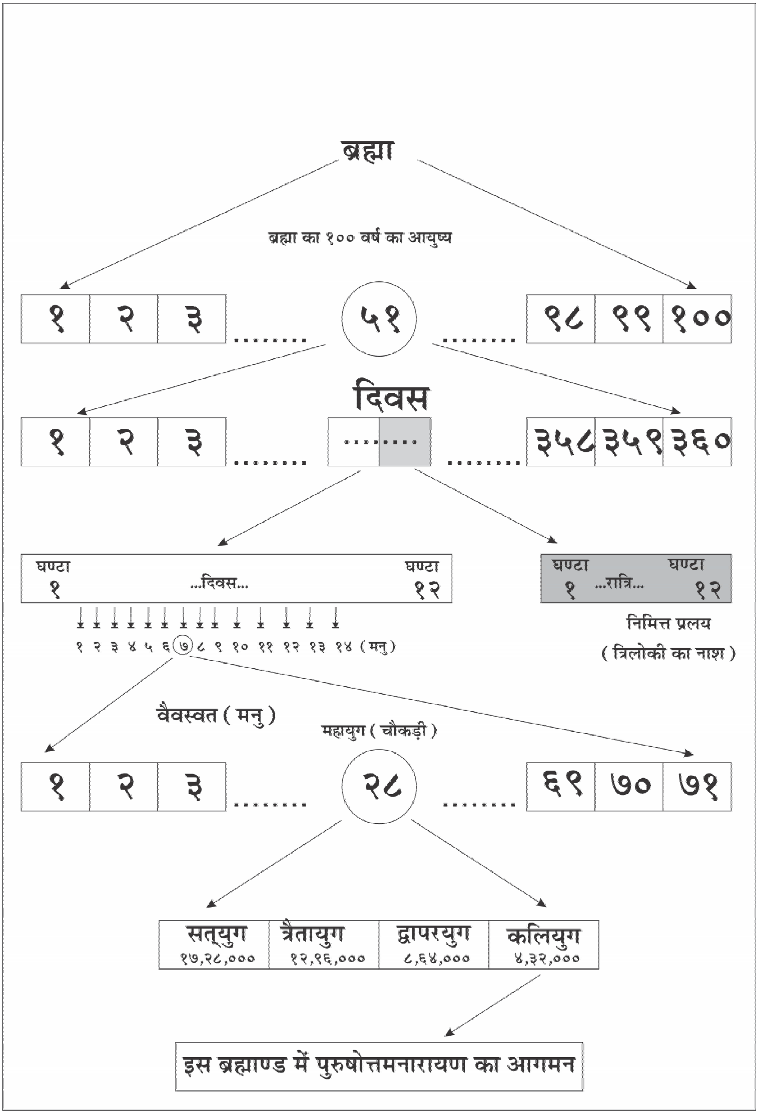

परिशिष्ट-१४

(१) वरताल :-

१. अमदावाद – मुंबई ने.हा. नं. ८ पर उत्तरसंडा चौकड़ी से अंदर की ओर ६. कि.मी. आया हुआ है ।

२. आनंद चौकड़ी से १५ कि.मी. वाया विद्यानगर होकर जाया जा सकता है । (बस, ट्रेन द्वारा जा सकते हैं)

(२) गढ़डा :-

धंधुका से बरवाला २६ कि.मी., वहाँ से सारंगपुर १४ कि.मी., वहाँ से (सारंगपुर बस द्वारा) बोटाद ११ कि.मी., वहाँ से गढड़ा २६ कि.मी. (बोटाद तक ट्रेन द्वारा जा सकते है ।)

(३) सारंगपुर :-

अमदावाद–राजकोट हाइ वे नं. ८ से वाया धंधुका से बरवाला से २६ कि.मी. सारंगपुर रोड मार्ग से जा सकते है ।

(४) लोया :-

(१) धंधुका से २८ कि.मी. की दूर राणपुर नामक गाँव है । इस गाँव में बस–ट्रेन द्वारा आ सकते हैं । राणपुर से लोया १२ कि.मी. दूर आया हुआ है ।

(२) अमदावाद–राजकोट हाइ वे नं. ८ पर आया हुआ सायला तालुका से सुदामडा नामक गाँव है । वहाँ से होकर नागड़का होकर लोया जाया जा सकता हैं । सायला से लोया ३५ कि.मी. होता है ।

(३) गढ़डा से बोटाद–पलियाद–भडला–लिम्बोडा होकर लोया जा सकते है ।

गढ़डा से लोया ६० कि.मी. होता है ।

(५) कारियाणी :-

(१) धंधुका से २६ कि.मी. बरवाला होकर डायरेक्ट १६ कि.मी. कारियाणी जा सकते है ।

(२) धंधुका से २६ कि.मी. बरवाला, वहाँ से १४ कि.मी. सारंगपुर, वहाँ से ७ कि.मी. वाया लाठीदड होकर भी कारियाणी जा सकते है ।

(३) गढ़डा से २६ कि.मी. बोटाद होकर २० कि.मी. कारियाणी जा सकते है ।

(४) गढ़डा से १६ कि.मी. निंगाला होकर १६ कि.मी. कारियाणी जा सकते है ।

(६) अमदावाद :-

(१) अमदावाद कालुपुर रेल्वे स्टेशन से रिलीफ रोड से कालुपुर श्री स्वामिनारायण मंदिर जा सकते है ।

(२) बस से गीतामंदिर से लालदरवाजा होकर रिलीफ रोड से कालुपुर श्री स्वामिनारायण मंदिर जा सकते है ।

(७) पंचाला :-

केशोद–मांगरोल रोड पर मांगरोल से १७ कि.मी. बस द्वारा पहला रास्ता आता है और वहाँ से १७ कि.मी. के दूरी पर पंचाला बस द्वारा जा सकते है ।

परिशिष्ट-१५

तिथि तारीख संदर्भ

वर्तमान कलियुग के प्रारंभ से 'युगाब्द' वर्ष की शुरूआत हुई, जो अभी ५१२२ वां युगाब्द चल रहा है । उसके बाद करीबन तीन हजार वर्ष बाद और दो हजार पचहत्तर वर्ष पूर्व उज्जैन के राजा विक्रमादित्य के समय से भारतवर्ष में ''विक्रम संवत्सर'' का प्रारंभ हुआ जो अब तक प्रवर्तमान है । यह विक्रम संवत् भारतवर्ष के विविध प्रांतों में विविध मास से शुरू होने से उसके मुख्य तीन प्रवाह - 'चैत्री संवत्,' 'कार्तिकी संवत्,' 'आषाढ़ी संवत्' इस नाम से आज भी प्रवर्तमान हैं । अपने वचनामृतों का कालक्रम ''आषाढ़ी संवत्'' के आधार पर आलेखित है ।

आज के समय में पाश्चात्य संस्कृति का प्रभुत्व हर क्षेत्र में बढ़ रहा है, तब वर्तमान पीढ़ी तिथि-पक्ष-संवत्सर से अधिकतर अंश से अजान है । उनकी सुगमता के लिए तिथिओं के आधार पर इ.स. वर्ष, मास, तारीख, एवं वार का संशोधन करके प्रत्येक वचनामृत की फूटनोट में रखा गया है ।

भारतवर्ष के यह संवत्सरों-तिथियों एक विशिष्ट विज्ञान से भरे हुए हैं । सूर्य की गति, नक्षत्रों के भ्रमण के आधार पर कालक्रम की व्यवस्था की गई है, कभी किसी तिथि का क्षय होने पर, कोई दो तिथियां एक ही दिन में आती हो, कोई तिथि दो दिन चलती है, तब उसके आधार पर तारीखों का निर्देश करना एक समस्या बन जाती है । उसमें भी दो सौ वर्ष पूर्व की तिथियां-तारीखों का समन्वय करना वह बहुत ही सूक्ष्म काम है । तब तारीख़ एवं वार के निर्देश में अल्प क्षति रह जाने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता, जिसका सुज्ञजनों सविनय ध्यान में ले ।

फलतः भगवान श्री स्वामिनारायण ने प्रबोधित किए हुए ये अमूल्य वचनामृतों संपूर्ण तात्त्विक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विषयक होने से उनका उस दृष्टि से लाभ लेना उचित है । ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यांकन न करके उसका आध्यात्मिक लाभ ले, वह सर्वथा योग्य है ।

"ऐसे जो ये प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम भगवान, उनके स्वरूप में और अक्षरधाम में रहे जो भगवान हैं, उनके स्वरूप में कुछ भी भेद नहीं है; वे दोनों एक ही हैं। और ऐसे जो ये प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम भगवान हैं, वे अक्षरादिक सभीके नियन्ता है, ईश्वरों के भी ईश्वर हैं, समस्त कारणों के भी कारण हैं, सर्वोपरि हैं, समस्त अवतारों के अवतारी हैं और आप सभीको एकान्तिक भाव से उपासना करने योग्य हैं । और इन भगवान के जो पूर्व में बहुत ही अवतार हुए हैं, वे भी नमस्कार करने योग्य हैं और पूजन करने योग्य हैं।"

–(ग.अं.३८)

:: प्रकाशक ::

श्रीवड़ताल मेनेजींग ट्रस्टी बोर्ड की ओर से

मुख्य कोठारीश्री डॉ. शास्त्री संतवल्लभदास (Ph.D., D.Litt)

श्रीस्वामिनारायण मन्दिर, संस्थान–वड़ताल

मु.पो. वडताल, ता. नडीयाद, जी. खेड़ा, पीन : ३८७३७५ (गुजरात)

(0268) 2589728, 2589776

vadtaldhamvikas@gmail.com www.vadtalmandir.org